चौखम्बा संस्कृत सीरीज १२५

पाञ्चरात्रागमान्तर्गता

सात्वतसंहिता

अलशिङ्गभट्टविरचितभाष्य अथ च 'सुधा'-हिन्दीव्याख्योपेता

सम्पादकः व्याख्याकारश्च

डॉ० सुधाकर मालवीयः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

चौ.सं.सी.
१२५

पाञ्चरात्रागमान्तर्गता

सात्वतसंहिता

सम्पादकः व्याख्याकारश्च
डॉ० सुधाकर मालवी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज

१२५

पाञ्चरात्रागमान्तर्गता

सात्वतसंहिता

अलशिङ्गभट्टविरचितभाष्य अथ च 'सुधा'-हिन्दीव्याख्योपेता

सम्पादकः व्याख्याकारश्च

डॉ० सुधाकर मालवीयः

एम. ए., पीएच.डी., साहित्याचार्य,

संस्कृतविभागः, कलासंकायः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

वाराणसी

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES
125

SĀTVATA-SAṀHITĀ

(A PĀÑCARĀTRĀGAM)

With Sanskrit Commentary by **Alaśiṅga Bhaṭṭa** &

'Sudhā'-Hindi Commentary

Edited & Translated by

Dr. SUDHAKAR MALAVIYA

M.A., Ph.D., Sahityacarya

Department of Sanskrit, Arts Faculty

Banaras Hindu University

Varanasi – 5

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI – 221001

Publisher : Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi

ISBN : 978-81-7080-244-X

Publishers & Oriental and Foreign Book-sellers
K . 37/99, Gopal Mandir Lane
At the North Gate of Gopal Mandir
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi- 221001 (India)
Phone Office : (0542) 2333458
Resi. : (0542) 2334032, 2335020
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
web-site : www.chowkhambaseries.com

Also can be had from :

CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
Oriental Publishers & Distributors
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1118, Varanasi- 221001
(INDIA)
Phone : (0542) 2335020

* समर्पणम् *

तन्त्रविद्या मयावाप्ता यत्पादाम्बुजसेवया ।
मिश्रोपनामकं हीरामणिं गुरुं नमाम्यहम् ॥
न्यर्त्तुशमन्ययुग्माब्दे (२०६०) वैक्रमीये सुवत्सरे ।
शुद्धश्रावणपूर्णायां सोमे माङ्गलिके दिने ॥
कृतिरियं कराब्जेषु हीरामणिमहात्मनाम् ।
कृतश्रमाणां तन्त्रेषु सादरं वै समर्प्यते ॥

—सुधाकर मालवीयः

*

पुरो वाक्

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैः त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम् ॥

—विष्णुपुराण ६.२.१७

विष्णुपुराण के अनुसार कृतयुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से और द्वापर में अर्चन करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, वह पुण्य कलियुग में मात्र केशव के संकीर्तन से प्राप्त हो जाता है ।

कलियुग में मानवमात्र की आध्यात्मिक शक्ति में क्षीणता दृष्टिगोचर होती है । इसके लिए त्याग, तितिक्षा तथा धैर्य की आवश्यकता है । अध्यात्मिक साधक को बाह्य एवं आन्तरिक रूप से शुद्ध रहना चाहिए । ये यथेष्ट आचरण कलियुग में सम्भव नहीं हैं । तन्त्र में इसकी इतनी आवश्यकता नहीं है । फिर तन्त्र में तो स्त्री तथा शूद्र दोनों का अधिकार होता है । निगम के क्रियाकलाप त्रिवर्ण के लिए सीमित हैं और फिर उनमें से अधिकांश क्रियाएँ कलिवर्ज्य भी हैं । किन्तु आगम ने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए खोल रक्खा है। तन्त्र या आगम का यही सार्वभौम तथा सार्ववार्णिक रूप उसकी लोकप्रियता का कारण है ।

समर्थ एवं योग्य गुरु और योग्य अधिकारी शिष्य ही तन्त्र विद्या की चरितार्थता में प्रधान हेतु हैं । क्योंकि तान्त्रिक गुरु प्रयोग के द्वारा अधिकारी शिष्य को ही शास्त्र की सत्यता का प्रमाण देकर उसे 'तन्त्र' की व्यावहारिक शिक्षा देते हैं । फलतः तन्त्र का मार्ग सर्वसाधारण के लिए उन्मुक्त होने पर भी अधिकारी की अपेक्षा रखता है । योग्य गुरु की शिक्षा की उचित समीक्षा की जाय तो फल की सिद्धि में विलम्ब नहीं होता और इसी प्रयोगात्मकता के कारण तन्त्र भी आधुनिक विज्ञान के समकक्ष ठहरता है । आज दोनों की ही मानव मात्र को आवश्यकता है—व्यवहार में विज्ञान की तथा आध्यात्म विद्या में तन्त्र की । महानिर्वाणतन्त्र में कहा भी है—**विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये ।**

सात्त्वतसंहिता का प्रस्तुत संस्करण अलशिङ्ग कृत संस्कृत भाष्य एवं इदं प्रथमतया कृत हिन्दी व्याख्या के साथ भगवान् विष्णु एवं उनकी शक्ति महालक्ष्मी के उपासकों के सम्मुख प्रस्तुत है । प्रस्तुत संस्करण का मूल एवं संस्कृत भाष्य सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से मुद्रित, आचार्य श्रीव्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित संस्करण पर आधृत है । 'सुधा' हिन्दी व्याख्या में पूर्णरूप से इसी संस्करण से सहायता ली गई है । इसके लिए मैं गुरुवर्य आचार्य श्रीव्रजवल्लभ द्विवेदी का हृदय से आभारी हूँ ।

सात्वतसंहिता पाञ्चरात्र आगम की प्रमुख संहिताओं में से एक है । लक्ष्मीतन्त्र एवं अहिर्बुध्न्य संहिता से प्रस्तुत संहिता का अविनाभाव सम्बन्ध है । जैसे 'जितन्ता' श्लोक मन्त्र का स्वरूप लक्ष्मीतन्त्र में है किन्तु अहिर्बुध्न्य एवं सात्वतसंहिता में मात्र प्रतीक का ग्रहण किया गया है ।

इस संहिता को बिना पारमेश्वर संहिता, ईश्वर संहिता और जयाख्य संहिता के नहीं समझा जा सकता है । सौभाग्य से अलशिङ्ग का भाष्य सात्वत संहिता पर प्राप्त है जिससे इस संहिता को समझने में सरलता होती है । अलशिङ्ग का भाष्य आदरणीय गुरुकल्प प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण रूप से सम्पादित है जिसके लिए मैं और पाञ्चरात्र आगम के समस्त विद्वान् पाठक अत्यन्त ऋणी हैं । यह भाष्य सामने न होता तो सम्भवत: इसकी हिन्दी ही न हो पाती । अहिर्बुध्न्य संहिता की हिन्दी व्याख्या में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा यह मैं क्या कहूँ ? बस गुरु स्मरण ही कल्प है ।

पाञ्चरात्र आगम की संहिताओं को बचाना ही मेरा उद्देश्य है । मैं अनुवाद इसीलिए करता हूँ कि मुझे आगम ग्रन्थों की विरासत में जो शास्त्र प्राप्त हुए हैं उन्हें out of Print (मूल्य देकर भी सहजता से प्राप्त न हो सके) होने से बचाया जा सके। इन ग्रन्थों की हिन्दी करना और प्रयोग-पद्धति को जानकर प्रयोग करना अलग-अलग पहलू हैं । मैं प्रयोग पद्धति बिलकुल नहीं जानता । फिर भी जो अनुवाद करके ग्रन्थों को बचाने का प्रयास मैं कर रहा हूँ उसमें (पद्धति न जानकर भी अनुवाद करना) गुरु कृपा ही कारण है । अत: पद्धति जानने के लिए भक्तगण किसी गुरु की खोज करें ।

एक सन्त का दूरभाष पर मुझे आग्रह प्राप्त हुआ कि आपके पास जो भी इस प्रकार के ग्रन्थ हों उनकी फोटो प्रति आप मुझे दे दें । मेरे पास ऐसे कोई ग्रन्थ नहीं हैं जो पहले छपे न हों और अभी तक मैंने जो अनुवाद भी किए हैं, उन्हीं छपे हुए ग्रन्थों के अनुवाद किए हैं । मैं एक पुस्तक (जो बाजार में उपलब्ध न हो) उसे प्राप्त कर तुरन्त अनुवाद में संलग्न हो जाता हूँ और मेरे प्रकाशक 'चौखम्बा' के श्रेष्ठीगण सहयोग प्रदान कर देते हैं । अत: विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि पद्धति के लिए गुरु खोजें और अनुपलब्ध तन्त्रग्रन्थों को मुझे उपलब्ध कराएँ । मेरे पास हैं नहीं । इसीलिए तो निवेदन है । इससे हमारी संस्कृति की रक्षा हो सकेगी । शास्त्रों की रक्षा करना समस्त मानवमात्र का कर्तव्य है ।

यह आश्चर्य है कि मुझे श्री सर्वजीत सिंह जी ने (जो लखनऊ में पेशे से डॉक्टर हैं और सरदार हैं) पाराशर संहिता के विषय में यह फोन पर बताया कि यह ग्रन्थ तिरुपति से १९६७ में मात्र १०० कापी ही छपा था, जिसकी अत्यन्त जीर्ण प्रति मैंने किसी के हाथ में सारनाथ में ३०.५.२००७ को देखी है । दु:ख है कि इसकी फोटो कापी जीर्णता के कारण नहीं की जा सकी । यह ग्रन्थ ८०० पृष्ठों का है जिसमें हनुमानजी के चार अष्टोत्तर शतनाम हैं । इनमें से एक विभीषण कृत भी है । हनुमान

जी के सहस्रनाम तो प्राप्त होते हैं किन्तु अष्टोत्तर शतनाम विरले ही हैं । एक बार हिन्दी विभाग के प्रो० रमाशङ्कर शुक्ल ने पाठभेदों के सहित इसे छपवाया था जो आधा-अधूरा ही है । बीकानेर से आए एक उत्तमकोटि के साधक श्रीगिरिधर रङ्गा जी से मेरी मुलाकात काशी में बटुकभैरव मन्दिर के सान्निध्य में हुई । वह सौन्दर्यलहरी की 'लक्ष्मीधरा' व्याख्या के लिए अत्यन्त लालायित थे । यह ग्रन्थ भी पराम्बा भगवती अन्नपूर्णा के आशीर्वाद से पूर्ण हो गया है। इन्होंने कुछ शक्ति से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों की छाया प्रति भेजने का आश्वासन मुझे दिया है । एतदर्थ मैं इनका आभारी हूँ ।

तन्त्र एवं पाञ्चरात्र शास्त्र के इस अनुपम ग्रन्थ में जो कुछ भी मेरी गति हो सकी है अथवा मैं इस शास्त्र को जो कुछ समझ सका हूँ, इसमें मेरे पूज्य गुरुवर्य पं० हीरामणि मिश्र का ही कृपा प्रसाद है । उनकी अमोघ कृपा मेरे ऊपर बनी रहे और मुझे आशीर्वाद प्रदान करते रहें । मुझमें किसी भी प्रकार का अहङ्कार कदापि न आवे । इसी कामना के साथ उनके चरणों में शतशः प्रणाम है और ग्रन्थ भी उन्हीं को समर्पित है ।

पाञ्चरात्र आगम का यह अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ जो आज इस रूप में विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत हो सका है उसके लिए मैं 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' के पूर्व संचालक स्वर्गीय श्रीविठ्ठलदासजी गुप्त का हृदय से आभारी हूँ । उन्होंने ही इस ग्रन्थ के हिन्दी व्याख्या के लिए मुझे प्रेरित किया था । सम्प्रति चौखम्बा कृष्णदास अकादमी के संचालकद्वय श्री ब्रजमोहनदासजी गुप्त एवं श्री कमलेश कुमार गुप्त को अत्यन्त धन्यवाद है जो यह ग्रन्थ इस साज-सज्जा के साथ विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है । १९९२ ई० में सौ वर्ष पूर्ण करने वाली इस संस्था के भविष्य को सुरक्षित रखने वाली चौथी एवं पाँचवीं पीढ़ी में प्राप्त चि० सचिन कुमार गुप्त एवं श्री कौशिक गुप्त को आशीर्वाद है और भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि अपने पूर्वजों के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर इसी प्रकार अनवरत सरस्वती की सेवा करते रहें ।

मैं अपने सहयोगी सम्पादक श्री चक्रपाणि भट्ट को उनके प्रूफ संशोधन के सहयोग के लिए धन्यवाद प्रकाश करना नहीं भूल सकता । मेरे चिरञ्जीव श्रीरामरञ्जन एवं श्रीचित्तरञ्जन ने कम्प्यूटर कार्य तथा सम्पादन में मेरी भरसक सहायता की है । उनकी स्नेहमयी माता का आध्यात्मिक एवं नैतिक सहयोग ही ग्रन्थ की पूर्णता में कारण है । विश्वात्मा भगवान् विष्णु एवं भगवती पराम्बा महालक्ष्मी इनका निरन्तर अभ्युदय करें तथा सदैव प्रसन्न रक्खें । अन्ततः भगवान् विष्णु एवं भगवती महालक्ष्मी से प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ से मानवमात्र का अजस्र कल्याण करते रहें ।

श्रीगंगासप्तमी, २३.४.२००७
वैशाख शुक्ल, वि.सं. २०६४

विद्वद्वशंवदः
सुधाकर मालवीयः

॥ श्रीः ॥

यथाम्बरस्थः सविता त्वेक एव महामते ।
जलाश्रयाणि चाश्रित्य बहुत्वं सम्प्रदर्शयेत् ॥
एवमेकोऽपि भगवान् नानामन्त्राश्रयेषु च ।
तुर्यादिपदसंस्थेषु बहुत्वमुपयाति च ॥

—सात्वतसंहिता ४.३३-३४

हे महामते ! जिस प्रकार आकाश स्थित एक ही सूर्य जल के आश्रय में प्रतिबिम्बित होकर अपना बहुत्व रूप प्रकट करते हैं इसी प्रकार एक भगवान् भी अपना बहुत्व रूप अनेक मन्त्रों में तथा चार प्रकार के अपने रूपों (व्यूहों) में प्रकट करते हैं अर्थात् बहुत्व को प्राप्त करते हैं ।

*

प्राक्कथनम्

यतो वासुदेवेऽभिप्रद्युम्नमन्तः
समाकर्षयच्चानिरुद्धं निरोद्धुम् ।
ततश्चाख्यया चाति सङ्कर्षणो य-
स्तमीशं फणीशं गुरुं शेषमीडे ॥

पाञ्चरात्रागमविमर्शः

भागवतस्याथवा सात्त्वतधर्मस्यातिविकसितं रूपं 'पाञ्चरात्रधर्म' एवोपलभ्यते, यः ख्रिष्टाब्दात् पूर्वं तृतीयशतकात् प्रचलित आसीत् ।

महाभारतस्य नारायणीयोपाख्याने (शान्तिपर्वणि) सर्वप्रथममस्य सिद्धान्तानां वर्णनं लभ्यते । महर्षिनारदो यदा पाञ्चरात्रतत्त्वजिज्ञासुरभवत्, तदा श्वेतद्वीपं गत्वा नारायणर्षेरस्य ज्ञानमवाप, तथा स एवास्य प्रचारमकरोत् । एवमस्यादिप्रवर्तको नारायणर्षिरिव ज्ञायते । पाञ्चरात्रीयग्रन्थेष्विमं वेदसम्मतं साधयितुं विविधास्तर्काः संस्थापिताः । सम्बन्धमप्यस्य वेदस्यैकया शाखयाऽस्ति । 'एष ऐकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि' (१।४३) इत्यनेन ईश्वरसंहिताया वचनेनाप्यस्य पुष्टिः कृता ।

दशमशतकोत्पन्नेनोत्पलाचार्येणाऽपि स्पन्दप्रदीपिकायां पाञ्चरात्रसंहिता तथा पाञ्चरात्रोपनिषदां विविधान्युदाहरणान्युपनिबद्धानि । 'पाञ्चरात्रश्रुतिः', 'पाञ्चरात्रसंहिता' तथा 'पाञ्चरात्रोपनिषद्' इत्येवं त्रयो विभागा दशमशतकावधि सञ्जाता आसन् ।

श्रुतिष्वपि पाञ्चरात्रागममुख्यसिद्धान्ताः प्रतिपादिताः शतपथब्राह्मणे (१३।६।१) पाञ्चरात्रसत्रस्योल्लेखः प्राप्यते । यस्याऽनुसारं समस्तप्राणिष्वाधिपत्यस्थापनाय नारायणेन पञ्चदिनाभ्यन्तरे इदं सम्पादितम् । वेदान्तदेशिकप्रणीतपाञ्चरात्ररक्षायाम्, एवं भट्टारकवेदोत्तमविरचिततन्त्रशुद्धाख्ये ग्रन्थरत्ने पाञ्चरात्रधर्मस्य तलस्पर्शनी मीमांसा समुपलभ्यते । पञ्चरात्राणां विषये तेषां प्रामाणिकता तत्रभवता रामानुजाचार्येण वेदवदेव स्वीकृता । यथा—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

पाञ्चरात्रशब्दस्य व्याख्याप्रसङ्गे नानामतानि संलक्ष्यन्ते । महाभारतस्य शान्ति-पर्वणि तस्य 'महोपनिषत्' इति संज्ञा दृश्यते । तदनुसारेण तस्य गायनं नारायणेनैव

स्वमुखारविन्दनिःसृतशब्दैः कृतम् । तत्र चतुर्वेदसांख्यशास्त्रसमावेशाय च स 'पाञ्च-रात्र' इति संज्ञया अभिहितः । नारदपाञ्चरात्रमतेन परमतत्त्व-मुक्ति-भुक्ति योगविषयाख्यपञ्च-शब्दार्थनिरूपणप्रसङ्गात् पाञ्चरात्रसंज्ञा प्राप्ता । रात्रशब्दस्तु ज्ञानस्यैव संज्ञान्तरम् । तदुक्तं नारदपाञ्चरात्रे—**'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्'** (१।१४) इति ।

पाञ्चरात्रीयं वाङ्मयं तु अतीव विपुलतरम्, परन्तु साम्प्रतमप्रकाशितरूपेणैव तिष्ठति । कालप्रभावेणास्य बहवोंऽशा विलुप्ताः । अस्य प्राचीनसंहितासु प्राक्-स्थितानां संहितानामुल्लेखेनास्य विपुलता विलुप्तता च ज्ञायते । तमवलम्ब्य 'इन्ट्रोडक्शन टू दी पाञ्चरात्र' इति नाम्ना ख्याते श्रोडरमहोदयेन सम्पादिते आङ्गल-भाषोपनिबद्धग्रन्थे पाञ्चरात्रसंहितानां संख्या पञ्चविंशत्यधिकशतत्रयमिता (३२५) निर्दिष्टा । तासु संहितासु—अगस्त्यसंहिता, सनत्कुमारसंहिता, वासुदेवसंहिता, नारदीयसंहिता, विष्णुरहस्यसंहिता—इत्यादिसंहितानां चर्चा कृता । प्रकाशितरूपेण साम्प्रतं निम्ननिर्दिष्टाः संहिता एव दृश्यन्ते—

पाञ्चरात्रागमस्य प्रकाशिताः संहिताः

१. ईश्वरसंहिता (सुदर्शन प्रेस, काञ्ची); २. कपिञ्जलसंहिता; ३. जयाख्य-संहिता (गायकवाड ओरियण्टल सीरीज); ४. पाराशरसंहिता (तिरुपति); ५. पाद्म-तन्त्रम्; ६. लक्ष्मीतन्त्रम् (आड्यारसंस्करणम्, हिन्दीसहित चौखम्बासंस्करणम्) ७. बृहद्ब्रह्मसंहिता (आनन्दाश्रम, पूना); ८. सात्त्वतसंहिता (काञ्ची, अलशिङ्ग भाष्य सहिता, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय); ९. भारद्वाजसंहिता (आड्यार-संस्करणम्, मद्रास, हिन्दीसहित खेमराज संस्करणम्); १०. श्रीप्रश्नसंहिता; ११. विष्णुसंहिता; १२. विष्णुतिलकम्; १३. अहिर्बुध्न्यसंहिता (आड्यारसंस्करणम्, हिन्दी सहित चौखम्बासंस्करणम्, दिल्ली) ।

निर्दिष्टासु संहितासु जयाख्यसंहिताया ऐतिहासिकं महत्त्वं प्रामाणिकरूपेणाव-गन्तव्यम् । इयं संहिताऽतिविस्तृतत्रयस्त्रिंशत्पटलेषु समाप्ता ।

विष्णूपासका एव सात्त्वत-पाञ्चरात्र-भागवतेत्यादिसंज्ञाभिः समलङ्कृताः । सुदीर्घ-कालादेव विष्णूपासनपरम्परा भारतीये वाङ्मये दरीदृश्यते । कालक्रमेण विष्णुभक्तौ विविधानि परिवर्तनानि समजायन्त ।

वैदिकसंहितायां विष्णुः

आदिमग्रन्थ ऋग्वेदे विष्णुसम्बद्धा बहवो मन्त्रा उपलभ्यन्ते—

(क) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । —१.२२.१७

(ख) द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति ।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः ॥

—१.१५५.५

(ग) **तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।**
दिवीव चक्षुराततम् ॥ —१.२२.२०

ब्राह्मणग्रन्थेषु विष्णोः पर्याप्तं वर्णनं लभ्यते । वेदवर्णितविष्णुशक्तिरुत्तरोत्तरं विकासोन्मुखोऽपि ब्राह्मणग्रन्थेषु वर्णितः । शतपथब्राह्मणे यज्ञनिष्ठादृष्ट्या विष्णुरग्रणीः प्रमाणितः, तथा विष्णोरलौकिकीनां चमत्कारपूर्णानां कथानामपि बहुशश्चर्चाः कृताः ।

उपनिषत्साहित्ये विष्णोः परं धामैव सर्वोत्तमं स्थानं प्रमाणप्रतिपन्नमिति स्वीकृत्य जगतः परिकल्पितः । यथा—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ —कठोपनिषत्, ३-९

विष्णुर्यस्मिन् रूपे वैदिकसंहितासु वर्णितस्तदेव रूपमधिकं व्यापकं तथा भास्वरं दृश्यते । वेदे यानि विशेषणानि पूर्वमिन्द्राय प्रयुञ्जते स्म, तान्यधुना विष्णु-प्रशंसायां प्रयुक्ता बभूवन् । यथा—हरिः, केशवः, वासुदेवः, वृष्णीपतिः, वृष्णः, ऋषभ इत्यादयः शब्दाः पूर्वमिन्द्राय प्रयुक्ता भवन्ति स्म, आहोस्वित् तत्सम्बद्ध-पदार्थप्रतीतिप्रतिपादका आसन्; त एव कालक्रमेण विष्णोर्विविधोपाधीनां तथा नाम्नामाधारा अजायन्त । विष्णुमाहात्म्याभिव्यञ्जका व्युत्पत्तिलभ्यार्था अपि प्रसङ्गतो-ऽपेक्षिताः । यथा—यास्काचार्यविरचितनिरुक्त (१२.१९) एवं प्रतिपादितम्—'**अथ यद् विषितो भवति, तद् विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा**' इति । भगवता दुर्गाचार्येण (निरुक्तभाष्ये २.३.३)—'**यदा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो व्याप्तो व्याप्नोति वा रश्मिरथं सर्वम् । तद्विष्णुरादित्यो भवति**' इत्येवं विष्णुशब्दस्य निर्वचनमकारि । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुरित्यनया व्युत्पत्त्याऽपि विष्णोर्विशिष्टं माहात्म्यमभिव्यज्यते ।

विष्णोरुपर्युक्तं स्वरूपं तथा व्यक्तित्वं मनोहार्यनुरञ्जकं तथा व्यापकं विधाय ग्राह्यं कर्तुं स नराकाराकारितरूपे विमर्शितः (दृष्टः) । एवं विष्णुरेव नारायण-शब्देनाभिहितः । नारायण शब्दोऽपि वैष्णवे धर्मे उपास्यरूपेण स्वीकृतः । यथाह मनुस्मृतौ—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

इति कथनेन क्षीरशायिविष्णुना नारायणशब्दसाम्यं प्रदर्शितम् । महाभारतेऽपि विष्णु नारायणरूपेण वर्णितः । अनेन प्रकारेण विष्णुभक्तेः प्राचीनता, विष्णुशब्दस्य नारायणशब्दसमानार्थता च द्योत्यते ।

भागवत(= सात्त्वत)सम्प्रदायस्य कालविमर्शः

वैष्णवधर्मस्य सर्वप्राचीनं नाम **भागवतधर्म** आसीत् । भागवतशब्दः पाञ्च-

रात्रस्य नामान्तरम् । कियान् प्राचीनो 'भागवतसम्प्रदाय' इति विषयस्यावश्यक-सामग्र्यभावाद् निश्चितरूपेण विवेचनं दुस्तरं वर्तते, तथापि यथोपलब्धसामग्रीमेवोररी-कृत्य किञ्चित् प्रकाश्यते—

१. सर्वप्रथममस्य विवेचनं महाभारतस्य नारायणीयोपाख्याने लभ्यते ।

२. पाणिनीयाष्टाध्यायीभाष्यप्रणेत्रा भगवता पतञ्जलिनाऽपि कृष्णरूपावतीर्णस्य विष्णोः कंसवधबलिबन्धननामकयोर्नाटकयोरुल्लेखः कृतः, येन दैत्यराजबलेः पातालप्रेषणस्य कंसवधस्यापि च पुष्टिर्जायते ।

यथा—**'अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ'** (५।२।७६)

इति सूत्रे भाष्ये शैवभागवतसम्प्रदाययोश्चर्चा अकारि,

यथा—'**किञ्च, शेऽये शूलेनान्विच्छति स आयःशूलिकः । किञ्चातः शिवभागवतेऽपि प्राप्नोति, एवं तर्ह्युत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः**' इति ।

विदुषां मतानुसारेण पतञ्जलेराविर्भावकालः विक्रमसंवत्सरपूर्वतृतीयशतकमस्ति। एतेनेदमपि सिद्ध्यति यत् तृतीये शतके भागवतसम्प्रदायाभ्युदयः संजातः ।

३. महाभारतस्य शान्तिपर्वानुसारमिदं सिद्ध्यति यदयं सात्त्वतोऽथवा भागवतो धर्मो वासुदेवेन कृष्णेनार्जुनं प्रत्युपदिष्टः । अतो भागवतधर्मस्याद्योपदेशके कृष्णे भगवति वासुदेव ऐतिहासिक दृष्ट्या विचारणमस्योद्भवविकासादिज्ञानप्रकाशनाय संगतं प्रतीयते ।

४. **वैदिकसाहित्ये** संहितासु, ब्राह्मणग्रन्थेषु, उपनिषत्सु वा वासुदेवस्यो-ल्लेखो नोपलभ्यते । किन्तु तैत्तिरीयारण्यकदशमप्रपाठकेऽयं विष्णुवदेव व्यव-हृतोऽस्ति । डॉ० राजेन्द्रलालमित्रमतेऽस्य रचना पश्चादभूत्, अतो वासुदेवोल्लेख-सम्बन्धिवर्णनमिदं परिशिष्टमेवास्ति । वासुदेववर्णनञ्च तत्रैवं प्रकारेणास्ति, यथा—

'**नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्**' इति ।

भारतीयदार्शनिकसम्प्रदायानां लब्धप्रतिष्ठान्वेषका डॉ० कीथमहोदया आरण्य-करचनासमयः ई०पूर्वं तृतीयं शतकमिति स्वीकुर्वते । अतस्तृतीयशतकावधि विष्णु-वासुदेवयोरैक्यं प्रतीयते । महाभारतस्य विविधस्थलेषु प्रयुक्तोऽयं वासुदेवशब्दो विष्णुशब्देनाधिकं साम्यं भजति । तत्रैकस्थले उट्टङ्कितमस्ति यद् मया लोकोत्तर-ज्योतिषा तथा सर्वं कर्तुं पटीयस्या मम मायाख्यया शक्त्या चराचरं सञ्छादितमस्ति । यथा—

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वादेव योनितः ।
वासुदेवस्ततो .... ॥

इत्यादौ महाभारतस्य तस्मिन्नेव प्रसङ्गे इदमपि वर्णितं यदहं रविरश्मिरूपे निखिलं जगत् संछादयामि, तथाऽहमेव सर्वप्राणिनामधिवासत्वाद् वासुदेवोऽस्मि ।

पतञ्जलेस्तथा वैष्णवमतीयपाञ्चतन्त्यस्यानुसारमेवंविधस्य वासुदेवद्वयस्य चर्चा अस्ति, ययोरेको वृष्णिकुलोद्भवस्तथाऽपरः क्षत्रिय आसीत् ।

वासुदेवस्य वृष्णिकुलोद्भवप्रसङ्गो महाभारतस्य विशिष्टांशभूतया श्रीमद्भगवद्गीतयाऽपि सिद्ध्यति । यत्र **'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'** इति वाक्येन प्रतिपादितमस्ति। कौटिल्यार्थशास्त्रे वृष्णिकुलचर्यया सह वृष्णीनां कस्यापि संघस्य वर्णनमप्युपलभ्यते, तथा द्वैपायनविरुद्धाचरणेन नाशस्याप्युल्लेखोऽस्ति ।

बौद्धानां घटजातके वासुदेवो मथुराप्रान्तस्योत्तरीयभागे शासनं कुर्वतां राज्ञां राजवंशस्य सन्ततिरूपेण स्वीकृतः । तत्रेदमपि प्रतिपादितं यदुक्तराजवंशः कान्हद्वीपायनावज्ञया अनशत् ।

महाभारतीयभीष्मपर्वणः पञ्चषष्टितमेऽध्याये ब्रह्मदेवेन पुरुषपरमेश्वरस्य स्तुतिरकारि । तथोक्तं च यद् भवान् यादववंशेऽवतरतु । पुरुषपरमेश्वरस्तत्र 'वासुदेवः' इति सम्बोधनपदेनाभिहितः । उक्तं च यद् भवानेव संकर्षणरूपेणावतीर्य स्वकीयं प्रद्युम्नाख्यं तनयमप्रकटयत्, तथा प्रद्युम्नाद् विष्णुस्वरूपादनिरुद्धं जनयामास । येनायमुत्पादितः । अतस्तदेव रूपं स्वीकृत्य पुनः कृपया मनुष्ययोनावायातु । शान्तिपर्वणः पञ्चषष्टितमाध्यायस्य प्रारम्भ एवोल्लिखितं यत् प्रजापतिना परमेश्वरो मानवयोनौ वासुदेवरूपेणागमनाय प्रार्थितः । पुनस्तस्मिन्नेवाध्याये आद्यन्तावधि परमेश्वरस्थाने वासुदेवशब्द एव व्यवहृतः ।

अस्मिन् विषये वैष्णवदर्शनस्य प्रामाणिका अन्वेषका डॉ० भण्डारकरमहोदया एवं विचारयन्ति यद् वासुदेवेन भक्तिसम्प्रदायस्याधिष्ठात्रा भाव्यम् । प्रथमे युगेऽपि स सङ्कर्षणानिरुद्धप्रद्युम्नैः सह आसीदित्यस्याप्याभासो महाभारतीयोल्लेखेन प्राप्यते । वासुदेवस्य धर्मप्रवर्तकत्वं पाणिनेरेकेन सूत्रेणापि ज्ञायते, यत्रास्य सम्प्रदायानुयायिनो वासुदेवकपदेनाभिहिताः । यथा—**'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्'** (४।३।९८) इति ।

सूत्रस्यास्योपरि भाष्यं विरचय्य भगवता पतञ्जलिनाऽपीदं दृढीकृतम् । एवमन्यस्मिन् **'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च'** इति सूत्रव्याख्यानेऽपि कथितमस्ति यद् वासुदेवस्तथा बलदेव इत्युभे नामनी वृष्णिनामनी स्तः, तथा क्रमशो वसुदेवबलदेवशब्दाभ्यां निष्पन्ने स्तः । शतपथब्राह्मणेऽप्येकत्र स्थाने वार्ष्णेयशब्दप्रयोगोऽस्ति, येन वृष्णिवंश-प्राचीनत्वं ज्ञातुं शक्यते ।

महाभारतस्यादिपर्वणि एकत्रायातमस्ति यत् पार्थोऽथवा अर्जुनः सात्त्वतान् लोभिनो नावगच्छति, तथा तस्मिन्नेव पर्वण्यन्यत्र वासुदेव एव सात्त्वतसंज्ञयाऽभिहितः । एवं च वासुदेवसात्त्वतशब्दयोः साम्यं प्रकटितं भवति । विष्णुपुराणे—

वृषस्य पुत्रो मधुरोऽभवत्, तस्यापि वृष्णिप्रमुखं पुत्रशतमासीत्, यतो वृष्णिसंज्ञामेतद् गोत्रमवाप । यादवश्च यदुनामप्रत्यक्षणादिति (विष्णुपु० ४.११)। पुनर्विष्णुपुराणेऽस्यैवान्यतमे प्रसङ्गे यदुकुलस्य मर्यादा लौकिकैश्वर्यवर्णनप्रसङ्गे कथिता-

ऽस्ति यद् यदुकुले अंशनाम्नी एका व्यक्तिरभूद् यस्याः सुतः सात्त्वतसंज्ञया प्रख्यातः, तथा तेनैव कारणेन सात्त्वते तद्वंशीयाः सात्त्वतपदवाच्या अभूवन् ।

भागवतमहापुराणेनाऽपि सात्त्वतैर्वासुदेवस्य परमेश्वररूपेण पूजनं सिद्ध्यति । भागवते वासुदेवः सत्त्वतर्षभाख्ययाऽपि ख्यातः । सात्त्वतशब्दप्रयोग ऐतरेयब्राह्मणेऽप्युपलभ्यते, यथा—

'एतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सात्त्वता राजानो भोग्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते भोगेत्येनानभिषिक्तान् आचक्षते' इति ।

डॉ० भण्डारकरमहोदयाः सात्त्वतशब्दं वृष्णिवंशपर्यायस्वरूपमेव स्वीकुर्वन्ति । 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' नाम्नि ग्रन्थे तेषामिदं मतमस्ति यत् सात्त्वतानां वृष्णिवंशसम्बद्ध एकोऽन्य एव सम्प्रदाय आसीद् यस्मिन् वासुदेवप्रद्युम्नसंकर्षणानिरुद्धाः प्रादुरभवन् । तेषु वासुदेवं जनाः परमात्मबुद्ध्या पूजयन्ति स्म ।

सात्वतसंहिताविमर्शः

सात्त्वतधर्मः सूर्यद्वारा प्रवर्तित इति महाभारते प्रतिपादितमस्ति । शतपथब्राह्मणे (१३।५।४।२१) सात्त्वतशब्दोऽपि वार्ष्णेयशब्द इव प्रयुक्तः । पाराशरभट्टेन (विष्णुसहस्रनामभाष्ये) सात्त्वतशब्दो भागवतस्य पर्यायरूपेण स्वीकृतः । यथा—

'सातयति सुखयति आश्रितानिति सातः परमात्मा, स एषामस्तीति वा सात्त्वताः सात्त्वन्तो वा महाभागवताः' इति ।

एवं सात्त्वतवार्ष्णेययोरुभयोः शब्दयोः प्राचीनत्वं तथा समर्थताऽपि प्रमाणीभवतः । महाभारतस्य नारायणीयाख्याने यत्र वासुदेवधर्मो व्याख्यातस्तत्र कथितं यत् सङ्कर्षणो वासुदेवस्यापरं रूपं तथा सर्वजनप्रतिनिधित्वञ्च प्रतिपादयति । सङ्कर्षणाद् अर्थाद् मनसः प्रद्युम्नस्योत्पत्तिर्जायते, प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहङ्कारस्वरूपः प्रादुर्भवति । इमे चत्वारो वासुदेवप्रतिमाभूताः सन्ति । देवादिकं निखिलं जगद् नारायणादुत्पन्नं भूत्वा पुनर्नारायण एव लीयते । अनेन प्रकारेण वासुदेवनारायणशब्दयोर्बहुविधं साम्यं सिद्ध्यति । कतिपयैरुल्लेखैः प्रमाणीभवति यत् ख्रिष्टाब्दात् पूर्वं द्वितीये शतके वासुदेवातिरिक्तं सङ्कर्षणबलदेवावप्युपास्यभूतावास्ताम् । इदं दृढीकर्तुं २।२।३४ पाणिनीयसूत्रे भाष्यं द्रष्टव्यमस्ति । किन्तु महाभारतस्य नारायणीयाख्यानके वासुदेवः परमात्मरूपे सङ्कर्षणो जीवरूपे वर्णितः । तत्त्वतो विचारे कृते इदं स्पष्टं प्रतीयते यद् वासुदेवसङ्कर्षणयोः पूज्यत्व एवास्माभिः सर्वप्रथमं पाञ्चरात्राणां व्यूहवादस्य बीजभूतं तत्त्वं समवलोक्यते ।

भागवतधर्मस्य सात्त्वतधर्मस्य पाञ्चरात्रधर्मस्य वा आदिनाम **वासुदेवधर्मो**ऽथवा वासुदेवोपासना आसीत् । तृतीये शतके भागवतसंज्ञा तु प्रसिद्धप्राया एवासीत् । ख्रिष्टाब्दस्य पूर्वाभ्यां तृतीयचतुर्थशतकाभ्यां प्रथमशतकावधि वासुदेवोपासनाया विविधानि प्रमाणानि पुरातत्त्वप्राचीनसाहित्यादिषूपलभ्यन्ते ।

अर्हतां सलाकापुरुषेषु वासुदेवबलदेवावपि स्तः, तथा अरिष्टनेमिवासुदेव-सम्बन्धिन्यश्चर्चाः प्राचीनजैनसाहित्ये भृशमुपलभ्यन्ते । बौद्धजातके (घटमहामग्गादौ) वासुदेवकथा वर्णिता ।

बौद्धसाहित्यस्य चुल्लनिद्देशग्रन्थे आजीवकनिगण्ठजटिलवासुदेवादिभिः श्रावकैः सह वसुदेवपूजकानां वासुदेवानामप्युल्लेखो लभ्यते । यस्याधारेणास्य सम्प्रदायस्य स्थितिः ख्रिष्टाब्दात् पूर्वं तृतीये चतुर्थे वा शतक आसीदिति निश्चीयते । ख्रिष्टाब्दात् शतद्वयवर्षपूर्वं वेसनगरे (भिलसा) स्थितस्यैकस्य शिलालेखस्यानुसारं विक्टोरियायां राजदूतेन हेलियोटोरसेन देवाधिदेववासुदेवप्रतिष्ठायामेकं गरुडस्तम्भं निरमायि । स आत्मानं भागवतसंज्ञया समलङ्करोति स्म ।

ख्रिष्टाब्दात् पूर्वं प्रथमे शतके नानाघाटीयगुहाभिलेखेऽन्यदेवैः सह सङ्कर्षण-वासुदेवयोरप्युल्लेखो लभ्यते । अस्यैव शतकस्यैकः खिलालेखो घोसुण्डी (चित्तौड़) नामके स्थाने प्राप्यते, यस्मिन्नश्वमेधवेलायामितिहासप्रसिद्धकण्ववंशीयनृपतिना वासु-देवसङ्कर्षणयोर्देवायतननिर्माणाय पूजाशिलाप्राकाररचनाया अप्युल्लेखोऽस्ति । एवं ज्ञायते यदयं सम्प्रदायोऽतीव प्राचीनः, तथा स एव कालक्रमेणानेकदृष्टिभिरवलोकितः ।

पाञ्चरात्रसंहितासु ज्ञान-योग-क्रिया-चर्याख्यानां चतुर्णां विषयाणां विस्तृतं तात्त्विकं च वर्णनं विद्यते । पाञ्चरात्रीयसंहितासु दार्शनिकतत्त्वानि सूक्ष्ममीमांसया सम्यक्प्रकारेण प्रमाणप्रतिपन्नरीत्या प्रकटीकृतानि । तासु जीवब्रह्मरहस्योद्घाटनम्, एवमखण्डब्रह्माण्डोत्पत्तिविमर्शो **ज्ञान**पदेनोदीरिते (ईश्वरसंहिता २.५६) । **योगस्तु** व्यावहारिकसैद्धान्तिकधरातले मुक्तिसाधकानां कर्मणां विवेचनमेवमनुगमनमेव । देवा-लयनिर्माणमचेतनमूर्तिप्राणप्रतिष्ठाविधानमेवं मूर्तिसम्बन्धिन्य उक्तयः संहितासु **क्रिया-**विवेचनक्रमे उट्टङ्कितानि । **चर्या**विवेचनप्रसङ्गे वैष्णवागमेष्वधिकतरा दत्तचित्ता दृश्यते । तदेश्वरस्य षड्गुणानां चर्चा वर्तते । ज्ञान-शक्ति-ऐश्वर्य-बल-वीर्य-तेजसां तस्य निर्गुणस्यापीश्वरस्य षड्गुणानां तत्र विवेचनं कृतम्, यैर्गुणैस्तस्मिन् सगुणता समागच्छति । एषां गुणानां स्थाने स्थाने सर्वत्रैव व्याख्या अतितार्किकरीत्या कृता आगमाचार्यैः ।

व्यूहवादः

पाञ्चरात्रस्य प्रधानतया दार्शनिकस्वरूपनिर्देशकस्य व्यूहवादस्यापि विवेचनं प्रसङ्गतः समीचीनं प्रतिभाति । गीतायां वासुदेवस्य अष्टधा प्रकृतिपर्यालोचनप्रसङ्गे पञ्चतत्त्वविवेचनकाले मनोबुद्धिजीवाहङ्काराणां चर्चा विद्यते । **'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च'** इत्यादि । कालक्रमेण जीवमनोऽहङ्काराणां सङ्कर्षणप्रद्युम्ना-निरुद्धा इति नामान्तराण्यभवन् । व्यूहवादस्य **'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव'** इति कथयित्वा पतञ्जलिनापि सम्भवतोऽस्य चर्चा विहितेत्यनुमीयते । किन्तु विषयेऽस्मिन् महान् विवादः ।

संक्षेपतो व्यूहवादस्यैतत् स्वरूपम्—सृष्टिकाले वासुदेवोऽव्यक्तां प्रकृतिमेव न सृजति, किन्तु प्रकृत्या सार्धं सङ्कर्षणाख्यस्य विशिष्टजीवस्यापि रचनां करोति । तस्य सङ्कर्षणस्य प्रकृत्या संयोगे सति मनस उत्पत्तिर्जायते, यत् सांख्यस्य बुद्धिस्थानापन्नत्वेन ज्ञातुं शक्यते । एवं तस्मिन्नेव काले तस्य प्रतिरूपभूतस्य प्रद्युम्नस्योत्पत्तिर्भवति। प्रद्युम्नत एव मनःसंयोगे सति सांख्याभिमतस्याहङ्कारस्योत्पत्तिर्जायते । एवं तस्मिन् क्षण एव तस्य तृतीयप्रतिरूपभूतस्यानिरुद्धस्य प्रादुर्भावो भवति । अनिरुद्धत एव सांख्यसम्मतस्याहङ्कारस्य संयोगे सति महाभूतानामेवं तेषां गुणानामाविर्भावो भवति । तस्मिन्नेव क्षणे विविधानि तत्त्वान्यादाय पृथिव्यादिनिर्माणक्षमस्य ब्रह्मणः प्रादुर्भावो भवति । ईश्वरस्य षड्गुणाः पूर्वमेव वर्णिताः । तेषु गुणेषु गुणद्वयस्य प्राधान्ये सति त्रित्वसंख्याविशिष्टस्य व्यूहस्य रचना भवति । उदाहरणं यथा— **सङ्कर्षणे** ज्ञानस्य बलस्य चाधिक्यं भवति, **प्रद्युम्ने** ऐश्वर्यस्य वीर्यस्य चाधिक्यमस्ति, **अनिरुद्धे** शक्तितेजसोराधिक्यं भवति । एवं क्रमशो यथापूर्वं वर्णनानुसारं व्यूहरचना सम्पादिता भवति ।

अयमेव चतुर्व्यूहवादः । श्रीशङ्कराचार्येण शारीरकभाष्ये (२।२।४२-४५) अस्य खण्डनं कृतम् । किन्तु रामानुजाचार्यस्य एतद्विषयकं मण्डनमपि मननीयम् ।

सृष्टौ शुद्धाध्वा अथ च विशाखयूपविमर्शः

श्रियः सिसृक्षया चत्वारो भगवद्व्यूहा आविर्भूताः, ते यथा—वासुदेवः, सङ्कर्षणः, प्रद्युम्नः, अनिरुद्धः । एते व्यूहा जगद्व्यापारकरणार्थं चतुर्व्यूहोपासननिरतानां योगिनां ध्यानालम्बनार्थं चाविर्भूय ध्यानसौकर्याय रूपचतुष्केण प्रकाशन्ते । यथा—

तुर्यस्थानम्	व्यूहचतुष्कं रेखारूपेणापि न दृश्यम् ।
सुषुप्तिस्थानम्	व्यूहचतुष्कं रेखारूपेण दृश्यम् ।
स्वप्नस्थानम्	व्यूहचतुष्कं अत्यन्तमलिनरूपम् ।
जाग्रत्स्थानम्	व्यूहचतुष्कं स्पष्टरूपम् ।

इदं च ध्वजस्तम्भाकारं रूपं विशाखयूपनाम्ना प्रथितम् । पूजितस्तम्भाभिप्रायेण यूपशब्दप्रयोगः । एभ्यो व्यूहेभ्यो द्वादश देवा व्यूहान्तरनाम्ना आविर्भूताः । यथा— **वासुदेवात्** केशवनारायणमाधवाः । **सङ्कर्षणात्** गोविन्दविष्णुमधुसूदनाः । **प्रद्युम्नात्** त्रिविक्रमवामनश्रीधराः । **अनिरुद्धात्** हृषीकेशपद्मनाभदामोदराः । शुद्धाध्वगता एते सर्वेऽपि देवा अप्राकृतलोके विराजन्ते, शुद्धसत्त्वमयाश्च ।

पूर्वोक्तात् विशाखयूपात् पद्मनाभादयोऽष्टत्रिंशत् विभवदेवा आविर्भूताः । एभ्यो विभवेभ्यो विभवान्तरनामानः बहवोऽवतारा बादरायणादिरूपेणास्मिन् लोके भवन्ति । पूर्वोक्तात् विशाखयूपादेवार्चारूपा देवा आविर्भूय देवालयेषु सम्पूजिता विराजन्ते ।

एते विभवादयो देवाः प्राकृतलोके कृतावतरणाः, शुद्धसत्त्वमयाश्च । अत एवायं क्रमः शुद्धाध्वेत्युच्यते ।

अशुद्धाध्वा—

पूर्वनिर्दिष्टया देव्याः सिसृक्षयैवाशुद्धाध्वाविर्भावः । यथा—षाड्गुण्ये ज्ञानं सत्त्वात्मना, ऐश्वर्यं रजोरूपेण, शक्तिः तमोरूपेण च परिणम्य त्रैगुण्यरूपमवापुः । ततो देव्याः श्रिय एव रजोगुणप्रधाना महालक्ष्मीः, तमोगुणप्रधाना महामाया, सत्त्वगुणप्रधाना महाविद्या चाविर्बभूवुः । ततः **प्रद्युम्नांशात्** महालक्ष्म्यां मानसः धाता श्रीश्च, **सङ्कर्षणांशात्** महामायायां मानसः रुद्रः त्रयी च, **अनिरुद्धांशात्** महाविद्यायां मानसः केशवः गौरी चेति संजाताः । एतत् प्रथमं पर्व ।

ततो धाता त्रय्या सह संभूय अण्डमजीजनत् । रुद्रः गौर्या सह संभूय तत् अभिनत् । केशवः श्रिया सह संभूयाण्डमध्यस्थं प्रधानमरक्षत् । ततः केशवः प्रधानं सलिलीकृत्य तत्र श्रिया सहाशयिष्ट । एतत् द्वितीयं पर्व ।

सलिले शयानस्य केशवस्य नाभेः कालमयं कमलं समभवत् । तस्मिन् नाभिकमले त्रय्या सह धाता पुनः प्रादुर्बभूव । नाभिकमलं त्रयी धाता चेति त्रयमपि मिलित्वा तामसो महान् जातः । महतोऽहंकारः संजातः । स चाहंकारस्त्रिविधः— सात्त्विकः राजसः, तामसश्चेति । सात्त्विकात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, राजसात् पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयस्मान्मनश्च संजातानि । तामसात् शब्दतन्मात्रम्, तस्मात् शब्दः स्पर्शतन्मात्रं च, ततः स्पर्शः रूपतन्मात्रं च, ततो रूपं रसतन्मात्रं च, ततो रसः गन्धतन्मात्रं च, ततो गन्ध इत्युत्पद्यन्ते । महान्तमारभ्य गन्धान्तं संभूयाण्डमभवत् । तस्मात् चतुर्मुखः प्रजापतिर्जज्ञे । प्रजापतेर्मनवः । मनुभ्यो मानवादयः चेतना अचेतनाश्च समजायन्त । एतत् तृतीयं पर्व । एतानि त्रीण्यपि पर्वाणि त्रिगुणमयानि । अत एवायं क्रमोऽशुद्धाध्वेत्युच्यते ।

सात्त्वतसंहितायाः मुख्यविषयाः—

प्रथमे परिच्छेदे प्रश्नप्रतिवचनम्, द्वितीये परिच्छेदे तुरीयव्यूहसमाराधनम्, तृतीये परिच्छेदे सुषुप्तिव्यूहसमाराधनम्, चतुर्थे परिच्छेदे स्वप्नव्यूहविधानम्, पञ्चमे परिच्छेदे जाग्रद्व्यूहसमाराधनम्, षष्ठे परिच्छेदे चातुरात्म्यबाह्याराधनम्, सप्तमे परिच्छेदे अमन्त्रकव्रतविधिः, अष्टमे परिच्छेदे समन्त्रकव्रतविधिः, नवमे परिच्छेदे विभवदेवतान्तर्यागविधिः, दशमे परिच्छेदे विभवदेवताबहिर्यागविधिः, एकादशे परिच्छेदे मण्डलकुण्डलक्षणविधानम्, द्वादशे परिच्छेदे विभवदेवताध्यानम्, त्रयोदशे परिच्छेदे भूषणास्त्रदेवताध्यानम्, चतुर्दशे परिच्छेदे पवित्रारोपणविधिः, पञ्चदशे परिच्छेदे पवित्रस्नपनविधिः, षोडशे परिच्छेदे त्रिविधदीक्षाविधानम्, सप्तदशे परिच्छेदे वैभवीयनृसिंहकल्पः, अष्टादशे परिच्छेदे अधिवासदीक्षाविधिः, एकोनविंशे परिच्छेदे दीक्षाविधिः, विंशे परिच्छेदे अभिषेकविधिः, एकविंशे परिच्छेदे समयविधिः, द्वाविंशे

परिच्छेदे समयिपुत्रकादिलक्षणम्, त्रयोविंशे परिच्छेदे विभवदेवतापिण्डमन्त्रोद्धारः, चतुर्विंशे परिच्छेदे प्रतिमापीठप्रासादलक्षणम् तथा पञ्चविंशे परिच्छेदे प्रतिष्ठाविधिः इत्यादि प्रधानविषयाः प्रतिपादिताः ।

समस्तागमा मूलमन्त्राश्च सर्वे
यतः संप्रसूता यतः सिद्धिमन्त्राः ।
पुराणार्णमाद्यं दशार्णं जपन्ते
नमामः पुरारिं मुरारेः प्रियं तम् ॥

श्रीगंगासप्तमी, २३.४.२००७
वैशाख शुक्ल, वि.सं. २०६४

विद्वद्वशंवदः
सुधाकर मालवीयः

भूमिका

कृष्णद्वैपायनं वन्दे व्यासं तमरणीपतिम् ।
शुको यन्मुखतो जातो यन्मुखात् परमागमम् ॥

पाञ्चरात्रागम

पाञ्चरात्रशास्त्र का अध्यापन पाँच दिन एवं रात्रियों में पूर्ण होने के कारण 'पाञ्चरात्र' शास्त्र नाम पड़ा । जैसा कि ईश्वरसंहिता में वचन है—

पञ्चायुधांशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः ।
मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः ॥
.....पञ्चापि पृथगेकैकदिवारात्रं जगत्प्रभुः ।
अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः ।
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते ॥

(ईश्वरसंहिता २१.५१९-५३३)

मार्कण्डेयसंहिता में भी ऐसा ही कहा है—

सार्धकोटिप्रमाणेन कथितं तस्य विष्णुना ।
रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पञ्चरात्रमतः स्मृतम् ॥ (पृ० ४)

पञ्चकाल प्रक्रिया प्रतिपादित होने से इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र पड़ा है । दोनों ही पक्ष में रात्रि शब्द का अर्थ अहोरात्र ही है । यह पक्ष आचार्य की सूक्ति में प्रतिपादित है—

पञ्चकालव्यवस्थित्यै वेङ्कटेशविपश्चिता ।
श्रीपाञ्चरात्रसिद्धान्तव्यवस्थेयं समर्थिता ॥

(पाञ्चरात्ररक्षा, पृ० ४४)

भारद्वाजसंहिता में भी ऐसा ही कहा है—

प्रथमं ब्रह्मरात्रं तु द्वितीयं शिवरात्रकम् ।
तृतीयमिन्द्ररात्रं तु चतुर्थं नागरात्रकम् ॥
पञ्चममृषिरात्रं तु पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ।
एवं जातमृषिश्रेष्ठ पञ्चरात्रं पुरा युगे ॥

(भारद्वाजसंहिता २.१२.१३)

सनत्कुमारसंहिता में 'नागरात्र' का उल्लेख नहीं है ।

पाञ्चरात्र शास्त्र-विभाग

लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार पाञ्चरात्र शास्त्र के तीन विभाग है— १. दिव्य पाञ्चरात्र, २. मुनिभाषित पाञ्चरात्र और ३. मानुष पाञ्चरात्र।

पाञ्चरात्र शास्त्र के तीन ग्रन्थ सात्त्वतसंहिता, पौष्करसंहिता एवं जयाख्यसंहिता इनमें से **दिव्य पाञ्चरात्र** के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि भगवान् नारायण के द्वारा साक्षात् रूप से यह प्रतिपादित है । इनसे अन्य ब्रह्मादि के द्वारा प्रतिपादित होने से ईश्वरसंहिता, पारमेश्वरसंहिता एवं भारद्वाज आदि संहिता **मुनिभाषित पाञ्चरात्र** हैं । पाञ्चरात्रशास्त्र से अन्य ग्रन्थ आप्त मनुष्यों द्वारा कहे जाने के कारण **मानुष पाञ्चरात्र** के अन्तर्गत आते हैं । ये तीनों ही पाञ्चरात्रशास्त्र, दिव्यशास्त्र तथा सिद्धान्त पाञ्चरात्र शास्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं । जैसा कि लक्ष्मीतन्त्र में कहा है—

दिव्यशास्त्राव्यधीयीत निगमांश्चैव वैदिकान् ।
सर्वाननुचरेत्सम्यक् सिद्धान्तानात्मसिद्धये ॥

(लक्ष्मीतन्त्र २८.२९)

दिव्य शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए । वैदिक निगमों का स्वाध्याय करना चाहिए और आत्मसिद्धि के लिये मन्त्र आगमादि सिद्धान्तों का स्वाध्याय करना चाहिए ।

आराधना के समय भगवान् वासुदेव एवं सङ्कर्षण आदि व्यूह के भेद से पुनः मन्त्र, आगम, तन्त्र एवं तन्त्रान्तर ये चार भेद पाञ्चरात्र के माने जाते हैं ।

पाञ्चरात्र आगम में भगवत्, सात्त्वत, एकान्तिक और परम ऐकान्तिक इन चार शब्दों का व्यवहार होता है । इनमें से भागवत् शब्द का अर्थ महाभारत में इस प्रकार है—

द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञश्चतुर्व्यूहविभागवित् ।
अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स वै भागवतः स्मृतः ॥

(महाभा०, आश्वमेधिक पर्व ११८.३३)

द्वादशाक्षर मन्त्र— ॐ नमो भगवते वासुदेवाय के तत्त्व को जानने वाला, वासुदेव, सङ्कर्षण आदि चतुर्व्यूह के विभाग तथा पञ्चकाल का तत्त्वज्ञ साधक भागवत् शब्द से व्यवहृत होता है ।

सत् शब्द से वासुदेव परब्रह्म को कहा जाता है । उन परब्रह्म वासुदेव से युक्त साधक को **सात्वत** शब्द से अभिहित किया जाता है । वस्तुतः पाञ्चरात्रशास्त्र में षाड्गुण्य तथा चातुर्व्यूह आदि स्वार्थिक तद्धितान्त शब्दों का प्रयोग बहुशः प्राप्त होता है । उसी प्रकार सत्वन्त इस अर्थ में सात्वत (= वासुदेवाराधक) शब्द का प्रयोग है । इन्हीं प्रयोगों को देखकर ही भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में **'प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः'** (महाभाष्य १.१.१) में कहा है ।

वासुदेव में ही एक मात्र भक्ति होने से एकान्तिक शब्द का व्यवहार होता है । इन्हीं को परम ऐकान्तिक भी कहा जाता है ।

पाञ्चरात्रशास्त्र में पादविभाग

इस शास्त्र के ग्रन्थ 'संहिता' 'उपनिषद्' या 'तन्त्र' शब्द से व्यवह्रित होते हैं । उनमें **पाद्मसंहिता** आदि में ज्ञान, योग, क्रिया एवं चर्या-इन चारों पादों का प्रतिपादन मिलता है । संक्षिप्त रूप से इन्हीं चार विषयों का प्रतिपादन पाञ्चरात्र आगम ग्रन्थों में प्राप्त होता है । **ज्ञानपाद** में वासुदेव आदि चतुर्व्यूह एवं व्यूहान्तर के स्वरूप एवं उनकी महिमा के संबन्ध में विचार किया गया है । **योगपाद** में उनकी उपासना का प्रकार वर्णित है । **क्रियापाद** में उनके अर्चा विग्रह एवं मन्दिर निर्माण का विवेचन है । **चर्यापाद** में उनकी आराधना की विधि बताई गई है ।

पाञ्चरात्रागमों में भगवदर्चा का अधिकार

पाञ्चरात्रागमों में भगवत्पूजा तो सर्वसाधारण है । यह पूजा पाञ्चरात्र तान्त्रिक मन्त्रों के द्वारा की जा सकती है । यहाँ विशेष यह है कि पाञ्चरात्रशास्त्रों में भगवद् अर्चा में वैदिक एवं तान्त्रिक दोनों ही मन्त्रों का विधान है । जहाँ वैदिक मन्त्रों में तीन वर्णों का ही अधिकार था वहाँ तान्त्रिक मन्त्रों में त्रैवर्णिकों या अत्रैवर्णिकों सभी का अधिकार है ।

पाञ्चरात्रागमों के प्रवक्ता

पाञ्चरात्रागम ईश्वर द्वारा स्वयं प्रोक्त हैं । जैसा महाभारत में कहा भी है—

सांख्यस्य वक्ता कपिल.....पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य
वक्ता नारायणः स्वयम्—शान्तिपर्व ३५९.६५-६८

इस प्रकार स्वयं ही नारायण ने इस शास्त्र को आविष्कृत किया है । महाभारत में वहीं पर यह भी कहा गया है कि वेदान्त के सार को लेकर भगवान् लक्ष्मीनारायण ने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके इस पाञ्चरात्रशास्त्र को प्रवर्तित किया—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ।
सांख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ॥
वेदान्तेषु यथासारं संगृह्य भगवान् हरिः ।
भक्तानुकम्पया विद्वान् संचिक्षेप यथासुखम् ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व ३४८.६३-६४

पाञ्चरात्रशास्त्र का काल

'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' ४.३.९८ इस सूत्र में पाणिनि द्वारा भगवान् वासुदेव की पूजा का उल्लेख होने से पाणिनि के काल अर्थात् ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व इस शास्त्र का अस्तित्व विद्यमान था । वासुदेव यह नाम 'संज्ञैषा भगवतः' इस प्रकार महाभाष्य में उल्लेख होने से भगवान् वासुदेव की पूजा पाञ्चरात्रान्तर्गत होना निर्विवाद है । पाणिनि का काल विद्वानों ने ईसा से पूर्व चतुर्थ शतक स्वीकार किया है ।

सात्वतसंहिता एवं पाञ्चरात्रागम

सात्वत शब्द वासुदेव के भक्त के लिए प्रयुक्त हुआ है । हेमचन्द्र ने इन्हें

'बलदेव' का पर्याय माना है। महाभारत १.२१९.१२ में इस शब्द को कृष्ण के पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है। महाभारत १.२२२.३ में सम्पूर्ण यादवों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

वस्तुतः यह शब्द विष्णु के पर्याय के रूप में जाना जाता है। सच्छब्देन सत्त्वमूर्तिर्भगवान्। स उपास्यतया विद्यतेऽस्य इति, मतुप् ततः स्वार्थे अण् इस प्रकार व्युत्पत्ति की जाती है। पद्मपुराण के उत्तर खण्ड १९ अध्याय में 'सात्वत' का अर्थ विष्णु का भक्त किया गया है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

सत्त्वं सत्त्वाश्रयं सत्त्वगुणं सेवेत केशवम्।
योऽनन्यत्वेन मनसा सात्वतः समुदाहृतः॥
विहाय काम्यकर्मादीन् भजेदेकाकिनं हरिम्।
सत्यं सत्त्वगुणोपेतो भक्त्या तं सात्वतं विदुः॥

इस संहिता (तन्त्र) में महर्षि नारद ने सात्वत (=वासुदेव) आदि चतुर्व्यूह का २५ अध्यायों में प्रवचन किया है।

उपनिषद् के समान पाञ्चरात्र आगमों में वासुदेव को ब्रह्म के रूप में वर्णित किया गया है। यही पाञ्चरात्रशास्त्रों का आगम तत्त्व है अर्थात् दार्शनिक परिप्रेक्ष्य है जिसके कारण इन्हें 'पाञ्चरात्रागम' की संज्ञा दी जाती है। उन्हें ही विष्णु, नारायण, विश्व और विश्वरूप कहा जाता है। यह सारा विश्व उन्हीं की अहन्ता से व्याप्त है।

जिससे अहंभाव का स्मरण होता है वही परमात्मा है, वही भगवान् वासुदेव कहे जाते हैं, जिन्हें पर तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है।

इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु या अवस्तु नहीं है, जो 'अहन्ता' से आक्रान्त न हो। इदन्तया प्रतीत होने वाला यह सारा जगत् उस 'अहन्ता' से आक्रान्त है।

सर्वतः शान्त एवासौ निर्विकारः सनातनः।
अनन्तो देशकालादिपरिच्छेदविवर्जितः॥
महाविभूतिरित्युक्तो व्याप्तिः सा महती यतः।
तद् ब्रह्म परमं धाम निरालम्बनभावनम्॥

(लक्ष्मीतन्त्र २.८-९)

शोक, मोह, जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख इन छह तरङ्गों से रहित होने के कारण वह 'अहन्ता' सर्वथा शान्त है, निर्विकार और सनातन है। देशकाल आदि से परिच्छिन्न न होने के कारण वह अनन्त है।

उस अहन्ता की व्याप्ति महती है, इसलिये उसे 'महाविभूति' कहते हैं। उसका कोई आलम्बन नहीं है, इसलिये वही ब्रह्म है, वही परम धाम (तेजःस्वरूप) है।

निस्तरङ्गामृताम्भोधिकल्पं षाड्गुण्यमुज्ज्वलम्।
एकं तच्चिद्घनं शान्तमुदयास्तमयोज्झितम्॥

अपृथग्भूतशक्तित्वाद् ब्रह्माद्वैतं तदुच्यते ।
तस्य या परमा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ॥

(लक्ष्मीतन्त्र २.१०-११)

वह सर्वथा प्रशान्त अमृतसागर के समान है, षाड्गुण्य और उज्ज्वल है, उदय और अस्त से विवर्जित है, शान्त है, एक अद्वितीय और चिद्घन है । अर्थात् अपने से अपृथक् रूप रहने वाले सिद्धशक्ति अहंता से विशिष्ट और पृथक् रूप से रहने के कारण विशिष्ट भी एक वह अद्वैतब्रह्म हैं, जैसे चन्द्रमा में रहने वाली ज्योत्स्ना उससे पृथक् तथा अपृथक् रहकर भी उसी में आश्रित रहती है ।

पाञ्चरात्र आगमों की परम्परा में अन्य संहिता तन्त्र सामान्यतया **जयाख्यसंहिता** तथा **सात्त्वतसंहिता** का अनुसरण ही है ।

सात्त्वतसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र एवं अहिर्बुध्न्यसंहिता में अविनाभाव सम्बन्ध है । **'जितं ते'** आदि श्लोक इसका प्रमाण है । लक्ष्मीतन्त्र में सात्त्वत संहिता का नाम निर्देशपूर्वक (१.१९) उल्लेख है ।

सात्वत संहिता के बीजमन्त्रों की समीक्षा

वासुदेव परमात्मा (हूँ) हैं, सङ्कर्षण जीव के अधिष्ठाता (ह्सां) हैं, प्रद्युम्न मन के अधिष्ठाता (ह्रूँ) हैं और अनिरुद्ध अहंकार के अधिष्ठाता (ह्स्वं) हैं ।

जब मकार का जीवबीज होना युक्त है एवं प्रसिद्ध भी है तब सकार को क्यों जीवबीज कहा गया? केशवादि के द्वादशबीज कथन के प्रसङ्ग में (८.२५-२३) 'त्रिधा हकारं ... त्रिधा त्रिधा' श्लोक द्वारा स्पष्ट होता है । फिर पारमेश्वर संहिता में भी इसी प्रकार सकारपरत्व कहा गया है—

नवमं चाष्टमं नेमावराद्यं मातृकान्तिमम् ।
त्रिधैकैकं क्रमात् कृत्वा बीज द्वादशकं यथा ॥ —२४.७७-७८

लक्ष्मीतन्त्र (१९.३१-३२) में सकार का सङ्कर्षण बीज के रूप में जीवबीजत्व का व्यवहार सुस्पष्ट है । जीव के अधिष्ठाता के रूप में श्रीभाष्य में भी सङ्कर्षण को बताया गया है—'वासुदेवात् सङ्कर्षणो नाम जीवो जायते' (श्रीभाष्य २.२.३९) अतः जीव बीज स है म नहीं ।

संज्ञामन्त्र, पदमन्त्र एवं पिण्डमन्त्र तथा बीजमन्त्र

उसके वाचक १. संज्ञा, २. पद, ३. पिण्ड और ४. बीज भेद से चार प्रकार के कहे गये हैं । अतः साधक बीज एवं पिण्ड इन दोनों मन्त्रों में से एक, अथवा संज्ञा एवं पद इन दोनों के मध्य में से एक, अथवा दोनों प्रकार के मन्त्रों में उभयात्मना दोनों मन्त्रों से अभिन्न एक भगवान् का अर्चन करे ।

जहाँ पिण्ड मन्त्र से उत्पन्न एक ही बीज से वहाँ उभयात्मना योजना करे । मन्त्र के आदि में बीज जोड़ देवे, अथवा मन्त्र के अन्त में बीज जोड़ देवे, कोई अन्तर नहीं

आएगा क्योंकि दोनों ही अभिन्न हैं । इस प्रकार दोनों प्रकारों से मन्त्र की कल्पना कर अर्चन करे । किन्तु नाम मन्त्र के आदि में ही पिण्डाक्षर अथवा बीज का संयोजन करे ।

इसी प्रकार पद मन्त्र में भी आदि में बीजाक्षर अथवा पिण्डाक्षर की योजना करे । फिर प्रणव पीठ पर नमस्कार युक्त ध्वज लगावे । दोनों ही शान्त स्वरूप हैं, अतः एक ही हैं । संज्ञा मन्त्र और पद मन्त्र संसिद्धि लक्षण वाले हैं ।

स्वर से उत्पन्न एक अक्षर तथा व्यञ्जन से उत्पन्न एक अक्षर **बीज** कहे जाते हैं । एक में मिले हुए स्वर और व्यञ्जन से जो बहुत वर्ण बन जाते हैं, वह **पिण्ड मन्त्रराट्** है । स्वर वर्ण के आदि के तथा अन्त के दो-दो अक्षर अनुस्वार युक्त हों तो उनमें स्वाभाविक मन्त्रता सिद्ध है । अनुस्वार सहित एक स्वर से युक्त व्यञ्जन अथवा अनुस्वार सहित दो स्वर से युक्त ककारादि व्यञ्जन की भी **बीज** संज्ञा होती है ॥ २१ ॥

ॐकार शब्द का विवर्त्त सूर्य की किरणों के समान अनेक है अर्थात् ओंकार पर है तथा बीज, पिण्ड एवं संज्ञा मन्त्र क्रमशः तुर्य, सुषुप्ति और स्वप्न के क्रम से सूक्ष्म है । पदमन्त्र वैखरी होने से स्थूल है । उसी ॐकार के उच्चारण करने से परिणाम स्पष्ट जाना जाता है । वह कभी स्तुति सम्बोधन लक्षण वाला तथा बहुत अक्षरों वाला होता है और कहीं बहुत पदों वाला बन जाता है । वह ॐकार अविनाशी है और बीजों को महान् समृद्धि देने वाला है । अतः साधक सर्वप्रथम सत्य नामक प्रणव से आसन प्रदान करे ।

इस प्रकार प्रणव के नित्योदित होने के कारण तथा सभी मन्त्रों का आधार होने के कारण पहले प्रणव का आसन सन्निविष्ट करे । उसके बाद उसके विवर्त्तभूत बीज मन्त्र को आसन देवे । प्रतिदिन आराधन काल में बीज से उसके परिणाम स्वरूप संज्ञामन्त्र, अथवा पदमन्त्र में किसी एक का उत्थान करे । फिर यजन समाप्त होने पर उसी में लय करे । इसलिये वह अविनाशी है । याग का अवसर प्राप्त होने पर पुनः उसकी समाप्ति हो जाने पर मन्त्र उस ॐकार में इस प्रकार सन्निहित हो जाते हैं, जैसे तप्त पत्थर पर जल डालने से जल उसमें लीन हो जाते हैं ।

सात्त्वतागम

कृष्ण द्वारा कुब्जा से उत्पन्न उपश्लोक ने जो सात्त्वत आगम के प्रवर्तक माने जाते हैं, उन्होंने महर्षि नारद से भक्ति तत्त्व का अध्ययन किया था और सात्त्वत आगम नामक एक ग्रन्थ भी लिखा था जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत् पुराण की श्लोकबद्ध टीका **'नारायणीयम्'** में **मेलपुत्तूर नारायणभट्ट** ने किया है । **'कृष्णगीति'** नामक ग्रन्थ में भी **मानवेद** ने इस सात्वत परम्परा का उल्लेख किया है ।

आगम के क्रिया, चर्या आदि चार विभागों में से चर्या नामक विभाग का बहुत कम वर्णन मिलता है । आगमों में **ज्ञानपाद** की मुख्य चर्चा की गई है और मन्त्र शास्त्र (शब्द ब्रह्म) को पूर्ण रूप से पोषित किया गया है । **क्रियापाद** मात्र प्रतिमा की प्रतिष्ठा एवं उसकी चार रूप से पूजा में प्रतिपादित है । चार रूप है—विग्रह, अर्घ पात्र, मन्त्र एवं

हवन । सात्वत संहिता में प्रतिमा निर्माण के विषय में पच्चीसवें अध्याय में विस्तृत वर्णन प्राप्त है ।

सात्त्वतसंहिता में मुख्य रूप से भगवान् विष्णु प्रतिपादित हैं । लक्ष्मी भगवान् विष्णु की शक्ति होने से उनके समकक्ष ही नहीं बल्कि उनसे भी अधिक हैं । आगम की प्राच्य परम्परानुसार लक्ष्मी भगवान् विष्णु की प्रकृति हैं और दिव्य शक्ति हैं । वह विष्णु के शरीर से छ: रूपों में प्रकट होती है—१. ज्ञान (Knowledge), २. ऐश्वर्य (Sovereignty), ३. शक्ति (Potency) ४. बल (Strength), ५. वीर्य (Virility), ६. तेजस् (Splendour).

पाञ्चरात्रागम में परब्रह्म के उभय–निर्गुण तथा सगुणभाव स्वीकृत हैं । परमात्मा त्रिविध परिच्छेद शून्य है वह न भूत है, न वर्तमान है और न भविष्य, न ह्रस्व है, न दीर्घ, न स्थूल है, न अणु, न आदि है, न मध्य है और अन्तविहीन भी है । इस प्रकार वह सब द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त, सर्व उपाधि से विवर्जित सब कारणों का कारण, षाड्गुण्यरूप परब्रह्म है ।

षाड्गुण्य

विष्णु 'निर्गुण' होकर भी 'सगुण' हैं । वह अप्राकृत गुणों से रहित होने के कारण 'निर्गुण' है और षड्गुण युक्त होने से 'सगुण' हैं । जगत् के व्यापार के लिए कल्पित इन छह गुणों के नाम—१. ज्ञान, २. शक्ति, ३. ऐश्वर्य, ४. बल, ५. वीर्य एवं ६. तेज हैं ।

१. अजड़, स्वात्म सम्बोधी (=स्वप्रकाश), नित्य सर्वापगाही गुण को **'ज्ञान'** कहते हैं । ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप भी है तथा उसका गुण भी है ।

२. **शक्ति** से अभिप्राय है जगत् का उपादान कारण ।

३. **ऐश्वर्य** का अर्थ है स्वातन्त्र्यपरिबृंहितं जगत्कर्तृत्व ।

४. जगत् का निर्माण करने में भगवान् नारायण को तनिक भी आभास नहीं होता । इस श्रमाभाव को **'बल'** कहते है ।

५. जगत् के उपादान होने पर भी विकार राहित्य की पाञ्चरात्रगत शास्त्रीय संज्ञा **'वीर्य'** है । कार्यावस्था में जगत् के समस्त उपादान कारणों में विविध विकार दृष्टिगोचर होते हैं । परन्तु निर्विकार ब्रह्म (=भगवान्) में जगदुपादान होने पर भी किसी प्रकार के विकार का उदय नहीं होता । यही विकार राहित्य है ।

६. जगत् की सृष्टि में सहकारी की अपेक्षा न होना अर्थात् अनावश्यकता को **'तेज'** कहते हैं ।

पाञ्चरात्र की ब्रह्मकल्पना

इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की उभयविध कारणता (=अर्थात् उपादान कारणता तथा निमित्त कारणता) है । ब्रह्म बिना किसी सहायता के स्वतन्त्रतापूर्वक अपने से ही इस दृष्टि

का उत्पादक है । 'सर्वकारणकारण' विशेषण इसी सर्वशक्तिमत्ता तथा स्वतन्त्रता को द्योतित करता है । वासुदेव का ज्ञान ही उत्कृष्ट रूप है, शक्त्यादि अन्य पाँच गुण ज्ञान के गुण भगवान् की शक्ति होने से सर्वदा तत्सम्बद्ध रहते है ।

भगवान् की शक्ति

भगवान् की शक्ति को सामान्यत: 'लक्ष्मी' नाम से अभिहित किया गया है ।[२] भगवान् शक्तिमान हैं तथा लक्ष्मी उनकी शक्ति हैं । भगवान् तथा लक्ष्मी का पारस्परिक सम्बन्ध आपातत: द्वैत प्रतीत होता है । परन्तु दोनों में द्वैत नहीं है ।

नारायणी शक्ति का रूप

प्रलय दशा में जब प्रपञ्च का क्षय हो जाता है तब भी भगवान् तथा लक्ष्मी का नितान्त ऐक्य नहीं होता । उस समय भी नारायण तथा नारायणी शक्ति मानो[३] एकत्व धारण करते हैं ।

शक्ति तथा शक्तिमान का सम्बन्ध

धर्म तथा धर्मी, अहन्ता तथा अहं, चन्द्रिका तथा चन्द्रमा, आतप तथा सूर्य के समान ही शक्ति तथा शक्तिमान् में अविनाभाव या समभाव सम्बन्ध स्वीकृत किया गया है । किन्तु मूल में तो भेद रहता ही है ।

भगवान् की शक्ति

भगवान् की आत्ममूला शक्ति आरम्भकाल में किसी अचिन्त्य कारण के वश कहीं उन्मेष प्राप्त करती है और वह जगद् रचना व्यापार में प्रवृत्त होती है । विष्णु की स्वातन्त्र्य रूपी शक्ति भिन्न-भिन्न गुणों के कारण विभिन्न नामों से पुकारी जाती है । आनन्दा, स्वतन्त्रा, लक्ष्मी, श्री, पद्मा आदि उसी के नामान्तर हैं । उसी लक्ष्मी के सृष्टिकाल में दो रूप हो जाते हैं—१. क्रियाशक्ति, तथा २. भूतशक्ति ।

भगवान् की जगत् सिसृक्षा (जगत् उत्पन्न करने के संकल्प) को क्रियाशक्ति कहते हैं और जगत् की परिणति (भवनं भूति:) की संज्ञा 'भूतशक्ति' है । अहिर्बुध्न्य संहिता में ही लक्ष्मी को इच्छाशक्ति तथा सुदर्शन को 'क्रियाशक्ति' कहा गया है । इन दोनों शक्तियों के अभाव में भगवान् स्वयं अकिञ्चित्कर हैं । शक्तिद्वय के सद्भाव में ही भगवान् जगत् की सृष्टि, स्थिति, तथा संहृति व्यापार के उत्पादक हैं । लक्ष्मी शक्ति के उस प्रथम आविर्भाव को 'शुद्ध-सृष्टि' या गुणोन्मेष कहते हैं । तब तरङ्गरहित प्रशान्त समुद्र में प्रथम बुद्बुद् के समान परब्रह्म में ज्ञानादि षड्गुणों का प्रथम उदय होता है । इसी शक्ति के विकास से जगत् की सृष्टि सम्पन्न होती है । सृष्टि शुद्ध और शुद्धेतर भेद से दो प्रकार की होती है । इसी के भीतर जयाख्य संहितानुसार शुद्ध सर्ग, प्राधानिक सर्ग तथा ब्रह्म सर्ग का अन्तर्भाव किया जाता है ।

शुद्ध सृष्टि

भगवान् जगत् के परम मङ्गल के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं—१. व्यूह, २. विभव, ३. अर्चावतार तथा ४. अन्तर्यामी अवतार ।

(१) **व्यूह**—पूर्वोक्त षड्गुणों में से दो–दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है—

सङ्कर्षण में ज्ञान तथा बल गुण का प्राधान्य रहता है ।

प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों का आधिक्य रहता है ।

अनिरुद्ध में शक्ति तथा तेज का उद्रेक विद्यमान रहता है ।

इन तीनों के सर्जनात्मक तथा शिक्षणात्मक द्विविध कार्य होते हैं—

(क) सङ्कर्षण का कार्य जगत् की सृष्टि करना तथा ऐकान्तिक मार्ग (= पाञ्चरात्र तत्त्व) का उपदेश करना है ।

(ख) प्रद्युम्न का कार्य ऐकान्तिक मार्ग सम्मत क्रिया की शिक्षा देना है ।

(ग) अनिरुद्ध का कार्य क्रियाफल (मोक्ष तत्त्व) का शिक्षण करना है ।

वैषम्य दशा में गुण–प्रधान भाव से षड्गुणों की व्यवस्था की जाती है । षाड्गुण्य चारों व्यूहों में सामान्यत: विद्यमान रहता है । वासुदेव को मिलाकर इन्हें 'चतुर्व्यूह' कहते हैं । चतुर्व्यूह भगवद्रूप ही है । परन्तु शङ्कराचार्य के अनुसार वासुदेव से सङ्कर्षण अर्थात् जीव की उत्पत्ति होती है । सङ्कर्षण से प्रद्युम्न अर्थात् मन की तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार की सृष्टि होती है । यही चतुर्व्यूह सिद्धान्त पाञ्चरात्र का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है । जयाख्य आदि संहिताओं में यह मत नहीं मिलता । परन्तु महाभारत के नारायणीयोपाख्यान तथा लक्ष्मीतन्त्र में निर्दिष्ट होने से यह पाञ्चरात्र का एकदेशीय मत ही प्रतीत होता है ।

(२) **विभव**—विभव का अर्थ है 'अवतार' । ये संख्या में ३९ (सात्त्वतसंहिता में ३८) माने जाते हैं । विभव (= अवतार) मुख्य तथा गौड़ दो प्रकार के होते हैं—

(क) मुख्य—जिनकी उपासना भुक्ति के लिए की जाती है ।

(ख) गौड़—जिनकी पूजा मुक्ति के लिए की जाती है ।

ये ३९ विभव इस प्रकार है—

१. पद्मनाभ, २. ध्रुव, ३. अनन्त, ४. शक्त्यात्मा, ५. मधुसूदन, ६. विद्याधिदेव, ७. कपिल, ८. विश्वरूप, ९. विहङ्गम, १०. क्रोडात्मा, ११. वडवावक्त्र, १२. धर्म, १३. वागीश्वर, १४. एकाम्भोनिधिशायी, १५, भगवान् कमठेश्वर, १६. वराह, १७. नरसिंह, १८. पीयूषहरण, १९. श्रीपतिभगवान् देव, २०. कान्तात्मा, २१. अमृतधारक, २२. राहुजित्, २३. कालनेमिघ्न, २४. पारिजातहर, २५. लोकनाथ, २६. शान्तात्मा, २७. महाप्रभु दत्तात्रेय, २८. न्यग्रोधशायी, २९. भगवान् एकशृङ्गतनु, ३०. वामनदेह, ३१. सर्वव्यापी त्रिविक्रम, ३२. नर, ३३. नारायण, ३४. हरि, ३५. कृष्ण, ३६. ज्वलत्परशुधृक्–राम (=परशुराम), ३७. धनुर्धर राम, ३८. वेदविद् भगवान् कल्की, ३९. पातालशयन ।

(३) **अर्चावतार**—पाञ्चरात्र विधि से पवित्रित किए जाने पर भगवान् की प्रस्तर

आदि की मूर्तियाँ भी भगवान् का अवतार मानी जाती हैं। सर्वसाधारण की पूजा में इनका उपयोग होता है। इन्हीं का नाम 'अर्चावतार' है।

(४) **अन्तर्यामी**—भगवान् सब प्राणियों के हृत्पुण्डरीक में वास करते हुए वे उनके समस्त व्यापारों के नियामक हैं। इस रूप का नाम 'अन्तर्यामी' रूप है। यह कल्पना उपनिषदों के आधार पर ही है।

शक्तितत्त्व

(i) एक तत्त्व से चार तत्त्व—

(१) वेदों मे आनन्द, ज्ञान, इच्छा, क्रिया एवं आवरण इन पाँच गुणों का समुदाय 'शक्ति' शब्द से अभिहित होता है। उसी को आगमों में ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—इन षड्गुणों के समुदाय को 'शक्ति' कहा गया है। (२) इनमें अवच्छेद रूप-आवरणशक्ति 'माया' है। माया रूप अवच्छेद से अवच्छिन्न, अखण्ड खण्डवत्, शान्त अशान्तवत्, अद्वय द्वयवत् रूप से भासता है, परन्तु वह प्रतिभान मिथ्या नहीं है। (३) माया (प्रकृति) के गुण भेद से वह तीन रूपों में—सत्त्वगुण से विष्णु, रजोगुण से ब्रह्मा एवं तमोगुण से शिवरूप में प्रकट होता है। इनके कार्य क्रमशः स्थिति, उत्पत्ति एवं प्रलय हैं। (४) धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य इन चार गुणों के योग से वह एक ही क्रमशः वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चार रूपों में प्रकट हुआ है।

(ii) चार से लेकर सोलह तत्त्व—

वासुदेव आदि वही चार रूप, चार वर्ण, चार आश्रम, चार युग एवं चार पुरुषार्थ आदि परमात्मा के चार-चार रूप हैं। (५) शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—इन पाँच गुणों के कारण क्रमशः परमेष्ठि, पुमान्, विश्व, निवृत्ति एवं सर्व—ये परमात्मा के पाँच रूप है। (६) श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् एवं मन—ये परमात्मा के ही छह रूप हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त एवं शिशिर—इन छह ऋतुओं के रूप में भी वह प्रजापति ही परिणत हुआ है। (७) भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्य—इन सात व्याहृतियों में वही परिणत हुआ है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती—ये सात छन्द भी उसके ही रूप हैं। अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, वाजपेय, अतिरात्र और ज्योतिष्टोम—ये सात रूप हैं, उन रूपों में भी परमात्मा ही परिणत हुए हैं। (८) अव्यक्त, महत्, अहंकार तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—इन आठ रूपों में परमात्मा ही परिणत होते है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य एवं यजमान—इन आठ मूर्तियों के रूप में वही ईश्वर परिणत हुए हैं। इसी प्रकार आठ दिक्पाल, आठ गुण एवं आठ सिद्धियाँ आदि रूपों में भी वही चैतन्य स्थित हैं। (९) नरसिंह, वराह, वामन, राम, कृष्ण, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य और चन्द्र—ये नौ रूप भी उन्हीं विश्वात्मा की विभूति है। (१०) इन्द्र, अग्नि, यम, निकृति, वरुण, वायु, सोम, ईशान, ब्रह्मा, अनन्त-नाग—इन दस रूपों में भी वही विद्यमान है। (११) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं मन—ये ग्यारह भी भगवान् विष्णु के ही रूप हैं। (१२) इन्द्र, भग, पूषा, पर्जन्य, अंशु, विष्णु, त्वष्टा, धाता, विवस्वान्, वरुण, अर्यमा,

भिन्न—ये बारह आदित्य भी परमात्मा के ही विभिन्न रूप हैं। (१३) विश्वदेव, (१४) चौदह मनु (१५) पन्द्रह तिथि एवं (१६) सोलह दिशा–विदिशाओं के रूप में वहीं एक तत्त्व परिणत हुआ है। इस प्रकार सभी देवों के आश्रय एवं उपादान कारण विष्णु हैं। विष्णु ही सब देवता हैं। सम्पूर्ण चराचर विष्णु से व्याप्त है। फिर जिनसे सारी सृष्टि हुई है एवं अन्त में जिनमें लीन हो जायेगी, उन पुण्डरीकाक्ष को छोड़कर दूसरा कौन विश्व को व्याप्त करके रह सकता है।

भगवान् विष्णु के व्यूह का रहस्य

परब्रह्म परमात्मा प्रकृति परे हैं। वह मानव–मनोभूमि से अतीत हैं। किन्तु वह प्रकृति से परे हैं और परे भी नहीं है। परमात्मा प्रकृति से परे भी है और प्रकृति में भी है। त्रिपाद् रूप से वे प्रकृति से परे है और एकपाद्रूप से प्रकृति में हैं। इस प्रकार परमात्मा की दो विभूतियाँ हैं—

१. त्रिपाद्विभूति और २. एकपाद्विभूति।

त्रिपाद्विभूति को 'नित्यविभूति' कहते है और एकपाद्विभूति को 'लीलाविभूति' कहते हैं। इस एकपाद्विभूति में भगवान् विष्णु जगत् के उदय, विभव और लय की लीला किया करते है। आत्माराम, आप्तकाम परमात्मा का प्रकृति के साथ यह विहार चिरन्तन है, अनादि तथा अनन्त भी है। इस विहारस्थली के देश–काल का ज्ञान मानव मनीषा में नहीं समाता। मनुष्य यह जान नहीं सकता कि भगवान् जिस प्रकृति–नटी के साथ अपना महारास कर रहे हैं उसका परिमाण केवल इतना है। वस्तुतः प्रकृति के असंख्य ब्रह्माण्ड भाण्डों को अहर्निश बनाने बिगाडने के अनवरत कार्य को समग्ररूप में जानने की शक्ति किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में नहीं है। यह जानना भी कठिन है कि प्रकृति के साथ भगवान् का यह विहार कब प्रारम्भ हुआ और कब तब चलेगा।

इस जगत् की तीन अवस्थाएँ हैं—सृष्टि, स्थिति और प्रलय। जड प्रकृति में परमात्मा के ईक्षण से—संकल्प से कभी तो विकासोन्मुख परिणाम हुआ करता है, जिसे 'सृष्टि' कहते हैं और कभी विनाशोन्मुख, जिसे 'प्रलय' कहते हैं। सृष्टि और प्रलय के मध्य की दशा का नाम 'स्थिति' है। जब परमात्मा जगत् की रचना करते हैं, तब वे **'प्रद्युम्न'** होते हैं और जब पालन करते हैं तब **'अनिरुद्ध'** और जब संहार करते है तब **'सङ्कर्षण'** कहलाते है—इन रूपों की संज्ञा 'व्यूह' है।

सङ्कर्षण—भगवान् विष्णु में यद्यपि अनन्त कल्याण गुण हैं तथापि उनमें छह मुख्य हैं। उन्हीं छह गुणों में से जब वे 'ज्ञान' और 'बल' का प्रकाशन करते हैं, तब उनका नाम 'सङ्कर्षण' होता है। सङ्कर्षण मे अन्य चार गुणों अर्थात् वीर्य, ऐश्वर्य, शक्ति और तेज का निगूहन होता है, अभाव नहीं।

सङ्कर्षण का वर्ण पद्मराग के समान है। ये नीलाम्बरधारी हैं। ये अपने चार कर कमलों में क्रमशः हल, मूसल, गदा और अभयमुद्रा धारण करते हैं। ताल इनकी ध्वजा का लक्षण है। ये जीव के अधिष्ठाता होकर भी 'ज्ञान' गुण से शास्त्र का प्रवर्तन करते हैं और 'बल' नामक गुण से जगत् का संहार करते हैं।

प्रद्युम्न—जब वे ही विष्णु 'वीर्य' और 'ऐश्वर्य' का प्रकाशन करते हैं तब उनका नाम 'प्रद्युम्न' होता है। इनमें ज्ञान, बल, शक्ति और तेज का निगूहन होता है, अभाव नहीं।

प्रद्युम्न का वर्ण रवि किरण के समान है। ये रक्ताम्बरधारी हैं। इनके चार हाथ में धनुष, बाण, शङ्ख और अभयमुद्रा विद्यमान है। इनकी ध्वजा का चिह्न 'मकर' है। ये मनस्तत्त्व के अधिष्ठाता होते हुए भी 'वीर्य' नामक गुण से धर्म का प्रवर्तन करते हैं और 'ऐश्वर्य' नामक गुण से जगत् की सृष्टि भी करते हैं।

अनिरुद्ध—जब परब्रह्म परमात्मा 'शक्ति' और 'तेज' का प्रकाशन करते है तब उनका नाम अनिरुद्ध होता है। इनमें ज्ञान, बल, वीर्य, और ऐश्वर्य का निगूहन होता है, अभाव नहीं।

अनिरुद्ध का वर्ण नील है। ये शुक्लाम्बरधारी हैं। इनके चार कर कमलों में खड्ग, खेट, शङ्ख और अभयमुद्रा रहती है। इनकी ध्वजा का चिह्न मृग है। अहंकार के अधिष्ठाता होते हुए भी ये 'तेज' नामक गुण से आत्मतत्त्व का प्रवर्तन करते हैं और शक्ति नामक गुण से जगत् का भरण-पोषण भी करते हैं।

परब्रह्म के व्यूहान्तर

इस प्रकार त्रिव्यूह का प्रतिपादन हुआ। कभी-कभी षाड्गुण्य मूर्ति परतत्त्व श्रीभगवान् विष्णु भी व्यूहों में सम्मिलित होते हैं। उस समय वे 'व्यूह-वासुदेव' के नाम से अभिहित होते है।

ये शशिगौर और पीताम्बरधारी हैं। ये चार कर कमलों में शङ्ख, चक्र, गदा और अभयमुद्रा धारण करते हैं। इनकी ध्वजा का चिह्न 'गरुड' है। इस प्रकार भगवान् के चार व्यूह होते हैं।

उपरोक्त व्यूहों के अतिरिक्त अन्य भी व्यूहान्तर हैं।

(१) केशव, नारायण और माधव—ये तीन वासुदेव के विलास हैं। इनमें केशव स्वर्णाभ हैं और चार चक्र धारण करते हैं। नारायण श्याम वर्ण हैं और चार शङ्ख धारण करते हैं। माधव इन्द्रनील के समान वर्ण वाले हैं और चार गदाएँ धारण करते हैं।

(२) गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन—ये तीन सङ्कर्षण के विलास हैं। गोविन्द चन्द्र गौर हैं और चार शार्ङ्ग धनुष धारण करते हैं। विष्णु पद्म किञ्जल्क वर्ण हैं और चार हल धारण करते हैं। मधुसूदन अब्ज वर्ण हैं और चार मूसल धारण करते हैं।

(३) त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर—ये तीन प्रद्युम्न के विलास हैं। त्रिविक्रम अग्निवर्ण हैं और चार शङ्ख धारण करते हैं। वामन बालसूर्याभ हैं और चार वज्र धारण करते हैं। श्रीधर पुण्डरीक वर्ण हैं और चार पट्टिश धारण करते हैं।

(४) हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर—ये तीन अनिरुद्ध के विलास हैं। हृषीकेश तडिदाभ हैं और चार मुद्गर धारण करते हैं। पद्मनाभ सूर्याभ हैं और शङ्ख, चक्र, गदा, धनुष तथा खड्ग धारण करते हैं। दामोदर इन्द्रगोप वर्षा हैं और चार पाश धारण करते हैं।

संक्षेप में हम यह जान लें कि एकपाद्‌विभूति में लीला निमित्त रूप धारण किए हुए परब्रह्म के अनुक्त रूप 'व्यूह' कहलाते हैं। यही पाञ्चरात्र में वर्णित व्यूह का रहस्य है।

सात्वतसंहिता के टीकाकार परम वैष्णव पं० अलशिंग भट्ट

भगवान् यदुगिरि के पदचञ्चरीक पं० अलशिंग भट्ट के पिता मौञ्ज्यायन गोत्रीय श्री योगानन्द भट्टाचार्य थे, जो नृसिंह के नाम से भी प्रख्यात थे।[१] अलशिंग ने मंगलाचरण में अपने इष्टदेव विहगपति श्रीमन्नारायण का एवं अपने पिता का स्मरण किया है। यदुगिरि कर्णाटक में है। वर्तमान में यह 'मेलकोटे' नाम से प्रसिद्ध है। इनकी माता का नाम यदुगिरि नाथ की अम्मण्यम्बा था और पं० नारायण मुनि इनके विद्यागुरु थे। 'वज्र-मुकुटीविलास चम्पू' नामक एक चम्पूकाव्य की भी इन्होंने रचना की थी। ये अत्यन्त सरस कवि हैं। महाराज यदुकुल श्रीकृष्णराज सार्वभौम की सभा में पं० अलशिंग को श्वेत छत्र, चामर, मुक्तामण्डित कुण्डल, सुवर्ण का यज्ञापवीत तथा कंकण प्रदान किया गया था।

अलशिंग की रचनाएँ

सं० १८३४ (= १७५६ शकाब्द) में इन्होंने 'सात्वतार्थप्रकाशिका' नामक ईश्वर-संहिता की व्याख्या को पूर्ण किया था।[२] १८३८ ई० में यतिराजशतक और १८३६ ई० में 'वज्रमुकुटीविलासचम्पू' की रचना की।[३] 'यतिराजविजय व्याख्या' तथा 'सम्प्रदाय-प्रदीपिका' नामक ग्रन्थ भी इनके द्वारा रचित हैं।[४] इन्होंने २५.६३-९० की टीका में कन्नड़ भाषा का प्रयोग भी किया है। जैसे त्रिफलोदक के लिए 'नेल्लिकायि अरलेकायि तारेकायि। वचा बजे।' गोलोमी = पिल्लगरिकै, सिंहलोमी = नरियाल्दहुल्लु, महागरुड-वेगा = गरुडनगरिगिड्डा, कार्कोटा = तोट्टिगिड्डा, वाराहकर्णी = अनेलदालु। बला बेण्णे-गरुड आदि।

अलशिंग ने सात्वतसंहिता की टीका में ईश्वरसंहिता के अपने व्याख्यान का कुछ अंश भी प्रस्तुत किया है।[५] (द्र० ६.१८० पर टीका) इन्होंने ईश्वरसंहिता के व्याख्यान के अतिरिक्त एक 'सात्वतामृतसार' की भी रचना की थी।[६]

अलशिंग के भाष्य की मुख्य विशेषता है अनेक ग्रन्थों से उद्धरण लेकर विषय को

---

१. इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये ... ।

२. द्र० श्री के०वी स्वामीनाथन् द्वारा सम्पादित पाण्डुलिपि।

३. द्र० न्यू कैटलागस् कैटलोगोरम् भा० १, पृ० ३००।

४. द्र० ६.१६५-१६८ टीका। नाम्ना गोत्रेण मन्त्रपूर्वं तिलोदकं दद्यादिति। अत्रैवं प्रयोगः— ॐ पुरुषाय नमः, मौञ्ज्यायनगोत्राय नृसिंहशर्मणे पुरुषरूपिणे पित्रे इदं तिलोदकं ददामीति।

५. ननु भवत्कृतेश्वरसंहिता व्याख्याने एव पितृसंविभागः प्राभातिकार्चनमात्रानुष्ठाने होमानन्तर कार्य इत्युक्तम्, तदसंगतम्, ... संतोष्टव्यमायुष्मता ॥ ६.१८० ॥

६. आड्यार पुस्तकालय की सूची। किन्तु गवर्नमेण्ट लाइब्रेरी, मद्रास के अनुसार यह ग्रन्थ अलशिंग के पिता योगानन्द की कृति है।

सुस्पष्ट करना । इससे भाष्यकार के वैदुष्य का ज्ञान होता है । पाँचरात्र आगम की परमेश्वर संहिता के व्याख्यान के अतिरिक्त उन्होंने किसी अन्य संहिता के भाष्य का उल्लेख नहीं किया है ।

सात्वत संहिता का विषय विवेचन

पाञ्चरात्र-आगम वैष्णवधर्म के सर्वप्राचीन मतों में से एक है । वैष्णवी शक्ति-उपासना का विधान पाञ्चरात्र-आगमान्तर्गत 'सात्वतसंहिता' में विशेषरूप से निर्दिष्ट है ।

सात्वतसंहिता को नारद मुनि ने भगवान् सङ्कर्षण से प्राप्त किया था और सङ्कर्षण ने साक्षात् वासुदेव से ग्रहण किया था । यह संहिता पच्चीस परिच्छेदों में आम्नात हैं ।

१. प्रश्नप्रतिवचन नामक **प्रथम परिच्छेद** में नारद मुनि का मलयाचल पर्वत पर भगवान् परशुराम से मिलना वर्णित है । परशुराम जी ने नारद जी से कहा—आप में भवबन्धन को नष्ट करने वाली ऐसी अचला भक्ति है जो सात्वतशास्त्र में प्रतिपादित है । अत: आप सात्वतशास्त्र में उपदिष्ट क्रियामार्ग अर्थात् अभिगमन, उपादान, इज्या एवं स्वाध्याय रूप शुद्ध मार्ग में मुनियों को प्रवृत्त कीजिए ।

पूर्वकाल में सत्ययुग की समाप्ति एवं त्रेतायुग के आरम्भ में जगद्धाता अच्युत रक्त वर्ण के हो गए । भगवान् सङ्कर्षण ने इस रक्तता का कारण जगद्धाता अच्युत से पूछा । भगवान् ने कहा—पहले लोग सत्त्वगुण सम्पन्न थे अब लोग रागपरक हो गए हैं । अत: मैं भी रागपर होकर रक्तवर्ण का हो गया हूँ । इस पर सङ्कर्षण ने प्रपन्नों के हित के लिए ब्रह्म का प्रतिपादन करने की उनसे प्रार्थना की । भगवान् ने कहा—वह ब्रह्म १. ज्ञान, २. ऐश्वर्य, ३. शक्ति, ४. बल, ५. वीर्य एवं तेजोमय होने से षाड्गुण्य विग्रह वाले हैं । वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध भेद से उन ब्रह्म की व्यूह संज्ञा है । वह व्यूह ही सत् होने से नि:श्रेयस तथा मोक्ष फल देने वाले हैं ।

२. तुरीय व्यूहसमाराधन नामक **द्वितीय परिच्छेद** में सङ्कर्षण ने भगवान् से पूछा—हे विभो ! आपने राग से दूर रहने के लिए उपासना का जो उपदेश दिया (१.२४) वह 'उपासना' क्या है? श्रीभगवान् ने कहा—एकायन श्रुति के सारभूत सात्वततन्त्र का मैं उपदेश करूँगा । यह सच्छब्द ब्रह्मशब्द एवं वासुदेव शब्द के अर्चन करने वाले ब्राह्मणों का लक्ष्यभूत है । ब्राह्मणों का परव्यूह अर्चन में समन्त्रक अधिकार है और भगवद्भक्त प्रपत्ति निष्ठा वाले क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन तीनों का व्यूहार्चन में अमन्त्रक अधिकार है । दीक्षाग्रहण किए हुए भगवद् भक्त का इस अर्चन में चारों वर्णों का अधिकार है ।

फिर मन्त्रोद्धार एवं चक्ररचना का क्रम वर्णित है । वर्ण चक्र पर वर्णात्मा भगवान् स्थित हैं । इस वर्ण चक्र की नाभि में अकारादि आठ ह्रस्व स्वर एवं आकारादि आठ दीर्घस्वर सौर एवं चान्द्र रूप से स्थित हैं । क से लेकर भ तक २४ वर्ण दो-दो के क्रम से १२ अरा पर स्थित हैं । नेमि भाग में स्वयं काल मकार से हकार तक ९ वर्ण का कलनात्मक देह धारण किए हुए स्थित हैं । प्रधिगण में क्षकार स्थित है । यह चक्रराट् विद्या का बीज है और परमात्मा का वाचक है । इसके बाद महामन्त्र का उद्धार कहा गया

है जो अमृत का स्राव करता है और शीघ्र ही मोक्ष प्रदान करता है । छः पदों से युक्त २२ अक्षरों का मन्त्रोद्धार किया गया है । ये छः पद षाड्गुण्य के वाचक हैं । अङ्गमन्त्र की सिद्धि के लिए इन छः का हृदयादि छः अङ्गों से योजना क्रम निरूपित है । वैष्णव साधक बाहरी एवं भीतरी मलों को देह से बाहर निकालकर अर्चन करे ।

अर्चन में पात्रस्थापन की विधि, साधक के शुद्धासन का प्रकार, प्राकृत एवं तात्त्विक न्यास और मानसिक याग की विधि वर्णित है । भगवान् के मन्त्रमय स्वरूप का ध्यान और हृतकमल की कर्णिका में सूर्यचन्द्राग्नि रूप शब्दब्रह्म का अर्चन करे । नाद, बिन्दु, मध्यमा एवं बैखरी इन चार अवस्था वाले शब्दब्रह्म का यजन वाग्भ्रामरी तैलधारावत् करना चाहिए । फिर उन शङ्खचक्र के चिह्नों वाले शब्दब्रह्म का ध्यान वर्णित है । अन्त में निर्विकार भगवान् की मानसी पूजा के लिए उपयुक्त अर्घ्यादि की भावनावश गङ्गावतरण का विधान है । इस प्रकार जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति एवं तुर्याख्य पद चतुष्टय पर स्थित भगवान् वासुदेव को मानसी पूजा से प्रसन्न कर ॐ ॐ दो बार कह कर 'प्रीयतां मे प्रभु' ऐसा कहे । यही तुरीयव्यूहसमाराधन है ।

३. **सुषुप्ति व्यूहसमाराधन** नामक **तृतीय परिच्छेद** में सुषुप्ति पदाश्रित व्यूहात्मक भगवान् के स्वरूप की विवेचना प्रस्तुत है । साधक ब्रह्मामृतमय योग से स्थिर चित्त हो यजन करे क्योंकि दो-दो गुणों से ही सङ्कर्षणादि मूर्तिमय हैं फिर भी उनमें शेष चार गुण भी अनुवृत्ति रूप से रहते हैं । इस प्रकार मूर्तिमय में दो-दो गुण व्यक्त रूप से तथा अवशिष्ट चार गुण अव्यक्त रूप से रहते हैं । ब्रह्मषाड्गुण्य के वाचक मन्त्र चतुष्क साधक भक्त को सतत मोक्ष प्रदान करने वाले कहे गए हैं । इन चारों मन्त्रों का उद्धार कर उनके पदों की संख्या भी वर्णित है ।

यहाँ पर विचार करना चाहिये कि सात्त्वत संहिता के द्वितीय परिच्छेद में तूर्यव्यूह का एक ही मन्त्र उद्धृत किया गया है जबकि सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत इन तीन व्यूहों में चार-चार मन्त्र उद्धृत किये गये हैं उसके अनुरोध से तूर्यव्यूह में भी चार मन्त्र का उद्धार अपेक्षित है । जबकि न केवल भाष्य में अपितु संहिता में भी चातुरात्म्य चतुष्टय का प्रतिपादन किया गया है । जब तूर्यव्यूह में भी चातुरात्म्य भासित हो रहा है तब वहाँ भी चार मन्त्र होना चाहिए यह स्वाभाविकी शङ्का उत्पन्न होती है । तब इसका परिहार इस प्रकार करना चाहिये—द्वितीय परिच्छेद में पर स्वरूप का विवरण मात्र है । किन्तु तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम परिच्छेद में सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत्पद में स्थित व्यूह स्वरूपों का वर्णन है । इस व्यूहजन्य ब्रह्म को चातुरात्म्य पद से भी कहा जाता है । यह चातुरात्म्य परस्वरूप में अव्यक्तदशा में रहता है । इसलिये वहाँ भी चातुरात्म्य प्रयोग होता है । उसे तुर्यव्यूह नाम से भी कहा जाता है—यहाँ नित्योदित दशा तथा शान्तोदित दशा दो प्रकार की दशा स्वीकार की जाती है । नित्योदित दशा परात्पर वासुदेव दशा तथा शान्तोदित दशा पर वासुदेव दशा कही जाती है । किन्तु दोनों दशा में वासुदेव का प्राधान्य रहता है। उस अवस्था में सङ्कर्षणादि तीनों का तथा अच्युतादि तीन का अव्यक्त रूप से अवस्थान रहता है । प्रकृति में आदिमूर्ति वासुदेव का ही प्राधान्य प्रदर्शित करने के कारण

तुर्यव्यूहापर नामक परस्वरूप के आराधन के लिये यहाँ एक ही मन्त्र का निर्देश किया गया है ।

४. स्वप्नव्यूहसमाराधन नामक **चतुर्थ परिच्छेद** में स्वप्न में परमात्मा को जीवात्मा के समान (मातृका) वर्ण कमल के ऊपर प्रकाशित होता हुआ बताया गया है । यहाँ सर्वप्रथम वासुदेवादि चार व्यूहों के मूलभूत विशाखयूप संज्ञक भगवान् का लक्षण प्रतिपादित है । षाड्गुण्य विभव वाले तेज:स्वरूप विशाखयूप भगवान् का कर्णिका के अग्रभाग में अवलम्बन कर मन्त्रमय देह की मूर्ति का दर्शन करे । फिर उस मन्त्रमय शरीर का उपसंहार करे क्योंकि वह तेज:स्वरूप विशाखयूप भगवान् ब्रह्मयूप शरीर से विद्यमान हो जाते हैं । यत: उन सर्वव्यापक विभु के वासुदेवादि शाखाएँ हैं इसलिए उन्हें विशाखयूप कहा जाता है । फिर इन विशाखयूप भगवान् का लक्षण बताया गया है । फिर अन्त में विभिन्न शरीर वाले विशाखयूप संज्ञक देव के विद्या एवं विवेक प्रदान करने वाले चार महामन्त्र का उद्धार किया गया है । द्वितीय परिच्छेद में 'प्रीयतां मे पर: प्रभु:' यह प्रीति मन्त्र कहा गया । किन्तु यहाँ 'पर' के स्थान में दो प्रणव लगाकर वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध का प्रयोग करना चाहिए जैसे 'ॐ ॐ वासुदेव: प्रीयताम्' इत्यादि ।

५. जाग्रत्व्यूह समाराधन नामक **पञ्चम परिच्छेद** में सङ्कर्षण के जाग्रल्लक्षण व्यूह का विवेचन है । वस्तुत: हृदयकमलाकाश 'तुर्य' पद है और उसका कर्णिका स्थान 'सुषुप्ति पद' है । केशर 'स्वप्न' पद है; उसके नीचे स्थित पत्र-स्थान 'जाग्रत्' पद है । इस हृदय रूप वर्ण कमल में जाग्रत् संज्ञक अब्ज पत्र में जाग्रत् नामक व्यूह है । यहीं पर ॐ प्रणव सहित ब्रह्मबीज चतुष्टय शं षं सं हं रूप से चारों दिशाओं में उदीयमान वासुदेवादि मूर्तियों का दर्शन करना चाहिए । यह मूर्ति स्वप्न व्यूह की अपेक्षा 'जाग्रत् ' होने के कारण अधिक सुव्यक्त है ।

फिर वासुदेवादि के विशेष एवं मान्य लक्षणों को कहकर जाग्रत्व्यूहमन्त्र चतुष्टय का उद्धार किया गया है । जाग्रत्व्यूह का लक्षण युग भेद से अलग-अलग भी बताया गया है । साधक कब और कहाँ स्मरण करे यह वर्णित है । सृष्टि क्रम से तथा संहार क्रम से भगवान् का स्मरण परम गति को प्रदान करने वाला कहा गया है । अर्चन के लिए भगवान् के विभवावतारों का क्रम वर्णित है । इस प्रकार परमात्मा विष्णु के अन्तर्याग का विधान संक्षेप से प्रस्तुत किया गया है । अब 'बहिर्याग' का उपक्रम वर्णित है ।

६. चातुरात्म्यबाह्याराधन नामक **षष्ठ परिच्छेद** में बाह्यसाधनभूत द्रव्ययाग (= बहिर्याग) का वर्णन है । इसके लिए सबसे पहले भद्रपीठ के शोधन का विधान है । तुलसी पत्रादि सभी पूजा द्रव्य पहले इकट्ठा कर भद्रपीठ को झाड़-पोंछ कर वस्त्र से छाने हुए जल से प्रणव सम्पुटित द्वादशाक्षर मन्त्र से भद्रपीठ का प्रक्षालन करे ।

फिर चक्रराजार्चन का विधान है । 'ॐ चक्रराजाय नम:' से विभिन्न उपचारों द्वारा चक्रराज का पूजन करे । आधारपीठ पर उन्हें सर्वौषधि-आदि विभिन्न पूजा सामग्रियों द्वारा कलश के बाहर कोणों पर स्थापित करे । आठ कलशों की स्थापना बहिर्याग में कही गई

है । इसके बाद बिम्बशोधन करना चाहिए । फिर आवाहन का क्रम वर्णित है । वेदी, कुम्भ एवं मण्डल पर आवाहित देवों के उपचारों के समर्पण का प्रकार बताया गया है । आसनादि उपचारों के समर्पण का प्रकार बताया गया है । फिर क्षीरादि २५ कलशों के स्नपन का प्रकार वर्णित है । इसके बाद नीराजन विधि कही गई है । भगवान् को नया वस्त्र निवेदित करे । उपचारों के बाद आकाश से आते हुए भगवद्बिम्ब का ध्यान करे । गन्धोदक से चार कलशों को पूर्ण करे । फिर अलङ्कार आसन का समर्पण कहते हैं । फिर भोज्यासन उपचार का वर्णन है । इसके बाद मुद्राबन्धलक्षण, जप का विधान और जप के बाद पुनः भगवदर्चन कहा गया है ।

कुण्ड के चारों ओर आठ पूर्ण कुम्भ का स्थापन करना चाहिए । अग्नि का आनयन और अपने हृदयस्थित तेज का उस अग्नि में स्थापन करे । कुण्ड में अग्निस्थापन, फिर उसके प्रज्वलन के लिए चार समित्प्रक्षेप करे । इस प्रकार परिस्तरण के बाद होमोपकरण का सन्निधापन वर्णित है । प्रणीतासंस्कार, इध्मप्रक्षेपण, आज्यसंस्कार, स्रुक्स्रुवसंस्कार, पवित्रधारण, आधाराधेय विवरण एवं अग्निमध्य में भगवद् आवाहन करे । विधिज्ञ ब्राह्मण को सव्यभिचार मौन (= संकेत युक्त) वर्जित करना चाहिए । शुभ और व्यभिचार रहित मौन धारणकर क्रिया पर होना चाहिए । अन्त में अनुयाग विधि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है ।

७. **अमन्त्रकविधि** नामक **सातवें परिच्छेद** में उस पुण्यावह कर्म का निरूपण है जो भक्त के पाप समूह को जला देता है । जिस प्रकार जाग्रद् व्यूह वासुदेवादि चतुष्टय में पहले जैसा वर्णभेद कहा गया है, केशवादि त्रिक चतुष्टय में भी उसी प्रकार का वर्णभेद विद्यमान रहता है । केशवादि से रूप का आश्रय लेकर साधक दान एवं धर्म के आचरण से शीघ्र परं धाम को प्राप्त कर लेता है ।

वासुदेवादि तथा केशवादि को प्रसन्न करने के लिए व्रतानुष्ठान का क्रम कहा गया है । कार्तिक मास में दशमी तिथि को सायंकाल व्रत का संकल्प करे ओर एकादशी को व्रत करने का विधान है । इसमें वासुदेव का सलाञ्छन ध्यान विहित है । द्वादशी को चतुरात्मा प्रभु की पूजा कर पारण करे । यहीं पर 'जितन्ता' मन्त्र चतुष्टय स्तोत्र कहा गया है । चातुरात्म्य की आराधना में वर्णों का क्रम भी बताया गया है ।

सङ्कर्षणादि का लाञ्छन से युक्त ध्यान कहा गया है । फिर मात्र मुमुक्षु के लिए अनुष्ठेय व्रत की विधि वर्णित है । निष्काम व्रत करने वाले के लिए और सकाम व्रत करने वाले साधक के लिए अलग-अलग दान का विधान् है । शूद्रों के लिए व्रत कर्म में दान में असिद्ध अन्न देने का विधान है ।

द्वादशवार्षिक व्रत का विधान और व्रतान्तर का भी निरूपण किया गया है । द्वादशाख्य व्रत का विशेष विधान किया गया है । बारह मासों में केशवादि द्वादश मूर्तियों का अर्चन किया जाता है । फिर दो संवत्सर पर्यन्त चलने वाले व्रत का विधान है । इसमें केशवादि द्वादश और वासुदेवादि चार कुल सोलह मूर्तियों का अर्चन होता है ।

फिर व्रत करने वाले साधक के लिए भोज्य पदार्थ देने का विवेचन प्रस्तुत है ।

पुनः व्रतान्तर का विधान है, जिसमें ११ मासेशों का यजन कर द्वादशी में उपवास करने का विधान है । यहीं पर भिक्षा में प्राप्त द्रव्य का विशेष विचार प्रस्तुत किया गया है । फिर दिव्यायतन एवं सिद्धायतन का लक्षण कहा गया है । जहाँ अपनी अभीष्ट प्राप्ति के लिए ब्राह्मणादिकों ने भगवद् बिम्ब की स्थापना की हो वह मानुषायतन है ।

अन्त में वैष्णवक्षेत्र का प्रमाण बताया गया है । जहाँ तक शङ्खध्वनि या घण्टे की ध्वनि जाए वह वैष्णव क्षेत्र होता है । सालोक्यादि मोक्ष का विचार कर वैष्णव क्षेत्र में जाने से मनःशुद्धि होती है । व्रत करने में विघ्न तो आएँगे ही । अतः उनसे भयभीत नहीं होना चाहिए क्योंकि भगवान् ही उस व्रत को समाप्ति पर्यन्त अमृत से सींचते रहते हैं ।

८. **समन्त्रक व्रतविधि** नामक **अष्टम परिच्छेद** में चातुरात्म्यार्चन और अङ्ग मन्त्रार्चन का विधान है । समन्त्रक व्रत मात्र ब्राह्मणों के लिए ही विहित है । यहीं पर वासुदेवादि के बीजों का विधान है । वासुदेवादि मूर्तियों का ध्यान, उनके अङ्गमन्त्र, बीज मन्त्र तथा केशवादि द्वादश के बीज का विधान है ।

फिर केशवादि देवियों के द्वादश बीज का कथन है । फिर सर्वमन्त्र साधारणाञ्जलि मुद्रा का कथन है । व्रत में बिम्ब के विधान के प्रसङ्ग में ही कुण्ड का लक्षण कहा गया है। केशवादि द्वादशात्मा विभु की पूजा के लिए मार्गशीर्ष मास से आरम्भ करके कौमुद मास पर्यन्त व्रताचरण का विधान किया गया है । एकादशी के दिन तीनों कालों में केशवादि की पूजा करे । इसके बाद केशवादि हाथों में विराजमान आयुधों का विस्तृत वर्णन है । फिर केशवादि पत्नियों की उत्पत्ति का क्रम कहा गया है । उन द्वादश देवियों के लाञ्छन चिह्नों को बताया गया है ।

फिर स्नपन द्रव्य का विधान कर गुर्वर्चन एवं नारायण के अर्चन का विधान कहा है । इसी सम्बन्ध में द्वादशी का भी निर्णय विचार प्रस्तुत है । चतुर्मास्य का विधान कर यह परिच्छेद पूर्ण हो जाता है ।

९. **विभवदेवतान्तर्यागविधि** नामक **नवम परिच्छेद** में स्थूलसूक्ष्मपरत्वभेद से विभवावतारों के त्रैविध्य का वर्णन है । विष्णु का स्थूल एवं कामरूपधृक् स्वरूप समस्त लोक का कल्याण करने वाला है । वह लीला करने के लिए समस्त अस्त्रों को धारण करते हैं । उनका स्वरूप स्वप्न सुषुप्ति पद में सुव्यक्त रहता है तथा तुर्य पद में शान्त रहता है । तेजोमय जो रूप है वही 'वैभव' शान्त संज्ञक है । इनके वाचक १. संज्ञा, २. पद, ३. पिण्ड तथा ४. बीज भेद से चार कहे गए हैं । इनमें दो को लेकर साधक आराधना करे ।

१०. **विभवदेवता बहिर्याग विधि** नामक **दसवें परिच्छेद** में जल के मध्य में विभव देवताओं का अर्चन कहा गया है । विशाख यूप बीज नम् से न्यास किया जाता है। फिर मण्डल में ध्रुवादि देवों के स्थान बताए गए हैं । मध्य में पद्मनाभ का पूजन होता है । फिर अग्नि के मध्य इनका सन्तर्पण किया जाता है । फिर वैभव मुद्रा का लक्षण बतलाया गया है । यह मुद्रा विभव देवताओं की साधारणी मुद्रा है । इससे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । बाह्य अर्चन में शारीरिक मुद्रा बन्धन होता है और मानसिक

अर्चन में मानसिक रूप से मुद्रा बन्धन होता है । इससे साधक के बाह्य एवं आभ्यन्तर पाप नष्ट हो जाते हैं तथा मन में प्रसन्नता होती है । अन्त में मण्डल स्थित देवताओं का उपसंहार क्रम वर्णित है ।

११. मण्डलकुण्ड लक्षण नामक **ग्यारहवें परिच्छेद** में मण्डल निर्माण की विधि एवं ध्यान का लक्षण बताकर पाँच प्रकार के कुण्डों का लक्षण वर्णित है ।

१२. विभवदेवताध्यान नामक **बारहवें परिच्छेद** में अलग-अलग विभव देवताओं का ध्यान वर्णित है । १. शक्तीश, २. मधुसूदन, ३. विद्याधिदेव, ४. कपिल, ५. विश्वरूप, ६. हंस, ७. वाराह, ८. वडवानल, ९. धर्म, १०. हयग्रीव, ११. एकार्णवशायी, १२. कूर्म, १३. वराह (यज्ञ), १४. नृसिंह, १५. अमृताहरण, १६. श्रीपति, १७. कान्तात्मा, १८. राहुजित्, १९. कालनेमिघ्न, २०. पारिजातहर, २१. लोकनाथ, २२. दत्तात्रेय, २३. न्यग्रोधशायी, २४. मत्स्यावतार, २५. वामन, २६. त्रिविक्रम, २७. नर, २८. नारायण, २९. हरि, ३०. कृष्ण, ३१. परशुराम, ३२. श्रीराम, ३३. वेदव्यास, ३४. कल्कि, एवं ३५. पातालशयन—इन विभव देवताओं का अलग-अलग विस्तृत ध्यान बताया गया है । फिर सत्य, सुपर्ण, गरुड़ ताक्ष्र्य और विहगेश्वर इन भगवन्मय वाहन का ध्यान वर्णित है । ये सभी पञ्चप्राण के विकार हैं । अत: चरण से लेकर इनका समस्त देह पुरुषाकृति है । नारायण पक्षी के पक्ष रूपी कमल के विष्टर पर आसीन हैं । इस प्रकार गरुड़वाहन विष्णु का ध्यान सिद्धि के लिए किया जाता है । इनके छ: भुजाओं में एवं आठ भुजाओं आदि से लेकर अष्टादश भुजाओं में स्थित आयुध का वर्णन है ।

१३. भूषणाद्यस्त्रदेवता ध्यान नामक **तेरहवें अध्याय** में किरीट आदि भगवान् के भूषणभूत चिह्नों का स्वतन्त्र रूप से अर्चन कहा गया है । इसी सन्दर्भ में किरीट का स्वरूप, श्रीवत्स का लक्षण एवं वनमाला का ध्यान कहकर चक्रादि सप्तदश आयुधों का ध्यान बताया गया है । ये सत्रह आयुध चक्र, कमल, गदा, शङ्ख, हल, मुशल, इषु, धनुष, नन्दक, खेटक, दण्ड, परशु, पाश, अङ्कुश, मुद्गर, वज्र और सौदामिनी हैं । इन सभी का सामान्य लक्षण कहकर किरीटादि के अधिष्ठातृ देवताओं का निरूपण है । फिर परमात्मा विभु के साधार और निराधार जो चिन्ता आदि सुन्दरियाँ कही गई हैं उनका ध्यान वर्णित है । इनके अतिरिक्त भगवान् के शयनागार में चार शक्तियाँ और हैं । इसके अलावा भगवान् की तीन शक्तियाँ और हैं जो तीन दिशाओं में भगवान् का पद संवहन करती हैं । इनमें एक लक्ष्मी हैं जो कभी वाम भाग में रहती हैं और कभी दक्षिण भाग में रहती हैं । श्री एवं पुष्टि दाएँ-बाएँ निवास करती हैं । इन्हीं दो शक्तियों का परिणाम चिन्ता, कीर्ति, दया, जया तथा माया आदि रूपों से अनेक प्रकार का कहा गया है । फिर इनके लक्षण कहकर शुद्ध्यादि देवियों के लक्षण, शक्त्याष्टक लक्षण एवं लक्ष्मी आदि बारह देवियों के सामान्य लक्षण कहकर इनके अर्चन के फल का कथन है ।

१४. पवित्रारोपणविधि नामक **चौदहवें अध्याय** में नित्य-नैमित्तिक कर्म में बाधा निवारणार्थ पवित्रारोपण कर्म कहा गया है । नित्य-नैमित्तिक कर्म का लोप न हो,

औपचारिकता के अभाव में दोष न पड़े आदि से निवृत्ति का यह उपाय बताया गया है ।

आराधना में सांस्पर्शिक दोष (स्रक्, चन्दन आदि का अभाव) पूजा करने में मात्रावित्त (अर्थात् हिरण्य सहित शालि, तण्डुल तिलादि का दान) से पूर्ण होता है । आभ्यवहारिक भोगों के लोप का दोष आज्य परिप्लुत अन्न के होम से परिपूर्ण होता है । छत्र, चामरादि के अभाव से उत्पन्न औपचारिक दोष का शमन मुद्‌गादि विविध बीज के दान से होता है । कृच्छ्रचान्द्रायण व्रतों में होने वाले दोषों का शमन चातुर्मास्य के संयम से होता है ।

इसी सन्दर्भ में पवित्रारोपण का काल बताया गया है । आषाढ़ की पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक का दिन चातुर्मास्य कहा जाता है । यही वेदाध्ययन (पवित्रारोपण) का काल है । पवित्रानुष्ठान दशमी एवं एकादशी को भी किया जाता है । इसमें देवेश का आवाहन कर अर्घ आदि देकर प्रार्थना करे । आप भगवन् आनन्दभोग से तृप्त हैं, आपकी भक्ति से तृप्त हुआ मैं अपनी सिद्धि की कामना से आपका यजन करता हूँ ।

१५. पवित्रस्नानविधि नामक **पन्द्रहवें परिच्छेद** में सर्वाच्छिद्रपूरक पवित्रारोपण कर्म के बाद सम्पूर्ण याग की छिद्र पूर्ति हेतु समुद्रगामिनी नदी में स्नान करना वर्णित है । फिर कुश कूर्च के निर्माण का प्रकार कहा गया है । पचीस काण्ड कुश में भगवद् भावना से मन, बुद्धि आदि विभिन्न तत्त्वों की आराधना कर शेष बचे हुए कुशों को एक में मिलाकर गोले के समान बाँध देवे । दर्भ से पवित्री निर्माण करे । उसमें मन्त्रनाथ का ध्यान कर मन्त्रनाथ की प्रतिष्ठा करे । फिर अर्घ्य एवं पुष्पादि से पूजा कर प्रार्थना करे । फिर विधिपूर्वक स्नान करे ।

उस पवित्रक में अविनाशी सच्चिन्मय ऐश्वर स्वरूप वाले जीव रूप हंस की भावना करे । इस प्रकार ध्यान कर उस हंस रूप पवित्रक को जल में स्नान कराए और फिर अन्यों को भी अनेक लोगों के साथ स्नान कराए । इस प्रकार भगवान् के स्नानान्तर के पश्चात् उन्हें विष्टर प्रदान कर, रथ निर्माण कर एवं अर्चन कर यात्रोत्सव आरम्भ करे ।

१६. अघशान्तिकल्प नामक **षोडश परिच्छेद** में ब्राह्मणादि वर्णों के सर्वसिद्धिप्रद तीन प्रकार के दीक्षा के उपायों को बताया गया है । पहले शिष्य को गुरुकुल में रखते हैं । फिर प्रायश्चित्त एवं शान्त्यादि कर्म उस शिष्य के पापादि नाश हेतु कराते हैं । फिर ब्रह्मकूर्च सहित प्रायश्चित्त कराते हैं । दोषों के प्रायश्चित्त से वह शिष्य नवीन एवं निर्मल हो जाता है । इससे कृतघ्न एवं नास्तिक शिष्य भी दोषमुक्त हो जाता है । जो पाप के अनुताप से आर्त होकर भगवान् के शरणागत हो जाता है उसके बारे में कहना ही क्या?

सङ्कर्षण ने पूछा—किन चिह्नों से पता लगता है कि पाप नष्ट हो गए? भगवान् ने कहा—आराधक के ऊपर आराधन मन्त्र का जब प्रभाव होता है तो साधक का चित्त अभूतपूर्व प्रसन्नता से भर जाता है, उसके तेज की अभिवृद्धि हो जाती है । उसमें धैर्य, उत्साह, सन्तोष तथा अदैन्य एवं अकार्पण्य गुण उत्पन्न हो जाते हैं ।

शिष्य परीक्षित हो जाने पर गुरु से परव्यूह एवं विभवादि (षाड्गुण्य) तीनों दीक्षा की प्रार्थना करे ।

१७. वैभवीयनृसिंहकल्प नामक **सप्तदश परिच्छेद** में नृसिंह मन्त्र का कथन है। 'ॐ नमो भगवते नारसिंहाय' इस द्वादशाक्षरमन्त्र से विग्रहवत् उनकी पूजा करने का विधान है । इस मन्त्र से दीक्षित साधक अधिकार प्राप्त होने पर भगवद् आराधन करे । प्राणायाम का प्रकार, भूतशुद्धि का प्रकार, करन्यास, अङ्गन्यास तथा भूषणायुध शक्तिन्यास कहते हैं । फिर शिष्य अपने में देवता भाव की भावना करे ।

पूजा के लिए मण्डलरचनाविधान, पीठपरिकल्पना तथा महाकुम्भ स्थापन की विधि वर्णित है । प्रथम गणेश की पूजा, फिर कलश में मन्त्रनाथ का आवाहन पूजन करे। भोग याग का विधान कर मूल मन्त्रादि का ध्यान कहा गया है । फिर हृन्मुद्रा, शिरोमन्त्रादि मुद्रा-पञ्चक एवं श्रियादि शक्तिमुद्रा-चतुष्टय का विधान है । फिर अर्घ्यादि देकर मन्त्र देवता को पूर्णाहुति प्रदान करे ।

फिर गुरु उन शिष्यों को वैष्णव धर्म के नियमों को सुनाए । भगवान् से क्षमा प्रार्थना के बाद विश्वक्सेनार्चन की विधि बताई गई है । यहाँ आत्मसिद्धि के लिए आगमशास्त्र के अनुसार नृसिंहानुष्ठान के ज्ञाताओं से समझ बूझ कर विधि कही गई है । फिर शान्तिकादि कर्म का विधान किया गया है । पौष्टिक कर्म का प्रतिपादन कर आप्यायन विधि का निरूपण किया गया है । फिर संवर्धन विधि कहकर रोगार्तों के लिए रक्षाविधान कहा गया है । क्रियापरायण आस्तिक भक्तों एवं अपने हितेच्छु जनों की भी रक्षा करनी चाहिए । इसकी प्रयोग विधि श्रीनृसिंहबीज गर्भ में प्रणव सम्पुटित साध्यनाम लिखकर बताई गई है। यन्त्र का निर्माण प्रकार भी उल्लिखित है । फिर धर्मार्थकाममोक्षाख्य पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए मन्त्रराज की उपासना विधि का निरूपण है ।

१८. अधिवासदीक्षाविधि नामक **अट्ठारहवें परिच्छेद** में द्विजातियों के तीनों दीक्षाक्रमों को बताया गया है । दीक्षामण्डपनिर्माण की विधि में पञ्च महाभूतों को बलि देकर, गायों को संतृप्त कर, ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर सर्वाभरणभूषित मण्डप निर्माण करने को कहा गया है । एकान्त में गवाक्ष युक्त हवन मण्डप बनावे । सभी स्थानों पर सर्वदा बलिदान की विधि कही गई है । फिर पूजा के लिए विभिन्न द्रव्यों का सम्भारार्जन करे । दीक्षा में प्रविष्ट होने वाले भक्तों की संख्या के अनुसार पूजा द्रव्य घटा बढ़ा लेना चाहिए । जब समस्त वैभव मन्त्र की एक साथ दीक्षा देनी हो तब समस्त विभव देवों के कारणभूत विशाखयूप मन्त्र से दहन एवं आप्यायनानुष्ठान कर्म करे ।

फिर यागगृह की शोभा के लिए अलङ्करण करे । फिर अर्घ्यादि की परिकल्पना का क्रम कहा है । प्रथमतः चार घटों में विभिन्न द्रव्यों को रखने का विधान है । फिर द्वितीय अर्घ्यपात्र का विनियोग आदि विवक्षित है । फिर कुम्भ मण्डलाग्नियों में भगवदर्चन का क्रम कहा गया है । फिर क्षेत्रनाथ की बलि, हवि पाक विधान, द्रव्यसम्पात होम तथा पूर्णाहुति करे ।

१९. दीक्षाविधि नामक **उन्नीसवें परिच्छेद** में दीक्षा का विधान है । तीन प्रकार की दीक्षा होती है । १. जो कैवल्य मुक्ति रूप फल प्रदान करे, २. जो दीक्षा भोग एवं कैवल्य दोनों प्रदान करे और ३. जो केवल भोग प्रदान करे । शिष्य के स्वप्न की परीक्षा करके गुरु दीक्षा देवे । इसी सन्दर्भ में शुभाशुभस्वप्नों का विवेचन प्रस्तुत है । अशुभ स्वप्न की शान्ति के अनन्तर कुम्भादि अर्चन क्रम आरम्भ करे । फिर शिष्य का वैष्णव नामकरण करे । शिष्य, मण्डल, कलश तथा गुरु को नमस्कार कर निर्दोषता के लिए भूतशुद्धि करे । शिष्य बिम्ब के अग्रभाग में पुष्पाञ्जलि समर्पण करे । सहस्र संख्या में मूलमन्त्र से प्रायश्चित्त होम कर शिष्य शिर से पैर तक सूत्र से अपने को नापकर सूत्र प्रसारण कर्म करे । फिर शिष्य में, भगवान् में, सूत्र में तथा अपने में अकस्मात् अध्वा का दर्शन करे । अध्वस्मरण करके आहुतियाँ प्रदान करे । फिर पृथ्व्यादि तत्त्वों का सन्तर्पण करे ।

फिर शिष्य के चैतन्य का अपने हृदय में सङ्कर्षण करे । फिर शिष्य के लिए भुवनाध्वादि का उपदेश करे । क्ष्मा तत्त्व का विज्ञापन, अप्तत्त्व का संस्कार करके जल देवता से प्रार्थना करे कि मुझमें रस तन्मात्रा विद्यमान रहे ।

इसी प्रकार तेजस्तत्त्व से लेकर मनस्तत्त्वान्त का तथा मन्त्राध्वा से लेकर वर्णाध्वा पर्यन्त चारों का संस्कार करे । फिर ऐश्वरबीज के द्वारा जप एवं ध्यान लक्षण समाधि में लीन होकर द्वैत मात्र का अनुभव करे । फिर समाधि की सिद्धि हेतु आचार्य सौ आहुति प्रदान करे । 'व्यूह दीक्षा' एवं 'ब्रह्म दीक्षा' इन दोनों का केवल मोक्ष के अतिरिक्त और कोई फल नहीं है ।

२०. अभिषेक विधि नामक **बीसवें अध्याय** में दीक्षा के अनन्तर शीघ्र ही शिष्य का अभिषेक वर्णित है । सभी मन्त्रों की सिद्धि के लिए तथा सभी मन्त्रों पर अधिकार प्राप्ति के लिए अभिषेक होता है । अन्त में गुरुयाग का विधान है ।

२१. समयविधि नामक **इक्कीसवें अध्याय** में शिष्य के लिए विभिन्न आचारों का निर्देश है । वैष्णवधर्म परायणों का विष्णुवत् पूजन करे । पुष्प आदि का आहरण स्वयं अस्त्रमन्त्र से अपनी वाटिका से करे । फिर पूजा द्रव्यों का ग्राह्याग्राह्यत्व कहा गया है। कांस्य पात्र में भोजन न करे । कांसे में अर्घ भी न दे । अवैष्णव से कभी भी सम्बन्ध न रखे । चातुर्मास्य व्रत के अनुष्ठान का स्थान पुण्यक्षेत्र होना चाहिए । समय पञ्चक के यथावत् परिपालन से अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है और सुप्रसन्न मन से यथावत् कालुष्य रहित होकर साधक आनन्द समुद्र में स्नान करता है तथा उसकी आत्मा सदैव प्रसन्न रहती है ।

२२. अधिकारिमुद्राभेदविधि नामक **बाइसवें परिच्छेद** में सामयिक, साधक, पुत्रक और आचार्य चारों प्रकार के शिष्यों के लक्षण कहे गए हैं ।

२३. अधिवासदीक्षाविधि नामक **तेइसवें परिच्छेद** में पद्मनाभ एवं ध्रुवादि विभव देवताओं के पिण्डमन्त्रगणों को कहा गया है । फिर किरीटादि १७ लाञ्छन मन्त्रों का उद्धार किया गया है ।

२४. **प्रतिमापीठप्रासादलक्षण** नामक **चौबीसवें परिच्छेद** में प्रतिमा निर्माण के लिए शिला का चयन एवं बिम्ब के पाँच भेद बताए गए हैं । चित्र, मिट्टी, काष्ठ, शिला एवं लोहे के भेद से पाँच प्रकार के बिम्ब कहे गए हैं । बिम्ब निर्माण के लिए द्रव्य सामग्री का विवेचन कर भित्ति पर चित्र निर्माण अनर्थकारी बताया गया है । बिम्ब बनाने के लिए विभिन्न मान (नाप) बताई गई है । आँख, कान, नाक आदि की नाप यव से बताई गई है । एक अङ्गुल का आठवाँ भाग 'यव' कहलाता है ।

हयग्रीव बिम्ब के मुख का लक्षण, श्रीनृसिंह वक्त्र का लक्षण, वराहवक्त्र का लक्षण, सत्य सुपर्णादि गरुड़व्यूह का लक्षण, वामनलक्षण तथा पीठलक्षण का कथन किया गया है ।

एक पीठ के ही चार भेद होते हैं जो केवल लक्ष्म (चिह्न) से वर्जित होते हैं । फिर जब चिह्न आ जाता है तो वे ही अनेक हो जाते हैं । इस प्रकार सर्वसामान्य पीठों की संख्या सोलह कही गई है ।

बिम्ब के लिए ग्रहण किए जाने वाले भूखण्ड को जल प्रतिग्रह करे । मन्दिर पर कलश उत्कृष्ट धातु के होने चाहिए । घटों को नेत्र एवं वस्त्र से वेष्टित करे फिर ऋग्वेदियों से एवं सामवेदियों से विभिन्न मन्त्रों का पाठ कराकर उसकी प्रतिष्ठा करे ।

इसके बाद प्रासादलक्षण का निरूपण है । वह प्रासाद देवगृह के गर्भ में एक ताल से अधिक अथवा न्यून मान में द्वादश हाथ का होना चाहिए । ऐसा प्रासाद कल्याणकारी होता है । मन्दिर की ऊँचाई क्षेत्र का तिगुना निर्माण करे अथवा डेढ़ गुना रखे या दुगुना रखे । द्वारों की ऊँचाई गर्भ से दूनी बनावे । इस प्रकार के प्रासाद का नाम अनन्त भुवन है । सलक्षण बिम्ब मान हयग्रीवमुख लक्षण, नृसिंहमुख लक्षण, वराहमुख लक्षण, हयग्रीवादि के तीन चार और पञ्चमुख लक्षणों को विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा हेमाद्रि कृत चतुर्वर्ग चिन्तामणि में व्रतभाग प्रथम खण्ड में देखना चाहिए ।

२५. **प्रतिष्ठाविधि** नामक **पच्चीसवें परिच्छेद** में मूर्ति प्रतिष्ठा वर्णित है । चतुर्द्वार मण्डप के निर्माण का विधान करके वेदी निर्माण की विधि बताई गई है । वेदी में 'मण्डलादि-स्थल' का विभाग क्रम कहा गया है । फिर आठ कुण्डों के निर्माण का प्रकार उल्लिखित है । मण्डप की ऊँचाई और स्नान गृह का विस्तार वर्णन करके बालुकापीठ के मान का निरूपण किया गया है । स्नानार्थ शाला निर्माण के नियम का निरूपण कर नेत्रोन्मीलन गृह का लक्षण कहते हैं । द्वार एवं तोरण लक्षण में चारों दिशाओं में द्वार बनाने का विधान किया गया है । तोरण पाँच हाथ का होना चाहिए । तोरण ध्वज एवं ध्वजाष्टक स्थापित करे ।

वैभवहीन लोगों के लिए संक्षिप्त विधान भी किया गया है । इसके अनुसार अलग-अलग शालाओं के कर्म एक ही शाला में पूर्ण किए जाते हैं । ३५ हाथ लम्बा और उसका चौथाई चौड़ा याग मण्डप होता है । वेदियों के निर्माण भी बारह अंगुल के अन्तराल पर होते हैं । चारों ओर वीथी का मान चार हाथ होता है । यदि सात वेदी

निर्माण के लिए स्थान न हो तो पाँच ही वेदी बनावे । स्नान एवं नयनोन्मीलन मण्डप से रहित पाँच वेदी का निर्माण होता है ।

इसके बाद प्रासाद के मध्य में कुम्भ स्थापन किया जाता है । याग गृह में जहाँ जिसका उपयोग सम्भव होता है वहाँ के उपकरण पहले से रख दिए जाते हैं । ध्वजाओं पर चक्रराज का अर्चन द्वारपालीय साम से किया जाता है । यागगृह में प्रवेश शाकुन सूक्त एवं श्रीसूक्त द्वारा होता है । विभिन्न घटों में अलग-अलग द्रव्य डाले जाते हैं और देवताओं के वामभाग एवं अग्निकोण में दस पंक्ति में कलश रखे जाते हैं और द्वादशाक्षर मन्त्र से पूजा होती है । इसके बाद नयनोन्मीलन विधान के अनन्तर कलश से व्यूह मन्त्र द्वारा स्नान कराकर अर्चन होता है । फिर बिम्ब में प्राण प्रतिष्ठा की जाती है । फिर विभिन्न मन्त्रों से अर्चन किया जाता है ।

इसके बाद गरुड़ मन्त्र से तथा परिवार मन्त्र से तर्पण करते हैं । द्वादशाक्षर मन्त्र जप के लिए वैष्णवों को नियुक्त किया जाता है । चौकोर पीठ पर बिम्ब को स्थापित करना हितकारी कहा गया है । पीठ पर आठ लौहमय चक्र स्थापित होते हैं । इसके बाद प्रासाद संशोधन की प्रक्रिया कही गई है । फिर कुम्भस्थापन विधान वर्णित है । पीठ पर अन्य मूर्तियों का स्थापन निर्णय किया गया है । पहले से प्रतिष्ठित किन्तु मान से अधिक की प्रदक्षिणा करने से ऊर्जा की हानि होती है । मानहीन बिम्ब के स्थापन से संस्थापक के सुत एवं सुख की हानि होती है । जहाँ भक्तों की सिद्धि के लिए देवालयों में अर्चना प्रतोली, आँगन, जगती तथा देवमन्दिर हैं तथा पीठ सहित भगवद् बिम्ब है और प्रदक्षिणा के लिए पर्याप्त स्थान है वह देवतायतन श्वेत द्वीप के समान है । परिच्छेद के अन्त में पुराने मन्दिर के जीर्णोद्धार की विधि भी बतलायी गई है ।

श्रीगंगासप्तमी, २३.४.२००७
वैशाख शुक्ल, वि.सं. २०६४

विद्वद्वशंवदः
सुधाकर मालवीयः

विषयानुक्रमणिका

*

वर्णसंकेतानुक्रमणिका

अक्षस्थ	—	प्रणव
अराच्चतुर्दश	—	औकार
अरावसान	—	विसर्ग
अरोपान्त्य	—	अनुस्वार
अष्टमाद् द्वितीयं वर्णम्	—	तकार
अष्टमारगं प्राग्वर्णम्	—	णकार
आद्यमेकादशाद्	—	पकार
एकादशाद्यं	—	पकार
दशमाद् द्वितीयम्	—	नकार
दशमारस्थ	—	धकार
द्वितीयस्वर	—	आ
नवमादपरम्	—	दकार
नवमाद् द्वितीयं वर्णम्	—	दकार
नाभि	—	अकार
नाभितुर्य	—	इकार
नाभितुर्यासनस्थित	—	वकार
नाभितृतीय	—	इकार
नाभिद्वितीय	—	आकार
नाभिपूर्व	—	यकार
नाभिसप्तमवर्ण	—	सकार
(१७.१८९)		
नाभेस्त्रयोदश	—	ओकार
नाभ्यपर	—	आकार
नाभ्येकादश	—	एकार
नेमि	—	मकार
नेमितृतीय	—	रेफ
नेमि द्वितीय	—	यकार
नेमिषष्ठम्	—	शकार
नेमेरष्टकम्	—	सकार
नेमेरेकोनविंशाख्यवर्ण (१७.१८७)	—	बकार
नेमेर्द्वितीयं वर्णम्	—	यकार
नेमेर्नवमवर्ण	—	टकार
नेमेस्तृतीयं वर्णम्	—	रेफ
नेमेः पञ्चमं वर्णम्	—	वकार
पञ्चमारगम्	—	उकार
लान्त	—	व
षष्ठस्वर	—	ऊ
सान्त	—	ह
हंसार्ण (१८.१००)	—	हकार

*

सात्वतसंहितास्थबीजानुक्रमणिका

वासुदेवादिव्यूह-चतुष्टय	केशवादीनां द्वादशबीजानि	केशवादिदेवीनां बीजद्वादशकम्
वासुदेवबीज — हूँ	केशवबीज — ह्यूं नारायणबीज — ह्लूं माधवबीज — ह्वूं	श्रीबीज — क्ष्नीं वागीश्वरीबीजं — स्वीं कान्तिबीज — ह्लीं
सङ्कर्षणबीज — ह्सां	गोविन्दबीज — स्यूं विष्णुबीज — स्लूं मधुसूदनबीज — स्वूं	क्रियाबीज — क्ष्वीं शक्तिबीज — स्त्रीं विभूतिबीज — ह्लीँ
प्रद्युम्नबीज — ह्रूँ	त्रिविक्रमबीज — क्यूं वामनबीज — क्लूं श्रीधरबीज — क्वूं	इच्छाबीज — क्ष्नीँ प्रीतिबीज — स्वीँ रतिबीज — ह्व्रीं
अनिरुद्धबीज — ह्स्वं	हृषीकेशबीज — क्ष्यूं पद्मनाभबीज — क्ष्लूं दामोदरबीज — क्ष्वूं	मायाबीज — क्ष्सीं धीबीज — स्लीं महिमाबीज — ह्व्रीं

जीवबीज — स ।
विशाखयूपबीज — नम् ।

*

सात्वतसंहितास्थ वैदिकमन्त्रसूची

अयं ते वरुण (अथर्व)	—	२५.११०
आश्रावितम् (अथर्ववेद)	—	२५.९६
ओषधीनाम्	—	२५.१०९
इदं विष्णुवचक्रमे	—	२५.५३,११५
इह गाव:	—	२५.९८
उत देवा	—	२५.४४
चतुरस्तत:	—	२५.९९
चत्वारि शृङ्गा: (ऋ० ४.५८.३)	—	२४.४०९
चर्षणी धृतं (सर्पसाम)	—	२५.९२
पवित्रं ते हि यत् (साम)	—	२५.११३
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते	—	२५.९५
या ओषध्य:	—	२५.१०९
लोकद्वारमपावृणु (साम)	—	२४.४५
वरुणमन्त्र, चान्द्र मन्त्र	—	२५.१०३
वसो पवित्रं	—	२५.११३
सङ्कर्षणो भगवान्	—	२५.९३

*

पारिभाषिक कोष

ऐश्वर्य	स्वातन्त्र्यपरिबृंहित जगत्कर्तृत्व ।
ज्ञान	स्वप्रकाश और नित्य एवं सर्वापगाही गुण को 'ज्ञान' कहते हैं ।
द्रव्ययाग	बहिर्याग । द्रव्यैरर्घ्यादिभिः क्रियमाणो यागः (६.१) ।
पञ्चतालकम्	पाँच ताल (बित्ता) (२४.२३७) ।
पलम्	पलप्रमाणं तु पारमेश्वरे (१८.१३१-१३२)— चत्वारो व्रीहयः कुञ्जस्तेऽष्टौ माञ्जिष्ठमुच्यते । तच्छतं षष्टिरधिकं निष्कं निष्काष्टकं पलम् ॥
प्रणालभाग	अभिषेक जल निकलने हेतु नलिका (६.४६) ।
प्राणायामम्	नाभिदेशस्थितं प्रभुं स्मरन् उदरगं मलं निस्सृत्येत्यनेन प्राणायामः सूच्यते (१७.१८-२०) ।
बल	जगत् के निर्माण में श्रमाभाव नारायण का बल है ।
ब्रह्मबीज चतुष्टय	श ष स ह (सात्वत सं० पृ० ५४) ।
ब्रह्मसूक्त	'सहस्रशीर्षा' से लेकर 'दक्षिणे तु भुजे विप्र' तक १६ मन्त्र ब्रह्मसूक्त कहे जाते हैं । (द्र० अलशिङ्ग भाष्य पृ० ८४) ।
मन्त्रराट्	क्ष्रौं (नृसिंह मन्त्रबीज) ।
मात्रावित्तम्	धनं मीयते परिच्छिद्यते पूर्यत इति मात्रा, मात्रार्थं वित्तं द्रविणम् (६.६१) ।
यव	एक अङ्गुल का आठवाँ भाग 'यव' कहलाता है ।
वीर्य	विकारराहित्य, निर्विकार ब्रह्म में जगदुपादान कारण होने पर भी किसी भी प्रकार के विकार का उदय न होना ।
व्यूह	षाड्गुण्य में से दो-दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि ।
शक्ति	जगत् का उपादान कारण ।

*

ॐ

प्रासादं देवदेवीयमाचार्यं पाञ्चरात्रिकम् ।
अश्वत्थं च वटं धेनुं सत्समूहं गुरोर्गृहम् ॥
दूरात् प्रदक्षिणीकुर्यान्निकटात् प्रतिमां विभोः ।
दण्डवत्प्रणिपातैस्तु नमस्कुर्याच्चतुर्दिशम् ॥

—सात्वतसंहिता २१.११-१३

देवता, देवों का प्रासाद, आचार्य, पाञ्चरात्रिक, अश्वत्थ, वट, धेनु, सत्समूह एवं गुरु का घर दूर से ही देखकर इन्हें नमस्कार करे तथा इनकी प्रदक्षिणा करनी चाहिए । सन्निकट से प्रदक्षिणा करने में छायोल्लङ्घन का भय होता है । अतः दण्डवत् प्रणाम करे और चारों दिशाओं में नमस्कार करे ।

*

सात्वतसंहिता

॥ श्रीः ॥

सात्वतसंहिता

अलशिङ्गभट्टविरचितभाष्योपेता

प्रथमः परिच्छेदः

प्रश्नप्रतिवचनम्

विष्णोराराधनपरा मुनयो मलयाचले।
संस्थिताः सिद्धगन्धर्वविद्याधरनिषेविते॥ १ ॥

* अलशिङ्गभाष्य *

श्रीमद्यादवशैलाग्रशेखरं सद्गुणाकरम्।
योगानन्दनृसिंहाख्यदैवतं पर्युपास्महे॥ १ ॥

श्रीमन्नारायणोऽव्याद् यदुगिरिनिलयो यः परं दिव्यरूपं
सौषुप्तस्वप्नजाग्रत्पदभिदुरमिदं चातुरात्म्यं च रूपम्।
रूपं वैशाखयूपं विविधमपि वैभवं चापि बिभ्रद्
देवीभूषायुधाढ्यो विहगपतिरथः पाति लोकान् समस्तान्॥ २ ॥

विश्वस्य भजतां नित्यं नश्वरेतरभोगदः।
शश्वत् सर्वार्थदो भूयाद् विश्वत्राता नृकेसरी॥ ३ ॥

प्रणम्य शिरसाऽऽचार्यान् प्रतिष्ठापितसात्वतान्।
तदादिष्टेन मार्गेण सात्वतार्थः प्रकाश्यते॥ ४ ॥

अत्र तावद् भगवान् भगवच्छास्त्रविशारदो नारदो महामुनिः साक्षाद् वासुदेवेन सङ्कर्षणायोपदिष्टं स्वेन सङ्कर्षणाल्लब्धरहस्याम्नायसंज्ञितैकायनश्रुतेः सूत्ररूपं भगवत्प्राप्त्येकोपायभूताभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगरूपकर्मविचारैः परव्यूहविभवरूपब्रह्मविचारैश्च दर्भितं पञ्चविंशतिलक्षणं सात्वतं तन्त्रमुपदेक्ष्यन् आदौ तदवतारक्रमं दर्शयति—विष्णोरिति।

अत्रादौ विष्णुशब्दप्रयोगेण चिकीर्षितग्रन्थनिर्विघ्नपरिसमाप्तिसाधकं निरवधिकमङ्गलं कृतं भवति । सिद्धगन्धर्वविद्याधरनिषेविते । देवतानामपि सेव्यत्वादतिपरिशुद्धमित्यर्थः । मलयाचले = मलयपर्वते । मुनयः = भगवद्ध्यानशीला ऋषयः । विष्णोः जगद्व्यापनशीलस्य भगवतः । आराधनपराः सन्तः सर्वव्यापिनो भगवतः कुत्राराधनं कार्यम्? कथं तद्विधानम्? को वा उपदेक्ष्यतीति तदेकचित्ताः सन्त इत्यर्थः । संस्थिताः = समित्युपसर्गेण चिरकालीना स्थितिः सूच्यते ॥ १ ॥

मलयाचले नारदस्यागमनम्

कालेन केनचित् स्वर्गाद्रामदर्शनलालसः ।
तत्रावतीर्णो देवर्षिर्नारदो भगवन्मयः ॥ २ ॥

कालेनेति । तत्रैवस्थितेषु मुनिषु । केनचित्कालेन = कतिपयकालानन्तरमित्यर्थः । भगवन्मयः = भागवताग्रेसरः । नारदो नाम देवर्षिः । रामदर्शनलालसः सन् = परशुरामसेवासक्तः सन् । तत्र = मलयाचले । स्वर्गादवतीर्णः = आविर्बभूव ॥ २ ॥

* सुधा *

साम्बं सदाशिवं नत्वा भानुं विष्णुं गणेश्वरम् ।
सर्वश्रेयस्करीं नित्यां मन्त्ररूपां सरस्वतीम् ॥ १ ॥
मालवीयकुलोत्पन्नः कुबेर विदुषः सुधीः ।
पुत्रः सुधाकरो नाम्ना पदार्थानां प्रकाशिकाम् ॥ २ ॥
सात्वतानां हितार्थाय तन्त्रस्य प्रतिपत्तये ।
सात्वतसंहिताकस्य 'सुधां' टीकां करोम्यहम् ॥ ३ ॥

जब सिद्ध, गन्धर्व एवं विद्याधरों से निषेवित मलयाचल पर विष्णु के आराधन में तत्पर मुनि लोग एकत्रित थे, उसके कुछ काल बीतने के पश्चात् भगवद् भक्तों में श्रेष्ठ देवर्षि नारद भगवान् परशुराम के दर्शन की इच्छा से वहीं मलयाचल पर्वत पर स्वर्ग से उपस्थित हुये ॥ १-२ ॥

ज्ञात्वा तस्याचलां भक्तिं देवः परशुलाञ्छनः ।
प्रत्यक्षमगमच्छश्वत् सानुकम्पेन चेतसा ॥ ३ ॥

अत्र मुनीन् सात्वतशास्त्रे प्रवर्तयेति नारदं प्रति रामोक्तिः—ज्ञात्वेति । परशुलाञ्छनो देवः परशुरामः । तस्य देवर्षेः । अचलां भक्तिं स्वविषयकदृढाध्यवसायम् । ज्ञात्वा सानुकम्पेन = निर्हेतुककृपान्वितेन चेतसा प्रत्यक्षमगमत् = दृष्टिविषयतां प्रापेत्यर्थः ॥ ३ ॥

भगवान् परशुराम भी अपने विषय में उनकी अटल श्रद्धा देखकर उनके ऊपर कृपा करते हुये वहीं प्रगट हो गये ॥ ३ ॥

नारदस्य परशुरामदर्शनम्

ततः प्रहृष्टवदनः प्रोत्फुल्लपुलको मुनिः ।
पूजयामास तं देवमष्टाङ्गपतनादिना ॥ ४ ॥

तत इति । ततः = तस्माद्धेतोः । मुनिः = नारदः । प्रहृष्टवदनः सन् = सन्तोषोत्फुल्लमुखः सन् । प्रोत्फुल्लपुलकः सन् = सञ्जातरोमाञ्चः सन् । तं देवं = रामम् । अष्टाङ्गपतनादिना = साष्टाङ्गप्रणामप्रदक्षिणस्तुतिप्रश्नाद्युपचारैः पूजयामास ॥ ४ ॥

नारद जी उनके दर्शन से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनका सारा शरीर रोमाञ्चित हो गया । फिर तो उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुये महर्षि परशुराम की कुशल प्रश्नादि उपचारों से पूजा की ॥ ४ ॥

अथाह भगवान् रामो मधुराक्षरया गिरा ।
तवास्ति भक्तिरचला जन्मबीजक्षयङ्करी ॥ ५ ॥
एषा तु सात्वती शुद्धा नित्यमव्यभिचारिणी ।
तिष्ठन्ति मुनयो ह्यत्र प्रार्थयाना हरेः पदम् ॥ ६ ॥
तान् सात्वते क्रियामार्गे मद्वाक्याद् याहि योजय ।

अथेति । अथ मुनेरुत्साहकोलाहलानन्तरम् । भगवान् रामो मधुराक्षरया मनोहरवर्णसंदर्भया गिरा वाचा आह । नारदं प्रत्युवाचेत्यर्थः । वचनप्रकारमाह—तवेति । तव तु एषा भक्तिः एतादृशी भक्तिरेवास्ति । अस्मत्सकाशाल्लब्धव्यमुपायान्तरं नास्तीति भावः । तां भक्तिं विशिनष्टि—अचलेत्यादिपदपञ्चकेन । अचला = चाञ्चल्यरहिता । जन्मबीजक्षयंकरी = संसारदुःखविनाशिनी । सात्वती = सात्वतशास्त्रोदिता । भगवत्प्राप्त्येकोपायभूताऽभिगमनादिकर्माङ्गिकेति यावत् । तत एव शुद्धा = अमिश्रेत्यर्थः । नित्यं = निरन्तरम् । अव्यभिचारिणी = अनन्यदेवताविषयेत्यर्थः । एतादृश्या भक्तेस्तव विद्यमानत्वादस्मद्दर्शनादृते तव प्रयोजनान्तरं नास्ति । किन्त्वेतेषां मुनीनामपि मोक्षोपायमुपदिशेत्यर्थः । तिष्ठन्तीति । हि यस्मात् कारणात् । अत्र = अस्मिन् पर्वते । मुनयो हरेः पदं प्रार्थयाना = मुमुक्षवः सन्तस्तिष्ठन्ति । तस्मात् तान् मुनीन् । सात्वते सात्वतशास्त्रोदिते । क्रियामार्गे = अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्यायरूपशुद्धमार्ग इत्यर्थः । मद्वाक्याद् योजय याहि परमरहस्येऽपि मार्गेऽस्मदाज्ञागौरवेण मुनीन् प्रवर्तय, तदर्थं शीघ्रं गच्छेति भावः ॥ ५-७ ॥

तदनन्तर भगवान् परशुराम ने मधुरवाणी में नारदजी से कहा—हे नारद! आप में जन्मरूपबीज को नाश करने वाली ऐसी अचला भक्ति है, जो सात्त्वत शास्त्र में प्रतिपादित है । यह भक्ति अनन्य विषयिका होने से शुद्धा है और निरन्तर रहने से नित्या भी है । यहाँ पर मोक्ष के लिये भगवत्प्रार्थना में तत्पर मुनि लोग एकत्रित हैं। इसलिए आप मेरी आज्ञा से सात्त्वतशास्त्र में उपदिष्ट क्रियामार्ग (= अभिगमन, उपादान, इज्या और स्वाध्याय रूप शुद्धमार्ग) में इन मुनियों को प्रवृत्त कीजिए ॥ ४-७ ॥

एवमुक्त्वा तु तं विप्रमृषीणां हितकाम्यया ॥ ७ ॥
जगामादर्शनं देवस्तस्माद् देशात् तटिद् यथा ।

एवमिति । देवः परशुरामः । एवं = पूर्वोक्तरीत्या, ऋषीणां हितकाम्यया तं विप्रं = नारदं प्रत्युक्त्वा तस्माद्देशात् पर्वताग्रात् तटिद्यथा विद्युदिव क्षणमात्रेण अदर्शनं जगाम, अन्तर्हितो बभूवेत्यर्थः ॥ ७-८ ॥

स तु हृष्टमना वाक्यं शिरसा चाभिवाद्य तत् ॥ ८ ॥
निर्जगामार्चयित्वाऽथ पुष्पैः स्थानवरं तु तत् ।

स इति । अथ भगवदन्तर्धानानन्तरम् । स नारदः । हृष्टमनाः सन् । तद्वाक्यं शिरसा अभिवाद्य, तदाज्ञां शिरसा धृत्वेत्यर्थः । तत् स्थानवरं भगवदाविर्भावस्थानं केवलं पुष्पैरर्चयित्वा निर्जगाम, तस्मात् स्थानान्निर्गतः ॥ ८-९ ॥

अपश्यदाश्रमं चान्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥ ९ ॥
तरुपुष्पफलैराढ्यं वापीकूपह्रदान्वितम् ।

अपश्यदिति । आश्रमम् = ऋषीणामावासस्थानमपश्यच्च । नानेत्यादिविशेषण-त्रयेऽऽश्रमस्यातिरामणीयकत्वमुक्तं भवति ॥ ९-१० ॥

मुनियों की हित की कामना से महर्षि परशुराम इतना कह कर, जिस प्रकार बिजली क्षण भर में अन्तर्हित हो जाती है उसी प्रकार वहाँ से अन्तर्हित हो गये । देवर्षि नारद उनकी आज्ञा सुन कर अत्यन्त प्रहृष्ट हुए और शिर से उनका अभि-वादन किया । फिर परशुराम जिस स्थान से अन्तर्हित हुये थे, उसी स्थान की पुष्पादि द्वारा पूजा की तथा वहाँ से सद्यः निकल पड़े । वहाँ से कुछ दूर जाकर उन्होंने नाना द्विजों से निषेवित एक अन्य आश्रम देखा । वह आश्रम वृक्षों, फूलों और फलों से अत्यन्त रमणीय था और वापी, कूप एवं तडागों से परिपूर्ण था ॥ ७-१० ॥

सम्प्रहृष्टस्ततस्तत्स्थैर्द्विजेन्द्रैरभिवादितः ॥ १० ॥
पूजितश्चार्घ्यपाद्येन विनिवेशितविष्टरः ।

सम्प्रहृष्ट इति । ततः तदाश्रमदर्शनाद्धेतोः सम्प्रहृष्टः = स नारदः, तत्स्थैः = तदाश्रमस्थितैः, द्विजेन्द्रैरभिवादितः = नमस्कृतः, अर्घ्यपाद्येन पूजितश्च सन् विनिवेशि-तविष्टरः विष्टरे विनिवेशितश्चेत्यर्थः ॥ १०-११ ॥

अथाञ्जलिधराः सर्वे प्रोत्फुल्लनयनाम्बुजाः ॥ ११ ॥
वदन्ति जन्मसाफल्यमद्य नस्तव दर्शनात् ।

अथेति । अथ उपचरणानन्तरम्, सर्वे मुनयः प्रोत्फुल्लनयनाम्बुजाः सन्तः सन्तोषविकसितनेत्रकमलाः सन्तः, तव दर्शनाद्धेतोः, नः अस्माकम्, जन्मसाफल्यं जातमिति शेषः, इति वदन्ति, अवदन्निति भूतार्थकत्वमङ्गीकार्यम् ॥ ११-१२ ॥

श्रुत्वा तत्प्रीतिजनकं वाक्यं प्रणयपेशलम् ॥ १२ ॥
नमस्कृत्य हृषीकेशं मुनिरप्याह नारदः ।

श्रुत्वेति । नारदो मुनिरपि हृषीकेशं नमस्कृत्य प्रणम्य । अत्र प्रणामः शास्त्रोपदेशारम्भार्थक इति बोध्यम् । प्रणयपेशलं स्वकारुण्यमधुरम्, अत एव तत्प्रीतिजनकं तेषां मुनीनां सन्तोषजनकम्, वाक्यमाह उवाचेत्यर्थः ॥ १२-१३ ॥

उस आश्रम के दर्शन से प्रहृष्ट देवर्षि नारद का वहाँ रहने वाले उन द्विजेन्द्रों ने अभिवादन किया और अर्घपाद्यादि उपचारों से उनका पूजन किया । फिर विष्टर (= आसन) पर बिठाकर हाथ जोड़ कर प्रफुल्लित नयनों से युक्त प्रसन्न मुख हो इस प्रकार कहने लगे—

हे देवर्षि ! आज आप के दर्शन से हमारा जन्म सफल हो गया । उनकी प्रीतिजनक एवं प्रणय युक्त मधुर वाणी को सुन कर उन हृषिकेश को नमस्कार करते हुये नारद मुनि ने कहा ॥ १०-१३ ॥

मन्ये कृतार्थमात्मानं नूनं विप्रवरा ह्यहम् ॥ १३ ॥
भवद्भिः सह सम्बन्धो यस्य मेऽस्मिन् शुभाश्रमे ।

मन्य इति । हे विप्रवराः मुनयः! सोऽहमात्मानं कृतार्थं मन्ये कृतार्थोऽस्मीत्यर्थः। नूनं ध्रुवम् । हीति प्रसिद्धार्थकः । यस्य मे अस्मिन् शुभाश्रमे भगवदाविर्भावस्थानतया अनेकभागवताश्रयतया च शुभावहे आश्रमे, भवद्भिः सह सम्बन्धो जात इति शेषः । परमभागवतानां भवतां सम्बन्धादहं कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥ १३-१४ ॥

हे ब्राह्मणो ! मैं आज अपने को कृतार्थ मान रहा हूँ जो आज इस शुभ आश्रम में आप लोगों के साथ सम्बन्ध हुआ ॥ १३-१४ ॥

उक्तोऽहं भवतामर्थे रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १४ ॥
यत् तदेकमनाः सर्वे आकर्णयत साम्प्रतम् ।

उक्त इति । यद्यस्माद् भवतामर्थे = युष्माकं सात्वतमार्गप्रवर्तनरूपार्थे, अक्लिष्टकर्मणा रामेण अहमुक्तः, नियुक्त इत्यर्थः । तत् तस्मात् साम्प्रतं यूयं सर्वे एकमनाः सन्तः, अत्र मनश्शब्दस्य दिव्यत्वादकारान्तत्वं ज्ञेयम्, आकर्णयत = शृणुध्वमित्यर्थः, तद्वाक्यमिति शेषः ॥ १४-१५ ॥

अक्लिष्ट कर्मा भगवान् परशुराम ने आप सभी लोगों को सात्त्वत मार्ग में ले आने के लिये मुझे आज्ञा दी है । इसलिये आप लोग चित्त को एकाग्र कर मेरी बात सुनिये ॥ १४-१५ ॥

अद्यप्रभृति देवेशमाराधयत केशवम् ॥ १५ ॥
रहस्याम्नायविधिना शश्वन्मोक्षप्रदेन तु ।

अद्येति । अद्यप्रभृति यूयं देवेशं सर्वदेवोत्तमं केशवं ब्रह्मरुद्रयोरपि स्वामिनं

नारायणं शश्वन्मोक्षप्रदेन शाश्वतमोक्षफलकेन रहस्याम्नायविधिना = सात्वतोक्तक्रमेण आराधयत = पूजयत ॥ १५-१६ ॥

आप लोग आज से सर्वोत्तम भगवान् केशव की आराधना करें क्योंकि सात्त्वत शास्त्र की विधि से पूजा किये जाने पर उसका फल मोक्ष ही कहा गया है ॥ १५-१६ ॥

ऋषय ऊचुः । नारदं प्रति ऋषीणां प्रार्थना

मुने चिरप्रपन्नानां प्रकृष्टानां भवान् गतिः ॥ १६ ॥
नारायणपदप्राप्तेर्यच्छ्रेयस्तत् प्रकाशय ।

एवमुक्ता ऋषयः प्रार्थयन्ते—मुने इति । प्रकृष्टानां = प्रसिद्धनानाविधतपस्सिद्ध-फलानाम्, तथापि चिरप्रपन्नानाम् = उपायानुष्ठानपराणाम्, अस्माकमिति शेषः । भवान् = आचार्यभूतस्त्वं, गतिः = प्राप्यः प्रापकश्च । स्वतः सिद्धफलानां किमुपायान्वेषणेनेति न चिन्त्यमित्याहुः—नारायणपदप्राप्तेरिति । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (कठो० २।२३) इति तपःप्रभृत्यलभ्यस्य 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (मुण्ड० ३।२।३) इति सिद्धोपायकृपालभ्यस्य मोक्षफलस्य यच्छ्रेयस्साधनभूतं भगवत्प्रीतिजनकं यत् कर्म तत् प्रकाशय ॥ १६-१७ ॥

ऋषियों ने कहा—हे मुने ! हम लोग प्रसिद्ध नानाविधि तप सिद्धि के लिये चिरकाल से साध्य अनुष्ठान में प्रयत्नशील हैं । आप हमारे आचार्य हैं और आप ही हमारे प्राप्य और प्रापक भी हैं । अतः नारायण पद प्राप्ति के लिये जो श्रेष्ठ मार्ग है, उसका आप प्रतिपादन (प्रकाशित) कीजिये ॥ १६ ॥

नारद उवाच

यच्चोदितेन हलिना प्रागुक्तं चक्रपाणिना ॥ १७ ॥
पारम्पर्यागतं तन्मे गदतः शृणुत द्विजाः ।

यदिति । हे द्विजाः, हलिना सङ्कर्षणेन चोदितेन चक्रपाणिना वासुदेवेन प्राक् त्रेतायुगादौ यदुक्तम् उपदिष्टम्, पारम्पर्यागतं = गुरुपूर्वक्रमागतं तत् सात्वतं गदतो मे मत्सकाशात् शृणुत = आकर्णयत ॥ १७-१८ ॥

नारद जी ने कहा—हे ब्राह्मणो ! प्राक् त्रेतायुग में भगवान् सङ्कर्षण द्वारा पूछे जाने पर भगवान् वासुदेव ने जो उन्हें उपदेश दिया था, उसी को मैं कह रहा हूँ । आप लोग गुरु क्रमागत उस सात्त्वत शास्त्र के उपदेश को सुनिये ॥ १७-१८ ॥

पुराऽतीते कृते प्राप्ते त्रेताख्ये ह्यपरे युगे ॥ १८ ॥
ईषदारक्ततां याते जगद्धातरि चाच्युते ।
आह सङ्कर्षणो विष्णुं ज्ञात्वा विनयवानपि ॥ १९ ॥

पुरेति । पुरा पूर्वं कृते अतीते = अतिक्रान्ते सति त्रेताख्ये अपरे युगे = युगभेदे प्राप्ते सति जगद्धातरि अच्युते च वासुदेवे च ईषदारक्ततां याते

'धत्ते सितादिकं रूपं चतुर्धा यत् कृते युगे ।
रक्ताख्यं सितनिष्ठं च त्रेतायां हि महामते ॥' (५।८७–८८)

इति वक्ष्यमाणक्रमेण रक्ताङ्गे सतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

आहेति । सङ्कर्षणो ज्ञात्वापि = रक्ताङ्गताहेतुं विदित्वापि, विनयवान् सन् गुरोरुपदेशेन ज्ञातव्यमित्याकारकविनययुक्तः सन् विष्णुं वासुदेवं प्रत्याह—किमिति ॥ १९ ॥

पूर्वकाल में जब सत्ययुग समाप्त हो गया था और त्रेतायुग प्राप्त हो गया था। जिस समय जगद्धाता अच्युत रक्त वर्ण के हो गये थे उस रक्ताङ्गता के हेतु को जान कर भी विनयी सङ्कर्षण देव ने उन विष्णु से कहा ॥ १८-१९ ॥

किमिदं देव पश्यामि तव रूपविपर्ययम् ।
प्रहस्योवाच भगवान् मेघगम्भीरया गिरा ॥ २० ॥

हे देव ! तव रूपविपर्ययं वर्णभेदं पश्यामि । इदं किं कुतः प्राप्तमित्यर्थः । प्रहस्येति । भगवान् वासुदेवः प्रहस्य मेघगम्भीरया गिरा = मेघगर्जितसदृशगाम्भीर्ययुक्तया गिरा । अत्र उपमानलुप्तालङ्कारः । गिरा वाचा सङ्कर्षणं प्रत्युवाचेत्यर्थः ॥ २० ॥

हे देव ! आप के रूप का यह विपर्यय किस कारण से हो रहा है? तब भगवान् ने हँसते हुए मेघ के समान गम्भीर वाणी में उनसे कहा ॥ २० ॥

नायं स कालो यत्रासीत् सत्त्वैकबहुलो जनः ।
अद्य रागपरो लोकस्तद्वत्तं धारयाम्यहम् ॥ २१ ॥

नायमिति । यत्र = यस्मिन् काले, जनः सत्त्वैकबहुलः = शुद्धसात्त्विक आसीत्, अयं स कालो न, विभिन्न इत्यर्थः । अद्येति । अद्य = अस्मिन् काले, लोकः = जनः, रागपरः = अनुरागपरः, अनुरागविशिष्टः । तद्वत् = एतत्कालीनजनवत्, अहमपि तं रागं धारयामि ॥ २१ ॥

हे सङ्कर्षण ! अब वह काल नहीं रहा, जब सत्त्वबहुल लोग थे, आज का लोक रागपरक है । इसलिये मै भी राग पर हो कर रक्त वर्ण हो गया हूँ ॥ २१ ॥

सङ्कर्षण उवाच

कालस्वभावजः केन कर्मणा राग ईदृशः ।
नाच्छादयति लोकानां त्वद्भक्तानां विशेषतः ॥ २२ ॥

एवमुक्तः सङ्कर्षणः प्रतिवदति—कालेति । कालस्वभावजः = त्रेतायुगस्वभावजन्यः, ईदृशो रागः केन कर्मणा विशेषतः, त्वद्भक्तानां लोकानामिति कर्मणि षष्ठी, भक्तजनान् नाच्छादयति न तिरोधत्ते ॥ २२ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—त्रेतायुगादि काल तो स्वभावजन्य है । फिर किस कारण से आपके भक्त लोगों को वह आच्छादित नहीं करता ॥ २२ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म शाश्वतम् ।
आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दूरतः ॥ २३ ॥

इति प्रेरितो भगवान् प्रत्याह—त्रिविधेनेति । त्रिविधेन प्रकारेण परव्यूह-विभवभेदेन शाश्वतं परं ब्रह्म श्रीमन्नारायणं ये जना आराधयन्ति, तेषां दूरतो राग-स्तिष्ठतीति ॥ २३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे सङ्कर्षण! पर व्यूह विभव भेद से जो तीन भेदों वाले हैं उस परब्रह्म श्रीमन्नारायण की जो आराधना करते हैं, मेरे उन भक्तों से राग बहुत दूर चला जाता है ॥ २३ ॥

सङ्कर्षण उवाच

भगवंस्त्रिविधं ब्रूहि उपेयं ब्रह्मलक्षणम् ।
हितार्थं च प्रपन्नानां व्यामोहविनिवृत्तये ॥ २४ ॥

पुनः सङ्कर्षण आह—भगवन्निति । हे भगवन्, त्रिविधं त्रिप्रकारम्, उपेयं प्राप्यत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं प्रपन्नानां व्यामोहविनिवृत्तये हितार्थं च अनिष्टनिरसनेष्टप्राप्त्यर्थं ब्रूहि वदस्वेत्यर्थः ॥ २४ ॥

सङ्कर्षण ने पुनः कहा—हे भगवन्! प्रपन्नों के हित के लिये तथा उनके व्यामोह की निवृत्ति के लिये आप तीन प्रकार वाले प्राप्यत्व रूप ब्रह्म लक्षण को कहिये ॥ २४ ॥

श्रीभगवानुवाच

षाडगुण्यविग्रहं देवं भास्वज्ज्वलनतेजसम् ।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥ २५ ॥

एवं पृष्टो नारदः परत्वादिलक्षणमाह—षाड्गुण्येति । षाड्गुण्यविग्रहं = ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोमयविग्रहम्, भास्वज्ज्वलनतेजसं = सूर्यवह्निसमप्रभम्, सर्वतः पाणिपादं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं = सर्वव्यापिनमित्यर्थः । एवं भगवतः सर्वतः पाणिपादत्वादिकमनुमानगम्यम् । तथा च जयाख्ये—

तथा समस्तमाक्षिप्तं यस्माद्वै परमात्मना ॥
तस्माद्वै सर्वपाणित्वं सर्वगस्यानुमीयते ।
नावच्छिन्नं हि देशेन न कालेनान्तरीकृतम् ॥
अतः सर्वगतत्वाद्वै सर्वतःपात् प्रभुः स्मृतः ।
ऊर्ध्वं तिर्यगधो यातैर्यथोच्चैर्भासयेद् रविः ॥
तद्वत् प्रकाशरूपत्वात् सर्वचक्षुस्ततो ह्यजः ।
यथा सर्वेषु गात्रेषु प्रधानं गीयते शिरः ॥
भवेऽस्मिन् प्राकृतानां तु न तथा तस्य सत्तम ।
समत्वात् पावनत्वाच्च सिद्धः सर्वशिराःप्रभुः ॥

यथाऽनन्तरसाः सर्वे तस्य सन्ति सदैव हि ।
सर्वत्र शान्तरूपस्य अतः सर्वमुखः स्मृतः ॥
सत्त्वराशिर्यतो विद्धि स एवं परमेश्वरः ।
सर्वतः श्रुतिमांश्चासौ यथादृक्श्रावकोरगः ॥ (४।७६-८२) इति।

एकम् = अद्वितीयम्, निःसमाभ्यधिकमिति यावत् । सर्वाश्रयं = निखिल-जगदाधारम्, प्रभुं = जगत्स्वामिनं देवं परवासुदेवं परमिति समाख्यातम् । तदेतत् परत्वविशिष्टं ब्रह्म सद् विद्धीत्यनुषङ्गः ॥ २५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—वह ब्रह्म ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल एवं वीर्य तथा तेजोमय होने से षाड्गुण्य विग्रह वाले हैं, देदीप्यमान सूर्य एवं अग्नि के समान तेजस्वी हैं । स्वतः पाणिपाद तथा सर्वतोऽक्षि एवं शिरोमुख वाले हैं ॥ २५ ॥

परमेतत् समाख्यातमेकं सर्वाश्रयं प्रभुम् ।
एतत्पूर्व त्रयं चान्यज्ज्ञानाद्यैर्भेदितं गुणैः ॥ २६ ॥
विद्धि तद् व्यूहसंज्ञं सद् निःश्रेयसफलप्रदम् ।

एवं परलक्षणमुक्त्वा व्यूहलक्षणमाह—एतदिति । एतत्पूर्वम् = एष परवासुदेवः पूर्वं प्रथमो यस्य तत् तथोक्तम् । ज्ञानाद्यैर्गुणैर्भेदितम्,

बलसंवलितेनैव ज्ञानेनास्तेऽथ दक्षिणे ॥
ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भावेऽवतिष्ठते ।
तेजःशक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः ॥ (३।६–७)

इति वक्ष्यमाणप्रकारेण तत्तद्गुणभेदितम् अन्यत् त्रयं = सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्ध-त्रयम् । एवं च वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धचतुष्टयम् । व्यूहसंज्ञं तद् = ब्रह्म सद् निःश्रेयसफलप्रदं = मोक्षफलप्रदं च सद् विद्धि ॥ २६ ॥

वह एक हैं, सर्वाश्रय हैं, प्रभु है, ज्ञानादि गुणों के भेदों के कारण वह ब्रह्म तीन प्रकार के हैं । इस प्रकार उस ब्रह्म का पर स्वरूप कहा गया इसलिये परख विशिष्ट नहीं ब्रह्म सत् है, ऐसा समझना चाहिए । इससे पूर्व वही पर वासुदेव भी है, जिन्हें ज्ञानादि से भेदित किया गया है । वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध भेद से उन ब्रह्म की व्यूहसंज्ञा भी है । वह व्यूह तथा सत् संज्ञक होने के कारण निःश्रेयस तथा मोक्षफल देने वाले हैं ॥ २६-२७ ॥

मुख्यानुवृत्तिभेदेन युक्तं ज्ञानादिकैर्गुणैः ।
नानाकृतिं च तद् विद्धि वैभवं भुक्तिमुक्तिदम् ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां प्रश्नप्रतिवचनं नाम
प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

—※—

अथ विभवलक्षणमाह—मुख्येति । मुख्यानुवृत्तिभेदेन ज्ञानादिभिर्गुणैर्युतम् = अस्य विभवावतारसमूहस्य अनिरुद्धोत्पन्नत्वात् स्वकारणेऽनिरुद्धे यथा शक्तितेजसोर्मुख्यत्वं ज्ञानादिगुणचतुष्टयस्यानुवृत्तत्वम्, तथा मुख्याभ्यां शक्तितेजोभ्यामनुवृत्तैर्ज्ञानादिगुणैश्च युक्तमित्यर्थः । विभवदेवानामनिरुद्धोत्पन्नत्वं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो विभोः ॥
अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्वते । (२।५८-५९ इति ।)

'विभोः शक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः' (३।७) इत्यनिरुद्धस्य तेजःशक्तिगुणकत्वमुक्तम् । तस्मिन् ज्ञानादीनामनुवृत्तत्वे किं मानमिति चेत्? 'विभोः शक्त्या' (३।७ इत्यादिना) तद्वक्ष्यति तृतीये परिच्छेदे ।

स्पष्टमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

यद्यप्येकगुणोन्मेषस्तदाप्येते हि षड्गुणाः ।
अन्यूनानधिकाः सर्वे वासुदेवात् सनातनात् ॥ (४।२१) इति ।

यद्वा मुख्यानुवृत्तिभेदेन युक्तं ज्ञानादिकैर्गुणैरित्यस्य पूर्वेणैवान्वयो ज्ञेयः । नानाकृति पद्मनाभादिभेदेन नानाविधाकारं देवं वैभवं तद् ब्रह्म सद् विद्धि । भुक्तिमुक्तिफलप्रदं च सद् विद्धीति परव्यूहविभवलक्षणान्युक्तानि ।

तथा चैवमेव क्रोडीकृतानि परादिलक्षणानि सहस्रनामभाष्ये—'परव्यूहविभवात्मना त्रिविधं परं ब्रह्मेति भागवतसिद्धान्तः । तत्र परं नामाकार्यं कार्यादनवच्छिन्नपूर्णषाड्गुण्यमहार्णवोत्कलिकैकातपत्रीकृतनिस्समनित्यभोगविभूतिकं मुक्तोपसृप्यमनौपाधिकमवस्थानम् । व्यूहश्च मुमुक्षुसिसृक्षया प्रदेयसृष्टिस्थितिलयाः शास्त्रतदर्थतत्फलानि ध्यानाराधने लीला चेतीदृशकार्योपयुक्तविभक्तपरगुणरूपव्यापारशीकरव्यूहनिर्वाहितलीलाविभूतिकं मुक्तिसाधकं चतुर्धावस्थानम् । विभवश्च तच्छायः सुरनरतिर्यगादिः स्वविभवसजातीय ऐच्छः प्रादुर्भाववर्ग इति ।....... तत्र प्रादुर्भावाः केचित् साक्षात्, यथा मत्स्यकूर्मादयः । अन्ये तु ऋष्यादिविशिष्टपुरुषाधिष्ठानेन, यथा भार्गवराम–कृष्णद्वैपायनादयः । अपरे काले शक्त्यावेशेन, यथा पुरञ्जयादिषु । इतरे च व्यक्तिषु स्वयमेवावतीर्य, यथार्चावतार इति चतुर्धा' (द्र० ९.६१) इति ।

नन्वर्चावतारस्यापि प्रादुर्भावेष्वन्तर्भावो वक्तव्यः । यद्वा—

विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो विभोः ॥
अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्वते ।
अर्चापि लौकिकी या साभगवद्भावितात्मनाम् ॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात् सापि षाड्गुण्यविग्रहा ।
पराद्यर्चावतारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्टये ॥
तुर्याद्यवस्था विज्ञेया इतीयं शुद्धपद्धतिः । (२।५८–६१)

इति लक्ष्मीतन्त्राद्युक्तरीत्याऽर्चावतारस्य प्रथमनिर्देशः कार्य इति चेत्? ब्रूमः । अर्चावतारस्य यत्र यत्र प्रथमनिर्देशः कृतस्तत्र न विवादः । श्रीसात्वतसंहितायां तु परव्यूहविभवाख्यत्रिविधभेदानामेव प्रतिपादितत्वात् तदनुसारेण श्रीमत्पराशरभट्टारकैर-

र्चावतारस्यापि दर्शितः । स कथमुपपद्यते? यतः परव्यूहविभवानां त्रयाणामप्यर्चारूपत्वसंभवाद् अर्चावतारस्य परादिषु त्रिषु च विभवेष्वेवान्तर्भाव उक्तः ।

वस्तुतस्तु वासुदेव (सङ्कर्षण)प्रद्युम्नानिरुद्धाख्यव्यूहानामेव श्रीकृष्णबलभद्रप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां यथा विभवत्वमेव न व्यूहत्वम्, तथा परव्यूहविभवानामर्चावताररूपेणावतीर्णत्वेऽपि तेषां विभवेष्वेवान्तर्भावः, न तु परव्यूहयोरिति भट्टारकाणामाशयः । यतः—

गुणकल्पनयाऽध्यस्तोगुणोन्मेषकृतक्रमः ।
मूर्तीभूतगुणश्चेति त्रिधा मार्गोऽयमद्भुतः ॥ (२।३९)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तमूर्तीभूतगुणत्वरूपं विभवत्वं विभवार्चावतारयोरुभयत्रापि समानम् ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

— ❀ —
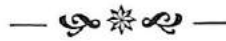
मुख्यानुवृत्ति भेद से तथा ज्ञानादि गुणों से युक्त होने के कारण (चतुर्व्यूह के परव्यूहात्मक पद्मनाभादि) विभवावतार अनेक आकृतियों वाले हैं । वही विभवावतार भोग और मोक्ष को देने वाले हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ २७ ॥

**॥ इस प्रकार प्रो० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज डॉ० सुधाकर मालवीय
कृत सात्त्वत संहिता के प्रश्नप्रतिवचन नामक प्रथम परिच्छेद
की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १ ॥**

— ❀ —
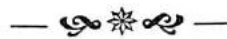
द्वितीयः परिच्छेदः

तुरीयव्यूहसमाराधनम्

नारद उवाच

श्रुत्वैवमच्युतमुखाद् देवदेवो हलायुधः ।
हितार्थं भवभीतानां पुनराह द्विजोत्तमाः ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

विधिना कीदृशेनैव ह्युपासा विहिताऽत्र वै ।
उपासकानां भक्तानां समासाद् ब्रूहि मे विभो ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु सम्यक् प्रवक्ष्यामि यदहं चोदितस्त्वया ।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म पुनरेवाप्नुयान्नरः ॥ ३ ॥

अथ द्वितीयः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह आदौ वासुदेवसङ्कर्षणयोर्भगवदुपासनप्रकारविषयकप्रश्नप्रतिवचनक्रममाह—श्रुत्वेत्यादिश्लोकत्रयेण ॥ १–३ ॥

नारद जी ने कहा—हे द्विजोत्तम गण ! अच्युत के मुख से इस प्रकार की बातें सुनकर देवाधिदेव हलायुध ने इस संसार से भयभीत होने वालों के हित के लिये पुनः पूछा ॥ १ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे विभो ! आपने राग से दूर रहने के लिये उपासना का उपदेश दिया (१.२४) । अतः संक्षेप में बताइये कि यह 'उपासना' उपासक भक्तों को किस प्रकार करनी चाहिये? ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे सङ्कर्षण ! जिस प्रश्न को आपने मुझसे पूछा है, मैं उसका उत्तर सात्त्वततन्त्र में उपदिष्ट उपदेश के अनुसार दे रहा हूँ, जिसको जान लेने पर भक्त पुनः जन्मादि को प्राप्त नहीं करते ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां च सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनाम् ।
लक्ष्यभूतं यदासृष्टेर्हृदिस्थमधिकारिणाम् ॥ ४ ॥

विवेकदं परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं महत् ।
दिव्यमन्त्रक्रमोपेतं मोक्षैकफललक्षणम् ॥ ५ ॥
तादृक् परिसृतं तस्माज्जगदुद्धरणाय च ।
तदाद्यमुपदेक्ष्यामि यद्भेदैर्बहुभिः स्थितम् ॥ ६ ॥
सिद्धिमोक्षप्रदं शुद्धं सरहस्यमसंकुलम् ।

एकायनश्रुतेः सारभूतं सात्वततन्त्रमुपदेक्ष्यामीत्याह—ब्राह्मणानामिति सार्धत्रयेण । सद्ब्रह्मवासुदेवाख्याजिनां = सच्छब्दब्रह्मशब्दवासुदेवशब्दवाच्यवस्तुमात्रार्चनपराणामित्यर्थः । ब्राह्मणानां लक्ष्यभूतं = विषयभूतम् । देवतान्तरयाजिनां ब्राह्मणानामदर्शनीयमिति भावः । अत एव अधिकारिणां शुद्धयाजिनां हृदिस्थम् अतिगोप्यमित्यर्थः । विवेकदं = हेयोपादेयविवेकप्रदं, परं = श्रेष्ठं, ब्रह्मोपनिषदं = तथाविधसंज्ञकम्, उप समीपे निषीदतीति उपनिषदिति । सर्वोपनिषदामपि भगवत्समीपवर्तित्वेऽप्यत्र ब्रह्मोपनिषदित्यनेन ब्रह्मणोऽव्यवहितसमीपवर्तित्वं सूच्यते । यद्वा ब्रह्ममात्रप्रतिपादिका उपनिषदि(ति वा त्य)र्थः । दिव्यमन्त्रक्रियोपेतम्—

दिव्यैर्बलादिकैर्मन्त्रैः साक्षात् तत्प्रतिपादकैः ।
अलङ्कृतमसंदिग्धमविद्यातिमिरापहम् ॥ (ई०सं० १।२१)

इत्याद्युक्तप्रकारेण बलादिमन्त्रसहितम्, मोक्षमात्रफलप्रदं यच्छास्त्रमेकायनश्रुतिरूपं शास्त्रम्, तस्मान्मूलवेदाद् जगदुद्धरणाय परिसृतम् ।

परित्यज्य परं धर्मं मिश्रधर्ममुपेयुषाम् ।
भूयस्तत्पदकांक्षाणां श्रद्धाभक्ती उपेयुषाम् ॥
अनुग्रहार्थं वर्णानां योग्यतापादनाय च ।
तथा जनानां सर्वेषामभीष्टफलसिद्धये ॥
मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च ।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम् ॥
दिव्यं सच्छास्त्रजालं तदुक्त्वा सङ्कर्षणादिभिः ।
प्रवर्तयामास भुवि सर्वलोकहितैषिभिः ॥
—ई०सं० १।४८–५१

इत्युक्तत्वात् । क्रमं तादृग् = मूलवेदसदृशम्, सिद्धिमोक्षप्रदं = भोगापवर्गदम्, काम्यफलप्रदत्वेऽपि भगवन्मात्रविषयत्वात् । परिशुद्धं सरहस्यं = नानाविधरहस्यमन्त्रसहितम्, असंकुलं = देवतान्तरैरमिश्रं यद्दिव्यशास्त्रं बहुभिर्भेदैः स्थितं = नानासंहिताभेदभिन्नम्, तदाद्यं तस्मिन् दिव्यशास्त्रे आद्यं प्रथमं सात्वततन्त्रमित्यर्थः । उपदेक्ष्यामि भवत इति शेषः ॥ ४-७ ॥

वह उपदेश सच्छब्द, ब्रह्मशब्द एवं वासुदेव शब्द के अर्चन करने वाले ब्राह्मणों का लक्ष्यभूत है । सृष्टि के प्रारम्भ से ही शुद्ध यज्ञ करने वाले अधिकारियों के हृदय में रहने के कारण यह अति गोप्य है ॥ ४ ॥

वह उपदेश विवेक प्रदान करने वाला है और सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है तथा महान् उपनिषद् रूप है । यह दिव्यमन्त्र क्रियोपेत तथा भोग एवं मोक्षप्रद है ॥ ५ ॥

भगवन्मात्र विषयक होने से इस उपदेश से सारे जगत् का उद्धार होता है । यह दिव्य शास्त्र अनेक प्रकार की संहिता के भेद से भिन्न-भिन्न है और सिद्धि एवं मोक्षप्रद है अर्थात् भोग एवं अपवर्ग को देने वाला है । यह अनेक प्रकार के रहस्य मन्त्रों से संयुक्त है तथा उसमें अन्य देवताओं की चर्चा नहीं है । उस दिव्यशास्त्र में आद्य सात्त्वतशास्त्र को मैं आपसे कह रहा हूँ ॥ ५-६ ॥

अष्टाङ्गयोगसिद्धानां हृद्यागनिरतात्मनाम् ॥ ७ ॥

परव्यूहविभवभेदेन तदधिकारिभेदान् दर्शयन् आदौ परस्य भगवतोऽर्चने योगिनामधिकारमाह—अष्टाङ्गेति ॥ ७ ॥

योगिनामधिकारः स्यादेकस्मिन् हृदयेशये ।
व्यामिश्रयागयुक्तानां विप्राणां वेदवादिनाम् ॥ ८ ॥

वेदपारगाणामपि तदुक्तदेवतान्तरव्यामोहरहितानामेव ब्राह्मणानां परव्यूहार्चने समन्त्रमधिकारं व्यामिश्रयाजिनां तदभावं चाह—व्यामिश्रेति ॥ ८ ॥

समन्त्रं तु चतुर्व्यूहे त्वधिकारो न चान्यथा ।
त्रयाणां क्षत्रियादीनां प्रपन्नानां च तत्त्वतः ॥ ९ ॥
अमन्त्रमधिकारस्तु चतुर्व्यूहक्रियाक्रमे ।

तदा भगवदेकप्रपत्तिनिष्ठानामेव क्षत्रविट्छूद्राणां व्यूहार्चनेऽमन्त्रमधिकारमाह—त्रयाणामिति ॥ ९-१० ॥

परव्यूह विभवभेद से अधिकारियों का भेद प्रदर्शित करते हुये परमात्मा भगवान् के अर्चन में केवल योगियों का ही अधिकार है अब इस बात को कहते हैं—अष्टाङ्ग योग में तथा मानसिक योग में निरत योगियों का ही केवल एकमात्र हृदय में रहने वाले उस परब्रह्म में अर्चन का अधिकार है । व्यामिश्रयाग में निरत वेदवादी ब्राह्मणों का परव्यूह अर्चन में समन्त्रक अधिकार है किंतु भगवदेक प्रतिपत्ति निष्ठा वाले क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों इन तीनों को इस व्यूहार्चन में अमन्त्रक भी अधिकार हैं ॥ ७-१० ॥

सक्रिये मन्त्रचक्रे तु वैभवीयेऽविवेकिनाम् ॥ १० ॥
ममतासन्निरस्तानां स्वकर्मनिरतात्मनाम् ।
कर्मवाङ्मनसैः सम्यग् भक्तानां परमेश्वरे ॥ ११ ॥
चतुर्णामधिकारो वै प्राप्ते दीक्षाक्रमे सति ।

अहङ्कारममकारग्रस्ततया विवेकरहितानामपि स्वकर्मनिष्ठानां भगवद्भक्तानां दीक्षितानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि विभवार्चने समन्त्रमेवाधिकारमाह—सक्रिय इति

द्वाभ्याम् । अत्र वैभवीयेविवेकिनामित्यत्र अविवेकिनामिति पदच्छेदः । नह्यत्र विवेक-रहितैरर्चनीयत्वोक्त्या विभवभेदानामपकर्षः शङ्कनीयः, अपि तु सौलभ्यातिशयेन उत्कर्ष एव सिद्ध्यति । इत्थमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

सुसिद्धयोगतत्त्वानामधिकारः परात्मनि ।
व्यामिश्रयागयुक्तानां मध्यानां व्यूहभावने ॥
वैभवीयादिरूपेषु विवेकविधुरात्मनाम् ।
अहन्ताममतार्तानां भक्तानां परमेश्वरे ॥
अधिकारस्य वैषम्यं भक्तानामनुदृश्य सः ।
भजते विविधं रूपं परव्यूहादिशब्दितम् ॥ (११।४८—५१)

इति ॥ १०—१२ ॥

इस वैभवीय चतुर्व्यूहरूप क्रियाक्रम में अहन्ता एवं ममता में ग्रस्त अपने-अपने वर्णाश्रम क्रम में निरत कर्म, वाणी और मन से परमेश्वर में भक्ति रखने वाले विवेकरहित साधकों का भी समन्त्रक अधिकार है ॥ १०—१२ ॥

एवं सम्प्रतिपन्नानां मन्त्रपूर्वं यथास्थितम् ॥ १२ ॥
विधानमेकमूर्तीयं समाकर्णय साम्प्रतम् ।

एवं स्वस्वाधिकारानुरोधेन सम्प्रतिपन्नानां हिततमं साक्षात् परस्यार्चनविधानमादौ श्रृणुष्वेत्याह—एवमिति ॥ १२-१३ ॥

यदि दीक्षा ग्रहण किया हो, तब इस अर्चन में चारों वर्णों का यथाक्रम अधिकार है । इस प्रकार अपने-अपने अधिकार से सम्प्रतिपन्न भक्तों के लिए हिततम एक मूर्तीय परब्रह्म के अर्चन का विधान सर्वप्रथम सुनिये ॥ १२-१३ ॥

प्रशस्ते विजने गुप्ते गन्धलिप्ते धरातले ॥ १३ ॥
सुधूपितेऽर्घ्यपुष्पाढ्ये वर्णचक्रं प्रसाध्य च ।

तन्मन्त्रोद्धारार्थं चक्ररचनामाह—प्रशस्त इति ॥ १३-१४ ॥

यस्मिन् प्रतिष्ठितं विश्वमाब्रह्मभुवनान्तिकम् ॥ १४ ॥
येनोदितेन जगतः प्रभवः समनन्तरम् ।
स्वात्मन्युपरते यस्मिन् प्रलयः सम्प्रजायते ॥ १५ ॥
प्रेरकं चन्द्रसूर्याभ्यां सबाह्याभ्यन्तरं तु यत् ।

'मन्त्राणां जननी साक्षान्मम शब्दमयी तनुः' (लक्ष्मी. २३।११) इति वर्णचक्रस्य साक्षाद् भगवच्छरीरकत्वात् तस्य निखिलजगदाधारत्वं सृष्ट्यादिहेतुत्वं चाह—यस्मिन्निति द्वाभ्याम् ॥ १४—१६ ॥

अब मन्त्रोद्धार के लिये चक्ररचना का प्रकार कहते हैं—प्रशस्त, सुधूपित, विजन, सुगुप्त, गन्धलिप्त एवं अर्घ्यपुष्पों से समृद्ध धरातल में द्वादशारचक्र निर्माण

करे । वह वर्णचक्र साक्षात् भगवान् का शरीर है । जिसमें आब्रह्मभुवन समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं, जिनके द्वारा इस जगत् की उत्पत्ति हुई है, अपनी आत्मा के उपरत कर लेने पर इस जगत् का जिसमें प्रलय हो जाता है जो चन्द्रमा और सूर्य के द्वारा सारे जगत् के बाहर भी है और भीतर भी है, प्रेरक है ॥ १४-१६ ॥

नित्योदितं यदक्षस्थं वर्णमीश्वरवाचकम् ॥ १६ ॥
यत्र स्थानविभागेन वागात्मा भगवान् स्थितः ।

तत्र प्रणवादिवर्णसंस्थितिक्रममाह—नित्योदितमित्यादिभिः ॥ १६-१७ ॥

जो प्रणव रूप से नित्योदित है, अक्ष पर निवास करने वाला है और जो वर्ण रूप से ईश्वर का वाचक है । इस वर्ण चक्र पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर वर्णात्मा भगवान् स्थित हैं ॥ १६-१७ ॥

अकाराद्यो विसर्गान्तः सौरश्चान्द्रः कलागणः ॥ १७ ॥
ह्रस्वदीर्घविभागेन नाभौ यत्र द्विरष्टकः ।
कादिभान्तोऽप्यरान्तस्थः प्राकृतस्तत्त्वसञ्चयः ॥ १८ ॥
पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तो युग्मयोगेन लाङ्गलिन् ।
कलनादेहभृत् कालो नेमिगो नवलक्षणः ॥ १९ ॥
मकाराद्यो हवर्णान्तो यत्र प्रधिगणे स्वयम् ।
कालवैश्वानरः साक्षान्मार्तण्डायुतसन्निभः ॥ २० ॥
ज्वालाऽयुतसहस्राढ्यो वर्णान्तो भगवान् स्थितः ।

'अकाराद्यो विसर्गान्त' इत्यत्र अकारादीनां ह्रस्वानामष्टवर्णानां सौरत्वादालोकाद्यात्मकत्वम्, अकारादीनां दीर्घाणामष्टानां चान्द्रत्वाद् द्रवताद्यात्मकत्वं चोक्तं जयाख्ये—

आलोकस्तीक्ष्णता व्याप्तिर्ग्रहणं क्षेपणेरणे ॥
पाकः प्राप्तिरिति ह्यष्टौ सूर्यभागेव्यवस्थिताः ।
अकारादिषु ह्रस्वेषु वर्णेष्वेतेष्वनुक्रमात् ॥
द्रवता शैत्यभावश्च तृप्तिः कान्तिः प्रसन्नता ।
रसतास्वाद आनन्दो ह्यष्टौ चान्द्रा इमा मताः ॥
आकारादिषु दीर्घेषु संस्थिता मातृकात्मना ।
अविनाभावरूपेण अन्योन्येन सदैव हि ॥
अष्टानामपि चाष्टौ तु संस्थिता बहिरन्तरे । (६।१३—१७)

इति ॥ १७—२१ ॥

आमध्यात् प्रधिपर्यन्तां नमोन्तां वर्णसन्ततिम् ॥ २१ ॥
उच्चार्यार्घ्यादिनाऽभ्यर्च्य विद्याबीजं हि चक्रराट् ।

ततः समुद्धरेन्मन्त्रं परमात्मनि वाचकम् ॥ २२ ॥

वर्णचक्रार्चनपूर्वकं मन्त्रमुद्धरेदित्याह—आमध्यादिति द्वाभ्याम् । चक्रराट् = वर्णचक्रमित्यर्थः । विभक्तिविनिमयच्छान्दसः । तथा चात्रैवं प्रयोगः—प्रशस्ते विजने गुप्ते गन्धलिप्तेऽर्घ्यपुष्पाढ्ये सुधूपिते धरातले द्वादशारं चक्रं विलिख्य तन्मध्येऽक्षस्थाने प्रणवं, नाभौ अकारादिविसर्गान्तान् षोडशस्वरान्, द्वादशारेषु प्रत्यरं वर्णयुग्मक्रमेण ककारादिभकारान्तानि चतुर्विंशतिवर्णानि, नेमिभागे मकारादिहकारान्तवर्णनवकम्, प्रधिगणे क्षकारं च विलिख्य आमध्यात् प्रधिपर्यन्तं वर्णपरम्पराम् ॐ ओं नमः, ॐ अं नम इत्यादिक्रमेणोच्चार्यार्घ्यादिभिरभ्यर्च्य मन्त्रमुद्धरेत् ॥ २२-२२ ॥

'अ' से लेकर विसर्गान्त १६ स्वर वर्ण ह्रस्व एवं दीर्घ के विभाग से (अकारादि ८ ह्रस्व वर्ण सौर रूप से तथा आकारादि ८ दीर्घ वर्ण चान्द्र रूप से) नाभि में स्थित हैं । 'क' से लेकर 'भ' पर्यन्त २४ वर्ण दो-दो के क्रम से १२ 'अरा' पर स्थित हैं । इन्हें 'प्राकृत तत्त्व सञ्चय' कहा जाता है ॥ १७-१८ ॥

नेमि भाग में कलनात्मक देह धारण किये स्वयं काल मकार से हकार पर्यन्त ९ वर्ण का रूप धारण किये हुये स्थित हैं । प्रधिगण में क्षकार लिखे । यह वर्णात्मक कालवैश्वानर साक्षात् करोड़ों मार्तण्ड के समान देदीप्यमान हैं और हजारों ज्वालाओं से परिवेष्टित वर्णात्मा भगवान् स्थित हैं । अतः मध्य से लेकर प्रधिपर्यन्त ॐ ओं नमः, ॐ अं नमः इत्यादि क्रम से वर्णों को लिख कर अर्घ्यादि से अर्चन करे और मन्त्र का उद्धार करे । यह चक्रराट् विद्या का बीज है और परमात्मा का वाचक है ॥ १९-२२ ॥

गलन्तममृतप्रख्यमचिरान्मोक्षसिद्धिदम् ।
अक्षस्थमुद्धरेत् पूर्वं नेमिषष्ठमनन्तरम् ॥ २३ ॥
नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं द्वितीयमिदमक्षरम् ।
द्वितीयं दशसंख्याच्च तदधश्चाष्टमात् परम् ॥ २४ ॥
नाभेस्त्रयोदशोपेतं द्वितीयमिदमक्षरम् ।
अथ द्वितीयं नवमान्नाभितुर्यादिनान्वितम् ॥ २५ ॥
द्वितीयमष्टमाद् वर्णं केवलं विद्धि पञ्चमम् ।
विज्ञानपदमादाय त्र्यक्षरं तदनन्तरम् ॥ २६ ॥
आद्यमेकादशाद् वर्णं भिन्नं नाभ्यपरेण तु ।
नेमेस्तृतीयवर्णस्य ततस्तमुपरि न्यसेत् ॥ २७ ॥
मन्त्राणां नवमं ह्येतद् दशमं मे निबोधत ।
नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं प्राग्वर्णं चाष्टमारगम् ॥ २८ ॥
नेमेर्द्वितीयं तदनु नेमेरादाय चाष्टकम् ।
तदुद्देशात् तृतीयं च स्थितं तत् पञ्चमोपरि ॥ २९ ॥

त्रयोदशमिदं विद्धि नवमादपरं ततः ।
षष्ठस्य नेमिवर्णस्य चोर्ध्वे तत्त्रितयं न्यसेत् ॥ ३० ॥
युक्तं नाभितृतीयेन ह्यथ षोडशमुच्यते ।
द्वितीयं दशमाद् वर्णान्नाभ्येकादशसंयुतम् ॥ ३१ ॥
चैतन्यायपदं दद्यात् सनमस्कमतः परम् ।
द्वाविंशार्णो ह्ययं मन्त्रः पदैः षड्भिरलङ्कृतः ॥ ३२ ॥

तत्प्रकारमाह—(ततः स?अक्षस्थ)मुद्धरेदित्यादिभिः। पूर्वमक्षस्थं प्रणवमुद्धरेत्। अनन्तरं नाभिद्वितीयेनाक्रान्तं आकारेण युक्तं नेमिषष्ठं शकारमुद्धरेत् । अथ दश-संख्या(द्) द्वितीयं दशमारस्थधकारयोर्द्वितीयं नकारमुद्धृत्य तदधः अष्टमात् परं अष्ट-मादराद् द्वितीयवर्णं तकारं संयोज्य तन्नाभेस्त्रयोदशोपेतम् ओकारान्वितं कुर्यात्, ततो नवमाद् द्वितीयं दकारं नाभितुर्यादिना इकारेणान्वितं कुर्यात्, अथ अष्टमाद् द्वितीयं वर्णं तकारं केवलमुद्धरेत् । अथ विज्ञानेति वर्णत्रयमुद्धरेत् । तत एकादशादाद्यं पकारं नाभ्यपरेण आकारेण भिन्ने संयुक्तं कृत्वा तन्नेमेस्तृतीयस्य वर्णस्य रेफस्योपरि न्यसेत् । अथ नाभिद्वितीयेनाक्रान्तम् आकारयुक्तम् अष्टमारगं प्राग्वर्णं णकारमुद्धरेत् । तदनु नेमेर्द्वितीयं यकारमुद्धरेत् । ततो नेमेरष्टकम् सकारमुद्धरेत् । ततस्तत्पञ्चमोपरि वकारोपरि स्थितं तदुद्देशात् तृतीयं रेफमुद्धरेत् । ततो नवमादपरं दकारमुद्धरेत्, अथ षष्ठस्य नेमिवर्णस्य शकारस्योर्ध्वे तत्तृतीय रेफं न्यसेत् । तन्नाभितृतीयेन इकारेण युक्तं कुर्यात्, अथ दशमाद् द्वितीयं वर्णं नकारं नाभ्येकादशसंयुतम् एकारान्वितं कुर्यात् । ततः सनमस्कं नमस्कारशिरस्कं चैतन्यायेति चतुरक्षरं पदमुद्धरेत् । तथा च 'ॐशान्तो-दितविज्ञानप्राणाय सर्वदर्शिने चैतन्याय नमः' इति द्वाविंशाक्षरः षड्भिः पदैरलङ्कृतो मन्त्रः समुद्धृतो भवति ॥ २३-३२ ॥

यह महामन्त्र अमृत का स्राव करता है और शीघ्र मोक्ष प्रदान करता है । सर्वप्रथम अक्ष पर स्थित प्रणव मन्त्र का उद्धार करे । इसके बाद नाभि द्वितीय (आकार) से आक्रान्त, नेमि (मकार) से षष्ठ शकार का उद्धार करे, (शा), फिर आप पर स्थित दकार दशम अरे पर स्थित धकार से द्वितीय (नकार), उसके बाद अष्टम अरा पर स्थित द्वितीय वर्ण तकार को उस नकार में मिला देवे । स्वरूप (न्तो) । इसके बाद नवम से द्वितीय दकार को नाभितुर्य इकार से युक्त करे (दि) फिर अष्टम से द्वितीय वर्ण तकार का केवल उद्धार करे (त), इसके बाद विज्ञान इस तीन वर्ण का उद्धार करे। इसके बाद ग्यारहवें का आदि पकार, उसे नाभि के ऊपर वर्ण आकार से संयुक्तकर, उसे नेमि के तृतीय वर्ण रेफ के ऊपर संयुक्त करे (प्रा) । फिर नाभि द्वितीय आकार से आक्रान्त, अष्टमारगं प्राग्वर्ण णकार का उद्धार करे (णं), उसके बाद नेमि के द्वितीय वर्ण (यकार) का उद्धार करे (य), इसके बाद नेमि के आठवें वर्ण (सकार) का उद्धार करे । इसके बाद उसके पञ्चम वर्ण वकार, उसके ऊपर तृतीय वर्ण रेफ का उद्धार करे (र्व), इसके बाद नवम से दूसरे दकार वर्ण का उद्धार करे (द), इसके बाद षष्ठस्थ नेमि वर्ण को शकार,

फिर उससे तृतीय रेफ वर्ण का उद्धार करे । उसे नाभि के तृतीय वर्ण इकार से संयुक्त करे (र्शि), इसके बाद दशम से द्वितीय वर्ण नकार, जिसे नाभि के एकादश वर्ण एकार से संयुक्त कर देवे (ने) । इसके बाद सनमस्कं नमस्कार शिरस्थ 'चैतन्याय' इस चार अक्षर का उद्धार करे। यहाँ २२ अक्षर का मन्त्र कहा गया जो छः पदों से अलङ्कृत है ॥ २३–३२ ॥

तत्रैकार्णं पदं ज्ञानं चतुर्वर्णं पदं बलम् ।
षडक्षरं चाप्यैश्वर्यं वीर्यं पञ्चाक्षरं परम् ॥ ३३ ॥
चतुर्वर्णं पदं तेजः शाक्तं स्याद् द्व्यक्षरं च यत् ।

तेषामेव षण्णां पदानामक्षरसंख्याकथनपूर्वकं ज्ञानादिगुणवाचकत्वमाह—तत्रेति सार्धेन । अथ बलस्य ज्ञानोपसर्जनत्वात् तदव्यवहितमेव तदुक्तम् । एवमेव ऐश्वर्यो-पसर्जनं वीर्यम्, वीर्यशक्त्युपसर्जनं तेजश्चोक्तमिति ज्ञेयम् । बलादीनां ज्ञानाद्युपसर्जनत्वं सुस्पष्टमुपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रे—

तिस्रो मम स्वभावाख्या विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ॥
उन्मिषत्यः पृथक् तत्त्वत्रयेण परिकीर्तिताः ।
बलं वीर्यं तथा तेज इत्येतत्तु गुणत्रयम् ॥
श्रमाद्यविद्याभावाख्यंज्ञानादेरुपसर्जनम् । (२।४९–५१) इति ।

वस्तुतस्तु ऐश्वर्यादिपञ्चकमपि ज्ञानधर्म इति विज्ञेयम्,

ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयोः ॥
शेषमैश्वर्यवीर्यादि ज्ञानधर्मः सनातनम् । (२।२५–२६)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । ज्ञानादीन्यपि तत्रैव विवृतानि—

अहमित्यान्तरं रूपं ज्ञानरूपमुदीर्यते ॥
प्रकाशकादिकं रूपंस्फटिकादिसलक्षणम् ।
अतस्तज्ज्ञानरूपत्वं मम नारायणस्य च ॥
अव्याहतिर्यदुद्यन्त्यास्तदैश्वर्यं परं मम ।
इच्छेति सोच्यते तत्तत्तत्त्वशास्त्रेषु पण्डितैः ॥
जगत्प्रभृतिभावो मे यः सा शक्तिरुदीर्यते ।
सृजन्त्या यच्छ्रमाभावो मम तद्बलमिष्यते ॥
भरणं यच्च कार्यस्य बलं तच्च प्रचक्षते ।
शक्त्यंशकेन च प्राहुर्भरणं तत्त्वकोविदाः ॥
विकारविरहो वीर्यं प्रकृतित्वेऽपि मेसदा ।
स्वभावं हि जहात्याशु पयो दधिसमुद्भवे ॥
जगद्भावेऽपि सा नास्ति विकृतिर्मम नित्यदा ।
विकारविरहो वीर्यमिति तत्त्वविदां मतम् ॥
विक्रमः कथितो वीर्यमैश्वर्यांशस्तु स स्मृतः ।

सहकार्यनपेक्षा मे सर्वकार्यविधौ हि या ॥
तेजः षष्ठं गुणं प्राहुस्तमिमं तत्त्ववेदिनः ।
पराभिभवसामर्थ्यं तेजः केचित् प्रचक्षते ॥
ऐश्वर्ये योजयन्त्येके तत्तेजस्तत्त्वकोविदाः ।
इति पञ्च गुणा एते ज्ञानस्य स्तुतयो मताः ॥(२।२६-३५) इति

अथ मन्त्रार्थ उच्यते—अत्रादौ प्रणवेन तन्नादान्तगगनस्थितः परवासुदेवो विवक्षणीयः, इदानीं तस्य प्रकृतत्वात् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

ओमित्येतत् समुत्पन्नं प्रथमं बिन्दुतारकम् ।
बिन्दुना भूषयेत् पश्चान्नादेन तदनन्तरम् ॥
ध्यायेत् सन्ततिनादान्तांतैलधारात्मवाक्यताम् ।
एतत्तद् वैष्णवं रूपं त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ॥
अनिरुद्धस्त्वकारोऽत्र प्रद्युम्नः पञ्चमः स्वरः ।
सङ्कर्षणो मकारस्तु वासुदेवस्तु पञ्चकः ॥
चतुर्णामविभागं तु नादरूपं सुरेश्वर ।
नादस्य या परा काष्ठा साऽहन्ता परमेश्वरी ॥
शक्तिः सा परमा रूपा नादान्तगगनाह्वया ।
शब्दब्रह्ममयी सूक्ष्मा साहं सर्वावगाहिनी ॥
विरामे सति नादस्य यः स्पष्टीभवति ध्रुवम् ।
ज्योतिस्तत् परमं ब्रह्मलक्ष्मीनारायणात्मकम् ॥
एतत्ते वैष्णवं धाम कथितं पौरुषं परम् ।(२४।६-१२) इति

शान्तोदितविज्ञानप्राणाय शान्तोदितं सूक्ष्मरूपम्, स्वात्ममात्रानुभवदशाविशिष्टमिति यावत् । यतः शान्तोदिता नित्योदिता चेति दशाद्वयमीश्वरस्य प्रसिद्धम् । तत्र शान्तोदितावस्था नाम स्वात्ममात्रानुभवदशा, नित्योदितावस्था तु स्वभूत्यनुभवदशा । तथा च श्रीगुणरत्नकोशव्याख्याने—

'तैस्तैः कान्तेन शान्तोदितगुणविभवैः' (२५श्लो०)

इत्यत्र दशाद्वयं व्याख्यातम् । गर्गकुलीनरामानुजीये श्रीरङ्गराजस्तवव्याख्याने तु–

'प्रथन्ते सोऽनन्तः स्ववशघनशान्तोदितदशः' (उ० ३७ श्लो०)

इत्यत्र स्वविभूतिस्वगुणानुभवदशा शान्तोदितदशा, स्वरूपानुभवदशा नित्योदितदशेति व्युत्क्रमेणोक्तम् । तत्प्रामादिकम् । यतस्तत्कर्तृक एव वरदराजस्तवव्याख्याने—

'प्रशान्तानन्तात्मानुभवजमहानन्दमहिम
प्रसक्तस्तैमित्यानुकृतवितरङ्गार्णवदशम्' । (१३ श्लो०)

इत्यत्र शान्तोदितदशा नाम स्वात्ममात्रानुभवदशा, इतरा नित्योदितदशेति यथाक्रमं व्याख्यातम् । विज्ञानं तुर्यव्यूहमित्यर्थः । 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै०उ० २।५) इत्यत्र यथा विज्ञानशब्दस्य धर्मिवाचकत्वम्, तद्वदिहापि भगवद्वाचकत्वं बोध्यम् ।

तत्प्राणयतीति तथोक्तः । शान्तोदितसंज्ञकपररूपं प्रति नित्योदितसंज्ञकपरात्परवासुदेवस्य कारणत्वात् तत्प्राणत्वमस्येति भावः । तथा च तत्त्वत्रयव्याख्याने—

नित्योदितात् संबभूव तथा शान्तोदितो हरिः ।
चातुरात्म्यमथापीदं कृपया परमेष्ठिनः ।
उपासकानुग्रहार्थं यः परश्चेति कीर्त्यते ॥
शान्तोदितात् प्रवृत्तं च चातुरात्म्यत्रयं तथा ।
उपासकानुग्रहार्थं सेनेश मम तत्पुनः ॥
सुषुप्तिस्वप्नसंज्ञं यज्जाग्रद्व्यूहं तथा परम् ।
चातुरात्म्यं महाभाग पञ्चमं पारमेश्वरम् ॥ (पृ० १३३) इति ।

सर्वदर्शिने सर्वज्ञाय चैतन्याय ज्ञानरूपाय परात्परवासुदेवायेत्यर्थः । 'ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयोः' (२।२५) इति लक्ष्मीतन्त्रे । नमस्तस्मै सकलविधकैङ्कर्याणि करवाणि मदर्थं न करवाणीति प्रसिद्धोऽयं नमश्शब्दार्थः ॥ ३३—३४ ॥

मन्त्र का स्वरूप है—ॐ शान्तोदितविज्ञानप्राणाय सर्वदर्शिने चैतन्याय नमः । इस मन्त्र में २२ अक्षर एवं ६ पद इस प्रकार हैं—ॐ (१), शान्तोदित (२), विज्ञानप्राणाय (३), सर्वदर्शिने (४), चैतन्याय (५), नमः (६) । उसमें एक अक्षर वाला पद (ॐ) ज्ञान का वाचक है, चार अक्षर वाला पद (शान्तोदित) बल का वाचक है, षडक्षर पद (विज्ञानप्राणाय) ऐश्वर्य का वाचक है, पञ्चाक्षर पद (सर्वदर्शिने) वीर्य का वाचक है । चार वर्णों वाला पद (चैतन्याय) तेज का वाचक है । दो अक्षर वाला (नमः) पद शक्ति का वाचक है ॥ ३३-३४ ॥

तेजो वीर्यं बलं शक्तिरैश्वर्यं ज्ञानमेव च ॥ ३४ ॥
दृगस्त्रं कवचं शैखं शिरो हृत् षड् यथाक्रमम् ।

अङ्गमन्त्रसिद्ध्यर्थमुक्तानां ज्ञानादीनां हृदयाद्यङ्गैः सह योजनक्रममाह—तेज इत्यादिना । तथा चैवं प्रयोगः—ॐ ॐ ज्ञानाय हृदयाय नमः । ॐ विज्ञानप्राणाय ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । ॐ नमः शक्त्यै शिखायै वौषट् । ॐ शान्तोदित बलाय कवचाय हुं । ॐ सर्वदर्शिने वीर्याय अस्त्राय फट् । ॐ चैतन्याय तेजसे नेत्राभ्यां वौषट् । एवमेषां मन्त्राणां प्रणवादित्वं नमः स्वाहादिजात्यन्तत्वं च नृसिंहकल्पपरिच्छेदे वक्ष्यति—

सर्वेषां प्रणवः पूर्वः स्वसंज्ञान्ते नियोज्य तु ।
स्वकीया जातयश्चान्ते वौषडन्ताः क्रमेण तु ॥ (१७।१०—११) इति ॥३५॥

अङ्ग मन्त्र की सिद्धि के लिये उक्त षट् ज्ञानादिक का हृदयादि छः अङ्गों के साथ योजना का क्रम कहते हैं—तेज, वीर्य, बल, शक्ति, ऐश्वर्य और ज्ञान । उसका प्रयोग इस प्रकार करे—१. ॐ ॐ ज्ञानाय हृदयाय नमः, २. ॐ विज्ञानप्राणाय ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा, ३. ॐ नमः शक्त्यै शिखायै वौषट्, ४. ॐ शान्तोदित बलाय कवचाय हुं, ५. ॐ सर्वदर्शिने वीर्याय अस्त्राय फट्, ६. ॐ चैतन्याय तेजसे नेत्राभ्यां वौषट् ।

विमर्श—यहाँ अस्त्र मन्त्र और नेत्र मन्त्र का क्रम विपर्यस्त दिखाई पड़ रहा है, जबकि सर्वत्र सामान्य रूप से नेत्र मन्त्र के बाद अस्त्र मन्त्र का प्रयोग किया जाता है, जो भी हो किन्तु सात्त्वतग्रन्थ में यही तथा अन्यत्र भी इसी क्रम का उपदेश किया गया है ॥ ३४-३५ ॥

मन्त्रः समाधिविषये नानाभूमिजयेषु च ॥ ३५ ॥
निराकारो निरङ्गश्च स्मर्तव्यो ब्रह्मलक्षणः ।
तत्प्राप्त्युपाये प्रथमे यागहोमादिके तु वै ॥ ३६ ॥
साकारं संस्मरेत् साङ्गं परिवारेण चावृतम् ।

उक्तस्यास्य मूलमन्त्रस्य विषयभेदेन साकारत्वं निराकारत्वं चाह—मन्त्रः समाधिविषय इति द्वाभ्याम् । यागहोमादिके = यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो वह्निसन्तर्पणम्, आदिशब्देनाविशिष्टं पाञ्चकालिकं कर्मोच्यते । प्रथमे तत्प्राप्त्युपाये = कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिनाम्नां चतुर्विधानां भगवत्प्राप्त्युपायानां प्रथमे उपाये, कर्मयोग इत्यर्थः ॥ ३६—३७ ॥

आनीता व्यक्ततां येन स्वयं ज्ञानादयो गुणाः ॥ ३७ ॥
शश्वद् यागसमाप्त्यर्थं कर्मिणामनुकम्पया ।
सोऽनङ्गः संस्मृतो मन्त्रो भक्तिश्रद्धावशेन तु ॥ ३८ ॥
फलं यच्छति वै नूनं नित्यं तद्भावितात्मनाम् ।

एतत्कर्मयोगनिष्ठानां साकारस्मरणं विना भगवदर्चनादेः कर्तुमशक्यतया भगवान् स्वयमेव तेषु कृपातिशयेन षाड्गुण्यात्मकं निजाकारं प्रकाशयति । योगिनां तु 'सर्वत्र विदितात्मनाम्' इत्युक्तरीत्या तन्नैरपेक्ष्यान्निराकारं संस्मृतोऽपि तद्भक्त्यतिशय-सन्तुष्टः फलं प्रयच्छतीत्याह—आनीता इति द्वाभ्याम् ॥ ३८—३९ ॥

यह ब्रह्मलक्षण मन्त्र विषयभेद से निराकार तथा साकार दोनों है—समाधि विषय में तथा नानाभूमि जय में निराकार और निरङ्ग रूप में इसका स्मरण करे । कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति इन चार प्रकार के भगवत् प्राप्ति के उपायों में प्रथम यागहोमादिकर्म में साङ्ग एवं परिवारावृत साकार विग्रह का स्मरण करे । क्योंकि इस कर्म में निष्ठा रखने वाले भक्तों के लिए साकार स्मरण के बिना अर्चनादि कर्म सर्वथा अशक्य होते हैं । इसलिये भगवान् स्वयं उन भक्तों पर कृपा कर स्वयं अपना षड्गुण्यात्मक स्वरूप प्रकाशित करने के लिये साकार रूप में व्यक्त हो जाते हैं । किन्तु योगियों द्वारा निराकार रूप का संस्मरण किये जाने पर तथा साकार रूप से निरपेक्ष होने पर भी केवल उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर वह निराकार रूप से भी उन्हें फल प्रदान करते हैं ॥ ३५—३९ ॥

प्राधान्येन क्रतोः स्थैर्यं मोक्षो यत्रानुषङ्गतः ॥ ३९ ॥
तत्र तद्विघ्नशान्त्यर्थं मन्त्रार्थं विद्धि मन्त्रपम् ।

विपर्यये तु नेत्रान्तो मन्त्रो यस्मान्महामते ॥ ४० ॥
दृग्दृष्टिशुद्धमार्गाणां क्व विघ्ना: शान्तचेतसाम् ।

ऐश्वर्यप्रधाने कर्मण्यस्य मन्त्रस्याङ्गन्यासादिष्वस्त्रान्तत्वं मोक्षप्रधाने कर्मणि नेत्रान्तत्वं चाह—प्राधान्येनेति द्वाभ्याम् । तत्र तस्मिन् कर्मणि तद्विघ्नशान्त्यर्थं तस्य कर्मणस्तज्जन्यैश्वर्यस्य तदानुषङ्गिकमोक्षस्य च ये विघ्ना: संभवन्ति, तत्तच्छान्त्यर्थमित्यर्थ: । विपर्यये तु मोक्षस्य प्राधान्ये ऐश्वर्यस्यानुषङ्गिकत्वे इत्यर्थ: । दृग्दृष्टिशुद्धमार्गाणां दृग् नेत्रमन्त्र:, तेन दृष्टि: अवलोकनम्, तेन शुद्ध: पावनीकृतो मार्गो येषां तेषां तथोक्तानाम् । नेत्रमन्त्रावलोकनस्य परिशुद्ध्यावहत्वं व्यक्तमुक्तमीश्वरपारमेश्वरयो:—

देवं हृत्कमलाकाशे तेजोरूपतया स्थितम् ।
तस्मात् स्थानात् समानीय तं कुर्यान्नेत्रमध्यगम् ॥
वासुदेवाभिधानं तु प्रागुक्तं च समाश्रयेत् ।
ततो लोचनयुग्मेन स्तब्धेन मुनिपुङ्गवा: ॥
जपन् लोचनमन्त्रं तु पश्येद् यागोपयोगिनम् ।
संभारमखिलं तेन द्रव्यसंघो विशुध्यति ॥ इति ॥ ३९-४१ ॥

—(ई० सं० ३।२–५; पा० सं० ६।८–१०)

जहाँ ऐश्वर्य प्रधान है और मोक्ष आनुषङ्गिक है वहाँ विघ्न शान्ति के लिये मन्त्रार्थ को मन्त्र समझे अर्थात् वहाँ नेत्र अस्त्रान्त न्यास करे । किन्तु जहाँ मोक्ष प्रधान है तथा ऐश्वर्य आनुषङ्गिक है, वहाँ नेत्रान्त ही अङ्गन्यास करे, क्योंकि हे महामते ! वहाँ हर दृष्टि से मार्ग शुद्ध करने वाले शान्तचित्त भगवद् भक्तों के लिये विघ्न की संभावना ही किस प्रकार संभव है? ॥ ३९-४१ ॥

स्वकमन्तर्गतं तेज: स्वातन्त्र्याच्च बहिष्कृतम् ॥ ४१ ॥
येन येन हि मन्त्रेण स च नेत्रान्वित: स्मृत: ।
स्वप्रकाशस्त्वनुपमो येन येन हृदन्तरे ॥ ४२ ॥
सितासित: समाकृष्य: स स तद्वाचकोत्थित: ।

बहि: प्रकटिततेजसां मन्त्राणां तेजोवाचकशब्दसहितत्वम् अन्तर्निगूढतेजसां तु तद्वाचकरहितत्वं चाह—स्वकमिति द्वाभ्याम् । एवं च तेजोवाचकरहितानां मन्त्राणां पञ्चाङ्गत्वमेव बोध्यम् । तदुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोर्गरुडार्चनप्रकरणे—

पञ्चाक्षर इति ख्यातो गारुडो मुनिसत्तमा: ।
पञ्चाङ्गानि यथापूर्वमक्षरै: स्यु: सबिन्दुकै: ॥ इति ।

—(ई० सं० ८।१४; पा० सं० ८।१४)

पारमेश्वरव्याख्याने त्वेतच्छ्लोकव्याख्यानावसरे—'अत्र पञ्चाङ्गोऽयं मन्त्र: पाद्मसात्वतयो: षडङ्ग: प्रतिपादित:। षडङ्गानि पुन: स्वयमिति—'नेत्रकर्मणि हृद्बीजं पञ्चाङ्गानां विधीयते' (१९।१७३) इतीत्युक्तम्, तदसंगतम् । यत: श्रीसात्वतेऽयं गरुड-

पञ्चाक्षरमन्त्रो वा तदङ्गविचारो वा न दृश्यते । न चैतद् गरुडमन्त्राङ्गविचारादर्शनेऽपि 'नेत्रकर्मणि हृद्बीजं पञ्चाङ्गानां विधीयते' (१९।१७३) इति तत्रोक्तत्वात् पञ्चाङ्गमन्त्र-सामान्यस्य हृद्बीजयोजनया षडङ्गत्वसिद्धेरस्यापि तथा षडङ्गत्वं सिद्धमिति वाच्यम्, यत एवं हृद्बीजेन सह षडङ्गत्वे संभवति सात्वते पञ्चाङ्गानामित्युक्तिरेव न संभवेत् । किञ्च सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे (८।१४) पारमेश्वरे (८।१४) च गरुडमन्त्रस्य षडङ्गत्वकथनं विना पञ्चाङ्गत्वमात्रोक्तिरपि न घटते । अतस्तदर्थमिदं सावधानं शृणु—पञ्चाङ्गानां मन्त्राणां दीक्षादाविति शेषः । नेत्रकर्मणि नेत्रमन्त्रेण कर्तव्ये कर्मणि,

पाचयेत् मूलमन्त्रेण दृष्ट्वा नेत्रेण संस्कृतम् । (१८।१०२) इति,
वर्मणा तत्फलप्राप्तिं तल्लयत्वमपि स्मरेत् ॥
सुतृप्तिमथ नेत्रेण कुर्यात्तेनैव तत्स्थितिम् । (१९।८८–८९)

इति चैवमादिके हृद्बीजं विधीयते । पञ्चाङ्गानां नेत्रबीजाभावात् तत्स्थाने हृद्-बीजं योजयेदिति भावः । एवमेव निरङ्गानां मन्त्राणामङ्गमन्त्रसामान्याभावात् तत्साध्येषु कर्मसु प्रणवो नियोक्तव्य इति च सात्वते उक्तम्—

निरङ्गानां तु मन्त्राणामङ्गमन्त्रोक्तकर्मणाम् ।
प्रणवो विनियोक्तव्यः सह कर्मपदेन तु ॥ इति । (१९।१७३-१७४)

नैतावता पञ्चाङ्गानां षडङ्गत्वं निरङ्गानां साङ्गत्वं च सिध्यतीति बोध्यम् ॥४१-४३॥

अपना तेज बाहर प्रगट करने वाले मन्त्रों को तेजोवाचक शब्द के सहित तथा अपने अन्तरात्मा में तेज को छिपाने वाले मन्त्रों को तेजोवाचक शब्द से रहित होना ही चाहिये । अत: वहाँ पञ्चाङ्गन्यास ही करे । षडङ्गन्यास (नेत्रन्यास) न करे ॥ ४१-४३ ॥

अथ मन्त्रवरस्यास्य शृणुष्वाराधनं यथा ॥ ४३ ॥
सबाह्याभ्यन्तरावस्थं समासादमलेक्षण ।

एतावदन्तं मन्त्रस्वरूपमुक्त्वा इतः परमर्चनप्रकारं शृणुष्वेत्याह—अथेति । स-बाह्याभ्यन्तरावस्थं = मानस बाह्योभयाराधनमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

अब हे संकर्षण ! इस मन्त्र की आराधना जिस प्रकार से की जाती है आप उस विधि को सुनिए—हे अमलेक्षण ! वैष्णव साधक बाहरी और भीतरी मलों को बाहर निकाल कर स्नान करे ॥ ४४ ॥

परिच्युतमलः स्नातः शुद्धवासा जितेन्द्रियः ॥ ४४ ॥
वाग्यतः पुष्पदर्भाद्यैर्द्वाराग्रस्थं पतत्रिपम् ।
सचक्रं पूजयित्वादौ संविशेद् भगवद्गृहम् ॥ ४५ ॥

आदौ पूजकस्य स्नानादिनियममाह—परिच्युतेति सार्धेन । परिच्युतमलः ब्राह्म-मुहूर्तसमुत्थानभगवद्ध्याननामसंकीर्तनादिभिः परिहृतान्तरमलः, शौचाचमनदन्तधाव-नादिभिः परिहृतबाह्यमलश्चेत्यर्थः । स्नातः—

दिव्याप्यमान्त्रवायव्यभौमतैजसमानसैः ।

एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा कृतशुद्धिर्यथाबलम् ॥

इत्युक्तरीत्याऽनुष्ठितस्नानः । एतेषामनुष्ठानप्रकारास्तु पारमेश्वरादिषु द्रष्टव्याः । यद्यपि जयाख्योक्तं पारमेश्वरे चोपबृंहितमौदकस्नानं ग्राह्यम्, तथापि स्वसूत्रोक्तस्नानाद्यनुष्ठानपारम्पर्ये सति तत्परित्यज्यान्यत्र ग्राह्यमिति निर्णीतं पाञ्चरात्ररक्षायाम् । अत्र स्नात इत्यनेनैव पार्थिवस्नानरूपमूर्ध्वपुण्ड्रधारणमपि संगृहीतम्, सन्ध्यावन्दनादिकमप्युपलक्षितम् । शुद्धवासा इत्यनेन—

गन्धैः स्रग्भिरलङ्कारैः सोत्तरीयैश्चभूषितः ।
कर्णभूषणहाराद्यैः कटकैरङ्गुलीयकैः ॥

इत्याद्यर्थः संगृहीतः । क्षिप्तः । जितेन्द्रिय इत्यनेनाभिगमनं सूचितं भवति । यतः—

जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः ॥
अभिगच्छेज्जगद्योनिं तच्चाभिगमनं स्मृतम् । (ज.सं. २२।६८-६९)

इत्युक्ताभिगमनेन हीन्द्रियजयः सिद्ध्यति । पुष्पदर्भाद्यैरित्यनेनोपादानमुक्तं भवति । आदौ द्वाराग्रस्थं सचक्रं पतत्रिपं पूजयित्वेत्यनेनानयोः सर्वद्वारपालमुख्यत्वं सूच्यते । अत एवेश्वरपारमेश्वरयोश्चण्डादिषु जागरुकेष्वपि—'नियोज्य तत्र रक्षार्थं चक्रं च पतगेश्वरम्' (ई० सं० ६।११६; पार०सं० ७।५२३) इत्युक्तम् । किञ्च, यागगेहद्वारार्चनप्रकरणेऽपि चण्डादीनामप्यर्चनाशक्तौ 'सर्वद्वारेषु वा पूज्यः सहेतीशः पतत्रिपः' (ई० सं० ९।३००; पार० सं० ११।३०३) इत्युक्तम् । अर्चनस्थानं च तत्रैव व्यक्तमुक्तम्— 'ध्यायेद् द्वाराग्रदेशे तु गरुडं काञ्चनप्रभम्' (ई० सं० ९।२२; पार० सं० ११।२१) इति प्रक्रम्य,

प्राणाधिदैवतं चक्रे बलिमण्डलमध्यगे ।
संस्थितं संस्मरेत् सर्वैरङ्गैः पुरुषरूपिणम् ॥ इति ।
—(ई० सं० ९।२५-२६; पार० सं० ११।२५)

बलिमण्डलाभावस्थले गोमयादिना सद्यः कल्पितेनाऽर्चनमुक्तं तत्रैव—

स्थिते वा कल्पिते तत्र पूजयेद् बलिमण्डले ।
सर्वं खगेशपूर्वं तु परिवारं हि साच्युतम् ॥ इति (ई.सं. २।९-१०)

अस्मिन्नवसरे गर्भगेहद्वारपालार्चनमपि कार्यम् । तदत्रैव वक्ष्यति नृसिंहकल्पपरिच्छेदे—

स्नातो बद्धकचो मौनी शुद्धवासोऽर्घ्यपुष्पधृक् ।
कृत्वा द्वास्थार्चनाद्यं तु उपविश्यासने ततः ॥ (१७।१६) इति ।

इदमेवोपबृंहितमीश्वरेऽपि—'वास्तुपूरुषमन्यांश्च समभ्यर्च्य यथाक्रमम्' (२।११) इति । संविशेद् भगवद्गृहमित्यत्र ईश्वरे द्वारविभाग उक्तः—

प्रासादान्तःप्रवेशार्थं ततो द्वारं तु चेतसा ।
त्रिभागीकृत्य तन्मध्यभागमेकं द्विधा पुनः ॥

विभज्य वामदेशेन दक्षिणेनाङ्घ्रिणा ततः ।
शनैः शनैः प्रविश्यान्तः .... ॥ (२।१४-१५) इति ।

अन्ये चात्र तत्र तत्रापेक्षिता बहवो विशेषा एतदुपबृंहणयोरीश्वरपारमेश्वरयोरेव संगृहीता ग्राह्याः ॥ ४४-४५ ॥

शुद्ध वस्त्र धारण करे और इन्द्रियों को वश में कर चित्त को स्थिर रखे । फिर मौन धारण कर पुष्प दर्भादि से द्वार के अग्रभाग में स्थित चक्र सहित गरुड की पूजा कर भगवान् के मन्दिर में प्रवेश करे ॥ ४४-४५ ॥

उपार्जितं पुरा यद्वै यागोपकरणं महत् ।
तत्सर्वं दक्षिणे कृत्वा वामे तु करकं न्यसेत् ॥ ४६ ॥
गालितेनाम्भसा पूर्णं मध्ये भद्रासनं न्यसेत् ।
मृत्काष्ठोपलधातूत्थमेकद्वित्रिशमं तु वा ॥ ४७ ॥
चतुरश्रमथाष्टाश्रं चतुरश्रायुतं तु वा ।
चतुष्पादसमायुक्तं चतुरावरणाङ्कितम् ॥ ४८ ॥
मकरास्यप्रणालं तु प्रमाणेनोपलक्षितम् ।

यागोपकरणानामासादनस्थाननियममाह—उपार्जितमिदमिति सपादेन । गर्भगेह-मध्ये भद्रपीठस्थापनं तल्लक्षणादिकं चाह—मध्य इत्यादिभिः । एकद्वित्रिशमं तु वा चतुरङ्गुलमष्टाङ्गुलं द्वादशाङ्गुलं वेत्यर्थः । 'शमं तु चतुरङ्गुलम्' (३।१।५२) इति वैजयन्ती ॥ ४६-५० ॥

यज्ञ के निमित्त जो-जो यज्ञोपकरण उपार्जित किया गया है, उसे अपनी दाहिनी ओर रखे और बाईं ओर करके बायीं ओर करवा (= करक) रखे ॥ ४६ ॥

वह करक वस्त्र से छने हुये पवित्र जल से पूर्ण होना चाहिये तथा इन दोनों के मध्य में भद्रासन रखे । वह भद्रासन मिट्टी, काष्ठ, पत्थर अथवा धातु से निर्मित एक शम (चार अङ्गुल), दो शम (आठ अङ्गुल), तीन शम (बारह अङ्गुल) ऊँचा होना चाहिये । चार कोणों का या आठ कोणों का चौकोर होना चाहिये । वह भद्रासन, चतुष्पाद तथा चार आवरणों से युक्त होना चाहिये । प्रमाण में वह मकर के मुख के समान उसका प्रणाल (= नाली) होना चाहिये ॥ ४७-४९ ॥

तदधश्चोत्तरस्यां वै चलं वा क्ष्मातलाश्रितम् ॥ ४९ ॥
शङ्खचक्राङ्कितं कुर्याज्जलाधारं सुलक्षणम् ।

उसके बाद उसके उत्तर दिशा में कुछ नीचे जल अथवा पृथ्वी के आश्रित शङ्ख चक्राङ्कित सुलक्षण जलाधार स्थापित करे ॥ ४९-५० ॥

अथोपविश्य वै दार्भे काष्ठजे वाऽजिनासने ॥ ५० ॥
बद्धपद्मासनः कुर्यान्न्यासं मन्त्रवरेण तु ।

अभिन्नं मस्तके तावदादित्यातपवन्न्यसेत् ॥ ५१ ॥
व्यापकत्वेन तदनु विन्यसेद् भिन्नलक्षणम् ।
अङ्गुष्ठद्वितयाद् यावत् कनिष्ठाद्वितयावधिः ॥ ५२ ॥
ज्ञानाद्यं वीर्यपर्यन्तं विन्यसेदङ्गपञ्चकम् ।
मूलवद् व्यापकत्वेन नेत्रमूर्ध्वाङ्गुलीषु च ॥ ५३ ॥
आब्रह्मरन्ध्रात् पादान्तमथ मन्त्रं तु विग्रहे ।
ततस्तु हृदये ज्ञानं यतो व्यज्येत तत्र तत् ॥ ५४ ॥
ऐश्वर्यं शिरसो देशे यस्मादुपरि तिष्ठति ।
प्राकृतं तात्त्विकं वापि सर्वत्र कमलेक्षण ॥ ५५ ॥
हार्दाग्नेरूर्ध्वगायां तु शिखायां शक्तिमन्त्रराट् ।
बलं चाखिलगात्राणां तद्गतं वायुना सह ॥ ५६ ॥
मूर्च्छितं सर्वगात्रैर्यत्तद्वीर्यं हस्तयोर्न्यसेत् ।
अन्तर्बोधस्वरूपं यत् प्राकृतध्वान्तशान्तिकृत् ॥ ५७ ॥
तेजस्तत्तैजसे स्थाने न्यासकाले समस्यते ।

इदानीमेवं भद्रासनन्यासोक्तिश्चलबिम्बादीनां तदुपरि स्थापनार्थं वा बिम्बादिकं विना तत्रैवार्चनार्थं वेति ज्ञेयम् । स्थिरबिम्बानां पीठस्तु प्रतिष्ठाकाल एव स्थाप्यते । स्वासनोपवेशनपूर्वकं मन्त्रन्यासविधिमाह—अथोपविश्येत्यादिभिः । अत्र न्यासात् पूर्वं प्राणायामभूतशुद्धेः, मन्त्रन्यासानन्तरं भूषणादिन्यासस्य चानुक्तावपि नृसिंहकल्पे वक्ष्यमाणरीत्या ग्राह्यम् ॥ ५०-५८ ॥

इसके बाद साधक कुशा के आसन पर अथवा काष्ठ के आसान पर अथवा मृग चर्म के आसन पर पद्मासन से बैठकर श्रेष्ठ मन्त्र से न्यास करे । सर्वप्रथम मस्तक पर आदित्य के आतप के समान अभिन्न न्यास करे । इसके बाद व्यापक से अङ्गुष्ठ द्वितय से आरम्भ कर कनिष्ठ द्वितय पर्यन्त भिन्न लक्षण न्यास करे । फिर ज्ञानादि से लेकर वीर्य पर्यन्त पञ्चाङ्गन्यास करे । मूल युक्त व्यापक से नेत्र एवं ऊपर तथा अङ्गुलियों में न्यास करे । फिर शिर से लेकर पाद पर्यन्त शरीर में मन्त्र न्यास करे । हृदय में ज्ञान से न्यास करे क्योंकि ज्ञान हृदय से ही प्रगट होता है । ऐश्वर्य का न्यास शिर:प्रदेश में करे, क्योंकि वह सबसे ऊपर रहता है ॥ ५०-५५ ॥

हे कमलेक्षण सङ्कर्षण ! प्राकृत तथा तात्त्विक न्यास सर्वत्र करे । हृदय रूप अग्नि के ऊपर जाने वाली शिखा में शक्ति मन्त्रराट् से न्यास करे । वायु के साथ समस्त शरीर में सञ्चार करने वाले बल का न्यास समस्त शरीर में करे जो समस्त शरीर में फैल हुआ है । उस वीर्य का न्यास दोनों हाथों में करे जो अन्त:करण में ज्ञान स्वरूप से बोध कराता है तथा प्राकृत न्यास अन्धकार को (विनष्ट) करने वाला है अत: वह तेज न्यास काल में तैजस स्थान (नेत्र) में स्थापित करे ॥ ५५-५८ ॥

चतुश्चक्रे नवद्वारे देहे देवगृहे पुरा ॥ ५८ ॥
न्यस्यैवमभिमानं तु मन्त्राख्यमवलम्ब्य च ।

एवमाधारनाभिहृत्कण्ठचतुश्चक्रविशिष्टे नवद्वारान्विते स्वशरीरे भगवन्मन्दिरत्व-बुद्ध्या पूर्वं मन्त्रान् विन्यस्य 'नादेवो देवमर्चयेत्' इति न्यायेन स्वस्मिन् देवत्वाभिमाना-वलम्बनं च कुर्यादित्याह—चतुश्चक्र इति । मन्त्राख्यमभिमानं स्वस्मिन् मन्त्रनाथत्वा-हङ्कारमित्यर्थः। वक्ष्यति च—'देवोऽहमिति भावयेत्' (१७।३६) इति । जयाख्येऽपि व्यक्तमुक्तम्—

अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणोहरिः ।
वासुदेवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः ॥
एवंरूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने । (११।४१-४२) इति ॥ ५९ ॥

इस प्रकार आधार, नाभि, हृदय और कण्ठ रूप चार चक्रों वाले नवद्वारों वाले अपने शरीर को ही मन्दिर समझकर पूर्व मन्त्रों के द्वारा न्यास कर 'नादेवो देवमर्चयेत्' इस न्यास से अपने शरीर में देवत्वावलम्बन करे ॥ ५८-५९ ॥

मनस्युपरतं कुर्यादक्षग्रामं बहिःस्थितम् ॥ ५९ ॥
चित्तं बुद्धौ विनिक्षिप्य तां बुद्धिं ज्ञानगोचरे ।
ज्ञानभावनया कर्म कुर्याद् वै पारमार्थिकम् ॥ ६० ॥

अथ मानसिकयागमुपदिशन् निरन्तरायभगवज्ज्ञानभावनासिद्ध्यर्थं बाह्येन्द्रिया-दीनामन्तर्नियमनमाह—मनसीति सार्धेन । एवं ज्ञानभावनया क्रियमाणस्य कर्मणः शुद्धसत्त्वमयत्वं बाह्यस्य त्रिगुणमयत्वात् शुद्ध्यपेक्षत्वं चोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

मानसीर्निर्वपेत् सर्वाः क्रिया ज्ञानसमाधिना ॥
ज्ञानेन क्रियते यद्यत् कर्म ब्रह्मसमाधिना ।
शुद्धसत्त्वमयं तत्तदक्षय्यं भवति ध्रुवम् ॥
बाह्या द्रव्याश्रिता यस्माद् दोषाराजसतामसाः ।
ततस्तच्छोधनमपि कर्मणा मनसा गिरा ॥
तस्मादेकान्तनिर्दोषं भावनावासितं तथा ।
तस्माज्ज्ञानं समास्थाय शुद्धं संवित्समुद्भवम् ॥
ज्ञानभावनया कर्म कुर्याद्वै पारमार्थिकम् ।(३४।१३७-१४१)

इति ॥ ५९-६० ॥

अब मानसिक याग का उपदेश करते हुये 'निरन्तराय भगवद् भावना सिद्ध्यर्थं बाह्येन्द्रियादि' के नियमन का प्रकार कहते हैं—समस्त बाह्येन्द्रियों को मन में उपरत करे और चित्त को बुद्धि में तथा उस बुद्धि को ज्ञान में स्थापित करे । फिर ज्ञान भावना से तथा ब्रह्मसमाधि से भगवान् के मन्त्रमय स्वरूप का स्वशरीर में ध्यान करे ॥ ५९-६० ॥

चतुश्चक्रे नवद्वारे देहे देवगृहे पुरा।
कण्ठकूपधरारूढं हृत्पद्मं यदधोमुखम्॥ ६१ ॥
तत्कर्णिकावनेर्मध्ये रूढमूर्ध्वमुखं तु यत्।
शब्दव्यक्तिस्तदूर्ध्वे तु स्थितार्केन्द्वग्निलक्षणा ॥ ६२ ॥

स्वहृदये भगवदभिव्यक्तिस्थाननिरूपणार्थं प्रथमतः शब्दब्रह्मावस्थानमाह—चतुश्चक्र इति द्वाभ्याम् । कण्ठकूपधरारूढं = गलकूपस्थलसमुत्पन्नमधोमुखं यद् हृत्पद्मं तत् कर्णिकावनेर्मध्ये रूढं समुत्पन्नं यद् हृत्पद्ममित्यनुषज्यते । तदूर्ध्वे तत्कमलद्वयसम्पुटमध्ये अधः = कमलोपरीत्यर्थः । अर्केन्द्वग्निलक्षणा = ज्योतिः स्वरूपा शब्दव्यक्तिः = शब्दब्रह्म स्थिता वर्तत इत्यर्थः ॥ ६१–६२ ॥

इस प्रकार आधार, नाभि, हृदय एवं कण्ठ में होने वाले चार चक्रों वाले, नवद्वारों वाले, देवगृहात्मक स्वशरीर के कण्ठ कूपधरा में उत्पन्न अधोमुख हृत्पद्म स्थित है। उसकी कर्णिका में उत्पन्न ऊर्ध्वमुख दो कमलों के सम्पुट के मध्य में स्थित अधः कमल के ऊपर सूर्यचन्द्राग्नि लक्षण ज्योतिः स्वरूप शब्दब्रह्म विराजित है ॥६१-६२॥

त्रिदीप्तिभास्वरा नाडी त्वव्यक्तध्वनिविग्रहा ।
व्यक्तं चक्रत्रयस्योर्ध्वे वर्तते या महामते ॥ ६३ ॥
निस्सृता ब्रह्मरन्ध्रेण गता सूर्यपथात् परम् ।
वायुद्वारेण पातालं भित्वा याता सुगोचरम्॥ ६४ ॥
सङ्कल्पविषयः सर्वः सम्बन्धः प्रतितिष्ठति ।
सूत्रे मणिगणो यद्वन्मध्यनाडी ह्यतः स्मृता ॥ ६५ ॥
लक्ष्यस्थाने तु पूर्वोक्ते तस्यामभ्यन्तरे तु वै ।
सम्पुटे शशिसूर्याख्ये निमेषोन्मेषलक्षणे ॥ ६६ ॥
तत्रार्कं चाब्जमालम्ब्य परा वाग्भ्रमरी स्थिता ।
या सर्वमन्त्रजननी शक्तिः शान्तात्मनो विभोः ॥ ६७ ॥
नदन्ती वर्णजं नादं शब्दब्रह्मेति यत् स्मृतम् ।
अकारपूर्वो हान्तश्च धारासन्तानरूपधृक्॥ ६८ ॥

एवं संग्रहेण शब्दब्रह्मावस्थानमुक्त्वा पुनः सुषुम्नानाडीस्वरूपकथनपूर्वकं तदेव विशदयति—त्रिदी(प्ती)ति षड्भिः । अस्या त्रिदीप्तिभास्वरत्वं तेजस्त्रयात्मकशब्दब्रह्माधारत्वात् । अव्यक्तध्वनिविग्रहा अव्यक्तध्वनिः शब्दब्रह्म—

शब्दब्रह्मस्वरूपेण स्वशक्त्या स्वयमेव हि ।
मुक्तयेऽखिलजीवानामुदेति परमेश्वरात् ॥
तदव्यक्ताक्षरं विद्धि तन्त्रीशब्दो यथा कलः । (२०।७–८)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः, स विग्रहो यस्या तथोक्ता । चक्रत्रयस्योर्ध्व आधारनाभि-

क(ण्ठ)चक्रत्रयोपरि प्रकाशमाना ब्रह्मरन्ध्रेण निःसृता सूर्यपथात् परं गता वायुद्वारेण पातालं भित्वा स्वगोचरं याता, आमूलाग्रं यावदन्तं व्याप्तेत्यर्थः । अत एव भगवत्सं-कल्पविषयः सर्वोऽपि सूत्रे मणिगण इव सुषुम्नानाडीसम्बन्धः प्रतितिष्ठति, अतो मध्य-नाडीति स्मृता प्रसिद्धा । तस्यामभ्यन्तरे पूर्वोक्ते लक्ष्यस्थाने, हृदयकमलस्थान इत्यर्थः। निमेषोन्मेषलक्षणे निमीलनोन्मीलनविशिष्टे शशिसूर्याख्ये, निमीलितोर्ध्वकमलस्य शशि-संज्ञत्वम्, उन्मीलिताधःकमलस्य सूर्याख्यत्वम् । तत्र सम्पुटे कमलद्वयसम्पुटे, आर्कम् अर्कसम्बन्धि, अब्जम् अधः कमलमित्यर्थः । आलम्ब्य आश्रित्य, परा सूक्ष्मा, वाग्भ्रमरी वागेव भ्रमरी स्थिता । तां विशिनष्टि—या वाग्भ्रमरी सर्वमन्त्रजननी शान्तात्मनः सूक्ष्मस्य परस्येति यावत्, विभोः शक्तिरित्यनेन इयमपि तथा सूक्ष्मेत्यर्थः । अकारपूर्वो हान्तः अकारादिहकारान्तः, धारासन्तानरूपधृक् तैलधारावदविच्छिन्नः शब्दब्रह्मेति यत् यो नादः, तं वर्णजं नादं नदन्तीति । एवमेव नादस्वरूपमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

पृथग्वर्णात्मना याति स्थितयेऽनेकधा स तु ॥
सूक्ष्मवर्णस्वरूपोऽसौ धारासन्तानरूपधृक् ।
पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य मन्त्रिष्ठस्य विवेकिनः ॥
सोऽनुभूतिपदं याति प्रसादात् परमात्मनः । (२०।८-१०) इति ।

एतादृशं नादं नदन्त्या वाक्शक्तेः स्वरूपमपि तत्रैवोक्तम्—

प्रकाशानन्दसाराहं सर्वमन्त्रप्रसूः परा ।
शब्दानां जननी शक्तिरुदयास्तमयोज्झिता ॥
व्यापकं यत् परं ब्रह्म नारायणसमाह्वयम् ।
शान्तता नाम याऽवस्था साहं शान्ताखिलप्रसूः ॥ (१८।१८-१९)

इति ॥ ६३—६८ ॥

हे महामते ! यही आधार, नाभि और हृदय पर स्थित तीन चक्रों पर तीन ज्योतियों से भासित अव्यक्त ध्वनि की विग्रह वाली सुषुम्ना नाडी विद्यमान है, जो ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर सूर्यपथ से बाहर निकल कर वायु द्वार से पाताल भेदन कर मूल से लेकर समस्त शरीर में व्याप्त है जिसमें भगवत् संकल्पित समस्त बाह्य विषय सूत्र में मणिगण के समान सम्बद्ध होकर स्थित हैं । इसलिये उसे मध्यनाडी भी कहा जाता है । उसके भीतर पूर्वोक्त हृदय कमल स्थान में निमेषोन्मेष लक्षण वाले निमलिनोन्मीलन विशिष्ट लक्षण वाले चन्द्र और सूर्य नाम वाले दो कमल स्थित हैं । वहाँ उस कमल द्वय सम्पुट में सूर्य सम्बन्धि अधः कमल को आश्रय लेकर सूक्ष्मा वागभ्रमरी स्थित है । वह परा वाग् भ्रमरी सर्वमन्त्रमयी है और पर सूक्ष्म उस शान्तात्मा विभु की शक्ति है जो उसी प्रकार सूक्ष्म भी है ।

यह परा वाग्भ्रमरी तैलधारावद् अविच्छिन्न रूप से निरन्तर ऊकार से हकार वर्ण पर्यन्त शब्दब्रह्म नामक नाद करती हुई वहीं शोभित रहती है ।

विमर्श—नाद, बिन्दु, मध्यमा और बैखरी इन चार अवस्था वाले शब्दब्रह्म की यह वाग्भ्रमरी प्रथमावस्था है यह बात आगे चल कर कहेंगे ॥ ६३-६८ ॥

नादावसानगगने देवोऽनन्तसमन्वितः ।
शान्तः संवित्स्वरूपस्तु भक्तानुग्रहकाम्यया ॥ ६९ ॥
अनौपम्येन वपुषा ह्यमूर्तो मूर्ततां गतः ।
विश्वमाप्याययन् कान्त्या पूर्णेन्द्वयुततुल्यया ॥ ७० ॥
वरदाभयदेनैव शङ्खचक्राङ्कितेन तु ।
त्रैलोक्योद्धृतिदक्षेण युक्तः पाणिद्वयेन तु ॥ ७१ ॥
रश्मिभिर्भास्करो यद्वत् समुद्र इव चोर्मिभिः ।
स्वमूर्तिभिरमूर्तीभिरच्युताद्याभिरन्वितः ॥ ७२ ॥
दीप्तिमद्भिरमूर्तैस्तु सुधाकल्लोलसङ्कुलैः ।
पूर्ण आभरणैः सर्वैर्निर्विकाराङ्घ्रिविग्रहः ॥ ७३ ॥

एवं हृदयकमले शब्दब्रह्मावस्थानमुक्त्वा तदन्ते द्योतमानपरब्रह्मस्वरूपमाह—नादावसानेति पञ्चभिः । नादावसानगगने नादो नाम नादबिन्दुमध्यमावैखर्याख्ये शब्द-ब्रह्मणोऽवस्थाचतुष्टये प्रथमावस्था पूर्वोक्तलक्षणा, तदवसानं तत्पराकाष्ठा, तत्र यद् गगनं गगनात्मिका शक्तिः, तत्रेत्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

नादस्य या परा काष्ठा साऽहन्ता परमेश्वरी ॥
शक्तिः सा परमा सूक्ष्मा नादान्तगगनाह्वया ।
शब्दब्रह्ममयी सूक्ष्मा साहं सर्वावगाहिनी ॥
विरामे सति नादस्य यः स्फुटीभवति ध्रुवम् ।
ज्योतिस्तत्परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणात्मकम् ॥ (२४।९–११) इति

शङ्खचक्राङ्कितेनेत्यत्र पाणिद्वये केवलरेखारूपशङ्खचक्राङ्कितत्वं ज्ञेयम् । यतोऽन्यथा पाणिद्वयमात्रस्य वरदाभयमुद्रान्वितत्वमपि न संभवति, तथा चोपबृंहितं लक्ष्मी-तन्त्रे—

व्यापको भगवान् देवो भक्तानुग्रहकाम्यया ॥
अनौपम्यमनिर्देश्यं वपुः स भजते परम् ।
विश्वाप्यायनकं कान्त्या पूर्णेन्द्वयुततुल्यया ॥
वरदाभयहस्तं च द्विभुजं पद्मलोचनम् ।
रेखामयेन चक्रेण शङ्खेन च करद्वये ॥
अङ्कितं निर्विकाराङ्घ्रिस्थितं परमशोभनम् ।
अन्यूनानतिरिक्तैः स्वैर्गुणैःषड्भिरलङ्कृतम् ॥
समं समविभक्ताङ्गं सर्वावयवसुन्दरम् ।
पूर्णमाभरणैः शुभ्रैः सुधाकल्लोलसंकुलैः ॥
रश्मिभूतैरमूर्तैः स्वैरच्युताद्यैरविच्युतम् ।
एका मूर्तिरियं दिव्या पराख्या वैष्णवी परा ॥
योगसिद्धा भजन्त्येनां हृदि तुर्यपदाश्रिताम् ।
—(१०।११-१७) इति ।

स्वमूर्तिभिरच्युता(द्या)भिरन्वित इत्यत्राच्युताद्या मूर्तयस्तिस्त्र इति ज्ञेयम् । तदुक्तं पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

तथा च सर्वजगतामेकबीजात्मकस्य च ॥
सदोदितस्वरूपस्य वासुदेवस्य वै विभोः ।
त्रयाणामच्युतादीनां तद्भेदानां तथैव च ॥(१५।२२-२३) इति

एवं च सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानामेवाच्युतसत्यपुरुषापरनामधेयत्वं बोध्यम् । ननु—

पुरुषं च ततः सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर ॥
अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः ।
अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः ।
वासुदेवं च राजेन्द्र सङ्कर्षणमथापि च ।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च चतुर्मूर्तिं प्रचक्षते ॥
—(महाभा० आश्व० ९२ अ० । पृ० ६३४२)

इति वासुदेवादीनां पुरुषादिशब्दवाच्यत्वं दृश्यते, भवता व्युत्क्रमेणानिरुद्धादीनां पुरुषादिशब्दवाच्यत्वं कथं व्याख्यातमिति चेत्, सत्यम् । अत्र वैखानसानां तथा व्यवहार इत्युक्त्या नास्मद्व्याख्याविरोधः । अपि त्वनिरुद्धादीनां पुरुषादिशब्दवाच्यत्वमत्रैव वक्ष्यति पञ्चमे परिच्छेदे मन्त्रोद्धारप्रकरणे 'अप्ययावसरे' (५।६८) इत्यादिभिः । एवमत्र परात्परदशायामच्युतादिसमन्वितत्वेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यं बोध्यम्, तत्रैकमूर्ति-प्राधान्यात् ।

ननु तर्हि शान्तोदितापरनामधेयतुर्यव्यूहचतुर्मूर्तिप्राधान्यं किमिति चेन्न, 'अभेदे-नादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्' (५।८१) इति वक्ष्यमाणानुसारेण परसंज्ञस्य तद्-व्यूहस्य परात्परवासुदेवाद्यभिन्नत्वात् । अत एव सुषुप्त्यादिव्यूहवत् प्रत्येकं तद्व्यूह-वाचकमन्त्राणामनुक्तत्वात् परात्परमन्त्रेणैव तस्यापि चारितार्थ्याच्च परात्परत्वद-शायामिव परत्वेऽपि वासुदेवस्यैकस्यैव प्राधान्यं ज्ञेयम् । तर्हि एवमभिन्नत्वे पुनः केन तयोर्भेद इति चेत्, नित्योदितत्वेन चेति बोध्यम् । नित्योदितत्वं नाम स्वविभूत्यनुभव-दशाविशिष्टत्वम् । शान्तोदितत्वं नाम स्वात्ममात्रानुभवदशाविशिष्टत्वम् ।

ननु चैवं शान्तोदितव्यूहेऽप्येकमूर्तिप्राधान्ये व्यूहशब्दस्य स्वारस्यं न संभवतीति चेदुच्यते—किं व्यूहशब्दमात्रेण चतुर्णां प्राधान्यमङ्गीकार्यम्? तथा सति परात्परत्वदशा-यामपि व्यूहशब्दो जागर्त्येव । तथाहि ईश्वरे (८।५२) पारमेश्वरे (८।५१) च गरुडा-र्चनप्रकरणे—'नित्योदितस्य व्यूहस्य तथा शान्तोदितस्य च' इति, सिद्धान्तलक्षण-निरूपणप्रकरणेऽपि—'यत्र शान्ततरं व्यूहं शान्तोदितमनन्तरम्' (ई० सं० २०।१९८; पार० सं० १९।५३३) इति । पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

परात्परस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः ।
शान्तोदितादिव्यूहानां केशवाद्यखिलस्य च ॥ (१५।२१) इति,
तथा च सर्वजगतामेकबीजात्मकस्य च ॥

सदोदितस्वरूपस्य वासुदेवस्य वै विभोः ।
त्रयाणामच्युतादीनां तद्भेदानां तथैव च ॥
शान्तोदितस्वरूपस्य परस्य चतुरात्मनः । (१५।२२–२४)

इत्येवं सर्वत्र परात्परत्वसंज्ञायां नित्योदितत्वदशायां परत्वसंज्ञायां शान्तोदितत्व-दशायां च वासुदेवादिचातुरात्म्यसद्भावाद् व्यूहशब्दचातुरात्म्यशब्दौ स्वरसावेव । किन्तु परत्वदशाद्वयेऽपि वासुदेवस्यैव प्राधान्यम्, एक एव मन्त्रः, तदर्चनेनैवोपसर्जनभूताना-मन्येषामप्यर्चनसिद्धिरित्यादिकं बोध्यम् ॥ ६९–७३ ॥

इस प्रकार हृदयकमल में शब्दब्रह्म के स्थान का निरूपण कर उसके अन्त में परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हैं—शब्दब्रह्म की अन्तिम अवस्था में अनन्त समन्वित संवित्स्वरूप शान्तदेव, भक्तो पर अनुग्रह करने की इच्छा से अमूर्त्त होकर भी अत्यन्त मनोहर शरीर धारण कर मूर्त्त रूप में प्रगट हो जाते हैं और अयुत चन्द्रमा के समान अपनी उस मनोहर कान्ति से विश्व का आप्यायन करते हैं ॥ ६९–७० ॥

वे भगवान् शङ्खचक्र के चिह्नों वाले वर और अभयमुद्रा धारण किये हुये, त्रैलोक्य का उद्धार करने में समर्थ अपने दो हाथों से संयुक्त हैं, जिस प्रकार भगवान् सूर्य अपनी अनन्त किरणों से तथा जिस प्रकार समुद्र अपनी अनन्त ऊर्मियों (=लहरों) से संयुक्त हैं उसी प्रकार भगवान् अमूर्ति होकर अपने अच्युतादि अनन्त मूर्तियों से समन्वित हैं ॥ ७१–७२ ॥

अर्थात् परात्पर दशा में अच्युतादि मूर्तियों से समन्वित होकर भी वासुदेव रूप से प्रधान बने रहते हैं । वे सम्पूर्ण आभरणों से पूर्ण हैं किन्तु उनके पादादि विग्रह में कोई विकार नहीं होता ॥ ७३ ॥

ततः खाब्जकमध्यात्तु ह्यूर्ध्वस्थात् संस्मरेच्च्युताम् ।
गङ्गां भगवतो मूर्ध्नि तेनामृतजलेन तु ॥ ७४ ॥
अर्घ्याद्यखिलभोगानां कार्या वै शुभकल्पना ।

अर्घ्यादिपरिकल्पनार्थं गङ्गावतरणभावनाप्रकारमाह—तत इति सार्धेन । ऊर्ध्व-स्थादित्यब्जविशेषणम्, हृदयकमलद्वयसम्पुटे ऊर्ध्वकमलादित्यर्थः । ऊर्ध्वस्थितामिति पाठे गङ्गाविशेषणं सुस्पष्टम् । इममर्थं विस्तरेण वक्ष्यति नृसिंहकल्पपरिच्छेदे आप्या-यनप्रकरणे । अत्रापेक्षितं पीठकल्पनं नृसिंहकल्पे वक्ष्यति—

अथ प्रणवपूर्वेण स्वनाम्ना नतिना सह ॥
शेषपूर्वं तु वह्न्यन्तमासनं परिकल्पयेत् ।
तथाक्रम्याथ तस्यैव कार्या स्वहृदि कल्पना ॥ (१७।३६–३७)

इति ॥ ७४–७५ ॥

अब निर्विकार भगवान् की मानसी पूजा के लिये उपयुक्त अर्घ्यादि की भावना-

वश गङ्गावतरण कहते हैं—तदनन्तर भावनावश हृदयकमल रूप दो सम्पुटों में ऊपर रहने वाले कमल से गिरती हुई भगवती गङ्गा के जल से भगवान् के शिर पर अर्घ्य प्रदान करे। इसी प्रकार अर्घ्यादि की तरह समस्त भोगों की कल्पना कर भगवदाराधन करे॥ ७४-७५ ॥

तैः क्रमात् प्रीणयेद् देवमाद्यं तुर्यपदे स्थितम्॥ ७५ ॥
प्रणवद्वितयं चोक्त्वा प्रीयतां मे परः प्रभुः।

अर्घ्यादिभिर्भगवत्प्रीणनं प्रति मन्त्रं चाह—तैरिति। आद्यं परव्यूहविभवाख्य-रूपत्रये प्रथमं तुर्यपदे स्थितं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याख्यपदचतुष्टये परिशुद्धये तुर्यपदारूढमित्यर्थः। जाग्रदादिपदार्थविवरणं तु लक्ष्मीतन्त्रे सुस्पष्टमुक्तम्—

जाग्रत्स्वप्नं सुषुप्तिश्च तुर्यं चेति चतुष्टयम्॥
ज्ञेयं पदाध्वनो रूपं जाग्रद्बाह्येन्द्रियक्रमः।
बाह्येन्द्रियाणां तमसाऽभिभूते विभवे सति॥
अन्तःकरणवृत्तिर्या संस्कारपरिशेषिणी।
सा स्वप्न इति विज्ञेया तदभावे सुषुप्तिका॥
तमसाऽनभिभूतस्य सत्त्वस्थस्य विपश्चितः।
बाह्यान्तःकरणस्थाया वृत्तेरुपरमे सति॥
शुद्धसत्त्वस्वभावस्य सन्ततिस्तुर्यसंज्ञिता।
एवं चतुर्विधे मार्गे निर्दिष्टेऽस्मिन् पदाभिधे॥
तुर्यवर्जं सुषुप्त्यादिरशुद्धां भजते गतिम्। (२२।२२-२७) इति।

अत्र ॐ ॐ प्रीयतां मे परः प्रभुरिति परस्य भगवतोऽर्चनप्रकरणात् परशब्द-घटितोऽयं मन्त्रः। व्यूहाद्यर्चनप्रकरणे तु परशब्दस्थाने व्यूहादिशब्दो योज्यः। अथवा सर्वसाधारण्येन नारायणवासुदेवविष्णुशब्देष्वन्यतमो योज्यः। तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—'ॐ ॐ प्रीयतां भगवान् वासुदेव इति ब्रुवन्' (३६।११०) इति। अत्रैवं प्रीति-मन्त्रमात्रमुक्तम्। संकल्पभोगदानमन्त्रावप्यपेक्षितावन्यतो ग्राह्यौ, प्रतिभोगसमर्पणमेत-न्मन्त्रत्रयस्याप्यावश्यकत्वात्। तथोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

संकल्पश्च प्रदानं च प्रीतिश्चेति त्रयं त्रयम्॥
कुर्यात् सर्वेषु भोगेषु देशकालाद्यपेक्षया। (३६।१०७-१०८) इति

अत एव सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे (७।१४७—१४९) सुदर्शनार्चनप्रकरणे जयाख्योक्तो भोगदानमन्त्रः संगृहीतः। संकल्पमन्त्रस्तु लक्ष्मीतन्त्रे उक्तः—

समाहितोऽञ्जलिं कृत्वा तत ॐ भगवन्निति॥
आसनेनार्चयिष्यामीत्युक्त्वा दद्यादथासनम्। (३६।१०८-१०९)

इति॥७५—७६॥

इस प्रकार चतुर्थपद पर स्थित आद्य देव भगवान् वासुदेव को मानस पूजा से प्रसन्न करे। फिर ॐ ॐ दो बार उच्चारण कर 'प्रीयतां मे परः प्रभुः' ऐसा कहे॥ ७५-७६॥

अथ कर्मात्मतत्त्वे तु कृतकृत्ये सति प्रभुः।
आस्ते विलाप्य स्वं रूपं नित्यं व्यक्तीकृतं च यत्॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां तुरीयव्यूहसमाराधनं नाम
द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

— ❧✻☙ —

एवं मानसाराधने सम्पन्ने सत्यव्यक्तस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य 'अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्' (५।८१) इति वक्ष्यमाणरीत्या भगवानेव भक्तानुग्रहकाम्यया व्यक्तीकृतं निजस्वरूपमुसंहरतीत्याह—अथेति। एवमेव वक्ष्यत्युत्तरत्रापि—'विसर्जनं तु बोद्धव्यं सम्पन्ने तु क्रिया क्रमे' (१७।४०) इति ॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

— ❧✻☙ —

तदनन्तर समस्त अर्चना कर्म समाप्त होने पर अपने समस्त व्यक्तिरूप को अपने में समेट कर स्थित हो जाते हैं।

विमर्श—जैसे यहाँ तुर्य रूप के अर्चन समाप्ति पर 'ॐ ॐ प्रीयतां परप्रभुः' ऐसा उच्चारण किया गया है, उसी प्रकार व्यूहरूप की समाप्ति में भी 'प्रीयतां व्यूहरूप परप्रभुः' स्वरूप मन्त्र की कल्पना कर लेनी चाहिए ॥ ७६ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के तुरीयव्यूहसमाराधन
नामक द्वितीय परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ २ ॥

— ❧✻☙ —

तृतीयः परिच्छेदः

सुषुप्तिव्यूहसमाराधनम्

नारद उवाच

पुनराह जगन्नाथः प्रसङ्गेन मुनीश्वराः ।
परमाराधनं प्राग्वत् परस्य चतुरात्मनः ॥ १ ॥

अथ तृतीयो व्याख्यास्यते ।

त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके ।
सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ (१०।४२)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तरीत्या अव्यक्तस्य गुणमात्रलक्ष्यस्य 'अभेदेनात्ममूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्' (५।८१) इति वक्ष्यमाणरीत्या पराभिन्नस्य तुर्यव्यूहस्य 'स्वमूर्तिभिरमूर्ताभिरच्युताद्याभिरन्वितः' (२।७२) इति पूर्वमेव तुर्यपदाश्रितेन परेण भगवता सहैवोक्तत्वात् तत्प्रसङ्गेन पुनः सुषुप्तिपदाश्रितस्य व्यूहस्यार्चनां भगवान् सङ्कर्षणायोपदिशतीत्याह—पुनरिति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे मुनीश्वरो ! पुनः भगवान् जगन्नाथ ने प्रसङ्गवश पूर्ववत् पर चतुरात्मा का आराधन कहा ॥ १ ॥

विमर्श—इस परिच्छेद में सुषुप्तिपदाश्रित व्यूहात्मक भगवान् के स्वरूप की विवेचना की गई है तथा उनके समाराधन का प्रकार भी प्रदर्शित किया गया है ।

श्रीभगवानुवाच

हवर्णकर्णिकायां तु सुषुप्त्याख्यपदे त्वधः ।
चतुर्धा प्रभवाख्येन क्रमेण तमजं यजेत् ॥ २ ॥
ज्ञानविद्याचतुष्केण यथा तदवधारय ।
वेदकत्वेन भगवान् ब्रह्मसंवलिताकृतिः ॥ ३ ॥
स्तम्बवत् कर्णिकामध्ये स्थित्वा वेद्यत्वमेति च ।
स्वयमेवोपकाराय कर्मिणां ब्रह्मयाजिनाम् ॥ ४ ॥

सुषुप्तिव्यूहस्यार्चनक्रमं शृणुष्वेत्याह—हवर्णेति सार्धेन । हवर्णकर्णिकायां

हृदयकमलस्याकारादिवर्णमयत्वात् तत्कर्णिकाया हकारात्मकत्वं बोध्यम् । तथा च वक्ष्यति पञ्चमे परिच्छेदे—

अनन्तसरसि क्षार्णे विश्रान्तं यन्महामते ।
अकाराक्षरमूलं तु नित्यं सर्वाश्रयाम्बुजम् ॥
आकाराक्षरनालं तु शेषसर्वार्णपल्लवम् । (५।२-३) इति ।

एतादृशकर्णिकात्मके । अधः पूर्वोक्तगगनात्मकतुर्यपदस्याधः स्थित इत्यर्थः। सुषुप्त्याख्यपदे चतुर्धा वासुदेवादिभेदैः प्रभवाख्येन क्रमेण सृष्टिक्रमेणेत्यर्थः । वासुदेवाद्यनिरुद्धान्तमिति यावत् । तमजं पूर्वोक्तं परं भगवन्तं ज्ञानविद्याचतुष्केण = वक्ष्यमाणमन्त्रचतुष्केण यथा यजेत् तद्विधिमवधारय । अत्र परस्यैव भगवतस्तुर्यादि-स्थानेषु वासुदेवादिभेदैर्बहुत्वाश्रयणात् तमजं यजेदित्यभेदोक्तिः । वक्ष्यति हि—

यथाम्बरस्थः सविता एके एव महामते ।
जलाश्रयाणि चाश्रित्य बहुत्वं सम्प्रदर्शयेत् ॥
एवमेकोऽपि भगवान् नानामन्त्राश्रयेषु च ।
तुर्यादिपदसंस्थेषु बहुत्वमुपयाति च ॥

(४।३३-३४) इति ॥ २-३ ॥

वेद्यवेदकनिर्मुक्तमच्युतं ब्रह्म यत्परम् ।
अनस्तमितभारूपं सर्वाभिन्नमहंपदम् ॥ (लक्ष्मी० २०।४)

इत्युक्तस्य कर्मिणामनवगाह्यतया तेषामुपकाराय भगवान् स्वयमेव पूर्वोक्त-हृत्कमलकर्णिकामध्ये स्थित्वा शब्दब्रह्मरूपेण वेदकत्वं पररूपेण वेद्यत्वं च यातीत्याह—वेदकत्वेनेति सार्धेन ॥ ३-४ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे सङ्कर्षण ! ह वर्ण (हृदयकमल) की कर्णिका में प्रसुप्ति नामक पद के नीचे जो चतुरात्मा में प्रविभक्त अज है, अब आप उसकी प्रभव (सृष्टि) क्रम से आराधना सुनिये ॥ २ ॥

जिस प्रकार उस अज की ज्ञान विद्या (वक्ष्यमाण चार मन्त्र) इन चारों से आराधना की जाती है, उसे सुनिये । वह ब्रह्म स्वयं ही अपने अज्ञानी भक्तों के उपकार के लिये शब्द ब्रह्मरूप से वेदकत्व तथा कर्णिका मध्य में साम्बवत् पर रूपेण स्थित होकर वेद्यत्व के रूप में हो जाता है ॥ ३-४ ॥

प्राग्भागादुत्तरं यावद् गुणभेदेन लाङ्गलिन् ।
विभजत्यात्मनात्मानं वासुदेवः परः प्रभुः ॥ ५ ॥

पुनः स एवं तत्र प्रागादिषु चतुर्दिक्षु गुणभेदेन चतुर्धा भवतीत्याह—प्राग्भागादिति ॥ ५ ॥

अनुज्झितस्वरूपस्तु प्राग्भागे षड्गुणात्मना ।
बलसंवलितेनैव ज्ञानेनास्तेऽथ दक्षिणे ॥ ६ ॥

ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भागेऽवतिष्ठते ।
तेजःशक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः ॥ ७ ॥

तेषां गुणभेदविवरणमाह—अनुज्झितेति द्वाभ्याम् ॥ ६-७ ॥

हे सङ्कर्षण ! वह वासुदेव परं प्रभु परमात्मा पूर्व दिशा से लेकर उत्तर दिशा पर्यन्त गुणभेद से स्वयं अपने आप को विभक्त कर देते हैं, वह पूर्व भाग में अपने स्वरूप को न छोड़कर षाड्गुण्य स्वरूप से स्थित रहते हैं । दक्षिण दिशा में बल और ज्ञान से संयुक्त होकर स्थित रहते हैं । ऐश्वर्य और वीर्य से समन्वित होकर पश्चिम दिशा में स्थित रहते हैं । इसी प्रकार वह परमात्मा तेज और शक्ति से समन्वित होकर उत्तर दिशा में स्थित हो जाते हैं ॥ ५-७ ॥

यद्यप्यरूपो भगवान् व्यूहात्मा गुणलक्षणः ।
अत्रापि पूर्वमेवोक्तं रूपमस्योपचर्यते ॥ ८ ॥
किन्तु द्वितीयमूर्तेर्वै शुभपाणितलद्वये ।
स्फुटो रेखामयः शङ्खः सुव्यक्तं लाङ्गलं महत् ॥ ९ ॥
रम्येषुणा तृतीयस्य दक्षिणश्चिह्नितः करः ।
तुर्यस्यासिवरेणैव शङ्खाभ्यां च करद्वये ॥ १० ॥

अस्य सुषुप्तिव्यूहस्य पूर्वोक्ततुर्यव्यूहपदरूपत्वाद् गुणमात्रलक्ष्यत्वमेव, तथापि गुणभेदवच्चक्रादिलाञ्छनभेदसत्त्वात् परोक्तं रूपमत्राप्युपचर्यत इत्याह—यद्यपीति त्रिभिः ॥ ८-१० ॥

यद्यपि व्यूहात्मा वासुदेव भगवान् उसी प्रकार गुण लक्षण युक्त एवं अव्यक्त स्वरूप हैं फिर भी द्वितीय परिच्छेदोक्त पर भगवान् का एक मूर्त्यादि स्वरूप यहाँ भी उपचार से जान लेना चाहिए । द्वितीय मूर्ति सङ्कर्षण के दोनों शुभ पाणितल में एक में रेखामय शङ्ख तथा दूसरे में स्पष्ट रूप से लाङ्गल (हल) विद्यमान है। तृतीय प्रद्युम्न के दक्षिण हाथ में सुरम्य बाण का चिह्न तथा चतुर्थ अनिरुद्ध के दाहिने हाथ में तलवार का चिह्न है । इन दोनों के बायें हाथ में शङ्ख विद्यमान है ॥ ८-१० ॥

अवाङ्मुखः करवशादूर्ध्ववक्त्रः स्वभावतः ।

किन्तु पररूपवद् वरदाभयमुद्रान्वितत्वं विना केवलमवाङ्मुखकरत्वमूर्ध्ववक्त्रत्वं च चतुर्णामपि विशेषमाह—अवाङ्मुख इति ॥ ११ ॥

एतावता लक्षणेन व्यक्तीभावं गतेन च ॥ ११ ॥
भावस्थितिं निबध्नाति व्यूहेऽस्मिन् साधकस्य तु ।
सादृश्यात् षड्गुणत्वाच्च समत्वाच्च विशेषतः ॥ १२ ॥
शान्तत्वान्निष्कलत्वाच्च न भेदो विद्यते यतः ।

गुणद्वयद्वयेनैव यद्यप्युक्तं पुरा मया ॥ १३ ॥
एकैकं भगवद्रूपं मुख्यवृत्त्या तथापि हि ।
चतुष्कमवशिष्टं यद् गुणानां समवस्थितम् ॥ १४ ॥
तद् भजेतानुवृत्तिं च एकैकस्य च सर्वदा ।

एवं लाच्छनादिभिर्व्यक्तत्वेऽपि सादृश्यादिहेतुभिर्भेदाभावात् साधकस्यानुभव-विषयो भवतीत्याह—एतावतेति ॥ ११-१५ ॥

यद्यपि इन चारों मूर्तियों में हाथ के कारण अवाङ्मुखत्व तथा स्वभाव के कारण ऊर्ध्वमुखत्व की विशेषता है । तथापि सादृश्य षाड्गुण्य समन्वय एवं शान्त और निष्फलता के कारण पर और व्यूह का भेद इनमें नहीं है । अत: उक्त भावों के प्राकट्य से स्पष्ट होने के कारण साधक इस स्वरूप में अपने भावों की स्थिति करता ही है । यद्यपि दो-दो गुणों से ही सङ्कर्षणादि मूर्तिमय का स्वरूप निष्फल हो सकता था, जैसा की प्रथम परिच्छेद में कह दिया गया है, फिर भी उनमें शेष चार गुण भी अनुवृत्ति रूप से रहते ही हैं । इस प्रकार मूर्तिमय में दो-दो गुण व्यक्त रूप से तथा अवशिष्ट चार गुण अव्यक्त रूप से रहते हैं ॥ ११-१५ ॥

एवं ज्ञात्वा स्थितिं ब्राह्मीं स्वानन्दां स्पन्दलक्षणाम् ॥ १५ ॥
ब्रह्मामृतमयैर्भोगैर्यो यजेत समाहितः ।
विशुद्धबुद्ध्या देहान्ते स विशत्यमलं पदम् ॥ १६ ॥

अत्र चतुर्णामपि षड्गुणत्वादित्युक्तम् । बलसंवलितेनैव ज्ञानेन ज्ञानपूर्वकमर्चने फलमाह—एवमिति सार्धेन ॥ १५-१६ ॥

तीन मूर्तियों में स्वानन्दा, स्पन्दलक्षणा एवं ब्राह्मी स्थिति स्वयं अनुवृत्ति भेद से विद्यमान ही है अत: साधक ब्रह्मामृतमय भोग से स्थिर चित्त हो इनका यजन करे । ऐसा करने से वह देहान्त होने पर विशुद्ध अमल पद प्राप्त करता है ॥ १५-१६ ॥

अथ मन्त्रचतुष्कं तु ब्रह्मषाड्गुण्यवाचकम् ।
कर्मिणां मोक्षदं शश्वत् पूर्वोद्दिष्टं निबोधतु ॥ १७ ॥

सुषुप्तिव्यूहचतुष्कं शृणिवत्याह—अथेति ॥ १७ ॥

ब्रह्मषाड्गुण्य के वाचक यह मन्त्र चतुष्क साधक कर्मी को सतत मोक्ष देने वाला है जिसे पूर्व में कह दिया गया है । अब उस मन्त्र को सुनिए ॥ १७ ॥

आदायाक्षगतं बीजं नाभिपूर्वमतः परम् ।
अरादेकादशात् पूर्वं तस्याधो विनिवेश्यते ॥ १८ ॥
वर्णं नेमेस्तृतीयं यत् तृतीयमिदमक्षरम् ।
द्वितीयमष्टमाद् वर्णं नाभेस्तुर्यादिनान्वितम् ॥ १९ ॥

ततस्तु नवमं नेमेः केवलं विद्धि पञ्चमम् ।
अष्टमादपरं वर्णं द्वितीयस्वरसंयुतम् ॥ २० ॥
षष्ठमेतद्विजानीयात् सप्तमं दशमात् परम् ।
अथ द्वितीयदशमादादायोर्ध्वे तु विन्यसेत् ॥ २१ ॥
अष्टमात्तु द्वितीयस्य मन्त्राणामिदमष्टकम् ।
द्वितीयात् प्रथमं वर्णमष्टमादपरं ततः ॥ २२ ॥
नाभ्येकादशमोपेतं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ।
पूर्वमेकादशाच्छुद्धं तादृङ्नेमेस्तृतीयकम् ॥ २३ ॥
नेमिपूर्वं च तदनु नाभेरेकादशाङ्कितम् ।
नेमेः षष्ठमथादाय स्थितं तत्पञ्चमोपरि ॥ २४ ॥
ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं नेमेस्तृतीयकम् ।
द्वितीयं केवलं नेमेरादाय च महामते ॥ २५ ॥
कर्त्रे नमः पदं पश्चाद् योजयेच्चतुरक्षरम् ।
एकविंशतिभिर्वर्णैरयं मन्त्र उदाहृतः ॥ २६ ॥

अब साधकों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए मन्त्र चतुष्टय का उद्धार कहते हैं । 'आदायाक्षगतम्' (३.१८) से लेकर 'अयं मन्त्रः उदाहृतः' (३.२६) पर्यन्त २१ वर्णों का मन्त्र है; जिसका स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ अप्रतिहतानन्तगतये परमेश्वराय कर्त्रे नमः' ॥ १८-२६ ॥

अभिन्नः पदभेदेन भवेदेकाधिकस्तु वै ।
प्राग्वर्णेन पदं पूर्वं पञ्चार्णं द्वितीयं भवेत् ॥ २७ ॥
षडक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं तद्वदेव हि ।
द्व्यक्षरं पञ्चमं विद्धि तद्वत् षष्ठं महामते ॥ २८ ॥

इस मन्त्र में एक अक्षर प्रथम पद (ॐ), पाँच अक्षर का द्वितीय पद (अप्रतिहता), छः अक्षर का तृतीय पद (अनन्तगतये), फिर छः अक्षर का चतुर्थ पद (परमेश्वराय), दो अक्षर का पञ्चम पद (कर्त्रे) तथा उतने ही अक्षर का छठवाँ पद (नमः) कहा गया है ॥ २७-२८ ॥

अथापरं महामन्त्रं द्वितीयमवधारय ।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म भवत्याराधकस्य च ॥ २९ ॥
आदायाक्षरमध्यस्थं नाभिपूर्वमतः परम् ।
पूर्वं नेमेस्तु तस्यैव योज्यं नाभित्रयोदशम् ॥ ३० ॥
द्वितीयादपरं वर्णं सर्वशक्त्यात्मने पदम् ।

द्वितीयं द्वादशाद् वर्णं द्वितीयात् प्रथमं ततः ॥ ३१ ॥
पञ्चमं च बहिष्ठेभ्यस्त्रीनेतान् विद्धि केवलान् ।
नाभ्येकादशसंभिन्नं द्वितीयं चाष्टमात् ततः ॥ ३२ ॥
नमो नमः पदयुतो मन्त्रश्चाष्टादशाक्षरः ।

अब द्वितीय मन्त्र का उद्धार कहते हैं । दूसरे मन्त्र के उद्धार का निष्कर्ष— 'ॐ अमोघ सर्वशक्त्यात्मने भगवते नमो नमः' । यह १८ अक्षरों का मन्त्र है ।

अस्यैकार्णं पदं पूर्वं त्र्यक्षरं तदनन्तरम् ॥ ३३ ॥
षडक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ।
द्वितीयं द्व्यक्षरं चान्यत् पदयोः सम्प्रकीर्तितम् ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र में एक अक्षर का प्रथम पद, तीन अक्षर का दूसरा पद, छह अक्षर का तीसरा पद, चार अक्षर का चौथा पद, दो-दो अक्षरों का पांचवाँ और छठवाँ पद हैं ॥ ३३-३४ ॥

तृतीयमथ वक्ष्यामि मन्त्रं मन्त्रविदांवरम् ।
यज्ज्ञात्वा मानसीं शुद्धिं परामभ्येति कर्मणाम् ॥ ३५ ॥
बीजमादाय मध्यस्थमाद्यमेकादशात् ततः ।
नेमेस्तृतीयं तदध ऊर्ध्वे नाभ्यपरं तु वै ॥ ३६ ॥
अथाद्यमष्टमाद् वर्णं द्वितीयं स्वरसंयुतम् ।
तद्वद् एकादशादाद्यं वर्णमन्यं समाहरेत् ॥ ३७ ॥
दशमादपरं वर्णं नेमेरष्टकमन्ततः ।
युक्तं नाभिद्वितीयेन त्वाद्यं नेम्यक्षरं तु यत् ॥ ३८ ॥
नाभित्रयोदशोपेतमादाय दशमात् परम् ।
द्वितीयं नवमाद्वर्णं युक्तं नाभ्यपरेण तु ॥ ३९ ॥
तत्संख्यं दशमाच्छुद्धं ततो बाह्यात्तु पञ्चमम् ।
नेमेर्द्वितीयं तदधो युक्तं नाभेः परेण तु ॥ ४० ॥
द्वितीयं दशमाद् वर्णं प्राणाय त्र्यक्षरं पदम् ।
ततस्त्वेकादशादाद्यं केवलं च समाहरेत् ॥ ४१ ॥
अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं नेमेस्तृतीयकम् ।
नाभित्रयोदशोपेतं बहिष्ठेष्वपरं ततः ॥ ४२ ॥
नेमेस्तृतीयस्योर्ध्वे तु नवमादपरं न्यसेत् ।
ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं प्राङ्नेमिमण्डलात् ॥ ४३ ॥
द्वितीयमथ वै बाह्यात् सनमस्कं हि केवलम् ।

त्रयोविंशतिभिर्वर्णैरुपेतो ह्येष मन्त्रराट् ॥ ४४ ॥

अब तृतीय मन्त्र का उद्धार कहते हैं जिसका स्वरूप इस प्रकार है— 'ॐ प्राणापानसमानोदानव्यानप्राणाय परायोद्गमाय नमः' । यह २३ अक्षरों का मन्त्र है ॥ ३५-४४ ॥

पदैः पूर्वोक्तसंख्यैस्तु तेषां भेदोऽप्यथोच्यते ।
पूर्वमेकाक्षरं विद्धि द्वितीयं तु नवाक्षरम् ॥ ४५ ॥
तृतीयं द्व्यक्षरं चैव चतुर्थं त्र्यक्षरं स्मृतम् ।
षडक्षरमथोर्ध्वस्थं द्व्यक्षरं तदनन्तरम् ॥ ४६ ॥

इस मन्त्र का एक अक्षर का प्रथम पद, नव अक्षरों का दूसरा पद, दो अक्षर का तृतीय पद, तीन अक्षर का चतुर्थ पद, छह अक्षर का पञ्चम पद एवं दो अक्षर का षष्ठ पद कहा गया है । इस प्रकार यह २३ अक्षरों का मन्त्र है ॥ ४५-४६ ॥

चतुर्थमधुना मन्त्रं निबोध गदतो मम ।
येन विज्ञातमात्रेण संविदुत्पद्यते परा ॥ ४७ ॥
आदायादौ यदक्षस्थं नाभिपूर्वमनन्तरम् ।
ततस्तृतीयादपरं वर्णमादाय लाङ्गलिन् ॥ ४८ ॥
नेमिद्वितीयं तस्याधस्तदधो नाभिपञ्चमम् ।
द्वितीयमष्टमाद् वर्णं तत्संख्यं नेमिमण्डलात् ॥ ४९ ॥
आदायैतद् द्वयं कुर्याद् युक्तं नाभ्यपरेण तु ।
अथ नाभितृतीयेन युक्तं बाह्यात्तु पञ्चमम् ॥ ५० ॥
आद्यात् पूर्वमथादाय नाभिसप्तमसंयुतम् ।
द्वितीयमष्टमाद् वर्णं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ॥ ५१ ॥
आदायाभ्यां नियोक्तव्यं द्वितीयं नाभिगोचरात् ।
अथ द्वितीयं दशमात् केवलं वर्णमाहरेत् ॥ ५२ ॥
द्वितीयमष्टमाद् वर्णं तदूर्ध्वे दशमात् परम् ।
नाभिद्वितीयमस्यैव योजयेत् तदनन्तरम् ॥ ५३ ॥
ततो नेमिद्वितीयं तु केवलं वर्णमाहरेत् ।
अथ नाभेर्यदादिस्थं प्राग्वर्णं दशमादरात् ॥ ५४ ॥
तदधो द्वितीयं बाह्यात् प्रधिवर्णमनन्तरम् ।
युक्तं नाभिद्वितीयेन त्वादाय तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥
नेमिद्वितीयसंख्यं यन्नमस्कारपदं ततः ।
अष्टादशाक्षरो ह्येष द्व्यधिकः पदसंख्यया ॥ ५६ ॥

अब चतुर्थ मन्त्र का उद्धार कहते हैं—'ॐ अच्युतायाविकृतायानन्ताय अध्यक्षाय नमः' । यह २० अक्षरों का मन्त्र है । इस प्रकार सुषुप्ति व्यूह के चारों मन्त्र कह दिये गये ॥ ४७-५६ ॥

एकार्णं पदमाद्यं तु द्वितीयं चतुरक्षरम् ।
पञ्चाक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ॥ ५७ ॥
तथैव पञ्चमं विद्धि अन्तस्थं द्व्यक्षरं स्मृतम् ।

चतुर्णामपि मन्त्राणामुद्धारप्रकारं तत्तत्पदविभागांश्चाह—आदायाक्षगतं बीजमित्यारभ्य अन्तस्थं द्व्यक्षरं स्मृतमित्यन्तम् । एतद्व्याख्यानमार्गस्य पूर्वमेव प्रदर्शितत्वात् सुगमः । प्राग् वर्णचक्रं विलिख्य उक्तक्रमेण वर्णोद्धारे कृते—ॐ अप्रतिहतानन्तगतये परमेश्वराय कर्त्रे नमः । ॐ अमोघसर्वशक्त्यात्मने भगवते नमो नमः । ॐ प्राणापानसमानोदानव्यानप्राणाय परायोद्गमाय नमः। ॐ अच्युतायाविकृतायानन्ताय अध्यक्षाय नम इति क्रमेण एकविंशाक्षरोऽष्टादशाक्षरस्त्रयोविंशत्यक्षरो विंशत्यक्षरश्चत्वारो मन्त्रा भवन्ति ॥ १८-५७ ॥

इस चौथे मन्त्र में एक अक्षर का प्रथम पद, चार अक्षर का दूसरा पद, पाँच अक्षर का तीसरा पद, चार अक्षर का चौथा पद, उसी प्रकार चार अक्षर का पांचवाँ पद, तदनन्तर दो अक्षर का छठाँ पद समझना चाहिये ॥ ५७-५८ ॥

पदानां वर्णसंख्यापूरणप्रकारकथनम्

यत्र यत्र पदानां च वर्णाधिक्यमुदाहृतम् ।
तत्रादौ नाभिपूर्वं तु व्याहृत्याद्यं पदं न्यसेत् ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां सुषुप्तिव्यूहसमाराधनं नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥
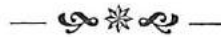
पदानां वर्णसंख्यापूरणप्रकारमाह—यत्रेति । पदानां पूर्वोक्तमन्त्रान्तर्गतपदानां मध्ये यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् पदे प्रथममन्त्रेऽनन्तगतये इत्यत्र वर्णाधिक्यमुदाहृतम् । षडक्षरं तृतीयं त्विति अक्षराधिक्यमुक्तम् । तत्र तस्मिन् पदे, आदौ प्रथमत आद्यपदाद् अप्रतिहतेति पदस्य उपरि विद्यमानमकारमाहृत्यानन्तगतय इति पदस्यादौ योजयेदिति यावत् । तथा च अनन्तगतये इति षडक्षरत्वं संभवति । एवं चतुर्थमन्त्रे अविकृतायानन्ताय इत्यत्रापि बोध्यम् ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥

अब वर्ण संख्या पूर्ति का प्रकार कहते हैं—पूर्वोक्त मन्त्रों के पद के मध्य में जिस-जिस पद में (जैसे प्रथम मन्त्र के 'अनन्तगत' पद में) वर्णाधिक्य कहा गया है, (षडक्षरं तृतीय त्विति यहाँ भी अक्षराधिक्य कहा गया है) वहाँ उस पद में आदि पद के ऊपर विद्यमान अकार को हटा कर 'अनन्तगतये', इस पद के आदि में जोड़ देवे । ऐसा करने से 'अनन्तगतये' यह छह अक्षर का पद सम्पन्न हो जायेगा। इसी प्रकार चतुर्थ मन्त्र में 'अविकृतायानन्ताय' यहाँ पर भी समझ लेना चाहिये ॥ ५८ ॥

विमर्श—यहाँ पर विचार करना चाहिये कि सात्त्वत संहिता के द्वितीय परिच्छेद में तूर्यव्यूह का एक ही मन्त्र उद्धृत किया गया है जबकि सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत इन तीन व्यूहों में चार-चार मन्त्र उद्धृत किये गये हैं उसके अनुरोध से तूर्यव्यूह में भी चार मन्त्र का उद्धार अपेक्षित है । जबकि न केवल भाष्य में अपितु संहिता में भी चातुरात्म्य चतुष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है । जब तूर्यव्यूह में भी चातुरात्म्य भासित हो रहा है तब वहाँ भी चार मन्त्र होना चाहिए यह स्वाभाविकी शङ्का उत्पन्न होती है । तब इसका परिहार इस प्रकार करना चाहिये—द्वितीय परिच्छेद में पर स्वरूप का विवरण मात्र है । किन्तु तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम परिच्छेद में सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत्पद में स्थित व्यूह स्वरूपों का वर्णन है । इस व्यूहरन्य ब्रह्म को चातुरात्म्य पद से भी कहा जाता है । यह चातुरात्म्य परस्वरूप में अव्यक्तदशा में रहता है । इसलिये वहाँ भी चातुरात्म्य प्रयोग होता है । उसे तुर्यव्यूह नाम से भी कहा जाता है—यहाँ नित्योदित दशा तथा शान्तोदित दशा दो प्रकार की दशा स्वीकार की जाती है । नित्योदित दशा परात्पर वासुदेव दशा तथा शान्तोदित दशा पर वासुदेव दशा कही जाती है । किन्तु दोनों दशा में वासुदेव का प्राधान्य रहता है । उस अवस्था में सङ्कर्षणादि तीनों का तथा अच्युतादि तीन का अव्यक्त रूप से अवस्थान रहता है । प्रकृति में आदिमूर्ति वासुदेव का ही प्राधान्य प्रदर्शित करने के कारण तूर्यव्यूहापर नामक परस्वरूप के आराधन के लिये यहाँ एक ही मन्त्र का निर्देश किया गया है ।

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के सुषुप्तिव्यूहसमाराधन नामक तृतीय परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ ३ ॥

— ❦ —

चतुर्थः परिच्छेदः

स्वप्नव्यूहसमाराधनम्

नारद उवाच

अथाह भगवान् देवो रक्तराजीवलोचनः ।
प्रसन्नः सुप्रसन्नास्यो विधानमपरं द्विजाः ॥ १ ॥

अथ चतुर्थो व्याख्यास्यते । स्वप्नव्यूहविधानमाहेत्याह—अथेति द्वाभ्याम् । येन कर्मणा, आत्मा परमात्मा, स्वप्ने आत्मेव जीव इव वर्णकमलोपरि व्यक्ततां नीतः = प्रकाशितः । तद्विधानमाहेति पूर्वश्लोकेनान्वयः ॥ १-२ ॥

अब चतुर्थ स्वप्नव्यूह की व्याख्या करते हैं । श्री नारदजी ने कहा—हे महर्षियों ! अब इसके बाद लाल कमल के समान नेत्रों वाले, प्रसन्न तथा प्रसन्न मुख वाले भगवान् ने दूसरा विधान कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

येनात्मा स्वप्न एवात्मा कर्मिणामनुकम्पया ।
क्रमेण व्यक्ततां नीतो वाग्वर्णकमलोपरि ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—जिस कर्म से साधक के ऊपर कृपा कर स्वप्न में परमात्मा को जीवात्मा के समान (मातृका) वर्ण कमल के ऊपर प्रकाशित किया जाता है, हे सङ्कर्षण ! अब आप उस विधान को सुनिये ॥ २ ॥

अभिन्नपूर्णषाड्गुण्यविभवेनोपबृंहितम् ।
भाभिः सितादिभिर्दीप्तमभिन्नाभिर्निरन्तरम् ॥ ३ ॥
अवलोक्यामलं देवमुदितं स्वेन तेजसा ।
कर्णिकाग्रं समाश्रित्य दिव्यं मन्त्रतनुं पुनः ॥ ४ ॥
पश्येत् स्वयं स्वशक्त्या वै कालेनालक्ष्यमूर्तिना ।
संहरन्तं च तद्रूपं व्यक्तं पूर्वोक्तलक्षणम् ॥ ५ ॥
एवं मन्त्रमयं देवमुपसंहृत्य लाङ्गलिन् ।
आमूलात् कर्णिकाग्रं च सम्पूर्यास्ते स्वतेजसा ॥ ६ ॥

ब्रह्मयूपस्वरूपेण त्वाक्रम्य स्वं महामते ।

आदौ वासुदेवादीनां चतुर्णामपि मूलभूतस्य विशाखयूपसंज्ञस्य भगवतो लक्षण-माह—अभिन्नेति सार्धैश्चतुर्भिः । अभिन्नपूर्णषाड्गुण्यविभवेनोपबृंहितम् । सङ्कर्षणादि-वद् गुणद्वयभेदं विना वासुदेववद् अन्यूनानतिरिक्तषाड्गुण्यपरिपूर्णमित्यर्थः । अभिन्नाभिः सितादिभिर्भाभिर्दीप्तं = वासुदेवादिवत् पार्थक्येन सितादिवर्णभेदं विना श्वेतरक्तपीतकृष्णैश्चतुर्भिरपि तेजोभिर्भास्वरमित्यर्थः । स्वेन तेजसा उदितम् = केवल-तेजोरूपमित्यर्थः । देवं = विशाखयूपाख्यम् अवलोक्य = पूर्वमेव तेजोरूपं दृष्ट्वे-त्यर्थः । पुनः कर्णिकाग्रं समाश्रित्य मन्त्रतनुं पश्येत्, मूर्तीभूतं पश्येदित्यर्थः । पुनस्तद्रूपं संहरन्तं च पश्येदित्यन्वयः । एवं मन्त्रमयं देहमुपसंहृत्य आमूलात् कर्णिकाग्रं स्वतेजसा सम्पूर्य ब्रह्मयूपस्वरूपेणास्ते, मूर्तिवर्जितः केवलतेजोरूपमाश्रित्य हृत्कमलकर्णिका-रूपेण शाखाभूतानां वासुदेवादीनां मध्ययूपस्थानीयत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । एवमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—व्यूहाद् व्यूहसमुत्पत्तौ पदाद् यावत् पदान्तरम् ।

**अन्तरं सकलं देशं सम्पूरयति तेजसा ॥
पूजितस्तेजसां राशिरव्यक्तो मूर्तिवर्जितः ।
विशाखयूप इत्युक्तस्तत्तज्ज्ञानादिबृंहितः ॥
तस्मिन् तस्मिन् पदे तस्मान्मूर्तिशाखाचतुष्टयम् ।
वासुदेवादिकं शक्र प्रादुर्भवति वै क्रमात् ॥**

(११।११-१३) इति ।

विशाखयूपशब्दनिर्वचनं च तत्रैवोक्तम्—

**'शाखास्तु वासुदेवाद्या विभोर्देवस्य कीर्तिताः ।
विशाखयूपो भगवान् वितता हि करोति तत् ॥'**

(लक्ष्मी० ११।२९) इति ॥ ३-६ ॥

सर्वप्रथम वासुदेवादि चार व्यूहों के मूलभूत विशाखयूप संज्ञक भगवान् का लक्षण कहते हैं—षाड्गुण्य विभव से अभिन्न एवं सितादि वर्ण भेद के विना चारों प्रकार के तेजों से भास्कर (श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण इन चारों प्रकारों के तेजों से देदीप्यमान) केवल तेजःस्वरूप विशाखयूप भगवान् को प्रथम देख कर, कर्णिका के अग्रभाग का अवलम्बन कर, मन्त्र शरीर को मूर्ति रूप में दर्शन करे । फिर उस रूप का उपसंहार करते हुए देखे । फिर मन्त्रमय उस शरीर का उपसंहार कर कर्णिका के मूल से कर्णिका के अग्रभाग तक अपने तेज से पूर्ण कर जो विशाख-यूप भगवान् ब्रह्मयूपशरीर से विद्यमान हो जाते हैं वह मूर्ति रहित होकर केवल तेजःस्वरूप का आश्रय लेकर शाखाभूत वासुदेवादि में मध्य यूप के स्थान में विराजमान हो जाते हैं ॥ ६-७ ॥

विमर्श—वही विशाखयूप भगवान् अपने तेज से ब्रह्मरूप में परिणत हो जाते हैं । यतः उन सर्वव्यापक विभु के वासुदेवादि शाखायें हैं इसलिये उन्हें विशाखयूप कहा जाता है ॥ ६-७ ॥

वासुदेवादीनां लक्षणकथनम्

सौम्यमूर्तिचतुष्कं तु सूर्यदिक्प्रसृतं च यत् ॥ ७ ॥
प्राच्यां सितेन वपुषा सूर्यकान्त्यधिकेन तु ।
व्यक्तिमभ्येति भगवान् वासुदेवात्मना स्वयम् ॥ ८ ॥
पद्मरागसमानेन तेजसा तदनन्तरम् ।
उदेति दक्षिणस्यां वै प्रभुः सङ्कर्षणात्मना ॥ ९ ॥

अथ वासुदेवादीनां लक्षणान्याह—सौम्येत्यारभ्य ज्वालामण्डलमध्यगा इत्यन्तम् ॥ ७-१६ ॥

अब वासुदेवादि का लक्षण कहते हैं—वे भगवान् पूर्व से उत्तर दिशा तक चार प्रकार की सौम्यादि मूर्त्तियों में प्रकट हैं । पूर्व में सूर्य कान्ति से भी अधिक अपने तेज से वासुदेव के रूप में व्यक्त हो जाते हैं ॥ ८-९ ॥

घर्मांशुरश्मिसन्तप्तशतधामाधिकेन तु ।
रूपेण पश्चिमस्यां च व्यक्तं प्रद्युम्नसंज्ञया ॥ १० ॥

वही भगवान् सैकड़ों सूर्य से अधिक रश्मियों से भी अधिक तेज से युक्त प्रद्युम्न रूप से पश्चिम दिशा में व्यक्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

शरद्गगनसंकाशवर्णेन परमेश्वरः ।
समास्त उत्तरस्यां चाप्यनिरुद्धात्मना ततः ॥ ११ ॥

वही परमेश्वर शरत्कालीन आकाश के समान अपने स्वच्छ रूप से उत्तर दिशा में अनिरुद्ध रूप से प्रगट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

संस्थानमादिमूर्तेर्वै सर्वेषां तु समं स्मृतम् ।
सूर्यकोटिप्रभाः सर्वे तेजसा कमलेक्षणाः ॥ १२ ॥

आदि मूर्ति के सभी स्वरूपों का संस्थान समान ही कहा गया है । सभी के नेत्र कमल के समान मनोहर हैं । तेज में वे सभी मूर्त्तियाँ करोड़ों सूर्य के समान तेजस्विनी हैं ॥ १२ ॥

दन्तज्योत्स्नावितानैस्तु प्रकटीकृतदिङ्मुखाः ।
पूर्णचन्द्रायुताकारा मुक्ताहाराद्यलङ्कृताः ॥ १३ ॥
लसत्पीयूषसदृशैः स्वाम्बरैः स्रग्वरैर्युताः ।
वरायुधोद्यतकराः स्वकैश्चिह्नैरनुज्झिताः ॥ १४ ॥

सभी प्रभु की मूर्तियाँ अपने दाँतों की ज्योत्स्ना से समस्त दिशाओं को देदीप्यमान करती हैं । अयुत संख्यक चन्द्रमा की कान्ति के समान सभी मोतियों

की माला से अलङ्कृत हैं। सभी स्वच्छ पीयूष के समान अम्बरों तथा मालादि से युक्त हैं। सभी के हाथों में श्रेष्ठ आयुध हैं और सभी अपने-अपने चिह्नों से विराजमान हैं ॥ १३-१४ ॥

रेखोत्थितैस्तु कह्लारैः पादपद्मतलाङ्किताः।
विनम्रजनसन्तापशमनव्यापृताननाः ॥ १५ ॥

रेखा के रूप में विद्यमान सभी के पादपद्म के तलवे अलङ्कृत हैं। किं बहुना सभी के मुख मण्डल विनम्रजनों के सन्ताप शमन के लिये व्याप्त हैं ॥ १५ ॥

करुणापूर्णहृदया जगदुद्धरणोद्यताः।
स्वदेहतेजःसम्भूतज्वालामण्डलमध्यगाः ॥ १६ ॥

सभी का हृदय करुणा से पूर्ण है। सभी जगत् के उद्धार के लिये प्रयत्नशील हैं। सभी अपने शरीर के तेज से उत्पन्न ज्वाला मण्डल के मध्य में विद्यमान है ॥ १६ ॥

एवमेवैष भगवान् सम्पूज्यः प्राक्प्रयोगतः।
एकैकेन तु भागेन प्राभवेण क्रमेण तु ॥ १७ ॥
पुनरेवानिरुद्धादीन् प्राङ्मूर्त्यन्तं महामते।
क्रमान्निरन्तरैर्भोगैरभ्यर्च्य परमेश्वरम् ॥ १८ ॥
प्रणवद्वितयेनैव बुद्ध्या तु सुविशुद्धया।
अप्ययाख्येन विधिना हृद्यागनिरतैर्बुधैः ॥ १९ ॥

एषां वासुदेवादीनां प्रभवाप्ययक्रमेण मानसार्चनमाह—एवमेवेति त्रिभिः। क्रमेण सृष्टिक्रमेणेत्यर्थः। वासुदेवाद्यनिरुद्धान्तमिति यावत्। प्रणवद्वितयेन द्वितीयपरिच्छेदोक्त-प्रीतिमन्त्रेणेत्यर्थः। किन्तु तत्र 'प्रीयतां मे परः प्रभुः' (सा० २।७६) इत्युक्तम्। अत्र तु परशब्दस्थाने वासुदेवसङ्कर्षणाद्यन्यतमशब्दः प्रकरणानुरोधेन योज्यः ॥ १७-१९ ॥

वासुदेवादिकों का प्रभव सृष्टि एवं प्रलय क्रम से मानस अर्चना का प्रकार—इस प्रकार इन भगवान् के एक भाग की सृष्टि क्रम से पूर्व प्रयोग के अनुसार पूजा करे अर्थात् पहले वासुदेव, फिर सङ्कर्षण, फिर प्रद्युम्न, फिर अनिरुद्ध की पूजा करे। फिर, हे महामते ! अव्यय एवं संहार क्रम से अनिरुद्ध से आरम्भ कर प्राक् मूर्ति श्री वासुदेव पर्यन्त निरन्तर भोगों द्वारा प्रीति मन्त्र से अर्चना करे।

विमर्श—द्वितीय परिच्छेद में 'प्रीयतां मे परः प्रभुः' यह प्रीति मन्त्र कहा गया है यहाँ 'पर' के स्थान में दो प्रणव लगा कर वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध का प्रयोग करना चाहिए (यथा—ॐ ॐ वासुदेवः प्रीयताम् इत्यादि) ॥ १९ ॥

अथ भिन्नतनोर्मन्त्रं देवस्यास्य महात्मनः।
विशाखयूपसंज्ञस्य वक्ष्ये विद्याविवेकदम् ॥ २० ॥

आदौ विशाखयूपमन्त्रमाह—अथेत्यारभ्य मन्त्रस्यास्य महामते इत्यन्तम् । 'ॐ पराय तेजोरूपाय परानपेक्षाय परानपेक्षिताय नमः' इति चतुर्विंशत्यक्षरोऽयं मन्त्रः समुद्धृतो भवति ॥ २०-३० ॥

अब विभिन्न शरीर वाले इन महात्मा विशाखयूप संज्ञक देव का विद्या एवं विवेकप्रद महामन्त्र कहता हूँ ॥ २० ॥

वर्णमक्षस्थमादाय त्वाद्यमेकादशात् ततः ।
भिन्नं नाभिद्वितीयेन तृतीयं नेमिमण्डलात् ॥ २१ ॥
द्वितीयं केवलं बाह्यात् तेजोरूपाय वै पदम् ।
ततस्त्वेकादशात् पूर्वं केवलं तु समाहरेत् ॥ २२ ॥
तृतीयमक्षरं बाह्याद् युक्तं नाभ्यपरेण तु ।
दशमादपरं वर्णं पूर्वमेकादशात् ततः ॥ २३ ॥
एकादशस्वराक्रान्तमुद्धरेत् तदनन्तरम् ।
ततो नाभिद्वितीयेन युक्तं प्रध्यक्षरं हि यत् ॥ २४ ॥
केवलं द्वितीयं बाह्यादाद्यमेकादशात् तथा ।
नेमेस्तृतीयं तदनु द्वितीयं स्वरसंयुतम् ॥ २५ ॥
दशमादपरं शुद्धं पूर्वमेकादशात् ततः ।
नाभ्येकादशसंयुक्तं तदन्तेऽमललोचन ॥ २६ ॥
नाभेस्तृतीयसंयुक्तं प्रधिवर्णं समाहरेत् ।
अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं यत्परमष्टमात् ॥ २७ ॥
नेमिद्वितीयं तदनु नमस्कारसमन्वितम् ।
चतुर्विंशतिभिर्वर्णैर्युक्तो मन्त्रो ह्ययं महान् ॥ २८ ॥

'वर्णमक्षस्थमादाय ... ... नमस्कारसमन्वितम्' पर्यन्त (२१-२८) महामन्त्र कहा गया है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ पराय तेजोरूपाय परानपेक्षाय परानपेक्षिताय नमः' । यह महामन्त्र चौबीस वर्णों से युक्त है ॥ २१-२८ ॥

प्रणवेन पदं चास्य पूर्वमेकाक्षरं स्मृतम् ।
द्वितीयं त्र्यक्षरं प्रोक्तं पञ्चार्णं तदनन्तरम् ॥ २९ ॥
षडक्षरं चतुर्थं तु सप्तार्णं चात्र पञ्चमम् ।
पदं तु द्व्यक्षरं षष्ठं मन्त्रस्यास्य महामते ॥ ३० ॥

अब इसके अन्तर्गत पदों तथा अक्षरों को कहते हैं—प्रथम पद एकाक्षर, द्वितीय पद तीन अक्षर, तृतीय पद पाँच अक्षर, चतुर्थ पद छह अक्षर, पञ्चम पद सात अक्षर, षष्ठ पद दो अक्षर इस प्रकार मन्त्रों के अक्षरों एवं पद की संख्या कही गई ।

नानामन्त्रस्वरूपेण ह्यादिदेवः परो विभुः ।
आदिमध्यावसानेषु स्थितः सर्वस्य सर्वदा ॥ ३१ ॥

अथ विशाखयूपः पूर्वोक्तः परवासुदेव एवेत्यभिप्रायं विशदयति—नानामन्त्रेति ।

वही आदिदेव पर विभु वासुदेव सर्वदा सभी के आदि, मध्य एवं अवसान में अनेक मन्त्र स्वरूपों से स्थित हैं ॥ ३१ ॥

चतुर्व्यूहचतुष्के स्वे शान्तादिव्यक्तलक्षणे ।
प्राधान्येन त्रयाणां च देवानामवतिष्ठते ॥ ३२ ॥

एवं शान्तोदितादिव्यूहचतुष्टयेऽपि परवासुदेव एव तत्तद्व्यूहान्तर्गतवासुदेव-रूपेणावतिष्ठत इत्याह—चतुर्व्यूहेति । अत्र शान्तोदितव्यूहान्तर्गतवासुदेवस्य परात्पर-वासुदेवाभिन्नत्वेनोभयोरप्येकेनैव मन्त्रेण चारितार्थ्यात् सङ्कर्षणादीनां त्रयाणां तदङ्गत्वेन प्रत्येकं मन्त्रानुक्तेश्च शान्तोदितवासुदेवस्याङ्गित्वरूपं प्राधान्यं ज्ञेयम् । सुषुप्त्यादिव्यूहत्रये तु प्रत्येकं चतुर्णां वासुदेवादिमन्त्राणामुक्तत्वात् तत्र वासुदेवस्याग्रगण्यत्वरूपं प्राधान्यं बोध्यम् ॥ ३२ ॥

वही वासुदेव प्रभु शान्तोदितादि व्यूह चतुष्टय में एवं सङ्कर्षणादि तीनों देवों में प्रधान रूप से स्थित रहते हैं ॥ ३२ ॥

यथाम्बरस्थः सविता त्वेक एव महामते ।
जलाश्रयाणि चाश्रित्य बहुत्वं सम्प्रदर्शयेत् ॥ ३३ ॥
एवमेकोऽपि भगवान् नानामन्त्राश्रयेषु च ।
तुर्यादिपदसंस्थेषु बहुत्वमुपयाति च ॥ ३४ ॥
अनुग्रहार्थं भविनां नानाश्रद्धावशेन तु ।

एवं परस्यैकस्यैव नानारूपत्वं दृष्टान्तमुखेन द्रढयति—यथेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ३३-३५ ॥

हे महामते ! जिस प्रकार आकाश स्थित एक ही सूर्य जल के आश्रय में प्रतिबिम्बित होकर अपना बहुत्व रूप प्रकट करते हैं इसी प्रकार एक भगवान् भी अपना बहुत्व लोगों पर अनुग्रह करने के लिये तथा भक्तों के श्रद्धावश अनेक मन्त्रों में तथा चार प्रकार के अपने रूपों में प्रकट करते हैं अर्थात् बहुत्व को प्राप्त करते हैं ॥ ३३-३५ ॥

स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्धारः

चतुष्कमथ मन्त्राणां निबोध गदतो मम ॥ ३५ ॥
सितादिवर्णव्यक्तीनां वाचकत्वेन वै क्रमात् ।

अथ स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्धारमाह—चतुष्कमथ मन्त्राणामित्यारभ्य यावत्

परिच्छेदपरिसमाप्ति । तथा च—'ॐ अं नमो भगवते वासुदेवाय ।' 'ॐ आं नमो भगवते सङ्कर्षणाय ।' 'ॐ अं नमो भगवते प्रद्युम्नाय ।' 'ॐ अः नमो भगवते अनिरुद्धाय' इति मन्त्रचतुष्कमुद्धृतं भवति ॥ ३५-४६ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

— ✻ —

अब चारों मन्त्रों के स्वरूप को कहते हैं, जो सितादि वर्ण वाले देवों के क्रमशः वाचक हैं, उसे सुनिए ॥ ३५-३६ ॥

अक्षस्थं नाभिपूर्वं च वर्णं यद् दशमात् परम् ॥ ३६ ॥
नेमिपूर्वमधो नाभेस्त्रयोदशसमन्वितम् ।
द्वितीयं द्वादशाद् वर्णं द्वितीयात् परमं ततः ॥ ३७ ॥
पञ्चमं च बहिष्ठेभ्यस्त्रीनेतान् विद्धि केवलान् ।
ततोऽष्टमाद् द्वितीयं तु नाभ्येकादशभेदितम् ॥ ३८ ॥
पञ्चार्णं वासुदेवाय पदं च तदनन्तरम् ।
त्रयोदशाक्षरो ह्येष प्रथमं परिकीर्तितः ॥ ३९ ॥

'अक्षस्थं ... ... प्रथमं परिकीर्तितः' (३६-३९) पर्यन्त प्रथम मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ अं नमो भगवते वासुदेवाय' । इस मन्त्र में अक्षरों की संख्या तेरह है ॥ ३६-३९ ॥

क्रमेण वक्ष्याम्यन्येषामुद्धारं तु यथा स्थितम् ।
अक्षस्थमक्षरं नाभेर्द्वितीयं तदनन्तरम् ॥ ४० ॥
पूर्वमन्त्रानुसारेण ततो दद्यात् पदत्रयम् ।

'अक्षस्थमक्षर ... ... ततो दद्यात् पदत्रयम्' पर्यन्त (३९-४१) द्वितीय मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ आं नमो भगवते सङ्कर्षणाय' । यह तेरह अक्षर का दूसरा मन्त्र है ॥ ४०-४१ ॥

अथात्र पञ्चदशमं नाभेरोङ्कारपूर्वकम् ॥ ४१ ॥
पदत्रयेण तेनैव संयुक्तं विद्धि मन्त्रपम् ।

'अथात्र पञ्चदशमं ... ... विद्धि मन्त्रपम्' (४१-४२) पर्यन्त तृतीय मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ अं नमो भगवते प्रद्युम्नाय' । यह बारह अक्षर का तीसरा मन्त्र है ॥ ४१-४२ ॥

अथ षोडशसंख्यं यन्नाभेः प्रणवपूर्वकम् ॥ ४२ ॥

'अथ षोडश संख्यं यन्नाभेः प्रणवपूर्वकम् ' (४२) पर्यन्त चौथे मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ अः नमो भगवते अनिरुद्धाय' । यह तेरह अक्षर का मन्त्र है ॥ ४२ ॥

पूर्वोक्तलक्षणानां तु पदानां प्राङ्निवेश्यते ।
अस्मान्मन्त्रत्रयाद् विद्धि द्वयं प्राङ्मन्त्रसंख्यया ॥ ४३ ॥
एक एकार्णरहितः पदभेदमतः शृणु ।

अब इन मन्त्रों में पूर्वोक्त की भाँति पद संख्या का निवेश सुनिए—इन चारों मन्त्रों में पदों की संख्या समान है और मन्त्रों में पहला मन्त्र तेरह अक्षर का है, यह कह आये हैं । शेष तीन मन्त्रों में दो में १३-१३ अक्षर संख्या समान है । केवल दूसरे मन्त्र में अक्षर संख्या बारह है ॥ ४३-४४ ॥

पदद्वयं तु सर्वेषामाद्यमेकाक्षरं स्मृतम् ॥ ४४ ॥
द्व्यक्षरं च तृतीयं तु चतुर्थं चतुरक्षरम् ।
पञ्चाक्षरं पञ्चमं वै त्रयाणां समुदाहृतम् ॥ ४५ ॥

अब पदों में अक्षर संख्या कहते हैं—सभी मन्त्रों के आदि पद में एक-एक अक्षर समान हैं । दूसरे पद में भी दो अक्षर हैं । तृतीय और चतुर्थ पद चार-चार अक्षर वाले हैं । तीन मन्त्रों में पाँचवाँ पद पाँच-पाँच अक्षर का है । केवल तृतीय मन्त्र के पञ्चम पद 'प्रद्युम्नाय' में चार अक्षर हैं ॥ ४४-४५ ॥

तदेकस्य चतुर्वर्णं प्रद्युम्नाख्यस्य लाङ्गलिन् ।
एवं स्वप्नपदस्थस्य समासात् परिकीर्तितम् ॥
ध्यानार्चनं समन्त्रं च भक्तानां हितकाम्यया ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां स्वप्नव्यूहसमाराधनं नाम चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

— ❦ —

इस प्रकार, हे सङ्कर्षण ! स्वप्नपद के चारों मन्त्रों का संक्षेप में यहाँ ध्यान एवं अर्चन भक्तों की हित की दृष्टि से कहा गया है ॥ ४६ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के स्वप्नव्यूहसमाराधन नामक चतुर्थ परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ ४ ॥

— ❦ —

पञ्चमः परिच्छेदः

जाग्रत्व्यूहसमाराधनम्

नारद उवाच

अथ विप्रवरा भूयः प्राह सर्वेश्वरो हरिः ।
व्यामोहविनिवृत्त्यर्थं भविनां सीरिणः स्फुटम् ॥ १ ॥

अथ पञ्चमो व्याख्यास्यते । अत्र पुनर्जाग्रद्व्यूहलक्षणमाह—अथेति । भविनां = संसारिणां व्यामोहविनिवृत्त्यर्थम् । सीरिणः = सङ्कर्षणस्य प्राहेत्यन्वयः ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे विप्रवरो ! संसारियों के व्यामोह की निवृत्ति के लिये श्रीभगवान् वासुदेव ने सङ्कर्षण से जाग्रल्लक्षण व्यूह को इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अनन्तसरसि क्षार्णे विश्रान्तं यन्महामते ।
अकाराक्षरमूलं तु नित्यं सर्वाश्रयाम्बुजम् ॥ २ ॥
अकाराक्षरनालं तु शेषसर्वार्णपल्लवम् ।
दिगष्टकं समाश्रित्य यत्तत् तिष्ठति चक्रवत् ॥ ३ ॥
तत्पत्रमध्ये भगवान् जाग्रत्संज्ञपदे त्वधः ।
यष्टव्यो भावनीयश्च यथा तदधुनोच्यते ॥ ४ ॥

हृदयकमलस्य वर्णमयत्वनिरूपणपूर्वकं जाग्रत्पदसंज्ञे तत्पत्रे जाग्रद्व्यूहार्चनं कार्यमित्याह—अनन्तसरसि = महासरोवर इत्यर्थः । अत्र क्षकारस्य जगदुत्पत्तिहेतुभूतब्रह्मशक्तिपञ्चकप्राथमिकत्वात् सरोवरत्वं ज्ञेयम् । तदुक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

क्षादि शान्तं सुरेशान शक्त्युन्मेषविशेषितम् ॥
क्ष इत्येव महाक्षोभ उदितः सत्यसंज्ञया ।
वासुदेवाख्यया होऽभूत् साख्यः सङ्कर्षणोदयः ॥
प्रद्युम्नः षाख्यया ज्ञेयो ह्यनिरुद्धस्तु शाख्यया ।
ता एताः शक्तयः पञ्च पञ्चब्रह्मात्मिकाः पराः ॥
स्फूर्तयो मदभिन्नास्ता जगदुत्पत्तिहेतवः ।
ज्वाला इव महावह्नेर्ब्रह्मणो मम शक्तयः ॥
—(लक्ष्मी० १९।३०-३३) इति ।

एवमेव—

अनुत्तरं स्वसंवेद्यं चिद्रूपं मम शाश्वतम्।
वाक्तत्त्वं तदकारात्मा सर्ववाङ्मयसंभवः ॥ (लक्ष्मी० १९।२-३)

इति लक्ष्मीप्रोक्तवैभवस्याकारस्य मूलत्वमपि सयुक्तिकं बोध्यम् ।

'तदेवानन्दरूपेण द्वितीयः स्वर इष्यते' (लक्ष्मी० १९।३)

इत्युक्तस्याकारस्य नालत्वमप्युचितम् । शेषसर्वार्णपल्लवं शेषाणि पूर्वोक्ताव-शिष्टानि सर्वाणि यानि वर्णानि इकारादीनि तान्येव पल्लवानि दलानि यस्य तत् तथोक्तम् । अत्र सर्वशब्दस्य प्रायिकत्वमङ्गीकृत्य इकारादिसकारान्तानामेव वर्णानां दलत्वं वाच्यम् । यतस्तृतीयपरिच्छेदे—

'हवर्णकर्णिकायां तु सुषुप्त्याख्यपदे त्वधः' (सात्वत० ३।२)

इति हकारस्य कर्णिकात्वमुक्तम् । यत् कमलं दिगष्टकं समाश्रित्य स्वदलैः सर्वदिशः समाश्रित्य चक्रवद् वर्तुलाकारेण तिष्ठति, तत्पत्रमध्ये भगवान् यष्टव्यो भावनीयश्च । जाग्रत्संज्ञपदे अध इति च पदद्वयं पत्रमध्यस्य विशेषणम् । हृदयकमलाकाशस्य तुर्यपदत्वम्, तत्कर्णिकास्थानस्य सुषुप्तिपदत्वम्, केसरस्थानस्य स्वप्नपदत्वम्, तदधःस्थितस्य पत्रस्थानस्य जाग्रत्पदत्वं च सुव्यक्तम् ॥ २-४ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—यह क्षकार वर्ण अनन्त सरोवर है । हे महामते ! जिसमें सर्वाश्रय अम्बुज का अकार रूप अक्षर मूल में विराज रहा है ॥ २ ॥

आकार अक्षर उसका नाल है और शेष सभी इकारादि वर्ण उसके पत्ते हैं । यह कमल अनेक दिशाओं में व्याप्त होकर चक्रवत् गोलाकार रूप में स्थित है । उसके पत्तों के मध्य में स्थित जाग्रत् नामक पत्र के नीचे जिस प्रकार भगवान् का यजन तथा उनकी भावना करनी चाहिये अब मैं उसे कह रहा हूँ ।

विमर्श—यहाँ यह समझ लेना चाहिये—हृदय कमलाकाश 'तुर्य' पद है और उसका कर्णिका स्थान 'सुषुप्ति' पद है । केशर 'स्वप्न' पद है, उसके नीचे स्थित पत्र स्थान 'जाग्रत्' पद है । इस हृदयरूप वर्ण कमल में जाग्रत्संज्ञक अब्ज पत्र में जाग्रन्नामक व्यूह है । उसी के नीचे जाग्रद् व्यूह की अर्चना करे ॥ ३-४ ॥

परं प्रणवबीजेन सम्पूर्णं स्वेन तेजसा ।
स्थितं स्वकर्णिकोर्ध्वाच्च केसरान्तं निरीक्ष्य च ॥ ५ ॥
ततः प्रणवपूर्वात् तु ब्रह्मबीजचतुष्टयात् ।
कदम्बपुष्पसदृशान्मरीचिशतसङ्कुलात् ॥ ६ ॥

आदौ तत्कर्णिकोर्ध्वात् केसरान्तं स्थितं तेजःपरिपूर्णं परं जाग्रद्व्यूहकारणं भगवन्तं तद्वाचकप्रणवबीजेनावलोक्य ततस्तत्परितः प्रागादिषु वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयं समुत्पन्नं पश्येदित्याह—परमिति चतुर्भिः । ब्रह्मबीजचतुष्टयात् श ष स हात्मकाद् वर्णचतुष्टयादित्यर्थः ।

शादिक्षान्तं तु विज्ञेयं विशुद्धं ब्रह्मपञ्चकम् ॥
शषसहोऽनिरुद्धाद्या विज्ञेयास्त्रिदशेश्वर ।
(लक्ष्मी० १९।१६-१७)

इति लक्ष्मीतन्त्रवचनात् । अथवा वक्ष्यमाणाद् वासुदेवादिबीजचतुष्टयादित्यर्थः । सुव्यक्तलक्षणमित्यनेन केवलगुणमात्रलक्ष्यतयाऽगोचरसुषुप्तिव्यूहापेक्षया स्वप्नव्यूहस्य स्वप्नप्रत्यक्षवदीषद्व्यक्तत्वम्, तदपेक्षयाऽस्य जाग्रद्व्यूहस्य जागरप्रत्यक्षवत् सुव्यक्तत्व-मुक्तं भवति ॥ ५-८ ॥

सर्वप्रथम उस कमल की कर्णिका के ऊपर से केसर पर्यन्त स्थित तेज से परिपूर्ण जाग्रद् व्यूह के कारण भूत भगवान् को तद्वाचक प्रणव बीज से देख कर चारों ओर वासुदेवादि मूर्त्तियों को देखे। फिर कदम्बपुष्पों के समान मुकुलित सैकड़ों सूर्यों की किरणों से देदीप्यमान उस प्रणव (ॐ) सहित ब्रह्म बीज चतुष्टय (शं षं सं हं) से चारों दिशाओं में उदीयमान वासुदेवादि मूर्त्तियों को देखे ॥ ५-६ ॥

दिक्क्रमेणोदितं ध्यायेद् विभोर्मूर्तिचतुष्टयम् ।
सुव्यक्तलक्षणं मान्त्रं विभावेनावृतं बहिः ॥ ७ ॥
स्फुलिङ्गकणतुल्येन समुद्भूतेन वै परात् ।
वाचकान्तर्निविष्टेन व्यक्ततामागतेन च ॥ ८ ॥

दिशाओं के क्रम से उन विभु की मूर्त्ति चतुष्टय का ध्यान करे, जो 'सुषुप्ति' होने से आराधना के योग्य है तथा 'स्वप्न व्यूह' की अपेक्षा 'जाग्रत्' होने के कारण अधिक सुव्यक्त है एवं मन्त्र स्वरूप है और बाहर से विभव से आहत है । जो पर से स्फुलिङ्ग कण के समान समुत्पन्न हुआ है और व्यक्त स्वरूप है ॥ ७-८ ॥

वासुदेवादीनां विशेष लक्षणानि

तत्राद्यं भगवद्रूपं हिमकुन्देन्दुकान्तिमत् ।
चतुर्भुजं सौम्यवक्त्रं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ॥ ९ ॥
पीतकौशेयवसनं सुवर्णध्वजशोभितम् ।
मुख्यदक्षिणहस्तेन भीतानामभयप्रदम् ॥ १० ॥
विद्याकोशस्तु वामेन संगृहीतश्च शङ्खराट् ।
पृष्ठगे ह्यपरस्मिंस्तु प्रोद्यतो दक्षिणे त्वसिः ॥ ११ ॥

वासुदेवादीनां विशेषलक्षणान्याह—तत्राद्यमित्यादिभिः ॥ ९-१८ ॥

अब वासुदेवादि के विशेष तथा मान्य लक्षणों को कहते हैं—उन आद्य भगवान् वासुदेव का स्वरूप हिम कुन्द के समान कान्तिमान है । वह चार भुजाओं से समन्वित हैं और सौम्य वस्त्र तथा कमल के समान विशाल नेत्रों वाले हैं । पीताम्बर धारण किये हुए, सुवर्ण की ध्वजाओं से शोभित हैं और अपने ऊपर वाले दाहिने हाथ से भयभीत

जनों को अभय प्रदान करते हैं तथा अपने बायें हाथ में विद्या के कोशभूत् शङ्खराट (पाञ्चजन्य) को धारण किये हुए हैं। पीछे वाले अन्य दाहिने हाथ में प्रोद्यत, असि (= तलवार) तथा उसी ओर बायें हाथ में पृथ्वी पर गदा रखी गई है ॥ ९-११ ॥

तथाविधे गदा वामे निषण्णा वसुधातले।
सिन्दूरशिखराकारमेकवक्त्रं चतुर्भुजम्॥ १२ ॥
अतसीपुष्पसङ्काशं वासोभृत् काललाञ्छितम्।
मुख्येन पाणियुग्मेन तुल्यमाद्यस्य वै विभोः॥ १३ ॥
सीरं चक्रं च हस्तेऽस्य मुसलं तु गदा करे।

अब दूसरे भगवान् सङ्कर्षण के स्वरूप को कहते हैं—एक वक्त्र है जो सिन्दूर के पर्वत के समान विशाल एवं पीला है, चार भुजायें है, अतसी पुष्प के समान वस्त्र है, हाथ में ताल का चिह्न है, उन विभु के हाथ में हंस, चक्र, मुशल और गदा है ॥ १२-१४ ॥

प्रावृण्णिशासमुदितखद्योतचयदीधितिम् ॥ १४ ॥
रत्नकौशेयवसनं मकरध्वजशोभितम्।
एकवक्त्रं चतुर्बाहुं तृतीयं परमेश्वरम्॥ १५ ॥
मुख्यहस्तद्वयं चास्य प्राग्वद् ध्येयं महामते।
वामे परस्मिन् शार्ङ्गं च दक्षिणे बाणपञ्चकम्॥ १६ ॥

तृतीय भगवान् प्रद्युम्न का स्वरूप—वर्षा काल की निशा में उदीयमान खद्योत के समान जिनकी कान्ति है, रत्न जड़ित रेशमी वस्त्र समन्वित है तथा जो मयूर-ध्वज से शोभित हैं, जिनके एक वक्त्र और चार भुजाएँ हैं, जो तृतीय परमेश्वर कहे जाते हैं, जिनके दो हाथ पूर्व के समान हैं, जिनके बायें हाथ में शार्ङ्ग धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण-पञ्चक है, ऐसे तृतीय परमेश्वर का ध्यान करे ॥ १४-१६ ॥

अञ्जनाद्रिप्रतीकाशं सुसिताम्बरवेष्टितम्।
चतुर्भुजं विशालाक्षं मृगलाञ्छनभूषितम्॥ १७ ॥
आदिवत् पाणियुगलमाद्यमस्यापि कीर्तितम्।
दक्षिणादिक्रमेणाथ द्वाभ्यां वै खड्गखेटकौ॥ १८ ॥

अब चतुर्थ भगवान् अनिरुद्ध स्वरूप को कहते हैं—जिनका स्वरूप कज्जल के पर्वत के समान काला है, जो अत्यन्त श्वेत वस्त्रों से आवेष्टित हैं, जिनकी चार भुजायें तथा कमल के समान विशाल नेत्र है, जिनके हाथ में मृग का चिह्न है, दो हाथ आदि स्वरूप के समान है, शेष दो हाथों में दक्षिणादि क्रम से खड्ग तथा खेटक शोभित हो रहा है ॥ १७-१८ ॥

सामान्यलक्षणानि

वनमालाधराः सर्वे श्रीवत्सकृतलक्षणाः ।
शोभिताः कौस्तुभेनैव रत्नराजेन वक्षसि ॥ १९ ॥
किरीटमुकुटै रम्यैर्हारकेयूरनूपुरैः ।
ललाटतिलकैश्चित्रैः स्फुरन्मकरकुण्डलैः ॥ २० ॥

सामान्यलक्षणमाह—वनमालाधरा इति त्रिभिः ॥ १९-२१ ॥

यहाँ तक भगवान् के चारों स्वरूपों की विशिष्टता कही गई । अब उनके सामान्य स्वरूप का वर्णन करते हैं—ये चारों प्रकार के सभी भगवान् विष्णु वनमाला धारण किये हुए है, श्रीवत्स के चिह्न से भूषित हैं तथा सभी अपने वक्षःस्थल पर रत्नराज कौस्तुभ धारण कर शोभित हो रहे हैं । ये विचित्र रत्नजड़ित केयूर मुकुट, मनोहर केयूर नूपुर तथा देदीप्यमान मकरा-कृति कुण्डल, ललाट में विचित्र तिलक से शोभित हैं ॥ १९-२० ॥

स्रग्वरैर्विविधैर्माल्यैः कर्पूराद्यैर्विलेपनैः ।
रम्यैरलङ्कृताश्चैव भावनीयाः सदैव हि ॥ २१ ॥

ये सभी अनेक प्रकार की पुष्प मालाओं से सुशोभित तथा कपूर आदि के आलेपन से तथा सुरम्य रत्नादि अलङ्कारों से समन्वित हैं । इस प्रकार के स्वरूप वाले चारों विष्णु का सदैव ध्यान करना चाहिये ॥ २१ ॥

पुनरप्ययययोगेन प्रागुदङ्मध्यमे दले ।
सितकृष्णेन वपुषा चानिरुद्धं स्मरेत् प्रभुम् ॥ २२ ॥

ईशानाद्याग्नेयान्तमप्यधःक्रमेण स्थितानां तेषां शबलरूपमाह—
पुनरित्यादिभिः ॥ २२-२७ ॥

इसके बाद पुनः संहार क्रम से पूर्व और उत्तर दिशा के मध्य वाले दल में सित और कृष्ण शरीर वाले प्रभु **अनिरुद्ध** का स्मरण करे ॥ २२ ॥

उदक्पश्चिममध्यस्थे प्रद्युम्नं भावयेच्छदे ।
रूपेण कृष्णपीतेन ह्यप्ययावसरे तु वै ॥ २३ ॥

उत्तर और पश्चिम के मध्य वाले दल में कृष्ण पीत शरीर वाले प्रभु **प्रद्युम्न** का स्मरण करे ॥ २३ ॥

प्रत्यग्दक्षिणमध्यस्थे पीतरक्तवपुर्धरम् ।
स्मरेत् सङ्कर्षणं देवं प्रतिस्रोतः क्रियाविधौ ॥ २४ ॥

पश्चिम और दक्षिण के मध्य वाले दल में पीत रक्त शरीर वाले संहार क्रम में **सङ्कर्षण** देव का स्मरण करे ॥ २४ ॥

मध्ये प्राग्दक्षिणस्यां च सितरक्तेन तेजसा।
वासुदेवो जगन्नाथो भावनीयो महामते॥ २५ ॥

पूर्व और दक्षिण के मध्य वाले दस में सित और रक्त कान्ति वाले भगवान् जगन्नाथ **वासुदेव** की आराधना करे॥ २५ ॥

अतिशुद्धाशयत्वेन स्फटिकोपलवद् विभुः।
स्थानभेदं समासाद्य स च कान्तिद्वयात्तु वै॥ २६ ॥
गृह्णाति शबलं रूपमुपसंहारलक्षणम्।

अत्यन्त शुद्ध स्वरूप होने के कारण एवं स्फटिक मणि के समान वे प्रभु स्थान भेद के कारण दो-दो रंग की कान्ति से संहार लक्षण शबल रूप धारण करते हैं॥ २६-२७ ॥

जाग्रत्व्यूहमन्त्रचतुष्टयोद्धारः

क्रमशोऽथ चतुर्णां वै वक्ष्ये मन्त्रगणं शृणु॥ २७ ॥
अक्षान्तर्गतमादाय नाभेः पूर्वमतः परम्।
भि(न्ने? न्नं) नाभिद्वितीयेन नेमिपूर्वमतः परम्॥ २८ ॥
नाभिपञ्चमसंयुक्तं दशमात् प्रथमं ततः।
तृतीयं च द्वितीयं च नेमेरादाय चाङ्कयेत्॥ २९ ॥
नाभिद्वितीयबीजेन नवमादपरं ततः।
तदधो विनियोक्तव्यं द्वितीयं द्वादशात्तु यत्॥ ३० ॥
पञ्चमेनाथ वै नाभेर्युक्तं कुर्यादनन्तरम्।
अष्टमादपरं शुद्धं नेमिपूर्वं तथाविधम्॥ ३१ ॥
युक्तं नाभिद्वितीयेन द्वितीयं नेमिमण्डलात्।
भूयस्तत्केवलं दद्यात् पदं योगेश्वराय वै॥ ३२ ॥
तदन्ते चक्रिणे शब्दमथ नेमेर्यदष्टकम्।
पश्चिमेनान्वितं नाभेस्तदन्ते विनिवेश्य च॥ ३३ ॥
शुद्धमेकादशात् पूर्वमाद्यं तदनु चाष्टमात्।
नेमेस्तृतीयेनाक्रान्तं ध्वजायाथ पदं न्यसेत्॥ ३४ ॥
भिन्नमेकादशात् पूर्वं नाभितुर्येण वै ततः।
अष्टमादपरं शुद्धं पञ्चमं नेमिमण्डलात्॥ ३५ ॥
द्वितीयं स्वरसंयुक्तं ससेऽथ द्व्यक्षरं पदम्।
वासुदेवाय तदनु सनमस्कं पदं भवेत्॥ ३६ ॥

ततस्तन्मन्त्रानाह—क्रमशोऽथ चतुर्णामित्यादिभिः।

'अक्षान्तर्गतमादायेत्यारभ्य पदं पदविदांवरेत्यन्तम् 'ॐ अमाधुरायाद्भुतमयाय योगेश्वराय चक्रिणे सुपर्णध्वजाय पीतवाससे वासुदेवाय नमः' इति षट्त्रिंशदक्षरो मन्त्रः समुद्धृतो भवति ॥ २७-३९ ॥

अब इन चारों की आराधना के लिये क्रमशः मन्त्रगणों को कहता हूँ, उसे हे सङ्कर्षण ! सुनिये—

'अक्षान्तर्गतमादाय ... पदविदांवर' पर्यन्त मन्त्रों का उद्धार कहते हैं—मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ अमाधुरायाद्भुतमयाय योगेश्वराय चक्रिणे सुपर्ण-ध्वजाय पीतवाससे वासुदेवाय नमः' । यह ३६ अक्षर का मन्त्र है ॥ २७-३६ ॥

षट्त्रिंशदक्षरो मन्त्रो भेदस्तस्याधुनोच्यते ।
पदमेकादशार्णं तु प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ३७ ॥
पञ्चाक्षरं द्वितीयं तु तृतीयं त्र्यक्षरं स्मृतम् ।
षडक्षरं चतुर्थं तु पञ्चार्णं पञ्चमं तु वै ॥ ३८ ॥
षष्ठं सप्ताक्षरं विद्धि पदं पदविदांवर ।

हे महामते ! यह ३६ अक्षर का महामन्त्र है, इसमें ११ अक्षर का प्रथम पद है । द्वितीय पद पाँच अक्षर का है । तृतीय पद तीन अक्षर का, चतुर्थ पद छह अक्षर का, पञ्चम पद पाँच अक्षर का, छठाँ पद सात अक्षर का है । इस प्रकार, हे पदविदांवर ! इसके पदों और पदाक्षरों को समझना चाहिए ॥ ३७-३९ ॥

प्रणवान्ते त्वथादाय द्वितीयं नाभिमण्डलात् ॥ ३९ ॥
चतुर्दशेन वै नाभेर्युक्तं नेम्यष्टकं ततः ।
द्वितीयं दशमाच्छुद्धमथ भूयः समाहरेत् ॥ ४० ॥
तदधो नवमादन्तं नाभेस्तुर्यादिनान्वितम् ।
एकादशस्वराक्रान्तं द्वितीयं दशमात् ततः ॥ ४१ ॥
बाह्यादथाष्टमं नाभेर्युक्तं पञ्चदशेन तु ।
केवलं पञ्चमं नेमेर्द्वितीयं चाष्टमात् ततः ॥ ४२ ॥
नेमेस्तृतीयेनाक्रान्तं वर्णमेतत् समाहरेत् ।
युक्तं नाभेस्तृतीयेन प्रागरात् प्रथमं तु वै ॥ ४३ ॥
द्वितीयं दशमाद्वर्णं नाभेरेकादशाङ्कितम् ।
पञ्चाक्षरं पदं दद्यात् तदन्ते तालकेतवे ॥ ४४ ॥
भूयस्तदवसाने तु पञ्चार्णं नीलवाससे ।
प्रथमात् प्रथमं चाथ द्वितीयं स्वरसंयुतम् ॥ ४५ ॥
केवलं नेमिपूर्वं तु चाद्यमेकादशात् ततः ।

बहिष्ठेभ्यश्चतुर्थं तु द्वाभ्यां नाभेः परं न्यसेत् ॥ ४६ ॥
द्वितीयं केवलं बाह्यात् सङ्कर्षणाय वै पदम् ।
तृतीयं प्रथमं नेमेरादायाकारसंयुतम् ॥ ४७ ॥
द्वितीयमपि वै बाह्याच्छुद्धं तदनु वै नमः ।
षट्त्रिंशाक्षरसंयुक्तस्त्वयं मन्त्रो महामते ॥ ४८ ॥

प्रणवान्ते त्वथादायेत्यारभ्य त्रीणि पञ्चाक्षराण्यत इत्यन्तम् 'ॐ आं सौनन्दकिने संवर्तकिने तालकेतवे नीलवाससे कामपालाय सङ्कर्षणाय रामाय नमः' इति षट्त्रिंशदक्षरमन्त्रः समुद्धृतः ॥ ३९-४९ ॥

अब 'प्रणवान्ते त्वथादाय ... ... पञ्चाक्षराण्यतः' (५.३९-५.४९) पर्यन्त दूसरे मन्त्र का उद्धार कहते हैं । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ आं सौनन्दकिने संवर्त्तकिने तालकेतवे नीलवाससे कामपालाय सङ्कर्षणाय रामाय नमः' । यह ३६ अक्षर का मन्त्र कहा गया है ॥ ३९-४९ ॥

षड्वर्णं पदमस्याद्यं पञ्चार्णं तदनन्तरम् ।
दशाक्षरं तृतीयं तु त्रीणि पञ्चाक्षराण्यतः ॥ ४९ ॥

इसका आदि पद छः अक्षर का, द्वितीय पद पाँच अक्षर का, तृतीय पद १० अक्षर का, इसके बाद ३ पद पाँच-पाँच अक्षरों के हैं ॥ ४९ ॥

अथादायार्क्षगं बीजं नाभेः पञ्चदशात् ततः ।
शार्ङ्गधृते पदं दद्याच्चतुर्वर्णमतः परम् ॥ ५० ॥
नेमिपूर्वमथादाय प्रागरात् प्रथमं ततः ।
तृतीयं च बहिष्ठेभ्यः पदं त्र्यर्णं ध्वजाय वै ॥ ५१ ॥
ततस्तृतीयं बाह्यात् तु प्रथमात् प्रथमं ततः ।
तदधो विनियोक्तव्यं द्वितीयं वर्णमष्टमात् ॥ ५२ ॥
द्वितीयस्वरसंयुक्तमथ बाह्यात् तु पञ्चमम् ।
अष्टमं तं तदुद्देशात् केवलं पुनरेव तत् ॥ ५३ ॥
नाभेरेकादशाक्रान्तं षडक्षरमतः परम् ।
पदं सनत्कुमाराय पञ्चाक्षरमनन्तरम् ॥ ५४ ॥
पदं जगत्प्रियायेति प्रद्युम्नाय नमस्ततः ।
चतुस्त्रिंशाक्षरः सोऽयं मन्त्रः शृणु पदान्यपि ॥ ५५ ॥

अथादायार्क्षगं बीजमित्यारभ्य षड्वर्णं षष्ठमेव हीत्यन्तम् 'ॐ अं शार्ङ्गधृते मकरध्वजाय रक्तवाससे सनत्कुमाराय जगत्प्रियाय प्रद्युम्नाय नमः' इति चतुस्त्रिंशदक्षरः समुद्धृतः ॥ ५०-५७ ॥

'अथादायार्क्षगम् ... षड्वर्ण षष्ठमेव हि' पर्यन्त तृतीय मन्त्र का उद्धार कहते हैं । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ अं शार्ङ्गधृते मकरध्वजाय रक्तवाससे सनत्कुमाराय जगत्प्रियाय प्रद्युम्नाय नमः' । यह चौंतीस अक्षर का मन्त्र है ॥ ५०-५५ ॥

आद्यं षडक्षरं ज्ञेयं द्वितीयं तद्वदेव हि ।
पञ्चाक्षरं तृतीयं तु चतुर्थं तु षडक्षरम् ॥ ५६ ॥
पञ्चार्णं पञ्चमं विद्धि षड्वर्णं षष्ठमेव हि ।

इसमें पहला पद ६ अक्षर का, द्वितीय पद भी ६ अक्षर का, तृतीय पद पाँच अक्षर का, चौथा पद ६ अक्षर का, पाँचवाँ पद पाँच अक्षर का, छठाँ पद ६ अक्षर का कहा गया है । यहाँ तक तृतीय मन्त्र का उद्धार कहा गया ॥ ५६-५७ ॥

अक्षस्थं षोडशं नाभेर्द्वितीयं दशमात्तु वै ॥ ५७ ॥
केवलं ह्यथ तेनैव चाक्रान्तं नवमात् परम् ।
अथादाय च तस्यान्ते प्रथमात् प्रथमं परात् ॥ ५८ ॥
युक्तं नाभिद्वितीयेन वर्णमेकं महामते ।
वर्णद्वयं पदस्यादौ तदेवान्तेऽस्य वै पुनः ॥ ५९ ॥
अथ द्वितीयं नवमात् प्रथमात् प्रथमं ततः ।
तृतीयमथ वै नेमेर्द्वितीयस्वरसंयुतम् ॥ ६० ॥
द्वितीयं केवलं बाह्यात् सप्तमं नाभिमण्डलात् ।
अथ षष्ठेन वै नेमेराक्रान्तं द्वितीयं न्यसेत् ॥ ६१ ॥
प्राग्वर्णं दशमान्नेमेः पञ्चमस्योर्ध्वगं त्वथ ।
चतुर्थादपरं वर्णं द्वितीयं नेमिमण्डलात् ॥ ६२ ॥
द्वाभ्यां नाभिद्वितीयं तु योजयेत् तदनन्तरम् ।
दशमादपरं वर्णं तृतीयस्वरसंयुतम् ॥ ६३ ॥
तृतीयमथ वै नेमेर्नाभिपञ्चमसंयुतम् ।
द्वितीयस्वरसंयुक्तं द्वितीयं नवमादरात् ॥ ६४ ॥
अस्यैवाधो नियोक्तव्यं दशमात् प्रथमं हि यत् ।
शुद्धं नेमिद्वितीयं तु पदं त्वसितवाससे ॥ ६५ ॥
विष्वक्सेनाय तदनु नमस्कारसमन्वितम् ।
द्वात्रिंशार्णो ह्ययं मन्त्रः पदभेदेन वै पुनः ॥ ६६ ॥
एकाधिकस्तु भवति पदान्यथ निबोध मे ।
द्व्यक्षरं तु पदं पूर्वं द्वितीयं तु नवाक्षरम् ॥ ६७ ॥
त्रीणि पञ्चाक्षराण्यन्यत् षष्ठं सप्ताक्षरं स्मृतम् ।

'अक्षस्थं षोडशं नाभेरित्यारभ्य षष्ठं सप्ताक्षरं स्मृतम्'इत्यन्तम् 'ॐ अः नन्दकानन्दकराय ऋष्यध्वजायानिरुद्धायासितवाससे विष्वक्सेनाय नमः' इति द्वात्रिंशदक्षरो मन्त्रः समुद्धृतः ॥ ५७-६८ ॥

'अक्षस्थं षोडशं विद्धि ... ... सप्ताक्षरं स्मृतम्' पर्यन्त चौथे मन्त्र का उद्धार कहते हैं । मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ अः नन्दकानन्दकराय ऋष्यध्वजायानिरुद्धायासितवाससे विष्वक्सेनाय नमः' । यह बत्तीस अक्षर का मन्त्र है । अब इसके पदों तथा अक्षरों की संख्या सुनिए—पद का भेद करने पर यह मन्त्र ३२ से एक अक्षर अधिक ३३ अक्षर का हो जाता है । पहला पद दो अक्षर का, द्वितीय नव अक्षर का, इसके बाद तीन पद पाँच-पाँच अक्षर का, छठाँ सात अक्षरों का होता है । इस प्रकार पद और मन्त्रों की संख्या कही गई ॥ ५७-६८ ॥

पुरुष, सत्य, अच्युत, वासुदेवमन्त्रोद्धारः

अप्ययावसरे प्राप्ते स्मरणे चार्चने विभोः ॥ ६८ ॥
श्रृणु मन्त्रचतुष्कं तु पुनरन्यत् समासतः ।
आद्यमेकादशाद् वर्णं पञ्चमस्वरसंयुतम् ॥ ६९ ॥
युक्तं स्वरेण तेनैव तृतीयं नेमिमण्डलात् ।
द्वितीयस्वरसंयुक्तमथ बाह्यात् तु सप्तमम् ॥ ७० ॥
द्वितीयं केवलं नेमेराद्यन्ते प्रणवो नमः ।
शुद्धं त्वथाष्टमं बाह्याद् द्वितीयमथ चाष्टमात् ॥ ७१ ॥
अथो नेमिद्वितीयेन युक्तं नाभ्यपरेण तु ।
केवलं द्वितीयं बाह्यान्नमस्कारमतः परम् ॥ ७२ ॥
अथाक्षगं नाभिपूर्वं द्वितीयं त्रितयादरात् ।
तदधो द्वितयं बाह्यान्नाभिपञ्चमसंयुतम् ॥ ७३ ॥
अथ नाभिद्वितीयेन युक्तं यत् परमाष्टमात् ।
द्वितीयं केवलं बाह्यान्नमस्कारं ततः परम् ॥ ७४ ॥
अक्षस्थबीजं तदनु द्वितीयं द्वादशादरात् ।
द्वितीयात् प्रथमं चाथ पञ्चमं नेमिमण्डलात् ॥ ७५ ॥
केवलं त्रितयं ह्येतद् द्वितीयं च तथाष्टमात् ।
एकादशस्वराक्रान्तं वासुदेवाय वै नमः ॥ ७६ ॥

अथाप्ययक्रमेण व्यूहार्चने मन्त्रचतुष्टयमाह—अप्ययावसर इत्यादिभिः । तथा च—'ॐ पुरुषाय नमः, ॐ सत्याय नमः, ॐ अच्युताय नमः, ॐ भगवते वासुदेवाय नमः' इत्यनिरुद्धादिवासुदेवान्तमन्त्रचतुष्कमुक्तं भवति ॥ ६८-७९ ॥

अब संहार क्रम से व्यूहार्चन में प्रयुक्त होने वाले चार मन्त्र का उद्धार कहते हैं—'अप्ययावसरे ... ... वासुदेवाय वै नमः' पर्यन्त मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ पुरुषाय नमः, ॐ सत्याय नमः, ॐ अच्युताय नमः, ॐ भगवते वासुदेवाय नमः' । इस प्रकार संहार क्रम से अनिरुद्धादि से वासुदेवान्त चार मन्त्र कहे गये ॥ ६८-७६ ॥

सप्ताक्षरस्तु प्राङ्मन्त्रो द्वितीयस्तु षडक्षरः ।
पूर्वतुल्यस्तृतीयस्तु चतुर्थो द्वादशाक्षरः ॥ ७७ ॥
पदभेदविनिर्मुक्तमेतन्मन्त्रचतुष्टयम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन विधिज्ञैः सिद्धिमीप्सुभिः ॥ ७८ ॥

पहला मन्त्र सात अक्षर का, द्वितीय छः अक्षर का, तृतीय पूर्व की भाँति (सात अक्षर का) और चतुर्थ बारह अक्षरों का है । ये चारों मन्त्र पदभेद से सर्वथा रहित हैं । सिद्धि की इच्छा रखने वाले एवं विधि के जानकार वैष्णवों को इन मन्त्रों को गुप्त रखना चाहिये ॥ ७७-७८ ॥

एवं ज्ञात्वाऽमृतमयैर्भोगैस्तोष्यश्च पूर्ववत् ।
वैभवीयैर्वृतो देवैश्चतुर्मूतिरधोक्षजः ॥ ७९ ॥

इन मन्त्रों को जान कर भक्त साधक को वैभवीय देवताओं से आवृत्त चतुर्मूर्त्ति भगवान् अधोक्षज को अमृतमय भोगों से सन्तुष्ट करना चाहिये ॥ ७९ ॥

चतुरङ्गाद्वर्णचक्रात् सर्वमन्त्राणामुद्धारः

चतुरङ्गादयं चक्राच्चातुरात्म्यस्य वै विभोः ।
इति मन्त्रगणः प्रोक्तः सरहस्यः समासतः ॥ ८० ॥

एतावदन्तमुक्तमर्थं निगमयति—चतुरङ्गादिति । चतुरङ्गाद् नाभ्यरनेमिप्रधिसंज्ञाङ्गचतुष्टयविशिष्टादित्यर्थः ॥ ८० ॥

नाभि, अर, नेमि एवं प्रधिसंज्ञक चार चतुष्टयों से विशिष्ट चक्र से उत्पन्न उन चातुरात्म्य महा विभु के मन्त्रों का रहस्य के सहित संक्षेप में वर्णन किया गया ॥ ८० ॥

तुर्य-सुषुप्ति-स्वप्न-जाग्रद्व्यूहलक्षणानि

अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत् ।
सर्वक्रियाविनिर्मुक्तमुत्तमं परमार्थतः ॥ ८१ ॥
चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धसंविन्मयं महत् ।

तुर्यव्यूहलक्षणमाह—अभेदेनेति सार्धेन ॥ ८१-८२ ॥

आदिमूर्त्ति के ये सभी मन्त्र अभेद-सम्बन्ध से वट-बीजवत् उन्हीं महाविष्णु में स्थित हैं और परमार्थ दृष्टि से यह चातुरात्म्य सभी क्रियाओं से विनिर्मुक्त तथा उत्तम है । यह तूर्य व्यूह का लक्षण है, जो शुद्ध संविन्मय है ॥ ८१ ॥

वह्न्यर्केन्दुसहस्राभमानन्दास्पदलक्षणम् ॥ ८२ ॥
बीजं सर्वक्रियाणां यद् विकल्पानां यदास्पदम् ।
चातुरात्म्यं तु तद् विद्धि द्वितीयममलेक्षण ॥ ८३ ॥

सुषुप्तिव्यूहलक्षणमाह—वह्न्यर्केति सार्धेन ॥ ८२-८३ ॥

यह अग्नि, सूर्य एवं चन्द्रमा से भी हजारों गुना देदीप्यमान है और आनन्दास्पन्द लक्षण वाला है । यही सर्वक्रिया का बीज है और सभी विकल्पों का आस्पद है । हे अमलेक्षण ! इस चातुरात्म्य को द्वितीय 'सुषुप्ति' व्यूह का लक्षण समझना चाहिए ॥ ८२-८३ ॥

नित्यं नित्याकृतिधरं तेजसा सूर्यवर्चसम् ।
भिन्नं सितादिभेदेन चोर्ध्वाधः संस्थितेन च ॥ ८४ ॥
कैवल्यभोगफलदं भवबीजक्षयङ्करम् ।
चातुरात्म्यं तृतीयं तु सुधासन्दोहसुन्दरम् ॥ ८५ ॥

स्वप्नव्यूहलक्षणमाह—नित्यमिति द्वाभ्याम् ॥ ८४-८५ ॥

जो नित्य नित्य-आकृति धारण करने वाला, तेज में सूर्य के समान तेजस्वी, सितादि भेद से भिन्न, नीचे-ऊपर सर्वत्र संस्थित, मोक्ष एवं भोग उभय रूप फल देने वाला, संसार बीज को क्षय करने वाला तथा सुधा सन्दोह के समान सुन्दर है, वह तृतीय चातुरात्म्य 'स्वप्नव्यूह' का लक्षण है ॥ ८४-८५ ॥

स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत् सर्वोपकरणान्वितम् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय समुदेत्यस्तमेति च ॥ ८६ ॥
चतुर्थं विद्धि तद् यस्य विश्वं तिष्ठति शासनात् ।
धत्ते सितादिकं रूपं चतुर्धा यत् कृते युगे ॥ ८७ ॥
रक्ताद्यं सितनिष्ठं च त्रेतायां हि महामते ।
पीतं कृष्णं सितं रक्तं सम्प्राप्ते द्वापरे युगे ॥ ८८ ॥
कलौ कृष्णं सितं रक्तं पीतं चानुक्रमेण तु ।

जाग्रद्व्यूहलक्षणं तस्य युगभेदेन वर्णभेदं चाह—स्थित्युत्पत्तीत्यादिभिर्विभागोऽत्रावधार्यत इत्यन्तैः । लक्ष्मीतन्त्रेऽप्येवमेवोपबृंहितानि व्यूहलक्षणानि—

वह्न्यर्केन्दुसहस्राभमानन्दास्पदलक्षणम् ॥
बीजं सर्वक्रियाणां तद् विकल्पानां तदास्पदम् ।

सौषुप्तं चातुरात्म्यं तत् प्रथमं विद्धि वासव ॥
अथ स्वापपदे ह्येवं विभज्यात्मानमात्मना ।
देवः प्रागादिभेदेन वासुदेवादिरूपतः ॥
समासव्यासभेदेन गुणानां पुरुषोत्तमः ।
सितरक्तसुवर्णाभ्रसदृशैः परमाद्भुतैः ॥
आदिमूर्तिसमै रूपैश्चतुर्धा ह्यवतिष्ठते ।
कैवल्यभोगफलदं भवबीजक्षयङ्करम् ॥
चातुरात्म्यं द्वितीयं तत् सुधासंदोहसुन्दरम् ।
अथ जाग्रत्पदे देवः सितरक्तादिभेदितैः ॥
चतुर्भुजैरुदाराङ्गैः शङ्खचक्रादिचिह्नितैः ।
नानाध्वजविचित्राङ्गैर्वासुदेवादिसंज्ञितैः ॥
व्यूहैः सम्प्रविभज्यास्ते विभुर्नाम स्वलीलया ।
जाग्रत्पदे स्थितं देवं चातुरात्म्यमनुत्तमम् ॥
स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत् सर्वोपकरणान्वितम् ।
सर्वं तच्चिन्तयेत्तस्य विश्वं तिष्ठति शासने ॥
त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके ।
सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ इति ॥

—लक्ष्मी० ८६-९२ (१०।२०-२७, ४०-४२)

अब 'जाग्रद्व्यूह' का लक्षण युग भेद से एवं वर्ण भेद से होता है, इस बात को कहते हैं—जो स्थिति, उत्पत्ति तथा प्रलय करने वाला है, सभी सृष्टि के उपकरणों से समन्वित है, अपनी प्रकृति पर स्थित हो कर उत्पन्न होता है और अस्त होता है। सारा विश्व जिसके शासन में रहता है, उसे चतुर्थव्यूह (जाग्रद्व्यूह) समझना चाहिए। जिसके शासन में यह सारा विश्व स्थित है, वह विष्णु कृतयुग में सित, रक्त, पीत तथा नील चारों वर्णों को धारण करते हैं। हे महामते! त्रेता में वह विष्णु रक्त वर्ण वाले और श्वेत पीत वर्ण धारण करते हैं। द्वापर में वही पीत कृष्ण, सित, रक्त वर्ण धारण करते हैं तथा कलि में कृष्ण, सित, रक्त और पीत वर्ण धारण करते हैं ॥ ८६-८९ ॥

युगसन्ध्याचतुष्के तु बिभर्ति परमेश्वरः ॥ ८९ ॥
विभिन्नमूर्तिसामान्यं रूपं यत् तन्निबोध मे ।
सितरक्तं कृतान्ते तु रक्तपीतमतः परम् ॥ ९० ॥
पीतकृष्णं च तदनु कृष्णाशुक्लमनन्तरम् ।

वह परमेश्वर चारों युगों की सन्ध्या में विभिन्न रूप में होकर जिस प्रकार सामान्य रूप धारण करते हैं। हे सङ्कर्षण! अब उसे सुनिए—सत्ययुग के अन्त में वह श्वेत रूप, उसके बाद त्रेता के अन्त में वह रक्त पीत, उसके बाद द्वापर के

अन्त में वह पीत कृष्ण, इसके बाद कलियुग के अन्त में वह कृष्ण शुक्ल रूप धारण करते हैं ॥ ८९-९० ॥

भेदः प्रागुदितैर्ज्ञेय आयुधाम्बरलाञ्छनैः ॥ ९१ ॥
समत्वादन्यथा केन विभागोऽत्रावधार्यते ।

प्राक् उदीयमान आयुध एवं अम्बर (=वस्त्र) के लाञ्छनों (= चिन्हों) से कलि भेद समझना चाहिये अन्यथा काल के समान होने से कौन उसके भेद का निश्चय कर सकता है ॥ ९१-९२ ॥

वर्णकालस्थानभेदेन वासुदेवादीनां ध्यानकथनम्

युगाब्ददिनरात्र्यर्धप्रहराणां क्रमेण तु ॥ ९२ ॥
विभागकल्पनं कृत्वा नित्यमालक्ष्य वै प्रभुम् ।
देहेऽस्मिन् मूर्ध्नि हृदये नाभौ तु तदधः पुनः ॥ ९३ ॥
तस्मादामूर्धपादान्तं भूतये मुक्तयेऽन्यथा ।
ग्रीवांसजानुगुल्फेषु स्मरेत् सन्ध्युक्तलक्षणम् ॥ ९४ ॥

वासुदेवादीनां स्मरणस्य कालभेदान् साधकशरीरे स्थानभेदांश्चाह—युगाब्देति त्रिभिः । आलक्ष्य ध्यात्वेत्यर्थः । भूतये ऐश्वर्याय । मुक्तये मोक्षाय । एवं च धाम-चतुष्टयं मूर्धादिचतुःस्थानेषु क्रमेण वासुदेवादी(नां?न्) स्मरतामैहिकं लौकिकं फलम्, पुनः प्रातिलोम्येन नाभेरधस्तादारभ्य मूर्धान्तं स्थानचतुष्टयेऽनिरुद्धादिवासुदेवान्तान् स्मरतां मूर्तिरूपं फलं च सिध्यतीति भावः । सन्ध्युक्तलक्षणं युगसन्धिभेदेन गृहीत-सितरक्तादिशबलरूपं वासुदेवादिचतुष्टयमित्यर्थः ॥ ९२-९५ ॥

अब वासुदेव के स्मरण का स्थान साधक के शरीर में कब और कहाँ होता है इस बात को कहते हैं—युग, वर्ष, दिन-रात, दोपहर आदि के क्रम से विभाग की कल्पना कर वहाँ प्रभु को स्मरण करे । इसी प्रकार इस देह में भी शिर, हृदय, नाभि तथा उसके नीचे के भाग में वासुदेव का स्मरण करने से ऐहिक पारलौकिक दोनों प्रकार का फल प्राप्त होता है । इसलिये मुक्ति तथा मूर्त्ति के लिये शिर से लेकर पादान्त भगवत्स्मरण करे । ग्रीवा, अंस, जानु तथा गुल्फ में तथायुगादि सन्धियों में उक्त लक्षण का स्मरण करे ॥ ९२-९४ ॥

सृष्टिसंहारयोगेन यः स याति परां गतिम् ।
इत्येकमूर्तेर्व्यूहानां विभवस्याखिलस्य च ॥ ९५ ॥

जो इस प्रकार सृष्टि क्रम से तथा संहार क्रम से भगवान् का स्मरण करता है, वह वैष्णव परमगति को प्राप्त करता है ॥ ९५ ॥

अवतारस्तथा ध्यानमर्चनं मन्त्रपूर्वकम् ।
स्वपदस्थानभेदेन प्रोक्तमेकसमाधिना ॥ ९६ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति सार्धेन । एकमूर्तेः परात्परवासुदेवस्य व्यूहानां विभवस्य वासुदेवादीनां तुर्याद्यवस्थाभेदस्येत्यर्थः ॥ ९५-९६ ॥

इस प्रकार एक मूर्त्ति, परात्पर भगवान् वासुदेव के व्यूहों का तथा उनके विभवों का और तुर्यावस्था भेद का अवतार, मन्त्रपूर्वक ध्यान एवं अर्चन स्वपदस्थान के भेद से यहाँ एक समाधि के द्वारा कहा गया है ॥ ९५-९६ ॥

चातुरात्म्यसमाराधनोपसंहारः

विशेषोऽप्यथ भेदाख्यस्त्ववतारपुरस्सरः ।
भावस्थितिविधौ चैव सर्वेषामधुनोच्यते ॥ ९७ ॥

एतेषां विशेष उच्यत इत्याह—विशेष इति ॥ ९७ ॥

अब सब के कल्याण के लिये भावस्थिति की विधि में अवतार पुरःसर विशेषताओं को बतलाया जा रहा है ॥ ९७ ॥

षाड्गुण्यमादिदेवाद्यं चातुरात्म्यमलाञ्छनम् ।
सृष्टये त्रितयं ह्येतत् सामर्थ्यं पारमेश्वरम् ॥ ९८ ॥
लोलीभूतमभेदेन स्मरेत् तुर्यात्मना पुरा ।
नित्योदितं च सुपदे स्थितमस्पन्दलक्षणम् ॥ ९९ ॥

विशेषमाह—षाड्गुण्यमिति द्वाभ्याम् । पारमेश्वरं सामर्थ्यं सामर्थ्यशक्तिरूपम्, एतत्त्रितयं सुषुप्त्यादिव्यूहत्रयम्, सृष्टये सृष्ट्यर्थं लोलभूतं स्मरेत् । अस्पन्दलक्षणम् अलोलभूतम्, नित्योदितं परात् परं भगवन्तमेव तुर्यात्मना तुर्यव्यूहरूपेण, अभिन्नं स्मरेदित्यर्थः ॥ ९८-९९ ॥

आदिदेव में रहने वाला, पहला षाड्गुण्य, दूसरा चातुराम्य लक्षण तथा तीसरा परमेश्वर की सामर्थ्य—ये तीन (सुषुप्त्यादिव्यूहमय) सृष्टि के लिये स्पन्दन करने वाले हैं । इनका स्मरण करे, इसके अतिरिक्त अस्पन्द लक्षण (अलोलीभूत स्थिर) एवं नित्योदित परात्पर भगवान् को तुर्यव्यूह रूप से अभिन्न विग्रह का भी स्मरण करे ॥ ९८-९९ ॥

भगवदवतारक्रमः

अथार्चितुं यमिच्छेत्तु विशेषव्यक्तिलक्षणम् ।
सङ्कल्प्य तं स्वबुद्ध्या तु तत्कालसमनन्तरम् ॥ १०० ॥
ध्रुवा सामर्थ्यशक्तिर्वै स्पन्दतामेति च स्वयम् ।
सूतेऽग्निकणवन्मन्त्रं यत्र मन्त्री कृतास्पदः ॥ १०१ ॥
तमागतमिवाकाशात् तारकं कर्णिकान्तरे ।
भावयेदथ तन्मध्यादाराध्यमुदितं स्मरेत् ॥ १०२ ॥

आदिमूर्तिस्वरूपेण चतुर्मूर्तिमयेन वा।
पृथक्त्वेन चतुर्मूर्तेरेकैकाकृतिनाऽप्यथ॥ १०३ ॥
अथवा वैभवीयेन नानाकृत्यात्मना तु वै।
अङ्गसङ्घं तदीयं च न्यसेत् पद्मदलाश्रितम्॥ १०४ ॥
परिवारं बहिः पद्मात् स्वकं यो यस्य विद्यते।

अर्चनार्थं भगवदवतरणक्रममाह—अथेति सार्धैः पञ्चभिः । यः साधको विशेषव्यक्तिलक्षणं परव्यूहविभवाख्यतत्तन्मूर्तिविशिष्टं भगवन्तमर्चितुमिच्छेत्, तं साधकं स्वबुद्ध्या संकल्प्य स्वाभिमुखं ज्ञात्वा तत्कालसमनन्तरं तदिच्छानन्तरमेव सामर्थ्यशक्तिः स्वयमेव स्पन्दतामेति । मन्त्री साधकः, यत्र कृतास्पदः, यन्मन्त्रमिच्छति तन्मन्त्रमग्निकणवत् सूते च । तत्स्पन्दनमात्रेणाऽग्नेः; स्फुलिङ्गवन्मन्त्रः समुद्भूतो भवतीति भावः । तन्मन्त्रमाकाशात् तारकमिव कर्णिकान्तरे हृत्कमलकर्णिकामध्ये आगतं भावयेत् । तन्मध्यात् मन्त्रमध्यात्, आराध्यं मन्त्रनाथम्, आदिमूर्तिस्वरूपेण परवासुदेवरूपेण । यद्वा चतुर्मूर्तेर्व्यूहस्य पृथक्त्वेन, एकैकाकृतिना केवलमेकैकमूर्तिरूपेण, आहोस्विन्नानाकृत्यात्मना वैभवीयेन रूपेण पद्मनाभादिभेदेन, उदितम् उत्पन्नं स्मरेत् ॥ १००-१०५ ॥

अब अर्चन के लिए भगवान् के अवतार का क्रम कहते हैं—जो वैष्णव साधक विशेष व्यक्तिलक्षण परव्यूहविभव नामक उन-उन मूर्तिविशिष्ट भगवान् के विग्रह की अर्चना करना चाहते हैं, उस साधक को अपनी बुद्धि से उन विभवावतारों की कल्पना मन में करके उन्हें अपने सन्मुख हुआ समझकर उसी समय अर्चना की इच्छा मन में होते ही सामर्थ्यशक्ति स्वयमेव मन में स्पन्दित हो जाती है । वैष्णव मन्त्रज्ञ साधक जहाँ कहीं भी उन विभवावतार का सान्निध्य (= आस्पद) चाहता है वहीं पर, मन्त्र रूप अग्नि कण के समान उन्हें उत्पन्न कर लेता है अर्थात् जैसे अग्नि की छोटी सी चिनगारी प्रज्वलित अग्नि बना देती है वैसे ही साधक मन्त्र रूप चिनगारी से उन्हें प्रकट कर देता है । उस मन्त्र रूप आकाश के मध्य तारों के समान हृत् कमल रूप कर्णिका के मध्य में साधक उनकी भावना करे । वह यह भावना करे कि आराध्य मन्त्र के देवता आदि मूर्ति पर वासुदेव रूप से हृत्कमल की कर्णिका में उसी प्रकार प्रगट हो गए हैं जैसे आकाश में तारे प्रगट हो जाते हैं । साधक यदि इच्छा करे तो चतुर्व्यूह में से एक-एक आकृति का एक-एक मूर्ति रूप से स्मरण करे अथवा पद्मनाभादि विभवावतारों में से जिनको चाहे उन्हें स्मरण कर उत्पन्न कर लेवे । इस प्रकार उन स्मृत देवता के अङ्ग-समूह का पद्मदल में न्यास करे । उन स्मृत देवता के जो परिवार हों उन्हें पद्म के बाहर न्यास करे ॥ १००-१०५ ॥

सशक्तिकस्य मन्त्रस्य दिक्क्रमेण हृदादि यत्॥ १०५ ॥
न्यसेत् केसरजालस्थं पत्रमध्ये तु शक्तयः।

(नि:? स) शक्तिकस्य मन्त्रस्य प्रागादिदलेषु हृदयाद्यङ्गमन्त्रन्यासं कमलाद् बहिस्तत्तत्परिवारन्यासं चाह—सशक्तिकस्येति । एवं दलेषु लक्ष्म्यादिशक्तिन्यास-नियमस्य प्रायिकत्वं बोध्यम् । यतोऽत्रैव त्रयोदशे परिच्छेदे—

षट्कं केसरजालस्थं तत्र प्राक् पश्चिमे द्वयम् ॥
द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये तासां वामकरेषु च ।

—(सात्वत० १३।५२-५३)

इति केसरस्थानेऽपि शक्त्यवस्थानमुक्तम् । सप्तदशपरिच्छेदेऽपि—

नेमिभागे श्रियं देवीं पुष्टिमुत्तरतो न्यसेत् ।
पृष्ठदेशे स्थितां निद्रामग्रभागे सरस्वतीम् ॥—(सात्वत० १७।७०)

इति कमलाद् बहिरपि शक्तिन्यास उक्तः । किञ्च, सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे पारमेश्वरे च—

'देवस्य कर्णिकायां तु श्रियं पुष्टिं ततोऽपरे' (ई०सं० ४।७९; पा०सं० ६।२४९) इति कर्णिकायामपि देवस्य पार्श्वद्वये शक्त्यर्चनमुक्तम् ॥ १०५-१०६ ॥

अब पहले पद्म के आदि दलों में शक्ति के सहित हृदयाद्यङ्गमन्त्रों का न्यास एवं कमल के बाहर उनके परिवार का न्यास कहते हैं—केशर स्थान में शक्ति का अवस्थान कहा गया है । अत: पूर्व से आरम्भ करके दो-दो शक्तियों का पत्र के मध्य में न्यास करे ॥ १०५-१०६ ॥

निःशक्तिको निरङ्गो यो मन्त्रनाथस्तु केवलः ॥ १०६ ॥
शब्दमात्रेण तं भूयो दलजालगतं यजेत् ।

निःशक्तिकत्वनिरङ्गकत्वोभयविशिष्टस्य भगवतस्तु केवलमन्त्रमात्रेण भाग-स्थानेऽप्यर्चनमाह—निःशक्तिक इति ॥ १०६-१०७ ॥

शक्ति रहित एवं निराकार उभय विशिष्ट भगवान् का अर्चन केवल मन्त्र मात्र से कमल निर्देशित भागस्थान पर करना चाहिए ॥ १०६-१०७ ॥

इत्येवमन्तर्यागस्तु देवस्य परमात्मनः ॥ १०७ ॥
समासेनोदितः सम्यगथ मूर्तेर्यजेद् बहिः ।

उक्तमर्थं निगमयति—इतीति ॥ १०७-१०८ ॥

इस प्रकार परमात्मा विष्णु देव के अन्तर्याग का विधान संक्षेप से किया गया है । अब मूर्ति का पूजन बाहर करना चाहिए इसे कहते हैं ॥ १०७-१०८ ॥

बहिर्यागोपक्रमः

वेद्यां पुराहृतैर्भोगैर्बिम्बे वा चक्रपङ्कजे ॥ १०८ ॥
हेमादिद्रव्यजनिते चक्रे वा केवलाम्बुजे ।

भद्रपीठभुवो मध्ये सुश्लक्ष्णे केवले तु वा ॥ १०९ ॥
ध्यात्वा ध्यात्वा स्वमन्त्रेण ह्यपवर्गफलाप्तये ।
समर्चनीयं विधिवच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्सरम् ॥ ११० ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां जाग्रत्व्यूहसमाराधनं नाम पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ५ ॥

— ❀ —

बहिर्यागस्थानान्याह—वेद्यामित्यादिभिः ॥ १०८-११० ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ५ ॥

— ❀ —

बहिर्याग का उपक्रम करते हैं—पहले से आहृत भोगों द्वारा वेदी पर अथवा बिम्ब में या चक्रपङ्कज में पूजन करे । अथवा स्वर्ण निर्मित चक्र में या केवल कमल दल पर ही अर्चन करे । सुन्दर लक्षण वाले भद्रपीठ पर भी यजन किया जाता है । इस प्रकार अपवर्ग रूप फल की प्राप्ति के लिए वैष्णव साधक अपने इष्ट देव की पूजा भक्तिपूर्वक अपने मन्त्र से करे ॥ १०८-११० ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के जाग्रत्व्यूहसमाराधन नामक पाँचवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ ५ ॥

— ❀ —

षष्ठः परिच्छेदः

चातुरात्म्यबाह्याराधनम्

नारद उवाच

वक्ष्ये विप्रवराः सम्यग् य रक्तश्चक्रपाणिना ।
प्रसङ्गाद् बलदेवस्य द्रव्ययागोऽप्यनन्तरम् ॥ १ ॥

अथ षष्ठो व्याख्यास्यते । बहिर्यागं वक्ष्य इत्याह—वक्ष्य इति । द्रव्ययागः द्रव्यैरर्घ्यादिभिः क्रियमाणो यागः । बाह्याराधनमित्यर्थः ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—भगवान् चक्रपाणि ने प्रसङ्ग उपस्थित होने पर बलदेव से इसके बाद बाह्यसाधनभूत द्रव्ययाग (= बहिर्याग) इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

भद्रपीठशोधनविधानम्

श्रीभगवानुवाच

यत्किञ्चित् पत्रपुष्पाद्यं परिदृश्येत पीठगम् ।
पाणिना तत्समाहृत्य शुचिस्थाने निधाय वै ॥ २ ॥
गव्यैर्वा चामरैर्वालैः शिखिपक्षैः कुशैरथ ।
संमार्ज्य भद्रपीठं तु वाससा सुसितेन वा ॥ ३ ॥
बहुना वस्त्रपूतेन वारिणा तदनन्तरम् ।
प्रक्षाल्य द्वादशार्णेन प्रणवाद्यन्तकेन तु ॥ ४ ॥

आदौ भद्रपीठशोधनप्रकारमाह—यत्किञ्चिदिति त्रिभिः । पत्रपुष्पाद्यं = पूर्वदिने भगवद्भुक्ततुलसीपत्रादिकमित्यर्थः । प्रणवाद्यन्तकेन = प्रणवसम्पुटितेनेत्यर्थः । द्वादशार्णेन = वासुदेवद्वादशाक्षरेणेत्यर्थः । एवं भद्रपीठशोधनादिकस्य कालान्तरकर्तव्यत्वमप्युक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

यद्वा प्राग्यागभवनप्रवेशानन्तरं द्विजाः ॥
न्यस्य भद्रासनाद्यन्तमन्यदन्यत् समाचरेत् ।
यद्वा तदातने काले न्यस्य भद्रासनं ततः ॥
आद्यं मार्गत्रयं कृत्वा यथोक्तविधिना ततः ।
योगपीठार्चनारम्भे बिम्बोक्तं सर्वमाचरेत् ॥ इति ॥ २-४ ॥
—(ई० सं० ३।१६-१८; पा० सं० ६।३२-३४)

श्रीभगवान् ने कहा—पूर्व दिन में भद्रपीठ पर भगवान् की आराधना के लिये निवेदित तुलसीपत्रादि को साधक हाथ से उठाकर किसी पवित्र स्थान पर स्थापित कर देवें, अथवा गोपुच्छ, चामर, बाल, मयूरपुच्छ अथवा कुशा से सम्मार्जित कर देवे, अथवा अत्यन्त सुन्दर स्वच्छ वस्त्र से झाड़, पोंछकर भद्र पीठ को शुद्ध कर लेवे। फिर वस्त्र से छाने हुए जल द्वारा प्रणव सम्पुटित द्वादशाक्षर मन्त्र से उस भद्रपीठ का प्रक्षालन करे ॥ २-४ ॥

चक्रराजार्चनविधानम्

सर्वलोकमयं तत्र सर्वदेवसमाश्रयम्।
सर्वाधारमयं ध्यायेदन्तर्लीनं तु चक्रराट्॥ ५ ॥
प्रणवेन स्वनाम्नाऽथ नमोऽन्तेनार्चयेच्च तम्।
अर्घ्यालभनधूपैस्तु माल्यैर्नानास्त्रगुद्भवैः ॥ ६ ॥

भद्रपीठान्तर्लीनचक्रराजार्चनमाह—सर्वलोकमयमिति द्वाभ्याम् । चक्रराट् = चक्रराजमित्यर्थः । विभक्तिविनिमयच्छान्दसः । आलभनम् = आलभ्यते आलिप्यतेऽनेनाङ्गमित्यालभनं गन्धः । नानास्त्रगुद्भवैः नानाविधाः स्रजामुद्भवा रचनाविशेषा येषां तैः, द्विसरत्रिसरादिभेदेन नानारूपस्वररचनाविशिष्टैरिति यावत् । अथवा नानाविधपुष्पजनितैरित्यर्थः । स्रक्शब्दस्य केवलपुष्पमात्रपरत्वं ज्ञेयम् । यत एवमुत्तरत्राप्यग्निकार्यप्रकरणे 'स्रग् धूपं मधुपर्कं च' (सात्वत० ६।९८, १४८) इत्यत्र स्रक्शब्दस्य पुष्पमात्रपरत्वमङ्गीक्रियते ।

ननु तत्रापि स्रक्शब्दस्य मालिकापरत्वे कः प्रत्यवाय इति चेदुच्यते, किमावयोर्विवादेन, लक्ष्मीतन्त्रे—'ततः पुष्पमयीं दद्याद् धूपद्रव्यमयीं तथा' (ल० ४०।६८) इति स्रक्शब्दस्य पुष्पपरत्वेन महालक्ष्म्यैव व्याख्याततत्वात्, ततो माल्यमयीं दद्यादित्यनुक्तेः । किञ्च, सात्वतोपबृंहणे ईश्वरे पारमेश्वरे च होमद्रव्यविवरणप्रकरणे—

'सुगन्धैः स्थलपद्माद्यैः पुष्पैश्चैव सितादिकैः' । इति ।
—(ई० सं० ५।२०६; पा० सं० ७।१६९)

तर्पितः स्थलपद्माद्यैः पुष्पैश्चान्यैः सितादिकैः ॥
सौभाग्यमतुलं विप्रा अचिरादेव यच्छति ।
—(ई० सं० ५।२१६-२१७; पा० सं० ७।१८०)

इति च केवलपुष्पमात्रोक्तेः । किञ्च, पाद्मेऽपि आहुतिप्रमाणनिरूपणप्रकरणे—'फलैः पुष्पैरखण्डितैः' इति पुष्पाणामखण्डितत्वमात्रलक्षणोक्तेः, केवलपुष्पैरेव होमसम्प्रदायाच्च स्रक्शब्दः पुष्पमात्रपरो बोध्यः । किञ्च, 'स्रग्दामसूत्रसम्बद्धमाकर्णाच्चरणावधि' (६।५५) इत्यलङ्कारासनप्रकरणे वक्ष्यमाणं वाक्यमप्यत्रानुकूलं ज्ञेयम्, एषामेव श्लोकानां पारमेश्वरेऽपि प्रतिपादितत्वात् । तद्व्याख्याने तु—'नानास्रगुद्भवैर्माल्यैः नानाविधस्रजामुद्भवहेतुभूतैः पुष्पैः', 'माल्यं पुष्पे च दामनि' (६।३।२५) इति वैजयन्ती' इति लिखितम् । तदस्वरसम्, विशेषणस्य वैयर्थ्यात्; मालिकादिभिः

पीठार्चने प्रत्यवायाऽभावाच्च । अस्मिन्नवसरे नृसिंहकल्पवक्ष्यमाणरीत्याऽनन्तादिपीठ-देवानामप्यर्चनं कार्यम् ॥ ५-६ ॥

फिर सर्वलोकमय एवं समस्त देवों के आश्रयभूत, सर्वाधारमय, अन्तर्लीन चक्रराज का ध्यान करे । 'चक्रराट्' द्वितीया के स्थान में प्रथमा का प्रयोग आर्ष समझना चाहिये ॥ ५ ॥

फिर प्रणव के साथ चक्रराज को चतुर्थ्यन्त कर अन्त में नमः लगा कर (ॐ चक्रराजाय नमः) इस मन्त्र से उन चक्रराज का अर्घ्य, गन्ध, धूप एवं नाना प्रकार के पुष्प माल्य द्वारा अर्चन करे ॥ ६ ॥

ततः कुम्भचतुष्कं तु हेमादिद्रव्यनिर्मितम् ।
गालितेनाम्भसा पूर्णं स्त्रगाद्यैरप्यलङ्कृतम् ॥ ७ ॥
गन्धसर्वौषधीरत्नफलबीजकुशोदकम् ।
बहिःकोणचतुष्के तु न्यसेदाधारपृष्ठगम् ॥ ८ ॥
ॐ अर्घ्यं कल्पयामीति ह्युक्त्वा वायुपदे न्यसेत् ।
कलशं तद्वदैशान्यां न्यसेदाचमनार्थतः ॥ ९ ॥
स्नानार्थमग्निकोणे तु पाद्यार्थं नैर्ऋते तथा ।

अथ पात्रपरिकल्पनमाह—तत इति सार्धैस्त्रिभिः । अत्र गन्धसर्वौषधीरत्नफल-बीजकुशादिकमित्यर्घ्यादीनां चतुर्णामित्यविभागेन द्रव्याण्युक्तानि । एषां विभागस्त्व-ष्टादशपरिच्छेदे (६४-६८ श्लो०) वक्ष्यमाणो ज्ञेयः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

आधारोपरि पात्राणि स्वपूर्वनियमेन तु ।
वायव्यादिषु विन्यस्य तत्तत्कल्पनमन्त्रतः ॥ इति ॥

—(ई० सं० ३।२६-२७; पा० सं० ६।३७)

किञ्च, अत्रार्घ्यादीनां चतुर्णामेवोक्तत्वेऽप्यष्टादशपरिच्छेदे (७०-७६ श्लो०) वक्ष्यमाणं द्वितीयार्घ्यमपि ग्राह्यम्, तस्य पीठार्चनाद्युपयुक्तत्वात् । अत्र पात्रपरिकल्पनात् पूर्वमेव पीठान्तर्लीनचक्रराजार्चनोक्तावपि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन तत् तद-नन्तरमेव ग्राह्यम् । तथा वक्ष्यति सप्तदशे परिच्छेदे—

पुष्पैरथार्घ्यपात्रं तु मन्त्रैः सम्पूज्य निष्कलैः ।
पात्रे परस्मिंस्तस्माद्वै स्तोकमुद्धृत्य चोदकम् ॥
योगपीठार्चनं कुर्यादनुसंधानपूर्वकम् ।

—(सात्वत० १७।५२-५३) इति ॥ ७-१० ॥

इसके बाद सुवर्णादि द्रव्यों द्वारा निर्मित, वस्त्र से छाने हुए जल से परिपूर्ण, माला आदि से अलङ्कृत, गन्ध, सर्वौषधि, रत्न, फल, बीज, कुशा और अर्घ्य जल से युक्त कर आधार पृष्ठ पर स्थापित उन कलशों के बाहर के चारों कोणों पर उन्हें स्थापित करे ॥ ७-८ ॥

'ॐ अर्घ्यं कल्पयामि' यह मन्त्र पढ़कर प्रथम कलश को वायव्यकोण में स्थापित करें। इसी प्रकार 'ॐ आचमनार्थं कल्पयामि' इस मन्त्र को पढ़कर ईशान कोण में दूसरा कलश स्थापित करे। इसी प्रकार 'ॐ स्नानार्थं कल्पयामि' इस मन्त्र को पढ़कर तीसरा कलश अग्निकोण में स्थापित करे। फिर पाद्यार्थं कल्पयामि इस मन्त्र को पढ़कर नैर्ऋत्य कोण में चौथा कलश स्थापित करे ॥ ९-१० ॥

अथ मङ्गलकुम्भानामुपकुम्भसमन्वितम् ॥ १० ॥
चतुष्कं विन्यसेद् बाह्ये दिक्क्रमेण सुपूजितम् ।

अथ परितः कलशाष्टकस्थापनमाह—अथेति । उपकुम्भसमन्वितम्, विदिक्षु स्थापनीयैश्चतुर्भिः कलशैः सहितमित्यर्थः । अथवा नृसिंहकल्पपरिच्छेदे शान्तिकादि-प्रकरणेषु वक्ष्यमाणरीत्योपस्थापनीयैश्चतुर्भिरुपकुम्भैः समन्वितमित्यर्थः । मङ्गल-कुम्भानां चतुष्कं प्रागुदीरितं (सात्वत० ६।७) चतुर्दिक्षु स्थापनीयकलशचतुष्टय-मित्यर्थः ॥ १०-११ ॥

इसी प्रकार मङ्गल कुम्भ के समीप बाहर के चारों दिशाओं में क्रमशः पूर्व की भाँति सुपूजित चार उपकुम्भ भी स्थापित करे ॥ १०-११ ॥

भगवद्विम्बपूर्वं तु यागाङ्गं प्रागुदीरितम् ॥ ११ ॥
एकं सुलक्षणं तत्र ततो मध्येऽवतार्य च ।

तत्कलशाष्टकमध्ये भगवद्विम्बाद्यन्यतमस्थापनमाह—भगवदिति । प्रागुदीरितं (षष्ठा?पञ्चमा) ध्यायान्ते उक्तमित्यर्थः । भद्रपीठोपरि केवलचरबिम्बाद्यर्चनप्रकरणे । एवं परितः कलशाष्टकस्थापनं कार्यम् । स्थिरबिम्बार्चनविषये तु तदप्रकृतम् । अत एव ईश्वरपारमेश्वरयोर्नोक्तं च ॥ ११-१२ ॥

इस प्रकार ८ कलशों की स्थापना बहिर्याग में कही गई। बहिर्याग के अङ्गभूत भगवद् बिम्ब के विषय में पहले कह दिया गया है (द्र. पञ्चमाध्याय के अन्त में)। उन आठ कलशों के मध्य में सुलक्षण भगवद् बिम्ब की स्थापना करनी चाहिए ॥ ११-१२ ॥

बिम्बशोधनकथनम्

भुक्तमर्घ्यादिकं तस्मादपनीयाभिवन्द्य च ॥ १२ ॥
उशीरवंशकूर्चेन क्षालयेदम्भसा ततः ।

बिम्बशोधनमाह—भुक्तिमिति । भुक्तमर्घ्यादिकं पूर्वदिने, यद्वाऽभिगमनार्चन-काले भगवद्भुक्तार्घ्यपुष्पादिकमित्यर्थः । उशीरवंशकूर्चेन लाम(ज्छ?ज्जक)-पिञ्जुलेन ॥ १२-१३ ॥

बिम्बशोधन का प्रकार कहते हैं—पूर्व दिन में बिम्ब पर निवेदित भुक्त अर्घ्यादि पदार्थों को उशीर अथवा बाँस के कूँचे (झाड़ू) से हटा कर उसका अभिनन्दन करें। फिर स्वच्छ जल से सुलक्षण अर्घ्य पात्र का प्रक्षालन करे ॥ १२-१३ ॥

पुराङ्कितं तु चक्राद्यैर्यथाबद्धं तु वा शुभम् ॥ १३ ॥
सलिलेनार्घ्यपात्रं तु सम्पूर्याग्रे निधाय वै ।
तिलान् सुमनसस्तस्मिन् दूर्वाः सिद्धार्थकान् क्षिपेत् ॥ १४ ॥
चतुरावर्तयेन्मन्त्रं कृत्वा पाणितले स्थितम् ।
ततः सर्वगतं देवं मन्त्रमूर्तित्वमागतम् ॥ १५ ॥
समाहूय स्वमन्त्रेण त्वागच्छान्तपदेन तु ।
यथा सर्वगतो वायुर्व्यजनेन महामते ॥ १६ ॥
व्यक्तिमभ्येति भगवानाहूतस्तद्वदेव हि ।
भावदर्पणसङ्क्रान्तं कृत्वा हृत्कमलात्तु वै ॥ १७ ॥
सन्निरुध्य बहिर्वेद्यां मन्त्रोच्चारावसानतः ।

अथावाहनक्रममाह—पुराङ्कितमिति पञ्चभिः । चक्राद्यैरङ्कितमित्यनेन सुवर्णादिकं द्रव्यमयं पात्रमुच्यते । यथाबद्धं तु वेत्यनेन पलाशादिपत्रमयमुच्यते । तथा च जयाख्ये—

अर्घ्यपात्रं समादाय सुवर्णरजतादिजम् ॥
शैलं मृद्दारुजं वाऽथ पलाशाम्बुजपर्णजम् ।
—(१३।६३-६४) इति ।

सलिलेन = प्रधानार्घ्यसलिलेनेत्यर्थः । यतः—

आवाहने सन्निधाने सन्निरोधे तथार्चने ॥
विसर्जनेऽर्घ्यदानं तु प्राक्पात्रान्नित्यमाचरेत् । —(१८।७०-७१)

इति वक्ष्यति । अर्घ्यपात्रम् आवाहनार्थं कृतं पृथक् पात्रमित्यर्थः । तथा च पाद्मे—

आवाहितपदं पात्रं प्रक्षालितमथाम्बुभिः ।
पूरयेन्मूलमन्त्रेण हस्ताभ्यां च समुद्धरेत् ॥
ललाटसममेतस्मिन् अन्तरावाह्य केशवम् । इति ॥

सिद्धार्थकान् = श्वेतसर्षपानित्यर्थः । मन्त्रम् आगच्छपदसंयुक्तं तत्तन्मूर्तिमन्त्रमित्यर्थः । 'समाहूय स्वमन्त्रेण त्वागच्छान्तपदेन तु' (सा० ६।१६) इत्युक्तत्वात् । तथा च पाद्मेऽपि—'चतुरुच्चारयेन्मन्त्रमागच्छपदसंयुतम्' इति । एवमावाहनकाले मन्त्रस्य चतुरुच्चारणं लक्ष्मीतन्त्रेऽप्युक्तम्—'तारकं चतुरुच्चार्य तारिकां तु त्रिरुच्चरेत् (३८।४) इति । ततः सर्वगतं देवमिति श्लोकेनोक्तस्यार्थस्यानुवादः कृतः । मन्दमतीनां भगवदावाहने विस्रम्भजननार्थं यथा सर्वगतो वायुरिति दृष्टान्तकथनम् । एवमेव वक्ष्यति प्रतिष्ठाध्यायेऽपि—

सर्वत्रगोऽसि भगवन् किल यद्यपि त्वा-
मावाहयामि हि यथा व्यजनेन वायुम् ।

गूढो यथैव दहनो मथनादुपैति
आवाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चार्चाम् ॥
—(सा० २५।१२१) इति।

भावदर्पणसंक्रान्तं कृत्वेत्यनेन—

तमागतमिवाकाशात् तारकं कर्णिकान्तरे।
भावयेदथ तन्मध्यादाराध्यमुदितं स्मरेत् ॥ —(सा० ५।१०२)

इत्युक्तार्थः स्मारितो भवति। वेद्यामिति पदं बिम्बाद्युपलक्षकम्। सन्निरुध्य पूजावसानिकां स्थितिं प्रार्थ्येत्यर्थः। अत्र सन्निधिसाम्मुख्यकरणमप्यपेक्षितमीश्वरादिषु ग्राह्यम्। मन्त्रोच्चारावसानतः तत्तन्मूलमन्त्रावसान इत्यर्थः। किञ्च—

आवाहयामि लक्ष्मीशं परमात्मानमव्ययम् ॥
आतिष्ठतामिमां मूर्तिं मदनुग्रहकाम्यया।
श्रिया सार्धं जगन्नाथो देवो नारायणः पुमान् ॥
—(ल० ३६।९४-९५)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तो मन्त्रश्चात्र प्रकृतः। नन्वेतच्छ्लोकपञ्चकस्याप्यावाहनपरत्वे पुराङ्कितमित्यादिश्लोकद्वयं सात्वतोपबृंहणेश्वरपारमेश्वरयोः कुतो नोक्तमिति चेत्सत्यम्, तत्र—

गन्धार्घ्यपुष्पैः सम्पूर्य मूलमन्त्रं समुच्चरन्।
पीठोपरि हरेरग्रे मूर्ध्नि पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ॥
—(ई०सं० ४।५९; पा०सं० ६।२२९)

इत्यनेनैव तच्छ्लोकद्वयार्थः संगृहीतो भवतीति बोध्यम्, तदावाहनपात्रस्थार्घ्यजलस्याञ्जलिद्वारेणैव बिम्बोपरि सेचनीयत्वात्। 'तिलान् सुमनसस्तस्मिन् दूर्वाः सिद्धार्थकान् क्षिपेत्' (६।१४) इत्युक्तस्य द्रव्यचतुष्टयप्रक्षेपस्य प्रधानार्घ्यजलपूरणेनैव चारितार्थ्याच्च।

नन्वेवं तेनैव तद्द्रव्यचतुष्टयप्रक्षेपस्य चरितार्थ्ये सात्वते पुनः किमर्थं तदुपादानमिति चेत्, सत्यम्—

पाद्ये द्रव्यान्तरालाभे दूर्वा चार्घ्येऽथ सर्षपः।
शस्तमाचमनीये तु तक्कोलं मार्जनाम्भसि ॥

इति पाद्योक्तन्यायेनार्घ्यादिषु द्रव्यान्तरालाभेनैकैकद्रव्यप्रक्षेपेऽप्यावाहनार्घ्ये तिलादीनां चतुर्णामपि प्रक्षेपसिद्ध्यर्थं पुनरुपादानमिति ज्ञेयम्। एवं चैवमावाहनं चरबिम्बकुम्भमण्डलाद्यर्चनविषयम्, न तु स्थिरबिम्बविषयम्,

स्थितमायतने वाऽथ साकारं परमेश्वरम्।
शङ्खचक्रधरं विष्णुं सुरसिद्धावतारितम् ॥
ऋषिभिर्मनुजैर्वाथ भक्तियुक्तैः प्रतिष्ठितम्।
तन्मूर्तौ च स्वमन्त्रेण यजेदावाहनं विना। —(१३।५८-६०)

इति जयाख्योक्तेः, 'संस्थितेऽभिमुखीभावस्तदेवावाहनं हरेः' इति पाद्मोक्तेः, तथैवेश्वरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितत्वाच्च ॥ १३-१८ ॥

तदनन्तर चक्रादि चिह्नों से अलङ्कृत तथा पलाशादि पत्रों से आबद्ध उस स्वर्ण के अर्घ्यपात्र को जल से पूर्ण करे । फिर अपने आगे स्थापित करे । उसमें तिल, पुष्प, दूर्वा एवं सिद्धार्थक (श्वेत सर्षप) डाल देवें ॥ १३-१४ ॥

फिर उस अर्घ्यपात्र को हाथ पर रख कर चार बार मन्त्र से उस जल का अवलोकन करे और ऐसी भावना करे कि सर्वव्यापक वह परमात्मा इस अर्घ्य के जल में मन्त्र मूर्त्ति के रूप में आ गये हैं ॥ १५ ॥

फिर उनके मन्त्र से आगच्छान्त पद से उनका इस प्रकार आवाहन करे 'जिस प्रकार सर्वगत वायु व्यजन के द्वारा प्रगट किया जाता है, उसी प्रकार सर्वगत हे विष्णो ! मैं आप का आवाहन करता हूँ । इस प्रकार हृदय कमल से निकाल कर उन प्रभु को भावदर्पण में संक्रान्त करे । फिर मन्त्रोच्चारण के अन्त में उन्हें वहाँ से हटा कर बाहर को वेदी में स्थापित करे ॥ १६-१८ ॥

मन्त्रमागच्छमानं तु निर्गतं तु स्वकात् पदात् ॥ १८ ॥
कालं पाद्यार्घ्यदानान्तमुत्थितं भावयेत् सदा ।
अथोपचर्यमाणं तं भोगैः कालानुकूलतः ॥ १९ ॥
स्नानालभनवस्त्रस्रग्दानेऽलङ्करणे तथा ।
अन्यत्र भोगपूजायां स्मरेत् पद्मासनादिना ॥ २० ॥
पुनस्तमेवोपविष्टं सानुकम्पं च सम्मुखम् ।
बिम्बं विनाऽन्यत्राधारे भवत्येवं महामते ॥ २१ ॥

केवलवेदिकुम्भमण्डलादिष्वावाहितस्य देवस्य तत्तदुपचारानुरोधेनावस्थानभेद-भावनमाह—मन्त्रमिति सार्धैस्त्रिभिः ॥ १८-२१ ॥

अपने पदों से निकल कर जब मन्त्र आने लगे तो, उस काल को पाद्य एवं अर्घ्यादि के निवेदन के लिये उचित समझकर, उसके निवेदन की भावना करे । इसी प्रकार पूजोपचार का भी उचित काल समझकर, कालानुकूल उन्हें स्नान, गन्ध, वस्त्र, पुष्प, माला एवं अलङ्कार द्वारा पूजा करे । योग पूजा से अतिरिक्त स्थिति में केवल पद्मासनादि से भगवान् का स्मरण कर लेवें ॥ १८-२० ॥

हे महामते! फिर साधक उन भगवान् को सानुग्रह अपने सम्मुख बैठा हुआ देखें । यह तब करे जब बिम्ब न हो, कोई और आधार हो तब ऐसा समझे ॥ २१ ॥

बिम्बाकृत्यात्मना बिम्बे समागत्यावतिष्ठते ।
करोत्यमूर्तामखिलां भोगशक्तिं तु चात्मसात् ॥ २२ ॥

बिम्बे तादृशभावनाश्रम एव नास्ति, ब्रह्मरूपेण साक्षादेव भोगानङ्गीकरोतीत्याह—बिम्बाकृत्येति । तथा चोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

क्लृप्ते तु विग्रहे पूर्वं तथारूपोऽवतिष्ठते ।
भोगेषु दीयमानेषु शक्तिर्या मन्मयी परा ॥
तत्रस्था तां स्मरेत् साक्षाददानो हरिर्यथा ।
—(३८।१६-१७) इति ।

यद्यपि पाद्मे बिम्बार्चनप्रकरणेऽपि—

अर्घ्यवस्त्राम्बराकल्पपुष्पगन्धानुलेपनैः ।
प्रत्यर्चितं स्थितं ध्यायेत् पाद्याचमनयोः पुनः ॥

(तदानीं ध्यानं चोक्तं पाद्मे—)

आसीनं स्नानकाले च पद्मासनसुखासनम् ।
नैवेद्यधूपदीपादावासीनं स्वस्तिकासने ॥
उपचारेषु चान्यत्र तत्तत्कर्मानुसारतः ।
स्थितमासीनमथवा देवं ध्यायेत पूजकः ॥

इत्युक्तम्, तथापि तत्कुम्भार्चनादिपरमेव । अथवा बिम्बस्यैव तथा ध्यानपरम्, नहि कुम्भादिष्विव तदन्तःस्थितभगवन्मात्रध्यानपरमिति ध्येयम् । अत्रापेक्षिता मन्त्रन्यासलयभोगार्चनादयो बहवो विशेषा नृसिंहकल्पे वक्ष्यमाणा ग्राह्याः ॥ २२ ॥

बिम्ब में उस प्रकार की भावना का श्रम नहीं करना पड़ता, वह बिम्ब में साक्षात् ब्रह्म स्वरूप से अमूर्त भी सम्पूर्ण भोगशक्ति को स्वयं अङ्गीकार कर लेता है ॥ २२ ॥

विनिवेद्याऽऽसनवरं समाहूतस्य वै प्रभोः ।
पादपीठं तु समान्यं मृद्वास्तरणभूषितम् ॥ २३ ॥
पाद्यार्घ्ये मधुपर्कं च तोयमाचमनीयकम् ।

अथासनाद्युपचारसमर्पणमाह—विनिवेद्येति सार्धेन । अत्र पाठक्रमं विहाय प्रथममर्घ्यम्, ततः पाद्यम्, तदनन्तरमाचमनीयम्, ततो मधुपर्कं च समर्पणीयम् । तत्रार्घ्यं पुष्पद्वारा भगवतो मूर्ध्नि देयम्, 'अर्घ्यस्तृतीयया देयो मूर्ध्न्यापः कुसुमोद्धृताः' (३६।१००) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । तदानीं घण्टानादश्च कार्यः, 'आवाहनार्घ्ये धूपे च दीपे नैवेद्यजोषणे' (३।८३) इति, 'घण्टाशब्दसमोपेतं दत्वाऽर्घ्यं मन्त्रमूर्धनि' (४।१३४) इति चेश्वरादिषूक्तत्वात् । पाद्यं तु द्विवारं देयम्, 'पाद्यदाने तु विप्रेन्द्र द्विर्दद्यात्तु पदाम्बुजे' (१७।४६) इत्यनिरुद्धसंहितोक्तेः । इदानीं पाद्यप्रतिग्रहपादसंमार्जनवस्त्रपादानुलेपनान्यपि देयानि । आचमनं तु त्रिवारं समर्पणीयम् । तथा चोक्तमनिरुद्धसंहितायाम्—'आचामं च त्रिधा दद्याद् विमृश्य च सकृत्स्पृशेत्' (१७।४८) इति । तदानीं ध्यानं चोक्तं पाद्मे—

ध्यायेदाचमनीयस्य दानकाले जगद्गुरुम् ।

आचामन्तमिवाम्भोभिः साक्षादम्भःपरिग्रहे ॥ इति ।

अत्राचमनानन्तरं गन्धपुष्पमालादीपधूपसमर्पणं मधुपर्कानन्तरं ताम्बूलनिवेदनं चेश्वरपारमेश्वरादिषूक्तं ग्राह्यम् । तथा चोक्ताः पाद्मे मन्त्रासनोपचाराः—

आवाहननमस्कारौ प्रत्युत्थानमनन्तरम् ।
पुष्पाञ्जलिः स्वागतोक्तिरासनं भद्रपीठिका ॥
अर्घ्यं पाद्यप्रतिग्राहं पाद्यप्रोताभिमर्शनम् ।
आलेपनं चरणयोश्चन्दनक्षोदवारिभिः ॥
अपामाचमनीयं तु प्रतिग्रहणदर्शनम् ।
उपस्पर्शनमालेपश्चन्दनाद्यम्बुचर्चया ॥
पुष्पमाला धूपदानं मधुपर्कनिवेदनम् ।
घनसारो नागवल्ली .... ॥ इति ॥ २३-२४ ॥

अब आसनादि उपचारों के समर्पण का प्रकार कहते हैं—आवाहन किये गये उन प्रभु को जो पादपीठ सामान्य हो और कोमल आस्तरण से भूषित हो ऐसा श्रेष्ठ आसन और पादपीठ समर्पित करे । इसके बाद पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय जलादि देकर पूजन करे ॥ २३-२४ ॥

सपुत्रदारमात्मानमष्टाङ्गपतनेन तु ॥ २४ ॥
चेतसा भक्तियुक्तेन निवेद्य तदनन्तरम् ।

आत्मात्मीयनिवेदनमाह—सपुत्रेति । अष्टाङ्गपतनेन (सा० ६।१८७-१८८) वक्ष्यमाणाष्टाङ्गप्रणामेन । इदानीमात्मनिवेदनविज्ञापनं चोक्तं पाद्मे—

दासोऽहं ते जगन्नाथ सपुत्रादिपरिग्रहः ।
प्रेष्यः प्रशाधि कर्तव्ये मां नियुङ्क्ष्व हिते सदा ॥ इति ॥ २४-२५ ॥

इस प्रकार भक्ति युक्त चित्त से निवेदन करने के बाद साष्टाङ्ग प्रणिपात करके पुत्र दार सहित अपने को निवेदित करे ॥ २४-२५ ॥

भगवानथ विज्ञाप्यः कृत्वा तत्पादगौ करौ ॥ २५ ॥
स्फुटीकृतं मया देव त्विदं स्नानवरं त्वयि ।
सपादपीठं परमं शुभं स्नानासनं महत् ॥ २६ ॥
आसादयाशु स्नानार्थं मदनुग्रहकाम्यया ।

अथ स्नानार्थं विज्ञापनमाह—भगवानिति द्वाभ्याम् । कृत्वा तत्पादगौ करावित्यत्र व्यस्तकरावित्यर्थः । तथा चोक्तं पारमेश्वरे—

कृत्वाभ्यर्च्यादिदेवस्य पाणिना दक्षिणं पदम् ।
दक्षिणेनाथ वामेन वामं संगृह्य मन्त्रतः ॥ (६।३०२-३०३)

इति ॥ २५-२७ ॥

इसके बाद उनके चरणों पर अपना हाथ रख कर भगवान् से प्रार्थना करे कि हे देव ! मैंने आपके लिये स्नान सामग्री रख दी है । यह शुभ एवं मङ्गलदायी, पादपीठ और महान् स्नान का आसन है । हे प्रभो ! मेरे ऊपर अनुकम्पा कर स्नान के लिये लाई गई इस सामग्री को शीघ्र ग्रहण कीजिये ॥ २५-२७ ॥

स्नानासनं निवेद्याथ देवस्य द्वितयं तु वै ॥ २७ ॥
भक्तिनम्रेण शिरसा दद्यार्घ्यं तु मूर्धनि ।
विनिवेद्य ततो हैमं सरत्नं च प्रतिग्रहम् ॥ २८ ॥
दद्याद्वै पाद्यकलशात् पाद्यं पादाम्बुजद्वये ।
सुशुभे पादुका चाथ तदन्ते स्नानशाटकम् ॥ २९ ॥
सुगन्धशालिसम्पूर्णं मात्रार्थं पात्रमुत्तमम् ।
दर्पणं पूर्णचन्द्राभं गन्धतोयमनन्तरम् ॥ ३० ॥

स्नानासनाद्युपचारानाह—स्नानासनमित्यादिभिः । अत्र पाणिप्रक्षालनार्थकगन्ध-तोयसमर्पणानन्तरं पादपीठोक्तावपि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन स्नानासनसम-र्पणानन्तरमेव पादपीठोऽपि समर्पणीयः, 'सपादपीठं परमं शुभं स्नानासनं महत्' (६।२६) इति विज्ञापनश्लोक एवोक्तत्वात् । अत एव सात्वतोपबृंहणेश्वर(४।१४३) पारमेश्वर(६।३०४)योः स्नानासनानन्तरमेव पादपीठसमर्पणमुक्तम् ।

नन्वीश्वर(४।१४६)-पारमेश्वर(६।३०८)योरुभयोरपि 'पाणिप्रक्षालनार्थं तु पादपीठं ततः शुभम्' इति पाणिप्रक्षालनानन्तरमपि पादपीठोक्तिः परिदृश्यते, तस्याः का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तत्रोभयत्रापि यथावस्थितसात्वतश्लोकानामेव प्रतिपादि-तत्वात् पौनरुक्त्यं दृश्यते । लक्ष्मीतन्त्रे तु—

अनुज्ञाप्य ततः पश्चात् स्नानासनमनुत्तमम् ।
पादपीठमथार्घ्यं च ततः पाद्यप्रतिग्रहम् ॥
पाद्याम्बु पादुका स्नानशाटी मात्रा च शालिका ।
दर्पणं गन्धतोयं च पाणिप्रक्षालनार्थकम् ॥
दन्तकाष्ठं च वदनप्रक्षालाचमनाम्बुनी ।
गन्धतैलं च चूर्णं च शालिगोधूमसंभवम् ॥
हरिद्राचूर्णसंमिश्रमीषत् पद्मकभावितम् ।
उद्वर्तनार्थं तदनु स्नानार्थं खलिसंयुतम् ॥
उष्णाम्बु चन्दनं चन्द्रमिश्रितं लेपनार्थकम् । (लक्ष्मी० ३९।५-९)

इति सात्वतश्लोकानामुपबृंहितत्वान्न पादपीठपुनरुक्तिः । अतस्तत्पौनरुक्त्यं नानुष्ठानप्रतिपादकम्, किन्तु श्लोकपूरणार्थं ज्ञेयम् । यथा पारमेश्वरे मानसे भोगयाग-प्रकरणे—'मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु' (जय० १२।८१; पा० ५।१३०) इति जयाख्यवचने प्रतिपादितेऽप्यविरुद्धार्थं परिगृह्य विरुद्धं लक्ष्म्यादित्वं परित्यज्य हृन्मन्त्रादित्वमेवाङ्गीक्रियते, तद्वदिहापीति सन्तोष्टव्यमायुष्मता । अत एवा-स्मत्तातपादैः सात्वतामृते पाणिप्रक्षालनतोयसमर्पणानन्तरं पादपीठो नोक्तः ।

प्रकृतमनुसरामः । दन्तकाष्ठमित्यत्र पारमेश्वरे—'दन्तकाष्ठं च तदनु कर्मण्यक्षीरवृक्षजम्' (६।३०८) इत्युक्तम् । कपिञ्जलेऽपि—'चूतदण्डेन देवस्य दन्तधावनमाचरेत्' इति । तच्च हेमादिमयमपि ग्राह्यम् । तदुक्तं पारमेश्वर एव द्वितीयेऽध्याये—

षोडशाङ्गुलिदीर्घैस्तु वक्रग्रन्थिविवर्जितैः ॥
हेमादिनिर्मितैर्वापि कुशदूर्वादिभिस्तथा । (२।६१-६२) इति ।

मुखशुद्धिप्रतिग्रहं गण्डूषप्रतिग्रहमित्यर्थः । मुखप्रक्षालनं गण्डूषमित्यर्थः । पुनराचमनीयानन्तरं ताम्बूलमपि देयम्, 'गण्डूषाचामसलिले ताम्बूलं गन्धभावितम्' (६।३०९) इति पारमेश्वरोक्तेः । तैलं बहु सुगन्धं चेत्यत्र तैलसमर्पणप्रकारः पारमेश्वरे समाराधनाध्याये महोत्सवाध्याये च विस्तरेणोक्तो ज्ञेयः । रजनीचूर्णं हरिद्राचूर्णम् । पद्मकम्, तथैव प्रसिद्धं वैद्य(क)ग्रन्थे । चमषी तैलनिर्हरणार्थकसुगन्धद्रव्यविशेषः । इममर्थं सुस्पष्टं वक्ष्यति प्रतिष्ठाध्याये—'पूर्ववच्च ततोऽभ्यज्य विधिवच्चमसाम्बुना । क्षालयित्वा' (सात्वत० २५।९९-१००) इति । खली च मलनिर्हरणसाधनद्रव्यम् ॥ २७-३५ ॥

इस प्रकार देवाधिदेव को स्नान, आसन तथा पादपीठ दोनों निवेदित करे । फिर भक्तिपूर्वक शिर झुका कर शिर पर अर्घ्य देवे । इसके बाद सुवर्ण निर्मित रत्नसहित प्रतिग्रह प्रदान करे ॥ २७-२८ ॥

फिर पाद्याम्बु के कलश से दोनों चरण कमलों के लिये पाद्य देवे, फिर सुन्दर पादुका प्रदान करे । इसके बाद स्थान शाटक प्रदान करे ॥ २९ ॥

मात्रा के लिये सुगन्धि एवं शालि से पूर्ण उत्तम पात्र प्रदान करे । पूर्णचन्द्र के समान स्वच्छ दर्पण, तदनन्तर गन्धतोय समर्पित करे ॥ ३० ॥

पाणिभ्यां क्षालनार्थं तु पादपीठं ततः शुभम् ।
दन्तकाष्ठं च तदनु मुखशुद्धिप्रतिग्रहम् ॥ ३१ ॥

दोनों हाथों से प्रक्षालन के लिये उत्तम पादपीठ प्रदान करे, फिर दन्तकाष्ठ देवे । इसके बाद मुखशुद्धि के लिये गण्डूष (कुल्ला के लिए जल) प्रदान करे ॥ ३१ ॥

जिह्वानिर्लेखनं चैव मुखप्रक्षालनं तु वै ।
पुनराचमनं देयमभ्यङ्गार्थमनन्तरम् ॥ ३२ ॥
तैलं बहु सुगन्धं च चूर्णं गोधूमशालिजम् ।
रजनीचूर्णसम्मिश्रमीषत् पद्मकभावितम् ॥ ३३ ॥

फिर जीभ साफ करने के लिये जिह्वा निर्लेखन देवे । तदनन्तर मुख प्रक्षालन के लिये जल देवे, फिर आचमन के लिये जल देवे । तदनन्तर अभ्यङ्ग के लिये अत्यन्त सुगन्धित तैल, गोधूम और शालिका मिश्रित चूर्ण, जिसमें हरिद्रा का चूर्ण तथा पद्मकाष्ठ का चूर्ण मिश्रित हो वह (उपटन) प्रदान करे ॥ ३२-३३ ॥

देयमुद्वर्तनार्थं तु चमषी तदनन्तरम् ।
स्नानार्थं खलिसंयुक्तं तोयमुष्णमनन्तरम् ॥ ३४ ॥
चन्दनं मुखलेपार्थं घृष्टं कर्पूरभावितम् ।

फिर उद्वर्त्तन के लिये चमषी (तैल निकालने के लिये सुगन्धि द्रव्य विशेष, मल दूर करने के लिये द्रव्य विशेष) उसके बाद स्नान के लिये खली संयुक्त उष्ण जल देवे। फिर मुख पर लेप के लिये कर्पूर भावित घिसा हुआ चन्दन देवे ॥ ३४-३५ ॥

क्षीरपञ्चविंशतिकलशस्नपनप्रकारकथनम्

गव्यं प्रभूतं स्नानार्थं क्षीरं दधि घृतं मधु ॥ ३५ ॥
ऐक्षवं तु रसं हृद्यमभावे शार्करोदकम् ।
धात्रीफलोदकं चैव लोध्रतोयमनन्तरम् ॥ ३६ ॥
रक्तचन्दनतोयं च रजनीनीरमुत्तमम् ।
ग्रन्थिपल्लववार्येव ततस्तु तगरोदकम् ॥ ३७ ॥
प्रियङ्गुवारि तदनु मांसीजलमतः परम् ।
सिद्धार्थकोदकं चैव सर्वौषधिजलं ततः ॥ ३८ ॥
पत्रपुष्पोदके चैव फलबीजोदके तथा ।
गन्धोदकं च तदनु हेमरत्नजले ततः ॥ ३९ ॥
पुण्यतीर्थसरित्तोयं केवलं तदनन्तरम् ।
स्नानार्थं कल्पितेनैव ह्युदकेन विमिश्रितम् ॥ ४० ॥
योक्तव्यं क्रमशो ह्येतदर्घ्यपुष्पसमन्वितम् ।
अन्तरान्तरयोगेन स्नानानां च महामते ॥ ४१ ॥
क्षालनं चार्घ्यकलशादर्घ्यदानं समाचरेत् ।

अथ क्षीरादिपञ्चविंशतिकलशस्नपनप्रकारमाह—गव्यमित्यादिभिः । धात्रीफलम् = आमलकम्, लोध्रं = श्वेतलोध्रम्, 'गालवः शबलो लोध्रः' (२।४।३३) इत्यमरः । ग्रन्थिपल्लवं = स्थौणेयम् 'ग्रन्थिपर्णं शुकं बर्हं स्थौणेयं कुक्कुटम्' (२।४।१३२) इत्यमरः । तगरं तथैव प्रसिद्धम् । प्रियङ्गुः = फलिनी, 'प्रियङ्गु फलिनी फली' (२।४।५५) इत्यमरः ।

ननु 'स्त्रियौ कङ्गुप्रियङ्गू द्वे' (२।९।२०) इत्यमरवाक्यमप्यस्ति, विनिगमना-विरहात् कङ्गुरेव गृह्यतामिति चेन्न, अस्मिन् स्नपने बीजवारिणि कङ्गोः सत्त्वाद् अत्रत्य प्रियङ्गुशब्दस्य पूर्वोत्तरयोर्गन्धद्रव्यसाहचर्याच्च फलिनीपरत्वमेवाङ्गीकार्यम् । मांसी = जटामांसी । सिद्धार्थकः = श्वेतसर्षपः । सर्वौषधीजल-पत्रोदक-पुष्पोदक-फलोदक-बीजोदक-गन्धोदक-रत्नोदकानां द्रव्यविवरणमीश्वरपारमेश्वरयोः स्नपना-ध्याये व्यक्तमुक्तं ग्राह्यम् । अत्रापेक्षितकलशाधिवासादिकमपि तत्रैव ग्राह्यम् । अत्र नित्य-

स्नपनत्वादङ्कुरादिकं न कार्यम् । तथा चोक्तं पाद्मे—

> नित्ये च स्नपने नापि कौतुकं नाङ्कुरार्पणम् ।
> निशाचूर्णैर्न स्नपनमिष्यते मण्टपस्थलम् ॥ इति ।

'स्नानार्थं कल्पितेनैव ह्युदकेन विमिश्रितम्' (६।४०) इत्युक्तत्वाद् धात्रीफलोदकादिविंशतिद्रव्येष्वपि किञ्चित् स्नानीयजलं संयोज्यम्, 'स्नानीयाम्बुसमेतानि देयान्यम्बून्यमूनि तु' (लक्ष्मी० ३९।१३) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्त्या क्षीरादिपञ्चकं विना आमलकाद्यम्बुष्वेव स्नानीयाम्बुसंयोजनस्य प्रतीयमानत्वात् । अर्घ्यपुष्पसमन्वितमिति पदं क्षालनमित्यस्य विशेषणं ज्ञेयम्, पारमेश्वरेऽप्येषामेव श्लोकानां प्रतिपादितत्वात् । केषुचित् प्रयोगेषु अर्घ्यपुष्पसमन्वितमिति पदस्य स्नपनद्रव्यविशेषणत्वाभिप्रायेण द्रव्यकलशेषु स्नानीयकलशात् किञ्चिज्जलमर्घ्यपात्रात् किञ्चित् पुष्पं च निक्षिप्येत्युक्तम् । तत् सात्वतोपबृंहणलक्ष्मीतन्त्रविरुद्धम् । यतस्तत्र 'क्षीरं दधि घृतं गव्यम्' (३९।९) इति प्रक्रम्य,

> हेमरत्नसरित्तीर्थकेवलाम्बूनि वै क्रमात् ॥
> स्नानीयाम्बुसमेतानि देयान्यम्बून्यमूनि तु ।
> अर्घ्यपात्रात्तथैवार्घ्यं स्नानाम्भन्तरान्तरा ॥
> दद्यात् सपुष्पतोयेन क्षालनं चान्तरान्तरा । —(३९।१२-१४)

इति सपुष्पत्वं क्षालनतोयस्य विशेषणं कृतम् । अर्घ्यपुष्पसमन्वितम् अर्घ्यपात्रे पूजनार्थं प्रक्षिप्तपुष्पैः सहितमित्यर्थः । अत्र क्षीरादिकलशस्नपनानां मध्ये मध्येऽर्घ्योदकेनोपस्नानं केवलमर्घ्यदानं चोक्तम् । सति विभवे वस्त्राद्युपचारा अपि देयाः । तथा चोक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

> प्रतिद्रव्यं तु वस्त्रेण ह्यर्घ्यालभनमाल्यकैः ॥
> धूपेन च समभ्यर्च्य ततस्तेनाभिषेचयेत् ।
> यद्वार्घ्यं पाद्यमाचामं गन्धस्रग्धूपदीपकम् ॥
> दद्याद् यथाक्रमं सर्वं केवलं चार्घ्यमेव वा ॥ इति ।
>
> —(ई०सं० १५।१७५-१७७; पा०सं० १४।१७०-१७२)

ननु बृहद्बिम्बस्नपनेऽर्घ्योदकस्योपस्नानाऽपर्याप्तत्वे का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तदानीम्—

> अन्तरान्तरयोगेन कुम्भैः शुद्धोदपूरितैः ॥
> स्नपनं चार्घ्यदानं च द्रव्याणां तु समाचरेत् ।
>
> —(ई०सं० १५।७५-७६; पा०सं० १४।७६-७७)

इतीश्वरपारमेश्वरयोः स्नपनाध्याये गतिरुक्तैव । एषां पञ्चविंशतिकलशानामभिषेचनमन्त्रास्त्वीश्वरपारमेश्वरयोर्दमनकोत्सवप्रकरणे—

> एको ह वै नारायण इति प्राक्कलशेन तु ।
> तस्य ध्यानान्तःस्थस्येति द्वितीयकलशेन तु ॥

अथ पुनरेव नारायण इति तृतीयकलशेन तु ।
अथ पुनरेव नारायण इति चतुर्थतः ... ... ॥
सहस्रशीर्षं पुरुषमिति पञ्चमकुम्भतः ।
पतिं विश्वस्यात्मेश्वरमिति वै षष्ठकुम्भतः ॥
नारायणः परं ब्रह्म इति वै सप्तमेन तु ।
यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्निति ह्यष्टमकुम्भतः ॥
अनन्तमव्ययं कविमिति नवमेनाभिषेचयेत् ।
अधो निष्ट्या वितस्त्यां तु इति स्याद्दशमेन वै ॥
सन्ततं तु सिराभिस्तु लमित्येकादशेन तु ।
तस्य मध्ये महानग्निरिति द्वादशमेन वै ॥
सन्तापयति स्वं देहमिति त्रयोदशेन वै ।
नीलतोयदमध्यस्था इति चतुर्दशेन वै ॥
तस्याः शिखाया मध्ये इति पञ्चदशेन वै ।
सर्वस्य वशिनं देवमिति वै षोडशेन तु ॥
बहिरावरणस्थैस्तु कलशैरभिषेचयेत् ।
बहिरावरणे नास्ति इति प्राक्संस्थितेन तु ॥
यन्नाभिपद्मादभवदिति वह्निगतेन तु ।
धृतोर्ध्वपुण्ड्र परमेति याम्यदिक्संस्थितेन तु ॥
दक्षिणे तु भुजे विप्र इति यातुगतेन वै ।
विष्णुनात्तमश्नन्तीति वारुणीसंस्थितेन तु ॥
पुंप्रधानेश्वरो विष्णुरिति वायुगतेन वै ।
इमां महोपनिषदमिति सोमगतेन वै ॥
ओमिति प्रथमं नाम इतीशानगतेन तु ।
पुरुषोऽहं वासुदेव इति मध्यगतेन तु ॥
यद्वा पुरुषसूक्तीयैर्मन्त्रैः षोडशभिः क्रमात् ।
बहिरावरणस्थैस्तु कलशैरभिषिच्य च ॥
पूर्वोक्तैर्ब्रह्मसूक्तस्थैर्मन्त्रैर्द्विद्विकसंख्यया ।
अन्तरावरणस्थैस्तु संस्नाप्य कलशैः क्रमात् ॥
अवशिष्टैस्त्रिभिश्चान्ते मध्यकुम्भेन सेचयेत् ।
—(ई०सं० १२।६५-८०; पा०सं० १७।५६८-५८३)

इत्युक्ताः । अत्र पूर्वोक्तैर्ब्रह्मसूक्तस्थैर्मन्त्रैः 'सहस्रशीर्षम्' इत्यादिभिः 'दक्षिणे तु भुजे विप्र' इत्यन्तैः षोडशमन्त्रैरित्यर्थः । द्विद्विकसंख्यया द्वाभ्यां मन्त्राभ्यामित्यर्थः । अवशिष्टैस्त्रिभिः विष्णुनात्तमश्नन्तीत्यादिभिः । 'एको ह वै नारायणः' इत्याद्याः 'य इमां महोपनिषदम्' इत्यन्तास्त्रयोविंशतिमन्त्राश्च महोपनिषद्गताः । तत्र 'सहस्रशीर्षं पुरुषम्' इति प्रक्रम्य 'य इमां महोपनिषदम्' इत्यन्तमेकोनविंशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमिति ज्ञेयम् ।

ननु महोपनिषत्कोशेषु 'सर्वस्य वशिनम्' इत्यादिमन्त्रा न दृश्यन्ते, कथं तेषां महोपनिषदन्तर्गतत्वमिति चेत्? सत्यम्, इयमाशङ्का तप्तमुद्रासमर्थनसिद्धान्तचन्द्रिकायां परिहृता । तथाहि पाद्मे—

सर्वाश्रमेषु वसतां ब्राह्मणानां विशेषतः ।
विधिना वैष्णवं चक्रं धार्यं हि विधिचोदनात् ॥
दक्षिणे तु भुजे विप्रो बिभृयाद् वै सुदर्शनम् ।
सव्ये तु शङ्खं बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥

एवं महोपनिषदि प्रोक्तं चक्रादिधारणमित्यर्थः । अस्य मन्त्रस्य महोपनिषत्कोशेष्वदर्शनात् कथं श्रुतित्वमिति चेन्न, चिरन्तनकोशेषूपलम्भात् । आधुनिककोशेष्वनुपलम्भश्च लेखकदोषादिना नेयः । नायमेव मन्त्र आधुनिककोशेषु न दृश्यते, अपि तु सर्वस्य वशिनमित्यादिकमष्टर्चं ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यते । ब्रह्मसूक्ते चायं मन्त्रः श्रूयते । न च तावता श्रुतित्वभङ्गः, भगवच्छास्त्रेषु बहुषु प्रदेशेषु ब्रह्मसूक्तस्योपात्तत्वादिति ।

नन्वत्राष्टर्चं ब्रह्मसूक्तमात्रं न दृश्यत इत्युक्तत्वात् सर्वस्य वशिनमित्याद्यष्टमन्त्राणामेव ब्रह्मसूक्तत्वं ज्ञायते । कथं भवता सहस्रशीर्षमित्याद्येकोनविंशतिमन्त्राणामपि ब्रह्मसूक्तत्वमुक्तमिति चेदुच्यते, सच्चरित्ररक्षामनुसृत्यास्माभिरुक्तम् । तत्र हि— 'अत्रापि ब्रह्मसूक्तपरमात्मसूक्ताभ्यां महोपनिषत्पठितमेकोनविंशतिमन्त्रात्मकं ब्रह्मसूक्तमेव परिगृहीतम्' (पृ० १४-१५) इति । महोपनिषदाद्ये मन्त्रे 'एको ह वै नारायणः' इति, 'एक एव नारायण' इति पाठद्वयं ज्ञेयम् ॥ ३५-४२ ॥

अब दुग्धादि पच्चीस कलशों के स्नान का प्रकार कहते हैं । तदनन्तर स्नान के लिये पर्याप्त गौ का दूध, दही, घृत तथा मधु देवे ॥ ३५ ॥

फिर ऊख का रस या उसके अभाव में शर्करा का रस देवे । फिर आमलक के फल का जल फिर लोध्र का जल देवे ॥ ३६ ॥

इसके बाद लाल चन्दन का जल, फिर हरिद्राचूर्ण का जल, फिर ग्रन्थि पल्लव का वारि, तगरोदक एवं प्रियङ्गुवारि, फिर जटामांसी का जल, फिर सिद्धार्थक का जल, फिर सर्वौषधि का जल, पत्र का जल, फिर पुष्पोदक, फिर फलोदक, फिर बीजोदक, फिर गन्धोदक; फिर हेमोदक, फिर रत्नोदक, फिर पुण्यतीर्थ सरिता का जल, फिर स्नान के लिये लाये गये विमिश्रित जल, जो अर्घ्य पुष्प से समन्वित हो, उससे स्नान करावे । हे महामते ! स्नान के बीच-बीच में अर्घ्यकलश से क्षालन तथा अर्घ्यदान करते रहना चाहिये ॥ ३७-४२ ॥

नीराजनविधिकथनम्

सम्पूर्णमम्भसां कुम्भं हरिद्राशालितण्डुलैः ॥ ४२ ॥
गन्धादिभिश्च संलिप्तमथ युक्तं स्रगादिना ।
पाणौ कृत्वा तमेकस्मिन्नपरस्मिंस्तु मल्लकम् ॥ ४३ ॥

धूमायमानं सिद्धार्थैर्भ्राम्य मूर्ध्नि बहिः क्षिपेत् ।

ततः स्नानान्तनीराजनविधिमाह—सम्पूर्णमिति द्वाभ्याम् । सम्पूर्णमित्यत्र स्नानीयशेषेणेत्यध्याहार्यम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—'स्नानशिष्टाम्बुसम्पूर्णम्' (३९।१४) इति । ईश्वरपारमेश्वरयोरपि—'ततः स्नानीयशेषेण हेमादिद्रव्यनिर्मितम्' (ई०सं० ४।१५९; पा०सं० ६।३२७) इति । मल्लकम् = शरावः । एकस्मिन् पाणौ वामपाणावित्यर्थः । अपरस्मिन् दक्षिणपाणावित्यर्थः । तस्य सिद्धार्थैर्धूमायमानत्वोक्त्याऽग्निपरीतत्वं ज्ञायते । धूपपात्राग्निरेव तत्र पूरणीयः । मूर्ध्नि भ्राम्येत्यत्र भगवन्मूर्ध्नः परितो भ्रामणम् । तच्च सकृदेव । बहिः महाद्वाराद् बहिरित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

तं कृत्वा वामपाणौ तु अपरस्मिंस्तु मल्लकम् ।
पुष्पप्रकरसम्पूर्णं धूपपात्राग्निना युतम् ॥
धूमायमानं सिद्धार्थैर्धूपद्रव्येण वा सह ।
एकधा देवदेवस्य भ्रामयित्वा तु मूर्धनि ॥
दीक्षितेन जनेनैव परिचर्यापरेण तु ।
शुद्धया योषिता वापि द्वारबाह्ये विसर्जयेत् ॥ इति ॥
—(पा०सं० १५।१००४-१००६)

नीराजनाङ्गार्घ्यादीनामर्पणमपीदानीं न प्रकृ(तमित्यु)क्तं तत्रैव—

कुर्यात् स्नानावसाने तु ऋगाद्यध्ययनादिकम् ।
अर्घ्यादिभोगैर्यजनं वर्जयेत् तत्र सर्वदा ॥ इति ।
—(पां०सं० १५।१०७९)

एवं नीराजनस्य नैमित्तिककाम्यपूजनयोरप्यनुष्ठेयत्वं तत्प्रयोजनम् । इदानीम्, अलङ्कारासनोपचारान्ते वा, उभयत्र वाऽस्यानुष्ठानमप्युक्तं तत्रैव—

नित्ये नैमित्तिके विप्र तथा काम्येऽपि पूजने ॥
अन्ततः स्नानभोगानां कुर्यान्नीराजनं विभोः ।
सर्वदोषप्रशान्त्यर्थं सर्वरक्षार्थमेव हि ॥
अलङ्कारासनोक्तानां भोगानामन्ततोऽपि वा ।
उभयत्रापि वा कुर्याद् विभवेच्छानुसारतः ॥ इति ।
—(पा०सं० १५।९९२-९९५)

अस्य नीराजनस्यालङ्कारासनोपचारान्तेऽप्यनुष्ठेयत्वं पुनर्व्यक्तमाम्रेडितं तत्रैव—

यद्वा तत्रापि वै कुम्भं साग्निमल्लकसंयुतम् ।
धूमायमानं सिद्धार्थैर्भ्रामयेद् दीपवर्जितम् ॥ इति ।
(पा०सं० १५।१०४१-१०४२)

किञ्च, स्नानान्तनीराजनकुम्भस्यार्घ्योदकैः केवलोदकैर्वा पूरणं ज्ञेयम्, 'अर्घ्यपात्रोद्धृतैर्यद्वा केवलैर्गालितैः पुनः' (पा०सं०१५।१००८) इत्युक्तेः ॥ ४२-४४ ॥

हरिद्रा, शालि, तण्डुल तथा गन्धादि से संलिप्त माला से युक्त कर जल से पूर्ण सम्पूर्ण कुम्भों को क्रमशः एक-एक को हाथ में लेवे। फिर दूसरे हाथ में पुरवा लेकर सिद्धार्थक का धूप देकर, शिर पर घुमा कर, उसे बाहर फेंक देवे ॥ ४२-४४॥

सुधौतमहतं चाथ शाटकं विनिवेद्य च॥ ४४ ॥
कचोदकापकर्षार्थमपरं देहवारिहृत्।
अधरोत्तरवस्त्रे द्वे गन्धधूपाधिवासिते॥ ४५ ॥

अथाङ्गाभिमर्शनार्थं वस्त्रद्वयसमर्पणं पश्चादन्तरीयोत्तरीयसमर्पणं चाह—सुधौतमिति सार्धेन ॥ ४४-४५ ॥

फिर अत्यन्त श्वेत, शुद्ध, नया, शाटक (=वस्त्र) भगवान् को निवेदन करे। शरीर के जल को तथा शिरस्थ केशों के जल को दूर करने के लिये गन्ध, पुष्पादि वासित अधरोत्तर दो वस्त्र प्रदान करे ॥ ४४-४५ ॥

प्रणालभागादपरं स्थानं भद्रासनात् तु वै।
भूरिनीरघटैः शुद्धं कृत्वा तत्रावतार्य च॥ ४६ ॥
सपीठं भगवद्बिम्बं तद्बिना वार्चितं यदि।
खप्लुतं भावयेद् देवं निःशेषं क्षालयेत् पुनः ॥ ४७ ॥

भद्रासनशोधनमाह—प्रणालभागादिति द्वाभ्याम्। प्रणालभागात् 'मकरास्यप्रणालं च प्रमाणेनोपलक्षितम्' (सात्वत० २।४९) इति द्वितीयपरिच्छेदोक्तप्रकारेणाभिषेकादिजलनिर्गमनार्थकप्रणालभागविशिष्टादित्यर्थः। भद्रासनात् = भद्रपीठात्। अपरं स्थानं भद्रपीठं विना सर्वं गर्भगेहस्थलमपीत्यर्थः। भूरिनीरघटैः शुद्धं कृत्वाऽनेकजलपूर्णकुम्भैः संक्षाल्य। तत्र परिशोधितस्थले सपीठं स्नानपीठस्थितं भगवद्बिम्बमवतार्य संस्थाप्येत्यर्थः। क्षालयेत् भद्रासनमपीत्यनुषज्यते। भद्रासनोपरि भगवम्बिस्थितेस्तद्बिना प्रथमं सर्वमपि स्थानं प्रक्षाल्यान्यत्र पीठोपरि बिम्बं संस्थाप्य भद्रासनमपि क्षालयेदिति भावः। तद्बिना = बिम्बं विना अर्चितं यदि 'भद्रपीठभुवो मध्ये सुश्लक्ष्णे केवले तु वा' (सा० ५।१०९) इति पूर्वोक्तप्रकारेण केवलपीठोपर्येवार्चितं चेत् तदानीं देवं खप्लुतं भावयेत्, आकाशस्थितं ध्यात्वेत्यर्थः। निःशेषं क्षालयेद् देवस्योपरि स्थितत्वाद् एकदैव गर्भगेहस्थानं भद्रपीठमपि क्षालयेदित्यर्थः। भद्रासनोपर्येव भगवदुपवेशेन भावनायां तत्क्षालनासंभवादिति भावः। एवमेवोक्तं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि— 'भद्रासनं ततः। शोधयेत् पूर्णकुम्भैस्तु खप्लुतं भावयेद्धरिम्।' (९।१७-१८) इति। एवमर्थवर्णने प्रणालभागादिति विशेषणस्य न किमपि प्रयोजनम्, अतोऽर्थान्तरं वर्ण्यते। तथाहि—भद्रासनात् भद्रसानसम्बन्धिन इत्यर्थः। प्रणालभागात् प्रणालाव्यवहितभागादित्यर्थः। अपरस्थानम् = अन्यद् भद्रासनस्थानं सर्वमपि संक्षाल्य शोधितस्थले बिम्बमवतार्य प्रणालभागमपि क्षालयेत्। अन्यत् सर्वं पूर्वोक्तमेव। 'स्थानं भद्रासनस्य तु' इति पाठश्चेत्, अयमर्थः स्वरसतमो ज्ञेयः। ईश्वर(४।१६९-१७१)पारमेश्वर(६।३३८-३४०)योरपीदमेव श्लोकद्वयमुक्तम्। अतः पारमेश्वर-

व्याख्याने—'तद्विना बिम्बं विना कूर्चदर्पणादिष्वर्चितं यदि पात्रस्थमात्राणामपि खप्लुतमित्येष एव न्याय्यः' इति लिखितम् । तदसंगतम्, कूर्चदर्पणादीनामप्यन्यत्र स्थापनार्हत्वात् ॥ ४६-४७ ॥

प्रणाल भाग (अभिषेक जल निकलने का स्थान) से अन्य तथा भद्रासन से अन्य दो भागों को छोड़कर सभी गर्भगृहस्थल को घट में पर्याप्त जल पूर्ण कर उससे लीप-पोत कर शुद्ध करे । फिर उस संशोधित स्थल में सपीठ भगवद् बिम्ब को स्थापित करे । यदि भगवद् बिम्ब के बिना केवल पीठ की अर्चना की गई हो तो उस पीठ की अर्चना करे । फिर आकाश से आते हुए भगवद्विम्ब का ध्यान कर पुनः पीठ और भगवद्बिम्ब दोनों की अर्चना करे ॥ ४६-४७ ॥

भूयो गन्धोदकेनैव पूर्यं कुम्भचतुष्टयम् ।
स्नानकुम्भं विनान्येषां प्राग्वत् कार्या च कल्पना ॥ ४८ ॥

पुनरर्घ्यादिपरिकल्पनमाह—भूय इति । इह केवलं पुनरर्घ्यादिपरिकल्पनस्योक्तत्वान्मन्त्रासनादौ परिकल्पितार्घ्यादिभिरेव स्नानासनेऽप्यर्घ्यादिसमर्पणमिति ज्ञायते । एवमलङ्कारासनादौ कल्पितार्घ्यादीनामेव भोग्यासनादिष्वप्युपयोगो ज्ञेयः, तत्र पुनरर्घ्यादिकल्पनोपपत्तेः । अत्र स्नानकुम्भं विनाऽन्येषामर्घ्यादीनां कुम्भचतुष्टयं गन्धोदकेन पूर्यमित्युक्त्या मन्त्रासनादावर्घ्यादिकुम्भपञ्चकस्य स्थापनं सिद्धं भवति ।

ननु तत्र कुम्भचतुष्टयमेवोक्तमिति चेत्, सत्यम् । वयमपि जानीमः । तथापि तत्राष्टादशपरिच्छेदे वक्ष्यमाणं द्वितीयार्घ्यकलशस्थापनमप्यभिप्रेतम्, अन्यथाऽत्र स्नानकुम्भं विना कुम्भचतुष्टयासिद्धेः ।

ननु च संहितावाक्यार्थानभिज्ञोऽसि! तस्यैवमाशयः—कुम्भचतुष्टयं प्राग्वत् पूर्यमेव, किन्तु स्नानकुम्भं विनाऽन्येषामर्घ्यादीनां त्रयाणामेव कल्पना ॐ अर्घ्यं कल्पयामीत्याद्याकारिका कार्येति बोध्येति चेन्न, यतः प्रधानस्नानकुम्भपूरणमनुचितम् । किञ्च, ईश्वरपारमेश्वरयोः कण्ठरवेण कुम्भपञ्चकस्थापनं कथयतोरपि 'भूयो गन्धोदकेनैव पूर्यं कुम्भचतुष्टयम्' (ई० ४।१७१; पा० ६।३४०) इत्येवोक्तम् । तत्र भवदुक्ताभिप्राये प्रकृते पूर्यं कुम्भपञ्चकमिति वक्तव्यम्, तथा नोक्तम् ।

ननु च किमितीश्वरपारमेश्वराभिप्राये नैयत्यमस्ति, पारमेश्वरे मानसभोगयागप्रकरणे—'हृदद्याः केसरादिषु' इति वक्तव्यत्वे सिद्धेऽपि 'लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु' (पा० ५।१३०) इति जयाख्यवचनमेव (१२।८१) प्रतिपादितम् । तद्वदिहापि किं न स्यादिति चेत्, सत्यम् । तत्र मानसयागप्रकरणे 'लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु' (पा० ५।१३०) इत्युक्तावपि बाह्ययागेऽपि हृन्मन्त्रादीनामेवार्चनमुक्तम्, न तथान्यत्र वा कुम्भपञ्चकं पूर्यमिति कुत्राप्युक्तम् ॥ ४८ ॥

फिर गन्धोदक से चार कलशों को पुनः पूर्ण करे और स्नान कुम्भ को छोड़कर अन्य कार्यों की पूर्ववत् कल्पना करे ॥ ४८ ॥

मध्येऽवतार्यो भगवान् विनिवेद्यासनं ततः ।

तृतीयं रत्नखचितं तत्रस्थं परमेश्वरम् ॥ ४९ ॥
विभाव्यालङ्कृतं भक्त्या भोगैः स्रक्चन्दनादिभिः ।

अथालङ्कारासनसमर्पणमाह—मध्येऽवतार्य इति सार्धेन । तत्रस्थं परमेश्वरं स्रक्चन्दनादिभिर्भोगैरलङ्कृतं विभाव्य कृतकृत्यो भवेदिति शेषः । यद्वा अलङ्कृत-मित्यत्रालङ्करिष्यमाणमिति भविष्यदर्थकत्वं बोध्यम् ॥ ४९-५० ॥

अब अलङ्कार आसान का समर्पण कहते हैं—मध्य में भगवान् को उतार कर आसन निवेदन करे । तत्रस्थ तृतीय परमेश्वर को रत्नखचित अलङ्कारों से अलङ्कृत ध्यान करे । फिर भक्तिपूर्वक अर्घ्य, पाद्य निवेदन कर स्रक्, चन्दनादि भोगों से उनकी अर्चना करे ॥ ४९-५० ॥

अलङ्कारासने समर्पणीयानुपचारकथनम्

समभ्यर्च्यार्घ्यपाद्येन पादुकाभ्यामनन्तरम् ॥ ५० ॥
देयमाचमनं भूयः पादपीठं तथैव च ।
समालभ्य सुगन्धेन भक्तितश्चन्दनादिना ॥ ५१ ॥
संवीज्य व्यजनेनैव मायूरेण ततेन च ।
केशप्रसारकृत् कूर्चं पुष्पताम्बूलकर्तरीम् ॥ ५२ ॥
निवेद्य देवदेवाय दुकूलवसने सिते ।
उपवीतं सोत्तरीयं मकुटाद्यमनन्तरम् ॥ ५३ ॥
पादनूपुरपर्यन्तमलङ्करणमुत्तमम् ।
विचित्रं हि शिरोमाल्यं मुक्तपुष्पसमन्वितम् ॥ ५४ ॥
स्रग्दामसूत्रसम्बद्धमा कर्णाच्चरणावधि ।
रुचिरं कङ्कणं चाथ दद्यात् प्रतिसरं ततः ॥ ५५ ॥
धातुभिः कुङ्कुमाद्यैर्वा विचित्रं सितसूत्रजम् ।
पूरितं मृदुतूलेन ग्रथितं चान्तरान्तरा ॥ ५६ ॥
अञ्जनं सशलाकं च ताम्बूलं गन्धभावितम् ।
ललाटतिलकं हैमं मुखवासनरोचनम् ॥ ५७ ॥
कर्णावतंसकुसुमे मण्डलं दर्पणं महत् ।
प्राकारं चित्रकुसुमैर्दीप्तं रत्नप्रभोज्ज्वलम् ॥ ५८ ॥
मृष्टधूपसमायुक्तं गुग्गुलं धूपयेच्छुभम् ।
सह घण्टारवै रम्यैश्चाल्यमानेन बाहुना ॥ ५९ ॥
उपानहौ सितं छत्रं शिबिकां च रथादि यत् ।
वाहनं गजपर्यन्तं सपताकं खगध्वजम् ॥ ६० ॥

सितासितौ चामरौ तु मात्रावित्तमनन्तरम् ।
औपचारिकभोगानामेतेषां पूरणाय च ॥ ६१ ॥
भेरीमृदङ्गशङ्खाद्यैर्जयशब्दसमन्वितैः ।
गीतकैर्विविधैर्नृत्यैस्तन्त्रीवाद्यसमन्वितैः ॥ ६२ ॥
स्तोत्रमन्त्रैर्नमस्कारैः प्रणामैः सप्रदक्षिणैः ।

अलङ्कारासने समर्पणीयानुपचारानाह—'समभ्यर्च्यार्घ्यपाद्येन' इत्यारभ्य 'प्रणामैः स-प्रदक्षिणैः पूज्यः' इत्यन्तम् । चन्दनादिनेत्यत्रादिशब्देन कुङ्कुमादिकं गृह्यते । तथा च पारमेश्वरे—'घृष्टकुङ्कुमकस्तूरीमृगस्नेहानुलेपनम्' (६।३४७) इति । बीजनं च आर्द्रगन्धशोषणार्थं ज्ञेयम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—'चन्दनाद्याः सुगन्धाश्च वीजनं शोषणार्थकम्' (ल० ३९।२०) इति । केशप्रसादकृत कूर्चं कङ्कतमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—'विवेचनं च केशानां कङ्कतेन प्रशोधनम्' (ल० ३९।१९) इति । पुष्पताम्बूलकर्तरीम् । मुक्तपुष्पसमन्वितम्, मुक्तैः अग्रथितैः पुष्पैः सहितमित्यर्थः । पुष्पाञ्जलिसमर्पणसहितमिति यावत् । तथा च पारमेश्वरे—'मुक्तपुष्पं ततो दद्याद् यथाकालसमुद्भवम्' (६।३४८) इति । लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

मकुटाद्या अलङ्काराः प्रदेयाः परमात्मनः ।
स्रजो नानाविधाकाराः सात्त्विकैः कुसुमैश्चिताः ॥
पुष्पाञ्जलिः पदद्वन्द्वे प्राकारसुमनश्चयैः ।
—(३९।२१-२२) इति ।

प्रतिसरं = पवित्रमित्यर्थः । धातुभिः गैरिकादिभिः, कुङ्कुमादिभिः कुङ्कुमहरिद्रागोरोचनादिभिरित्यर्थः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

निशारोचनया वापि पवित्राणां च धातुना ॥
केनचिद् ग्रन्थयो विप्रा विधिवत् परिरञ्जयेद् ।
—(ई०सं० १४।२६७-२६८; पा०सं० १२।५००-५०१)

मृदु तूलेनेति हेमरत्नाद्युपलक्षकम् । यतो हेमरत्नादिभिरपि गर्भपूरणमुपबृंहितमीश्वरादिषु । मुखवासं मुखं वास्यतेऽनेनेति मुखवासः । कर्पूरमित्यर्थः । रोचनं गोरोचनसहितम् । प्राकारं चित्रकुसुमैः रत्नप्रभोज्ज्वलं रत्नसदृशनिजप्रभाभासुरमित्यर्थः । अत्र विशेषणान्तराण्यप्युक्तानीश्वरादिषु ग्राह्याणि—

प्रभूतैस्तु महाज्वालैस्तिलतैलाज्यपूरितैः ॥
अभुक्ताहतसुश्वेतरचितैर्वर्तिवेष्टितैः ।
ग्रन्थीकृतत्वगेलाद्यैः पूजयेत् तदनन्तरम् ॥
—(४।१८३-१८४) इति ।

मृष्टधूपसमायुक्तं = कृतधूपेनागर्वादिना वा विमिश्रितमित्यर्थः । कर्पूरमेलनमप्युक्तमीश्वरादिषु—'कर्पूरचूर्णसंमिश्रं सुगन्धि मधुरं बहु (४।१८५) इति । अत्राज्यमिश्रणमपि कार्यम्, 'धूपार्थं गुग्गुलुः साज्यो देयश्चाभवतोऽपरः' (२१।३५) इति

समयपरिच्छेदे वक्ष्यमाणत्वात् । चाल्यमानेन बाहुना = परिकल्पितैरिति शेषः । अत्र दीपधूपयोभयत्रापि घण्टानादसहितत्वं बोध्यम् । यतः—'आवाहनेऽर्घ्ये धूपे च दीपे नैवेद्यजोषणे' (३।८३) इतीश्वरादिषूक्तम् । वाहनं = सुवर्णादिमयमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—'प्रदीपश्च प्रधूपश्च वाहनं चेतनेतरत्' (ल० ३९।२४) इति । मात्रावित्तं = मीयते परिच्छिद्यते पूर्यत इति मात्रा, मात्रार्थं वित्तं द्रविणम् । औपचारिकभोगानां = दृष्ट्यानन्दजनकानां दीपादीनाम्, श्रोत्रानन्दजनकानां स्तुतिवादित्रगीतानां चेत्यर्थः । एत एव भोगा लक्ष्मीतन्त्रे सांदृष्टिकत्वेनाभिमानिकत्वेन च प्रतिपादिताः । तथाहि—

दृष्ट्यैव जन्यते प्रीतिर्यैस्ते सांदृष्टिका मताः ॥
शुभा रूपोल्बणास्ते च दीपप्रवहणादयः ।
भोगाः शुभकरास्तद्वत् तर्पयन्ति रसैर्हि ये ॥
प्रापणाचमनीयाद्यास्ते स्युराभ्यवहारिकाः ।
सुखरम्यमृदुस्पर्शा भोगैर्ये तर्पयन्त्यजम् ॥
भोगाः सांस्पर्शिकास्ते स्युः पाद्यार्घ्यासनपूर्वकाः ।
गन्धाः सांस्पर्शिके केचित् केचिदाभ्यवहारिके ॥
निविष्टा अनिलाद्याः स्युरन्त्याः पाकजगन्धिनः ।
स्तुतिवादित्रगीताद्या भोगाः शब्दमया हि ये ॥
दैन्याञ्जलिपुटाद्याश्च ते स्मृता आभिमानिकाः ।
इत्थं चतुर्विधैर्भोगैः शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥
—(३६।८७-९२) इति ।

अत्र तु पवित्रोत्सवप्रकरणे औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकत्वेन भोगत्रैविध्यस्यैव वक्ष्यमाणत्वाद् औपचारिकशब्देनैव लक्ष्मीतन्त्रोक्ताः सांदृष्टिका आभिमानिकाश्च भोगाः संगृह्यन्ते । किञ्चात्र औपचारिकभोगानामिति सांस्पर्शिकानामित्युपलक्षणम् । यतोऽत्र—'सांस्पर्शिकानां भोगानां मात्रावित्तं हि पूरणम्' (१४।६) इति मात्रावित्तस्य सांस्पर्शिकभोगपूरकत्वमपि वक्ष्यति । अत एव पारमेश्वरे—'सम्पूरणार्थं भोगानां सर्वेषां द्विजसत्तम' (पा० ६।३५९) इति मात्रावित्तस्य सर्वभोगपूरकत्वमुपबृंहितम् । अपि च, औपचारिकभोगानां छिद्रपूरकं मात्रान्तरमपि वक्ष्यति पवित्रप्रकरणे—'औपचारिकभोगानां बीजानि विहितानि वै' (१४।७) इति ।

एतद्बीजमात्रादानस्य कालस्तु ईश्वरपारमेश्वरयोर्भोज्यासने मधुपर्काङ्गगोमात्रानिवेदनानन्तरमुक्तः। बीजानि च ग्राम्याणि ग्राह्याणि, 'मधुपर्कं च गोमात्रा साध्यबीजानि पश्चिमे' (१८।३६५) इति तत्रैव महाहविःप्रकरणे उक्तत्वात् । साध्यबीजानि कर्षणादिकृतिसाध्यबीजानि, ग्राम्यबीजानीति यावत् । आरण्यकबीजानां कृतिसाध्यत्वाभावादिति भावः । बीजानामलाभे गतिरप्युक्ता पारमेश्वरे—

बीजानामप्यलाभे तु फलमेकं प्रशस्यते ।
बीजेष्वेकतमं वापि तत्तत्कालानुरूपतः ॥ —(१८।२७) इति ।

तत्प्रमाणादिकमपि तत्रैव विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यम् । तण्डुलमात्रापि द्रव्यमात्रानिवेदनसमय एव दातव्या, अन्यत्रानुक्तत्वात् । गोमात्रातिलमात्रयोः कालभेदमत्रैव

वक्ष्यति । लक्ष्मीतन्त्रे तु—'मात्राश्च रत्नसम्पूर्णा भोगच्छिद्रप्रपूरणाः' (३९।२५) इति बहुवचनोक्त्या द्रव्यमात्रा-तण्डुलमात्रा-बीजमात्रा-तिलमात्राणां चतसृणामपि युगपद्दानमिति ज्ञायते । शालिमात्रायास्तु स्नपनमात्रनियतत्वं प्रतिपादितं पारमेश्वरे—

शालिमात्रा न कर्तव्या यागे स्नपनवर्जिते ॥
अन्या मात्राः प्रकल्प्याः स्युः सर्वस्मिन्नर्चनाविधौ ।
—(१८।२९-३०) इति

अत एव लक्ष्मीतन्त्रेऽपि स्नानासन एव शालिमात्रा प्रतिपादिता, गोमात्रा तु मधुपर्कानन्तरमुक्ता, पाद्मे तु सर्वा अप्येकदैव प्रतिपादिताः—

तिलान् वस्त्रं तथा हेम ताम्बूलं तण्डुलानपि ।
फलानि गव्यमाघारं गाश्च धान्यं यथा वसु ॥
गोग्रासं देशिकायैतद् दद्याद् देवस्य सन्निधौ । इति ।

स्तोत्रमन्त्रैः जितन्ता(लक्ष्मी० २४.६९)द्यैरित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

स्तोत्रमन्त्रजपं कुर्याज्जितन्ताद्यं महामते ।
व्यस्तं चैव समस्तं च वाक्ययुक्तं विशेषतः ॥ —(सा० ६।३६१)

इति ॥ ५०-६३ ॥

फिर आचमन देवे और उसी प्रकार पादपीठ भी प्रदान करे । पुनः भक्तिपूर्वक चन्दनादि सुगन्ध पदार्थ प्रदान करे ॥ ५१ ॥

फिर आर्द्र गन्ध सुखाने के लिये मयूर के पिच्छ द्वारा विजित कर केश प्रसाधन के लिये कङ्कत (कंघी) प्रदान करे । पुष्प, ताम्बूल तथा कैंची प्रदान करे । तदनन्तर देवाधिदेव को मङ्गलकारी दुकूल वस्त्र प्रदान करे । इसके बाद उत्तरीय सहित उपवीत एवं मुकुटादि समर्पित करे ॥ ५२-५३ ॥

पैरों में विचित्र नूपुर पर्यन्त समस्त अलङ्कारों से अलङ्कृत कर उन्हें केवल (छुट्टा) पुष्प सहित शिरो माल्य समर्पित करे ॥ ५४ ॥

कान से लेकर चरण पर्यन्त सूत्र में पिरोया हुआ पुष्पमाला तथा हार समर्पित करे । फिर अत्यन्त मनोहर कङ्कण तथा प्रतिसर पवित्र, जो गैरिकादि धातुओं, कुङ्कुम, हरिद्रा एवं गोरोचन आदि से विचित्र हो, श्वेत सूत्र में पिरोया गया हो, बीच-बीच में अत्यन्त कोमल तूल से ग्रथित हो, ऐसी पवित्री देवे ॥ ५५-५६ ॥

शलाका सहित अञ्जन देवे, गन्ध युक्त ताम्बूल देवे, सुवर्ण गर्भ समन्वित ललाट तिलक तथा कपूर समन्वित गोरोचन मुख वास के लिये प्रदान करे ॥५७॥

वर्ण को अलङ्कृत करने के लिये पुष्प मण्डल तथा महान् दर्पण देवे, विचित्र कुसुमों से देदीप्यमान, रत्नप्रभा से भासित प्राकार प्रदान करे ॥ ५८ ॥

फिर हाथों के द्वारा बजाये जाते हुए घण्टा के शब्द के साथ मधुर, धूप से संयुक्त गुग्गुल के धूप से धूपित करे ॥ ५९ ॥

उपानह, श्वेत छत्र, शिविका, रथादि से लेकर गज पर्यन्त सभी वाहन पताका सहित गरुड़ध्वज समर्पित करे ॥ ६० ॥

सितासित चामर, तदनन्तर समस्त औपचारिक भोगों में दोष पूर्ति के लिये मात्रावित्त (औपचारिक बीज) समर्पित करे ॥ ६१ ॥

फिर भेरी मृदङ्ग, शङ्खादि तथा जय-जयकार शब्द से युक्त अनेक प्रकार के गाने, नृत्य एवं तन्त्री वाद्य से युक्त (जितन्तादि) स्तोत्र, मन्त्र, नमस्कार, प्रणाम तथा प्रदक्षिणादि द्वारा पादपीठ सहित श्रीभगवान् का पूजन करे । फिर उन्हें भोजनार्थ आसन प्रदान करे ॥ ६२-६३ ॥

पूज्यः सपादपीठं वै दद्याद् भोज्यासनं विभोः॥ ६३ ॥
छत्रं दुकूलतूलोत्थमसूरकवरेण तु ।
अथार्हणजलं स्वच्छं सुगन्धं पात्रतः कृतम् ॥ ६४ ॥
मधुपर्कं दधिमधुघृतयुक्तमनन्तरम् ।
शीतलं तर्पणजलमथ चूर्णं पुरोदितम् ॥ ६५ ॥
देयं निष्पुंसनार्थं तु पुनराचमनं विभोः ।
स्वलङ्कृतां सुरूपां च स्रग्युक्तां विनिवेद्य गाम् ॥ ६६ ॥
प्रभूतमथ नैवेद्यं भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ।
मधुराद्या रसाः सर्वे शाकाः सफलमूलकाः ॥ ६७ ॥
पानकानि पवित्राणि स्वादूनि मधुपर्कवत् ।
सर्वमाचमनार्थं तु प्रदद्यादर्हणोदकम् ॥ ६८ ॥
तिलान्यथ सुरत्नानि ताम्बूलं पुनरेव हि ।

अथ भोज्यासनोपचारानाह—सपादपीठमित्यादिभिः । दुकूलतूलोत्थमसूरकवरेण क्षौमाद्याच्छादितदुकूलोत्थितमृद्वास्तरणेनेत्यर्थः । अर्हणजलं मधुपर्काङ्गमापोशनरूपं प्रधानार्घ्योदकं पात्रतः कृतं पृथक्पात्रे प्रणीतमित्यर्थः । तथा च वक्ष्यति दीक्षाधिवासपरिच्छेदे प्रधानार्घ्यविनियोगविवरणप्रकरणे—'तदम्भसाचार्हणं तु तथैव परिषेचनम्' (१८।७२) इति । दधिमधुघृतयुक्तमित्यत्र क्षीरमपि योज्यम्, 'नाविकं मधुपर्कार्थे दधिक्षीरादिकं शुभम्' (२१।३७) इति समयपरिच्छेदे वक्ष्यमाणत्वात्, 'पयसो मधुनो दध्नः संयोगो मधुपर्ककः' (३९।२७) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेश्च । तर्पणजलं मधुपर्कनिवेदनानन्तरं तृप्त्यर्थं पानीयम् । तदपि प्रधानार्घ्योदकमेव, 'कुर्यात् प्रणयनादानम्' (१८।७२) इति प्रधानार्घ्यविनियोगस्य वक्ष्यमाणत्वात् । प्रणयनं = पात्रान्तरे सेचनम्, तत्पूर्वकमादानं = ग्रहणमित्यर्थः । तथा च व्यक्तमुपबृंहितमीश्वरपारमेश्वरयोः—'तर्पणं सम्प्रतिष्ठाप्य वासितं चार्घ्यवारिणा' (ई०सं० ५।३; पा०सं० ६।३७६) इति । पुरोदितं चूर्णं स्नानासनोक्तमुद्वर्तनचूर्णमित्यर्थः । निष्पुंसनार्थं = हस्तोद्वर्तनार्थम् । गां विनिवेद्य । इदं गोविनिवेदनं मधुपर्कछिद्रसम्पूरणार्थमिति ज्ञेयम् ।

तथा च लक्ष्मीतन्त्रे— 'देयमाचमनं पश्चान्मात्रा गौर्माधुपर्किकी' (३९।३०) इति । एतद्गोमात्रानन्तरं बीजमात्रा विनिवेदनीया । 'ओषधीः शालिपूर्वाश्च स्रक्फलाढ्यं वनस्पतिम् । मूर्तं निवेदयेत् पूर्वम्' (ई०सं० ५।७; पा०सं० ६।३७९-३८०) इतीश्वरादिषु प्रतिपादनात् प्रभूतं प्रचूरमित्यर्थः । नैवेद्यं = पायसान्नादि-हविरष्टकम् । भक्ष्याणि अपूपानि, भोज्यानि फलानि । तथा च पारमेश्वरे—'भक्ष्याण्यपूपपूर्वाणि भोज्यानि तु फलानि च । लेह्यानि मधुपूर्वाणि चोष्याण्याम्रादिकान्यपि । पेयानि क्षीरपूर्वाणि अनुपानान्वितानि च ।' (१८।३८६-३८७) इति । मधुराद्या रसा सर्वे इत्यनेन षण्णामपि रसानां भगवन्निवेदनार्हत्वमुक्तं भवति । यद्यपि—

अपक्वव्रीहिविहिततण्डुलेनैव साधितम् ।
भक्ष्यं दुग्धाज्यसंसिक्तं गुलखण्डफलान्वितम् ।
अक्षारलवणोपेतं देवानां हविरुच्यते ॥
—(ई० २५।८८-८९; पा० १८।१६४-१६५)

इति मधुररसमात्रस्य देवतार्हत्वमुक्तम्, तथापि व्रतयज्ञादिविषयत्वमात्रं बोध्यम्; अन्यत्र सर्वेषामपि रसानां समर्पणीयत्वोक्तेः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

अक्षारलवणं सिद्धं गुलक्षीरफलान्वितम् ।
शान्तये व्रतयज्ञे च संसाध्यं हविरुत्तमम् ॥ इति ।
—(ई० २५।९०-९१; पा० १८।१६७)

शाकफलमूलानां ग्राह्याग्राह्यत्वविवेचनं हविःसाधनविधानं पानकादिप्रकल्पनं तत्तन्निवेदनप्रकारादिकं सर्वमीश्वरादिषु विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यम् । सरत्नतिलमात्रा सुवर्णादिपात्रेण निवेदनीया । तथा चेश्वरे—

तिलान्यथ सुरत्नानि सुवर्णे वाथ राजते ॥
पात्रे कृत्वाऽथ मात्रार्थं देवाय विनिवेदयेत् । (५।२२-२३) इति ।

ताम्बूलम्—

लवङ्गतक्कोलैलात्वक्कर्पूरपरिभावितम् ।
जातीपूगफलोपेतं ससुगन्धच्छदं बहु ॥
कर्पूरचूर्णसंमिश्रं मुक्ताचूर्णविमिश्रितम् ।
मातुलुङ्गफलोपेतं नालिकेलफलान्वितम् ॥
प्रदद्यात् प्रणतश्चान्ते ताम्बूलं जगतः पतेः ।
—(ई०सं० ५।२३-२५)

इत्युक्तलक्षणं ज्ञेयम् ।
पूर्वमलङ्कारासने ताम्बूलस्य समर्पितत्वात् पुनरित्युक्तम् ॥ ६३-६९ ॥

रूई से परिपूर्ण गद्दे, जो क्षौम वस्त्र से आच्छन्न हो, ऐसा आसन प्रदान करे । फिर प्रधान अर्घ्यपात्र, जो स्वच्छ तथा सुगन्ध पूर्ण हो, उसे अलग पात्र में स्थापित कर समर्पण करे । इसके बाद दधि, मधु, घृत युक्त मधुपर्क, फिर शीतल तर्पण जल तथा पूर्व कथित उद्वर्तन चूर्ण प्रदान करे ॥ ६३-६५ ॥

तथा हस्तोद्वर्त्तनार्थ सुगन्धित द्रव्यं तदनन्तर भगवान् को आचमन देवे । तदनन्तर अलङ्कृत, सुरूपा एवं माल्यादि से शोभित गौ प्रदान करे ॥ ६६ ॥

तत्पश्चात् अनेक प्रकार के भक्ष्य भोज्य (अपूप फल पायसादि) सहित पर्याप्त नैवेद्य, मधुर आदि षड् रस सभी प्रकार के शाक, सभी प्रकार के फल सहित मूल पवित्र पानक (दुग्धादि) जो मधुपर्क के समान स्वादिष्ट हों, उसे निवेदन करे । फिर आचमन के लिये सब प्रकार का अर्हणोदक देवे । फिर रत्ननिर्मित पात्र में तिल, पुनः ताम्बूल निवेदन करे ॥ ६७-६८ ॥

गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा मुद्राबन्धमथाचरेत् ॥ ६९ ॥
मध्यमानामिकाभ्यां तु द्वन्द्वयुक्तं करद्वयात् ।
पराङ्मुखं च सुस्पष्टं कृत्वा योज्यं परस्परम् ॥ ७० ॥
आमूलान्नखपर्यन्तं नैरन्तर्येण यत्नतः ।
समुत्ताने करतले शेषाश्चाङ्गुलस्तथा ॥ ७१ ॥
अधरोत्तरयोगेन वामदक्षिणतस्तथा ।
तर्जन्यामूर्ध्वतोऽङ्गुष्ठे सम्मुखे सम्प्रसार्य च ॥ ७२ ॥
निविष्टा हृदयोद्देशे कार्याऽथ जपमाचरेत् ।

मुद्राबन्धलक्षणमाह—गन्धदिग्धावित्यारभ्य कार्येत्यन्तम् । अत्र हस्तयोर्गन्धलेपनात् पूर्वं द्वितीयार्घ्योदकेन हस्तप्रक्षालनं गन्धलेपनानन्तरं तेनैवार्घ्येण हस्तयोः परस्परमर्चनं च कार्यम् । यतः—'मुद्राबन्धे कराभ्युक्षं तदर्चा क्षालनं तथा' (ई० ३।९६; पा० ६।११७) इतीश्वरपारमेश्वरयोर्द्वितीयार्घ्यविनियोग उक्तः । तथैव मुद्राबन्धप्रकरणेऽपि—

प्रक्षाल्य गन्धतोयेन अर्घ्यपात्रोद्धृतेन वै ।
पाणियुग्मं यथा वै स्यात् स्वच्छमत्यन्तनिर्मलम् ॥
नैवेद्यधूपपात्राद्यैः पात्रैश्चानिर्मलीकृतम् ।
कृत्वा सद्गन्धदिग्धौ तावर्घ्येणार्च्य परस्परम् ॥
मुद्रा मूलादिमन्त्राणां दर्शयित्वा यथाक्रमम् ।
—(ई० ५।२६-२८; पा० ६।४००-४०२)

इति व्यक्तमुक्तम् । मुद्राबन्धप्रकारस्तु—मध्यमानामिकायुगलं पराङ्मुखं सुस्पष्टम् आमूलान्नखपर्यन्तं निरन्तरं यथा तथा परस्परं संयोज्य समुत्तानयोः करतलयोस्तर्जनीद्वितयं कनिष्ठाद्वितयं चोत्तरोत्तरयोगेन वामदक्षिणतः कृत्वा तर्जन्यामूर्ध्वतः संमुखेऽङ्गुष्ठे सम्प्रसार्य इमां मुद्रां हृदये निविष्टां कुर्यात् । इयं व्यूहानां मूलमुद्रेति ज्ञेयम् ॥ ६९-७३ ॥

इसके बाद दोनों हाथों को इत्रादि सुगन्ध पदार्थों से अनुलिप्त करे । तदनन्तर मुद्रा बन्ध करे । मुद्राबन्धन का प्रकार कहते हैं—दोनों हाथ की मध्यमा

और अनामिका अङ्गुलियों को पराङ्मुख करे । फिर मूल से लेकर नख पर्यन्त परस्पर संयुक्त कर उतान हाथकर दोनों तर्जनियों को और दोनों कनिष्ठाओं को उत्तरोत्तर योग से बायें तथा दक्षिण की ओर कर तर्जनी के ऊपर सामने दोनों अंगूठों को फैला देवे । फिर इस मुद्रा को हृदय पर स्थापित करे । तब यही व्यूहों की मूल मुद्रा कही जाती है ॥ ६९-७३ ॥

स्फाटिकेनाक्षसूत्रेण स्वकैर्वा करपर्वभिः ॥ ७३ ॥
यथाभिमतसंख्यं च जपान्ते स्रग्वरैः सह ।
सम्पूज्य गन्धधूपैश्च ततस्तु भगवन्मयान् ॥ ७४ ॥
यथाक्रमं समभ्यर्च्य नैवेद्यं प्रतिपाद्य च ।
तेषां मात्रावसानं चाप्यग्नौ सन्तर्पयेत् ततः ॥ ७५ ॥

जपमाह—अथेति । स्फाटिकेनाक्षसूत्रेणेत्यत्राक्षमालाप्रतिष्ठादिकं जयाख्यानुसारेण ईश्वरादिषु प्रतिपादितं द्रष्टव्यम् । स्वकैर्वा करपर्वभिरित्यत्र पाञ्चरात्ररक्षायां (पृ० १०८) विशेष उक्तः—

कनिष्ठामूलमारभ्य प्रादक्षिण्यक्रमेण तु ।
अनामिकान्तं देवेशं जपेत् कोटिसहस्रकम् ॥ (अर्च०,पृ० १९)इति।

जपस्य वाचिकादिभेदेन फलभेद उक्तो लक्ष्मीतन्त्रे—

वाचिकं क्षुद्रकर्मार्थमुपांशुः सिद्धिकर्मणि ।
मानसो मोक्षलक्ष्मीदो ध्यानात्मासर्वसिद्धिकृत् ॥ (३९।३५) इति ।

जपान्ते पुनर्भगवदुपचारानाह—स्रग्वरैरिति । कारिप्रदानविधिमाह—तत इति । भगवन्मयान् = भागवतानित्यर्थः पाञ्चरात्रिकानिति यावत् । अत्र बहुवचनेन चत्वारो विवक्षिताः । तथा वक्ष्यति चतुर्दशे परिच्छेदे—

'एवमुक्त्वा समभ्यर्च्य चतुरः पाञ्चरात्रिकान्' (१४।३०) इति ।

समभ्यर्च्येत्यत्रार्घ्यगन्धपुष्पधूपैरिति बोध्यम् । तथा चोक्तं पारमेश्वरे—'अर्घ्यालभनपुष्पैश्च धूपैरभ्यर्च्य वै ततः' इति । नैवेद्यं प्रतिपाद्य चतुर्धा विभक्तेष्वेकं भागं दत्वेत्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

प्राङ्निवेदनकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम् ।
प्रापणं मधुपर्काद्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम् ॥
तेभ्यो दद्यादेकभागमर्घ्योदकपुरस्सरम् । इति ।

मात्रावसानं = मात्रादानान्तमित्यर्थः । तथा च तत्रैव—'मात्रां चतुर्विधां चापि आचार्याय प्रदापयेत्' । चतुर्विधां शालितण्डुलबीजतिलभेदभिन्नामित्यर्थः । आदौ भगवन्निवेदितानामेव मात्राद्रव्याणाम्, इदानीं भागवतेभ्यः प्रदानं पार्थक्येनेति बोध्यम् । भगवन्निवेदनसमय एव आचार्याय मात्रादाने कृते पुनरिदानीं मास्त्वित्युक्तमीश्वरे—

यद्वैभ्यो देवयज्ञान्ते तन्मात्रान्तं प्रदाय तु ।

अस्मिन् कालेऽर्हणाद्यं तु ताम्बूलान्तं निवेदयेत् ॥ (५।४५) इति ।

एवंकारिणां पूजनमपि भगवदर्चनवद् भगवन्मन्त्रैरेव कार्यम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

ततो गुरून् समानीय मन्मयान् वापि वैष्णवान् ।
प्रदद्यात् प्रापणार्थं तु तेभ्यो मन्मन्त्रमुच्चरन् ॥
—(४०।२९-३०)इति

एवंकारिप्रदानस्य पञ्चमाङ्गत्वमुक्तं जयाख्ये—

अन्त:करणयागादि यावदात्मनिवेदनम् ॥
तदाद्यमङ्गं यागस्य नाम्नाऽभिगमनं महत् ।
पूजनं चार्घ्यपुष्पाद्यैर्भोगैर्यदखिलं मुने ॥
बाह्योपचारैस्तद्विद्धि भोगसंज्ञं तु नारद ।
मध्वाज्याक्तेन दध्ना च पूजा च पशुना च या ॥
तत्तृतीयं हि यागाङ्गं तुर्यमन्नेन पूजनम् ।
निवेदितस्य यद्दानं पूर्वोक्तविधिना मुने ॥
सम्प्रदानं तु तन्नाम यागाङ्गं पञ्चमं स्मृतम् ।
वह्निसन्तर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु सप्तम: ॥
प्राणाग्निहवनं नाम्ना अनुयागस्तदष्टमम् ।—(२२।७५-८०)

इति ॥ ७३-७५ ॥

अब जप का प्रकार कहते हैं—स्फटिक या अक्षसूत्र अथवा अपने हाथों के पर्व से जैसी सुविधा हो यथाभिमत संख्या में जप करे । फिर जप के पश्चात् माला के साथ भगवद भक्तों की गन्ध धूप से पूजा करे ॥ ७३-७४ ॥

इस प्रकार विष्णु भक्तों की क्रमानुसार पूजा कर उन्हें नैवेद्य प्रतिपादन करे, उसके बाद मात्रावसान (विशेष बीज) द्वारा होम कर अग्नि को सन्तृप्त करे ॥ ७५ ॥

प्रमाणपरिशुद्धं च विभवानुगुणं शुभम् ।
चतुरावरणं कुण्डं कृत्वाऽङ्गुष्ठविभूषितम् ॥ ७६ ॥
त्र्यंशेनार्धांशतो वापि खाताद् व्यासो विधीयते ।
चक्रशङ्खाम्बुजाकारं वृत्तं वा चतुरश्रकम् ॥ ७७ ॥
गदाद्यैश्चक्रपर्यन्तैर्लाञ्छनैर्लाञ्छितं तु वा ।

अथ षष्ठमङ्गं वह्निसन्तर्पणं निरूपयन्नादौ कुण्डलक्षणमाह—प्रमाणपरिशुद्धमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ७६-७८ ॥

अब षष्ठ अङ्गभूत वह्नि सन्तर्पण का निरूपण करते हुए कुण्ड लक्षण कहते हैं—प्रमाण से परिशुद्ध अपने विभव के अनुगुण चार आवरण वाले कुण्ड को अपने अंगूठे से विभूषित करे ॥ ७६ ॥

खात के तीन अंश से, अथवा आधे अंश से व्यास निर्माण करे । वह चक्र, शङ्ख से युक्त अम्बुजाकार हो, अथवा गोला हो, अथवा चौकोर हो, जो गदा के आदि से चक्र पर्यन्त चिह्नों से संयुक्त हो ॥ ७७-७८ ॥

अग्निकार्योपयोगीनि तानि यानि महामते ॥ ७८ ॥
स्रुक्स्रुवादीनि भाण्डानि त्वङ्कितव्यानि तैरपि ।
सुधाद्यैर्वर्णकैः शुद्धैर्भूषयित्वोपलिप्य च ॥ ७९ ॥
सुगन्धैश्चन्दनाद्यैश्च पञ्चगव्यपुरस्सरैः ।

कुण्डवत् स्रुक्स्रुवादिपात्राणामपि चक्रशङ्खादिभगवल्लाञ्छनं कार्यमित्याह— अग्निकार्येति । कुण्डोल्लेखनादिकमाह—सुधाद्यैरिति । अत्रापेक्षिताः पुष्पताडनाद्यष्टविधकुण्डसंस्कारा जयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोः संगृहीता ग्राह्याः ॥ ७८-८० ॥

तन्मध्ये च कुशाग्रेण प्राग्भागमवलम्ब्य च ॥ ८० ॥
आरभ्य दक्षिणाशाया लिखेल्लेखामुदग्गताम् ।
तस्यामुपरि संलिख्य लेखानां त्रितयं स्फुटम् ॥ ८१ ॥
प्रागग्रं दक्षिणाशादि ह्युदीच्यन्तं च सान्तरम् ।

कुण्डमध्ये कुशाग्रेण प्राग्भागदक्षिणादि उत्तरान्तमेकामर्गलरेखां लिखेदित्याह— तन्मध्य इति । तदुपरि दक्षिणाद्युत्तरान्तं सान्तरालं प्रागग्रं रेखात्रयं कुर्यादित्याह— तस्यामिति । तद्रेखात्रयस्य सुषुम्नापिङ्गलेडादेवताकत्वमुक्तमीश्वर (५।६७-६८) पारमेश्वर-(७।२९)योर्ग्राह्यम् ॥ ८०-८२ ॥

हे महामते ! जो अग्नि कार्य के लिए सर्वथा उपयोगी हो ऐसे कुण्ड का निर्माण करे । कुण्ड के समान स्रुक् स्रुवादि पात्रों पर भी चक्र, शङ्ख, गदादिकों पर भी भगवान् के अस्त्र-शस्त्रों पर भी भगवद् चिह्न करे । पहले कुण्ड का लेपन करे, फिर चूना आदि वर्णकों से उसे लेप कर शुद्ध करे । उसके मध्य कुशों के अग्रभाग से पूर्व दिशा का ज्ञान कर, कुशा के अग्रभाग से दक्षिण दिशा से आरम्भ कर उत्तर दिशा पर्यन्त रेखाङ्कित करे । फिर उसके ऊपर दक्षिण से उत्तर तथा पूर्वाग्र से पश्चिम, इस प्रकार तीन रेखा स्पष्ट रूप से लिखे । (ध्यान रहे इन तीनों रेखा की सुषुम्ना, इडा, पिङ्गला ये तीन देवतायें हैं) ॥ ७८-८२ ॥

चतुर्धा प्रणवेनाथ प्रोक्षयेदर्घ्यवारिणा ॥ ८२ ॥
तदभ्यर्च्यार्घ्यपुष्पाद्यैर्ध्यायेत् तद् भद्रपीठवत् ।
प्रणवैस्तु प्रतिष्ठानं प्राग्वदस्य समाचरेत् ॥ ८३ ॥

प्रणवेनार्घ्यवारिणा चतुर्धा प्रोक्षणम्, प्रणवेन पुष्पैरभ्यर्चनम्, कुण्डमध्यस्य भद्रपीठवद् ध्यानं चाह—चतुर्धेति सार्धेन ॥ ८२-८३ ॥

तदनन्तर चार बार प्रणव का उच्चारण कर अर्घ्य के जल से उन रेखाओं

का चार बार प्रोक्षण करे। प्रणव द्वारा पुष्प से अर्चन करे। फिर कुण्ड के मध्य भाग का भद्रपीठ के समान अर्चन करे तथा प्रणव द्वारा पूर्व की भाँति कुण्ड का ध्यान करे ॥ ८२-८३ ॥

चतुरश्रे स्थले कौण्डे दिग्विदिगष्टके बहिः ।
सम्पूर्णपात्रं कुम्भानामष्टकं विनिवेश्य च ॥ ८४ ॥

कुण्डस्याष्टदिक्षु पूर्णकुम्भाष्टकस्थापनमाह—चतुरश्र इति ॥ ८४ ॥

ऊर्ध्वाधो मेखलानां च चतुर्णां दिक्चतुष्टये ।
कौशेयविष्टरस्थांश्च वासुदेवादिकान् यजेत् ॥ ८५ ॥
विदिक्ष्वप्ययययोगेन ह्यूर्ध्वान्तमधरात् तु वै ।
तद्वदेवार्घ्यपुष्पाद्यैः पूजनीयाः क्रमेण तु ॥ ८६ ॥

कुण्डस्य बहिः प्रागादिचतुर्दिक्षु मेखलास्थकुशकूर्चेषु ऊर्ध्वाद्यधरान्तं प्रभवक्रमेण वासुदेवादीनामर्चनम्, तथैवाग्नेयादिविदिक्ष्वप्ययक्रमेणाधराद्यूर्ध्वान्तमनिरुद्धादीनामर्चनं चाह—ऊर्ध्वाध इति द्वाभ्याम् । एवं द्वात्रिंशत्कुशकूर्चेष्वर्चनं चतुर्मेखलकुण्डमात्रविषयकम्, अन्यत्रैवमनवकाशात् । अत्र विदिक्ष्वप्ययक्रमेणानिरुद्धादीनामर्चने ॐ पुरुषाय नमः, ॐ सत्याय नमः, ॐ अच्युताय नमः, ॐ भगवते वासुदेवाय नम इति पूर्वोक्तमन्त्रचतुष्टयं ज्ञेयम्,

अप्ययावसरे प्राप्ते स्मरणे चार्चने विभोः ।
श्रृणु मन्त्रचतुष्कं तु पुनरन्यत् समासतः ॥—(५।६८-६९)

इत्युक्तेः । प्रभवक्रमेणार्चने जाग्रद्व्यूहमन्त्रचतुष्टयं जागर्त्येव ॥ ८५-८६ ॥

स्थल पर निर्मित चौकोर कुण्ड के चारों दिशाओं में और बाहर चार विदिशाओं में आठ कलश स्थापित करे। फिर मेखला के ऊपर नीचे और चारों दिशाओं के चारों ओर तथा कुशा के विष्टर पर स्थित वासुदेवादि देवताओं का यजन करे ॥ ८४-८५ ॥

फिर कोनों पर संहार क्रम से ऊपर से नीचे अर्घ्य, पुष्पादि से पुनः क्रमपूर्वक उनकी पूजा करे ॥ ८६ ॥

मृदुदर्भसमूहं च नीरसं चाश्मकुट्टिमम् ।
शुष्कगोमयचूर्णेन युक्तं गन्धाश्मना सह ॥ ८७ ॥
कुण्डे द्रोणांशमात्रं तु समारोप्य प्रसार्य च ।

कुण्डे शीघ्रमग्निप्रज्वालसाधनदर्भचूर्णादिप्रक्षेपमाह—मृदुदर्भेति सार्धेन । गन्धाश्मना = गन्धकेन, 'गन्धाश्मनि तु गन्धकः' (२।९।१०२) इत्यमरः ॥ ८७-८८ ॥

फिर पत्थर से कूट कर साधक शुष्क दर्भ समूह का चूर्ण, शुष्क गोमय का

चूर्ण, जिसमें गन्धक मिला हुआ हो, उसको एक द्रोण परिमाण में कुण्ड में डाल कर फैला देवे ॥ ८७-८८ ॥

अग्न्यानयनकथनम्

ताम्रपात्रेऽथवाऽन्यस्मिन् समादाय हुताशनम् ॥ ८८ ॥
आरण्यं लौकिकं वाथ मणिजं दर्पणोद्भवम् ।

अग्न्यानयनमाह—ताम्रपात्र इति । आरण्यम् = अर(ण्य?णि)संभवमित्यर्थः । अरणिनिर्मथनप्रकार उक्तो लक्ष्मीतन्त्रे—

ध्यायेत् सर्वात्मिकां शक्तिं तामेवत्वधरारणिम् ।
उत्तरं चारणिं ध्यायेत् सर्वतेजोमयं हरिम् ॥
मथ्नीयात् तारया सम्यक् तथा चैवानुतारया ।
—(४०।४१-४२) इति

एवमरणिजनितस्याग्नेरिदमेव जातकर्मेति ज्ञेयम् । इतः परं नामाद्यग्निसंस्काराः कार्याः, मणिजाद्यग्निस्तु गर्भाधानादिभिरेव संस्कार्यः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

लोहपाषाणमण्युत्थवह्नौ कार्यवशात् कृते ।
लौकिके वापि संस्कारं निषेकादि समाचरेत् ॥ (४०।४६) इति ।

अग्नेर्निषेकादिसंस्कारविधानं तु श्रीजयाख्यानुसारेणेश्वरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितम् । तदर्थं कुण्डमध्ये लक्ष्म्यावाहनादिकमप्युक्तम्, अन्येऽपि बहवो विशेषास्तत्र तत्रापेक्षितास्तयोरेव संगृहीता ग्राह्याः ॥ ८९ ॥

कालवैश्वानराख्यस्य हृदयेशस्य वै प्रभोः ॥ ८९ ॥
मारुतानुगता भासा योज्या बाह्याग्निना सह ।

स्वहृदयस्थितभगवत्तेजसः पात्रस्थाग्निना संयोजनमाह—कालेति । प्रसिद्धं हि कालवैश्वानराख्यत्वं भगवतः । तथा च पौष्करे विष्वक्सेनार्चनप्रकरणे—

कालवैश्वानराख्या या मूर्तिस्तुर्यात्मनो विभोः ।
स एव द्विज देवो हि विष्वक्सेनः प्रकीर्तितः ॥
स्थित आहवनीयादिभेदेन मखयाजिनाम् ।
ऋक्पूतं हुतमादाय तर्पयत्यखिलं जगत् ॥
—(२०।५४-५५) इति।

मारुतानुगता = मारुतो रेचकरूप इत्यर्थः । मन्त्र एव मारुत इत्यर्थः, उभयथाप्युक्तमीश्वरादिषु—'मन्त्रानिलकराकृष्टं कृत्वा तस्माद्विनिर्गतम्' (५।८६) इति, 'विरेच्य विन्यसेत् तस्मिन् वह्निपात्रे पुरार्चिते' (५।८७) इति । भासा = तेजस्सञ्ज्ञो भगवतः षष्ठो गुण इत्यर्थः । तथा वक्ष्यति नृसिंहकल्पपरिच्छेदे—

व्यस्तो गुणगणात् षष्ठस्तेजो नाम गुणो हि यः ॥
परस्य ब्रह्मणः सोऽयं सामान्यं सर्वतेजसाम् ।

ध्यात्वैवं नेत्रमन्त्रेण निक्षिपेत् कुण्डमध्यतः ॥
—(१७।१११-११२)

इति ॥ ९० ॥

तदनन्तर ताम्रपात्र में अथवा अन्य पात्र में अग्नि स्थापित करे । वह अग्नि अरणि से उत्पन्न हो, अथवा लौकिक हो, अथवा मणिजन्य हो, अथवा (सूर्य किरणों से) दर्पण जन्य हो, उसे अपने हृदय में स्थित काल वैश्वानर नामक अग्नि के साथ तथा फिर मन्त्र रूप वायु से निकली हुई बाह्याग्नि से युक्त करे ॥ ८८-९० ॥

भ्रामयित्वा चतुर्धा वै ततः कुण्डान्तरे क्षिपेत् ॥ ९० ॥
पूतं समिच्चतुष्कं तु प्रणवैरभिमन्त्रितम् ।
दत्वा तदूर्ध्वे तदनु कुर्यात् परिसमूहनम् ॥ ९१ ॥
प्रदक्षिणक्रमेणैव ह्यार्द्रपाणितलेन तु ।
तिर्यक् चाधोमुखस्तेन नखपृष्ठमदर्शयन् ॥ ९२ ॥

कुण्डेऽग्निस्थापनं तदूर्ध्वे प्रज्वालनार्थं समिच्चतुष्कप्रक्षेपं चाह—भ्रामयित्वेति । अत्र समिच्चतुष्कमिति याज्ञीयेन्धनानामुपलक्षणम् । तथा वक्ष्यति सप्तदशे परिच्छेदे—'पावनैरिन्धनैः शुष्कैः कृत्वा निर्धूममेव तम्' (१७।१३३) । परिसमूहनमाह—तदन्विति । परिसमूहनं नाम कुण्डमध्ये विशकलितानामग्नीनां पुञ्जीकरणम् ॥९०-९२॥

चार-चार बार घुमाकर अन्य कुण्ड में स्थापित करे । फिर पवित्र प्रणव से अभिमन्त्रित चार समिधायें उस पर रख कर परिसमूहन करे । यह परिस्तरण कार्य आर्द्र पाणि तल से एवं प्रदक्षिणक्रम से तिरछे तथा अधोमुख हो कर नख का पिछला भाग जिस प्रकार न दिखाई पड़े, वैसे करे ॥ ९०-९२ ॥

ततस्त्वभग्नमूलाग्रैः समैर्दद्यात् कुशैः स्तरम् ।
दिशि दिश्युत्तराशान्तं याम्याशादौ तु सान्तरम् ॥ ९३ ॥
चतुर्गुणैश्चतुर्धा तु अग्रच्छन्नैः परस्परम् ।
प्राक्प्रान्तैः पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरम् ॥ ९४ ॥

परिस्तरणमाह—तत इति द्वाभ्याम् । अभग्नमूलाग्रैः समैः कुशैर्दिशि दिशि स्तरं परिस्तरणं दद्यादिति सामान्यमुक्तम् । याम्याशादौ तु उत्तराशान्तं दिक्त्रये च क्रमेण चतुर्भिश्चतुर्भिः सान्तरम् अन्तरसहितं स्तरं दद्यादिति विशेष उक्तः । अत्र याम्यादित्रये चतुर्धा सान्तरालपरिस्तरणकथनं द्वन्द्वप्रसङ्गेन करिष्यमाणपात्रासादनार्थमिति ज्ञेयम् । दक्षिणादित्रय एव द्वन्द्वक्रमेणासादनस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रागदिशि तथासादनाभवान्निरन्तरालमेव षोडशदर्भैः परिस्तरणमिति च बोध्यम् ।

अत्र प्राक्प्रान्तैरित्यनेन पूर्वपश्चिमपरिस्तरणानामुत्तराग्रत्वमप्युपलक्ष्यते । दिशि दिशि स्तरं दद्यादिति पूर्वं सामान्यत उक्तत्वात् पुनः पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरमिति विशेषः प्रदर्शितः । एत एव श्लोका बहुशः पारमेश्वरादिषु प्रतिपादिताः ।

अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—'याम्याशादौ तु वा इति विकल्पः' इत्युक्तम् । तद्बुद्धिविकल्प एव, तथा पाठवर्णनेऽन्तरपदस्यागतिकत्वात् प्राग्भागेऽपि वृथा चतुर्धा परिस्तरणप्रसक्तेः, पूर्वभागाच्च यावदुत्तरगोचरमित्यस्य पौनरुक्त्यापत्तेश्च ॥९३-९४॥

अभग्नमूल एवं अभग्न अणु भाग वाले तथा सम कुशाओं से प्रत्येक दिशा में परिस्तरण करे, दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा में बिछाकर कुल तीन दिशाओं में अन्तर से चार-चार कुशाओं का परिस्तरण करे । शेष पूर्व दिशा से उत्तर दिशा तक १६ कुशाओं का परिस्तरण करे ॥ ९३-९४ ॥

होमोपकरणसन्निधापन विधानम्

होमोपकरणं सर्वं होमभाण्डपुरस्सरम् ।
अवतार्य तदूर्ध्वे तु दक्षिणस्यां तथात्मनः ॥ ९५ ॥
द्वन्द्वद्वयप्रयोगेण द्रव्यस्थापनमाचरेत् ।
द्विरष्टसंख्यमिध्मं तु संयुक्तं च महामते ॥ ९६ ॥
द्वितीयेनाष्टसंख्येन मुक्तदर्भैस्तरण्डिकाम् ।
स्रुक्स्रुवौ च चतुष्कं यदेकत्र विनिवेश्य तत् ॥ ९७ ॥
स्रग् धूपं मधुपर्कं च बीजान्येकत्र वै ततः ।
कौशेयं धूतकेशं तु विष्टरं च घृतं चरुम् ॥ ९८ ॥
आज्यस्थालीचतुष्कं च निधाय तदनन्तरम् ।

अथ परिस्तरणोपरि होमोपकरणसन्निधापनमाह—होमेति । होमभाण्डपुरस्सरं = स्रुक्स्रुवपुरस्सरमित्यर्थः । 'स्रुक्स्रुवादीनि भाण्डानि' (६।७९) इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । प्रथमं दक्षिणपरिस्तरणे आसादनक्रममाह—दक्षिणस्यामित्यादिभिः । मुक्तदर्भैः कूर्चादिरूपेणाग्रथितैः, केवलकुशैरित्यर्थः । तैरुपलक्षिता तरण्डिका । स्रुक्स्रुवरजोमार्जनशोधनाद्युपयुक्तः कूर्चः । कौशेयं धूतकेशम् । कुण्डशोधनोपयुक्तः कुशः कूर्चः । विष्टरं = प्रागादिकलशार्चनप्रणीतासंस्काराद्युपयुक्तकूर्चम् ॥ ९५-९९ ॥

अब होमोपकरण सन्निधापन की विधि कहते हैं—स्रुक्-स्रुवादि से युक्त सभी होमोपकरण ऊपर से उतार कर अपने दक्षिण ओर दक्षिण परिस्तरण पर दो-दो के क्रम से द्रव्य स्थापन करे । १६ संख्या में समिधायें एवं स्रुक स्रुवा के रजो मार्जन में काम आने वाले १६ कुशा को कुण्ड शोधन के लिये उपयुक्त कुशा और कलश मार्जन के काम में आने वाले कुशाओं को भी दक्षिण की ओर एकत्र स्थापित करे । इसी प्रकार विष्टर घृत, चरु एवं चार आज्य स्थली को भी दक्षिण दिशा में समूहन कुशा पर स्थापित करे ॥ ९५-९९ ॥

प्रणीतापात्रयुगलं करकं चार्घ्यभाजनम् ॥ ९९ ॥
चतुष्कमेतदपरमग्रतो विनिवेश्य च ।

प्रादेशमात्राः समिधः प्रभूतं शुष्कमिन्धनम् ॥ १०० ॥
पक्ष्मकं स्वेदहृद्वस्त्रं वामभागे निधाय च ।
अर्घ्यपात्रोदकेन प्राक् कृत्स्नं पावनतां नयेत् ॥ १०१ ॥

पश्चिमपरिस्तरणोपर्यासाद्यद्रव्याण्याह—प्रणीतेति । उत्तरपरिस्तरणे आसनान्याह—प्रादेशमात्रा इति । पक्ष्मकं(वक्ष्य?पक्ष्य)तेऽग्निप्रज्वालनार्थं परिगृह्यत इति पक्ष्मकं व्यजनमित्यर्थः । 'पक्ष परिग्रहे' (चु० १७)इति धातोः । पारमेश्वरव्याख्याने पक्ष्मकं सूक्ष्ममिति स्वेदहृद्वस्त्रविशेषणं कृतम्, तदसंगतम्, द्वन्द्वक्रमेणासादनासंभवात् । क्वचित् पारमेश्वरप्रयोगे समस्तपदभ्रान्त्या पक्ष्मस्थं कं बाष्पमित्यभिप्रायेण बाष्पस्वेदहृद्वस्त्रद्वयमिति लिखितम्, तदपि विरुद्धम्, दीक्षापरिच्छेदे—

प्रागुक्तं स्रुक्स्रुवाद्यं च होमोपकरणं च यत् ॥
सर्वं पक्ष्मकपर्यन्तं बृहत्पात्रद्वयान्वितम् । —(१८।४६-४७)

इति वक्ष्यमाणत्वात् । किञ्च, पारमेश्वरव्याख्यायामासादनविषये—'अत्रैवं विवेकः' इति प्रक्रम्य स्वच्छन्दमासादनमुक्तम् । तदविवेकोत्थापितम्, यतस्तत्र दक्षिणपरिस्तरणोपरि परिध्यादीनां स्रगादीनां धूतकेशादीनां चतुर्णां चतुर्णामासादनम्, अतः स्वाग्रतः पश्चिमपरिस्तरणोपरि प्रणीतादीनां चतुर्णामासादनम्, उत्तरपरिस्तरणोपरि समिदादीनां चासादनं कार्यमित्यर्थः सुस्पष्टमुपलभ्यते ।

आसादितानां प्रोक्षणमाह—अर्घ्येति । अस्मिन्नवसरे कुण्डस्य चतुर्दिक्षु परिधिस्थापनं कार्यम्, 'पलाशपूर्वाः समिधः साग्राः परिधयस्तु वै' (१८।४५) इत्यष्टादशपरिच्छेदे परिधीनां वक्ष्यमाणत्वात् । 'चतस्रो वै परिधयः शिखामन्त्रेण पूजयेत्' (५।१०२) इतीश्वराद्युपबृंहितत्वाच्च । एवं परिधिन्यासानन्तरं प्रागादिषु कुम्भेषु कूर्चन्यासपूर्वकमिन्द्राद्यर्चनं च कार्यम्,

विष्टराणि ततो दद्याद् हृदा कुम्भाष्टके ततः ।
तेषु क्रमात् पूजयेच्च लोकपालान् स्वदिक्स्थितान् ॥ (५।१०३)

इतीश्वरोक्तेः । जयाख्यपारमेश्वरयोः परितः कुम्भानां केवलकूर्चेष्वेव लोकपालार्चनमुक्तम् ॥ ९९-१०१ ॥

दो प्रणीता पात्र एवं कमण्डल तथा अर्घ्यपात्र इन चारों को अपने आगे पश्चिम दिशा में स्थापित करे ॥ ९९-१०० ॥

अब उत्तर परिस्तरण पर आसन का प्रकार कहते हैं—प्रादेश मात्र की समिधायें पर्याप्त शुष्क इन्धन, पङ्खा, देह का पसीना पोंछने वाला वस्त्र अपनी बायीं ओर स्थापित करे । इस प्रकार आसादित वस्तुओं के स्थापन के पश्चात् अर्घ्य पात्र के जल से उन्हें पवित्र करे ॥ १००-१०१ ॥

प्रणीतासंस्कारविधानम्

आदाय सोदकं चाथ प्रणीताख्यं च भाजनम् ।

पवित्रकं तु तन्मध्ये चतुर्दर्भकृतं न्यसेत् ॥ १०२ ॥
उद्धृत्योद्धृत्य हस्तेन जलं तत्रैव निक्षिपेत् ।
चातुरात्मीयं मन्त्रं च जपमानो हि साधकः ॥ १०३ ॥
भूयस्तदम्भसा सर्वं प्रोक्षयेद् विष्टरेण तु ।
शेषस्यास्रावणं कुर्यात् सर्वदिक्षु स्तरोपरि ॥ १०४ ॥
पुनरेवाम्भसाऽऽपूर्य तन्मध्ये परमेश्वरम् ।
ध्यात्वाऽर्चयित्वा संस्थाप्य त्वग्रतस्तदनन्तरम् ॥ १०५ ॥

प्रणीतासंस्कारविधिमाह—आदायेति चतुर्भिः । चातुरात्मीयं मन्त्रं पूर्वोक्तं वासुदेवादिमन्त्रचतुष्टयमित्यर्थः ॥ १०२-१०५ ॥

अब प्रणीता संस्कार की विधि कहते हैं—अर्घ्यपात्र से पवित्रीकरण के पश्चात् जल सहित प्रणीता पात्र हाथ में ले कर, उसमें चार कुशों की पवित्री स्थापित करे। फिर हाथ से कुशा द्वारा उसका जल निकाल कर साधक चातुरात्मीय मन्त्र पढ़ते हुए उसी होमोपकरण सामग्री पर छिड़के । फिर उसी विष्टर से प्रणीता का जल लेकर सभी सामग्री का प्रोक्षण करे और शेष जल को संस्तरण के ऊपर समस्त दिशाओं में छिड़क देवे ॥ १०२-१०४ ॥

पुनः उस प्रणीता में जल भरे और उसके मध्य में परमेश्वर का ध्यान करे, उनका अर्चन करे, फिर उसे अपने आगे स्थापित कर देवे ॥ १०५ ॥

सम्प्रोक्ष्यार्घ्याम्भसा चेध्मांश्चतुर्धा संविभज्य च ।
पूजयेदर्घ्यपुष्पाभ्यां द्वादशाक्षरविद्यया ॥ १०६ ॥
प्रणीते चापरस्मिन् वै पात्रे चाग्रे कृते सति ।
सपवित्रं तु तत्रार्घ्यं दत्वा चक्रं तु विन्यसेत् ॥ १०७ ॥
चतुर्मूर्तिं तदूर्ध्वे तु ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथाक्रमम् ।
तत्पात्रमुत्तरस्यां च कृत्वा सम्पूज्य वै पुनः ॥ १०८ ॥

इध्मप्रक्षेपणमाह—सम्प्रोक्ष्येति । द्वादशाक्षरविद्यया व्यापकद्वादशाक्षरमन्त्रेणेत्यर्थः । अन्य प्रणीतासंस्कारमाह—प्रणीत इति द्वाभ्याम् ॥ १०६-१०८ ॥

अब इध्मप्रक्षेपण विधि कहते हैं—साधक अर्घ्य के जल से समिधाओं पर जल छिड़क कर उसे चार भागों में प्रविभक्त करे और द्वादशाक्षर मन्त्र से अर्घ्य पुष्प द्वारा उसकी पूजा करे । पहले जिस प्रणीता पात्र को आगे रखा गया था (द्र० ६.१०५) उसमें सपवित्रक अर्घ्य डाल कर चक्र न्यास करे ॥ १०६-१०७ ॥

फिर उसमें वासुदेवादि चतुर्मूर्त्ति का ध्यान कर यथाक्रम अर्चन करे । ध्यान, पूजन के पश्चात् उस पात्र को उत्तर दिशा में स्थापित कर देवे ॥ १०८ ॥

आज्यसंस्कारकथनम्

आज्यस्थालीमथादाय त्वाज्यं यत्प्राग् द्रवीकृतम् ।
विनिक्षिप्याज्यभाण्डान्तमुच्चस्थेन करेण तु ॥ १०९ ॥
पुनरादाय कृत्वाग्र आधारोपरि यत्नतः ।
दार्भं काण्डचतुष्कं तु द्वादशाङ्गुलसम्मितम् ॥ ११० ॥
तिर्यगुत्तानपाणिभ्यामवष्टभ्य च सान्तरम् ।
अनामाङ्गुष्ठयुग्मेन यथा मध्यं नतं भवेत् ॥ १११ ॥
तैराज्यं चतुरो वारानानयेच्चतुरुन्नयेत् ।
अन्तरान्तरयोगेन ह्यात्मनोऽग्नेस्तु सम्मुखम् ॥ ११२ ॥
प्रणवेनोक्तसंख्येन कुण्डमध्येऽथ निक्षिपेत् ।

आज्यसंस्कारमाह—आज्यस्थालीमिति सार्धैश्चतुर्भिः । अत्र द्रवीकृतमाज्यमाज्यस्थाल्यां विनिक्षिप्येत्यनेन जयाख्योक्तदशविधाज्यसंस्कारेषु—

'उपाधिश्रयणं नाम यदाद्रावणमुच्यते ।
परिवर्तनमन्यस्मिन् भाण्डे दोषापनुत्तये ॥
प्रसादीकरणं ह्येतत्' —(१५।११७-११८)
इत्युक्तसंस्कारद्वयमुक्तं भवति ।

तैराज्यं चतुरो वारान् आनयेच्चतुरुन्नयेदित्यनेन—

नयेत्तच्चानयेद् विप्र प्रतपाग्नौ क्षिपेत् कुशम् ।
संप्लवोत्प्लवनावेतौ संस्कारौ परिकीर्तितौ ॥ (जया० १५।११६)

इत्युक्तसंस्कारद्वयं चोक्तं भवति । अन्ये षड्विधसंस्काराश्च जयाख्योक्ता ईश्वरतन्त्रे संगृहीता ग्राह्याः । उक्तसंख्यानप्रणवेन = अष्टवारेणेत्यर्थः । चतुरो वारानानयेत्, चतुरुन्नयेदित्युक्तत्वात् ॥ १०९-११३ ॥

अब आज्य संस्कार कहते हैं—आज्य स्थाली लेकर पहले जिस घृत को पिघलाया गया था, उसे हाथ ऊपर उठा कर आज्यस्थाली में डाले । फिर उसे अपने आगे रख कर प्रयत्नपूर्वक आधार पर अधिश्रयण करे । फिर १२ अङ्गुल लम्बा चार काण्ड वाला कुशा (पवित्री) तिरछे उतान हाथ में पहन कर अङ्गुठे तथा अनामिका में पहने, फिर चार बार मध्य भाग को झुकाकर घी को चार बार ऊपर उठावे, फिर चार बार नीचे करे । बीच-बीच में अपने तथा अग्नि के सामने रख कर प्रणव मन्त्र पढ़ कर चार बार कुण्ड में घी का हवन करे ॥ १०९-११३ ॥

स्रुक्स्रुवावथ चादाय दर्भपुञ्जीलकेन तु ॥ ११३ ॥
रजोपनयनं कुर्यात् प्रक्षाल्योष्णेन वारिणा ।
निर्मलीकृत्य कूर्चेन ज्वालाभिः सम्प्रताप्य च ॥ ११४ ॥

प्रोक्षयित्वाऽर्घ्यतोयेन पूजयित्वा निधाय च ।

स्रुक्स्रुवसंस्कारमाह—स्रुक्स्रुवाविति द्वाभ्याम् । पूजयित्वेत्यत्र स्रुक्स्रुवाधिदेवतास्तन्मन्त्राश्च जयाख्योक्ता ईश्वरपारमेश्वरयोरेव संगृहीताः ॥ ११३-११५ ॥

अब स्रुक्-स्रुवा का संस्कार कहते हैं—फिर स्रुकस्रुवा हाथों में ले कर दर्भपुञ्ज से उसकी धूल पोछे । तदनन्तर जल द्वारा प्रक्षालन करे और दर्भकूर्च से पुनः साफ करे, फिर उत्तप्त अग्नि की ज्वाला में उसे प्रतप्त करे । तदनन्तर अर्घ्य जल से प्रोक्षण कर पूजन करे और स्थापित कर देवे ॥ ११३-११५ ॥

बहुशाखैरभग्नाग्रैः समूलैः सुसमैः कुशैः ॥ ११५ ॥
चतुर्भिर्वामहस्तेन त्वादायाथ पवित्रकम् ।
दक्षिणानामिकायां तु चतुष्काण्डविनिर्मितम् ॥ ११६ ॥
अङ्गुलीयकरूपं च कृत्वा वै तदनन्तरम् ।
संस्कृताज्यस्य विप्रुड्भिः संस्पृशेदिन्धनादिकम् ॥ ११७ ॥

अथ वामहस्ते वलयपवित्रधारणं दक्षिणानामिकायां पवित्रधारणं चाह—बहुशाखैरिति द्वाभ्याम् । पवित्रलक्षणं तु पारमेश्वरे—

चतुरङ्गुलमात्रं तु सदा विष्ण्वधिदैवतम् ।
महाविष्ण्वधिदैवस्तु ग्रन्थिरेकाङ्गुलो भवेत् ॥
विष्ण्वधिदैवं वलयं द्वयमङ्गुलमुच्यते । (३।२२-२३) इति ।

समिदादिषु संस्कृताज्यसेचनमाह—
संस्कृतेति । विप्रुड्भिः = बिन्दुभिरित्यर्थः ॥ ११६-११७ ॥

जिस कुशा में बहुत शाखायें हों, जिसका अग्रभाग तथा मूल अभग्न हों, जो एक समान हों, ऐसे चार कुशाओं का वलय बना कर बायें हाथ में धारण करे तथा दक्षिण हाथ में चार गौनें वाले कुशा से अंगूठी के समान पवित्री बना कर उसे धारण करे और संस्कृत घी के बिन्दुओं को इन्धनादि पर छिड़क देवे ॥ ११५-११७ ॥

निःशेषदोषशान्त्यर्थमथाग्नेराहृतस्य च ।
शतं शतार्धं पादं वा त्वाहुतीनां स्वशक्तितः ॥ ११८ ॥
तिलानां घृतसिक्तानां शुद्धेन हविषा सह ।
होतव्यं कर्मसिद्ध्यर्थं यथा तदवधारय ॥ ११९ ॥
आहुत्यामुद्धृतायां च मूलमन्त्रावसानतः ।
प्रणवान्तं पदं ब्रूयादग्निं शोधय शोधय ॥ १२० ॥
यथावस्थितरूपेण ततस्तेनैव बुद्धिमान् ।
दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चात् कृतेन तु चतुष्पलीम् ॥ १२१ ॥

अथाग्निशुद्ध्यर्थं होममाह—निःशेषेति चतुर्भिः । चतुष्पलीं = चतुष्पलमितामित्यर्थः । पलप्रमाणं तु पारमेश्वरे—

चत्वारो व्रीहयः कुञ्जस्तेऽष्टौ माञ्जिष्ठमुच्यते ॥
तच्छतं षष्टिरधिकं निष्कं निष्काष्टकं पलम् । इति ।
—(पार० १८।१३१-१३२)

अस्मिन्नवसरेऽग्नेर्निषेकादिविवाहान्तसंस्कारा जिह्वाकल्पनाश्चेश्वरपारमेश्वरादिषु संगृहीता ग्राह्याः ॥ ११८-१२१ ॥

अब अग्नि की शुद्धि के लिये होम कहते हैं—तदनन्तर समानीत अग्नि के समस्त दोषशान्ति के लिये शुद्ध हव्य के साथ मिले हुए घृत सिक्त तिलों का (जौ उसका आधा अथवा उसका आधा) अपनी शक्ति के अनुसार अपने कर्म की सिद्धि के लिये जिस प्रकार साधक हवन करे । हे सङ्कर्षण! अब उसे आप सुनिये । आहुति उठा लेने के बाद मूल मन्त्र के अन्त में प्रणव लगा कर 'अग्नि शोधय शोधय' इस प्रकार यथावस्थित रूप से कह कर बुद्धिमान साधक चार पल की पूर्णाहुति प्रदान करे ॥ ११८-१२१ ॥

तस्य संशुद्धदोषस्य पुनरेव समाचरेत् ।
सम्बोधजनकं होमं जडभावप्रशान्तिदम् ॥ १२२ ॥
उच्चार्य मूलमन्त्रं तु प्रणवद्वितयान्वितम् ।
जुहुयादाहुतीनां च सहस्रं शतमेव वा ॥ १२३ ॥
तद्वदाज्येन सन्तर्प्य दद्यात् पूर्णाहुतिं तथा ।

अथाग्नेः सम्बोधजनकहोममाह—तस्येति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १२२-१२४ ॥

इस प्रकार अग्नि के दोष शान्त हो जाने पर पुनः जडभाव की शान्ति के लिये सम्बोधजनक होम करे ॥ १२२ ॥

अब सम्बोधजनक होम कहते हैं—दो प्रणव युक्त मूल मन्त्र का उच्चारण कर एक हजार अथवा एक सौ आहुतियाँ प्रदान करे । इस प्रकार घी की आहुति से अग्नि को तृप्त कर पूर्णाहुति करे ॥ १२३ ॥

तदा स लब्धसत्तः स्यात् पश्यत्यन्तर्गतं विभुम् ॥ १२४ ॥
प्राणभूतमजं विष्णुं तन्मयत्वमथाश्रयेत् ।
अथ सद्यज्ञनिष्ठस्य कर्मिणोऽस्यापवर्गिणः ॥ १२५ ॥
याति यागाङ्गभावित्वं स्वयमेव तदिच्छया ।
विभजत्यात्मनात्मानं चतुर्धा कुण्डमध्यतः ॥ १२६ ॥
अधिभूतस्वरूपेण समाश्रित्य च दिक्क्रमम् ।
पूर्वमाहवनीयाख्यस्वरूपेणाथ दक्षिणे ॥ १२७ ॥

समास्ते सभ्यवपुषा पश्चिमस्यामनन्तरम् ।
गार्हपत्याख्यभेदेन ततस्तिष्ठति चोत्तरे ॥ १२८ ॥
ओदनम्पचनात्मा तु सर्वात्मत्वेन मध्यतः ।
आधाराधेयभावेन त्वास्ते संवलिताकृतिः ॥ १२९ ॥

अनेन होमेनाग्निर्लब्धसत्ताको भूत्वाऽन्तर्गतं भगवन्तं दृष्ट्वा तन्मयत्वं प्राप्य स्वयमेव याजककर्तृकयागाङ्गत्वमाश्रित्य चातुरात्म्याराधनार्थं स्वयमपि चतुर्धा आहवनीयसभ्य-गार्हपत्यौदनं पचनात्मभेदैः प्रागादिषु स्वात्मत्वेन मध्ये चाधाराधेय-भावसंवलिताकृतिस्तिष्ठतीत्याह—तदेति सार्धैः पञ्चभिः ॥ १२४-१२९ ॥

इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर अग्नि के अन्तर्गत भगवान् विष्णु को देखकर एवं तन्मयत्व प्राप्त कर उनकी इच्छा से स्वयमेव याजक कर्तृत्व यागाङ्गत्व का आश्रय लेकर, चातुरात्म्य की आराधना के लिये स्वयं अपने को कुण्ड के मध्य से अधिभूत स्वरूप से दिशाओं के क्रम से प्रभागों में विभक्त हो कर स्थित हो जाता है ॥ १२४-१२७ ॥

पूर्वदिशा में आह्वनीय रूप से और दक्षिण दिशा में सभ्यरूप से, पश्चिम में गार्हपत्य रूप से, उत्तर में ओदनंपच नाम से, सर्वात्मत्वेन मध्य से, इस प्रकार आधाराधेयभाव से संवलिताकृति हो कर स्थित हो जाता है ॥ १२७-१२९ ॥

अङ्गाराण्यर्चिषश्चैव शक्तिर्या दहनात्मिका ।
त्रिलक्षणोऽयमाधार आधेयो हुतभुग् विभुः ॥ १३० ॥
आत्मयोनिस्तु विश्वेशो वासुदेवः सनातनः ।
एवं ज्ञात्वा पुरा सम्यक् सत्तां वैश्वानरीं पराम् ॥ १३१ ॥
ततः कर्मणि वर्तेत नैष्ठिकः कृतनिश्चयः ।

आधाराधेयविवरणमाह—अङ्गाराणीति सार्धेन । एवं सम्यगनेन सत्तापरिज्ञाना-नन्तरमेव कर्मणि प्रवृत्तिमाह—एवमिति । अस्मिन्नवसरेऽग्न्यर्चनमीश्वराद्युपबृंहितं ग्राह्यम् ॥ १३०-१३२ ॥

अङ्गार, अर्चि और दहनात्मिका शक्ति यह तीन लक्षण आधार के हैं । स्वयं विभु अग्निदेव के आधार हैं । इस प्रकार उस वैश्वानरी परा-सत्ता को आत्मयोनि, विश्वेश, वासुदेव, सनातन समझकर नैष्ठिक कृतनिश्चय हो कर कर्म में प्रवृत्त होते हैं ॥ १३०-१३२ ॥

कुर्यादुदकपूर्वं तु प्राग्वदावाहनं ततः ॥ १३२ ॥
व्यक्तेर्विगलितेनैव तत्त्वेनाप्यव्ययात्मना ।

अथाग्निमध्ये भगवदावाहनमाह—कुर्यादिति । व्यक्तेर्विगलितेनेत्यनेन बिम्बादि-ष्वर्चितस्यैवात्रावाहनमित्यवगम्यते । तत्त्वेन = मान्त्ररूपेणेत्यर्थः ॥ १३२-१३३ ॥

सर्वेश्वरस्य वै यस्माद् यद्यन्मान्त्रं महद्वपुः ॥ १३३ ॥
वाच्यवाचकरूपं तद् विज्ञेयममलेक्षण ।
तत्पुनः शुद्धसामान्यमुपचारविधौ स्थितम् ॥ १३४ ॥
यद्भोगदानमन्त्रैस्तु रहितं मान्त्रमैश्वरम् ।

मन्त्रशरीरस्यैव मुख्यत्वं तस्य वाच्यवाचकरूपेण द्वैविध्यं चाह—सर्वेश्वरस्येति द्वाभ्याम् । अत्रावाहनमित्यनेन भद्रपीठपरिकल्पनादिलयभोगार्चनान्तविधयोऽप्युपलक्ष्यन्ते । तथैवोपबृंहितमीश्वरादिषु च ॥ १३३-१३५ ॥

सर्वप्रथम जल द्वारा उनका पहले की तरह आवाहन करे । अब अग्नि मध्य में भगवान् का आवाहन कहते हैं । बिम्बादि में अर्चित भगवान् की तरह अव्ययात्मा तत्त्व रूप मन्त्र से उस सर्वेश्वर का आवाहन करे क्योंकि जितने मन्त्र है, वही उसके महान् शरीर हैं । हे अमलेक्षण ! इसलिये मन्त्र और परमेश्वर में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध होता है, ऐसा समझना चाहिये । फिर उपचार विधि में वे सभी सामान्य हो जाते हैं ॥ १३२-१३४ ॥

प्राक् चतुर्धा विभक्तो यस्तमादायेध्मसञ्चयम् ॥ १३५ ॥
आज्येनोभयतः सिक्तं ब्रह्मक्षीरद्रुमोद्भवम् ।
कुण्डस्य ब्रह्मभित्तिभ्यां मध्ये भागचतुष्टये ॥ १३६ ॥
निदध्यादुत्तराशान्तं प्राग्भागादितः क्रमात् ।
ईशानाग्नेयपादाभ्यां पतितं प्राक् चतुष्टयम् ॥ १३७ ॥
आग्नेयनैर्ऋताशाभ्यां विश्रान्तमपरं न्यसेत् ।
नैर्ऋतानिलसंस्पर्शि तृतीयं विनिवेश्य च ॥ १३८ ॥
वाय्वीशपदसंरुद्धं चतुर्थं तु चतुष्टयम् ।
एवं चतुर्विभक्तेन सामिधेन समासतः ॥ १३९ ॥
कुण्डमेकं चतुर्धा वै चतुर्णां संविभज्य च ।
अग्नीनामेकदेहानां चातुरात्म्यव्यपेक्षया ॥ १४० ॥
यदा य उपयोग्यः स्यात् यस्मिन् यस्मिन् हि वस्तुनि ।
स्वमूर्तेस्तर्पणार्थं च कर्मणि स्थापनादिके ॥१४१॥
तदा तदा स आदेयः स्वकात् स्थानाच्च यत्नतः ।

ततः पूर्वं प्रणीतासंस्कारकाले चतुर्धा विभक्तस्य षोडशेध्मस्येदानीं कुण्डमध्ये आ(वाह?हव)नीयादिविभागार्थं प्रागादिषु ब्रह्मस्थानभित्योर्मध्ये तत्तत्कोणद्वयसंरोधेनेध्मप्रक्षेपमाह—प्राक् चतुर्धेत्यादिभिः स्वकात् स्थानाच्च यत्नत इत्यन्तैः ॥ १३५-१४२ ॥

प्रणीता संस्कार काल में आज्य से सिक्त पलाश तथा दूध वाले वृक्षों से उत्पन्न जो १६ समिधायें कही गई हैं, उसका चार भाग आवहनीयादि विभाग के लिये करे। फिर उसे कुण्ड के ब्रह्मभित्ति के मध्य में चार भागों में, पूर्व से लेकर उत्तर दिशा तक स्थापित करे। ईशान-आग्नेय में पहला चतुष्टय, आग्नेय-नैर्ऋत्य कोण में दूसरा चतुष्टय, नैर्ऋत्य-वायव्य कोण में तीसरा, फिर वायु और ईशान में चतुर्थ चतुष्टय स्थापित करे॥ १३५-१३९॥

द्वितीयमिध्ममादाय त्वष्टकाष्ठमयो हि यः॥ १४२॥
द्विधा कृत्वा पुराज्येन पूर्ववत् सेचयेच्च तम्।

इध्मविभागादिकमाह—द्वितीयमिति। इध्माष्टकं पुरा द्विधा कृत्वा तदनन्तरं पूर्ववदुभयत आज्येन सेचनीयम्। यद्यपीश्वरपारमेश्वरयोः—'आज्येनोभयतः सिक्तं ब्रह्मक्षीरद्रुमोद्भवम्। समादाय द्विधा कृत्वा' (ई०सं० ५।१८६; पा०सं० ७।१४८) इति चोक्तत्वाद् इध्मानामाज्यसेकानन्तरं द्वेधा विभजनं प्रतीयते, तथापि मूलाविरोधेनार्थस्य वर्णनीयत्वात्, मूले च द्विधा कृत्वा पुराज्येन पूर्ववत् सेचयेच्च तमित्युक्तत्वात्, षोडशेध्मप्रकरणेऽपि चतुर्धा विभजनानन्तरमेवाज्यसेकस्योक्तत्वाच्च पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन तयोरपि द्वेधाकरणानन्तरमेवाज्यसेचनमित्यर्थो वर्णनीयः। अत एवास्मत्तातपादैरीश्वरानुसारिण्यपि सात्वतामृते मूलाविरोधेनार्थो वर्णितः। कस्मिंश्चित् पारमेश्वरप्रयोगे—'आज्येन सर्वतः संसिच्य द्विधा कृत्वा' इत्युक्तम्, तद्विरुद्धम्॥ १४२-१४३॥

निधाय दक्षिणस्यां च मध्य आग्नेयदिग्गतम्॥ १४३॥
विश्रान्तं नैर्ऋतपदे चोत्तरस्यां तथाऽपरम्।
वाय्वीशपदसंरुद्धमाज्यमादाय वै ततः॥ १४४॥

इध्मप्रक्षेपक्रमपाह—निधायेति सपादेन। अग्नौ दक्षिणस्यां मध्ये नैर्ऋताग्नेयको(ण)संरुद्धमिध्मचतुष्टयं निधाय तथैवापरं चतुष्कमुत्तरस्यां मध्ये वायव्येशानकोणसंरुद्धं निदध्यादित्यर्थः। एवं नैर्ऋताग्नेयसंरुद्धत्वोक्त्या वायव्येशानसंरुद्धत्वोक्त्या चाग्नौ दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च पूर्वपश्चिमायतने वेध्मप्रक्षेपः कार्य इत्यर्थः सिद्ध्यति।

ननु पूर्वपश्चिमान्तमिध्मप्रक्षेपः स्वतः सिद्ध इति चेन्न, पूर्वं षोडशेध्मप्रक्षेपप्रकरणे—'ईशानाग्नेयपादाभ्यां पतितं प्राक्चतुष्टयम्' (६।१३७)इति, 'नैर्ऋतानलसंस्पर्शि तृतीयं विनिवेश्य' (६।१३८) इति च दक्षिणोत्तरायतमपीध्मप्रक्षेपस्योक्तत्वात्। इममर्थमविज्ञाय कस्मिंश्चित् पारमेश्वरप्रयोगे वृथा पाण्डित्यं कृतम्। तथाहि—इध्माष्टकपक्षे कुण्डादन्तः दक्षिणभित्तौ मध्यत ऊर्ध्वाग्रमेकमिध्मं मूलेन संयोज्य तथा कुण्डमध्यत आग्नेये नैर्ऋते चेध्मत्रितयं निधाय तथापरचतुष्कमुत्तरभित्तिकुण्डमध्यवाय्वीशानकोणेषु निदध्यादिति॥ १४३-१४४॥

चतुःसंख्येन मन्त्रेण प्रणवालङ्कृतेन च।
दक्षिणे स्रुक्चतुष्कं तु जुहुयादुत्तरे तथा॥ १४५॥

सूर्यसोमात्मकं चाग्नेर्विद्धि तल्लोचनद्वयम् ।

ततोऽग्नौ दक्षिणे उत्तरे चेध्मप्रक्षेपस्थाने तत्संख्यानुगुणमाज्यहोमं तत्स्थानद्वयस्य सूर्यसोमात्मकाग्निलोचनत्वं चाह—चतुःसंख्येनेति सार्धेन । जयाख्ये तु—सूर्यसोमयोस्तत्तन्मन्त्राभ्यामाहुतिद्वाराऽग्नौ दक्षिणोत्तरयोः संयोजनमुक्तम् । तदपि संगृहीतमीश्वर-पारमेश्वरयोः । किञ्च, एवमाज्यभागाभ्यां पूर्वमाघारहोमोऽपि संगृहीतस्तत्रैव—

.... आघाराज्यं ततः क्षिपेत् ।
इध्ममूलादथाक्रान्तमिध्मेध्मोपरि संस्थितम् ॥
स्रुवमाज्येन सम्पूर्य सूर्यबीजेन चिन्तयेत् ।
सहस्रांशुं च तन्मध्ये दद्यात् कुण्डस्य दक्षिणे ॥
अपरस्मिन् स्रुचि ध्यात्वा सोमाख्येनाक्षरेण तु ।
पूर्णं शशाङ्कबिम्बं च प्रदद्यात् तत उत्तरे ॥ इति ॥१४५-१४६॥
—(ई०सं० ५।१८८-१९०; पा०सं० ७।१५०-१५२)

ॐ से संयुक्त चार संख्या वाले मन्त्र से दक्षिण में चार स्रुक से होम करे । इसी प्रकार उत्तर में भी होम करे । ये दोनों ही सूर्य सोमात्मक होने से अग्निदेव के नेत्र हैं ॥ १४५-१४६ ॥

एतयोरन्तरं यद् वै तदग्नेर्वदनं स्मृतम् ॥ १४६ ॥
तत्र वै जुहुयात् पूर्वं समिधां सप्तकं क्रमात् ।
घृतसिक्तां चतुःसंख्यामेकैकां हि सुपुष्कलाम् ॥ १४७ ॥

एतयोरन्तरालस्य वदनत्वं तत्र सप्तसमिधां होतव्यत्वं चाह—एतयोरिति । समिधां सप्तकं समित्-पुष्प-धूप-मधुपर्क-बीज-चरु-घृतानीत्यर्थः । समिध्यते दीप्यतेऽग्निरनयेति व्युत्पत्त्या समित्पुष्पादीनां सप्तानामपि समिदित्येव व्यवहारात् ॥ १४६-१४७ ॥

इनका मध्य भाग अग्नि का मुख है । तदनन्तर पुनः उसी में सात समिधाओं का होम करे । चार संख्या वाली समिधाओं में एक-एक को घी में सिक्त कर सर्वथा शुद्ध रूप में होम करे, जो आसादन काल में कुङ्कुमादि से लिप्त कर पहले स्थापित की गई थी ॥ १४६-१४७ ॥

प्राक् कुङ्कुमादिना लिप्तां काष्ठसंख्यां तु होमयेत् ।
स्रग्धूपं मधुपर्कं च बीजान्नाज्यं यथाक्रमम् ॥ १४८ ॥
तत्रान्नसमिधो दाने विशेषोऽयं विधीयते ।
साधितं संस्कृताऽनौ प्राक् तन्निधायाग्रतश्चरुम् ॥ १४९ ॥
समुद्घाट्यावलोक्यादौ सम्प्रोक्ष्यार्घ्याम्भसा ततः ।
दर्भकाण्डचतुष्केण साग्निना तदनुस्पृशेत् ॥ १५० ॥
तन्मध्ये स्रुक्चतुष्कं तु मन्त्रैराज्यस्य निक्षिपेत् ।
अथादाय स्रुचं तत्र तद्वद् दद्याच्चतुष्टयम् ॥ १५१ ॥

चतुरङ्गुलमानेनाऽप्यन्नग्रासमथाहरेत् ।
तन्निधाय स्रुचा दर्भे तदूर्ध्वे पूर्ववत् घृतम्॥ १५२ ॥
दद्यादग्नौ चतुष्कं तु क्षिपेदन्नाहुतिं ततः ।
भूयोऽग्नौ स्रुक्चतुष्कं तु चाज्यस्यापाद्य यत्नतः ॥ १५३ ॥
ततोऽन्न माज्यसंसिक्तं प्राग्वत् कृत्वाहुतिं पुनः ।
दद्यात् पूर्वप्रयोगेण त्वेवमेव चतुष्टयम्॥ १५४ ॥
हुत्वाऽप्यन्नाहुतीनां च ह्याज्याख्यां जुहुयात् ततः ।

तासां होमक्रममाह—घृतसिक्तां चतुःसंख्यामित्यारभ्य आज्याख्यां जुहुयात् तत इत्यन्तम् । घृतसिक्तां घृतेनोभयतः सिक्तामित्यर्थः, 'आज्येनोभयतः सिक्तम्' (६। १३६) इति पूर्वोक्तेः । एकैकाम् पूर्वमिध्महोमप्रकरणे चतुश्चतुस्समिधां युगपत् प्रक्षेपस्योक्तत्वादत्रापि तादृशत्वशङ्काया निवृत्त्यर्थमेकैकामित्युक्तम् सुपुष्कलामित्यनेन कृमिभक्षिततत्वादिदोषराहित्यमुच्यते । प्राग् आसादनकाल इत्यर्थः । कुङ्कुमादिना आदिशब्देन कर्पूरकस्तूर्यौ गृह्येते, स्रग्धूपमधुपर्कं स्रक् पुष्पमित्यर्थः । 'ततः पुष्पमयीं दद्यात्' (४०।६८) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः । धूपः = गुग्गुल्वादि । मधुप(र्क?र्कः) संमिलितपयोदधिमध्वाज्यम् । बीजानि = मुद्गादीनि । अन्नानि = पायसादीनि । आज्यं = गोघृतम् । आहत्य सप्त समिधो ज्ञेयाः । यथाक्रमम् = उक्तक्रममनतिक्रम्येत्यर्थः । पूर्वं काष्ठसमिधम्, ततः पुष्पम्, ततो धूपम्, ततो मधुपर्कम्, ततो बीजानि, ततश्चरुम्, ततस्त्वाज्यं क्रमेण जुहुयादिति यावत् ।

क्वचित् सात्वतपुस्तकेषु ईश्वर(५।१९४) पारमेश्वरपुस्तकेषु च 'बीजान्याज्यं यथाक्रमम्' इत्यशुद्धपाठो लिखितः । तदनुसारेण केषुचित् पारमेश्वरप्रयोगेषु बीजाहुत्यनन्तरमाज्याहुतिस्तदनन्तरं चर्वाहुतिरिति लिखितम्, तदसंगतम्, यतः पूर्वं सामान्यतोऽन्नसमिद्दानोक्तिमन्तरा तत्रान्नसमिधो दाने विशेषोऽयं विधीयत इत्युक्तेरवतरणासंभवात्, आज्याख्यां जुहुयात् तत इति चर्वाहुत्यनन्तरमाज्याख्यसमिद्दानस्योक्तत्वाच्च ।

प्राक् संस्कृताग्नौ साधितमित्यत्र चरुसाधनप्रकारस्तु दीक्षाप्रकरणे वक्ष्यमाणो ज्ञेयः । तन्मध्ये चरुमध्ये । आज्यस्य स्रुक्चतुष्कं निक्षिपेत्, स्रुचाज्येन चतुर्वारमभिघार्येत्यर्थः । अन्नग्रासं कुक्कुटाण्डप्रमाणमन्नकबलमित्यर्थः । 'कुक्कुटाण्डप्रमाणं तु ग्रास इत्यभिधीयते' (अ०सं० १२१-१२२) इति स्मृतेः । अथादाय स्रुचं तत्र तद्वद् दद्याच्चतुष्टयमित्यत्र, तदूर्ध्वे पूर्ववद् घृतमित्यत्र, दद्यादग्नौ चतुष्कं तु इत्यत्र च स्रुवेणेति ज्ञेयम् । ततोऽन्नमाज्यसंसिक्तं प्राग्वत् कृत्वा स्रुचाऽज्येन चरुं चतुर्वारमभिघार्येत्यर्थः । पूर्वप्रयोगेणेत्यनेन स्रुचि स्रुवेण चतुरभिघारः, तत्र चरुनिक्षेपः, तदुपरि पुनश्चतुरभिघारस्रुवेणाज्याहुतिचतुष्टयम्, चर्वाहुत्यनन्तरं पुनः स्रुचाऽऽज्याहुतिचतुष्टयं च संगृह्यते । एवमन्नाहुतीनां चतुष्टयं हुत्वेत्यनेनान्नाहुतीनामपि चतुःसंख्याकत्वमेव ज्ञेयम् । एवं काष्ठसमिधोऽन्नसमिधश्च चतुःसंख्याकत्वोक्त्या पुष्पादीनां पञ्चसमिधामपि चतुःसंख्यया होमो ज्ञायते ।

पारमेश्वरव्याख्याने तत्प्रयोगे च षोडशसंख्ययाऽन्नाहुतयस्तत्संख्ययाऽऽज्याहुतयश्च प्रतिपादिताः । तद् भ्रान्तिमूलकम्, दद्यात् पूर्वप्रयोगेण त्वेवमेव चतुष्टयम् । हुत्वाप्यन्नाहुतीनां त्वित्यन्नाहुतिचतुष्टयस्य कण्ठरवेणोक्तत्वात्, एकैकान्नाहुतेः पुरस्तात् परस्ताच्च चतुश्चतुः संख्यक्रियमाणा-ज्याहुतीनां द्वात्रिंशत्संख्याकत्वाच्च ।

वस्तुतस्तु बहुशः पारमेश्वरपुस्तकेष्वस्मिन् प्रकरणे च चतुष्कं तु मन्त्रैराज्यस्य निक्षिपेदित्यादि दद्यादग्नावित्यन्तग्रन्थपातादेवं व्याख्यातारः प्रयोगकाराश्च बभ्रमुरिति ज्ञेयम् । अत एव पारमेश्वरव्याख्याने—'तत्रान्नसमिधविशेषमाह—तत्रान्नसमिधो दान इति पञ्चभिः' इति लिखितम् । मध्ये पतितं श्लोकद्वयं न किञ्चिदपि तेषामाकांक्षापदवीमधिरूढम् ॥ १४८-१५५ ॥

पहले काष्ठ समिधा का, फिर पुष्प का, फिर धूप का, फिर मधु का, फिर बीज का, फिर चरु का, फिर घी का इस प्रकार से क्रमशः हवन करे ॥ १४८ ॥

उसमें अन्न समिधा (चरु) के हवन में इस प्रकार की विशेषता है अग्नि में सिद्ध चरु को अपने आगे स्थापित करे । फिर उसे उद्घाटित कर अच्छी प्रकार से अवलोकन करे । फिर अर्घ्य के जल से प्रोक्षण कर अग्नि युक्त चार गाँठ वाले कुशाओं से उसका स्पर्श करे ॥ १४९-१५० ॥

फिर उसके मध्य में चार स्रुवा घी डाले । फिर स्रुवा लेकर चार स्रुवा चरु अग्नि में डाले । फिर उसमें से चार अङ्गुल अन्न का ग्रास लेकर फिर स्रुवा से उसे दर्भ में स्थापित कर पूर्ववत् उसमें घृत डाले । इस प्रकार चार बार अन्नाहुति प्रदान करे । इसी प्रकार चार स्रुवा घृत की आहुति पुनः प्रदान करे । तदनन्तर आज्य संसिक्त अन्न की आहुति देने के पश्चात् अन्न की तथा आज्य की आहुति मिश्रित रूप से देवे ॥ १५१-१५५ ॥

तदन्ते तोयनिर्मुक्तैः कुसुमैरर्घ्यमिश्रितैः ॥ १५५ ॥
पूजयेच्चतुरो वारान् मन्त्रैर्वा प्रणवैः प्रभुम् ।

ततोऽग्निस्थदेवानां पुष्पैश्चतुर्वारमर्चनमाह—तदन्त इति । अर्घ्यमिश्रितैराज्यार्घ्यमिलितैरित्यर्थः, अन्यथा तोयनिर्मुक्तैरित्यनेन विरोधात् । अत एवाज्येनैवार्घ्यदानादिकमुक्तं पाद्मे—'अर्घ्यपूर्वं निवेद्यान्तं सर्पिषा जुहुयात् सकृत्' इति । मन्त्रैः = वासुदेवादिमन्त्रैरित्यर्थः । यद्वा प्रणवैः, बहुवचनेन चतुर्वारमुच्चरितैरित्यर्थः । मूर्तिमन्त्राः प्रतिव्यक्तिविभिन्नाः, प्रणवस्तु व्यापकत्वात् सर्वेषामेक एवेति भावः । अत्र प्रणवैरित्यनेनाष्टाक्षरादयश्चत्वारो मन्त्रा अप्युपलक्ष्यन्ते, तेषामपि प्रणवार्थविवरणरूपतया व्यापकत्वात्, तेषु प्रणवपदमन्त्रत्वेनोक्तत्वाच्च । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

पदमन्त्रपास्त्रयोऽस्य स्युर्विधाने पाञ्चरात्रिके ॥
विष्णवे नम इत्येवं नमो नारायणाय च ।
नमो भगवते पूर्वं वासुदेवाय चेत्यपि ॥
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।

नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥
पदमन्त्रश्चतुर्थोऽयं प्रणवस्य पुरन्दर ।
ॐकारसहितानेतान् मन्त्रान् पूर्वविदो विदुः ॥
केवलस्तारकश्चैव चत्वारश्च तदादिकाः ।
पञ्चैते व्यापका मन्त्राः पञ्चरात्रे प्रकीर्तिताः ॥ इति ॥
—(२४।६७-७०, ७४)

अत एव—

सम्प्रोक्ष्यार्घ्याम्भसा चेध्मान् चतुर्धा संविभज्य च ।
पूजयेदर्घ्यपुष्पाभ्यां द्वादशाक्षरविद्यया ॥ (६।१०६)

इति वासुदेवाद्युद्देशेन चतुर्धा विभक्तानामिध्मानां तन्मन्त्रैरर्चनीयत्वेऽपि द्वादशाक्षरस्य व्यापकत्वाद् द्वादशाक्षरविद्ययेत्युक्तम् । एवं भद्रपीठशोधनप्रकरणेऽपि— 'प्रक्षाल्य द्वादशार्णेन प्रणवाद्यन्तकेन तु' (६।४) इत्युक्तम् ।

नन्वत्रोभयत्रापि व्यापकं वासुदेवद्वादशाक्षरमिति को वा नियमः, तस्य पूर्वमनुक्तत्वात् । उक्तेष्वेव योऽसौ द्वादशाक्षरः, स तु ग्राह्यः । स चाप्ययार्चनप्रकरणोक्तश्चतुर्थमन्त्रः स्यादिति चेन्न, तस्याप्ययक्रमेणार्चनप्रकरण एवोप्रयुक्तत्वात्, एकव्यक्तिमात्रनियततया चातुरात्म्यार्चनप्रकरणेऽनुपयुक्त्वाच्च, अत्र केवलप्रणवेनाप्यर्चनोक्त्या उक्तेष्वेवान्यतमो ग्राह्य इति नियमाभावाच्च व्यापकं द्वादशाक्षरमेव ग्राह्यमिति सिद्धम् । एवं पुष्पार्चनान्तं नित्ययागो ज्ञेयः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

पुष्पाञ्जलिमुपादाय वह्निस्थामर्चयेत् ततः ।
नित्ययागोऽमेतावानूर्ध्वं कामाहुतिं क्षिपेत् ॥
यदि कामयमानः स्यात् तत्तद्विध्यनुरूपिणीम् ।—(४०।७१-७२)

इति ॥ १५५-१५६ ॥

इसके पश्चात् जल रहित आज्यार्घ्य सहित कुसुमों से चार बार समन्त्रक प्रभु की पूजा करे ॥ १५५-१५६ ॥

ततो मोक्षाप्तये होमं यथाशक्ति समाचरेत् ॥ १५६ ॥
शतपूर्वं सहस्रान्तं दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।
एकं मन्त्रचतुष्केण चतुर्भिश्चतुरोऽथवा ॥ १५७ ॥

ततः शतादिसंख्यया यथाशक्ति मोक्षार्थं होमम्, तदन्ते वासुदेवमन्त्रचतुष्टयेन सकृदेव पूर्णाहुतिम्, यद्वा प्रतिमन्त्रं पूर्णाहुतिचतुष्टयं जुहुयादित्याह—तत इति सार्धेन । अत्रापेक्षिताः काम्याहुतिभेदा होमद्रव्यप्रमाणादीनि स्विष्टकृत्प्रायश्चित्तपूर्णाहुतिप्रकारादयो बहवो विशेषा ईश्वरादिषु प्रतिपादिता ग्राह्याः ॥ १५६-१५७ ॥

इसके बाद साधक मोक्षप्राप्ति के लिये यथा शक्ति सौ अथवा सहस्र संख्या पर्यन्त होम करे । फिर पूर्णाहुति करे । चार मन्त्रों से एक बार में पूर्णाहुति करे अथवा चार मन्त्रों से चार बार आहुति देकर पूर्णाहुति करे ॥ १५६-१५७ ॥

प्राग्वत् पूजां पुनः कुर्याद् दर्भैः संमार्ज्य च स्रुचम् ।
यथा भवति निःस्नेहमथ प्राक्स्थापितेन तु ॥ १५८ ॥
पुरतश्चाम्भसाऽऽपूर्य तां च पात्रेण तेन वा ।
प्रागादौ कुण्डबाह्ये तु प्रादक्षिण्येन सेचयेत् ॥ १५९ ॥
पवित्रकेणाथ ऊर्ध्वे विनिक्षिप्य करेण वा ।
शेषं स्वशिरसो दद्यात् स्वस्थानेऽथ त्वधोमुखे ॥ १६० ॥

उत्तरपूजापूर्वकं स्रुक्स्रुवसंमार्जनपरिषेचनादिकमाह—प्राग्वदिति सपादैस्त्रिभिः। प्राग् आसादनकाले पुरतः स्वाग्रतः स्थापितेनाम्भसा अर्घ्योदकेनेत्यर्थः, 'अर्घ्यपात्रात्तु चापूर्य कुण्डबाह्ये प्रदक्षिणम्' (ई०सं० ५।२७६; पा०सं० ७।२४५) इतीश्वरपारमेश्वरोक्तेः । तां स्रुचमित्यर्थः । चकारेण तस्या अपि दर्भैः सम्मार्जनमर्घ्यपूरणं चोच्यते । पात्रेण तेन वा स्रुचा स्रुवेणेत्यर्थः । ऊर्ध्वे कुण्डोर्ध्व इत्यर्थः । स्वस्थाने पूर्वं यत्रासादितौ तत्रेत्यर्थः । होमभाण्डे स्रुक्स्रुवावित्यर्थः ॥ १५८-१६१ ॥

फिर कुशा से स्रुवा का संमार्जन कर उसे स्नेह रक्षित कर (सुखा कर) उसकी पूजा करे । फिर उस स्रुवा को जल से भर कर अथवा उसी जल पात्र से ही सर्वप्रथम पूर्व में, फिर कुण्ड के बाहर, फिर दाहिनी ओर सर्वत्र जल छिड़के ॥ १५८-१५९ ॥

फिर पवित्री से ऊर्ध्व में, अथवा हाथ से जल सर्वत्र छिड़के । शेष जल से अपने शिर पर, अपने स्थान पर, अथवा अपने नीचे जल छिड़के ॥ १६० ॥

निदध्याद्धोमभाण्डे ते भस्मना तदनन्तरम् ।
जलनिर्मथितेनैव ह्यूर्ध्वपुण्ड्रचतुष्टयम् ॥ १६१ ॥
हृद्यंसयोर्ललाटे च कुर्याद् दीपशिखाकृति ।

होमाङ्गं तिलकधारणमाह—भस्मनेति । अत्र मन्त्राश्चोक्ताः पारमेश्वरे—'शिरस्तनुत्रहृन्मन्त्रैर्ललाटे चांसयोर्हृदि' (७।१४१) इति ।

एवं भस्मना तिलकधारणं वैष्णवानां विरुद्धमिति न शङ्कनीयम्, अग्निकार्याङ्गत्वात् । तथा च सच्चरित्ररक्षायामूर्ध्वपुण्ड्राधिकारे—'तत्र हि पूर्वमेव धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्य समाराधितवासुदेवस्याग्निकार्यसमनन्तरमिदं विधीयमानं तत्रैवाग्निकार्यानुप्रविष्टं मन्तव्यमायुष्मता' (पृ० ६९) इति ॥ १६१-१६२ ॥

फिर स्रुक स्रुवा स्थापित करे । तदनन्तर भस्म का तिलक करे । फिर जल से भिगोकर चार स्थानों पर ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाये ॥ १६१ ॥

यह ऊर्ध्वकुण्ड हृदय में दोनों कन्धों में तथा ललाट में, इन चारों स्थानों में दीपशिखा की आकृति के समान लगाना चाहिए ॥ १६२ ॥

एवं परिसमाप्ते तु अग्निकार्येऽर्पिते सति ॥ १६२ ॥
संविभागः पितॄणां च यथा कार्यस्तथोच्यते ।

एवं कृतस्य होमस्य भगवदर्पणानन्तरं पितृसंविभागः कार्य इत्याह—एवमिति । भगवते होमसमर्पणप्रकारस्त्वीश्वरादिषु प्रदर्शितो ग्राह्यः ॥ १६२-१६३ ॥

इस प्रकार यज्ञ कार्य के समाप्त हो जाने पर समस्त अग्निकार्य (याग) को विष्णु को समर्पित कर देने पर, जिस प्रकार पितरों को संविभाग प्रदान करना चाहिये । अब उसे कहा जा रहा है ॥ १६२-१६३ ॥

कुण्डस्य योनिनिकटे दक्षिणाग्रान् स्तरेत् कुशान् ॥ १६३ ॥
भद्रपीठसमीपे तु क्ष्मातले वा तदूर्ध्वतः ।

संविभागस्थानमाह—कुण्डस्येति ॥ १६३-१६४ ॥

कुण्ड के योनि के निकट दक्षिणाग्र कुशा बिछावें । किं वा भद्रपीठ के समीप, अथवा पृथ्वी के ऊपर दक्षिणाग्र कुशा बिछावें ॥ १६३-१६४ ॥

स्तरोपरि विकीर्याथ तिलान् सरजतोदकान् ॥ १६४ ॥
क्रमेण भावयेत् तत्र पितॄनथ पितामहान् ।

तत्र दक्षिणाग्रकुशास्तरणोपरि तिलोदकविकिरणपूर्वकं पित्रादीनां भावनामाह—स्तरोपरीति । अत्र पितृपितामहशब्दाभ्यां प्रपितामहवृद्धप्रपितामहौ चोपलक्ष्येते,

स्तरोर्ध्वे स्वस्वसंज्ञाभिरग्रान्तं तु यथाक्रमम् ।
भावयेत् पुरुषादीनां सारूप्यं समुपागतान् ॥
पितॄन् पितामहांश्चैव तथैव प्रपितामहान् ।
तत्पितॄंश्चाथ शंसन्तः सन्तानं स्वविभागतः ॥—(७।२९४-२९५)

इति पारमेश्वरोक्तेः ॥ १६४-१६५ ॥

इसके बाद उन कुशों पर तिल तथा चाँदी के पात्र का जल छिड़क देवे । तदनन्तर क्रमशः पिता, पितामह और प्रपितामह का क्रमशः उनकी तृप्ति के लिये ध्यान करे ॥ १६४-१६५ ॥

तृप्तये ह्यथ सर्वेषां देवाय विनिवेद्य च ॥ १६५ ॥
प्रोक्षितान्यन्नपात्राणि चत्वारि कबलानि वा ।
स्तरोर्ध्वे तु निधायाथ सम्पूज्यार्घ्यादिना ततः ॥ १६६ ॥
क्रमेण चातुरात्मीयैर्मन्त्रैरप्ययययोगतः ।
ततस्तु नाम्ना गोत्रेण मन्त्रपूर्वं तिलोदकम् ॥ १६७ ॥
सर्वेषामर्घ्यकलशात् प्रदद्याच्च यथाक्रमम् ।

अथ तेषां पिण्डनिर्वापणमर्घ्याद्यर्चनं तिलोदकप्रदानं चाह—तृप्तय इति त्रिभिः । अत्र देवाय विनिवेद्येत्यत्र पाकपात्रावशिष्टान्नादिकमिति ज्ञेयम्, निवेदितस्य पुनर्निवेदनायोगात् । तथा च पारमेश्वरे—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूनपि तथैव च ।

स्थापितस्त्वनुयागार्थं प्रापणांशः पुरा तु यः ।
तस्मात् किञ्चित् समादाय संविभागं समाचरेत् ।
पितॄणां चैव बन्धूनामाश्रितानां तथैव च ।
संविभागावशिष्टेन स्वानुयागं समाचरेत् ।
यद्वा स्थाल्यवशिष्टं च किञ्चिदादाय पात्रगम् ।
प्राग्वन्निवेद्य देवाय तेन पित्र्यं समाचरेत् ।
ये वैश्वदेवनिरता विप्राद्या वैष्णवाश्च ते ।
यल्लभ्यं भगवद्भुक्तं तस्मादादाय चांशकम् ।
तेन कृत्वा वैश्वदेवमवशिष्टांशकेन तु ।
कुर्युः प्राणादियात्रां तु विधानेन द्विजोत्तम ॥ इति ॥

सच्चरित्ररक्षायां (पृ० १२७-१२८) चोदाहृता इमे श्लोकाः । अन्नपात्राणी-त्यत्र पारमेश्वरे—

तमालकदलीपूर्वदलेषु क्षालितेषु च ॥
संविभज्य चतुर्धान्नं निधाय प्रणवेन तु । —(७।२९९-३००)

इत्युक्तं ज्ञेयम् । स्तरोर्ध्वे निधायेत्यत्र मन्त्रश्चोक्तः पारमेश्वरे—

प्राग्वत् स्वधावसानाद्यैर्मन्त्रैरोङ्कारपूर्वकैः ।
हृन्मन्त्राललङ्कृतैर्विप्र तथा संज्ञापदान्वितैः ॥
पिण्डं प्रकल्पयामीति ततः पूर्ववदाचरेत् ।
—(७।३०३-३०४) इति

पिण्डोपरि दर्भैराश्छादनं पूर्वमास्तरणोपरि भावितानां पितृपितामहादीनां तत्रा-वाहनं च प्रतिपादितं तत्रैव—

प्रणवैर्दक्षिणाग्राणि सेचितानि तिलाम्बुना ॥
नाडीरूपाणि दर्भाणि पिण्डानामूर्ध्वतो न्यसेत् ।
प्रविष्टान् भावयेत् तेषु नाडीमार्गैरनुक्रमात् ॥
पितॄनावाहयामीति स्तरोर्ध्वे प्राक्स्थितांस्ततः ।
—(७।३०४-३०६) इति ।

अर्घ्यादिनेत्यत्रादिशब्देन गन्धादयो ग्राह्याः । अप्य(थ योऽत्र नाव? ययोगतः पितॄनावाह)यामीति स्तरोर्ध्वे गतः । चातुरात्मीयैमन्त्रैः ॐपुरुषाय नम इत्यादि-भिश्चतुर्भिः पूर्वोक्तैर्मन्त्रैरित्यर्थः । नाम्ना गोत्रेण मन्त्रपूर्वं तिलोदकं दद्यादिति । अत्रैवं प्रयोगः—ॐपुरुषाय नमः, मौञ्ज्यायनगोत्राय नृसिंहशर्मणे पुरुषरूपिणे पित्रे इदं तिलोदकं ददामीति । एवं पितामहादीनाप्यूह्यम् । अर्घ्यादिसमर्पणेऽप्येवमेव मन्त्रा ज्ञेयाः ॥ १६५-१६८ ॥

देवताओं के निवेदन से शेष बचे हुए अन्न पात्रादि परिस्तरण के ऊपर रखे । इसके बाद पुरुषाय नमः इत्यादि चतुरात्म्य मन्त्रों से क्रमशः पितरों की अर्घ्यादि द्वारा पूजा करे । फिर नाम गोत्र उच्चारण कर सभी को अर्घ्य कलश से तिलोदक निकाल कर क्रमानुसार प्रदान करे ॥ १६५-१६८ ॥

तादर्थ्येनाथ चतुरो विनिवेश्यासनेषु च ॥ १६८ ॥
लब्धलक्षान् परे तत्त्वे ब्राह्मणान् पाञ्चरात्रिकान् ।
प्राङ्मुखं द्वितयं चैव द्वितयं चाप्युदङ्मुखम् ॥ १६९ ॥
सम्पत्त्यभावेऽप्येकं वा विनिवेश्योत्तराननम् ।
अथ तेषां क्रमात् कुर्यादर्चनं चातुरात्म्यवत् ॥ १७० ॥
अर्घ्यानुलेपनाद्यैस्तु भोगैर्मात्रावसानिकैः ।
तत्तत्कालोचितैः सर्वैरनुपादेयवर्जितैः ॥ १७१ ॥

अथ पितॄनुद्दिश्य ब्राह्मणचतुष्टयमेकं ब्राह्मणं वा भोजयेदित्याह—तादात्म्येनेति । दत्तदृष्टीन्, ब्रह्मज्ञानिन इति यावत् । भोगैः = आभ्यवहारिकैरित्यर्थः । मात्रावसानिकैः = भोजनानन्तर्यतिलमात्रादानान्तैरित्यर्थः । अत्रापि पितृतृ(प्ति?प्तये) पूर्वोक्त(ा) एव मन्त्राः । अन्यत् सर्वं श्राद्धवज्ज्ञेयम् । अत्रापेक्षिता बहवो विशेषाः पारमेश्वरोक्ता ग्राह्याः ॥ १६८-१७१ ॥

अब इसके बाद पितरों के उद्देश्य से चार ब्राह्मण अथवा एक-एक ब्राह्मण भोजन करावे । इस बात को कहते हैं—पितरों के उद्देश्य से निमंत्रित वे ब्राह्मण पर तत्त्व लक्ष्य तक पहुँचे हुए हों, ब्रह्मतत्त्व के ज्ञाता हों, पाञ्चरात्रिक होना चाहिये । उन चार ब्राह्मणों में दो को पूर्वाभिमुख तथा दो को उत्तराभिमुख बैठावे । सम्पत्ति के अभाव में केवल एक-एक ही ब्राह्मण को उत्तराभिमुख बैठावे । फिर उनका चतुरात्म्यवत् अर्चन करे ॥ १६८-१७० ॥

उन्हें अर्घ्यप्रदान करे तथा चन्दनादि अनुलेपन देवे । उत्तमोत्तम भोजनादि उन्हें प्रदान करे तथा भोजन के अन्त में तिल मात्रादि प्रदान करे । इस प्रकार श्राद्धकालोचित समस्त उपादेय वस्तु प्रदान करे, अनुपादेय वस्तु वर्जित करे ॥ १७१ ॥

तैश्चापि मौननिष्ठैस्तु भवितव्यं सुयन्त्रितैः ।
वाग्यताः शुद्धलक्षाश्चाप्यन्नमूर्तौ जनार्दने ॥ १७२ ॥
येऽश्नन्ति पितरस्तेन तृप्तिमायान्ति शाश्वतीम् ।

श्राद्धभोक्तॄणां मौनं पितृतृप्तिकरमित्याह—तैरिति सार्धेन ॥ १७२-१७३ ॥

वे ब्राह्मण भी श्राद्ध में भोजन के समय मौननिष्ठ हों, वाक् पाणिपाद चापल्य से वर्जित हों, सुयन्त्रित हों, मौन रूप से शुद्ध लक्ष्य वाले तथा अन्नमूर्ति जनार्दन में श्रद्धा रखने वाले हों । इस प्रकार के ब्राह्मण जिसके श्राद्ध में भोजन करते हैं उनके पितर शाश्वत लोक प्राप्त करते हैं ॥ १७२-१७३ ॥

अतः सव्यभिचारं तु मौनं वर्ज्यं क्रियापरैः ॥ १७३ ॥
शुभमव्यभिचारं यत् तत् कार्यं सर्ववस्तुषु ।

तत्रापि दुष्टस्य मौनस्य त्याज्यत्वमदुष्टस्य ग्राह्यत्वमाह—अत इति ॥ १७४ ॥

इसलिए विधिज्ञ क्रिया-पर ब्राह्मणों को सव्यभिचार (= संकेत युक्त) मौन वर्जित करना चाहिए। शुभ और व्यभिचाररहित जो मौन हो, उसे सभी कर्मों में धारण करना चाहिये ॥ १७३-१७४ ॥

यदङ्गसङ्केतमयैरव्यक्तैर्नासिकाक्षरैः ॥ १७४ ॥
कृतमोष्ठपुटैर्बद्धैर्मौनं तत्सिद्धिहानिकृत् ।
स्वयमेव सुबुद्ध्या यत् सर्ववस्तुषु वर्तते ॥ १७५ ॥
शब्दैरनुपदिष्टैस्तु तन्मौनं सर्वसिद्धिदम् ।

मौनस्य दोषगुणावाह—यदिति द्वाभ्याम् ॥ १७४-१७६ ॥

अङ्ग संकेतमय, अव्यक्त एवं नाक से उच्चारित अक्षर वाले ब्राह्मण का मौन अथवा ओष्ठ पुटों को बाँधकर किया गया मौन सिद्धि में हानि करने वाला है । यह मौन व्यभिचार युक्त है । अतः इसका त्याग करना चाहिये । जो स्वयमेव सुबुद्धि से सभी वस्तुओं में विद्यमान है, उपदिष्ट शब्द से रहित है, ऐसा मौन सब प्रकार की सिद्धि प्रदान करता है ॥ १७४-१७६ ॥

तस्माद्वै श्राद्धभोक्तॄणां दिव्ये वा पितृकर्मणि ॥ १७६ ॥
दद्यान्नैवेद्यवत् सर्वं मर्यादाभ्यन्तरेऽग्रतः ।
येनाचमनपर्यन्तं कालं तिष्ठन्ति वाग्यताः ॥ १७७ ॥

अथोत्तराचमनपर्यन्तमङ्गसंकेतादिदोषाभावसिद्ध्यर्थं तदपेक्षितसर्ववस्तून्यपि तत् पुरतो मर्यादान्तराले (त्यादी?स्थापनीयानी)त्याह—तस्मादिति । मर्यादाकल्पनाप्रकार-स्तूक्तः पारमेश्वरे—'अथास्त्रपरिजप्तेन भूतिना वाऽथ शङ्कुना । मसृणेनाश्मचूर्णेन परिघां स्वधयाऽथवा ॥ बहिस्तदासने कुर्यादग्रे दैर्घ्याच्छमाधिकम् । वैपुल्याच्छममानं तु प्राग्वत् पावनतां नयेत् ॥ (७।३२७-३२८) इति ॥ १७६-१७७ ॥

इस कारण साधक श्राद्ध कर्म में भोजन करने वाले ब्राह्मणों को एवं दैव कर्म में, अथवा पितृकर्म में मर्यादा के भीतर ही रहकर नैवेद्य के समान अन्नादि प्रदान करे । जिससे आचमन पर्यन्त काल तक वे चुप-चाप मौन होकर भोजन करें ॥ १७६-१७७ ॥

विधिनानेन वै नित्यं यागयज्ञे तु वैष्णवे ।
संविभागः पितॄणां च कार्यः सद्रविणैर्नरैः ॥ १७८ ॥

एवंविधपितृसंविभागस्य धनिकविषयतामाह—विधिनेति ॥ १७८ ॥

धनी मनुष्य पितरों के कार्य में इसी प्रकार पितरों का संविभाग करके भोजन करावें ॥ १७८ ॥

कृत्वा तिलोदकान्तं वा फलमूलैः स्वशक्तितः ।
तदर्थं ग्रासमात्रं तु दद्याद् गोष्वथ भैक्षुके ॥ १७९ ॥

तदन्यैस्तु तिलोदकं कृत्वा पितृनुद्दिश्य यथाशक्ति फलमूलैर्ग्रासमात्रं गवे वा भिक्षवे वा देयमित्याह—कृत्वेति ॥ १७९ ॥

धनी से अतिरिक्त लोगों को तिल से लेकर उदकान्त तक अपनी शक्ति के अनुसार फलमूलों के द्वारा उनको ग्रास मात्र गाय अथवा भिक्षु को प्रदान कर देना चाहिये ॥ १७९ ॥

यस्माद् दिव्यैर्महामन्त्रैर्दत्तं यत्पूजितेऽच्युते ।
पित्रर्थमल्पं वा भूरि तत्तेषामक्षयं भवेत् ॥ १८० ॥

एवं पितृनुद्दिश्य किञ्चिद् दत्तमपि मन्त्रमहिम्ना तदनन्तं भवतीत्याह—यस्मादिति । एवमेव पितृसंविभागस्त्रिकालेष्वनुष्ठीयमानेष्वपि प्राभातिकार्चनानन्तरं माध्याह्निकार्चनानन्तरं वा सकृदेव कार्य इति ज्ञेयम्, 'वह्निसन्तर्पणं षष्ठं पितृयागस्तु सप्तमम्' (जया० २२।७९) इति । पितृसंविभागस्य भगवदाराधनाङ्गत्वोक्त्या साङ्गानुष्ठानसिद्ध्यर्थं प्रत्याराधनमनुष्ठेयमित्याशङ्का त्वीश्वरपारमेश्वरयोः परिहृता । तथाहि—

यत्र द्वादशकालेज्या कर्तव्या भूतिविस्तरात् ।
तत्र प्राभातिकीं कुर्यात् पूजामष्टाङ्गसंयुताम् ॥
अङ्गद्वयं तु पाश्चात्त्यं विना वा तां समाप्य च ।
पितृणां संविभागं च अनुयागं यथोदितम् ॥
देशिकः स्वेच्छया कुर्यान्नित्यं माध्यन्दिनेऽर्चने ।
त्रिकालेष्वेकमष्टाङ्गं षडङ्गं चाचरेद् द्वयम् ॥ इति ॥

—(ई०सं० ६।७६-७८; पा० सं० ७।४३१-४३४)

एतेन स्वार्थपरार्थार्चनद्वयेऽप्येकेनैवानुष्ठिते सत्यपि न प्रत्येकं पितृसंविभागः कार्य इति सिद्धम्, तस्यैकस्मिन्नहनि सकृदेव कर्तव्यत्वात् ।

नन्वभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगरूपपाञ्चकालिकधर्मानुष्ठानं भागवतस्य विहितम्, तत्र परार्थानधिकारिभिः स्वार्थेज्या क्रियते, तदधिकारवतां युष्माकं परार्थसंज्ञकश्रीयादवाद्र्यादिदिव्यस्थलाविर्भूतश्रीमन्नारायणाद्यर्चनेनैव कृतकृत्यत्वात् पनुः किं स्वार्थसंज्ञकस्वगृहार्चनेनेति चेत्, सत्यम्, 'परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत्' इतीश्वरोक्तेः, सूर्यप्रकाशेनैव कृतार्थत्वेऽपि स्वगृहेऽपि दीपारोपणवत् स्वार्थार्चनस्याप्यपेक्षित्वात्,

केशवार्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते ।
तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं हि तत् ॥

इति स्वगृहेऽपि भगवद्बिम्बार्चनस्यावश्यकत्वोक्तेः । 'स्वार्थस्यापि परार्थस्य पूजायामधिकारिणः' इत्युभयत्राप्यधिकाराच्चास्माकमपि स्वार्थं भगवदाराधनमावश्यकमिति बोध्यम् ।

ननु चाऽस्तु नाम भवतां स्वार्थपरार्थार्चनयोरधिकारः, स्वगृहे भगवदर्चनावश्यकत्वमपि । स्वार्थपरार्थाधिकारिणो भवदीया बहवः सन्ति । न हि सर्वैरपि सर्वदा परार्थयजनं क्रियते । अतः परार्थाराधनं कुर्वतैव स्वार्थाराधनमपि कार्यम् । पितृ-

संविभागस्तु प्रत्येकं न कार्यं इति को वा नियम इति चेत्, केनोक्तं तथा । जनान्तराविद्यमानत्वदशायामेकेनैव स्वार्थपरार्थार्चनद्वयमपि कृतं चेत्, तदा परार्थं भगवन्मन्दिरे स्वगृहे वाऽस्तु देवपितृसंविभागानुष्ठानम्, कर्तृभेदे तु प्रत्येकानुष्ठानमित्यस्माकमप्याशयो ज्ञेयः ।

नन्वेवं सति परार्थभगवन्मन्दिरेऽपि प्राभातिकार्चनादिषु कर्तृभेदे सति प्रत्यर्चनं पितृसंविभागः स्यादिति चेन्न, तत्र कर्तृभेदस्यानुक्तत्वात्, एकं कर्तारमुद्दिश्यैव प्राभातिकार्चनादिद्वादशकालविभागोक्तेः, प्रत्यर्चनं पितृसंविभागस्य कर्तव्यत्वानुक्तेश्च । न च स्वार्थेऽपि होमः पितृसंविभागश्च नोक्त एव, अत्र तु 'कुण्डस्य योनिनिकटे दक्षिणाग्रांस्तरेत् कुशान्' (६।१६३) इति वह्निसमर्पणानन्तरं कुण्डसमीपे कर्तव्यत्वेनोक्तः पितृसंविभागः परार्थार्चनविषय इति वाच्यम्, स्वार्थे चाराधनस्यैकरूप्येणानुष्ठेयत्वात् ।

ननु तर्हि भवदुक्तसम्प्रदायप्रदीपिकायां स्वार्थार्चने बहुशो वैरूप्यं दृश्यते । होमः पितृसंविभागश्च नोक्त इति चेत्, सत्यम् । तत्र स्वार्थमात्राधिकारिणां सुखबोधाय श्रीमद्भाष्यकारोक्तरीत्यनुसारेणाराधनक्रमः प्रदर्शितः । स्वार्थपरार्थोभयाधिकारिभिरस्माभिस्तु स्वसिद्धान्तस्वसंहितोक्तक्रमेणैवोभयत्राप्याराधनप्रतिष्ठादेरनुष्ठेयत्वं बोध्यम् ।

ननु श्रीसात्वताद्युक्तप्रकारेणानुष्ठानं कुर्वद्भिरपि स्वार्थे वह्निसन्तर्पणं कुतो न क्रियत इति चेदुच्यते,

> मुख्यकल्पे तु होमान्तां नित्यनैमित्तिकात्मिकाम् ॥
> पूजां क्रमेण वै कुर्यात् तत्तद्धोमावसानिकाम् ।
> अनुकल्पे तु जप्यान्ताम् —(पा०सं० ९।९-१०)

इति जपान्तानुष्ठानस्यापि पारमेश्वराद्युपबृंहितत्वाज्जपान्तमस्माभिरनुष्ठीयत इति बोध्यमायुष्मता । अत एव नित्ये जपान्तमाराधनमुक्तम् । नित्यानुसारिण्यपि क्रियादीपे होमान्तो मुख्यकल्प एव दर्शितः ।

ननु भवत्कृतेश्वरसंहिताव्याख्याने एवं पितृसंविभागः प्राभातिकार्चनमात्रानुष्ठाने होमानन्तरं कार्य इत्युक्तम्, तदसंगतम्,

> प्रातर्मध्यन्दिनं सायं त्रयः काला यथाक्रमम् ।
> तदानीमवशिष्टास्तु घटिकाः स्वस्य कर्मणः ॥
> अनुकल्पे तु कालः स्यादेको मध्यन्दिनोऽथवा ।
> माध्यन्दिनश्च नैशश्च द्वौ कालौ शक्तितो द्विज ॥
> —(पा०सं० ९।३६-३७)

इति माध्यन्दिनार्चनमात्रस्य पारमेश्वराद्युक्तत्वात् प्राभातिकार्चनमात्रस्य कुत्राप्यनुक्तत्वादिति चेत्, उच्यते—प्राभातिकार्चनमात्रस्याप्यनुष्ठानं द्वादश्यादिषु संभवतीति सन्तोष्टव्यमायुष्मता ॥ १८० ॥

इस ग्रास दान में कारण यह है कि दिव्य मन्त्रों द्वारा अच्युत की पूजा करने के पश्चात् पितरों के उद्देश्य से जो स्वल्प अथवा अधिक वस्तु दी जाती है, वह उनके लिये अक्षय हो जाती है ॥ १८० ॥

अनुयागविधिकथनम्

पश्चाच्छरीरयात्रार्थमभ्यर्थ्य परमेश्वरम् ।
लब्धानुज्ञस्तु वै कुर्यादात्मयागं यथाविधि ॥ १८१ ॥
भोज्यं नैवेद्यपूर्वं तु सर्वमादाय पात्रगम् ।
विनिवेद्य च देवाय पवित्रीकृत्य चाम्भसा ॥ १८२ ॥
सत्यरूपा ह्यलक्ष्या चाप्यन्नदोषक्षयङ्करी ।
चेतसा चातुरात्मीया भावनीया च भावना ॥ १८३ ॥
रसात्माऽध्यक्षसंज्ञोऽन्ने स्वादुभावे व्यवस्थितः ।
प्रद्युम्नो भगवान् रूपे चैतद्वीर्ये तु लाङ्गलिन् ॥ १८४ ॥
भोक्ता महात्मा भगवान् वासुदेवः स्वयं ह्यजः ।
चतुःप्रणवसंजप्तं ततोऽम्भश्चुलुकं पिबेत् ॥ १८५ ॥
वक्त्रकुण्डेऽथ तेनैवाप्यन्नाहुतिचतुष्टयम् ।
हुत्वा चाभिमतैर्ग्रासैस्ततोऽश्नीयाद् यथारुचि ॥ १८६ ॥

अथानुयागविधिमाह—पश्चादिति षड्भिः । आत्मयागम् = अनुयागमित्यर्थः ।

अबात्मतत्त्वं विज्ञेयं विहितं तस्य सर्वदा ।
आत्मनैवात्मसिद्ध्यर्थं यागमन्नेन तेन च ॥
सह यज्ञावशिष्टेन साम्बुना च फलादिना ।
—(पौ०सं० ३१।१७१-१७२)

इति पौष्करोक्तेः । पवित्रीकृत्य चाम्भसेत्यत्र सच्चरित्ररक्षायाम्—'अयोग्यजन-निरीक्षितत्वयातयामत्वादिदोषसंभावनायां तन्निवृत्त्यर्थं पवित्रीकरणोक्तिः' (पृ० १२५) इति व्याख्यातम् । विनिवेद्य च देवायेत्यत्राऽन्तरात्मनिवेदनं बोध्यम् । तथा च सच्चरित्ररक्षायाम्—

हृदि ध्यायन् हरिं तस्मै निवेद्यान्नं समाहितः ।
मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैर्गृहीत्वान्नं मितं पुनः ॥
प्राणाय चेत्यपानाय व्यानाय च ततः परम् ।
उदानाय समानाय स्वाहेति जुहुयात् क्रमात् ॥ —(पृ० ९७)

इति कर्मकाण्डवचनमुदाहृतम् । पारमेश्वरव्याख्याने तु—'देवाय स्वगृहार्चा-भूताय विनिवेद्य' इति लिखितम्, तदप्रकृतम्, वाक्यस्यान्तरात्मनिवेदनपरत्वात् । तथा च सच्चरित्ररक्षायाम्—'ओदनपचने शुच्यन्नं श्रपयित्वा वेद्यां भगवते नयति । वेद्यां भगवन्तमिष्ट्वा तत्कारिभ्यः प्रयच्छति । कारिणोऽपि प्राप्तेनान्नेन वेद्यां भगवन्तमिष्ट्वा तद्धात्र उपनयन्ति । उपनीतेन धाता स्वयं च कुरुते शिष्टेन च भृत्यान् बिभर्ति' इत्यादिरहस्याम्नायवाक्यार्थविचारणप्रकरणे धात्र उपनयन्तीति वाक्यस्यान्तरात्म-परत्वमुक्त्वा तत्साधकत्वेन च—'विनिवेद्य च देवाय पवित्रीकृत्य चाम्भसा' (६।१८२) (पृ० १२२) इत्यादिसात्वतवचनमुदाहृतम् ।

ननु भवदुदाहृतरहस्याम्नायवाक्येष्वेव भगवन्निवेदितान्नस्य कारिभ्यः प्रदानम्, तेनैवान्नेन कारिभिः स्वार्थभगवद्यजनं कार्यमित्युक्तं खलु, तत्पुनः कथमप्रकृतमिति चेत्, अनभिप्रायज्ञोऽसि । तस्मिन्नर्थे को वा विवादः । तथा कारिप्राप्तान्नेन भगवद्यजनं सर्वसंमतम् । किन्तु विनिवेद्य च देवायेत्यत्र तादृशार्थो वर्णितुं न शक्यते । यत एतद्वाक्यं नहि कारिणां कर्मानुष्ठाननिरूपकम्, अपि तु भगवन्तमिष्टवतः कारिप्रदानं कृतवतोऽनुयागं कुर्वतस्तत्प्रकारनिरूपकमिति बोध्यम् ।

ननु परार्थमिष्टवता स्वार्थे भगवान् परित्याज्यः किमिति चेत्, ब्रूमः—परिग्राह्य एव पत्रादिभिः पूजनीयः, स्वेन साष्टाङ्गप्रणामादिना सेव्यश्च । किन्त्वस्यापि साष्टाङ्ग-यजनं कर्तुं स्वस्यानवकाश इति ज्ञेयम् । अत एव पारमेश्वरादिषु द्वादशकालार्चनं कुर्वतः कालत्रयेऽप्याह्निकमात्रस्यावकाश उक्तः, न तु स्वार्थाराधनस्य प्रत्येकं कालः प्रदर्शितः । न च द्वादशकालार्चनं कुर्वतः स्वार्थार्चनावकाशो माऽस्तु, त्रिकालाद्यर्चनं कुर्वतः स्वार्थार्चने को विरोध इति वाच्यम्, तदानीमपि स्वार्थार्चनकालस्यानुक्तत्वमेव विरोधः । ननु—

प्रातर्मध्यन्दिनं सायं त्रयः कालाः प्रकीर्तिताः ।
तदानीमवशिष्टास्तु घटिकाः स्वस्य कर्मणः ॥
इति स्वार्थाविरोधेन परार्थाधिकृतस्य च ।
एकायनस्य विदुषः प्रोक्ताः कालाः क्रमेण तु ॥
तथैव दीक्षितस्यापि सिद्धान्तरतचेतसः ।
—(पा०सं० ९।३६, १५२-१५३)

इति पारमेश्वरोक्तः किं न श्रुत इति चेत्, ब्रूमः—तत्र स्वस्य कर्मण इत्यनेन स्वा-र्थाविरोधेनेत्यत्र स्वार्थशब्देन च स्नानादिनित्यकर्माण्येवोच्यन्ते, न स्वार्थाराधनमपि । यतस्तत्परार्थयजनवद् बह्वीभिर्घटिकाभिः कर्त्रन्तरेणैव साध्यम् । (नास्ति?अस्ति) च स्वार्थपरार्थयोरुभयोरप्येकेनैवाराधनं कार्यमिति पूर्वं भवदुक्तं खलु । तत्र किं नियामकमिति, अनुपपत्तिरेव नियामिका ।

ननु तदानीं बहुघटिकासाध्यं स्वार्थार्चनं कथं शीघ्रं साध्यत इति चेदुच्यते—

उत्सवावधिकं श्रेष्ठमाराधनमुदाहृतम् ।
होमान्तं मध्यमं प्रोक्तं प्रापणान्तमथाधमम् ।
क्षुद्रं तु धूपदीपान्तमिदमाराधनं हरेः ।

इति पाद्मोक्तेः,

संक्षेपविस्तरे कुर्याद् देशकालानुकूलतः ॥
नैव कुर्यादपच्छेदं यजेदञ्जलिनापि माम् ।—(४०।१०४-१०५)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेश्च लघुपक्षः साध्यत इति बोध्यम् । तथा चोक्तं पाञ्चरात्र-रक्षायां तृतीयेऽधिकारे—'ईषच्छक्तौ संकुचितपूजनम्, एकोपचारमारभ्य तत्तच्छक्त्या-द्यनुसारेण सहस्रोपचारान्तविधानात्' (पृ० १६८) इति । 'यत्पुनरुपचारलोपे प्रत्य-वायादिकमुक्तम्—

गन्धहीने भयोक्तिश्च पुष्पहीने तु संकुलम् ।

नैवेद्यहीने दुर्भिक्षं मरणं मन्त्रहीनके ॥
अमन्त्रमविधिं चैवमकालं चैव पूजनम् ।
नित्यं राष्ट्रभयं कुर्यात् तत्तद्ग्रामं तु नश्यति ॥

इत्यादि, तदेतत्सर्वं राजराष्ट्रादिसमृद्ध्यर्थं काम्याराधनेष्वन्येष्वपि पूर्णानुष्ठान-शक्तस्य सम्पूर्णानुष्ठानद्रव्यस्य लोभादिभिस्तत्तद्धानौ मुख्यकल्पसमर्थस्यानुकल्पेन वृत्तौ च दोषमाह, न तु नित्ये कर्मणि निष्कामस्ययथाशक्तिकरणे' (पृ० १७५-१७६) इति च स्पष्टमुक्तम् । रसात्माऽध्यक्षसंज्ञोऽन्न इत्यत्रान्नस्य वीर्यरूपरसेषु क्रमेण सङ्कर्षणादीनां केवलं बलवीर्यतेजोरूपेणावस्थानं भाव्यम्, बलादीनां भोज्यगुणत्वात् । भोक्ता वासुदेवस्तु ज्ञानैश्वर्यशक्तिरूपेण भाव्यः, ज्ञानादीनां भोक्तृगुणत्वात् । तथा च पारमेश्वरे महाहविःप्रकरणे—

बलं वीर्यं च तेजश्च अर्घ्यपुष्पं समुत्क्षिपेत् ।
केवलेन च सास्त्रेण नेत्रमन्त्रेण भावयेत् ॥
ततः स्वदक्षिणे हस्ते विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ।
स्मर्तव्याः स्वस्वमन्त्रेण भोजकाः करणात्मकाः ॥
स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा यथाभोगं बद्धया ग्रासमुद्रया ॥
निवेदनीया वै विष्णोरन्नमूर्त्यन्तरस्थिताः ।
रसवीर्यादिभेदोत्थास्तेजोवीर्यबलात्मकाः ॥

—इति (१८।३७८-३८१)

लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

तारिकामुच्चरन् कुर्यान्मामन्नस्थां विभावयेत् ॥
सोमानन्दमयीं दिव्यां क्रमाद्यन्नाद्यतां गताम् ।
वीर्यरूपरसाकारां तेजोवीर्यबलात्मिकाम् ॥
ऐश्वर्यशक्तिविज्ञानरूपं भोक्तारमव्ययम् ।
आत्मानं पुण्डरीकाक्षं भावयेत् पुरुषोत्तमम् ॥

—(४०।९६-९८)इति

अम्भश्चुलुकं पिबेदित्यत्र परिषेचनमपि कार्यम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

अस्त्रेण तारया प्रोक्ष्य तारया परिषिच्य च ।
उपस्तीर्यं ततश्चापो दद्यात् प्राणाहुतिं ततः ॥ (४०।९५) इति।

वक्त्रकुण्डेऽथ तेनैवेति प्रणवेनैव प्राणाहुतयः प्रतिपादिताः । अतः प्रसिद्ध-प्राणाहुतिमन्त्रपरित्यागान्न भेतव्यम् । यतः सच्चरित्ररक्षायाम्—'येषां तु तत्र भगवद-साधारणमन्त्रैर्वक्त्रकुण्डे होमो विहितः, न तेषु वैदिकमर्यादाविरोधः शङ्कनीयः, कल्प-सूत्रप्रतिनियतधर्मान्तरवत् तदुपपत्तेः' (पृ० १३०) इति प्रत्यपादि । एवं च प्रणवेनैव प्राणाहुतिरिति नियमोऽपि नास्ति । यतः सच्चरित्ररक्षायाम्—

येन येन तु मन्त्रेण बहिराराधनक्रमे ।
वेद्यादिस्थस्य देवस्य प्रापणं विनिवेदितम् ॥
तेन तेन तु मन्त्रेण जुहुयुर्वक्त्रकुण्डके ।

चतुः पञ्चत्रिधा वापि प्राणपूर्वैर्द्विजोत्तम ॥
केवला भक्तिपूतास्तु त्रयीधर्मरता द्विजाः ।
प्राणापानादिभिर्मन्त्रैर्जुहुयुः पञ्चधा क्रमात् ॥
हृदयस्थाय देवाय विष्णवे सर्वजिष्णवे । —(पृ० १३०) इति ।

नन्वेवं प्राणापानादिमन्त्रान् विना साक्षात् तदन्तरात्मभगवदसाधारणमन्त्रैराहुति-पक्षे निवेदितशेषं विना पृथगनेनानुयाग उदितः । अन्यथा निवेदितनिवेदनाख्यदोषः संभवति । अत एवात्र भोज्यं नैवेद्यपूर्वं तु समादायाथ पात्रगमिति नैवेद्यशब्दः प्रयुक्तः, न निवेदितशब्दः । नैवेद्यम् अन्तरात्मनिवेदनाय कल्पितमित्यर्थः स्वरसः । तथा सति पवित्रीकृत्य चाम्भसेत्युक्तेरपि सार्थक्यं भवतीति चेति सच्चरित्ररक्षादिकं कदापि न श्रुतिवानसि, यतस्तत्र सवन्दनाभिषेकन्यायेन निवेदितनिवेदनाख्यदोषः परिहृतः । निवे-दितार्थकनैवेद्यशब्दा अपि बहुशस्तत्र तत्रोदाहृताः ॥ १८१-१८६ ॥

इसके बाद शरीर यात्रा के लिये परमेश्वर की प्रार्थना कर आज्ञा प्राप्त करे । तदनन्तर यथाविधि आत्मयाग करे । सर्वप्रथम पात्र में रहने वाला सभी प्रकार का नैवेद्य देवता को निवेदन कर जल से प्रक्षालित कर भोजन करे । यत: अलक्ष्या एवं सत्यरूपा चतुरात्मीया भावना ही अन्नदोष का नाश करने वाली है अत: उसकी भावना करनी चाहिये ॥ १८१-१८३ ॥

यत: अन्न रसात्माध्यक्ष संज्ञक है, उसके भगवान् स्वादुभाव रूप में प्रद्युम्न व्यस्थित है, वीर्य में सङ्कर्षण स्थित हैं और स्वयं भगवान् वासुदेव स्वयं इसके भोक्ता हैं । इस प्रकार की भावनापूर्वक भोजन के अनन्तर चार बार प्रणव से अभिमन्त्रित एक चुल्लू जल पीवे ॥ १८४-१८५ ॥

इसके बाद पुन: वक्त्ररूप कुण्ड में उसी प्रणव से चार आहुति प्रदान करे । इसी प्रकार अभिमत वक्त्ररूप कुण्ड में अभिमत (यथेच्छ) ग्रास की आहुति देकर यथारुचि भोजन करे ॥ १८६ ॥

समाचम्य पुनर्यायात् प्रयतो भगवद्गृहम् ।
मनोबुद्ध्यभिमानेन सह न्यस्य धरातले ॥ १८७ ॥
कूर्मवच्चतुरः पादान् शिरस्तत्रैव पञ्चमम् ।
प्रदक्षिणसमेतेन त्वेवंरूपेण सर्वदा ॥ १८८ ॥
अष्टाङ्गेन नमस्कृत्य ह्युपविश्याग्रतः प्रभोः ।
आगमाध्ययनं कुर्यात् तद्वाक्यार्थविचारणम् ॥ १८९ ॥

अथैवमनुयागानन्तरं पुनराचमनपूर्वकं भगवद्गृहप्रवेशं तत्र कर्तव्याष्टाङ्गप्रणाम-प्रकारमागमाध्ययनरूपस्वाध्यायं चाह—समाचम्येति त्रिभिः । अत्राष्टाङ्गेनेत्येकवचनेन सकृत्प्रणामप्रतिपादकश्लोकद्वयमिदमेवेति सूच्यते । अत एव श्रीमद्भाष्यकारैरपि नित्यग्रन्थे—'भगवन्तमष्टाङ्गप्रणामेन प्रणम्य' (पृ० १८७) इत्येकवचनमेव प्रयुक्तम्, अष्टाङ्गप्रणामप्रतिपादकश्लोकद्वयमिदमेवोदाहृतं च (पृ० १८८) ।

नन्वत्र समयपरिच्छेदे—

प्रासादं देवदेवीयमाचार्यं पाञ्चरात्रिकम् ॥
अश्वत्थं च वटं धेनुं सत्समूहं गुरोर्गृहम् ।
दूरात् प्रदक्षिणं कुर्यान्निकटात् प्रतिमां विभोः ॥
दण्डवत् प्रणिपातैस्तु नमस्कुर्याच्चतुर्दिशम् । (२१।११-१३)

इति बहुवचनमपि वक्ष्यति । तस्य का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तत्र चतुर्दिशमिति स्थानभेदोऽप्यस्तीति ज्ञेयम् ।

ननु च—'एकत्रिपञ्चसप्तादिगणनाविषमं हि यत्' (३७।५३) इति विषम-प्रणामनिषेधकपौष्करोक्तिः, तदनुसारिणी—'तत्र प्रदक्षिणानि प्रणामांश्च युग्मान् कुर्यात्' (पृ० ११४) इति पाञ्चरात्ररक्षोक्तिश्च भवता न श्रुता किमिति चेत्, उच्यते—पौष्करनिष्ठानामेव तदुक्तानुष्ठानम्, सात्वतनिष्ठानां तु सकृदेव प्रणामानुष्ठानं बोध्यम्, 'सकृत्ते नमः, द्विस्ते नमः' इत्यादिभिः पक्षद्वयस्यापि श्रुत्युक्तत्वात्, तथैव शिष्टाचाराच्च । आगमाध्ययनं कुर्यात् तद्वाक्यार्थविचारणमित्यत्र पाञ्चरात्ररक्षायाम्—'तदिह भगवत्प्रीणनस्वचित्तरञ्जकेतिहासपुराणस्तोत्रनिगमान्तद्वयव्यापकमन्त्रादीनां श्रवणमनन-प्रवचनजपादयो वादसंवादादयश्च यौगिकज्ञानप्रदीपस्नेहायमानाः,

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वतः ।
अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ —(मनु० १२।६)

इत्यादिनिदर्शितवाचिकपापोदयप्रतिबन्धिनश्च सर्वे व्यापारा यथासंभवं संभूय पृथग्भूय वा स्वाध्यायीभवन्ति' (पृ० १४९) । इति संगृहीतं द्रष्टव्यम् ॥ १८७-१८९ ॥

तदनन्तर आचमन कर संयमपूर्वक भगवान् के मन्दिर में पुनः जावे । फिर मन, बुद्धि, अभिमान के साथ कछुये के समान चारों हाथ, पैर और पाँचवाँ शिर पृथ्वी पर स्थापित कर साष्टाङ्ग सर्वदा प्रदक्षिणा करे ॥ १८७-१८८ ॥

इस प्रकार साष्टाङ्ग नमस्कार कर भगवान् के आगे बैठकर आगम (मन्त्र) शास्त्र का स्वाध्याय करे और उसके अर्थों पर विचार करे ॥ १८९ ॥

प्राप्ते तु सन्ध्यासमये स्नात्वा च जघनावधि ।
क्षालयित्वा ततः कुर्याद् वासःसम्परिवर्तनम् ॥ १९० ॥
अर्चयित्वार्घ्यपुष्पाद्यैर्देवमग्निं यजेत् ततः ।
यथाशक्ति जपं कुर्यादासाद्य शयनं ततः ॥ १९१ ॥
समाधाय बहिर्देवं निरालम्बपदे स्थितम् ।
अप्रयत्नेन वै तावदनिरुद्धेन तेजसा ॥ १९२ ॥
सह तेनैव वै निद्रा यावदभ्येति साम्प्रतम् ।
समुत्थायार्धरात्रेऽथ जितनिद्रो जितश्रमः ॥ १९३ ॥

अथ सायन्तनस्नानादिनिद्रान्तं कर्तव्यकर्मणां क्रमं संक्षेपेणाह—प्राप्त इति सार्धैस्त्रिभिः । अत्र स्नात्वेत्यादिना सन्ध्योपासनादिकमुपलक्ष्यते । देवमर्चयित्वेत्यत्रा-

र्चनप्रकारः, अग्निं यजेदित्यत्र होमप्रकारश्च पूर्वोक्त एव ग्राह्यः । एतेन स्वार्थ-परार्थयोरुभयत्रापि कालद्वयार्चनं मुख्यं भवति, अविशेषेणोक्तत्वात् । सति विभवे पारमेश्वराद्युक्तं द्वादशकालार्चनादिकं परार्थे कार्यम्, तदुद्दिश्यैवोक्तत्वात् । साय-माचमनं चानुयागान्तमिति ज्ञेयम्,

सायंप्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ —(मनु० २।५२)

इति रात्रिभोजनस्यापि शास्त्रीयत्वात् ।

नन्वत्रानुयागः कण्ठरवेण नोक्तः, लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

सन्ध्यामुपास्य विधिवदभिगम्य मां धिया ।
योगं युञ्जीत विधिवच्छास्त्रशुद्धेन चेतसा॥ —(४०।१०२)

इत्यत्रानुयागो नोक्तः, ईश्वरपारमेश्वरयोरपि—'सायन्तनार्चनं कुर्यात् षडङ्गं बलि-पश्चिमम्' (ई०सं० ६।७८; पा०सं० ७।४३७) इति, 'त्रिकालेष्वेकमष्टाङ्गं षडङ्गं चाचरेद् द्वयम्' (ई०सं० ६।७८; पा०सं० ७।४३४) इति च वह्निसन्तर्पणान्त-मेवार्चनमुक्तम् । एवं वचनेषु जागरुकेषु कथं रात्रावनुयागः शास्त्रीयो भवतीति चेत्, सत्यम् । अत्र सर्वत्रापि रात्रिभोजनस्य नैयत्याभावात् तथोक्तमिति ज्ञेयम् । यतः पाद्मे—

ततः पश्चिमसंध्यायां प्राप्तायां तत्र चोदितम् ।
जपहोमादिकं सर्वं कृत्वा परमपूरुषम् ॥
अर्चयित्वा यथान्यायं यथापूर्वमशेषतः ।
भुक्त्वा संविश्य शयने समुत्थाय महानिशि ॥
आचम्य प्रयतो भूत्वा ध्यात्वा परमपूरुषम् ।

इति रात्रिभोजनमप्युक्तम् । ननु रात्रिभोजनस्य नैयत्याभावेन तदप्रतिपादने समर्थित एकादश्याद्युपवासदिवसेषु दिवाभोजनस्यापि नैयत्याभावात् तत् कथं प्रतिपादितमिति चेत्, ब्रूमः—दिवोपवासस्य क्वाचित्कत्वाद् रात्र्युपवासस्य पञ्चपर्वादिषु बाहुल्याद् दिवारात्र्यनुयागयोः प्रतिपादनाप्रतिपादने बोध्ये ।

नित्यग्रन्थेषु दिवानुयागस्याप्यनुक्तिरेवमेव समर्थिता वेदान्ताचार्यैः पञ्चरात्र-रक्षायाम्—'तथाह्युपवासदिवसेष्वेकादश्यादिष्वनुयागस्य लोपो भवति । सप्ताङ्गमेव तदानीं यजनम् । अत एवानुयागस्यानियत्वव्यञ्जनाय भाष्यकाराणां तदनुक्तिः । तदर्थकालश्च तस्मिन् दिवसे स्वाध्याययोगादिष्वन्यतमेन यथोचितं यापनीयः' (पृ० १६७) इति । अत्र सप्ताङ्गमित्यनेनैकादश्यादिष्वपि पितृसंविभागः कार्य इत्युक्तं भवति । स च तिलोदका(न्तरूपं?न्नरूपो) न ब्राह्मणभोजनरूप इति ज्ञेयम्, यतस्तत्रैव कदाचिद् द्वादश्यादिषु प्रभाते पारणं भवति । तदर्थं पूर्वं यजने कृतेऽपि स्वकालप्राप्तं मध्यन्दिनयजनं सप्ताङ्गमिति भोजनानन्तरमपि पितृसंविभाग उक्तो नात्रश्राद्धरूपः, अपि तु तिलोदका(न्त?न्न)रूप एव ।

ननु भवता द्वादश्यादिषु प्राभातिकार्चनानन्तरमपि पितृसंविभागः कथमुक्त इति चेत्, सत्यम् । तत् परार्थविषयम्, तत्र प्राभातिकार्चनस्याप्युक्तत्वात्, 'तत्र प्राभातिकीं कुर्यात् पूजामष्टाङ्गसंयुताम्' (ई०सं० ६।७६; पा०सं० ७।४३२) इति कण्ठो-

क्तेश्च। स्वार्थे माध्याह्निकार्चनमात्रस्योक्तत्वात्। तदनन्तरमेव पितृसंविभागानुष्ठान-मप्यस्माकमप्यविरुद्धं बोध्यम्।

ननु च स्वार्थे इज्याकाले माध्याह्निकार्चनमात्रमुचितम्। सायन्तनार्चनमपि भवता कथमङ्गीकृतमिति चेत्, सत्यम्। तद्योगङ्गं जयाख्यपाद्मादिष्वपि कण्ठरवेणोक्तं द्रष्टव्यम्। यथाशक्ति जपं कुर्यादित्यत्रागमाध्ययनरूपस्वाध्यायमन्त्रजपो बोध्यः, प्रसिद्धजपयज्ञस्य हविर्निवेदनानन्तरमेव कर्तव्यत्वात्। तथा च पञ्चरात्ररक्षायां संग्रहः— 'अथ लोहितायति भास्करे यथासूत्रं सायंसन्ध्योपासनं सायंहोमः पुनर्यथाशक्ति भग-वदभिगमनहविर्निवेदनपूर्वकं भोजनम्। केनचिन्निमित्तेन विलुप्ते भोजने प्राणाग्नि-होत्रमन्त्रजपः, ततश्च रात्रियोग्यस्वाध्यायो योगश्चेति क्रमः' (पृ० १५०) इति।

समाधाय बहिर्देवमित्यत्र तेन सह बहिःस्थितेन भगवता सहेत्यर्थः। निद्रा यावदभ्येति तावदन्तं बहिर्निरालम्बपदे स्थितं देवं समाधाय ध्यात्वेत्यर्थः। इह प्रयत्नपूर्वकं चित्तनिरोधं कृत्वा ध्याने कृते निद्रा न संभवति। तदभावे योगं कर्तुं चित्तस्वास्थ्यं न जायत इत्याशयेनाप्रयत्नेनानिरुद्धेन चेतसेत्युक्तम्। अस्य पदद्वयस्यापि समाधायेत्यत्रान्वयः। पारमेश्वरव्याख्याने तु—'अबहिः हृत्कमले' इति व्याख्यातम्। तन्मन्दम्, यतः सात्वतेश्वरपारमेश्वरादिषु पञ्चरात्ररक्षादिषु (पृ० १६४) च समाधाय बहिर्देवमित्येकरूपः पाठो दृश्यते। तथा पाठाङ्गीकारेऽर्थ(ा)सामञ्जस्यमपि न संभवति॥ १९०-१९३॥

सन्ध्या समय प्राप्त होने पर जघन पर्यन्त स्नान करे फिर वस्त्र क्षालन कर दूसरा वस्त्र पहने॥ १९०॥

फिर भगवान् का अर्घ पुष्पादि से अर्चन कर अग्निदेव का यजन करे। यथाशक्ति जप करे फिर शयन स्थान पर जावे और वहाँ हृदय स्थान में स्थित देवता का ध्यान तब तक करे जब तक निद्रा न आवे॥ १९१-१९३॥

कमण्डलुस्थितेनैव समाचम्य तु वारिणा।
गुरुं देवं नमस्कृत्य ह्युपविश्याजिनासने॥ १९४॥

अथ योगं दर्शयन् तत्पूर्वकृत्यमाह—समुत्थायेति सार्धेन। अयं श्लोकः पञ्च-रात्ररक्षायामेव व्याख्यातः। तथाहि—'एतत्संहितानिष्ठानामेष योगकालनियमः। निःशब्दे सर्वसुप्तिकाले चैकाग्र्यातिशयसंभावनया च तद्विधिः। तत्तत्पुरुषशक्त्या-द्यनुसाराच्च तत्तत्कालविधेर्न विरोध इत्युक्तम्। तत्र—

वैणवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले॥ (४।३६)

इत्यादिभिर्मन्वाद्युपदिष्टसोदककमण्डलुधारणादिकं भगवद्योगिनोऽपि विहित-मिति ज्ञापनाय कमण्डलुस्थितेनैवेत्युक्तम्, निद्रान्तनिमित्ततयोत्तरकर्माङ्गतया च तन्त्रेणा-चमनम्। तुशब्देन स्वशास्त्रोक्तविशेषः, तोयालाभदशायां दक्षिणश्रवणस्पर्शश्च व्यज्यते। स्मरन्ति हि—

एवमाचमनाशक्तावलाभे सलिलस्य च।

पूर्वोक्तेषु निमित्तेषु दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥'

—(प०पृ०८२-८३) इति।

अजिनासन इति 'चेलाजिनकुशोत्तरम्' (भ०गी० ६।११) इति गीते प्रधानांशग्रहणमिति ॥ १९३-१९४ ॥

फिर निद्रात्याग कर शैथिल्य दूर कर कमण्डल स्थित जल से आचमन करे और गुरु देवता को नमस्कार कर मृगचर्म के आसन पर बैठे ॥ १९४ ॥

न्यासं मन्त्रचतुष्केण कुर्यात् संहारलक्षणम् ।
आपादाज्जानुपर्यन्तमनिरुद्धं च विन्यसेत् ॥ १९५ ॥
प्रद्युम्नाख्यं न्यसेन्मन्त्रं नाभ्यन्तं जानुमण्डलात् ।
नाभेराकर्णदेशं तु मन्त्रं साङ्कर्षणं न्यसेत् ॥ १९६ ॥
आकर्णाद् ब्रह्मरन्ध्रान्तं चतुर्थं विनिवेद्य च ।
ततस्त्वभिमतेनैव त्वास्ते पद्मासनादिना ॥ १९७ ॥
स्वात्मना चातुरात्मीयमभिमानं समाश्रयेत् ।

अथ वासुदेवादिमन्त्रचतुष्टयस्य स्वशरीरे संहारक्रमेण न्यासं पद्मासनादिष्वन्यतमेनोपवेशनं स्वस्मिन् चातुरात्मीयाभिमानावलम्बनं चाह—न्यासमिति साधैस्त्रिभिः । चातुरात्मीयमभिमानं समाश्रयेदित्यत्र तत्तन्मन्त्रजपध्यानकाले तत्तन्मूर्तितादात्म्यावलम्बनं बोध्यम्, अन्यथा युगपत्सर्वमूर्तितादात्म्याश्रयणस्याशक्यत्वात् तस्य प्रत्येकमेव वक्ष्यमाणत्वाच्च । अत्र चातुरात्म्यार्चनप्रकरणादेव चतुर्भिर्मन्त्रैर्योगानुष्ठानादिकमुक्तम् । नह्येकमूर्त्यर्चनविभवार्चनादिप्रकरणेऽप्येतैरेव मन्त्रैर्योगोऽनुष्ठेय इति नियमः, अपि तु तत्तत्प्रकरणानुसारिमन्त्रैरिति बोध्यम् ।

ननु पञ्चरात्ररक्षायामत्र मन्त्रचतुष्कादिव्यतिरिक्तं सर्वं संहितान्तरनिष्ठानामपि साधारणमित्युक्तम् । एतेनैतत्संहितानिष्ठानां सर्वप्रकरणेष्वपि मन्त्रचतुष्केणैव योग इति ज्ञायते, यतस्तत्र प्रकरणान्तरनिष्ठानामपीति नोक्तमिति चेत्, ब्रूमः—अत्र चातुरात्म्याराधनस्यैव विस्तरात् प्रकरणान्तरस्य संकुचितत्वात् प्रकरणान्तरेऽपि साधारणमिति नोक्तम् । संहितान्तरनिष्ठानामपि साधारणमित्यनेनैव तदर्थोऽपि किंपुनर्न्यायेन सिद्धो भवतीति ज्ञेयम् । अन्यथा सर्वेषामपि व्यूहचतुष्टयेनैव योगानुष्ठाननियमे—

कैवल्यफलदा ह्येका भोगकैवल्यदा परा ।
भोगदैव तृतीया च प्रबुद्धानां सदैव हि ॥ —(१९।४)

इति वक्ष्यमाणपरादिमन्त्रदीक्षितृफलभेदानुसारेण कैवल्येच्छया केवलं परात्परमन्त्रं प्राप्तवतां काम्येच्छया विभवमन्त्रमात्रमधिकृतवतां च योगानुष्ठानं न संभवेत् । अतो यस्य यस्मिन् मन्त्रेऽभिरतिस्तस्य तेन योगानुष्ठानमिति सिद्धम् ॥ १९५-१९८ ॥

तदनन्तर चार मन्त्र से संहार लक्षण (= विपरीत क्रम) न्यास करे । फिर पैर से लेकर जानु पर्यन्त अनिरुद्ध मन्त्र से न्यास करे ॥ १९५ ॥

जानु से लेकर नाभि मण्डल तक प्रद्युम्न मन्त्र से और नाभि से कर्ण पर्यन्त सङ्कर्षण मन्त्र से न्यास करे ॥ १९६ ॥

कान से ब्रह्मरन्ध्र तक चतुर्थ मन्त्र से न्यास करे । इसके बाद अपनी इच्छानुसार पद्मासन आदि से बैठे । अपनी आत्मा में चातुरात्म्य अभिमान का ध्यान करे ॥ १९७-१९८ ॥

समं कायशिरोग्रीवं सन्धाय सह वक्षसा ॥ १९८ ॥
दृङ्नासाग्रगता कार्या विनिमीलितलक्षणा ।
जिह्वा तालुतलस्था च सान्तरे दशनावली ॥ १९९ ॥
ईषदोष्ठपुटौ लग्नौ धार्ये द्वे बाहुकूर्परे ।
ऊरुमध्यप्रदेशे तु हस्तौ नाभावधो न्यसेत् ॥ २०० ॥
अधरोत्तरयोगेन वामदक्षिणतः क्रमात् ।
अचलं योगपट्टेन त्वेवं सन्धार्य विग्रहम् ॥ २०१ ॥
सङ्कोच्यापानदेशं त्वप्युपरिष्टात् तमेव हि ।
विकास्यावर्णहीनेन हार्णेनालक्ष्यमूर्तिना ॥ २०२ ॥

अथ योगानुष्ठानकाले कायशिरःप्रभृत्यवयवानां सन्धारणक्रममाह—सममिति सार्धैश्चतुर्भिः ॥ १९८-२०२ ॥

उस समय काय, शिर, ग्रीवा तथा वक्षस्थल को सीधे स्थापित करे और नेत्रों को बन्द कर उसे नासा के अग्रभाग पर स्थापित करे । जिह्वा को तालु के नीचे, दन्त पङ्क्तियों को मुख के भीतर स्थापित करे ॥ १९८-१९९ ॥

दोनों ओष्ठ पुटों को किञ्चिन्मात्र संलग्न रखे तथा दोनों बाहुकूर्परों को ऊरु के मध्यप्रदेश में रखे और दोनों हाथों को बायें दाहिने कर ऊपर नीचे कर नाभि के नीचे स्थापित करे । इस प्रकार यौगिक रीति से शरीर को स्थापित कर अपान देश को संकुचित करे । फिर ऊपर अ वर्ण से हीन तथा ह वर्ण के साथ लक्षित मूर्त्ति के सहित उसको विकसित करे ॥ २००-२०२ ॥

विषयान्तर्निविष्टं तु क्रमाच्चित्तं समाहरेत् ।
कुर्याद् वै बुद्धिलीनं तु तां च कुर्यात् स्वगोचरे ॥ २०३ ॥

ततो विषयेभ्यश्चित्तमाकृष्य बुद्धौ संयोज्य बुद्धिं स्वगोचरे भगवति न्यसेदित्याह—विषयेति । तथा च पञ्चरात्ररक्षायां शाण्डिल्यस्मृतौ—

ईदृशः परमात्माऽयं प्रत्यगात्माऽयमीदृशः ।
तत्सम्बन्धानुसंधानमिति योगः प्रकीर्तितः ॥
योगो नामेन्द्रियैर्वश्यैर्बुद्धेर्ब्रह्मणि संस्थितिः ।

प्रयुक्तैरप्रयुक्तैर्वा भगवत्कर्मविस्तरैः ॥

—(पृ० ५९) इति (शा०स्मृ० ५।१३-१४) ।

तत्रैव तृतीयेऽधिकारे (पृ० १५८) पराशरः—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥ इति ॥ २०३ ॥

—(विष्णु०पु० ६।७।३१) ।

अन्य विषयों में सन्निविष्ट चित्त को क्रमशः विषय से पृथक् करे । पुनः बुद्धि में लीन करे । फिर उस बुद्धि को भी परमात्मा में संस्थापित करे ॥ २०३ ॥

समाधायात्मनात्मानं सह मन्त्रैस्ततः क्रमात् ।
आ जाग्रत्पदभूमेर्वै यथा तद् गदतः शृणु ॥ २०४ ॥

जाग्रत्पदमारभ्य तुर्यपदान्तं तत्तत्पदस्थितेन परमात्मना सह तत्तन्मन्त्रजपपुरस्सरं प्रत्यगात्मनः संयोगभावनामुक्त्वा तां विस्तरेण वक्ष्यामि शृण्वित्याह—समाधायेति । तथा च पञ्चरात्ररक्षायां दक्षः—

सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्ध्यानं च योगश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥

—(द०स्मृ०७।२०) इति ।

याज्ञवल्क्यश्च—'वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत्' इति । वृत्तिहीनं बाह्यवृत्तिरहितमित्यर्थः।' (पृ० ७६) ॥ २०४ ॥

जाग्रत् पद से लेकर तुर्य पदान्त तत्तत्पद से स्थित उस परमात्मा के साथ तत्तन्मन्त्र पुरःसर संयोग भावना करे । उसी संयोग भावना को अब विस्तार के साथ कहा जा रहा है । हे सङ्कर्षण! अब उसे सुनिये ॥ २०४ ॥

मध्याह्नभास्कराकारैः सर्वैः संशान्तविग्रहैः ।
स्मरेत् पूर्वोदितं पद्मं चातुरात्म्यैरधिष्ठितम् ॥ २०५ ॥
ततो जाग्रत्पदस्थं चाप्यनिरुद्धं च मन्त्रराट् ।
परावर्त्य शतं बुद्ध्या तदभिन्नेन चात्मना ॥ २०६ ॥
तन्मन्त्रजपसामर्थ्यात् तादात्म्यस्थितिबन्धनात् ।
महिमा तु सविज्ञानस्तदीयस्तस्य जायते ॥ २०७ ॥
अभ्यासाद् वत्सरान्ते तु तदद्वैतसमन्वितम् ।
अथ प्रद्युम्नमन्त्रं तु परावर्त्य शतद्वयम् ॥ २०८ ॥
योऽयं सोऽहमनेनैवाप्यद्वैतेन सदैव हि ।
एवमेव समभ्यासाद् मतिमांश्छिन्नसंशयः ॥ २०९ ॥

तत्प्रभावाच्च तेनैव तथा कालेन जायते ।
अनेन क्रमयोगेन जपवृद्ध्याऽन्वितेन तु ॥ २१० ॥
निखिलं चाप्यधीकुर्याद् मन्त्रवृन्दं पुरोदितम् ।
यावदाभाति भगवान् स्थाने पूर्वोक्तलक्षणे ॥ २११ ॥
प्रलीनमूर्तिरमलो ह्यनन्तस्तेजसां निधिः ।
चिदानन्दघनः शान्तो ह्यनौपम्यो ह्यनाकुलः ॥ २१२ ॥
समाधायात्मनात्मानं तत्र त्यक्त्वा जपक्रियाम् ।
ध्यातृध्येयाविभागेन यावत् तन्मयतां व्रजेत् ॥ २१३ ॥
यदा संवेद्यनिर्मुक्ते समाधौ लभते स्थितिम् ।
अभ्यासाद् भगवद्योगी ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २१४ ॥

विस्तरेण योगप्रकारमाह—मध्याह्नभास्कराकारैरित्यारभ्य ब्रह्म सम्पद्यते तदेत्यन्तम् । अस्यार्थः—स्वहृदयकमलं तत्तत्पदभेदेन चातुरात्म्यैरधिष्ठितं स्मृत्वा जाग्रत्पदस्थेनानिरुद्धेन सह आत्मानमेकीभूतं ध्यायन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतवारं जपेत् । एवं तन्मन्त्रजपसामर्थ्याच्च तदीयं ज्ञानं माहात्म्यं च स्वस्यापि संभवति । एवमेकं संवत्सरं योगाभ्यासे कृतेऽनिरुद्धतादात्म्यसमन्वितो भवति । तदनन्तरमनिरुद्धं मन्त्रेण सह प्रद्युम्ने संहृत्य प्रद्युम्नोऽहमिति तादात्म्यभावनां कुर्वन् प्रत्यहं तन्मन्त्रं शतद्वयं जपन् पुनरेकं संवत्सरं नयेत् । एतेन प्रद्युम्नप्रभावो भवति । एवंरीत्या सङ्कर्षणमन्त्रं वासुदेवमन्त्रं स्वप्नव्यूहानिरुद्धादिवासुदेवान्तमन्त्रचतुष्टयं तथा सुषुप्तिव्यूहचतुष्टयं च प्रत्येकमेकैकं संवत्सरं जपवृद्धिक्रमेण तत्तादात्म्यभावनया सहाऽभ्यसन् तत्तन्मन्त्रं तदुत्तरमन्त्रे उपसंहरन् सुषुप्तिव्यूहवासुदेवमपि पूर्वोक्तलक्षणतुर्यस्थाने स्थिते परात्परवासुदेवे उपसंहरन् तत्तादात्म्यभावनया तन्मन्त्रं ध्यातृध्येयाविभागेन यावत्तन्मयत्वं व्रजेत् तावदन्तं ततो जपक्रियां त्यजेत् । एवमभ्यासाद् भगवद्यो(गि?गी) वेद्यवेदकभावरहिते समाधौ यदा स्थितिं लभते, तदा ब्रह्म सम्पद्यते । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । परमसाम्यं भजतीति यावत् । यत्र यत्र योऽयं सोऽहमित्येवंरीत्या तत्तद्व्यूहतादात्म्याश्रयणमप्युक्तम्, तेन स्वस्य तदद्वैतसिद्धिश्च प्रतिपादिता । अत्र सर्वनामस्वरूपैक्यं चिन्तनीयम् । यतः—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं न तेन कृतं पापं चौरेणात्माहारिणा ॥

इत्यन्यथा ज्ञानेन फलवैपरीत्यमुक्तम् । अपि तु तत्र सर्वप्रकारैक्यं बोध्यम्, यतः प्रकारैक्ये चास्ति तत्त्वव्यवहारः—सोऽयं गौरिति ।

ननु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा०उ०६।२।१), 'तत्त्वमसि' (छा०उ० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिशतसिद्धं स्वरूपैक्यमपलपतां युष्माकमेवान्यथा ज्ञानमिति चेत्, ब्रूमः—किमिदानीमस्माभिस्तत्त्वनिर्णयः क्रियते? श्रीमद्भाष्यकारप्रभृतिभिर्निर्णीते विषये किमावयोर्विवादेन । नन्वत्र समाधायात्मनात्मानं सह मन्त्रैस्ततः क्रमादिति, तदभिन्नेन चात्मनेति, तदद्वैतसमन्वितमिति, योऽयं सोऽहमनेनैवाप्यद्वैतेन

सदैव हीति, ध्यातृध्येयाविभागेन यावत्तन्मयतां व्रजेदिति, ब्रह्म सम्पद्यते तदेति च सुस्पष्टं शुद्धाद्वैतमसकृदुपदिश्यते । एतद्वाक्यजातं सर्वमद्वैतमनङ्गीकुर्वतां भवतां विरुद्धम्, भवद्भाष्यादिषु न विचारितं च । अतोऽस्मिन् विषये वयं विप्रतिपद्यामहे, इति चेत्, सत्यम् । स्वशास्त्रतया न तद्वचनजातं भाष्यादिषु(न?) विचारितम्, तथाप्येतत्सजातीय-श्रुतीतिहासपुराणवाक्यानां विचारितत्वादेषामपि चारितार्थ्यं बोध्यम् । विचारितं चैतत् सर्वमपि वेदान्ताचार्यैः पञ्चरात्ररक्षायां द्रष्टव्यम् ॥ २०५-२१४ ॥

अपने हृदयकमल को तत्तत्पद भेद से मध्याह्न सूर्य के समान दीप्तियुक्त शान्त विग्रहों वाले चातुरात्म्य से अधिष्ठित समझ कर जाग्रत्पद पर स्थित अनिरुद्ध के साथ अपनी आत्मा को एकीभूत रूप में ध्यान करते हुए प्रतिदिन अपने अनिरुद्ध मन्त्र का सौ बार जप करे ॥ २०५-२०६ ॥

उस मन्त्र के जप के सामर्थ्य से अनिरुद्ध के साथ तादात्म्य की स्थिति के बन्धन से उनके विषय में सविज्ञान महिमा उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार के अभ्यास से एक संवत्सर पर्यन्त जप करने से प्रद्युम्न का प्रभाव प्रगट होता है । इस प्रकार सङ्कर्षण मन्त्र, वासुदेव मन्त्र, स्वप्न व्यूह के अनिरुद्धादि वासुदेवान्त मन्त्र चतुष्टय तथा सुषुप्तिव्यूह चतुष्टय, इनके एक-एक मन्त्रों को संवत्सर पर्यन्त जपवृद्धि के क्रम से तादात्म्य भावना के साथ अभ्यास करते हुए तत्तन्मन्त्र को तत्तदुत्तर मन्त्र में उपसंहार करते हुए, सुषुप्तिव्यूह वासुदेव को तुर्य स्थान में स्थित परात्पर वासुदेव में उपसंहार करते हुए, उस मन्त्र को ध्याता एवं ध्येय के विभाग से जब तन्मय की स्थिति उत्पन्न हो जावे तब उसके अन्त में जप क्रिया का परित्याग कर देवे । इस प्रकार अभ्यास करने वाला योगी वेद्य-वेदकभाव से रहित जब समाधि की स्थिति प्राप्त कर लेता है तब वह 'ब्रह्म' हो जाता है ॥ २०७-२१४ ॥

ततः श्रमजयं कुर्यात् त्यक्त्वा ध्यानासने क्रमात् ।
समाप्ते शयनस्थश्च कालं रात्रिक्षयावधि ॥ २१५ ॥

एवं योगानुष्ठानानन्तरं पुनर्ब्राह्ममुहूर्तपर्यन्तं विश्राममाह—तत इति ॥ २१५ ॥

तदनन्तर वैष्णव साधक ध्यान एवं आसन का क्रमशः परित्याग करे । फिर शयन कर परिश्रम को दूर करे ॥ २१५ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते सम्प्राप्ते ह्युत्थाय शयनात् ततः ।
स्नात्वाऽभ्यर्च्य जगन्नाथं समिद्दानं समाचरेत् ॥ २१६ ॥
जुहुयाच्च यथाशक्ति ततस्तिलघृतादि यत् ।
ऊनातिरिक्तशान्त्यर्थं सर्वकर्मसमाप्तये ॥ २१७ ॥
दद्यात् पूर्णाहुतिं कृत्वा पूर्ववत् सेचनादिकम् ।
ततो देवं तु पीठस्थं कुण्डस्थमनलं ततः ॥ २१८ ॥

न्यासद्वयं च संहृत्य मनसा च स्वविग्रहात् ।
निःशेषस्योपसंहारं कुर्यादर्घ्यादिकस्य च ॥ २१९ ॥
यागोद्देशात्तथा कुण्डात् स्तराद्यस्याखिलस्य च ।
सहोपलेपनेनैव सर्वमम्भसि निक्षिपेत् ॥ २२० ॥

ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य कर्तव्यक्रमं संक्षेपेणाह—ब्राह्म इति पञ्चभिः । न्यासद्वयं करन्यासाङ्गन्यासयोर्द्वयमित्यर्थः । एवं न्यासोपसंहारानन्तरमनुयागादिकं कार्यम् । तथा च जयाख्ये—

यागस्थानाच्च तिलकं कृत्वा न्यासं स्वविग्रहात् ।
उपसंहृत्य मेधावी कुर्याद् वै भोजनादिकम् ॥
—(१५।२६१) इति ।

लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

अर्घ्याद्यमुपसंहृत्य वर्मास्त्रैः प्रतिगृह्य च ।
उपसंहृत्य च न्यासमनुयागं समाचरेत् ॥ (४०।९४) इति ।

एवं भोजनात् पूर्वं न्यासस्योपसंहृतत्वात् पुनः सायंपूजारम्भे न्यासोऽनुष्ठेय इति ज्ञायते । यद्यपि पारमेश्वरे—

श्रेष्ठः प्रभातकालः स्यात् त्रिषु कालेषु वै पुनः ।
यथावन्मन्त्रविन्यासमात्मनः करदेहयोः ॥
हृद्यागं स्थानसंशुद्धिं सायामां भौतिकीं ततः ।
नित्यं प्राभातिके कुर्यादन्यत्रेच्छानुसारतः ॥ (९।४-५)

इत्युक्तम्, तथापि तन्माध्याह्निकार्चनादिष्वनुपसंहृतन्यासपूजकविषयम् । सायं-पूजारम्भे तु न्यासोऽवश्यमनुष्ठेयः, मध्याह्नानुयागात् पूर्वमेव न्यासस्योसंहृत्वात्, न्यासं विना पूजनानौचित्याच्च ॥ २१६-२२० ॥

रात्रि के बीत जाने पर ब्रह्ममुहूर्त्त उपस्थित हो जाने पर शयन से उठ कर स्नान करे । फिर जगन्नाथ का अर्चन करे तदनन्तर समिधा दान करे ॥ २१६ ॥

तदनन्तर तिल,, घृतादि जो भी वस्तु हो उससे हवन करे । न्यूनाधिक दोष की शान्ति के लिये तथा कर्म की समृद्धि के लिये पूर्ववत् सेचनादि कर्म कर पूर्णाहुति देवे । तदनन्तर अङ्गन्यास तथा करन्यास संक्षेप में कर पीठ पर स्थित देव की तथा कुण्ड स्थित अग्नि को तथा अर्घ्यादिक का उपसंहार करे ॥ २१७-२१९ ॥

यागस्थान से एवं कुण्ड से समस्त संस्तर (= यज्ञ) प्रदेश के उपलेपन के साथ समस्त सामग्री जल में फेंक देवे ॥ २२० ॥

सकृत् त्र्यहं च सप्ताहं पक्षं मासमथापि वा ।
यो यजेद् विधिनाऽनेन भक्तिश्रद्धासमन्वितः ॥ २२१ ॥

सोऽपि यायात् परं स्थानं किं पुनर्योऽत्र संस्थितः ।
यावज्जीवावधिं कालं बद्धकक्ष्यो महामतिः ॥ २२२ ॥

एवमाराधनस्य यथाशक्त्यनुष्ठानेऽपि साफल्यमाह—

सकृदिति द्वाभ्याम् ॥ २२१-२२२ ॥

इत्युक्तं चातुरात्मीयं समासादमलेक्षण ।
सबाह्याभ्यन्तरं सम्यङ्मया ते यजनं शुभम् ॥ २२३ ॥
यज्ज्ञात्वा क्षयमायाति त्वविद्याबीजमक्षयम् ।
अचिरादेव भविनां भक्तानां भावितात्मनाम् ॥ २२४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां चतुरात्म्याराधनं नाम षष्ठः परिच्छेदः ॥ ६ ॥

— ❀ —
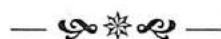
उक्तमर्थं निगमयति—इतीति द्वाभ्याम् ॥ २२३-२२४ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये षष्ठः परिच्छेदः ॥ ६ ॥

— ❀ —
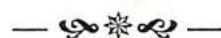
जो साधक यह यजन क्रिया एक दिन, तीन दिन, एक सप्ताह, पक्षभर, मास पर्यन्त भक्तिश्रद्धा से समन्वित हो, इस विधि से सम्पादन करता है, वह भक्त परं पद (विष्णुपद) को प्राप्त करता है । जो बुद्धिमान साधक यावज्जीनावधि कमर कस कर इस याग को सम्पादन करता है उसके विषय में क्या कहा जाय? ॥ २२१-२२२ ॥

हे अमलेक्षण! इस प्रकार संक्षेप में सबाह्यान्तर चतुरात्मीयात्मक कल्याणकारी यजन का सम्यक् प्रतिपादन किया गया । जिसे जान लेने मात्र से भवितात्मा संसारी समस्त भक्तों को अक्षय अविद्याबीज का अल्पकाल में विनाश हो जाता है ॥ २२३-२२४ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के चतुरात्म्याराधन नामक षष्ठ परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ ६ ॥

— ❀ —

सप्तमः परिच्छेदः

अमन्त्रकव्रतविधिः

नारद उवाच

प्रसन्नेनाथ विभुना यदुक्तो लाङ्गली पुनः ।
निःश्रेयसकरं कर्म तदाकर्णयत द्विजाः ॥ १ ॥

अथ सप्तमो व्याख्यास्यते । नारदो मुनीन् प्रति वासुदेवेन सङ्कर्षणायोपदिष्टं व्रताख्यं कर्म शृणुध्वमित्याह—प्रसन्नेनेति ॥ १ ॥

नारद ने कहा—हे मुनिगणो ! प्रसन्न विभु भगवान् ने पुनः सङ्कर्षण को जिस निःश्रेयस कर्म का उपदेश दिया उसे सुनिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु ब्रह्ममयं पुण्यमपुण्यचयदाहकृत् ।
तत्त्वतः प्रतिपन्नानामचिरादेव सिद्धिदम् ॥ २ ॥

भगवान् संकषर्ण प्रत्याह—शृण्विति । पुण्यं पुण्यावहम् । अपुण्यचयदाहकृत् पापविध्वंसकम् । कर्मेत्यनुषङ्गः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे सङ्कर्षण ! जो पुण्यावह कर्म पाप समूहों को जला देने वाला होता है तथा निष्कपट रूप से भगवान् में प्रतिपन्न भक्तों को शीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाला है, उसे सुनिए ॥ २ ॥

व्यूहान्तरस्वरूपप्रतिपादनम्

परं ब्रह्म परं धाम चातुरात्मकमव्ययम् ।
जाग्रत्संज्ञे स्वयं यत्तु पदे व्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ३ ॥
नूनं कर्मात्मतत्त्वानां भवदुःखप्रशान्तये ।
भावमाक्रम्य रूपेण तेन मोक्षप्रदेन च ॥ ४ ॥
ततस्त्वप्ययययोगेन स्वस्वमूर्तिचतुष्टयम् ।
नीत्वा परिणतिं योगादात्मन्यास्ते च पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अनुग्रहार्थं भविनां नानाकृत्या तु वै पुनः ।
देहकान्तिमनुज्झित्य दिक्क्रमेण तु वै सह ॥ ६ ॥
पौरुषेण तु रूपेण प्रत्येकेन त्रिधा त्रिधा ।
वासुदेवादिकेनैव व्यक्तचक्रादिना युतम् ॥ ७ ॥
उत्कृष्टादिगुणाढ्यानामा सृष्टेर्नान्ययाजिनाम् ।
वर्णानां जनकत्वेन व्यक्तिमभ्येति शाश्वतीम् ॥ ८ ॥

पूर्वोक्तं परात्परं नित्योदितव्यूहाख्यं वासुदेवादिचतुष्टयमेव पूर्वोक्तराजग्रद्व्यूह-रूपेणाविर्भूतम, तज्जीवात्मनां संसारखेदनिवृत्त्यर्थं तेनैव रूपेण च व्यक्तीभूय जाग्रत्पदे विदिक्ष्वप्ययक्रमेणावतीर्णं पुरुषादिमूर्तिचतुष्टयं स्वात्मनुसंहृत्य पुनः संसारिणामनुग्रहार्थं प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा वासुदेवः केशवादित्रिकरूपेण, सङ्कर्षणो गोविन्दादित्रिक रूपेण, प्रद्युम्नस्त्रिविक्रमादित्रिकरूपेण, अनिरुद्धो हृषीकेशादित्रिकरूपेण व्यक्तचक्रादिलाञ्छनैः सह भगवदेकान्तिनां पोषकत्वेन शाश्वतीमभिव्यक्तिमभ्येतीत्याह—परं ब्रह्मेति षड्भिः । देहकान्तिमनुज्झित्येत्यनेन जाग्रद्व्यूहवासुदेवादिचतुष्टयस्य पूर्वं यादृशो वर्णभेद उक्तः, केशवादित्रिकचतुष्टस्यापि तादृश एवेत्युक्तं भवति ॥ ३-८ ॥

परात्पर नित्योदित व्यूहाख्य वासुदेवादि चतुष्टय ही पूर्वोक्त जाग्रदादि अवस्थाओं में व्यूहरूप से अन्तविर्भूत, वही जीवात्माओं के संसार रूप खेद की निवृत्ति के लिये, उसी रूप से प्रगट होकर जाग्रत्पद में, कोणों में, अव्यय क्रम से आविर्भूत होता है और पुरुषादि चतुष्टय को अपने में उपसंहृत कर पुनः संसारी जीवों के कल्याण के लिये प्रत्येक व्यूह तीन-तीन रूपों में विभक्त हो ज़ाता है । वासुदेव केशवादि तीन रूपों में, सङ्कर्षण गोविन्दादि त्रिक रूप में, प्रद्युम्न त्रिविक्रमादि तीन रूप में और अनिरुद्ध हृषीकेशादि तीन रूपों में व्यक्त चक्रादि चिह्नों के साथ भगवद् भक्तों का पोषक होकर शाश्वती अभिव्यक्ति के रूप में वही प्रगट होता है । जिस प्रकार जाग्रद व्यूह वासुदेवादि चतुष्टय में पहले जैसा वर्णभेद कहा गया है, केशवादि त्रिक चतुष्टय में भी उसी प्रकार का वर्ण भेद विद्यमान रहता है ॥ ३-८ ॥

व्यूहान्तराभिव्यक्तिप्रयोजनम्

यां समालम्ब्य संसारादचिरादेव यान्ति च ।
सुप्रबुन्द्धः परं धाम दानधर्मव्रतादिना ॥ ९ ॥

एवं केशवादिरूपेणाभिव्यक्तेः प्रयोजनमाह—यामिति ॥ ९ ॥

अब केशवादिरूप से अपनी अभिव्यक्ति का कारण कहते हैं—जिसका आश्रय लेकर सुप्रबुद्धजन दान एवं धर्म का आचरण करने से शीघ्र ही परंधाम को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ९ ॥

व्रतारम्भकर्तव्यतानिरूपणम्

कर्तव्यमिति वै कर्म त्वैश्वर्यं यः समाचरेत् ।
भक्त्या व्रतच्छलेनैव तस्यायं विहितः क्रमः ॥ १० ॥

अतो वासुदेवादीनां केशवादीनां च प्रीणनव्रतानुष्ठानक्रमो वक्ष्यत इत्याह— कर्तव्यमितीति । ऐश्वर्यम् ईश्वरसम्बन्धि, तत्प्रीणनमित्यर्थः । यद्वा ऐहलौकिकैश्वर्यादि-सम्पादकमित्यर्थः । उभयथा कर्मणो विशेषणम् ॥ १० ॥

अब वासुदेवादि तथा केशवादिकों को प्रसन्न करने के लिये व्रतानुष्ठान का क्रम कहते हैं—जो वैष्णव ऐहलौकिक ऐश्वर्यादि के सम्पादन करने वाले, कर्म एवं भक्ति से अथवा व्रतादि के बहाने से भी व्रतानुष्ठान करता है उसके लिये यह विहित कर्म है ॥ १० ॥

कार्तिकस्य दशम्यां तु मासस्य तु निशागमे ।
घृतेन पञ्चगव्येन बिम्बपादाम्भसा तु वा ॥ ११ ॥
कृत्वा स्वकोष्ठसंशुद्धिं निस्सृत्योदरगं मलम् ।
स्मरन् प्रभुं समाचम्य पाणौ कृत्वा कुशोदकम् ॥ १२ ॥
तत्क्षेपपूर्वं सङ्कल्प आवर्तव्यो व्रतं प्रति ।
ॐ व्रताधिपतये देव नित्यनिर्मलमूर्तये ॥ १३ ॥
वत्सरं परिपीडैस्तु त्वामहं तोषयाम्यजम् ।

दशम्यां सायंकाले पञ्चगव्या(द्य)न्यतमप्राशनेन स्वशरीरशुद्धिमाचमनप्राणायामौ कुशोदकप्रक्षेपपूर्वकं संकल्पं चाह—कार्तिकस्येति सार्धद्वाभ्याम् । घृतेन पञ्चगव्येन बिम्बपादाम्भसा तु वेत्यत्रोत्तरोत्तरं श्रेष्ठं सम्बोध्यम् । तथा च सच्चरित्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे ब्रह्माण्डे—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तेषु स्नातेषु यत्फलम् ।
विष्णोः पादोदकं मूर्ध्नि धारयेत् सर्वमाप्नुयात् ॥
मानवो यस्तु गङ्गायां स्नानं पानं समाचरेत् ।
तस्य यादृग् भवेत् पुण्यं तादृक् पादाम्बुधारणात् ॥
त्रिषु लोकेषु यत्तीर्थं प्रयागं पुष्करादिकम् ।
तत्पादयुग्मे कृष्णस्य तत्र तिष्ठति नित्यशः ॥

श्रीभागवते—

पादोदकस्य माहात्म्यं जानात्येव हि शङ्करः ।
विष्णुपादोद्भवां गङ्गां शिरसा धारयन् हि सः ॥
प्रायश्चित्तमनुप्राप्तः कृच्छ्रं वाप्यघमर्षणम् ।
विष्णुपादोदकं पीत्वा शुद्धिमाप्नोति तत्क्षणात् ॥ (पृ० ११०)

इत्यादि । एतदलाभे पञ्चगव्यम्, तस्याप्यलाभे घृतं वा ग्राह्यमिति भावः । तथा च पाद्मे स्नपनाध्याये—

अलाभे पञ्चगव्यानां घृतमेवैकमिष्यते ।
पञ्चगव्येषु यस्य स्यादलाभस्तत्कृते घृतम् ॥ इति ॥

प्रभुं स्मरन् उदरगं मलं निस्सृत्येत्यनेन प्राणायामः सूच्यते यथा, तथा वक्ष्यति प्राणायामं नृसिंहकल्पपरिच्छेदे—

नाभिदेशस्थितं ध्यात्वा देवं संगृह्य कल्मषम् ।
निस्सृतं वायुमार्गेण द्वादशान्तावधौ क्षिपेत् ॥
निरस्तपापमाकृष्य वातचक्रसमन्वितम् ।
नासाग्रेण तु मन्त्रेशं देहसम्पूरणाय च ॥
तं ध्यायेद् हृदयस्थं च गतिरुद्धेन वायुना । (१७।१८-२०)

इति ॥ ११-१३ ॥
संकल्पमन्त्रमाह—ॐ व्रताधिपतय इति ।
परिपीडैः, उपवासैरित्यर्थः ॥ १३-१४ ॥

कार्त्तिक महीने की दशमी तिथि को सायङ्काल के समय घृत से, पञ्चगव्य से, अथवा बिम्ब के पादोदक से, अपने कोष्ठ की संशुद्धि करे और भीतर का पाप बाहर निकाल देवे । प्रभु का स्मरण करते हुए हाथ में कुशोदक का जल लेकर उसे शरीर पर छिड़के, फिर आचमन करे ॥ ११-१२ ॥

फिर व्रत के लिये संकल्प करे । अब संकल्प का मन्त्र कहते हैं—'ॐ व्रताधिपतये देव....त्वामहं तोषयाम्यजम्' (यह संकल्प का स्वरूप है । संकल्प में आये हुए 'परिपीडैः' का अर्थ 'उपवासों के द्वारा' है) ॥ १३-१४ ॥

प्रयतो दर्भशय्यायां क्ष्मातले रजनीं नयेत् ॥ १४ ॥
एकादश्यां प्रभातेऽथ स्नात्वा देवमधोक्षजम् ।
ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथापूर्वं नानानामान्तरैः शुभैः ॥ १५ ॥

एवं संकल्पानन्तरं तस्यां रात्रौ केवलभूतले कुशोपरि शयनमाह—प्रयत इत्यर्धेन । एकादशीप्रभातकृत्यमाह—एकादश्यामिति । नानानामान्तरैः सहस्रनामादिभिरित्यर्थः । स्तुत्वेति शेषः ॥ १४-१५ ॥

तदनन्तर कुशा के बिस्तर पर रात बितावै । प्रातःकाल एकादशी के दिन स्नान कर देवाधिदेव अधोक्षज भगवान् विष्णु का ध्यान कर उनके कल्याणकारी एवं अनेक भिन्न-भिन्न नामों से पूर्व की भाँति उनकी अर्चना करे ॥ १४-१५ ॥

वासुदेवस्य लाञ्छन ध्यानप्रकारकथनम्

कराभ्यां लम्बमानाभ्यां संस्थितौ दक्षिणादितः ।

पद्मशङ्खौ सुशोभाढ्यौ यथा तदवधारय॥ १६ ॥
तर्जनीमध्यमाभ्यां तु नम्राभ्यां मध्यतः स्थितम्।
निषण्णं तलपर्यन्ते शङ्खमूर्ध्वमुखं शुभम्॥ १७ ॥
सनालं कमलं तद्वत् सितं विकसितं तु वै।
मणिबन्धादतिक्रान्तं किञ्चिच्छेषलतागणम्॥ १८ ॥
लम्बमानमधोवक्त्रं साङ्गुष्ठं संस्मरेद् विभोः।

वासुदेवस्य लाञ्छनध्यानप्रकारमाह—कराभ्यामिति सार्धैस्त्रिभिः । लम्बमान-दक्षिणहस्ते तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां संगृहीतं तलप्रदेशेऽधोमुखं स्थितं शङ्खवत् सितं विकसितं मणिबन्धादतिक्रान्तं किञ्चिच्छेषलतागणं सनालं कमलं तथा वामहस्ते नम्राभ्यां तर्जनीमध्यमाभ्यां मध्यतो गृहीतं तलप्रदेशे ऊर्ध्वमुखं स्थितं शङ्खं च ध्यायेदित्यर्थः ।

ननु जाग्रद्व्यूहवासुदेवस्य पूर्वं चतुर्भुजत्वमुक्तम्, इदानीं लाञ्छनद्वयमात्रस्योक्त्या द्विभुजत्वमेव ज्ञायत इति चेत्, किं तावता भवतो विरोधः, उभयथापि लक्षणं स्यात्॥ १६-१९ ॥

अब भगवान् वासुदेव का शङ्खादि से युक्त सलाञ्छन ध्यान का प्रकार कहते हैं—हे सङ्कर्षण ! भगवान् जिस प्रकार अपने लम्बे-लम्बे हाथों में दक्षिण के क्रम से शोभायुक्त कमल और शङ्ख धारण किये हुए हैं, उसे सुनिये ॥ १६ ॥

लम्बे दाहिने हाथ में तर्जनी एवं अङ्गुष्ठ से पकड़कर तलप्रदेश में अधोमुख स्थित शङ्ख के समान उज्ज्वल एवं विकसित, कुछ-कुछ शेषलतागण समन्वित एवं सनाल कमल का तथा बायें हाथ में नीचे की ओर तर्जनी एवं मध्यमा अङ्गुलियों के मध्य में गृहीत तलप्रदेश में ऊर्ध्व मुख स्थित शङ्ख धारण किये हुए भगवान् का स्मरण करे ॥ १७-१९ ॥

होमान्तमखिलं कृत्वा ध्यायेदनिमिषस्ततः॥ १९ ॥
दिनमध्येऽर्चनं कुर्याद् दिनान्ते स्नानवर्जितम्।
महार्थैर्विविधैः स्तोत्रैर्गीतवाद्यसमन्वितैः॥ २० ॥
निशां नीत्वा प्रभातेऽथ स्नानपूर्वमजं यजेत्।
चतुरात्मानमव्यक्तमनुयागान्तकर्मणा ॥ २१ ॥
उदितेऽथ निशानाथे चास्तं याते दिवाकरे।
क्षान्त्यर्थमर्चनं कुर्याद् दण्डवत् प्रणमेत् क्षितौ॥ २२ ॥
चतुर्धा वै चतुर्दिक्षु ततः कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
एकैकस्याग्र उच्चार्य चतुर्धा तु पदं पदम्॥ २३ ॥
तद्वाचकांस्तोत्रमन्त्रांस्ततः कृत्वा स्वभावगम्।
तद्व्यक्तिव्यञ्जकेनैव सह वाक्यगणेन तु॥ २४ ॥

ततो होमान्तं सर्वं कृत्वा पुनस्तमेव ध्यायन् प्राप्ते मध्याह्ने यथाविध्यर्चनं कृत्वा सायन्तनार्चनं तु स्नपनवर्जितं कृत्वा गम्भीरार्थगर्भितविविधस्तोत्रगीतवाद्यादिभिः सह तां निशां जागरेण नीत्वा द्वादश्यां प्रभाते स्नानपूर्वकं यथाविधि चतुरात्मानं प्रभुं सम-भ्यर्च्य पारणान्तं कृत्वा सायन्तनार्चनं च कृत्वाऽपराधक्षमापणं कुर्वन् चतुर्दिक्षु चतुर्वारं दण्डवत् प्रणम्य चतुर्वारं प्रदक्षिणं कुर्वन् एकैकस्याग्रतः स्थित्वा तत्तद्वाचकस्तोत्र-मन्त्रवाक्यादीनि पठेदिति प्रयोगपद्धतिमाह—होमान्तमित्यादिभिः ॥ १९-२४ ॥

तदनन्तर होमान्त सभी कर्म करते हुए ध्यान करे । मध्याह्न होने पर यथाविधि अर्चन करे । पुनः सायङ्काल का अर्चन स्नान के बिना ही सम्पादन कर, गम्भीरार्थ-गर्भित, विविध स्तोत्र, गीत एवं वाद्यादि से उस रात को जागते हुए व्यतीत कर देवे । फिर द्वादशी को प्रभातकाल में यथाविधि चतुरात्मा प्रभु की पूजा कर पारण करे और सायंकाल की पूजा करे । अपराध के लिये क्षमा माँगे और चारों दिशाओं में चार बार दण्डवत् करे । चार बार प्रदक्षिणा कर एक-एक के आगे स्थित होकर तद्वाचक स्तोत्र मन्त्र वाक्यादि पढ़े ॥ १९-२४ ॥

वासुदेवादीनां जितन्तामन्त्रचतुष्टयम्

जितं ते पुण्डरीकाक्ष वासुदेवामितद्युते ।
रागदोषादिनिर्मुक्तो समस्तगुणमूर्तिमान् ॥ २५ ॥
नाथ ज्ञानबलोत्कृष्ट नमस्ते विश्वभावन ।
सङ्कर्षण विशालाक्ष सर्वज्ञ परमेश्वर ॥ २६ ॥
देव ऐश्वर्यवीर्यात्मन् प्रद्युम्न जगतांपते ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश सर्वेश्वर जगन्मय ॥ २७ ॥
स्थित्युत्पत्तिलयत्राणहेतवे शक्तितेजसे ।
जयानिरुद्ध भगवन् महापुरुष पूर्वज ॥ २८ ॥

वासुदेवादीनां जितन्तादिस्तोत्रमन्त्रचतुष्टयं स्वयमेवाह—जितं त इति चतुर्भिः । अत्र प्रथमश्लोके प्रथमं पादम्, द्वितीये द्वितीयम्, तृतीये तृतीयम्, चतुर्थे चतुर्थं च संगृह्यैकश्लोकरूपेण लक्ष्मीतन्त्र (२४।६९) पाद्मादिषु प्रतिपादितम् । तस्याष्टा-क्षरादिव्यापकत्वं चोक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

पदमन्त्रास्त्रयोऽस्य स्युर्विधाने पाञ्चरात्रिके ॥
विष्णवे नम इत्येवं नमो नारायणाय च ।
नमो भगवते पूर्वं वासुदेवाय चेत्यपि ॥
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥
पदमन्त्रश्चतुर्थोऽयं प्रणवस्य पुरन्दर ।
ओङ्कारसहितानेतान् मन्त्रान् पूर्वविदो विदुः ॥......

केवलस्तारकश्चैव चत्वारश्च तदादिकाः ।
पञ्चैते व्यापका मन्त्राः पञ्चरात्रे प्रकीर्तिताः ॥ इति ॥
—(२४।६७-७०, ७४)

इतोऽप्यधिकं पाद्मादिषु प्रतिपादितं स्तोत्रश्लोकजातमेतद् जितन्ताख्य-मन्त्रस्यार्थविवरणरूपं बोध्यम् । जितन्ताख्यमन्त्रव्याख्यानमहिर्बुध्न्यसंहितायामुक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २५-२८ ॥

अब वासुदेवादिकों के जितन्तादि स्तोत्र तथा मन्त्र चतुष्टय को स्वयं कहते हैं—हे वासुदेव, हे अमितद्युति वाले ! हे पुण्डरीकाक्ष ! आप की जय हो, आप रागदोषादि से रहित हैं । आप **वासुदेव** समस्त गुणों के मूर्तिमान् स्वरूप हैं । हे नाथ, हे ज्ञानबलोत्कृष्ट, हे विश्वभावन, आप को नमस्कार है ॥ २५-२६ ॥

हे विशालाक्ष ! हे सर्वज्ञ ! हे परमेश्वर ! आप **सङ्कर्षण** को नमस्कार है । हे देव ! ऐश्वर्य, वीर्यवान्, प्रद्युम्न जगत् के पालक आप को नमस्कार है । हे हृषीकेश हे सर्वेश्वर हे जगन्मय आप **प्रद्युम्न** को नमस्कार है ॥ २६-२७ ॥

जगत् की स्थिति एवं उत्पत्ति, लय एवं त्राण करने में कारणभूत, शक्ति तेज स्वरूप हे भगवन्, हे महापुरुष, हे पूर्वज, हे **अनिरुद्ध** आपकी जय हो ॥ २८ ॥

विधिनानेन वै कार्यं पक्षयोरुभयोरपि ।
अब्दान्तमर्चनं विष्णोर्निष्कामेनाग्रजन्मना ॥ २९ ॥

एवं प्रतिमासं पक्षद्वयेऽपि दशम्यां पञ्चगव्यप्राशननियमपूर्वकमुपवासं जागरणं द्वादश्यां व्रताराधनपूर्वकं पारणं सायमपराधक्षमापणार्थमर्चनादिकं च कुर्वन् संवत्सरान्तं ब्राह्मणो निष्कामं यथा व्रतं कुर्यादित्याह—विधिनेति ॥ २९ ॥

प्रतिमास दोनों पक्षों में दशमी को पञ्चगव्य प्राशन एवं नियमपूर्वक एकादशी को उपवास, जागरण करके द्वादशी को व्रताराधनपूर्वक पारण करे । फिर सायंकाल अपराध क्षमापणार्थ, अर्चनादि करते हुए साधक ब्राह्मण निष्काम रूप से इस व्रत को एक साल तक करे ॥ २९ ॥

चातुरात्म्याराधने वर्णानां क्रमः

एवं सङ्कर्षणाद्यं तु वासुदेवान्तमर्चनम् ।
विहितं क्षत्रजातेर्वै कर्तव्यत्वेन सर्वदा ॥ ३० ॥
प्रद्युम्नाद्यं तु वैश्यस्य मुसल्यन्तमुदाहृतम् ।
सच्छूद्रस्यानिरुद्धाद्यं प्रद्युम्नान्तं सदैव हि ॥ ३१ ॥

क्षत्रियस्य विशेषमाह—एवमिति । वैश्य विशेषमाह—प्रद्युम्नाद्यमित्यर्धेन । मुसल्यन्तं सङ्कर्षणान्तमित्यर्थः । शूद्रस्य विशेषमाह—सच्छूद्रस्येत्यर्धेन ॥ ३०-३१ ॥

अब क्षत्रिय के लिये विशेष कहते हैं—क्षत्रिय जाति के लिये सङ्कर्षण से

लेकर इसी प्रकार सर्वदा संवत्सर पर्यन्त वासुदेवान्त अर्चन विहित है ॥ ३० ॥

वैश्य के लिये प्रद्युम्न से प्रारम्भ कर सङ्कर्षण पर्यन्त संवत्सर तक व्रत का विधान है और सच्छूद्र साधक के लिये अनिरुद्ध से अलग कर प्रद्युम्नान्त व्रत का विधान है ॥ ३१ ॥

सङ्कर्षणादीनां लाञ्छनध्यानप्रकारकथनम्

मूर्तीनां ध्यानकाले तु विशेषमवधारय ।
सङ्कर्षणेऽब्जवद् रम्यां दक्षिणे तु करे गदाम् ॥ ३२ ॥
गृहीतां चिन्तयेन्मध्यादधोवक्त्रेण पाणिना ।
अङ्गुलिद्वितयेनैव त्वङ्गुष्ठाद्येन लीलया ॥ ३३ ॥
प्राग्वद् वामकरे पद्मं प्रद्युम्नस्य निबोधतु ।
दक्षिणे हेतिराट् तद्वदङ्गुलिद्वितयोपरि ॥ ३४ ॥
पूर्ववत् कमलं वामे चतुर्थस्याधुनोच्यते ।
आदिवद् दक्षिणे पद्मं गदा वामे यथोदिता ॥ ३५ ॥
इति प्रथममूर्तीनां ध्यानमुक्तं तु सार्चनम् ।
नित्यनैमित्तिकार्थं तु निःश्रेयसपदाप्तये ॥ ३६ ॥

पूर्वं वासुदेवलाञ्छनध्यानमात्रस्योक्तत्वादिदानीं सङ्कर्षणादीनां लाञ्छनभेदध्यानमाह—मूर्तीनामित्यारभ्य निःश्रेयसपदाप्तय इत्यन्तम् । अब्जवदित्यनेन पूर्वं वासुदेवस्य दक्षिणकरेऽब्जस्य यादृशः सन्निवेशो यादृशो धारणप्रकारश्चोक्तः, इदानीं सङ्कर्षणस्य दक्षिणे करे गदाया अपि तादृश इति बोध्यते, अधोवक्त्रेण लम्बमानेनेत्यर्थः । अङ्गुष्ठाद्येन अङ्गुलीद्वितयेन, तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यामित्यर्थः । प्राग्वदित्यनेन वासुदेवकमलदधोमुखत्वादिकमुच्यते ॥ ३२-३६ ॥

अब मूर्त्तियों के ध्यान काल में जो विशेषताएं हैं हे सङ्कर्षण ! उसे आप सुनिये । सङ्कर्षण के दाहिने हाथ में, वासुदेव के दाहिने हाथ में जिस प्रकार कमल का सन्निवेश तथा धारण का प्रकार है, उसी प्रकार सङ्कर्षण के हाथ में गदा है जिसे उन्होंने हाथ को नीचा कर मध्य में ग्रहण किया है । वह बायें हाथ के अंगूठे से लेकर दो अङ्गुलियों में लीलापूर्वक कमल धारण किये हुए हैं इस प्रकार सङ्कर्षण का ध्यान करे ॥ ३२-३४ ॥

अब प्रद्युम्न की विशेषता कहते हैं—दाहिने हाथ में दो अङ्गुलियों पर चक्र धारण किये हुए हैं तथा बायें हाथ में पूर्ववत् कमल धारण किये हुए हैं ऐसे प्रद्युम्न का ध्यान करे । अब चतुर्थ अनिरुद्ध के ध्यान का प्रकार कहते हैं—दक्षिण हाथ में पहले की तरह कमल तथा बायें हाथ से पूर्ववत् गदा धारण किये हुए अनिरुद्ध का ध्यान करे ॥ ३२-३५ ॥

इस प्रकार यहाँ पर नित्य एवं नैमित्तिक कार्य के लिये तथा नि:श्रेयस प्राप्ति के लिये प्रथम मूर्त्तियों का सार्चन ध्यान कहा गया है ॥ ३६ ॥

केवलमुमुक्षुभिरनुष्ठेयं व्रते विशेषविधिः

भक्तिपूर्वात् तु कैवल्याद् यत्नेनाभ्यर्थयन्ति ये।
वर्णा विप्रादयस्तेषां व्रताचरणमुच्यते॥ ३७ ॥
श्रावणस्य दशम्यां तु सर्वं पूर्वोक्तमाचरेत्।
कृत्वा कुशोदकाभ्यङ्गं स्मरन् देवमिदं पठेत्॥ ३८ ॥
सर्वभूतमयाऽनादे यच्छ मे परमं पदम्।
छिन्धि सांसारिकान् बन्धानज्ञानतिमिरं हर॥ ३९ ॥
ततो ध्यात्वा यजन् देवं चतुर्मूर्तिं तु पूर्ववत्।
गौणमुख्यैर्महच्छब्दैर्जितन्ताद्यैः पदैस्ततः॥ ४० ॥
व्यस्तैस्ततः समस्तैश्चाप्येकैकं पुनरेव हि।
वाच्यभेदोक्तियोगेन समस्तेनान्यथात्मना॥ ४१ ॥
इत्यर्चनं क्रमात् कुर्यान्मूर्तेर्मूर्तिर्महामते।
प्रणिपातादिकं सर्वमावर्तव्यं यथास्थितम्॥ ४२ ॥
तुर्यान्तं मौद्गलान्तैस्तु मोक्षैकफललम्पटैः।
विन्यासं लाञ्छनानां तु ग्रहणेनान्वितं शृणु॥ ४३ ॥
अस्मिन् व्रते चतुर्णां तु देवानां वस्तुसूचनम्।
तिर्यक् स्वपक्षदेशाभ्यां स्तनाख्यान्मण्डलाद् बहिः ॥ ४४ ॥
दक्षिणे तु गदाद्यस्य स्पष्टमुष्टिगता भवेत्।
वामेन कुक्षिकुहरात् समाक्रान्तश्च शङ्खराट्॥ ४५ ॥
परिधेर्बाह्यतोऽङ्गुष्ठं निषण्णं सर्वदा स्मरेत्।
मुख्यहस्ते द्वितीयस्य ध्येयः शङ्खवरस्तथा॥ ४६ ॥
चक्रमङ्गुष्ठ ऊर्ध्वस्थं वामहस्ते समुष्टिके।
प्रद्युम्नस्य गदा वामे शब्दपूर्णस्तु दक्षिणे॥ ४७ ॥
दक्षिणे त्वनिरुद्धस्य कमलं सूर्यवर्चसम्।
वामतर्जनिगं चक्रं त्रिष्वङ्गुष्ठं स्मरेत् स्थितम्॥ ४८ ॥
एवं यथास्थिताद् ध्यानात् फलमाप्नोति साधकः।

अथ केवलमुमुक्षुभिरनुष्ठेयव्रते कालभेदं संकल्पश्लोकानन्तरं लाञ्छनन्यास-ध्यानभेदं चाह—भक्तिपूर्वादित्युपक्रम्य फलमाप्नोति साधक इत्यन्तम् । तुर्यान्तम् अनिरुद्धान्तम् । मौद्गलान्तैः शूद्रान्तैरित्यर्थः । दक्षिणे तु गदाद्यस्येत्यत्र आद्यस्य

वासुदेवस्येत्यर्थः । तिर्यक् स्वपक्षदेशाभ्यां स्तनाख्यान्मण्डलाद् बहिः = पार्श्वद्वयेऽपि वक्षस्थलाद् बहिरित्यर्थः । तत्सम इति यावत् । मुख्यहस्ते = दक्षिणहस्त इति यावत् । द्वितीयस्य = सङ्कर्षणस्य । तथा = वासुदेवहस्तवदित्यर्थः । शब्दपूर्णः = शङ्खः । त्रिषु = तर्जन्यादिष्वित्यर्थः ॥ ३७-४९ ॥

अब केवल मुमुक्षुओं के अनुष्ठेय व्रत में काल भेद और लाञ्छन (चिह्न) तथा न्यास भेद भक्तिपूर्वात् से आरम्भ कर..........फलमाप्नोति साधकः पर्यन्त श्लोकों से (७.३७-७.४९) कहते हैं—जो ब्राह्मणादि वर्ण भक्तिपूर्वक कैवल्य से यत्न द्वारा भगवान् की प्रार्थना करते हैं अब उनके लिये विशेष रूप से व्रताचरण का प्रकार कहते हैं ॥ ३७ ॥

श्रावण की दशमी को पूर्वोक्त सभी विधि सम्पादन करे । फिर कुशोदक का अभ्यङ्ग (प्रोक्षण) कर भगवान् का स्मरण करते हुए 'सर्वभूतमयाऽनादे ...... तिमिरं हर' इस श्लोक से प्रार्थना करे ॥ ३८-३९ ॥

इस प्रकार प्रार्थना के बाद ध्यान करते हुए पूर्ववत् चतुर्मूर्त्ति देव का यजन करते हुए गौण एवं मुख्य महत्त्व वाले जितन्तादि पदों से, पहले व्यस्त (= अलग-अलग), इसके बाद संक्षेप में (एक-एक समस्त श्लोकों को वाच्य भेदोक्ति के योग से अथवा एक-एक श्लोकों से) हे महामते ! मूर्त्ति की अर्चना करे । प्रणिपातादि सभी कार्य पहले की तरह आवर्त्तन करे ॥ ४०-४२ ॥

अब मोक्षमात्र के फल की इच्छा रखने वाले शूद्रान्त सभी वर्णों को लाञ्छन अनिरुद्धान्त सहित विन्यास जिस प्रकार करना चाहिये, उसे सुनिये ॥ ४०-४३ ॥

भगवान् वासुदेव के (तिर्यक् स्तनाख्यान् मण्डलात् बहिः) वक्षःस्थल के समान दाहिने हाथ की मुठ्ठी में गदा तथा कुक्षिकुहर से बाहर बायें हाथ से समाक्रान्त अँगूठे पर स्थित पाञ्चजन्य का स्मरण करे । इसके बाद द्वितीय सङ्कर्षण के दाहिने हाथ में स्थित श्रेष्ठ शंख का ध्यान करे और मुष्टी सहित बायें हाथ के अँगूठे के ऊपर स्थित चक्र का ध्यान करे । इसी प्रकार प्रद्युम्न के बायीं ओर गदा तथा दक्षिण शब्द पूर्ण शङ्ख का स्मरण करे ॥ ४४-४७ ॥

अनिरुद्ध के दाहिने हाथ में सूर्य के समान तेजस्वी कमल तथा बायें हाथ की तर्जनी, मध्यमा एवं अङ्गुष्ठ इन तीन अङ्गुलियों पर स्थित चक्र का ध्यान करना चाहिए ॥ ४८-४९ ॥

निष्कामैः सकामैश्च देयानि द्रव्याणि

सक्षीरमन्नपात्रं तु विहितं मासि मासि च ॥ ४९ ॥
दानार्थं व्रतपर्यन्ते हेमरत्नतिलान्वितम् ।
निष्कामव्रतिनां नित्यमन्ते गोदानमेव च ॥ ५० ॥

निष्कामानां व्रते प्रतिमासं कर्तव्यदानद्रव्यं संवत्सरान्ते देयद्रव्याणि चाह-- सक्षीरमिति सार्धेन ॥ ४९-५० ॥

इस प्रकार ऊपर कहे गये के अनुसार चातुराम्य स्वरूप का ध्यान करने से साधक फल प्राप्त करता है । कामनारहित व्रत करने वालों के लिये प्रतिमास तथा संवत्सरान्त देय द्रव्य कहते हैं—निष्काम व्रती मास-मास में दूध सहित अन्न पात्र दान देवे तथा व्रत के अन्त में तिल के सहित सुवर्ण एवं रत्न देवे और गोदान करे ॥ ४९-५० ॥

प्रतिमासं सकामानां दधिपात्रं च सोदनम् ।
फलानि हेमयुक्तानि त्वन्ते भूदानमेव च ॥ ५१ ॥
तिलान्युदककुम्भं च पत्रपुष्पादिनार्चनम् ।
यथाशक्ति दरिद्राणां हिरण्यं गोसमं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

तथा सकामानां देयद्रव्याण्याह—प्रतिमासमिति सार्धेन । अशक्तानां तु गोदान-भूदानप्रत्याम्नायत्वेन यथाशक्ति हिरण्यदानमाह—दरिद्राणामित्यर्धेन । गोसममित्यत्र गोशब्देन भूमिरप्युच्यते ॥ ५१-५२ ॥

सकाम व्रत करने वाले साधक प्रतिमास ओदन सहित दधिपात्र देवें एवं सुवर्णयुक्त फल देवें । अन्त में भूदान करें ॥ ५१ ॥

साधनहीन दरिद्र यथाशक्ति पत्रपुष्पादि से ही अर्चन करें । वह तिल एवं उदक सहित कुम्भ देवे, उसके लिये हिरण्य ही भूदान के समान है ॥ ५२ ॥

दानेऽर्चने तु शूद्राणां व्रतकर्मणि सर्वदा ।
असिद्धान्नं तु विहितं सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छया ॥ ५३ ॥

शूद्रैस्तु व्रतान्तेऽपक्वान्नं देयम्, सत्यां ब्राह्मणानुज्ञायां पक्वान्नं वा देयमित्याह— दान इति । "आर्याध्युषिताः शूद्राः कुर्युः" (आ० ध० २।३।४) इति ब्राह्मणानुज्ञया शूद्राणामपि पाकाधिकारविधानात् सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छयेत्युक्तमविरुद्धं ज्ञेयम् । एवं स्वस्ववर्णाश्रमधर्माविरुद्धमेवाराधनं कार्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

शूद्रों के लिये व्रत कर्म में दान और अर्चन के विषय में असिद्ध अन्न का विधान कहा गया है, अथवा ब्राह्मण की इच्छानुसार सिद्ध (पके हुए) अन्न का दान भी किया जा सकता है ॥ ५३ ॥

स्वकर्मणा यथोत्कर्षमभ्येति न तथार्चनात् ।
तस्मात् स्वेनाधिकारेण कुर्यादाराधनं सदा ॥ ५४ ॥

सहेतुकमाह—स्वकर्मणेति ॥ ५४ ॥

शूद्र भगवान् के पूजन से उतना उत्कर्ष नहीं प्राप्त करता है जितना अपने

कर्म से वह उत्कर्ष प्राप्त करता है । इसलिये अपने अधिकार में रह कर वह सर्वदा भगवदाराधन करे ॥ ५४ ॥

सर्वत्राधिकृतो विप्रो वासुदेवादिपूजने ।
यथा तथा न क्षत्राद्यास्तस्माच्छास्त्रोक्तमाचरेत् ॥ ५५ ॥

भगवदाराधने ब्राह्मणवत् (न) क्षत्रियादीनामपि सर्वत्राधिकारोऽस्ति, अतो यथाधिकारमनुष्ठेयमित्याह—सर्वत्रेति ॥ ५५ ॥

वासुदेव के पूजन में सर्वत्र ब्राह्मण का जैसा अधिकार है, वैसा अधिकार क्षत्रियादि वर्णों का नहीं है । इसलिये शास्त्रोक्त वचन का पालन करे ॥ ५५ ॥

नयेन्नक्ताशनैर्भक्त्या दिनान्येतानि मौद्गलः ।
व्रताद्यन्ते तु विहितं परिपीडं हि तस्य वै ॥ ५६ ॥

शूद्रस्य प्रतिपक्षमेकादश्यां नक्ताशनम्, व्रताद्यन्तैकादश्योरेवोपवास इत्याह—नयेदिति ॥ ५६ ॥

शूद्र प्रतिपक्ष की एकादशी के दिन रात्रि में भोजन करे और भक्तिभावपूर्वक दिन बितावे । व्रत के अन्त में उसे उपवास न करने का विधान है ॥ ५६ ॥

द्वादशवार्षिकव्रतविधानम्

यथाभिमतमासाद् वै समारभ्य क्रमेण तु ।
इतिकर्तव्यतासक्तैर्मोक्षकामैस्तु चाग्रजैः ॥ ५७ ॥
दशम्यां चैव सङ्कल्पः कार्यो द्वादशवार्षिकः ।
प्राग्वदब्दं तु सम्पूर्य दानेर्मासानुमासिकैः ॥ ५८ ॥
व्रतेश्वरं जगन्नाथं प्रीणयेद् वत्सरे गते ।
पुनरारम्भमासाच्च त्वग्र्यमासस्य तद्दिनात् ॥ ५९ ॥
आरभ्य वत्सरं प्राग्वत् पूजयेत् प्रीणयेत् प्रभुम् ।
क्रमेणानेन सम्पाद्य द्वादशाब्दं व्रतं महत् ॥ ६० ॥
तदन्ते तु यथाशक्त्या दानेर्वस्त्रानुलेपनैः ।
द्विषट्कं ब्राह्मणानां तु यष्टव्यमधिकारिणा ॥ ६१ ॥

अथ ब्राह्मणस्य द्वादशवार्षिकं व्रतान्तरमाह—यथाभिमतमासादित्यारभ्य यष्टव्यमधिकारिणेत्यन्तम् । पूर्वोक्तैरित्यर्थः । पूर्वं प्रतिमासं यद्दानं विहितं तदत्र प्रतिसंवत्सरं कार्यम् । संवत्सरान्तविहितदानं त्वत्र द्वादशवर्षान्ते कार्यमित्यर्थः ॥ ५७-६१ ॥

इतिकर्त्तव्यता में सम एवं मोक्ष की कामना वाला ब्राह्मण यथाभिमत मास से व्रत आरम्भ करे । यथाभिमत मास पक्ष में दशमी तिथि को द्वादश वार्षिक व्रत का

संकल्प लेवे । फिर प्रतिमाह दानादि द्वारा १२ संवत्सर पूर्ण कर उसके अन्त में व्रतेश्वर जगन्नाथ को प्रसन्न करे । फिर पुनः व्रतारम्भ कर संवत्सर के अन्त में व्रतेश्वर भगवान् विष्णु को प्रसन्न करे । इस प्रकार अग्रिम मास की दशमी से लेकर अन्तिम (एकादशी) तक व्रत की समाप्ति में भगवान् का पूजन करते हुए क्रमशः १२ वर्ष व्यतीत करे ॥ ५७-६० ॥

व्रत के अन्त में वह अधिकारी ब्राह्मण दान एवं वस्त्र और अनुलेपन से बारह ब्राह्मणों का यजन करे (संवत्सरान्त विहित दान धर्म बारह वत्सरान्त में करे) ॥ ६१ ॥

स्वमूर्त्याराधनाद्येन कर्मणा ह्येतदेव हि ।
कार्यं व्रतमिदं भक्त्या ज्येष्ठाद्यं क्षत्रियेण तु ॥ ६२ ॥
वैश्येनाश्वयुजादादावाचर्तव्यं समासतः ।
मौद्गलेन तु माघाद्यं पालनीयं यथाक्रमस् ॥ ६३ ॥
इदं व्रतोत्तमं दिव्यमपवर्गफलप्रदम् ।
विहितं सर्ववर्णानामविरुद्धं च सर्वदा ॥ ६४ ॥
चान्द्रायणायुतसमं सा सृष्टेः कल्मषापहम् ।

अस्य व्रतस्य क्षत्रियादीनामपि कालभेदेनानुष्ठानमाह—स्वमूर्तीति त्रिभिः । स्वमूर्त्याराधनाद्येन स्वस्ववर्णोक्तसङ्कर्षणादिक्रमेणेत्यर्थः ॥ ६२-६४ ॥

इस प्रकार यही व्रत स्व स्व वर्णोक्त सङ्कर्षणादि क्रम से क्षत्रियादिक भी काल भेद से भक्तिभाव पूर्वक करे । ब्राह्मण के लिये विधान पहले कह आये हैं और क्षत्रिय ज्येष्ठ मास से व्रतारम्भ करे ॥ ६२ ॥

वैश्य आश्विन आदि मास के आदि में संक्षेप में अर्चना कर व्रतारम्भ करे और शूद्र माघ के आदि से यथाक्रम इस व्रत का आरम्भ नियम कर पालन करे। यह व्रतोत्तम दिव्य है और मोक्ष रूप फल देने वाला है । अतः यह व्रत सब वर्णों के लिये विहित है । किसी के लिये भी विरुद्ध नहीं है । यह व्रत अयुत चन्द्रायण व्रत के समान फलदायी है और सृष्टि के समस्त लोगों का कल्मष दूर करने वाला है ॥ ६३-६५ ॥

व्रतान्तरकथनम्

वक्ष्ये व्रतवरं चान्यत् कर्तव्यत्वेन कर्मिणाम् ॥ ६५ ॥
मोक्षैकफलकामानामन्येषां भावितात्मनाम् ।
मोक्षदं देहपाताद् यच्चातुरात्म्यैकयाजिनाम् ॥ ६६ ॥
यथाभिमतमासस्य दशम्यां पातयेज्जलम् ।

नत्वा व्रतेश्वरं प्राग्वद् वत्सरद्वितयस्य च ॥ ६७ ॥
विशेषाच्छ्रावणे कुर्यात् सङ्कल्पं कार्तिकेऽपि च ।
आरम्भमासादारभ्य निष्ठाख्यं यावदेव हि ॥ ६८ ॥
द्विषट्कमुपवासानामेकवृद्ध्या तु वर्धयेत् ।
होमान्तमर्चनं कृत्वा पूर्ववत् तन्मयान् यजेत् ॥ ६९ ॥
ततस्तु परिपीडानां वत्सरं ह्रासमाचरेत् ।
कार्यमारम्भमासे तु पूर्वं द्वादशरात्रिकम् ॥ ७० ॥
एकैकं लोपयेत् तावद् यावदब्दः समाप्यते ।
कुर्याद् व्रतसमाप्तिं तु पूर्ववत् पूजनादिना ॥ ७१ ॥
वृद्धिह्रासक्रमेणैतद् व्रतमुक्तं मया च ते ।
अनायासेन वै येन प्राप्यते शाश्वतं पदम् ॥ ७२ ॥

अथ संवत्सरद्वयानुष्ठेयमुपवासवृद्धिह्रासान्वितं व्रतान्तरमाह—चान्द्रायणायुत-सममित्यारभ्य प्राप्यते शाश्वतं पदमित्यन्तम् ॥ ६५-७२ ॥

अब दो संवत्सर तक अनुष्ठेय उपवास की वृद्धि तथा ह्रास क्रम से समन्वित अन्य व्रत कहता हूँ—यह व्रत एक मात्र मोक्ष की कामना करने वाले सांसारिक जनों के लिये है । यह व्रत एक मात्र चातुरात्म्यक का यजन करने वालों के लिये देह पात के अनन्तर मोक्ष देने वाला कहा गया है ॥ ६५-६६ ॥

साधक व्रतेश्वर को नमस्कार कर दो संवत्सर पर्यन्त व्रत के लिये अपने अभीष्ट मास की दशमी तिथि को संकल्प लेवे । विशेष रूप से श्रावण मास में अथवा कार्त्तिक मास में व्रत का संकल्प लेना अच्छा है । आरम्भ मास से अन्तिम मास तक के लिये संकल्प लेना चाहिये । १२ मास तक उपवास में एक-एक उपवास के बढ़ाने का क्रम रक्खे तथा १२ मास तक एक-एक उपवास के ह्रास का क्रम करे । आरम्भ मास में १२ पूर्ववत् उपवास करे । तदनन्तर एक-एक उपवास का लोप करे । फिर व्रत समाप्ति में पूर्ववत् पूजनादि क्रिया करे । हे सङ्कर्षण! इस प्रकार वृद्धि एवं ह्रास के क्रम वाला यह व्रत मैंने आपसे कहा है जिससे अनायास शाश्वत फल की प्राप्ति होती है ॥ ६७-७२ ॥

द्वादशाख्यव्रतविधानम्

व्रतानामुत्तमं धन्यं द्वादशाख्यमतः शृणु ।
अकामानां सकामानामन्ते तुल्यफलं हि यत् ॥ ७३ ॥
सितपक्षात् तु चैत्रस्य कार्याऽऽद्येऽहनि कल्पना ।
गतेऽर्धरात्रसमये चा प्रभातात् ततोऽच्युतम् ॥ ७४ ॥

उपवासं विनाऽभ्यर्च्य कार्यं वै नक्तभोजनम् ।
एकादश्यन्तमेवं हि पौन:पुन्येन लाङ्गलिन् ॥ ७५ ॥
कार्यमप्यययुक्ता वै चातुरात्म्यस्य पूजनम् ।
एकादश्यां न भुञ्जीत विहितस्तत्र जागरः ॥ ७६ ॥
द्वादश्यामादिदेवं तु समाराध्य यथाविधि ।
मध्याह्नसमये प्राप्ते विधिवत् तन्मयान् यजेत् ॥ ७७ ॥
भक्त्या शक्त्या तु चतुर एकैकं प्रत्यहं त्वपि ।
गवां ग्रासः स्वसामर्थ्याल्लोपनीयो न सर्वदा ॥ ७८ ॥
सह पूर्वोक्तदानैस्तु व्रतकर्मपरायणैः ।
प्राप्ते तु तद्दिने भूयः कृष्णपक्षस्य लाङ्गलिन् ॥ ७९ ॥
अर्चनं केशवादीनां त्रिसन्ध्यं प्राग्वदाचरेत् ।
द्वादश्यां सोपवासस्तु यजेद् दामोदरं प्रभुम् ॥ ८० ॥
दानान्तमर्चनाद्यं तु सितपक्षोक्तमाचरेत् ।
प्राभवेण क्रमेणैव चैवं मूर्त्यन्तरं यजेत् ॥ ८१ ॥
मूर्तिभिश्चाप्ययाख्येन संवत्सरमतन्द्रितः ।
यो योऽधिकारी भक्तो वा तस्य तुष्यत्यधोक्षजः ॥ ८२ ॥

अथ द्वादशाख्यव्रतमाह—'व्रतानामुत्तमं धन्यमित्यारभ्य तस्य 'तुष्यत्यधोक्षजः' इत्यन्तम् । आद्येऽहनि = प्रतिपदि । कल्पना = संकल्पः । द्वादश्यामादिदेवं = वासुदेवमित्यर्थः । एवं च चैत्रशुक्लप्रतिपदमारभ्य तद्द्वादश्यन्तं पुरुषसत्याच्युतवासुदेवानामेव पुनस्तेषामेव प्रत्यहमेकैकक्रमेणार्चनं कुर्वन् कृष्णप्रतिपदमारभ्य तद्द्वादश्यन्तं तथा केशवादिमूर्तीनामर्चनं च कुर्यात् । पक्षद्वयेऽप्येकादश्यामुपवासो जागरश्च । अवशिष्टदिनेषु नक्तभोजनम् । मध्याह्नसमये ब्राह्मणभोजनम्, तदशक्तौ गोग्रासकल्पनं वा, प्रतिपक्षं पूर्वोक्तदानं च कार्यम् ॥ ७३-८२ ॥

अब द्वादशाख्य व्रत कहते हैं—हे सङ्कर्षण! अब सभी व्रतों में उत्तम द्वादशाख्य व्रत सुनिए, यह व्रत अकाम तथा सकाम कर्म करने वाले भक्तजनों को अन्त में समान फल प्रदान करने वाला है ॥ ७३ ॥

इस व्रत का चैत्रमास के शुक्लपक्ष में प्रतिपदा के दिन संकल्प लेना चाहिये। फिर अर्धरात्रि के समय से प्रभात पर्यन्त अच्युत की पूजा करे ॥ ७४ ॥

उस दिन उपवास के बिना सायङ्काल में भोजन करे । इस प्रकार चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ कर तद् द्वादशी पर्यन्त पुरुष, सत्य, अच्युत, वासुदेव का एवं पुन: उन्हीं में से एक-एक का पुन: प्रतिदिन अर्चन करे । फिर कृष्ण प्रतिपदा से आरम्भ कर तद् द्वादशी पर्यन्त केशवादि द्वादश मूर्त्तियों का अर्चन करे । इस

प्रकार दोनों पक्षों में एकादशी के दिन उपवास और जागरण करे । अवशिष्ट दिनों में रात्रि को भोजन तथा मध्याह्न समय में चार या एक ब्राह्मण भोजन कराए । अशक्त होने पर मात्र गो ग्रास का दान करे और प्रतिपक्ष में पूर्वोक्तदान करना चाहिये । इस प्रकार संवत्सर पर्यन्त संहार क्रम से इन मूर्त्तियों की पूजा करने से उस अधिकारी भक्त पर भगवान् अधोक्षज प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ७५-८२ ॥

षोडशाख्यव्रतनिरूपणम्

षोडशाख्यमतो वक्ष्ये व्रतं धन्यतमं हि यत् ।
पूर्ववद् रात्रिसमय आषाढस्याद्यवासरे ॥ ८३ ॥
गृहीत्वा नियमं कुर्यादा प्रभातादिपूजनम् ।
त्रिसन्ध्यं वामनादीनां विधिवद् द्वादशाहकम् ॥ ८४ ॥
त्रयोदश्यां ततोऽभ्यर्च्य चतुर्वर्गप्रदं प्रभुम् ।
आद्यन्तमनिरुद्धादि तदाद्यमपरेऽहनि ॥ ८५ ॥
तृतीयं पञ्चदश्यां तु संशान्तव्यक्तलक्षणम् ।
एवं मूर्त्यन्तरैर्युक्तं चातुरात्म्यं त्रिधा स्थितम् ॥ ८६ ॥
आराध्य परया भक्त्या चैकादश्यामनश्नतः ।
पूर्णं तदर्चनं कृत्वा पञ्चदश्यां यथाविधि ॥ ८७ ॥
चत्वारस्तन्मयाः पूज्याः श्रद्धापूतेन चेतसा ।
आत्मयागं ततः कुर्याद् दिनान्तेऽर्चनपूर्वकम् ॥ ८८ ॥
एवमाश्वयुजे भूयः पर्वादौ प्रारभेत् क्रियाम् ।
पद्मनाभादिमूर्तीनामर्चनं विहितं क्रमात् ॥ ८९ ॥
एकादश्यामनश्नंस्तु सर्वं निर्वर्त्य पूर्ववत् ।
सम्प्राप्ते च ततः पौषे यजेन्नारायणादिकम् ॥ ९० ॥
द्वादश्यां तद् द्विषट्कं च तथा व्यूहत्रयं त्वपि ।
चैत्रे तद्दिवसादादौ विष्ण्वादीनां समर्चनम् ॥ ९१ ॥
विहितं सद्व्रतज्ञानां सह व्यूहत्रयेण तु ।
विशेषपूजनं कुर्यात् सम्पन्ने वत्सरे सति ॥ ९२ ॥
विभोरग्रे द्विजेन्द्राणां षोडशानां स्वशक्तितः ।

अथ व्रतान्तरमाह—'षोडशाख्यमि'ति प्रक्रम्य 'षोडशानां स्वशक्तितः' इत्यन्तम् । अत्र केशवादयो द्वादश वासुदेवादयश्चत्वारः, आहत्य षोडशमूर्तयः । एतेषां षोडशानामुक्तक्रमेणार्चनादिकं षोडशाख्यव्रतमित्युच्यते । यद्वा आषाढादिमासचतुष्टये प्रतिमासं वासुदेवादीनां चतुर्णामर्चनात् षोडशाख्यमिति ज्ञेयम् । आषाढे वामनादीनाम्,

आश्वयुजे पद्मनाभादीनाम्, पुष्ये नारायणादीनाम्, चैत्रे विष्ण्वादीनां चार्चनं तत्तन्मासे तत्तन्मासाधिपतिमारभ्यार्चनीयत्वादुक्तमिति ज्ञेयम् । केशवादीनां मार्गशीर्षाद्याधिपत्यं प्रसिद्धं खलु । आद्यन्तमनिरुद्धादि पुरुषादिवासुदेवान्तमित्यर्थः । अपरेऽहनि = चतुर्दश्यां तदाद्यं वासुदेवाद्यं स्वप्नव्यूहमिति भावः । पञ्चदश्यां पौर्णमास्यां संशान्त-व्यक्तलक्षणम् = अभिव्यक्तानभिव्यक्तमित्यर्थः । तृतीयं = सुषुप्तिव्यूहमित्यर्थः । चातुरात्म्यं त्रिधा स्थितं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदेन त्रिविधमित्यर्थः ॥ ८३-९३ ॥

हे सङ्कर्षण! अब षोडशाख्य व्रत (केशवादि द्वादश एवं वासुदेवादि चार अर्थात् कुल योग १६—इनका उच्च क्रम से अर्चन षोडशाख्य व्रत कहा जाता है) कहता हूँ, जो अत्यन्त धन्य व्रत है । पूर्ववत् आषाढ के पहले दिन रात्रि के समय नियम ग्रहण कर प्रभात पर्यन्त पूजन करे और तीनों संध्याओं में वामनादि द्वादश मूर्त्तियों का पूजन करे ॥ ८३-८४ ॥

फिर त्रयोदशी में धर्मादि चतुर्वर्ग को प्रदान करने वाले प्रभु का पूजन करे । उसके दूसरे दिन चतुर्दशी को आद्यन्त में अनिरुद्धादि तथा पुरुषादि वासुदेवान्त व्यूह का पूजन करे । पूर्णमासी को तृतीय संशान्त (अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त) विग्रह लक्षण प्रभु का पूजन करे ॥ ८५-८६ ॥

इस प्रकार मूर्त्यन्तर से संयुक्त तीन प्रकार के चातुरात्म्य का एकादशी को बिना भोजन किये परा भक्ति से आराधन करे । इस प्रकार पूर्णमासी को यथाविधि पूर्ण रूप से अर्चन कर श्रद्धापूर्वक पवित्र चित्त से चार विष्णु भक्तों का पूजन करे । तदनन्तर दिन के अन्त में स्वयं आत्मयाग कर भोजन करे ॥ ८६-८८ ॥

इस प्रकार आश्विन मास में पर्वादिक दिनों में इस क्रिया को प्रारम्भ करे । इस मास में पद्मनाभादि विभवावतारों के अर्चन का क्रमशः विधान है ॥ ८९ ॥

सभी पूजनादिक कर्म पूर्ववत् सम्पादन कर साधक एकादशी को भोजन करे और पौष मास प्राप्त होने पर नारायणादि का यजन करे ॥ ९० ॥

द्वादशी के दिन केशवादि बारह मूर्त्तियों की तथा व्यूहत्रय की पूजा करे । चैत्र में तद्दिवस के (द्वादशी के) आदि से व्यूहत्रय के साथ व्रत करने वाले को व्यूहत्रय के साथ समर्चन विहित है, फिर संवत्सर पूरा होने पर विशेष पूजन करना चाहिए ॥ ९१-९२ ॥

व्रतनिष्ठानां भोज्यद्रव्याणि

दत्तशिष्टमतृप्तं च दैवीयान्नेन भावितम् ॥ ९३ ॥
हविश्शेषेण संयुक्तं व्रतिनां भोजनं हितम् ।

अथैवं व्रतनिष्ठानां भोज्यद्रव्यमाह—दत्तशिष्टमिति । अयं श्लोकः सच्चरित्र-रक्षायां व्याख्यातः । तथाहि—"दत्तशिष्टं कारिसम्प्रदानावशिष्टम् । देवीयान्नेन पाकपात्रावशिष्टेन हविःशेषेण चरुशेषेण व्रतिनां भगवद्रूपनिष्ठानां सर्वेषां हितम्

अनिष्टनिवर्तकत्वादिष्टप्रापकत्वाच्चावश्यं भोक्तव्यमित्यर्थः । अत्र भोजनमिति कर्मणि ल्युडन्तम्'' (पृ० ९४-९५) इति ॥ ९३-९४ ॥

उस दिन भगवान् के समक्ष सोलह संख्यक द्विजेन्द्रों को अपनी शक्ति के अनुसार कारिसम्प्रदान से अवशिष्ट तथा पाकपात्र में बचे हुए चरू विशेष से भोजन करावे । यह विशेष व्रत करने वाले को अनिष्ट निवर्त्तक तथा इष्ट का प्रापक कर्म है ॥ ९३-९४ ॥

व्रतान्तरकथनम्

एवं सितेऽसिते वापि ह्युभयोरपि पक्षयोः ॥ ९४ ॥
यथाभिमतमासाद् वै समारभ्य यजेत् क्रमात् ।
एकादश च मासेशान् पर्वादौ तु सकृत् सकृत् ॥ ९५ ॥
द्वादश्यां सोपवासस्तु तन्मासेशमथार्चयेत् ।
तत्कारणादिभेदोत्थं चातुरात्म्येन वै सह ॥ ९६ ॥
पुण्यं व्रतमिदं विद्धि वृद्धस्त्रीबालसिद्धिकृत् ।
नित्यं सद्वैष्णवैः कार्यमविरुद्धमखेददम् ॥ ९७ ॥
प्राक्प्रणीतैर्महाभोगैः शक्त्या दानसमन्वितैः ।
गृहस्थैर्ब्रह्मचर्यस्थैर्वानप्रस्थैस्तु भिक्षुकैः ॥ ९८ ॥
येन केन प्रकारेण वित्तं सम्भृत्य वै पुरा ।

पुनर्व्रतान्तरमाह—एवं सितेऽसिते वापीति प्रक्रम्य भैक्षपूर्वेण सर्वदेत्यन्तम् । अस्यार्थः—यथाभिमतमासे शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे वोभयोर्वा प्रतिपदमारभ्यैकादश्यन्तं तन्मासेशस्योत्तरादिनैकादशमासेशान् प्रत्यहमेकैकक्रमेणाभ्यर्च्यैकादश्यां कृतोपवा (सम्?सो) द्वादश्यं तन्मासेशम्, तत्कारणभूतो वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धो वा यस्तदादिचातुरात्म्यं च सम्पूज्य दानादिकं कुर्यात् । एवं चेदं सुस्पष्टं बोध्यम्—चैत्रमासे यदि व्रतमनुष्ठीयते तन्मासेशो विष्णुः, तदुत्तरं मधुसूदनादयो वैशाखाद्येकादशमासेशाः प्रतिपदादिष्वर्चनीयाः । तन्मासेशो विष्णुः, तत्कारणभूतसङ्कर्षणादिवासुदेवान्ताश्चत्वा-रश्च द्वादश्यामर्चनीयाः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । केशवादीनां त्रिकं त्रिकं प्रति वासुदेवा-दीनामेकैकस्य कारणत्वमुत्तरत्र (८।५५-५६) सुस्पष्टं वक्ष्यति ॥ ९४-९९ ॥

अब पुनः अन्य व्रत कहते हैं—शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष अथवा उभय पक्ष में जो मास अभीष्ट हो उससे प्रतिपदा से आरम्भ करे । पर्व के आदि में एक-एक के क्रम से ११ मासेशों का यजन करे । इन मासेशों का अर्चन द्वादशी में उपवास करते हुए करे क्योंकि उन-उन मासों के वही कारणभूत देवता हैं ॥ ९४-९६ ॥

यह व्रत महापुण्यप्रद है । वृद्ध, स्त्री तथा बालकों को सिद्धि देने वाला है । अतः सद् वैष्णवों को यह व्रत अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह कल्याण करने वाला है तथा दुःख दारिद्र्य को नष्ट करने वाला है ॥ ९७ ॥

पहले जिन्होंने इस व्रत का सम्पादन किया है ऐसे महाभागों को, शक्ति के अनुसार दान देने वालों को, गृहस्थ, ब्रह्मचारी एवं वानप्रस्थ भिक्षुकों को भी जैसे-तैसे धन एकत्रित कर इस व्रत का यजन करना चाहिये ॥ ९८ ॥

नित्यं धर्माविरुद्धेन भैक्षपूर्वेण सर्वदा ॥ ९९ ॥
कुटुम्बभरणाद्यर्थं लाभे भैक्षादिके तु वै ।
अवज्ञा परमा यत्र बुद्धिमांस्तत्र संवसेत् ॥ १०० ॥

अथ प्रसक्तं भैक्षादिद्रव्यविचारं विवृण्वन् तल्लाभे प्रतिग्रहीतुर्यत्र बहुशोऽवमानं जायते, तत्रैव बुद्धिमता प्रतिग्रहीत्रा वस्तव्यमित्याह—कुटुम्बेति । भैक्षं = याचितम् । "भिक्षा याच्ञार्थनार्दना" (३।२।६) इत्यमरः । अवज्ञा = अवमाननम् । 'रीढावमाननावज्ञा" (१।७।२३) इत्यमरः ॥ १०० ॥

दाता ददाति यत् किञ्चित् पूजापूर्वं हि भक्तितः ।
कृत्स्नं तदीयमशुभं तिष्ठत्यर्थिजनाश्रितम् ॥ १०१ ॥

यतः संमानं प्रतिग्रहीतुरेव बाधकमित्याह—दातेति ॥ १०१ ॥

परिभूते तु वै लाभे सन्तोषो यस्य जायते ।
प्रतिग्रहोत्थितो दोषस्तस्य दूरतरं व्रजेत् ॥ १०२ ॥
एवं ज्ञात्वा तु पात्राणां भक्तानां भावितात्मनाम् ।
जनयेद् बुद्धिभेदं तु नेतरेषां कदाचन ॥ १०३ ॥

अतोऽनादरपूर्वकं दत्तेऽपि यः प्रतिग्रहीता सन्तुष्टो भवति, स प्रतिग्रहो दोषेण विलुप्तो भवतीत्याह—परिभूत इति । लाभे भैक्षादिद्रव्यलाभे । परिभूते तिरस्कृते, अनादरपूर्वकं दत्ते सतीति भावः । 'अनादरः परिभवः" (१।७।२२) इत्यमरः । एवं च आदरपूर्वकं दानं दातुः श्रेयःसम्पादकमिति ज्ञात्वादरपूर्वकमनिच्छतां पात्राणां सविनयप्रार्थनादिभिस्तदङ्गीकाराय बुद्धिं जनयेत् । अपात्राणां तां न जनयेदित्याह—एवमिति ॥ १०२-१०३ ॥

भिक्षुक धर्माविरुद्ध भिक्षा एकत्रित कर यजन करे । गृहस्थ कुटुम्ब के भरण के लिये प्राप्त भिक्षादिक से यजन करे । बुद्धिमान् भिक्षुक जहाँ अत्यन्त अवज्ञा होती हो वहीं निवास कर अपमानित होकर भी भिक्षा प्राप्त करे । जो दाता पूजा कर भक्ति से जो कुछ भी दे देता है उस अन्न में उसका समस्त पाप भिक्षुक के पास चला जाता है । किन्तु जिसे अपमानित कर लोग भिक्षा देते हैं और परिभूत होकर भी भिक्षा लाभ में जिसे सन्तोष है उससे प्रतिग्रह का दोष बहुत दूर भाग जाता है ॥ ९९-१०२ ॥

ऐसा समझ कर कल्याण चाहने वाले भगवद् भक्त साधकों को इस प्रकार की बुद्धिभेद एवं विनयपूर्वक दी गई भिक्षा अङ्गीकार के लिये उपदेश करे । अपात्र भगवद् भक्तों को कदापि इस प्रकार का उपदेश न करे ॥ १०३ ॥

यत्र दाता ग्रहीता च द्वावेव कलुषात्मकौ ।
दृष्टादृष्टविनाशार्थं दानं द्वाभ्यां हतं तु तत् ॥ १०४ ॥

दातृप्रतिग्रहीत्रोरुभयोरपि कलुषात्मकत्वे दानवैफल्यमाह—यत्रेति ॥ १०४ ॥

जहाँ दाता और प्रतिगृहीता दोनों ही पापी हैं, दृष्टादृष्ट के विनाश के लिये ऐसा दानी तथा प्रतिग्राही दोनों ही हत हैं (विफल हैं) ॥ १०४ ॥

प्रागेवं चित्तसंशुद्धिं भावशुद्धिसमन्विताम् ।
निश्चयीकृत्य यत्नेन दिव्यमायतनं व्रजेत् ॥ १०५ ॥
व्रतसंसिद्धये नूनं सिद्धायतनमेव वा ।
अथवाऽऽयतनं रम्यमासन्ननगरादिकम् ॥ १०६ ॥
निर्विघ्नेन व्रतं यस्मान्निष्पद्येतात्र कर्मिणाम् ।
कर्मवाङ्मनसैः शुद्धस्तपोनिष्ठः क्रियापरः ॥ १०७ ॥
यो नान्यदेवतायाजी तत्वतो भगवन्मयः ।
कस्मिंश्चिद् वैभवे रूपे व्यूहीये वा सुबुद्धिमान् ॥ १०८ ॥
बद्धलक्ष्यो भवेद् भक्त्या त्वाप्तागमनिदर्शनात् ।

एवं भावशुद्धिसम्पादितां चित्तशुद्धिं पूर्वं निश्चित्य व्रतानुष्ठानार्थं सैद्धमानुषस्थानेष्वन्यतमं गत्वा तत्र विभवाकृतौ व्यूहाकृतौ वा भगवति व्रतान्तं न्यस्तचित्तो भवेदित्याह—प्रागेवमिति सार्धैश्चतुर्भिः । दिव्यं = स्वयंव्यक्तमित्यर्थः ॥ १०५-१०९ ॥

अब चित्तशुद्धि सम्पादन कर व्रतानुष्ठान के लिये सिद्ध मानुषादि स्थानों में तथा वैष्णवायतनों में जाने को कहते हैं—पहले व्रत की सिद्धि के लिये प्रयत्नपूर्वक भावशुद्धि समन्वित चित्त की शुद्धि का निश्चय कर दिव्य आयतन, सिद्ध आयतन, अथवा किसी भी आयतन में जावे जो किसी रम्य नगर के सन्निकट हो । वह ऐसे स्थान पर जाए जिससे यज्ञ सम्पादन करने वाले कर्मी का निर्विघ्न यज्ञ सम्पन्न हो जावे ।

यज्ञ का सम्पादन करने वाला कर्मी कर्म, वाणी और मन से सन्तुष्ट तथा तपोनिष्ठ होना चाहिये । क्रिया परायण हो तथा अन्य देवता में आस्था रखने वाला नहीं होना चाहिये । वह वैष्णव तत्त्वतः भगवन्मय तथा भगवान् के किसी वैभव रूप में अथवा व्यूहरूप में बुद्धिमान भक्त हो । किसी आप्त आगम तथा वैष्णव आगम का ज्ञाता तथा भक्तिपूर्वक उसे अपने लक्ष्य में स्थिर होना चाहिए ॥ १०७-१०८ ॥

दिव्यायतनलक्षणकथनम्

तस्यापि तादृशानां च भविनामनुकम्पया ॥ १०९ ॥

व्यक्ततामगमद् देवः स्वयमेव धरात्मना।
यत्र मोक्षप्रदं विद्धि दिव्यमायतनं हि तत्॥ ११० ॥

प्रसङ्गाद् दिव्यायतनलक्षणमाह—तस्यापीति सार्धेन ॥ १०९-११०॥

अब प्रसङ्गाद् दिव्यायतन का लक्षण कहते हैं—जहाँ उस प्रकार के भगवद् भक्तों की अनुकम्पा से उसके लिये भी इस पृथ्वी स्वरूप से देव (प्रभु) स्वयं व्यक्त हों और जो मोक्षप्रद हों, वह दिव्य आयतन है ॥ ११० ॥

सिद्धायतनलक्षणकथनम्

मन्त्रसिद्धैश्च विबुधैर्मुनिमुख्यैस्तथामलैः ।
शान्तये देशजानां त्वप्यात्मनश्चापि कीर्तये॥ १११ ॥
मन्त्राकृतिमयं ध्यात्वा पाषाणं वसुधातले।
पावनं वा ततं वृक्षं ज्ञात्वा वा देवताश्रयम्॥ ११२ ॥
कृत्वा तच्छक्तिसंरुद्धं विसृज्य च तदाश्रितम्।
विद्धि सर्वेश्वरस्यैवं स्थितं निलयलक्षणम्॥ ११३ ॥
स्वमन्त्रसन्निधिं तत्र कृत्वा तद्विग्रहान्वितम्।
पूजितं पत्रपुष्पाद्यैस्तत्सिद्धायतनं स्मृतम्॥ ११४ ॥

सिद्धायतनलक्षणमाह—मन्त्रसिद्धैरिति प्रक्रम्य तत्सिद्धायतनं स्मृतमित्यन्तम् । विसृज्य च तदाश्रितमित्यत्र विसर्जनप्रकारश्चतुर्विंशे परिच्छेदे—

इहाश्रितात्मने तुभ्यं नमः सर्वेश्वराय च ।
क्षमस्वावतरान्यत्र संतिष्ठात्र चिदात्मना ॥ —(२४।८५)

इतिवक्ष्यमाणो ज्ञेयः । अत्र—

स्वयंव्यक्तं तथा सैद्धं विबुधैश्च प्रतिष्ठितम् ॥
मुनिमुख्यैस्तु गन्धर्वैर्यक्षविद्याधरैरपि ।
रक्षोभिरसुरैर्मुख्यैः स्थापितं मन्त्रविग्रहम् ॥
..... स्थापितं मनुजेन्द्रैस्तु ह्यनुवेदादिकोविदैः ।

—(पा०सं० १०।३१७-३१८, ३२१)

इति पारमेश्वरोक्तसैद्धाद्यष्टविधभेदानामपि सैद्धायतन एवान्तर्भावो बोद्धव्यः, सिद्धगन्धर्वादीनामति विबुधेष्वन्तर्भावात्, मुनिमुख्यैस्तथामलैरित्यत्रामलशब्देनान्येषामपि सूचितत्वाच्च ॥ १११-११४ ॥

अब सिद्धायतन का लक्षण कहते हैं—जहाँ मन्त्र सिद्ध देवताओं एवं निष्कपट मुनियों ने उस देश में रहने वालों की शान्ति के लिये तथा अपनी कीर्ति के लिये मन्त्राकृति मय पत्थर में ध्यान किया है, अथवा जहाँ कोई पवित्र वृक्ष है,

अथवा कोई देवता का आश्रम है उसमें शक्ति को निरोध कर शक्ति स्थापित किया है, उसे सर्वेश्वर भगवान् विष्णु का स्थान समझना चाहिये ॥ १११-११३ ॥

अपने मन्त्र से सन्निधि कर जहाँ उस साक्षात्कृत को विग्रह स्वरूप में स्थापित किया है और जो पत्र-पुष्पादि से पूजित है । हे सङ्कर्षण! उसे आप सिद्धायतन समझिए ॥ ११४ ॥

मानुषायतनलक्षणकथनम्

फलाप्तये तु विप्राद्यैः स्वकुलोद्धारणाय च ।
स्थापितं भगवद्बिम्बं ज्ञेयमायतनं हि तत् ॥ ११५ ॥

मानुषायतनमाह—फलाप्तय इति ॥ ११५ ॥

अब मानुषायतन कहते हैं—जहाँ अपनी अभीष्ट प्राप्ति के लिये तथा अपने कुल के उद्धार के लिये ब्राह्मणादिकों ने भगवद् बिम्ब (=भक्त) की स्थापना की है उसे भगवदायतन समझना चाहिये ॥ ११५ ॥

क्रियाङ्गभागं यातस्य सर्वगस्य च वै विभोः ।
विद्धि सर्वेश्वरस्यैवं स्थितं नियतलक्षणम् ॥ ११६ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—क्रियेति ॥ ११६ ॥

वैष्णवक्षेत्रप्रमाणम्

प्रासादद्वारदेशाच्च यत्र शङ्खध्वनिक्षयः ।
पूर्वादि सर्वदिक् तावत् क्षेत्रं भवति वैष्णवम् ॥ ११७ ॥

मानुषभगवन्मन्दिरस्य परितो वैष्णवक्षेत्रप्रमाणमाह—प्रासादेति । विमानद्वारसमीपे कृतः शङ्खनादो यावद्दूरं श्रूयते, तावदन्तं परितो वैष्णवक्षेत्रमिति भावः ॥ ११७ ॥

अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं—सर्वग भगवान् विभु के तथा सर्वेश्वर के क्रियाङ्ग से उत्पन्न नियत लक्षण में जो स्थित है उस मानुष स्थापित वैष्णव क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं—विष्णु के प्रासाद स्थान से तथा द्वार देश से उत्पन्न हो कर जहाँ तक शङ्खध्वनि जाए ऐसा पूर्व से लेकर उत्तर दिशापर्यन्त सभी वैष्णव क्षेत्र कहा जाता है ॥ ११६-११७ ॥

सिद्धावतारिताद् देवात् तदेतद् द्विगुणं स्मृतम् ।
त्रिगुणं च स्वयंव्यक्ताद् देहान्ते भावितात्मनाम् ॥ ११८ ॥

सैद्धस्थाने तद्द्विगुणं स्वयंव्यक्तस्थाने तत्त्रिगुणं च वैष्णवक्षेत्रमानमाह—सिद्धावतारितादिति त्रिभिः पादैः ।

सिद्ध स्थान में उस शङ्खजनित शब्द स्थान से द्विगुणित स्वयं व्यक्त स्थान से वह 'त्रिगुण वैष्णव क्षेत्र' कहा जाता है ॥ ११८ ॥

फलं सालोक्यतापूर्वं परिज्ञेयं क्रमाद् यतः ।

वैष्णवक्षेत्रस्य स्वयंव्यक्तत्वाभेदेन सालोक्यादि-फलप्रदत्वमाह—देहान्त इति त्रिभिः पादैः । यतो वैष्णवक्षेत्रादित्यर्थः । सालोक्यता-पूर्वमित्यत्र पूर्वपदेन सामीप्य-सारूप्यसायुज्यानि गृह्यन्ते । क्रमाद् मानुषादिक्रमेणेत्यर्थः ।

ननु देवतान्तरप्राप्तौ हि सालोक्यादिभेदावाप्तिः, भगवत्प्राप्तौ तु ''परमं साम्य-मुपैति'' (मुण्ड० ३।१।३), ''मम साधर्म्यमागताः'' (भ०गी०१४।१), ''भोग-मात्रसाम्यलिङ्गाच्च'' (ब्रह्म० ४।४।११) इति श्रुतिस्मृतिसूत्रैः सालोक्यादिचतुष्टय-मप्येकैकस्यैव संभवतीति प्रतिपादितम् । अत्रोक्तं सालोक्याद्येकैकफलभेदमात्रावाप्ति-कथनं कथं तदविरुद्धमिति चेत्, सत्यम् । इयमाशङ्का निगमान्तदेशिकैरेव सच्चरित्र-रक्षायां परिहृता । तथाहि—''भगवत्प्राप्तावपि विष्णुलोकादिषु द्वारपालादिष्विव तथाविधभेदोऽस्तीति तदपेक्षिणां प्राप्यभेदद्योतनाय पृथङ्निर्देशः । यथाहुः—

लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित् सामीप्यमिच्छन्ति च केचिदन्ये ।
अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः ॥

इति (पृ०३१)

यद्वा क्रमादित्यत्र सालोक्यसामीप्यादिक्रमेणेत्यर्थवर्णने नास्त्येतदाशङ्काया एवा-वकाशः, सर्वस्यापि क्षेत्रस्य सालोक्यादिफलचतुष्टयप्रदत्वसम्भवात् ॥ ११९ ॥

उस वैष्णव क्षेत्र का स्वयं व्यक्तत्वादि भेद से सालोक्यादि प्रदत्त्व कहते हैं—इन वैष्णव क्षेत्रों का फल सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सारूप्यादि मुक्ति प्रदान समझना चाहिये ॥ ११९ ॥

सालोक्यादिमोक्षविचारः

दुष्टेन्द्रियवशाच्चित्तं नृणां यत्कल्मषैर्वृतम् ॥ ११९ ॥
तदन्तकाले संशुद्धिं याति नारायणालये ।
व्रतान्येतानि यः कुर्यादभिसन्धाय चेतसा ॥ १२० ॥
अभीष्टमतितीव्रेण तदाप्नोत्यचिरात् तु सः ।

वैष्णवक्षेत्रस्य मनःपरिशुद्ध्यावहत्वं चाह—दुष्टेति त्रिभिः पादैः । यत इत्यस्या-प्यनुषङ्गः कार्यः । भगवन्मन्दिरे व्रतानुष्ठानस्य शीघ्रफलप्रदत्वमाह—नारायणालय इति ॥ ११९-१२१ ॥

श्रद्दधानैरतस्तस्माद् दृष्टादृष्टफलाप्तये ॥ १२१ ॥
व्रतान्येतानि कर्तव्यान्यभिसन्धाय चेतसा ।

अत एतेषां व्रतानामवश्यानुष्ठेयत्वमाह—श्रद्दधानैरिति ॥ १२१-१२२ ॥

जिन मनुष्यों का चित्त दुष्ट इन्द्रियों के कारण पाप समन्वित रहता है वह इस नारायण क्षेत्र में मृत्यु होने से शुद्ध हो जाता है । जो चित्त से अच्छी प्रकार विचार कर इन व्रतों को करता है, वह इस व्रत के अत्यन्त तीव्र प्रभाव से शीघ्रातिशीघ्र अभीष्ट प्राप्त करता है, इसलिये श्रद्धालु पुरुष समस्त दृष्टादृष्ट फल प्राप्ति के लिये अपने चित्त को दृढ़ कर इन व्रतों को अवश्य करे ॥ ११९-१२२ ॥

नावसादस्तु कर्तव्यो व्रतभङ्गात् कदाचन॥ १२२ ॥
सङ्कल्पादेव भगवांस्तत्त्वतो भावितात्मनाम् ।
व्रतान्तमखिलं कालं सेचयत्यमृतेन तु॥ १२३ ॥

आरब्धे व्रते मध्ये येन केनापि हेतुना विघ्नितेऽपि ततो न भेतव्यम् । यतो व्रतं करिष्यामीति संकल्पमात्रादेवारभ्य व्रतसमाप्तिपर्यन्तं यावदनुष्ठानं संभवति, तावतैव फलसिद्धिर्भवतीत्याह—नावसाद इति सार्धेन । अवसादो न कार्यः, अधैर्यं नाधिगन्तव्यमित्यर्थः । अयमेवार्थो वङ्गिवंशेश्वरैः प्रतिपादितः सच्चरित्ररक्षायामुदाहृतः—

एवमेकदिनं वाथ द्विदिनं त्रिदिनं तु वा ॥
मासं संवत्सरं वापि यावज्जीवितमेव वा ।
वर्तेत भक्त्या परया वैष्णवः सुचिरं सुखी ॥
प्रारब्धे मध्यतो विघ्नाद् विच्छिन्नेऽप्यत्र कर्मणि ।
नानर्थो न च नैष्फल्यं न कृतांशस्य संक्षयः ॥
प्रारब्धेष्वसमाप्तेषु विच्छिन्नेष्वन्यकर्मसु ।
भवत्येवैतदखिलं वैदिकेष्वितरेष्वपि ॥
कृतः स्वल्पांशकोऽप्यस्य स्थित्वा सुचिरमक्षयः ।
त्रायते च स्वकर्तारं स्वशक्त्या भवभीतितः ॥ इति ।

नन्विदं भगवदाराधनविषयम्,नहि व्रतानुष्ठानविषयमिति चेन्न, अस्य व्रतस्यापि भगवदाराधनरूपत्वात्, भगवदाराधनस्यापि शातवार्षिकव्रतरूपत्वात् । अत एवं वङ्गिवंशेश्वरेर्नित्याराधनप्रकरणेऽपि—

त्वदाराधनकामोऽयं व्रतं चरितुमिच्छति ।
संकल्पसिद्ध्यै भगवन् पूरयाऽस्य मनोरथान् ॥ —(श्लो० ३९)

इति व्रतविधाने वक्ष्यमाण (८।७-८) श्लोकस्यैव संगृहीतत्वादुभयोरप्यविशेषो बोध्यः ॥ १२२-१२३ ॥

ज्ञात्वैवं बद्धलक्ष्येण भवितव्यं सदैव हि ।
प्राप्तये सर्वकामानां संसारभयभीरुणा॥ १२४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां अमन्त्रकव्रतनाम
सप्तमः परिच्छेदः ॥ ७ ॥

इममर्थं ज्ञात्वा निखिलं पुरुषार्थप्राप्त्यर्थं भगवति दृढचित्तेन भवितव्यमित्याह—ज्ञात्वेति ॥ १२४ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये सप्तम परिच्छेदः ॥ ७ ॥

— ❀ —

यदि कदाचित् किसी कारणवश इस व्रत में विघ्न पड़ जाये तब भी साधक को भयभीत नहीं होना चाहिये क्योंकि जिसने व्रत का संकल्प ले कर उसके समाप्ति पर्यन्त का अनुष्ठान ले लिया है वह विघ्नित होने पर भी उस अनुष्ठान को पूरा करे क्योंकि 'भगवान् उस व्रत को अन्त काल तक अमृत से सींचते रहते हैं'—ऐसा समझ कर अपनी कामना की प्राप्ति के लिये तथा संसार से भयभीत होकर साधक अपने व्रतानुष्ठान के लक्ष्य में भी स्थिर रहे ॥ १२२-१२४ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के अमन्त्रकव्रत नामक सप्तम परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ ७ ॥

— ❀ —

अष्टमः परिच्छेदः

समन्त्रकव्रतविधिः

श्रीभगवानुवाच

व्रतमेतदमन्त्रं च सामान्यं सार्वलौकिकम् ।
सितेतरविभागेन प्रोक्तं मन्त्रद्वय शृणु ॥ १ ॥

अथाष्टमो व्याख्यास्यते । पूर्वममन्त्रकं व्रतमुक्तम्, इदानीं समन्त्रकं शृण्वित्याह—व्रतमिति । सामान्यं सार्वलौकिकं ब्राह्मणादिचतुर्वर्णानामिति साधारणमित्यर्थः । समन्त्रकं व्रतं तु ब्राह्मणमात्रकार्यम् । उक्तं खलु (प्रथमे? द्वितीये) परिच्छेदे—

व्यामिश्रयागयुक्तानां विप्राणां वेदवादिनाम् ॥
समन्त्रे तु चतुर्व्यूहे अधिकारो न चान्यथा ।
त्रयाणां क्षत्रियादीनां प्रपन्नानां च तत्त्वतः ॥
अमन्त्रमधिकारस्तु चतुर्व्यूहक्रियाक्रमे । (२।८-१०) इति ॥ १ ॥

श्री भगवान् ने कहा—हे सङ्कर्षण! यह सार्वलौकिक एवं सामान्य अमन्त्रक व्रत कहा गया है । सामान्य तथा सार्वलौकिक इसलिये है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लिये अनुष्ठेय है । किन्तु आगे कहा जाने वाला वक्ष्यमाण व्रत 'समन्त्रक व्रत' है और केवल ब्राह्मण मात्र के लिये कर्त्तव्य है ॥ १ ॥

प्राग् गुरुं प्रार्थयित्वा तु दृष्टादृष्टप्रदः स हि ।
ज्ञात्वा स्थिरमतिं कुर्यात् तदर्थे चक्रमण्डलम् ॥ २ ॥

प्रथमं शिष्यो गुरुं प्रार्थयेत्, गुरुः शिष्यं स्थिरबुद्धिं ज्ञात्वा तद्व्रतार्थं मण्डलं विलिखेदित्याह—प्रागिति । प्रार्थयित्वा कृतकृत्यो भवेदिति भावः ॥ २ ॥

प्रथमतः शिष्य गुरु की प्रार्थना करे, क्योंकि गुरु दृष्ट एवं अदृष्ट दोनों प्रकार के फलों को देने वाला है । तदनन्तर गुरु शिष्य को वैष्णव धर्म के लिये स्थिरबुद्धि समझ कर शिष्य के लिये चक्र मण्डल का निर्माण करे ॥ २ ॥

चातुरात्म्यार्चनम्, अङ्गमन्त्रार्चनञ्च

तन्मध्ये चतुरात्मा तु यष्टव्यः कर्णिकोपरि ।
चतुर्दिक्ष्वीक्षमाणस्तु वासुदेवादितः क्रमात् ॥ ३ ॥

तन्मण्डलमध्ये कर्णिकोपरि वासुदेवादिचातुरात्म्यार्चनं कार्यमित्याह—तन्मध्य इति ॥ ३ ॥

उस मण्डल के मध्य में कर्णिका के ऊपर वासुदेवादि चातुरात्म्य का क्रमशः चारों दिशाओं में अर्चन करे ॥ ३ ॥

हृदादिनेत्रपर्यन्तमङ्गषट्कं यजेत् ततः ।
अर्घ्यादिभिः क्रमाद् भोगैर्व्रतज्ञेन पुराहृतैः ॥ ४ ॥

तदनन्तरमङ्गमन्त्रार्चनं वासुदेवादीनामर्घ्यादिभिः पूजनं चाह—हृदादीति ।

अङ्गमन्त्राणामर्चनस्थानं तु—

तदोदितं विभोर्देहाद् हृदयाद्यं चतुष्टयम् ॥
न्यसेत् कमलपत्राणामा पूर्वादुत्तरान्तिमम् ।
अग्नीशरक्षोवायव्यदलेष्वस्त्रं यथाक्रमम् ॥
नेत्रं केसरजालस्थं चक्रं नाभित्रयोपरि । (१७।६५-६७)

इति नृसिंहकल्पे वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर हृदय से लेकर नेत्र पर्यन्त स्थान में षडङ्गन्यास करे । फिर पहले से एकत्रित अर्घ्यादि भोगों से उन वासुदेवादि का अर्चन करे ॥ ४ ॥

ततः कुण्डान्तरे चैव संस्कृतेऽग्नौ च विन्यसेत् ।
चक्रं मन्त्रगणोपेतं समिद्भिस्तर्पयेत् क्रमात् ॥ ५ ॥
पश्चात् तण्डुलसंमिश्रैः सघृतैर्बहुभिस्तिलैः ।

सचक्रमण्डलस्य भगवतोऽग्निमध्ये ध्यानं सन्तर्पणं चाह—
तत इति सार्धेन ॥ ५-६ ॥

इसके बाद कुण्ड के भीतर स्थापित अग्नि में न्यास करे । तदनन्तर समस्त मन्त्रगणों से युक्त चक्र का क्रमशः समिधाओं से तर्पण करे । इसके बाद तण्डुल मिश्रित अधिकाधिक घृत और तिलों से होम करे ॥ ५-६ ॥

अर्घ्योदकेन शिरसा पवित्रीकृत्य साम्प्रतम् ॥ ६ ॥
नतजानुशिरः शिष्यं कृत्वासौ श्रावयेत् प्रभुम् ।
त्वदाराधनकामोऽयं व्रतं चरितुमिच्छति ॥ ७ ॥
सङ्कल्पसिद्ध्यै भगवन् पूरयास्य मनोरथान् ।
इति विज्ञाप्य देवेशं ततः पुष्पाणि दापयेत् ॥ ८ ॥

ततः शिष्यं शिरोमन्त्रेण प्रोक्ष्य तं नतजानुशिरस्कं कृत्वा त्वदाराधनश्लोकं विज्ञाप्य शिष्याञ्जलिस्थपुष्पाणि मण्डलोपरि प्रदापयेदित्याह—अर्घ्योदकेनेति सार्धद्वाभ्याम् । यद्यप्यस्मिन् त्वदाराधनकामोऽयमित्यादिश्लोके व्रतशब्दस्य विद्यमानत्वात्,

अयमस्येति पदद्वयेन पुरोव(र्ति)शिष्यस्योक्तत्वाच्च व्रतप्रकरण एवाचार्येण विज्ञापनीयोऽयं श्लोकः, तथापि नित्याराधनस्यापि शातवार्षिकव्रतरूपत्वात्, अयमस्येति पदद्वयस्य स्वात्मव्यवहारेऽपि योग्यत्वाच्च वङ्गिवंशेश्वरकृतनित्यार्चनकारिकादिष्वप्ययं श्लोकः प्रतिपादितः । अतोऽस्मत्तातपादैरपि सात्वतामृते चोक्त इति बोध्यम् ॥ ६-८ ॥

इसके बाद अर्घ्यादिक से तथा शिरो मन्त्र से शिष्य का प्रोक्षण करे । फिर शिष्य को साष्टाङ्ग सिर झुका कर उसके लिये प्रभु से गुरु प्रार्थना करे । हे भगवन् ! यह मेरा शिष्य आप की आराधना करने के लिये व्रताचरण करना चाहता है । अतः हे भगवान् ! इसके संकल्प की सिद्धि के लिये आप इसका मनोरथ पूर्ण करें । भगवान् से इतना निवेदन करने के बाद शिष्य से अञ्जलिस्थ पुष्पों को प्रदान करवाये ॥ ६-८ ॥

अष्टाङ्गमथ वै कुर्यात् प्रणामं सप्रदक्षिणम् ।
भूयो भूयोऽनवच्छिन्नं भक्तिश्रद्धापुरस्सरम् ॥ ९ ॥

प्रदक्षिणप्रणामावाह—अष्टाङ्गमिति । चतुर्मूर्तीनामपि चतुर्वारं प्रणामस्य कर्तव्यत्वाद् भूयो भूय इत्युक्तम्, नैतावताऽसकृत् प्रणामसिद्धिः ॥ ९ ॥

ततस्तस्योपदेष्टव्यं विधानं मन्त्रपूर्वकम् ।
सान्तं षष्ठस्वरारूढमनुस्वारविभूषितम् ॥ १० ॥
बीजमाद्यस्य च विभोर्वासुदेवस्य कीर्तितम् ।
तदेव जीवबीजस्थं षष्ठस्वरविवर्जितम् ॥ ११ ॥
द्वितीयस्वरसंयुक्तं सङ्कर्षणस्य बीजराट् ।
उभयोरन्तरे रेफमाद्यबीजस्य योजयेत् ॥ १२ ॥
बीजं प्रद्युम्ननाथस्य तृतीयं सर्वकामदम् ।
जीवारूढं हकारं तु लान्तस्योपरि विन्यसेत् ॥ १३ ॥
विसर्गसहितं बीजमनिरुद्धस्य वाचकम् ।
द्विभुजाः सर्व एवैते सूर्येन्दुशतसन्निभाः ॥ १४ ॥

शिष्यस्य व्रतार्थं मन्त्रोपदेशमाह—तत इत्यर्धेन । वासुदेवादिबीजचतुष्टयमाह—सान्तमिति चतुर्भिः । सान्तं सकारान्ते स्थितं हकाराख्यं वर्णं षष्ठस्वरारूढम्, ऊकारान्वितम् अनुस्वारविभूषितं बिन्दुसंयुक्तम् । तथा च हूमिति वासुदेवस्य बीजं भवति । तदेव हकाराख्यं वर्णमेव । जीवबीजस्थं सकारान्वितम्, षष्ठस्वरविवर्जितम् = ऊकाररहितम्, द्वितीयस्वरसंयुतम् = आकारान्वितम् । तथा च ह्सामिति सङ्कर्षणस्य बीजं भवति । आद्यबीजस्य वासुदेवबीजस्य, उभयोरन्तरे हकारोकारयोरन्तरे, रेफं योजयेत् । तथा च ह्रूमिति प्रद्युम्नस्य बीजं भवति । जीवारूढं सकारस्थं हकारं लान्तस्य वकारस्योपरि न्यसेत्, विसर्गसहितम् अन्तिमस्वरसंयुक्तं च कुर्यात् । तथा च ह्स्वमित्यनिरुद्धबीजं भवति ।

ननु मकारस्य जीवबीजत्वं युक्तं प्रसिद्धं च, सकारस्य जीवबीजत्वं कथमिति चेदुच्यते—

त्रिधा हकारं कृत्वादौ जीवबीजं तथैव च ॥
ककारं च क्षकारं च लिखेत् तद्वत् त्रिधा त्रिधा । (८।२२-२३)

इति वक्ष्यमाणश्लोकस्थितजीवबीजशब्दस्य पारमेश्वरे—

नवमं चाष्टमं नेमावराद्यं मातृकान्तिमम् ॥
त्रिधैकैकं क्रमात् कृत्वा बीजद्वादशकं यथा । (२४।७७-७८)

इति सकारपरत्वं सुस्पष्टं व्याख्यातं पश्यतु भवान् । किञ्च,

वासुदेवाख्यया होऽभूत् साख्यःसङ्कर्षणोदयः ॥
प्रद्युम्नः षाख्यया ज्ञेयो ह्यनिरुद्धस्तु शाख्यया । (१९।३१-३२)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तरीत्या सकारस्य सङ्कर्षणबीजत्वाद् जीवबीजत्वव्यवहारः । जीवाधिष्ठातृत्वात् सङ्कर्षणस्य जीवव्यवहारः "वासुदेवात् सङ्कर्षणो नाम जीवो जायते" (२।२।३९ श्रीभाष्ये) इत्यत्र प्रसिद्धः । तथा च श्रीमद्भाष्ये—

"अत्र जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वानामधिष्ठातारः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम्" (२।२।४१) इति ॥ १०-१४ ॥

फिर उससे (चार मूर्त्तियाँ हैं । अतः उनको एक-एक बार प्रणाम करावे । इससे असकृत् प्रणाम की सिद्धि नहीं होती) श्रद्धाभक्ति पुरःसर साष्टाङ्ग प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करावे । इसके बाद व्रत के लिये मन्त्रपूर्वक विधान का उपदेश करना चाहिये ।

अब वासुदेवादि बीज चतुष्टय कहते हैं—सान्त अर्थात् सकार के अन्त में स्थित हकार, जो षष्ठ स्वर ऊकार से आरूढ़ हो तथा अनुस्वार से विभूषित हो इस प्रकार 'हूँ' यह वासुदेव का बीज है ॥ ११ ॥

वही हकार वर्ण जब जीव (स) बीजस्थ सकारान्वित हो और षष्ठ स्वर (ऊ) रहित होकर द्वितीय स्वर (आ) संयुक्त हो तो इस प्रकार 'ह्सां' यह सङ्कर्षण बीज निष्पन्न होता है । फिर जब वासुदेव बीज के हकार और ऊकार के मध्य में रेफ् जोड़ देवे तब इस प्रकार 'ह्रूँ' यह प्रद्युम्न का बीज होता है । यह तृतीय बीज सर्व-कामप्रद है । जीवारूढ़ अर्थात् सकार पर आरूढ़ हकार, उसके बाद सान्त (वकार) लिखकर उसे विसर्ग सहित रखे । इस प्रकार 'ह्स्वँ' यह अनिरुद्ध का बीज होता है । इस प्रकार वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध जो परमात्मा, जीव, मन एवं अहङ्कार के अधिष्ठाता हैं, उनका बीज कह दिया गया ॥ १२-१४ ॥

वासुदेवादिमूर्तिध्यानकथनम्

तेजसा त्वत्र भेदोऽस्ति स्वरूपेण सितादिना ।
दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां तर्जनीमध्यमान्तरे ॥ १५ ॥

आद्यस्य चक्रशङ्खौ द्वौ ध्येयावंसद्वयोपरि ।
स्कन्धसूत्रसमस्थेन दक्षिणेन तु पाणिना ॥ १६ ॥
गृहीता मुष्टिबन्धेन विश्रान्ता पीठपृष्ठतः ।
ध्येया गदा द्वितीयस्य तथाभूते करे परे ॥ १७ ॥
संस्मरेच्चेतिराड् दीप्तं लीलाक्षेपकरोद्यतम् ।
एवं प्रद्युम्ननाथस्य व्यत्ययेन तु ते उभे ॥ १८ ॥
दक्षिणोत्तरहस्ताभ्यां श्रोत्रमण्डलसम्मुखौ ।
शङ्खपद्मौ चतुर्थस्य तथाकृष्टौ तु संस्मरेत् ॥ १९ ॥
किन्तु वै पङ्कजं नालमस्य वै पाणिपृष्ठगम् ।

वासुदेवादिमूर्तिध्यानप्रकारमाह—
द्विभुजा इत्यारभ्य पाणिपृष्ठगमित्यन्तम् ॥ १४-२० ॥

अब वासुदेवादि मूर्त्तियों का ध्यान कहते हैं—ये सभी दो भुजा वाले हैं । सैकड़ों सूर्य के समान प्रकाशमान हैं । इनके तेज तथा सितादि स्वरूप से भेद है । भगवान् वासुदेव के दाहिने और बायें हाथ में तर्जनी और मध्यमा अङ्गुलियों में दोनों कन्धों के ऊपर स्थित चक्र और शङ्ख का ध्यान करे । स्कन्ध सूत्र के साथ स्थित दाहिने हाथ से गृहीत मुष्टिबन्ध में रहने वाली पीठ से पीछे सङ्कर्षण के गदा का ध्यान करे और इसी प्रकार अन्य हाथ में लीलापूर्वक हाथ से प्रक्षेपण के लिये उद्यत जाज्वल्यमान चक्र का भी स्मरण करे । इसी प्रकार भगवान् प्रद्युम्न के व्यत्यस्त हाथों में स्थित उन दोनों का (गदा और चक्र) का स्मरण करे । चतुर्थ अनिरुद्ध के दोनों हाथों में क्षोभमण्डल के सामने स्थित शङ्ख एवं पद्म का स्मरण करे । किन्तु पङ्कज का नाल इनके पीछे है ऐसा स्मरण करे ॥ १४-२० ॥

वासुदेवादीनां हृदयाद्यङ्गमन्त्र बीजकथनम्

हकारं च सकारस्थं कृत्वा षोढा निवेश्य च ॥ २० ॥
द्वितीयतुर्यषष्ठाष्टद्विषट्कदशकैः क्रमात् ।
स्वरैर्नियोजयेद् विद्धि हृदाद्यान्नेत्रपश्चिमान् ॥ २१ ॥
चातुरात्मीयमन्त्राणां साधनत्वेन सर्वदा ।

अथ वासुदेवादीनां चतुर्णामपि साधारणानि हृदयाद्यङ्गमन्त्रबीजान्याह—हकार-मिति द्वाभ्याम् । हकारं सकारस्थं कृत्वा षोढा विलिख्य द्वितीयतुर्यषष्ठाष्टद्विषट्क-दशकैः स्वरैः, आकारेण ईकारेण ऊकारेण ऋकारेण ऐकारेण लृकारेण च क्रमेण योजयेत् । तथा च ह्सां ह्सीं ह्सूं ह्सृं ह्सैं ह्लृं इति बीजषट्कं भवति ।

एतद् हृदादिनेत्रमन्त्रषट्के क्रमाद् योजयेत् । एवं कवचमन्त्रादिबीजत्रयेऽष्टम-द्वादशदशमस्वराणां संयोजनं क्वाचित्कम्, न सार्वत्रिकम् । यतोऽत्रैव नृसिंहकल्पे—

द्वितीयतुर्यषष्ठैश्च द्वादशेनान्तिमेन च ।
चतुर्दशेनाराद्वर्गात् क्रमाद्वै विनियोजयेत् ॥ (१७।९)

इति कवचादिबीजत्रयस्य स्वरान्तसंयोजनमपि वक्ष्यति ॥ २०-२२ ॥

अब वासुदेवादि चारों मूर्त्तियों के हृदयाद्यङ्ग के बीजमन्त्रों को कहते हैं— हकार को सकार में मिलाकर १६ बार लिखें, फिर द्वितीय (आ), तुर्य (ईकार), षष्ठ (ऊकार), अष्टम (ॠकार), द्विषट्क (ऐकार) एवं दशक (ॡकार) से क्रमशः संयुक्त करे । इस प्रकार ह्सां, ह्सीं, ह्सूं, ह्सॄं, ह्सैं, ह्ॡं इतने बीजमन्त्र निष्पन्न होते हैं । इनको हृदयादि नेत्रान्त मन्त्र षट्क में संयुक्त करे । ये चातुरात्मीय मन्त्रों के साधन हैं ॥ २०-२२ ॥

केशवादीनां द्वादशबीजकथनम्

त्रिधा हकारं कृत्वादौ जीवबीजं तथैव च ॥ २२ ॥
ककारं च क्षकारं च लिखेत् तद्वत् त्रिधा त्रिधा ।
द्विषट्कमेव बीजानां क्रमादादौ निवेश्य च ॥ २३ ॥
ततो वायुधरावारिसंज्ञं यच्चाक्षरत्रयम् ।
पौनःपुन्येन सर्वेषामधोभागे नियोजयेत् ॥ २४ ॥
सर्वे षष्ठस्वरारूढा अनुस्वारविभूषिताः ।
बोद्धव्याः केशवादीनां बीजास्त्वेते पृथक् पृथक् ॥ २५ ॥

अथ केशवादीनां द्वादशबीजान्याह—त्रिधेति सार्धैस्त्रिभिः । आदौ त्रिधा त्रिवारं हकारं विलिख्य, तथैव जीवबीजं सकारं विलिख्य, ककारं क्षकारं तद्वत् त्रिधा विलिखेत् । एवं बीजानां द्विषट्कमादौ निवेश्य वायुधरावारिसंज्ञं यदक्षरत्रयं यकार-लकारवकारत्रयम्, सर्वेषां पूर्वं विलिखितद्वादशबीजानामधोभागे पौनःपुन्येन योजयेत् । सर्वे षष्ठस्वरारूढा ऊकारान्विताः, अनुस्वारविभूषिता बिन्दुयुक्ताः केशवादिबीजा ज्ञेयाः । तथा चैवं प्रयोगः—ह्यूं ह्लूं ह्वूं स्यूं स्लूं स्वूं क्यूं क्लूं क्वूं क्ष्यूं क्ष्लूं क्ष्वूं इति । अयमेवार्थः पारमेश्वरेऽपि सुस्पष्टमुपबृंहितश्चतुर्विंशेऽध्याये—

क्रमशः केशवादीनां मन्त्राणां लक्षणं शृणु ।
नवमं चाष्टमं नेमावराद्यं मातृकान्तिमम् ॥
त्रिधैकैकं क्रमात् कृत्वा बीजद्वादशकं यथा ।
पौनःपुन्येन सर्वेषां यत्नवान् योजयेदधः ॥
नाभिषष्ठासनोर्ध्वस्थानङ्कयेद् बिन्दूनोपरि ।
तारादिहृदयान्तानि संज्ञाभिस्तुर्यया सह ॥
केशवः प्रथमो वाच्यस्ततो नारायणः परः ।
माधवश्चैव गोविन्दो विष्णुश्च मधुसूदनः ॥
त्रिविक्रमो वामनाख्यः श्रीधरः पद्मलोचनः ।
हृषीकेशः पद्मनाभो दामोदर इति श्रुतः ॥

बीजैर्दीर्घस्वरोपेतैः प्राग्वदङ्गानि कल्पयेत् । इति ।
—(पा०सं० २४।७७-८२)

अत्र नेमौ नवमं हकारमित्यर्थः । अष्टमं सकारम् । अराद्यं ककारम् । मातृकान्तिमं क्षकारमित्यर्थः । नाभिषष्ठासनोर्ध्वस्थानि ऊकारान्वितानीत्यर्थः । हृदयान्तानि नमःपदान्तानीत्यर्थः । एवं च सात्वतोक्तं पारमेश्वरोक्तं चैककण्ठ्यम् । पारमेश्वरे व्याख्याने तु—सं हं कं क्षं सं हं कं क्षं सं हं कं क्षं इति केशवादिबीजानि लिखितानि । तान्यपहास्यानि, यतो हकारात् पूर्वं सकारलेखनं हकारादीनां प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा लेखनं विना परस्परवर्णव्यवहितलेखनं बीजैकदेशमात्रमपि लेखनं चोन्मत्तकार्यम् ॥२२-२५॥

अब केशवादिकों के बीज मन्त्रों को कहते हैं—तीन बार हकार लिखे फिर तीन बार जीव बीज (सकार) लिखे इसी प्रकार तीन बार ककार और क्षकार लिखे। इसी प्रकार १२ बीजाक्षरों को लिखकर वायु, धारा एवं वारिसंज्ञक यकार, लकार तथा वकार इन तीनों को एक-एक कर द्वादश बीजों में संयुक्त करे । उसके बाद उन सभी पर षष्ठ स्वर (ऊकार) लगा देवे । तदनन्तर उसे अनुस्वार से विभूषित कर देवे । इस प्रकार केशवादि के मन्त्र निष्पन्न हो जाते हैं ।

बीज मन्त्रों का स्वरूप ह्यूं ह्लूं ह्वूं, स्यूं स्लूं स्वूं, क्यूं क्लूं क्वूं, क्ष्यूं क्ष्लूं क्ष्वूं—ये केशवादि के द्वादश बीज मन्त्र हैं ॥ २२-२५ ॥

क्षसहत्रितयं ह्येतच्चतुर्धा विलिखेत् क्रमात् ।
ततो द्विषट्कं बीजानां तस्याधो विनिवेश्य च ॥ २६ ॥
क्रमेण सप्तमाद् वर्गाद् द्वितीयं च चतुर्थकम् ।
पुनस्तृतीयं तुर्यं च द्वितीयं च तृतीयकम् ॥ २७ ॥
द्वितीयं च चतुर्थं च चतुर्थं तदनन्तरम् ।
तृतीयमष्टमाच्चाथ तृतीयं सप्तमात् पुनः ॥ २८ ॥
नवमद्वादशाभ्यां तु विशेषमिममाचरेत् ।
अथो नियोजयेद् रेफं तत्त्रयाणां तु मूर्धनि ॥ २९ ॥
षट्सप्तमाष्टसंज्ञानामीकारमुपरि न्यसेत् ।
सानुस्वारं च सर्वेषामिति देवीगणस्य च ॥ ३० ॥
बीजद्वादशकं प्रोक्तं यथा चानुक्रमेण तु ।
श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिः क्रियाशक्तिर्विभूतयः ॥ ३१ ॥
इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च ।

ततः केशवादिदेवीनां बीजद्वादशकमाह—क्षसहत्रितयमित्यादिभिः । क्षसहत्रयं क्षकारसकारहकारत्रयमपि क्रमेण चतुर्धा चतुर्वारं विलिखेत् । एवं कृते बीजानां द्विषट्कं भवति । तेषां बीजानामधस्तात् क्रमेण सप्तमाद्वर्गाद् यरलवात्मकाद् द्वितीयं

रेफम्, चतुर्थकं वकारम्, तृतीयं लकारम्, तुर्यं वकारम्, द्वितीयं रेफम्, तृतीयकं लकारम्, द्वितीयं रेफम्, चतुर्थं वकारम्, पुनश्चतुर्थ वकारम् । अष्टमात् शकारादि-वर्णात्मकाद् वर्गात् तृतीयं सकारम् । सप्तमात् पूर्वोक्ताद् वर्गात् तृतीयं लकारं पुनरित्यनेन पुनश्च लकारमेव नियोजयेत् । नवमद्वादशाभ्यां बीजाभ्यामधो रेफं नियोजयेत् । षट्सप्ताष्टसंज्ञानां बीजानां तु मूर्ध्नि रेफं नियोजयेत् । अयमेव विशेषः— सर्वेषां द्वादशबीजानामप्युपरि सानुस्वारम् ईकारं न्यसेत् । एवं बीजद्वादशकमुक्तं भवति । एषां बीजानां क्रमेण वाच्याः श्रीवागीश्वर्यादयः । अयमेवार्थः सुव्यक्तमुप-बृंहितः पारमेश्वरेऽपि—

तेषां श्रियादिकान्तानां शृणु मन्त्राननुक्रमात् ॥
मातृकान्त्यत्रयं क्षाद्यं चतुर्धा प्रस्तरेत् पुरा ।
द्विषट्सु योज्यान्यर्णानि त्वधोभागे यथाक्रमम् ॥
अग्न्यम्बुपृथिवीवारिवह्निभूज्वलनाः क्रमात् ।
वारिद्वयं च सोमं च पार्थिवद्वितयं ततः ॥
योजयेदनलं वर्गं षट्सप्ताष्टसु मूर्धनि ।
अथो नवद्वादशयोः सर्वेषां चोर्ध्वतः पुनः ॥
स्वरशक्त्या समेतेन नाभ्यन्ताद्येन भूषयेत् ।
स्वरजात्यादियुक्तानि बीजानि सुहृदादयः ॥ (२४।८२-८६) इति।

तथा चात्रैवं प्रयोगः—क्ष्रीं स्वीं ह्लीं, क्ष्वीं स्त्रीं ह्लीं, क्ष्र्वीं स्र्वीं ह्र्रीं, क्ष्सीं स्लीं ह्लीं इति ॥ २६-३२ ॥

अब केशवादि की देवियों का द्वादश बीज कहते हैं—क्ष स ह इन तीन अक्षरों को चार बार लिखे । ऐसा करने से बारह बीज हो जाते हैं । फिर बीजों के नीचे क्रमशः सप्तम वर्ग (=य वर्ग) के (य र ल व वर्णों के) द्वितीय वर्ण र, चतुर्थ वर्ण वकार, तृतीय वर्ण लकार और चतुर्थ वर्ण वकार एवं अष्टम शकारादि वर्ग से तृतीय सकार पूर्वोक्त सप्तम वर्ग से तृतीय लकार पुनश्च लकार से संयुक्त करे । फिर नवम एवं द्वादश बीज के नीचे रेफ संयुक्त करे और छ, सात एवं अष्ट संज्ञक बीजों के ऊपर रेफ लगावे यह विशेष है । सभी द्वादश बीजों के ऊपर सानुस्वार ईकार लगावे । इस प्रकार केशवादि की देवियों के बारह बीज निष्पन्न हो जाते हैं । इन बीजों के श्री एवं वागीश्वरी इत्यादि बारह देवियाँ वाच्य हैं । इन मन्त्रों का स्वरूप इस प्रकार है—क्ष्रीं स्वीं ह्लीं, क्ष्वीं स्त्रीं ह्लीं, क्ष्र्वीं स्र्वीं ह्र्रीं, क्ष्सीं स्लीं ह्लीं इति ॥ २५-३१ ॥

अब इनसे वाच्यभूत बारह देवियों को कहते हैं—श्री, वागीश्वरी, कान्ति, क्रिया, शक्ति, विभूति, इच्छा, प्रीति, रति, माया, धी एवं महिमा ये बारह देवियाँ इन मन्त्रों से वाच्य है ॥ ३२ ॥

समुद्रमूर्तये स्वाहा पद्मस्य प्रणवादिकः ॥ ३२ ॥
सर्वान्तश्चारिणे कृत्वा ततो गगनमूर्तये ।

स्वाहान्तः प्रणवाद्यश्च मन्त्रः शङ्खस्य कीर्तितः॥ ३३ ॥
ॐकारो वेदमात्रेऽथ विद्ये स्वाहा पदं तु वै ।
गदामन्त्रस्त्वयं प्रोक्तश्चक्रस्याथ निगद्यते॥ ३४ ॥
ॐकारान्ते पदं दद्यात् पश्चार्णं प्रभविष्णवे ।
तदन्ते कालशब्दं तु मूर्तये हुँ ततस्तु फट्॥ ३५ ॥
पद्मादीनां चतुर्णां तु एतन्मन्त्रचतुष्टयम् ।

अथ पद्मशङ्खगदाचक्राणां मन्त्रचतुष्टयमाह—समुद्रमूर्तय इत्यादिभिः । तथा चात्रैवं प्रयोगः—ॐ समुद्रमूर्तये स्वाहा, ॐ सर्वान्तिश्चारिणे गगनमूर्तये स्वाहा, ॐ वेदमात्रे विद्यायै स्वाहा, ॐ प्रभविष्णवे कालमूर्तये हुँ फट् इति । अत्र समुद्रस्य पद्माधिष्ठातृत्वात्, गगनस्य शङ्खाधिष्ठातृत्वात्, सरस्वत्या गदाधिष्ठातृत्वात्, कालस्य चक्राधिष्ठातृत्वाच्च समुद्रमूर्तादिशब्दैः पद्मादीन्युक्तानीति बोध्यम् ।

समुद्रादीनां पद्माद्यधिष्ठातृत्वं त्रयोदशपरिच्छेदे वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् । इदं पद्मादिमन्त्रचतुष्टयं वासुदेवादिव्यूहार्चने केशवादिव्यूहान्तरार्चने च कार्यम् । विभवार्चने तु प्रकारान्तरेण वक्ष्यमाणायुधमन्त्रा ग्राह्याः । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते नारायणमूर्त्यर्चनप्रकरणादिदमेव पद्मादिमन्त्रचतुष्टयं प्रतिपादितम् ॥ ३२-३६ ॥

अब पद्म, शङ्ख, गदा तथा चक्र के चार मन्त्रों को कहते हैं—'ॐ समुद्र मूर्त्तये स्वाहा' यह पद्म का मन्त्र है । 'ॐ सर्वान्तिश्चारिणे गगनमूर्त्तये स्वाहा' यह शङ्ख का मन्त्र है । 'ॐ वेदमात्रे विद्यायै स्वाहा' यह गदा का मन्त्र है तथा 'ॐ प्रभविष्णवे कालमूर्त्तये हुं फट्' यह चक्र का मन्त्र है । इस प्रकार इन चारों आयुधों के चार आयुध-मन्त्र कहे गये ॥ ३२-३६ ॥

सर्वमन्त्रसाधारणाञ्जलिमुद्राकथनम्

सामान्या सर्वमन्त्राणामेका मुद्राञ्जलिः कृता॥ ३६ ॥
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण संयुक्तानां प्रयोजयेत् ।
श्लिष्टौ विकसितौ हस्तौ योज्यौ चामणिबन्धनात्॥ ३७ ॥

अथ सर्वमन्त्रसाधारणाञ्जलिमुद्रामाह—सामान्येति । यद्यप्येवमञ्जलिमुद्राया एव सर्वसाधारणत्वोक्त्या सर्वत्रेयमेव प्रयोक्तव्या, तयाप्यत्रैव कतिपयमुद्राविशेषाणां नृसिंहकल्पादिषु वक्ष्यमाणत्वात् तदनुरोधे (च ? न) सात्वतोपबृंहणे ऐश्वरतन्त्रे च केषाञ्चिन्मुद्राविशेषाणां प्रदर्शितत्वाच्च तद्व्यतिरिक्तानां केवलमञ्जलिमुद्रैव प्रदर्शनीयेति बोध्यम् ॥ ३६-३७ ॥

तद्बाहुकूर्परौ द्वौ च नाभौ संरोध्य दण्डवत् ।
ईषद् वै डोलयेत् पश्यादथ ऊर्ध्वे च तौ करौ॥ ३८ ॥
गुप्तिं कृत्वा तु योज्यैषा मुद्राऽऽराधनकर्मणि ।

आराधनकाले प्रयोज्यां मुद्रामाह—श्लिष्टाविति द्वाभ्याम् । स्वहस्तौ परस्पर-संश्लिष्टौ विकसितौ च कृत्वा तद्बाहुकूर्परौ द्वौ मणिबन्धपर्यन्तं निरन्तरं संयोज्य दण्डवत् स्वनाभौ संरोध्य हस्तौ अध ऊर्ध्वं च किञ्चिच्चालयेत् । एषा मुद्रा गुप्तिं कृत्वा योज्या, गोप्येत्यर्थः ॥ ३७-३९ ॥

अब इसके बाद सर्वमन्त्र साधारण अञ्जलि मुद्रा कहते हैं, इन्हें अपने-अपने मन्त्र के साथ संयुक्त कर प्रयोग करना चाहिए । अब मुद्रा निर्माण का प्रकार कहते हैं—दोनों हाथों को फैला कर परस्पर मिला देवे । दोनों बाहुओं के कूर्पर को मणिबन्ध पर्यन्त नाभि में रोक कर दण्ड के समान स्थापित करे फिर ऊपर कुछ-कुछ चलाते रहे, यह अञ्जलि मुद्रा है । इस मुद्रा को आराधन कर्म में छिपाकर करना चाहिये ॥ ३६-३९ ॥

आसाद्य प्राक्स्थितामर्चां स्वयं वासमपृष्ठताम् ॥ ३९ ॥
सर्वलक्षणसम्पन्नां यस्यां चेतः प्रसीदति ।

व्रताराधनार्थं स्वयंव्यक्तान्यतमबिम्बं सलक्षणं सुप्रतिष्ठितं बिम्बं वा स्वेच्छानुसारेण प्राप्यमित्याह—आसाद्येति ॥ ३९-४० ॥

अब व्रत की आराधन के लिये बिम्ब का प्रकार कहते हैं—साधक आराधना के लिये स्वयं व्यक्त बिम्ब अथवा अन्य स्थापित बिम्ब जो सुलक्षण हो एवं प्रतिष्ठित हो अथवा जिसे देख कर अपना मन प्रसन्न हो जाता हो, ऐसे बिम्ब को प्राप्त करे ॥ ३९-४० ॥

हेमादिनिर्मितं कुर्यात् पीठं वा लक्षणान्वितम् ॥ ४० ॥
शमं त्रिभागन्यूनं वा द्वादशाङ्गुलविस्तृतम् ।
चतुरश्रं चतुष्पादं विस्तरार्धेन चोन्नतम् ॥ ४१ ॥
तृतीयं भागमादाय विस्तराच्च स्वकं स्वकम् ।
तेन तन्मध्यगं कुर्यात् कमलं लक्षणान्वितम् ॥ ४२ ॥
द्विषट्कारं तु तद्बाह्ये चक्रं सर्वाङ्गचिह्नितम् ।
सिद्धामरनरादीनां हृदयस्थाऽक्षयाऽऽच्युती ॥ ४३ ॥
मृदूच्चचरणाक्रान्तिनिर्मुक्ताऽऽकृतिलक्षणा ।
पादाम्बुरुहमुद्राऽथ कार्या वै कर्णिकोदरे ॥ ४४ ॥

बिम्बं विनाऽर्चनार्थं केवलपीठं वा कुर्यादिति तल्लक्षणमाह—हेमादिनिर्मितमित्यादिभिः । शमं चतुरङ्गुलविस्तृतमित्यर्थः । "शमः स्याच्चतुरङ्गुलः" (३।१।५२) इति वैजयन्ती । सममिति पाठे समं निम्नोन्नतत्वरहितमित्यर्थः । यद्वा आयामविस्तराभ्यां सममित्यर्थः । त्रिभागन्यूनं वा अष्टाङ्गुलं वेत्यर्थः । द्वादशाङ्गुलस्य त्रिष्वेकभागराहित्येऽष्टाङ्गुलं भवति । एवमुक्तं द्वितीयपरिच्छेदेऽपि—"मृत्काष्ठोपल-

धातूत्थमेकद्वित्रिशमं तु वा'' (२।४७) इति । द्विषट्कारं द्वादशारमित्यर्थः । सिद्धामरनरादीनां हृदयस्था, तेषां ध्यानविषयीभूतेत्यर्थः । अक्षया अन्तरहिता, आच्युती भगवदीया, चरणाक्रान्तिनिर्मुक्ताकृतिलक्षणा चरणयोराक्रान्तिराक्रमणं पदन्यास इति यावत्, तेन निर्मुक्ता या आकृतिस्तल्लक्षणा, तथेत्यर्थः । भगवत्पादपद्मस्यातिकोमलत्वेऽपि तत्सुखस्पर्शपीठपद्मस्य ततोऽप्यतिशयितमृदुत्वात् तदुपरि पादलाञ्छनं स्फुटीभवतीति ज्ञेयम् । पादाम्बुरुहमुद्रा पद्मसदृशश्रीपादद्वन्द्वलाञ्छनमित्यर्थः ॥ ४०-४५ ॥

यदि बिम्ब प्राप्त न हो तब बिम्ब के बिना केवल पीठ पर ही अर्चना करे जो हेमादि निर्मित हो, सुलक्षण हो, चार अङ्गुल, अथवा आठ अङ्गुल, अथवा बारह अङ्गुल विस्तार वाला हो, चौकोर हो, चतुष्पद हो, उसकी विस्तार की अपेक्षा ऊँचाई आधी हो ॥ ४०-४१ ॥

अपने-अपने विस्तार के अनुसार अपना-अपना तृतीय भाग लेकर उसके मध्य में सुलक्षण कमल निर्माण करे ॥ ४२ ॥

उसके बाहर सर्वाङ्ग चिह्नित बारह अरे के चक्र का निर्माण करे । सिद्ध, देवता तथा मनुष्यों के चित्त को मोहित करने वाली अक्षया (अन्तरहिता) कोमलचरण के पदन्यास से अत्यन्त मनोहर आकृति वाली भगवदीया चरणकमल की मुद्रा उसके कर्णिका के भीतर निर्माण करे ॥ ४२-४४ ॥

सम्पाद्य चैवमाधारं पीठं वाऽर्चान्वितं स्मरेत् ।
पादाब्जमुद्रारहितं कुण्डं तदनु कल्पयेत् ॥ ४५ ॥
फुल्लपद्मसमाकारमोष्ठयोनिसमन्वितम् ।
चलमेकदिशिस्थं वा ततो नियममाचरेत् ॥ ४६ ॥
संवत्सरस्य पूजार्थं विभोर्वै द्वादशात्मनः ।
मार्गशीर्षात् समारभ्य मासाद्वै कौमुदान्तिमम् ॥ ४७ ॥

कुण्डलक्षणमाह—पादाब्जेति सपादेन । कुण्डस्य पादाब्जमुद्रारहितत्वोक्त्या केवलसचक्रपद्मलाञ्छनं कुण्डमध्येऽपि कार्यमित्युक्तं भवति । पादाब्जमुद्रारहितमित्यस्य पूर्वेणैवान्वये पीठलक्षणस्यैव पक्षान्तरमुक्तं भवति । ओष्ठयोनिसमन्वितमित्यत्र तल्लक्षणं कुण्डलक्षणप्रकरणे वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् । चलं जङ्गमरूपमित्यर्थः । एकदिशिस्थं स्थावरमित्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—''तस्मात् कुण्डं सदा कार्यं सौत्रं वा जङ्गमं स्थिरम् (७।३) इति । व्रताचरणमाह—तत इति सपादेन । द्वादशात्मनः केशवादिरूपस्येत्यर्थः ॥ ४५-४७ ॥

इस प्रकार आधार पीठ का सम्पादन कर उस पर अर्चा से संयुक्त भगवान् का स्मरण करे । इसके पश्चात् पादाब्जमुद्रा से रहित कुण्ड का निर्माण करे जो विकसित कमल के सदृश हो, ओष्ठ योनि से समन्वित हो और जङ्गम स्वरूप वाला हो तथा एक दिशा में स्थित हो ॥ ४५-४६ ॥

इसके बाद साधक व्रताचरण करे । केशवादि रूप वाले द्वादशात्मा विभु की पूजा के लिये मार्गशीर्ष मास से आरम्भ कर कौमुद मास पर्यन्त व्रताचरण आदि नियमों का पालन करे ॥ ४७ ॥

मासेशमन्त्रसंजप्तं युक्तं हेमकुशाम्बुना ।
दशम्यां पञ्चगव्यं च पिबेत् सम्पूज्य केशवम् ॥ ४८ ॥
तन्निवेदितमन्नं च प्राग्भुक्त्वा तु घृतादिकम् ।
नातीव तृप्तिजनकं दन्तकाष्ठमथाचरेत् ॥ ४९ ॥
शयनं मन्त्रतोयेन प्रोक्षयेत् सकुशं ततः ।
शयनस्थो जपेन्मन्त्रं शतमष्टाधिकं तु वै ॥ ५० ॥

मार्गशीर्षशुक्लदशम्यां रात्रौ कर्तव्यक्रममाह—मासेति सार्धत्रिभिः । मासेशमन्त्रसंजप्तम्, प्रकृतमासेशः केशवः, तन्मन्त्राभिमन्त्रितमित्यर्थः ॥ ४८-५० ॥

अब मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी की रात्रि का कर्त्तव्य कर्म कहते हैं—मासेश मन्त्र (केशव मन्त्र) का कुशा के जल से अभिमन्त्रित कर जप करे । केशव का जप कर पञ्चगव्य पान करे । भगवान् को निवेदित अन्न तथा घृतादि का भोजन करे जो बहुत अधिक न हो । इसके बाद दतुअन करे । अपने शयन को सकुश मन्त्र जल से प्रोक्षित करे । फिर शयन पर स्थित हो कर १०८ की संख्या में मन्त्र का जप करे ॥ ४८-५० ॥

एकादश्यां प्रभातेऽथ मध्याह्ने वा दिनक्षये ।
केशवाय नमस्कुर्याद् बहुशः प्रणवादिकम् ॥ ५१ ॥

एकादश्यां केशवस्य कालत्रयस्यार्चनमाह—एकादश्यामिति सार्धेन । केशवाय नमस्कुर्याद् बहुशः प्रणवादिकमित्यन्तेन ॐ केशवाय नम इति मन्त्रमसकृज्जपेदित्युक्तं भवति ॥ ५१ ॥

फिर एकादशी के दिन प्रातःकाल, अथवा मध्याह्न, अथवा सायङ्काल के समय केशव को नमस्कार करे और अनेक बार प्रणवादि का जप करे ॥ ५१ ॥

तस्य वै पूजनं भक्त्या कुर्यात् कालत्रयं तु वै ।
सर्वगं परमं ज्योतिरमूर्तममलं हि यत् ॥ ५२ ॥
स एव वासुदेवेति मत्वा सम्यग् यजेत् ततः ।
चेतसामृतसंकाशैः पुष्पाद्यैरखिलैः प्रभुम् ॥ ५३ ॥
पश्चात् तममलं धाम ध्यायेन्मुक्तमनश्वरम् ।
श्रोणीतटार्पितकरं सानुकम्पमनूपमम् ॥ ५४ ॥
दक्षिणेन तु हस्तेन भक्तानामभयप्रदम् ।

पुष्पाभरणवस्त्राढ्यं शङ्खचक्रद्वयान्वितम् ॥ ५५ ॥
ततस्तस्मात्तु वै धाम्नो युगपन्निस्सृतं स्मरेत् ।
महत्स्फुलिङ्गसंकाशं महस्तु सततोदितम् ॥ ५६ ॥
तेन चाक्रमरावृन्दं समाक्रान्तं च भावयेत् ।
अथ प्रत्येकतेजोंऽशादुद्भूतं भावयेत् क्रमात्॥ ५७ ॥
त्रयं त्रयं सिताद्यं च केशवाद्यं चतुर्भुजम् ।

अथ परात्परवासुदेवस्य मानसार्चनपूर्वकं मूर्तिध्यानम्, तस्माद्वासुदेवादिव्यूहोत्पत्तिकथनम्, तेभ्यः केशवादीनामुत्पत्तिभावनां चाह—सर्वगं परमं ज्योतिरित्यादिभिः। अत्र 'त्रयं त्रयं सिताद्यम्'इत्यनेन केशवादित्रिकस्य वासुदेववत् सितवर्णत्वं गोविन्दादित्रिकस्य सङ्कर्षणवद्रक्तवर्णत्वं चोक्तं भवति । तथा च पौष्करे पञ्चत्रिंशेऽध्याये—

मूर्तित्रयमिदं दिव्यं कुन्देन्दुस्फटिकप्रभम् ।
भगवद्वासुदेवेन सहास्य चतुरात्मता ॥
त्रयमेवं हि देवानां सह वै ज्ञानमूर्तिना ।
चातुरात्म्यद्वितीयं तु पद्मरागोज्ज्वलद्युति ॥
मूर्तित्रितयमेतद् वै सहजस्वामिना द्विज ।
हेमधामप्रभं ज्ञेयं चातुरात्म्यतया स्थितम् ।
अतसीपुष्पसंकाशमिदं मूर्तिगणं स्मृतम् ।
सहानिरुद्धदेवेन अस्यापि चतुरात्मता ॥ इति ।
—(३६।१५०, १५६, १६२, १६८)

पारमेश्वरे तु सुदर्शननारसिंहयन्त्रप्रकरणे (२३।७२-७८) पौष्करोक्तक्रमं विहायाहिर्बुध्न्यसंहि(तायामु?तो)क्तरीत्या केशवादीनां वर्णभेदा उक्ताः । तत्रापि तथा ध्यानं यन्त्रमात्रविषयम् । अन्यत्र पौष्करोक्तध्यानमेव सार्वत्रिकं ग्राह्यम्, पौष्करोपबृंहणत्वात् ॥ ५२-५८ ॥

भगवान् केशव का तीनों कालों में भक्तिपूर्वक पूजन करे । जो सर्वग परम ज्योति-अमूर्त एवं अमल हैं, वही वासुदेव हैं ऐसा मान कर उनका यजन ठीक तरह से करे । इसके पश्चात् मुक्त एवं अनश्वर उन अमल धाम विष्णु का ध्यान करे जिनका एक बायाँ हाथ नितम्ब प्रदेश पर तथा दूसरा दाहिना हाथ अनुकम्पापूर्वक भक्तों को अभय प्रदान करने वाला है ॥ ५२-५५ ॥

भगवान् केशव पुष्प के आभरणों से शोभित हो रहे हैं और शङ्ख एवं चक्र से युक्त हैं । इस प्रकार भगवान् के उस धाम से निकलते हुए बहुत बड़े स्फुलिङ्ग के समान सतत उदीयमान तेज का स्मरण करे ॥ ५५-५६ ॥

चक्र के ऊपर स्थित समस्त देवताओं को उस तेज से आक्रान्त होते हुए ध्यान करे । फिर उस तेज से प्रत्येक अंश से निकलते हुए वासुदेव के समान सितवर्ण वाले चतुर्भुज केशवादि तीन-तीन का ध्यान करे ॥ ५६-५८ ॥

दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां पृष्ठतः केशवादिषु॥ ५८ ॥
युग्मं युग्मं परिज्ञेयं क्रमेणोर्ध्वगतं त्विदम्।
शङ्खचक्रकजं विद्या साथ शङ्खोऽथ हेतिराट्॥ ५९ ॥
तच्छङ्खं सकजं विद्याऽशङ्खं चक्रं गदा त्वरि।
गदा चक्रं कजं पद्मं चक्रं शङ्खं ततो गदा॥ ६० ॥

केशवादीनां पश्चात्करद्वयस्थितलाञ्छनक्रममाह—दक्षिणोत्तरेति सार्धद्वाभ्याम् । कजं = पद्ममित्यर्थः । विद्या = गदेत्यर्थः । तद् अम्बुजं = सशङ्खमित्यर्थः । विद्याशङ्खमिति पदच्छेदः । अशङ्खं = चक्रमित्यर्थः । यतोऽन्यथा त्रिविक्रमस्य शङ्खद्वयसाधारणं भवति । ननु किं तावता प्रत्यवाय इति चेन्न, प्रत्येकमायुध-चतुष्टयधारणनियमात् । विद्या चक्रमिति पाठश्चेदेवं क्लिष्टकल्पनश्रम एव नास्ति । अरि चक्रमित्यर्थः ॥ ५८-६०॥

अब केशवादि के पश्चात् दो-दो हाथों में स्थित लाञ्छन कहते हैं—ऊर्ध्व के दक्षिण एवं उत्तर पाणि में क्रमशः दो-दो लाञ्छन इस प्रकार है—शङ्ख, चक्र, कज (पद्म), विद्या (गदा), शङ्ख, हेतिराट् (चक्र), शङ्ख, पद्म, विद्या, चक्र, चक्र, गदा, अरि (चक्र), गदा, चक्र, कज (पद्म), पद्म, चक्र, शङ्ख, गदा ॥ ५८-६० ॥

तद्वद् भूयोऽग्रसंस्थाभ्यामधरस्थं द्वयं द्वयम्।
ज्ञेयं दामोदरान्तानां द्वादशानामिदं शृणु॥ ६१ ॥
पद्मं गदा ध्वनिश्चक्रं तत्पद्मं हेतिराड् ध्वनिः ।
विद्या चक्रं च तद्विद्यात् पद्मं शङ्खं च साऽम्बुजम्॥ ६२ ॥
पद्मध्वनिगदाशङ्खाः सविद्याम्बुरुहं त्वरि ।

अथ मुख्यहस्तद्वयस्थितायुधक्रममाह—तद्वदिति सार्धद्वाभ्याम् । ध्वनिः शङ्ख-मित्यर्थः । तत् चक्रमित्यर्थः पुनः तच्चक्रमित्यर्थः । स शङ्ख इत्यर्थः । पुनः स शङ्ख इत्यर्थः । एवं च पद्मगदाशङ्खचक्राख्यायुधचतुष्टयधारणं केशवादिद्वादशमूर्तीनामपि समानम्, किन्तु हस्तभेदैस्तद्धारणमेव तत्तन्मूर्तेर्विशेषः । स च तन्त्रभेदेन नैकरूपः । वस्तुतस्तु पाद्मोक्त एव प्रायेणैतदेककण्ठो भवति तथाहि—

केशवस्याम्बुजं शङ्खं चक्रं दण्डस्थायुधम् ।
प्रादक्षिण्येन बाहूनामन्येषामुच्यते क्रमात् ॥
नारायणः शङ्खपद्मगदाचक्रधरः स्मृतः ।
माधवो गदया सार्धं शङ्खचक्राम्बुजायुधः ॥
गोविन्दश्चक्रदण्डाब्जशङ्खायुधधरो भवेत् ।
विष्णुर्गदाब्जशङ्खारिधरः स्यान्मधुसूदनः ॥
चक्रशङ्खाब्जदण्डास्त्रधरः कार्यस्त्रिविक्रमः ।
पद्मशङ्खारिदण्डास्त्रो वामनः शङ्खचक्रधृक् ॥
गदाब्जपाणिश्च तथा श्रीधरो धृतवारिजः ।

सार्धं चक्रगदाशङ्खो हृषीकेशमतः शृणु ॥
गदाचक्राब्जशङ्खास्त्रधरो दामोदरः स्मृतः ।
अब्जशङ्खगदाचक्रधरा द्वादश मूर्तयः ॥ इति ।

अत्र त्रिविक्रमपद्मनाभोक्तलक्षणं विनाऽन्यत् सर्वमेकरूपं ज्ञेयम् ।

नन्वेतदुक्तं नारायणमूर्तिलक्षणं यादवाचलस्थनारायणमूर्तौ न लक्ष्यत इति चेत्, सत्यम् । न तावता प्रत्यवायोऽस्ति, स्वयं व्यक्तस्य निरङ्कुशत्वात् । ननु स च नारायण-मूर्तिरिवेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत्, अस्ति पौराणिकी प्रसिद्धिः । न च पौराणिक-नारायणशब्दस्य व्यापकत्वान्न मूर्तिनिर्णायकत्वमिति वाच्यम्,

केशवः केशिहा लोके कुरुक्षेत्रादिषु स्थितः ।
नारायणो मुनिश्रेष्ठाः स्थितो नारायणाचले ॥
—(पौ० सं० ३६।३०६, ई०सं० २०।२१-२२)

इति पौष्करेश्वरयोर्मूर्तिविशेषनियतशब्देनैव व्यक्तोक्तेः । किञ्च, पौष्करोक्तं नारायणमूर्तिलक्षणं यादवाचलस्थनारायणे लक्ष्यत एव । तथाहि—

सव्यापसव्यहस्ताभ्यां मुखाभ्यां तु गदाम्बुजे ॥
वामादौ शङ्खचक्रौ तु संधत्ते पश्चिमद्वये ।
नारायणाख्यो भगवान् (पौ०सं० ३६।१४७-१४८) इति ।

ननु तत्र मुख्यदक्षिणहस्तेऽम्बुजमपि न लक्ष्यत इति चेत्, अस्ति सूक्ष्मरेखारूपं कमलं तत्रेति सन्तोष्टव्यमायुष्मता । वक्ष्यति हि द्वादशे परिच्छेदे—

यस्मात् कार्यवशेनैव मूर्तीनामपि पाणिगाः ।
चतुःपद्मादयो मूर्ता मूर्ताः शान्तास्तथोद्यताः ॥ (१२।१४५) इति।
नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां व्यक्तिर्व्यक्ता जगत्त्रये ॥
तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्घ्रिगोचरे ।
ललाटे चांसपट्टे तु पृष्ठपाणितलद्वये ॥
तनूरुहद्वये मूर्ध्नि कर्मिणां प्रतिपत्तये ।
—(१२।१६८-१७०) इति ।

अत एवेश्वरनारायणार्चनप्रकरणे पद्मन्यासादिकमप्युक्तम् ।
अलं प्रसङ्गेन ॥ ६१-६३ ॥

अब दामोदरान्त के मुख्य दोनों हाथों में धारण किये हुए दो-दो आयुधों को कहते हैं—पद्म, गदा, ध्वनि (शङ्ख), चक्र, पद्म, चक्र, शङ्ख, विद्या, चक्र, पद्म, शङ्ख, कमल, पद्म, शङ्ख, गदा, शङ्ख, गदा, कमल, चक्र । ये मुख्य दो-दो हाथों के लाञ्छन हैं ।

विमर्श—१. **वासुदेव**—केशव, नारायण, माधव—श्री, वागेश्वरी, कान्ति । २. **सङ्कर्षण**—गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन—क्रिया, शक्ति, विभूति । ३. **प्रद्युम्न**—त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर—इच्छा, प्रीति, रति । ४. **अनिरुद्ध**—हृषीकेश,

पद्मनाभ, दामोदर—माया, धी, महिमा । इस प्रकार द्वादश व्यूह देवता के त्रिक हैं ॥ ६१-६३ ॥

भूयो धामगणात् तस्मात् संस्मरेन्निस्सृतं महः ॥ ६३ ॥
केशवादिविभागेन श्रियाद्यं च त्रयं त्रयम् ।

अथ केशवादिपत्नीवर्गस्योत्पत्तिमाह—भूय इति। तस्माद्धामगणाद् वासुदेवादि-मूर्तिचतुष्टयादित्यर्थः । एवमेवोक्तं पाद्मेऽपि—

सुदर्शनाद्यायुधानि किरीटादिविभूषणम् ।
मूर्त्याविर्भावसमये सहैवैतानि जज्ञिरे ॥
देव्यः श्रियादयस्तत्तन्मूर्तिभेदसमाश्रिताः ।
श्रीवत्सादेव सकला जज्ञिरे दिव्यलाञ्छनात् ॥ इति ॥ ६३-६४ ॥

अब केशवादि पत्नी वर्ग की उत्पत्ति कहते हैं—पुनः उस महान् धाम वाले वासुदेवादि से उत्पन्न केशवादि वर्ग के विभाग वाले तीन-तीन तेज उत्पन्न हुए। श्रियादि तीन एवं कमलादि तीन इत्यादि (द्र. ८.३१+३२) हैं ॥ ६३-६४ ॥

कमलादित्रयेणैव त्वन्योन्यत्वेन लाञ्छितम् ॥ ६४ ॥
बद्धपद्मासनस्थं च दिवि दिक्षु च सम्मुखम् ।
संवीजयेत् तु विनयाच्चामरेण सितेन च ॥ ६५ ॥

देवीद्वादशकं विशिनष्टि—कमला(दि?दी)ति सार्धेन ॥ ६४-६५ ॥

ये कमलादि तीन तीन देवियाँ आकाश में एवं दिशाओं में पद्मासन बाँध कर सबके सामने खड़ी हैं । साधक विनयपूर्वक इन्हें चामर के पङ्ख से पङ्खा झले ॥ ६५ ॥

देवीद्वादशकं चैव तासां रूपमथोच्यते ।
पूर्णचन्द्रानना: सर्वाः सर्वर्तुकुसुमान्विताः ॥ ६६ ॥
सर्वलक्षणसम्पन्नाः सर्वाभरणभूषिताः ।
विद्रुमाभं त्रयं त्वाद्यमपरं चम्पकप्रभम् ॥ ६७ ॥
प्रियङ्गुमञ्जरीश्यामं तृतीयं देवतात्रयम् ।
चतुर्थं त्रितयं ध्यायेज्जातीपुष्पसमप्रभम् ॥ ६८ ॥
आद्यायाः कमलं पाणावन्यस्या हेतिराट् करे ।
शङ्खं ध्यायेत्तृतीयस्या एवं ध्यायेत् त्रिषु त्रिषु ॥ ६९ ॥
चतुस्त्रिर्देवतान्तानामेवमाद्यं त्रयं क्रमात् ।
स्मृत्वा सम्पूजनं कुर्याज्जागरेण समन्वितम् ॥ ७० ॥

तद्रूपलाञ्छनादिक्रममाह—तासामित्यादिभिः । आद्यायाः श्रियः, अन्यस्यां वागीश्वर्याम्, तृतीयस्यां कान्त्याम्, त्रिषु त्रिषु क्रियादिकेच्छादित्रिके मायादित्रिके

चेत्यर्थः । चतुस्त्रिर्देवतान्तानां महिमान्तानामित्यर्थः । एवमाद्यं कमलादित्रयमेव पौनः-पुन्येन ध्यायेदित्यर्थः ॥ ६६-७०॥

अब इन द्वादश देवियों के रूप एवं लाञ्छन चिह्नों को कहता हूँ—ये सभी द्वादश देवियाँ पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुख वाली हैं और सभी सर्वर्तु पुष्पों से शोभित हैं ॥ ६६ ॥

ये सभी सर्व लक्षण सम्पन्ना हैं और सर्वाभरणों से भूषित हैं । इनमें से आदि की तीन विद्रुम के समान आभा वाली हैं । इसके बाद दूसरी त्रिक वाली देवियाँ चम्पा के समान आभा वाली हैं । तृतीय देवी त्रय प्रियङ्गु की मञ्जरी के समान श्याम वर्ण वाली हैं । चौथी त्रितय देवियाँ जाती पुष्प के समान प्रभा वाली हैं । इस प्रकार इन बारह देवियों का ध्यान करे ॥ ६७-६८ ॥

आदि त्रिक वाली देवियों के हाथ में कमल है । अन्य दूसरी त्रिक वाली देवियों के हाथ में चक्र है, तीसरी त्रिक वाली देवयों के हाथ में शङ्ख है । इस प्रकार तीन त्रिक वाली देवियों के हाथ में तीन त्रिक का ध्यान करे । चौथे त्रिक वाली देवियों के हाथ में आद्य त्रिक के समान कमल है । एकादशी के दिन साधक इन देवियों का ध्यान कर जागरण समन्वित पूजन करे ॥ ६९-७० ॥

स्तोत्रैः कथानकैर्वाद्यैर्गीतकैः क्षपयेन्निशाम् ।
रात्रिक्षये ततः स्नायात् सिताम्बरधरः शुचिः ॥ ७१ ॥

एवं ध्यानपूर्वकमेकादश्यां कालत्रयार्चनं कृत्वा जागरणं कुर्यादित्याह—स्मृत्वेति ॥ ७०-७१ ॥

मासेशमन्त्रसन्नद्धं कृत्वा देवं स्मरेत् तथा ।
पूजापनयनं कृत्वा स्नानकर्म समाचरेत् ॥ ७२ ॥

द्वादश्यां प्रातः स्वनित्यकर्मानुष्ठानपूर्वकं तन्मासेशकेशवध्यानं रात्रौ तदर्पित-पूजाद्रव्यापनयनादिकं कृत्वाऽर्चनकाले वक्ष्यमाणं स्नपनं कुर्यादित्याह—रात्रिक्षय इति सार्धेन ॥ ७१-७२ ॥

स्तोत्र पाठ, कथानक, वाद्य और गीतों से साधक रात बितावें । रात्रि बीतने पर स्नान करे और श्वेत वस्त्र पहनकर शुद्ध होए । साधक द्वादशी के दिन स्वकर्मानुष्ठानपूर्वक तन्मासेश का ध्यान कर रात्रि में तदर्पित पूजा द्रव्यों का अपनयन करे और अर्चन काल होने पर स्नान कर्म करे ॥ ७१-७२ ॥

मध्यतः केशवस्यादौ केवलस्य महात्मनः ।
वासुदेवस्वरूपस्य चक्रस्थस्य त्वनन्तरम् ॥ ७३ ॥
प्रागरेऽभिनिविष्टस्य सकलस्याव्ययस्य च ।
तदादिद्वादशानां च दद्यात् स्नानादिकं क्रमात् ॥ ७४ ॥

केशवादीनामर्चनस्थानान्याह—मध्यत इति द्वाभ्याम् । मध्यतः = पीठमध्यस्थ-कर्णिकामध्य इत्यर्थः । केवलस्य = इत्यनेनारस्थाने देव्या सहार्चनम् । अत्र तु केशव-स्येति ज्ञायते । वासुदेवस्वरूपस्य = इत्यनेन चक्राधिष्ठातुः कालस्यापि प्रागरे केशवेन सहार्चनं ज्ञायते । तदादिद्वादशानां = केशवादिद्वादशमूर्तीनामित्यर्थः ॥ ७३-७४ ॥

पीठ के मध्य में स्थित कर्णिका के मध्य में स्थित केवल महात्मा केशव को स्नान कराए । इसके बाद चक्रस्थ वासुदेव स्वरूप को, फिर अरा पर सन्निविष्ट चक्राधिष्ठान महाकाल को, तत्पश्चात् तदादि केशवादि द्वादश मूर्त्तियों को स्नान करावे ॥ ७३-७४ ॥

स्नपनद्रव्यकथनम्

अम्बुना पञ्चगव्येन क्षीरेण तदनन्तरम् ।
दध्ना घृतेन मधुना सर्वौषधिजलेन च ॥ ७५ ॥
बीजाम्बुफलतोयेन गन्धपुष्पाम्बुना ततः ।
हेमरत्नोदकेनाथ कुम्भस्थेन पृथक् पृथक् ॥ ७६ ॥

स्नपनद्रव्याण्याह—अम्बुनेति द्वाभ्याम् । अत्राम्बुना मध्यस्थकेशवस्य, पञ्च-गव्येनारस्थकेशवस्य, क्षीराद्येकादशकलशैर्नारायणादिदामोदरान्तानां च स्नपनमिति ज्ञायते ।

नन्वीश्वरपारमेश्वरयोः—

अम्बुना पञ्चगव्येन क्षीरेण तदनन्तरम् ।
दध्ना घृतेन मधुना सर्वौषधिजलेन तु ॥
बीजाम्बुफलतोयेन गन्धपुष्पाम्बुना ततः ।
हेमरत्नोदकेनाथ पूरितं तु यथाक्रमम् ॥
कलशानां द्विषट्कं यत् परमेतदुदाहृतम् ।
—(ई० सं० १५।७८-८०, पा० सं० १४।७८,८१)

इतीदमेव स्नपनं द्वादशकलशात्मकत्वेन प्रतिपादितम्, इह भवता त्रयोदश-कलशात्मकत्वेन व्याख्यातं कथमेतदविरुद्धं भवतीति चेत्, सत्यम् ।

अविरोधं ब्रूमः—किमीश्वरपारमेश्वरयोरम्बुनेत्युक्तमात्रेण विरोधः? तत्र यथा मूलमम्बुनेत्यादिप्रतिपादनेऽपि तत्र विवक्षितम्, कलशानां द्विषट्कमित्युक्तत्वात्: पञ्च-गव्यादिन्येव विवक्षितानि । यथा पारमेश्वरे भोगयागप्रकरणे (५।१३०) "लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु" (१२।८१) इति जयाख्यवचने प्रतिपादितेऽपि तत्र लक्ष्मीर्न विवक्षिता, हृन्मन्त्र एव विवक्षितः, तद्वदिहापि विवक्षाधीनं बोध्यम् । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते पञ्चगव्यादीन्येव प्रतिपादितानि ।

ननु च किमेतावता प्रयासेन, मध्यस्थकेशवस्याप्यभिषेकसिद्ध्यर्थं खलु भवता त्रयोदशकलशात्मकत्वमङ्गीक्रियते, तथा त्रयोदशकलशात्मकत्वं ममापीष्टमेव । अपि तु

मध्यस्थितकेशवस्यारस्थितकेशवस्य चैकदेवतात्वादम्बुनैव पृथक् कलशाभिषेकः, नारायणादीनां तु पञ्चगव्यादिभिरिति ज्ञेयम् । एवं चात्र त्रयोदशकलशात्मकमेव स्नपनम् । तत्र तु अम्बुना कलशद्वयपूरणस्याप्रकृतत्वाद् द्वादशकलशात्मकत्वेनैव प्रतिपादितत्वाच्चाम्बुनैक एव कलशः पूर्यः । तथा चाम्बुनेति पदस्यापि सार्थक्यं भवतीति चेन्न, अम्बुनैव कलशद्वयपूरणे पञ्चगव्यादिद्वादशद्रव्येष्वेकतमस्य गत्य-भावात् । न च गन्धपुष्पाम्बुनेत्यत्रैकवचनाद् गन्धसहितपुष्पोदकमेवार्थः, न तु द्रव्य-द्वयम् । अतः पञ्चगव्यादीन्येकादशैवेति वाच्यम्, हेमरत्नोकेनेत्यत्राप्येकवचनेन विनि-गमनाविरहात् पञ्चविंशतिकलशस्नपनप्रकरणे गन्धपुष्पोदकयोर्हेमरत्नोदकयोश्च पार्थ-क्येनोक्तत्वाच्च ।

नन्वम्बुना पञ्चगव्येनेत्याद्युक्तद्रव्येकं परित्यज्य पञ्चगव्यादीनामेव ग्रहणमनुचित-मिति चेन्न, श्रीसात्वतषष्ठपरिच्छेदोक्तपञ्चविशतिकलशस्नपने क्षीरादीनि परित्यज्य धात्रीफलोदकादिभिरेव द्वादशकलशस्नपनमीश्वरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितं यथा समुचितं भवति, तद्वदिदमपि बोध्यम् ।

ननु च तत्र निर्विवादं द्वादशैव द्रव्याणि प्रतिपादितानि, अत्र तु त्रयोदश-द्रव्याणामप्युक्तत्वात् तन्मध्ये किं त्याज्यम्, कानि ग्राह्याणि, तत्र किं विनिगमकमिति चेदुच्यते, मध्यस्थितस्य केशवस्याभिषेकार्थं यदुक्तं तत् त्याज्यम्, अरस्थकेशवादि-क्रमेण यान्युक्तानि, तानि द्वादशद्रव्याण्यपि ग्राह्याणि । केशवादिक्रमेणोक्तानां द्रव्याणां मध्ये कस्यचित् परित्यागानौचित्यमेव तत्र विनिगमकमिति सूक्ष्मदृष्ट्या द्रष्टव्य-मायुष्मता ॥ ७५-७६ ॥

अब स्नपन का द्रव्य कहते हैं—जल से एवं पञ्चगव्य के दूध से इसके बाद दही, घृत, मधु तथा सर्वौषधि के जल से स्नान करावे । इसके बाद बीजाम्बु फल, तोय, गन्ध, जल, पुष्प जल, फिर हेमरत्नोदक फिर कुम्भस्थ जल से पृथक्-पृथक् स्नान करावे ॥ ७५-७६ ॥

सितं विलेपनं पुष्पं धूपं मधु घृतं दधि ।
नैवेद्यं विविधं पूतं व्रीहयो यवसंयुताः ॥ ७७ ॥
निवेद्य राजते पात्रे यथाशक्ति विनिर्मिते ।
पात्राभावाच्च रजतं स्वल्पमात्रं न लोपयेत् ॥ ७८ ॥

अथ केशवादित्रिकस्य सितवर्णत्वात् श्वेतवर्णचन्दनकुसुमादिभिरेव तदर्चनम्, रजतपात्रे यवव्रीहिमात्रानिवेदनम्, पात्रालाभे मात्रादानेन सह किञ्चिद्रजतं वा देयमिति चाह—सितमिति द्वाभ्याम् ॥ ७७-७८ ॥

इसके बाद सित, विलेपन, पुष्प, धूप, मधु, घृत, दधि, विविधपुत, नैवेद्य, यव संयुक्त व्रीहि इत्यादि पदार्थ यथाशक्ति विनिर्मित करे और रजत पात्र में स्थापित कर नैवेद्य अर्पित करे । यदि पात्र न प्राप्त हो तो स्वल्प रजत निवेदन करे । किन्तु क्रिया का लोप न करे ॥ ७७-७८ ॥

पश्चात् तद्भगवत्पूतं मधुपर्कादिकं तु वै।
प्रतिपाद्य गुरोर्भक्त्या प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ ७९ ॥

अनन्तरं गुर्वर्चनमाह—पश्चादिति ॥ ७९ ॥

अब गुरुपूजन कहते हैं—इसके बाद भगवान् को निवेदित मधुपर्कादि पदार्थ प्रसन्नचित्त से भक्तिपूर्वक गुरु को प्रदान करे ॥ ७९ ॥

यवान्नं व्रीहिजं त्वादौ समश्नीयाद् घृतान्वितम्।

व्रतिनो भोज्यद्रव्यमाह—यवान्नमित्यर्धेन ॥ ८०॥

ततः प्रभृतिकालाच्च प्रत्यहं केशवस्य तु ॥ ८० ॥
स्थानद्वयं निविष्टस्य पूजनं च समाचरेत्।
प्राग्वन्मध्ये केशवस्य देवीयुक्तस्य बाह्यतः ॥ ८१ ॥
ततो नारायणादीनां सदेवीनां च वै क्रमात्।
सर्वेषां पूजनं कुर्यात् प्रादक्षिण्येन यत्नतः ॥ ८२ ॥
यथासम्भवतो भक्त्या पुष्पधूपादिकेन तु।
यावदभ्येति दशमी सिता पौषस्य वै तिथिः ॥ ८३ ॥

एवं पुष्यशुद्धदशमीपर्यन्तं प्रत्यहं केशवस्य कर्णिकामध्येऽरप्रदेशे च स्थान-द्वयेऽर्चनम्, तत्र मध्ये केवलस्य, अरस्थाने देव्या सहार्चनम्, तथैवारस्थितानां नारायणादीनामपि तत्तद्देवीभिः सह प्रादक्षिण्येनार्चनं च कार्यमित्याह—तत इति सार्धैस्त्रिभिः ॥ ८०-८३ ॥

इसके बाद सर्वप्रथम घृतान्वित यवान्न और व्रीहिज अन्न से स्वयं भोजन करे। उस काल से लेकर पुष्य नक्षत्र युक्त शुक्ल दशमी पर्यन्त केशव का कर्णिका मध्य में पूजन करे तथा अर स्थान में देवी के साथ दोनों स्थानों में अर्चन करे। इसी प्रकार अर में स्थित देवी सहित नारायणादि का क्रमशः सभी का प्रदक्षिण क्रम से यथा संभव प्राप्त पुष्प, धूपादि के साथ भक्तिपूर्वक पूजन करे ॥ ८०-८३ ॥

ततः प्रभृतिकालाच्च प्रागुक्तविधिनाऽखिलम्।
नारायणाख्यमन्त्रेण व्रतकर्म समापयेत् ॥ ८४ ॥
तमर्चयेत् तु प्रथमं मध्ये कारणमूर्तिगम्।
बहिर्देवीसमेतं च प्राग्वत् स्नानादिना प्रभुम् ॥ ८५ ॥
द्वादश्यन्तं विधानेन केशवेन समन्वितम्।
किन्त्वत्र विहितं पश्चात् पूजनं केशवस्य च ॥ ८६ ॥
दिनावसाने द्वादश्यां धूपं दत्वा क्षमापयेत्।

कान्तासमन्वितं देवं केशवं क्लेशनाशनम् ॥ ८७ ॥

अथ तद्दशमीमारभ्य नारायणमन्त्रेण व्रतानुष्ठानम्, तदर्थं पूर्वोक्तकर्णिका-मध्ये केवलस्य स्वकारणभूतवासुदेवाकारनारायणस्यार्चनम्, बहिररस्थाने नारायणस्य तद्देव्या सहार्चनम्, दशम्यादिद्वादश्यन्तं दिनत्रये नारायणस्यार्चनानन्तरं केशव-स्यापि स्थानद्वयेऽर्चनम्, द्वादश्यां रात्रौ केशवस्योत्तरपूजां चाह—ततः प्रभृतीति चतुर्भिः ॥ ८४-८७ ॥

उसी काल से पहले कही गई विधि के अनुसार नारायणाख्य मन्त्र द्वारा समस्त व्रत कर्म समाप्त करे ॥ ८४ ॥

सर्वप्रथम कर्णिका के मध्य में सबके कारणभूत वासुदेवाकार श्री नारायण का अर्चन करे । फिर बाहर अर के स्थान में पूर्व की भाँति स्नानादि से देवी समेत नारायण की पूजा करे ॥ ८५ ॥

द्वादशी के दिन विधानपूर्वक केशव के साथ नारायण की पूजा करे । किन्तु यहाँ नारायण के बाद केशव की पूजा का विधान है । इसके बाद दिन बीत जाने पर क्लेशनाशक कान्ता सहित भगवान् केशव से क्षमा माँगे ॥ ८६-८७ ॥

विमर्श—दशमी से लेकर द्वादशी पर्यन्त तीन दिन तक नारायण की पूजा के बाद दो स्थानों में केशव का भी अर्चन करना चाहिए । अर्थात् पौष शुक्ल दशमी से आरम्भ कर नारायण का व्रतानुष्ठान करे । पहले पूर्वोक्त कर्णिका के मध्य में स्वकारणभूत वासुदेवाकार केवल नारायण का अर्चन करे । फिर बाहर अर स्थान में नारायण का देवी के साथ अर्चन करे । दशमी से लेकर द्वादशी पर्यन्त तीन दिन नारायण की अर्चना के बाद केशव का भी दोनों स्थानों में अर्चन करे । फिर द्वादशी के दिन रात्रि में केवल केशव की पूजा करे ।

अथ दामोदरान्ताभिर्मूर्तिभिश्च समन्वितम् ।
देवं नारायणं भक्त्या परेऽहनि समर्चयेत् ॥ ८८ ॥
मध्ये केशववत् पश्चाच्चक्रस्थं केशवारके ।
केशवं च तदीयेऽरे यजेत् कान्तासमन्वितम् ॥ ८९ ॥
एवं प्रतिदिनं तावद् यावन्मासस्य सा तिथिः ।
ततो माधवमूर्तेर्वै प्राग्वदाराधनं भवेत् ॥ ९० ॥

तदपरदिनमारभ्य माघशुक्लदशम्यन्तं नारायणस्यैव केशववत् स्थानद्वयेऽर्चनम्, तदनन्तरं केशवमाधवादीनां द्वितीयाद्यरेषु क्रमेण पूजनं च कार्यमित्याह—अथेति सार्ध-द्वाभ्याम् । केशवारके पूर्वकल्पे केशवो यस्मिन्नरे पूजितस्तस्मिन्नित्यर्थः । तदीयेऽरे नारायणः पूर्वं यस्मिन्नर्चितस्तस्मिन्नर इत्यर्थः । माघमासे माधवमन्त्रेण व्रतानुष्ठानं पूर्ववदेव कार्यमित्याह—तत इत्यर्धेन । अत्र प्राग्वदित्यनेन माघशुक्लदशम्यादि-द्वादश्यन्तं दिनत्रयेऽपि माधवस्य स्थानद्वयार्चनानन्तरं नारायणस्यापि स्थानद्वयेऽर्चनम्,

द्वादश्यां रात्रौ नारायणस्योत्तरपूजनम्, तदपरदिनमारभ्य फाल्गुनशुद्धद्वादश्यन्तं माधवस्यैव स्थानद्वयेऽर्चनम्, द्वितीयाद्यरेषु केशवनारायणगोविन्दादीनामर्चनम्, तद्द्वादश्यां रात्रौ माधवस्योत्तरपूजनं चोक्तं भवति । तद्दशम्यादिद्वादश्यन्तं दिनत्रयेऽपि माधवार्चनात् पूर्वमेव गोविन्दादित्रिककारणभूतस्य सङ्कर्षणस्य कर्णिकामध्ये वासुदेववत् परत्वेन ध्यानम्, तत्र तदाकारस्य गोविन्दस्यार्चनम्, तस्यारस्थानेऽपि देव्या सहार्चनम्, सङ्कर्षणसमुत्पन्नगोविन्दादित्रिकस्य रक्तवर्णत्वेन चन्दनकुसुमवस्त्रभूषणनैवेद्यादीनामपि रक्तवर्णत्वम्, केषाञ्चित् कुसुमादीनामपि रक्तवर्णत्वाभावेऽपि केनचिद्रक्तधातुना तद्रक्तीकरणम्, ताम्रपात्रे सक्तुमात्रनिवेदनं च ॥ ८८-९०॥

अब पौष शुक्ल दशमी के दूसरे दिन से आरम्भ कर माघ शुक्ल दशमी पर्यन्त नारायण की भी केशव की तरह दोनों स्थानों पर पूजा कहते हैं—इसके बाद दूसरे दिन दामोदरान्त मूर्त्तियों के साथ नारायण देव की भक्तिपूर्वक अर्चना करे। पीठ मध्यस्थ कर्णिका के मध्य में केशव की ही भाँति केवल तथा चक्र के अरे में चक्र पर स्थित सपत्नीक नारायण का पूजन करे । इस प्रकार प्रतिदिन तब तक पूजन करे जब तक अगले मास की अगली तिथि न आ जावे । इसी प्रकार माधव की मूर्त्ति की भी आराधना करे ॥ ८८-९० ॥

तदर्चने समाप्ते तु द्वादश्यां फाल्गुनस्य च ।
सङ्कर्षणं परत्वेन भावयेद् वासुदेववत् ॥ ९१ ॥
तदाश्रितं तु गोविन्दं मध्ये मूर्तं समाह्वयेत् ।
चक्रस्थं सह देव्या वै ततस्तं पूज्य पूर्ववत् ॥ ९२ ॥
रक्तचन्दनयुक्तेन कुङ्कुमेन तथैव च ।
पुष्पस्रग्वाससा तद्वद् रक्तशाल्योदनेन च ॥ ९३ ॥
सुगन्धेन फलै रक्तैर्लिप्तैर्वा रक्तधातुभिः ।
आरक्तरत्नसंसिद्धैर्विद्रुमैः पुरुभूषितैः ॥ ९४ ॥
सक्तूंस्तु ताम्रपात्रे तु कृत्वाऽथ विनिवेद्य तु ।

विशेषमाह—तदर्चने समाप्त इत्यादिभिः । अत्र द्वादश्यामित्यनेन दशम्यादिद्वादश्यन्तदिनत्रयमप्युपलक्ष्यते ॥ ९१-९५ ॥

माधव की अर्चना की समाप्ति के बाद फाल्गुन शुक्ल दशमी को वासुदेव की तरह ही परस्वरूप सङ्कर्षण की भावना करे ॥ ९१ ॥

फिर उनसे निष्पन्न उन्हीं के आश्रित गोविन्द का कर्णिका मध्य में आवाहन करे तथा चक्र के अरे में देवी के साथ पूजन करे । (यहाँ तदाकार होने से गोविन्द का पूजन कहा गया है) यत: गोविन्द रक्त वर्ण के हैं इसलिये इनका पूजन भी रक्त चन्दन, रक्त कुङ्कुम, रक्त पुष्प, रक्त वस्त्र, रक्त शालि का ओदन, रक्त सुगन्ध, रक्त फल, रक्तानुलेपन, रक्त धातु एवं रक्त वर्ण के रत्नों के

आभूषणों से करे । फिर ताम्रपात्र में सक्तु स्थापित कर निवेदन करे । अर्चन के समाप्त होने पर होम करे ॥ ९२-९५ ॥

तदर्चने च होमान्ते सम्पन्ने सति वै व्रती ॥ ९५ ॥
याते मासत्रये चैव प्रसन्नेऽन्तःस्थितेऽच्युते ।
गुरुमूर्तिगतो देवः पूजनीयश्च भक्तितः ॥ ९६ ॥
वस्त्रैर्विलेपनैर्माल्यैः कटकैरङ्गुलीयकैः ।
यथाशक्ति विना शाठ्यं पारणे पारणे ततः ॥ ९७ ॥
प्रीणयेद् वासुदेवं च मूर्तित्रयसमन्वितम् ।
ऐहिकान् धर्मकामार्थान् मम यच्छन्तु शक्तयः ॥ ९८ ॥
मोक्षविघ्नोपशमनं नित्यं कुर्वन्तु मूर्तयः ।
सर्वदा नित्यशुद्धो यः परमात्मा परः प्रभुः ॥ ९९ ॥
पतितस्य भवाम्बोधौ वासुदेवोऽस्तु मे गतिः ।
कृत्वैवं प्रीणनं सम्यग् वासुदेवस्य भक्तितः ॥ १०० ॥
तन्मूर्तित्रितयस्यापि शक्तित्रययुतस्य च ।

एवं होमान्ते गोविन्दार्चनप्रारम्भानन्तरं मार्गशीर्षादिमासत्रयकृतप्रसादगुणार्थं विशेषेण गुर्वर्चनम्, पारणानन्तरं प्रणवनमःपूर्वकश्लोकद्वयात्मकमन्त्रेण दक्षिणपाणि-स्थसपुष्पार्घ्योदकेन वासुदेवप्रीणनं चाह—तदर्चन इति षड्भिः । शक्तयः श्रिया-दयस्तिस्र इत्यर्थः । मूर्तयः केशवादयस्त्रय इत्यर्थः ॥ ९५-१०१ ॥

इस प्रकार गोविन्दार्चन आरम्भ के बाद तीन महीने के बीत जाने पर व्रती साधक अपने गुरु का अर्चन करे । यतः गुरु साक्षात् मूर्त्तिगत देवं हैं अतः भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना ही चाहिये । वस्त्र, विलेपन, माला, कटक तथा अंगूठी अपनी शक्ति के अनुसार पारण पर उन्हें प्रदान करे, शठता न करे । फिर मूर्तिमय समन्वित वासुदेव को भी पूजा से प्रसन्न करे और उनकी शक्तियों से इस प्रकार प्रार्थना करे ॥ ९६-९८ ॥

हे शक्तियों! मुझे ऐहिक (इस लोक में) धर्म, काम और अर्थ प्रदान कीजिए । मेरे मोक्ष में आने वाले सभी विघ्नों को ये मूर्त्तियाँ शान्त करें, जो परमात्मा नित्य शुद्ध पर प्रभु हैं वह भगवान् वासुदेव संसार समुद्र में गिरे हुए मुझ अशरण की रक्षा करें । इस प्रकार भगवान् वासुदेव को भली-भाँति भक्तिपूर्वक प्रसन्न करे ॥ ९९-१०० ॥

इसी प्रकार श्रियादि तीन शक्तियों को तथा केशवादि तीन मूर्त्तियों को भी प्रसन्न करे ॥ १०१ ॥

अथ त्रितययुक्तस्य द्वितीयस्य महात्मनः ॥ १०१ ॥

सङ्कर्षणाभिधानस्य तत आरभ्य यत्नतः ।
प्राग्वदाराधनं कुर्यात् प्रत्यहं मासभेदतः ॥ १०२ ॥

अथ तदारभ्य ज्येष्ठशुक्लद्वादश्यन्तं मासत्रये क्रमेण गोविन्दविष्णुमधुसूदन-मन्त्रैर्व्रतानुष्ठानम्, तेषां कारणभूतसङ्कर्षणस्य कर्णिकामध्ये मासत्रयेऽपि परत्वेनार्चनं चाह—अथेति सार्धेन ॥ १०१-१०२ ॥

उस दिन से प्रारम्भ कर ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी पर्यन्त तीन मास तक गोविन्द, विष्णु एवं मधुसूदन के मन्त्रों से तत्कारणभूत सङ्कर्षण का कर्णिका के मध्य में पहले की तरह मास भेद से प्रतिदिन आराधन करे ॥ १०१-१०२ ॥

पश्चान्मासत्रये याते प्राप्ते ज्येष्ठस्य तद्दिने ।
त्रिविक्रमाख्यमन्त्रेण चान्यत् सर्वं पुरोदितम् ॥ १०३ ॥
मध्यतोऽम्बुजगर्भस्थं प्रद्युम्नं सर्वगं स्मरेत् ।
त्रिविक्रमं तदाकारं भावयित्वा ततो यजेत् ॥ १०४ ॥
अनन्तरं च संस्थानादानीय प्रागरान्तरम् ।
यष्टव्यः सविशेषेण त्वनुज्झिततनुः क्रमात् ॥ १०५ ॥

तन्मासत्रयानन्तरं तद्दशम्यां त्रिविक्रममन्त्रेण व्रतप्रारम्भम्, त्रिविक्रमादित्रिक-कारणभूतप्रद्युम्नस्य परत्वेन कर्णिकामध्ये ध्यानम्, तदाकारत्वेन ध्यातस्य त्रिविक्रमस्य तस्यार्चनम्, तस्यारस्थानेऽपि देव्या साहर्चनं चाह—पश्चादिति त्रिभिः ॥१०३-१०५॥

इसके बाद तीन महीना व्यतीत हो जाने पर ज्येष्ठ शुक्ल दशमी से त्रिविक्रम मन्त्र से व्रतारम्भ करे । त्रिविक्रम के कारणभूत प्रद्युम्न का कर्णिका के मध्य में ध्यान करे । तदाकार होने से ध्यात त्रिविक्रम का अर्चन करे और अर स्थान पर देवी के साथ उनकी अर्चना करे ॥ १०३-१०५ ॥

श्रीखण्डं च सकर्पूरमीषत् कुङ्कुमभावितम् ।
पीतं विलेपनं चात्र तथा पुष्पफलादिकम् ॥ १०६ ॥
पीतानां फलपुष्पाणामभावे मसृणेन तु ।
पीतेन धातुचूर्णेन रञ्जयेत् कुङ्कुमेन वा ॥ १०७ ॥
सघृतं हेमपात्रं च पूजान्ते विनिवेद्य च ।
पात्राभावे यथाशक्ति काञ्चनं च घृतोपरि ॥ १०८ ॥

प्रद्युम्नोत्पन्नत्रिविक्रमादित्रिकस्य पीतवर्णत्वेन तादृशवर्णैरेव गन्धपुष्पादिभिरर्च-नम्, केषाञ्चित् पीतानामलाभेऽपि हरिद्राकुङ्कुमादिना पीतीकरणम्, घृतपूरितहेमपात्र-दानम्, तदशक्तौ यथाशक्ति काञ्चनान्वितघृतदानं वा कार्यमित्याह—श्रीखण्डमिति त्रिभिः ॥ १०६-१०८ ॥

यतः प्रद्युम्नोत्पन्न त्रिविक्रमादि का वर्ण पीत है, इसलिये उनकी पूजा पीत गन्ध-पुष्पादि से ही करे। उसके अभाव में हलदी, कुङ्कुमादि से रंग कर पीत वर्ण बनाकर उनकी पूजा करे और घृत पूरित हेमपात्र का दान करे ॥ १०६-१०८ ॥

गुर्वर्चननिरूपणम्

ततः सम्पूजनं कुर्याद् व्रतादेष्टरि पूर्ववत्।
गोहेमवस्त्रपूर्वैस्तु यथा सन्तोषमेति सः ॥ १०९ ॥

अथ गुर्वर्चनमाह—तत इति। व्रतादेष्टरि गुरावित्यर्थः ॥ १०९ ॥

तत्पूजान्ते पारणेन द्वितीयं च जगत्पतिम्।
प्रीणयेत् सङ्कर्षणं च गृहीत्वा पाणिना जलम् ॥ ११० ॥
प्रणवाद्येन तेनैव मन्त्रेणाद्योदितेन च।
सनमस्केन किन्त्वत्र गतिः सङ्कर्षणोऽस्तु मे ॥ १११ ॥

अथ पारणानन्तर पूर्वोक्तरीत्या सङ्कर्षणप्रीणनम्, पूर्वोक्तमन्त्रे वासुदेवोऽस्तु मे गतिरिति वाक्यं विहाय सङ्कर्षणोऽस्तु मे गतिरिति वाक्ययोजनं चाह—तत्पूजान्त इति द्वाभ्याम्। पारणेन ब्राह्मणभोजनेनेत्यर्थः। गृहीत्वा पाणिना जलमित्यत्र सपुष्पं प्रधानार्घ्यजलं ग्राह्यम्। दीक्षापरिच्छेदे—

तदम्भसा चार्हणं तु तथैव परिषेचनम् ॥
कुर्यात् प्रणयनादानं प्रीणनं प्रीतिकर्म च। (१८।७१-७२)

इति प्रधानार्घ्यजलेन प्रीणनस्य वक्ष्यमाणत्वात्, ईश्वरपारमेश्वरयोः—

इत्युक्त्वा सोदकं पश्चात् पुष्पं दक्षिणपाणिगम् ॥
अग्रतो निक्षिपेद् विष्णोर्मूलमन्त्रेण नारद। (१३।२३१-२३२)
—(ई०सं० ५।३७-३८, पा०सं० ६।४११-४१२)

इति जयाख्यवचनेनोदाहृतेन सपुष्पस्योक्तत्वाच्च ॥ ११०-१११ ॥

अब गुरु की अर्चना कहते हैं—इसके बाद व्रत के आदेष्टा गुरु का पूर्ववत् पूजन करना चाहिये। उन्हें गाय, सुवर्ण एवं वस्त्रादि दान करे जिससे वे सन्तुष्ट हो जावें। फिर पारण करने के पश्चात् द्वितीय जगत्पति सङ्कर्षण का पूजन कर उन्हें प्रसन्न करना चाहिये। साधक हाथ में जल लेकर प्रणवादि के सहित पूर्व में कहे गये मन्त्र से प्रसन्न होकर 'ॐ सङ्कर्षणोऽस्तु मे गतिः' इस मन्त्र से प्रार्थना करे ॥ १०९-१११ ॥

अथ त्रिविक्रमं देवं वामनं श्रीधरं प्रभुम्।
यजेन्मासत्रयं तावद्यावत् स्याद् दशमी सिता ॥ ११२ ॥
तदादि वै हृषीकेशमन्त्रेणाखिलमाचरेत्।

परत्वमनिरुद्धस्य प्राप्ते चावसरे स्मरेत् ॥ ११३ ॥
तदाकारं हृषीकेशं पद्मोदरगतं स्मरेत् ।
इष्ट्वा सम्यग्विधानेन चक्रारस्थं यथा पुरा ॥ ११४ ॥
अत्र राजोपचारैस्तु षट्पदाभैस्तु चाऽर्चनम् ।
पुष्पौदनाम्बरैः कुर्यादभावादञ्जनादिना ॥ ११५ ॥
पिञ्जरीकृत्य यत्नेन देवाय विनिवेद्य च ।
कृष्णागरुविमिश्रं च लेपनं चात्र कुङ्कुमम् ॥ ११६ ॥
धौतायसमयं पात्रं मणिभिश्चासितैश्चितम् ।
सम्पूर्णं च तिलैः कृष्णैः पूजान्ते विनिवेद्य च ॥ ११७ ॥
सम्यक् तदर्चनं कृत्वा यथासम्पत्ति भक्तितः ।
तृतीयं प्रीणयेत् प्राग्वत् प्रद्युम्नो मेऽस्तु वै गतिः ॥ ११८ ॥

अथ त्रिविक्रमादिमन्त्रत्रयेण भाद्रपदशुक्लदशम्यन्तं व्रतानुष्ठानम्, तदारभ्य हृषीकेशमन्त्रेण व्रतारम्भम्, हृषीकेशादित्रिककारणभूतानिरुद्धस्य कृष्णवर्णत्वे कृष्णवर्णैरिव गन्धपुष्पवस्त्ररत्नफलादिभिरर्चनम्, केषाञ्चित् कृष्णवर्णानामलाभेऽप्यञ्जनादिना तत्कृष्णीकरणम्, कृष्णतिलपूरितधूपपात्रमात्रादानम्, गुर्वर्चनम्, ततः पूर्वोक्तरीत्या प्रद्युम्नप्रीणनं चाह—(अत्र राजोपचारैरिति चतुर्भिः ? अथ त्रिविक्रममिति सप्तभिः) । सम्यक् तदर्चनं कृत्वेत्यत्र तदर्चनं गुर्वर्चनमित्यर्थः ॥ ११२-११८ ॥

अब त्रिविक्रमादि मन्त्र त्रय के साथ भाद्र शुक्ल दशमी पर्यन्त व्रतानुष्ठान कहते हैं—इसके बाद त्रिविक्रम, वामन एवं श्रीधर का तीन महीने तक, जब तक आगे वाली शुक्ल पक्ष की दशमी न आ जाय तब तक पूजन करे ॥ ११२ ॥

उसके आदि में हृषीकेश मन्त्र से समस्त कार्य करे । फिर परस्वरूप अनिरुद्ध का और अवसर प्राप्त होने पर उनके आकार वाले हृषीकेश का कमल के मध्य में ध्यान करे ॥ ११३ ॥

पूर्व की भाँति विधानपूर्वक पूजन कर चक्र के अरे में सपत्नीक उनका ध्यान करे और राजोपचार से काले पदार्थों द्वारा उनका अर्चन करे । काले पुष्प, काला ओदन और काले वस्त्रों से उनका पूजन करे । इनके अभाव में गन्ध, पुष्पादि वस्तुओं से अञ्जनादि से रंग कर उसे काला बना कर पूजन करे । फिर कृष्णागुरु विमिश्रित लेपन, कुङ्कुम एवं घृत को तथा काले मणियों को और काले तिलों को किसी काले लौह पात्र में स्थापित कर दान देवें । इस प्रकार भक्तिपूर्वक अपनी सम्पत्ति के अनुसार पूजन करे । फिर 'प्रद्युम्नो मेऽस्तु वै गतिः' इस मन्त्र से प्रद्युम्न से प्रार्थना करे ॥ ११३-११८ ॥

ततो मासानुमासं च हृषीकेशादनन्तरम् ।

पद्मनाभं समभ्यर्च्य ततो दामोदरं तु वै ॥ ११९ ॥
गते मासत्रये ह्येवं सम्प्राप्य पुनरेव हि।
दशमीं मार्गशीर्षस्य तदा कर्मणि कर्मणि ॥ १२० ॥
चतुर्षु चातुरात्मीयं मन्त्राणां विनियोज्य च।
चतुर्मूर्त्यभिधानं च समालम्ब्य यजेच्च तत् ॥ १२१ ॥
कर्णिकोपरि पत्रेषु प्रागादि हृदयादिकम्।
विदिक्ष्वस्त्रं विभोरग्रे नेत्रं वै केशराश्रितम् ॥ १२२ ॥
अरान्तरे ततः स्वे स्वे दश द्वौ केशवादिकान्।
चतुर्वर्णैस्तु कुसुमैस्तथा वस्त्रानुलेपनैः ॥ १२३ ॥
तद्वद् भक्ष्यैश्च नैवेद्यैः पानकैः पावनैः फलैः।
अथान्यैर्विविधैर्भोगैर्ध्वजाद्यैर्यानवाहनैः ॥ १२४ ॥
मात्राभिः सहिरण्याभिस्ताम्बूलेनात्मना ततः।

अथ हृषीकेशादिमन्त्रत्रयेण मार्गशीर्षशुक्लदशम्यन्तं मासत्रयं व्रतानुष्ठानम्, तदारम्भे द्वादश्यन्तं दिनत्रये कर्णिकामध्ये वासुदेवादीनां चतुर्णामप्यर्चनम्, प्राग्दलादिषु हृन्मन्त्राद्यर्चनम्, अरेषु केशवादिद्वादशमूर्तीनामर्चनं च पूर्वोक्तैश्चतुर्वर्णचन्दन कुसुमादिभिश्चतुर्विधमात्राभिश्च तत्तन्मूर्त्यनुसारेण कार्यमित्याह—ततो मासानुमासं चेत्यादिभिः ॥ ११९-१२५ ॥

इस प्रकार हृषीकेशादि मन्त्र से मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी पर्यन्त तीन मास तक क्रमशः हृषीकेश एवं पद्मनाभ तदनन्तर दामोदर का अर्चन करे ॥ ११९ ॥

इस प्रकार तीन मास बीत जाने पर मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी पर्यन्त तीन दिन तक कर्णिका के मध्य में वासुदेवादि चारों व्यूह का अर्चन करे। कर्णिका के बाद पूर्वादि पत्रों पर हृन्मन्त्रादि का अर्चन करे, विदिक् में विभु के अस्त्र का तथा केशर पर स्थित नेत्र का अर्चन करे। बारह अरों पर अपने-अपने स्थान में बारह केशवादि का अर्चन करे। पूर्वोक्त कहे गये चारों प्रकार के (श्वेत, लाल, पीत और काले) वर्ण वाले व्यूह देवता का चन्दन, पुष्प, वस्त्र, अनुलेपन, भक्ष्य, नैवेद्य, दुग्धादि, पानक, पवित्र फल तथा अन्य प्रकार के भोग, ध्वजादि, वाहनों से तथा मात्रा (तिलादि विभिन्न अन्न) हिरण्यादि ताम्बूलादि से अर्चना करे। तदनन्तर पूर्वोक्त कहे गये वह्निमध्यस्थ मन्त्र-ग्रामों का अर्चन करे ॥ १२०-१२५ ॥

तर्पयेद् वह्निमध्यस्थं मन्त्रग्रामं यथोदितम् ॥ १२५ ॥
ततोऽर्चनं गुरोः कुर्याद् विशेषेण पुरोदितम्।
ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चात्तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् ॥ १२६ ॥
प्रीणनं च पठेत् प्राग्वदनिरुद्धोऽस्तु मे गतिः।

ततः पूर्णाहुतिं दद्यात् पश्चादिदमुदाहरेत् ॥ १२७ ॥
व्रतोत्तमेनानेनाद्य मया भक्त्या कृतेन च ।
चत्वारो वासुदेवाद्या मूर्तयः शक्तिभिः सह ॥ १२८ ॥
प्रयान्तु प्रीतिमतुलां दिशन्तु भविनोऽभयम् ।
धन्यं व्रतमिदं पुण्यं संसाराध्वनिवर्तनम् ॥ १२९ ॥

एषां सर्वेषामपि वह्निमध्ये सन्तर्पणम्, ततो गुर्वर्चनम्, ब्राह्मणभोजनम्, अनिरुद्धप्रीणनम्, पूर्णाहुतिम्, वासुदेवादीनां चतुर्णामपि युगपत् प्रीणनं चाह—तर्पयेदिति चतुर्भिः ॥ १२५-१२९ ॥

इसके बाद गुरु का अर्चन, विशेष रूप से जो पहले कहा गया है उसके अनुसार, करे । फिर ब्राह्मणों को भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा प्रदान करे । तदनन्तर 'अनिरुद्धोऽस्तु मे गतिः' यह प्रीणन मन्त्र पढ़कर अनिरुद्ध से प्रार्थना करे । फिर पूर्णाहुति दे कर उसके बाद चारों व्यूह को प्रीणन के लिये यह प्रार्थना करे ॥ १२६-१२७ ॥

भक्तिपूर्वक मेरे द्वारा किये गये इस व्रत से अपनी-अपनी शक्तियों के साथ चारों वासुदेवादि मूर्त्तियाँ अत्यन्त प्रसन्न हो जावें, संसारी मनुष्यों को अभय करें, यह व्रत अनन्त फल देने वाला है । इसमें विघ्न आने पर भी अभय ही रहना चाहिये क्योंकि यह व्रत धन्य है, पुण्यावह है, संसार रूपी मार्ग से निवृत्त करने वाला है ॥ १२८-१२९ ॥

अल्पक्लेशमसङ्कीर्णमनन्तफलदं नृणाम् ।
नावसादस्त्वतः कार्य एतदाचरणे तु वै ॥ १३० ॥

अस्य व्रतस्यासम्पूर्णत्वेऽप्यनन्तफलप्रदत्वान्मध्ये विघ्नान्न भेतव्यमित्याह—धन्यमिति सार्धेन ॥ १२९-१३० ॥

यथोपसदनैः कार्यमधमैर्मध्यमैर्जनैः ।
अशाठ्येन यथाशक्ति त्वारण्यैः कुसुमादिकैः ॥ १३१ ॥
अद्भिर्दूर्वाङ्कुरैः पत्रैर्जपजागरणादिना ।
दीपेनाभ्युक्षणेनैव मार्जनेनोपलेपनैः ॥ १३२ ॥

इदं व्रतं यथाशक्ति मध्यमकल्पेनाधमकल्पेन वा केवलं पत्रपुष्पफलतोयादिभिर्वा जपजागरणदीपारोपणमार्जनानुलेपनादिकैङ्कर्येण वाऽनुष्ठेयमित्याह—यथोपसदनैरिति द्वाभ्याम् ॥ १३१-१३२ ॥

इस व्रत में क्लेश किञ्चिन्मात्र है । यह व्यापक है और मनुष्यों को अनन्त फल देने वाला है । इसमें दुःख रञ्चमात्र भी नहीं है । यह व्रत यथाशक्ति मध्यम

कल्प एवं अधम कल्प वाले मनुष्यों के द्वरा केवल पत्र, पुष्प, फल और जलादि यथोपलब्ध स्वल्प सामग्री से भी अनुष्ठेय है । यथाशक्ति आरण्यक पुष्पों से, दूर्वाङ्कुरों से, जल से, पत्र, जप, जागरणादि से, दीपारोपण, मार्जन, अनुलेपनादि, कैङ्कर्यों से अनुष्ठेय है ॥ १३०-१३२ ॥

व्रीहीन् सक्तूनथाज्यं च तिलान्यन्नान्यथाहरेत् ।
संवत्सरस्य पूजार्थं दानार्थं प्राशनाय च ॥ १३३ ॥

व्रतार्थं पूर्वं चतुर्विधमात्रा (द्या?)र्जनमाह—व्रीहीनिति ॥ १३३ ॥

सम्पूर्ण संवत्सर तक पूजा के लिये, दान के लिये, प्राशन के लिये, सर्वप्रथम इस ब्रीहि व्रत में सूक्त घृत, तिल एवं अन्न एकत्रित करे ॥ १३३ ॥

पूर्वं मासत्रयं दद्याद् व्रीहीन् वै विनिवेद्य च ।
द्वादश्यां भोजनात् पूर्वं हितं तत्प्राशनं सदा ॥ १३४ ॥
अपरं सक्तवश्चैव तृतीयं त्रितयं घृतम् ।
तिलानां त्रितयं चान्यत् प्राशनं चैवमेव हि ॥ १३५ ॥

मार्गशीर्षादिमासत्रयेऽपि द्वादश्यां भोजनात् पूर्वं व्रीहिमात्रादानम्, ततो व्रीह्यन्न-भोजनम्, फाल्गुनादित्रये सक्तुदानम्, तत्प्राशनम्, ज्येष्ठादित्रये आज्यदानम्, तत्प्राशनम्, भाद्रपदादित्रये तिलदानम्, तिलप्राशनं चाह—पूर्वमिति द्वाभ्याम् ॥ १३४-१३५ ॥

मार्गशीर्ष से लेकर तीन मास तक द्वादशी में भोजन से पूर्व व्रीहिपात्र का दान करे । तदनन्तर ब्रहि अन्न का भोजन तथा फाल्गुनादि तीन मास तक समुदान एवं तत्प्राशन करे । फिर ज्येष्ठादि तीन मास तक आज्यदान एवं आज्यप्राशन और भाद्रपदादि तीन मास तक तिलदान तथा तिलप्राशन करे ॥ १३४-१३५ ॥

द्वादशीनिर्णयकथनम्

स्याद् यद्येकादशी पूर्णा द्वादश्यथ तया सह ।
परेऽहनि तदा कुर्याद् द्वादश्यामर्चनादिकम् ॥ १३६ ॥

द्वादशीनिर्णयमाह—स्यादिति । एकादशी पूर्णा स्याद्यदि द्वादशीदिनेऽप्यवशिष्टा चेदित्यर्थः । तया सह एकादश्या सह द्वादशी च पूर्णा स्याद्यदि त्रयोदशीदिनेऽप्य-वशिष्टा चेदित्यर्थः । तदा परेऽहनि द्वादश्यां त्रयोदशीदिनावशिष्टद्वादश्यामेवार्चनादिकं पूर्वोक्तव्रतार्चनपारणादिकं कुर्यादित्यर्थः । तथा च दशनिर्णये चन्द्रिकायाम्—

सम्पूर्णैकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा ।
वैष्णवी च त्रयोदश्यां घटिकैकापि दृश्यते ॥
गृहस्थोऽपि परां कुर्यात् पूर्वां नोपवसेद् गृही ।

इति पूर्णशब्दार्थ उक्तः । अत्रैकादश्याः पूर्णशब्दविशेषणेनैव दशमीवेधराहित्य-मप्युच्यते, यतो दशनिर्णये—

उदयात् प्राग् यदा विप्र मुहूर्त्तद्वयसंयुता ।
सम्पूर्णैकादशी नाम तत्रैवोपवसेद् गृही ॥

इति पूर्णशब्दार्थ उक्तः ॥ १३६ ॥

अब द्वादशी के निर्णय के विषय में कहते हैं—यदि एकादशी पूरे रात दिन हो और द्वादशी के दिन भी कुछ शेष हो । एकादशी के साथ यदि द्वादशी पूर्ण हो तथा दूसरे दिन भी त्रयोदशी के साथ शेष द्वादशी हो, तब दूसरे दिन, जिस दिन द्वादशी हो, अथवा जिस दिन त्रयोदशी के साथ अवशिष्ट द्वादशी हो, उसी में पूर्वोक्त व्रतार्चन एवं पारणादिक कर्म करे ॥ १३६ ॥

संवत्सरस्य वै मध्याद् यस्त्वेकां कर्तुमिच्छति ।
तस्यामपि स्वमन्त्रेण कर्म पूजान्तमाचरेत् ॥ १३७ ॥
यथाप्राप्तैस्तु पुष्पाद्यैः प्रागुक्ताङ्गैः सहार्चनम् ।
पररूपस्य मध्ये तु पूजनं स्वेऽन्वगेव हि ॥ १३८ ॥
केवलस्य तु तस्यैव स्वनाम्ना प्रीणनं हितम् ।
पारणं प्राग्विधानेन त्वेकं भूरिफलप्रदम् ॥ १३९ ॥
तस्माद् द्वे त्रीणि वा कुर्यात् स्वशक्त्या श्रद्धयान्वितः ।

एवमेकं वत्सरं प्रतिद्वादशीव्रतानुष्ठानाशक्तावेकस्यां वा द्वादश्यां तन्मासेश-मन्त्रेण तदनुगुणवर्णफलपुष्पादिवस्तुभिस्तत्कारणभूतवासुदेवाद्यन्यतमाकारस्य केवलस्य = कर्णिकामध्येऽर्चनम्, बहिररस्थाने तद्देव्या सहार्चनम्, एकस्य त्रयाणां वा ब्राह्मणानां भोजनम्, तेन तन्मासेशप्रीणनं च कार्यमित्याह—संवत्सरस्येति सार्धैस्त्रिभिः ॥ १३७-१४० ॥

यदि कोई एक वर्ष तक प्रतिद्वादशी के व्रतानुष्ठान में अशक्त है तब वह किसी भी एक द्वादशी को उस मासेश के मन्त्र से यथाप्राप्त पुष्पादि से, प्रागुक्त अङ्गों के साथ वासुदेवादि किसी एक आकार का, केवल कर्णिका के मध्य में अर्चन करे, बाहर अरा के स्थान में देवी के साथ अर्चन करे । एक अथवा तीन ब्राह्मणों को भोजन करावे तथा उस मासेश को प्रसन्न रखे । केवल उसी एक का नाम ही प्रीतिकारक तथा हितकारी है । पूर्व के विधानानुसार केवल एक ही पारण भूरि फल देने वाला कहा गया है । इस कारण साधक श्रद्धा से संयुक्त होकर अपनी शक्ति के अनुसार एक, दो अथवा तीन द्वादशी का व्रत करे ॥ १३७-१४० ॥

नारी ह्यनन्यशरणा यद्येवं हि समाचरेत् ॥ १४० ॥
निःस्वामिका वानुज्ञाता पत्या साऽथाप्नुयाच्च तत् ।

इदं व्रतं स्त्रीभिरपि सुमङ्गलाभिः पूर्वसुमङ्गलाभिर्वाऽनुष्ठेयमित्याह—नारीति । तद् व्रतफलमित्यर्थः । सुमङ्गलायाः स्त्रियः पत्युरनुज्ञां विना व्रतानुष्ठानानौचित्यात्

पत्याऽनुज्ञातेत्युक्तम् । तथा च गारुडे—

नारी खल्वननुज्ञाता पित्रा भर्त्रा सुतेन वा ।
निष्फलं तु भवेत् तस्या यत् करोति व्रतादिकम् ॥
अनापृच्छ्य तु भर्तारमुपोष्य व्रतमाचरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी नरकं व्रजेत् ॥
नास्ति स्त्रीणां पृथक् कर्म न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिशुश्रूषणं तासां तेन स्वर्गो विधीयते ॥

इति ॥ १४०-१४१ ॥

यह व्रत सुमङ्गला नारी अथवा पूर्वसुमङ्गला (= विधवा) दोनों को करना चाहिये । सुमङ्गला स्त्री पति की आज्ञा से यदि व्रत करे तो उसे भी इसका फल प्राप्त होता है ॥ १४०-१४१ ॥

चातुर्मास्यविधानम्

अथापवर्गदं वक्ष्ये चातुर्मास्यं व्रतोत्तमम् ॥ १४१ ॥
यत्कृत्वाऽभिमतान् कामानिहैव लभते नरः ।
गृहमासाद्य निर्बाधं देशे वा न जनाकुले ॥ १४२ ॥
यथाविभवविस्तीर्णं तुर्याश्रं वा यथायतम् ।
धूमनिर्गमनोपेतं गवाक्षगणभूषितम् ॥ १४३ ॥
इष्टकाद्यैश्चितं कुर्यात् तन्मध्ये पिण्डिकात्रयम् ।
चतुरश्रं च विच्छिन्नं भूमेः किञ्चित् समुन्नतम् ॥ १४४ ॥
ततो दक्षिणदिग्वेदेरूर्ध्वे कुण्डं तु पूर्ववत् ।
मध्ये चन्दनमिश्रेण रोचनाकुङ्कुमेन च ॥ १४५ ॥
गोक्षीरमर्दितेनैव मासि मासि लिखेच्छुभम् ।
चक्रं षट्पत्रगर्भं तु स्नानपीठमुदग्दिशि ॥ १४६ ॥
ततस्त्वाषाढमासस्य दशम्यामुदितेन्दुना ।
वासुदेवाख्यमन्त्रेण तोयमादाय पाणिना ॥ १४७ ॥
भगवन् पुण्डरीकाक्ष सर्वव्रतपतेऽच्युत ।
व्रतं मे त्वत्प्रसादेन निष्पद्यतु तवाप्तये ॥ १४८ ॥
ततोऽर्चयेद् वासुदेवं द्वादश्यां कमलोदरे ।
प्रागादावथ पत्राणां त्रयं सङ्कर्षणादिकम् ॥ १४९ ॥
प्रादक्षिण्येन विन्यस्य यावद्रक्षःपदच्छदम् ।
ईशानपदपत्रात् तु अनिरुद्धादिकत्रयम् ॥ १५० ॥

अप्ययेन तु सम्पूज्य यावत् पश्चिमदिग्दलम् ।
भूतावासं पुनर्मध्ये ततश्चक्रारकेषु च ॥ १५१ ॥
क्रमेण पूर्वादारभ्य न्यासं पूजनमाचरेत् ।
वामनं चाथ तद्देवीं हृन्मन्त्रं च ततः शिरः ॥ १५२ ॥
श्रीधरस्त्वथ तत्कान्ता शिखा कवचमेव च ।
हृषीकेशश्च तत्पत्नी ह्यस्त्रं तदनु लोचनम् ॥ १५३ ॥
ध्यानं स्नानं तथा पूजां होमं जपसमन्वितम् ।
क्रमेणानेन सर्वेषां सर्वदैव समाचरेत् ॥ १५४ ॥
द्वादश्यां श्रावणस्याथ मध्ये सङ्कर्षणं यजेत् ।
तत्पत्राभ्यां वासुदेवं चक्रारेष्वथ पूर्ववत् ॥ १५५ ॥
त्रितयं पद्मनाभाद्यं तथा देवीं हृदादि यत् ।
ततो नभस्यद्वादश्यां प्रद्युम्नः कर्णिकागतः ॥ १५६ ॥
आद्यस्तत्पत्रगोऽराणां त्रयं नारायणादिकम् ।
देव्यश्चैवाङ्गषट्कं तु पूर्ववच्चारकान्तरे ॥ १५७ ॥
ततस्तदग्रद्वादश्यामनिरुद्धं यथा पुरा ।
पत्रयुग्मे तदीये तु आदिदेवं यजेत् क्रमात् ॥ १५८ ॥
त्रिविक्रमान्तं विष्ण्वाद्यं शक्तिरङ्गान्यथादिवत् ।
एवं तावद् यजेद् यावद् द्वादशी कार्तिकस्य तु ॥ १५९ ॥
तत्राखिलैर्मन्त्रवरैः कर्म निश्शेषमाचरेत् ।
द्वादश्यां पूर्ववन्मध्ये षडङ्गं तुल्यरूपधृक् ॥ १६० ॥
मूर्तयोऽरान्तरस्थाश्च नेमिस्थो देवतागणः ।
पूजाहोमं विशेषेण पूर्णान्तं पूर्वचोदितम् ॥ १६१ ॥
इत्येतत् सविशेषं च व्रतमुक्तं समासतः ।
यत्कृत्वा पुनरप्यत्र जायते न पुनर्भवे ॥ १६२ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां समन्त्रकव्रतविधिर्नाम
अष्टमः परिच्छेदः ॥ ८ ॥

— ❀ —

अथ चातुर्मास्याविधिमाह—'अथापवर्गदं वक्ष्ये' इत्यारभ्य यावत्परिच्छेदपरिसमाप्ति । सुखबोधनायैतद्व्याख्या प्रयोगरूपेण विलिख्यते ।

निर्बाधे स्वगृहे विजनेऽन्यत्र वा देशे यथाविभवविस्तारायामं धूमनिर्गमनार्थ-मूर्ध्वगवाक्षान्वितं परितश्च गवाक्षोपशोभितं यागमण्डपं परिकल्प्य तन्मध्ये इष्टकाभि-र्विरचितं चतुरश्रं भूमेः किञ्चिदुन्नतं वेदिकात्रयं निर्माय तत्र दक्षिणादिग्वेदेरूर्ध्वे पूर्वोक्तं कुण्डं कल्पयेत् । मध्यवेद्यां गोक्षीरमर्दितेन चन्दनमिश्रेण रोचनासहितेन कुङ्कुमेन प्रतिमासं षड्दलपद्मगर्भं द्वादशारं चक्रं विलिखेत् । उत्तरवेदेरूर्ध्वं स्नानपीठं स्थापयेत् । अथाषाढशुक्लदशम्यां सायं वासुदेवमन्त्रेण दक्षिणपाणिना तोयमादाय,

भगवन् पुण्डरीकाक्ष सर्वव्रतपतेऽच्युत ।
व्रतं मे त्वत्प्रसादेन निष्पद्यतु तवाप्तये ॥ (८।१४८)

इत्युदकप्रक्षेपपूर्वकं संकल्प्य, एकादश्यां समुपोष्य, द्वादश्यां प्रातः कर्णिकामध्ये वासुदेवं प्रागाग्नेयनैर्ऋतदलेषु प्रादक्षिण्येन सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धान्, ऐशान्यवायव्य-पश्चिमदलेष्वप्ययक्रमेणानिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणांश्च सम्पूज्य, पुनर्मध्ये वासुदेवमभ्यर्च्य, चक्रस्य प्रागाद्यरेषु वामनं प्रीतिसंज्ञां तद्देवी हृन्मन्त्रं शिरोमन्त्रम्, श्रीधरं रतिसंज्ञां तद्देवी शिखामन्त्रं कवचमन्त्रम्, हृषीकेशं मायाख्यां तद्देवीमस्त्रमन्त्रं नेत्रमन्त्रं च क्रमेणाभ्यर्च्य, ध्यानार्चनस्नपननिवेदनहोमजपादिभिः सर्वान् सन्तोष्य, अथ श्रावण-शुक्ल द्वादश्यां कर्णिकामध्ये सङ्कर्षणं दलेषु सङ्कर्षणस्थानयोर्वासुदेवमरेषु पद्म-नाभदामोदरकेशवान् धीमहिमाश्रीदेवीत्रयं हृन्मन्त्रादिषट्कं चाभ्यर्च्य, भाद्रपदशुक्ल-द्वादश्यां मध्ये प्रद्युम्नं दलेषु प्रद्युम्नस्थानयोर्वासुदेवमरेषु नारायणमाधवगोविन्दान् वागीश्वरीकान्तिक्रियाख्यदेवीत्रयं हृन्मन्त्रादिषट्कं चाभ्यर्च्य, आश्वयुजशुक्लद्वादश्यां मध्येऽनिरुद्धं दलेष्वनिरुद्धस्थानयोर्वासुदेवमरेषु विष्णुमधुसूदनत्रिविक्रमान् शक्तिविभू (तिच्छाया?तीच्छाख्य)देवीत्रयं हृन्मन्त्रादिषट्कं च क्रमेणाभ्यर्च्य, कार्तिकशुक्ल-द्वादश्यां कर्णिकामध्ये वासुदेवादिमूर्तिचतुष्टयं दलेषु हृन्मन्त्रादिषट्कमरेषु केशवादि-मूर्तिद्विषट्कं नेमिस्थाने श्रियादिदेवी-द्विषट्कं च यथाविधि विशेषेणाभ्यर्च्य होमं पूर्णाहुत्यन्तं कुर्यात् ॥ १४१-१६२ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये अष्टमः परिच्छेदः ॥ ८ ॥

— ❧ ❊ ☙ —

हे सङ्कर्षण! अब मोक्ष देने वाला सर्वोत्तम 'चातुर्मास्य व्रत' कहता हूँ जिसके करने से मनुष्य अपनी सभी अभीष्ट कामनायें इसी लोक में प्राप्त कर लेता है । निर्बाध अपने गृह में, अथवा किसी निर्जन प्रदेश में, जो अपने विभव के अनुकूल लम्बा-चौड़ा हो, चौकोर हो, उस स्थान में धुआँ निकालने के लिये अपर गवाक्ष हो तथा चारों ओर भी गवाक्ष हो, ऐसे याग मण्डप का निर्माण करे । उसके मध्य में चौकोर भूमि में, भूमि से ऊपर ईटों से तीन वेदी निर्माण करावे । उसमें दक्षिण वेदी के ऊपर पूर्वोक्त कुण्ड निर्माण करावे । मध्य वेदी में गोक्षीर से मर्दित चन्दन

मिश्रित रोचना सहित कुङ्कुम से प्रतिमास षड्दलगर्भ वाले द्वादशार चक्र को लिखे। उत्तर दिशा की वेदी में स्नान पीठ स्थापित करे । फिर आषाढ मास की शुक्ल दशमी को सायङ्काल के समय वासुदेव मन्त्र से हाथ में जल ले कर,

'भगवन् पुण्डरीकाक्ष सर्वव्रतपतेऽच्युत ।
व्रतं मे त्वत्प्रसादेन निष्पद्यतु तवाप्तये ॥'

इस मन्त्र को पढ़कर संकल्प करे फिर जल प्रक्षिप्त कर देवे । तदनन्तर एकादशी को उपवास करे, द्वादशी के दिन प्रात:काल कर्णिका मध्य में वासुदेव का और पूर्व, अग्नि एवं नैर्ऋत दलों में प्रदक्षिण क्रम से सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का अर्चन करे । ईशान, वायव्य तथा पश्चिम दिशा में संहार क्रम से अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा सङ्कर्षण का पूजन करे । फिर मध्य में वासुदेव की अर्चना कर चक्र के पूर्व स्थित पहले अरे में वामन एवं प्रीति संज्ञक उनकी देवी का हृन्मन्त्र और शिरो मन्त्र से, फिर श्रीधर एवं रति संज्ञक उनकी देवी का शिखा मन्त्र और कवच मन्त्र से, फिर हृषीकेश एवं माया नामक उनकी देवी का अस्त्र मन्त्र एवं नेत्र मन्त्र से क्रमशः अर्चन कर ध्यान करे । इस प्रकार अर्चन, स्नपन, निवेदन, होम एवं जपादि से सबको सन्तुष्ट करे ॥ १४१-१५४ ॥

फिर श्रावण शुक्ल द्वादशी के दिन कर्णिका के मध्य में सङ्कर्षण का और उन सङ्कर्षण के दलों में एवं सङ्कर्षण स्थान में वासुदेव का, अरों में पद्मनाभ, दामोदर और केशव का तथा धी, महिमा और श्रीदेवी का, फिर ६ हृन्मन्त्रादि का अर्चन करे। फिर भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को मध्य में प्रद्युम्न की, प्रद्युम्न स्थान में वासुदेव की, अरों में नारायण, माधव, गोविन्द की तथा वागीश्वरी कान्ति और क्रिया, उनकी तीनों देवियों की हृन्मन्त्रादि षट्कों से पूजा करे । फिर आश्विन शुक्ल द्वादशी को मध्य में अनिरुद्ध तथा अनिरुद्ध स्थान में वासुदेव की, अरों में विष्णु, मधु-सूदन, त्रिविक्रम की तथा शक्ति, विभूति, छाया उनकी देवियों की हृन्मन्त्रादि षट्कों से क्रम से अर्चना करे । कार्त्तिक शुक्ल द्वादशी को कर्णिका के मध्य में वासुदेवादि मूर्त्ति चतुष्टय की दलों पर हृन्मन्त्रादि षट्कों से, अरों पर केशवादि द्वादश मूर्त्तियों की, नेमि स्थान में द्वादश श्रियादि देवियों की यथाविधि विशेष रूप से अर्चना कर होमपूर्वक पूर्णाहुति करे । हे सङ्कर्षण ! यहाँ सविशेष किन्तु संक्षेप में यह व्रत कहा गया है । जिसे सम्पादन करने पर मनुष्य फिर इस लोक में जन्म नहीं लेता । इस प्रकार यहाँ चातुर्मास्य याग का विधान और फल कहा गया ॥ १५५-१६२ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के समन्त्रकव्रतविधि नामक अष्टम परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ ८ ॥

— ❧ ✻ ☙ —

नवमः परिच्छेदः

विभवदेवतान्तर्यागविधिः

नारद उवाच

अथ लाङ्गलिना देवश्चक्रधृक् परिचोदितः ।
यत् तच्छृणुत विप्रेन्द्राः कथ्यमानं मयाऽधुना ॥ १ ॥

अथ नवमो व्याख्यास्यते । सङ्कर्षणपरिपृष्टेन वासुदेवेन यदुक्तं तच्छृणुध्वमिति नारदो मुनीन् प्रत्याह—अथेति ॥ १ ॥

नारद ने कहा—हे विप्रेन्द्रगण ! इसके बाद सङ्कर्षण द्वारा पूछे जाने पर चक्रधारी भगवान् विष्णु ने जो कहा अब उसे मैं कह रहा हूँ, उसे आप लोग सुनिए ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

सूक्ष्मव्यूहविभागेन सबाह्याभ्यन्तरं हि यत् ।
परस्य ब्रह्मणः सम्यग् ज्ञातमाराधनं मया ॥ २ ॥
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विभोः सद्विभवात्मनः ।
आराधनं यथावच्च भविनामीप्सितप्रदम् ॥ ३ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—सूक्ष्मेति द्वाभ्याम् । सूक्ष्मव्यूहविभागेन परव्यूहभेदेनेत्यर्थः । सबाह्यभ्यन्तरं मानसयागबाह्ययागभेदभिन्नमित्यर्थः ॥ २-३ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे भगवन् ! आपने सूक्ष्म विभाग के साथ उस परब्रह्म का बाह्यन्तर सहित सम्यग् आराधना का निरूपण, उसे मैंने सुन लिया । अब मैं उस विभवान्तर विभु की आराधना जिस प्रकार की जाती है उसे सुनना चाहता हूँ जो संसारी मनुष्यों के लिये कल्याणकारी है ॥ २-३ ॥

स्थूलसूक्ष्मपरत्वभेदेन विभवावतारस्य त्रैविध्यकथनम्

भगवानुवाच

वैभवीयो महाबुद्धे देवतानिचयो महान् ।

य उक्तस्ते मया पूर्वमेकैकं विद्धि तत्त्रिधा ॥ ४ ॥
चतुर्णां युगसन्धीनां युगानां च तथैव हि ।
विश्वविप्लवदोषाणां विनाशाय समुद्यतम् ॥ ५ ॥
सितरक्तादिरूपेण ज्वलदस्त्रकराङ्कितम् ।
कार्यारम्भे तथा मध्ये ह्यवसाने तु सर्वदा ॥ ६ ॥
सन्धत्ते रूपमात्मीयमेक एव त्वनेकधा ।
श्रेयसे सर्वलोकानां स्थूलं तत् कामरूपधृक् ॥ ७ ॥
अनुद्यतेन वपुषा कुन्देन्दुधवलेन च ।
वीरासनादिना चैव स्थितं मुदितमानसम् ॥ ८ ॥
लीलाविधृतसर्वास्त्रं सौम्यवक्त्रमनाकुलम् ।
धिया दोषगणं सर्वं ध्वंसयन्तं च मोक्षिणाम् ॥ ९ ॥
तद्व्यक्तं शान्तसंज्ञं च रूपं रूपवतांवरम् ।
प्रकाशयति सन्मार्गं समाधिनिरतात्मनाम् ॥ १० ॥
तेजोमयं यत् तद्रूपं वैभवं शान्तसंज्ञकम् ।
उपासकानां भक्तानां सर्वे सर्वफलप्रदाः ॥ ११ ॥

एवं पृष्टो भगवान् स्थूलसूक्ष्मपरत्वभेदेन विभवावतारस्य त्रैविध्यमाह—वैभवीय इत्यारभ्य आमोक्षान्निर्विचारेणेत्यन्तम् । अत्र युगानां युगसन्धीनामिति षष्ठ्या अधिकरणत्वमर्थः । विश्वविप्लवदोषाणां विनाशाय समुद्यतम् । युगेषु तत्सन्धिकालेषु च ये ये दोषाः संभवन्ति, तेषां प्रशमायाविर्भूतमित्यर्थः । अनेन—

परित्राणय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ —(गी० ४।८)

इत्यर्थः स्मारितो भवति । सितरक्तादिरूपेण तत्तद्युगानुकारिवर्णभेदेनेत्यर्थः । तथा च श्रीभागवते—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ इति ।
—(श्रीमद्भा० १०।८।१३)

कार्यारम्भे मध्येऽवसाने च सृष्टिस्थितिसंहारकालेष्वित्यर्थः । एक एवानेकधा रूपं सन्धत्ते । सृष्टिकाले रक्तं रूपम्, रक्षणकाले शुक्लं रूपम्, संहारकाले कृष्णं रूपं बिभर्तीत्यर्थः । स्थूलं जाग्रत्पदस्थितमित्यर्थः । कामरूपधृक् = स्वेच्छया नानारूपधरमित्यर्थः । 'तद्व्यक्तं शान्तसंज्ञं च रूपम्' इत्यत्र व्यक्तमित्यनेन स्वप्नसुषुप्तिपदाश्रितत्वम्, शान्तसंज्ञमित्यनेन तुर्यपदाश्रितत्वं चोच्यते । यतो लक्ष्मीतन्त्रे—

त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके ।

सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ —(१०।४२)

इति स्वप्नसुषुप्तिपदस्थस्य सुव्यक्तत्वं तुर्यपदस्थस्य शान्तत्वं चोक्तम् । एवं स्वप्नसुषुप्तितुर्यपदाश्रितत्वादिना विभिन्नस्यापि रूपस्यैक्यकथनं हृदयान्तःस्थितत्वेन सूक्ष्मत्वेन चाविशेषादिति बोध्यम् । रूपं सूक्ष्मरूपमित्यर्थः । तथा च जयाख्ये चतुर्थे पटले—

स्रष्टा पालयिता चाहं संहर्ता पुनरेव च ।
स्वकीययोगयुक्त्या तु स्थूलरूपेण नारद ॥
सूक्ष्मेण सर्वभूतानां निवसामि हृदन्तरे ।
करोम्यनुग्रहं चापि भक्तानां भावितात्मनाम् ॥
परेणानन्दरूपेण व्यापकेनामलेन च ।
व्यासयाम्यखिलं विप्र रसेनेव तरूत्तमम् ॥ (४।२३-२५) इति ।

नन्वत्र व्यूहस्यैव तुर्यसुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदाश्रितत्वेन चातुर्विध्यमुक्तम्, तद्विभवावतारेऽपि भवता कथमुच्यत इति चेत्, ब्रूमः—

स्वप्नाद्यवस्थाभेदस्तु ध्यायिनां खेदशान्तये ।
तत्तत्पदस्थजीवानां तन्निवृत्त्यर्थमेव च ॥
स्वप्नाद्यवस्थाजीवानामधिष्ठातार एव ते ।
कर्मात्मनां च सेनेश तत्पदस्थो ममेच्छया ॥
उपास्योऽहं महाभाग पदभेदप्रयोजनम् ॥

—(तत्त्व०, पृ० १३३-१३४)

इत्युक्तस्य फलस्य विभवावतारेऽप्यपेक्षितत्वाद् व्यूहवद् विभवस्यापि तुर्यादिपदभेदेन चातुर्विध्यमुपपन्नम् । अत एवोक्तं जगज्जनन्या—

पराद्यर्चावतारेऽस्मिन् मम रूपचतुष्टये ॥
तुर्याद्यवस्था विज्ञेया इतीयं शुद्धपद्धतिः ।

—(लक्ष्मी० २।६०-६१) इति ।

वैभवं शान्तसंज्ञकमित्यत्र शान्तसंज्ञकं परात्परमित्यर्थः ॥ ४-१२ ॥

श्री भगवान् ने कहा—हे महाविभो ! वैभवीय देवताचित्य महान् है, जिसे मैंने आपसे पूर्व में कह दिया है । वह एक होते हुए भी स्थूल, सूक्ष्म एवं पर भेद से तीन प्रकार का है और चारों युग सन्धियों में चारों युगों में वह विश्वविप्लव दोषों की शान्ति के लिये समुद्यत रहता है ॥ ४-५ ॥

वह युगानुकारी सित एवं रक्तादि वर्ष भेद से स्थित तथा संहार काल में जलते हुए अस्त्र के तेजों से सर्वदा देदीप्यमान रहता है ॥ ६ ॥

वह एक होते हुए भी अपने एक रूप को अनेक रूपों में धारण करता है उसका जो स्थूल एवं कामरूपधृक् स्वरूप है वह सारे लोक का कल्याणकारी है । उसका वह स्वरूप कुन्द इन्दु के समान धवल है, अनुपम है, वीरासनादि से

संयुक्त है और वह प्रसन्नचित्त वाला है । वह लीला करने के लिये ही समस्त अस्त्रों को धारण करता है । उसका मुख सौम्य तथा आकुलता से रहित है । वह मात्र अपनी बुद्धि से समस्त मुमुक्षुओं के पापों को नष्ट करता रहता है ॥ ७-९ ॥

उसका स्वरूप स्वप्नसुषुप्ति पद में सुव्यक्त रहता है तथा तुर्य पद में शान्त रहता है । इस प्रकार एक होते हुए भी वह अनन्त रूप वाला है । उसका तेजोमय जो रूप है वही वैभव शान्तसंज्ञक है और वही समाधि निरत भक्तों में सन्मार्ग प्रकाशित करता है । उसके सभी वैभवीय रूप अपने उपासकों को सब प्रकार का फल प्रदान करते हैं ॥ १०-११ ॥

आमोक्षान्निर्विचारेण एकैकस्य महामते ।
आराधनार्थं विहितो वाचको हि चतुर्विधः ॥ १२ ॥
संज्ञानानापदमयः पिण्डाख्यो बीजलक्षणः ।
एभ्यो मध्यात् त्वथैकेन वाच्यमामन्त्र्य भक्तितः ॥ १३ ॥

अथ संज्ञापदपिण्डबीजभेदेन मन्त्राणां चातुर्विध्यं तेष्वेकतमेन भगवदावाहनाद्यर्चनं चाह—एकैकस्य महामते इत्यादिना सार्धेन । वाच्यं भगवन्तमामन्त्र्य समावाह्य, अर्चयेदिति शेषः ॥ १२-१३ ॥

हे महामते ! उसके एक-एक स्वरूप मोक्ष पर्यन्त आराधन के लिये विहित हैं, वह उसके वाचक संज्ञा, पद, पिण्ड और बीज भेद से चार प्रकार के कहे गये हैं । अतः साधक बीज एवं पिण्ड इन दोनों मन्त्रों में से एक, अथवा संज्ञा एवं पद इन दोनों के मध्य में से एक, अथवा दोनों प्रकार के मन्त्रों में उभयात्मना दोनों मन्त्रों से अभिन्न एक भगवान् का अर्चन करे ॥ १२-१३ ॥

यत्रैकपिण्डवाक्योत्थमन्त्रेणाथोभयात्मना ।
अभिन्नलक्षणो वाच्य एक एवोपचर्यते ॥ १४ ॥
तत्र वै विधिनानेन कुर्यात्ताभ्यां हि कल्पनाम् ।
कृत्वादौ नाममन्त्रस्य बीजपिण्डाक्षरं तु वा ॥ १५ ॥
नयेत् तेनाभिमुख्यं च वाच्यमाद्यन्तकेन वा ।
सन्तन्त्र्य पदमन्त्रं तु विधिनानेन वै ततः ॥ १६ ॥
कुर्यात् प्रणवपीठस्थं नमस्कारध्वजान्वितम् ।
आभ्यां शान्तस्वरूपत्वादेकत्वमत एव हि ॥ १७ ॥
संज्ञाख्यं पदमन्त्रं च विद्धि संसिद्धिलक्षणम् ।

बीजपिण्डमन्त्रयोरन्यतरेण संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरेण चोभयेनाप्यभिन्नरूपस्यैकस्यैव भगवतोऽर्चनं यत्र कार्यम्, तत्र तन्मन्त्रद्वयस्यापि संमेलनप्रकारम्, तदाद्यन्तयोः प्रणवनमःसंयोजनमन्त्रं चाह—यत्रेति सार्धैश्चतुर्भिः । आद्यन्तकेन वा आदिबीजमन्ते

यस्य तत् तथोक्तेन, अन्तेऽपि बीजसहितेनेत्यर्थः । यद्वा अन्त एवं बीजसहितेनेत्यर्थः । उभयथाऽप्युक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

आदौ मध्ये तथान्ते च त्रिषु वान्यतरत्र वा ॥
येषां पिण्डोऽथवा बीजं ते मन्त्राः सार्वकालिकाः ।—(२१।२२-२३)

इति ॥ १४-१८ ॥

जहाँ पिण्ड मन्त्र से उत्पन्न एक ही बीज से वहाँ उभयात्मना योजना करे । मन्त्र के आदि में बीज जोड़ देवे, अथवा मन्त्र के अन्त में बीज जोड़ देवे, कोई अन्तर नहीं आएगा क्योंकि दोनों ही अभिन्न हैं । इस प्रकार दोनों प्रकारों से मन्त्र की कल्पना कर अर्चन करे । किन्तु नाम मन्त्र के आदि में ही पिण्डाक्षर अथवा बीज का संयोजन करे ॥ १४-१५ ॥

इसी प्रकार पद मन्त्र में भी आदि में बीजाक्षर अथवा पिण्डाक्षर की योजना करे । फिर प्रणव पीठ पर नमस्कार युक्त ध्वज लगावे । दोनों ही शान्त स्वरूप हैं, अत: एक ही हैं । संज्ञा मन्त्र और पद मन्त्र संसिद्धि लक्षण वाले हैं ॥ १६-१८ ॥

स्वरोत्थं व्यञ्जनोत्थं वा बीजमेकाक्षरं स्मृतम् ॥ १८ ॥
स्वरव्यञ्जनसंयोगाद् बह्वर्णः पिण्डमन्त्रराट् ।

बीजस्वरूपं पिण्डस्वरूपं चाह—स्वरोत्थमिति । स्वरोत्थम् अकारादिस्वरेष्वन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा, उत्थम् = उत्पन्नमित्यर्थः । तथा चोपबृंहितं लोकमात्रा—

एकस्वरं द्विस्वरं वा स्वरव्यञ्जनयोर्द्वयम् ॥
बीजं बहुस्वरं वापि विज्ञेयं बहुधेश्वर । (लक्ष्मी० २१।११-१२)

इति ॥ १८-१९ ॥

स्वर से उत्पन्न एक अक्षर तथा व्यञ्जन से उत्पन्न एक अक्षर बीज कहे जाते हैं । एक में मिले हुए स्वर और व्यञ्जन से जो बहुत वर्ण बन जाते हैं, वह पिण्ड मन्त्रराट् है ॥ १८-१९ ॥

द्वाभ्यामाद्यात् तथान्ताच्च स्वरवर्गान्महामते ॥ १९ ॥
स्वरूपेण हि मन्त्रत्वमन्येषां सह बिन्दुना ।

अकारादिषोडशस्वरेष्वाद्यस्वरद्वयस्यान्त्यस्वरद्वयस्य च स्वरूपेणैव मन्त्रत्वम्, अन्येषां स्वराणामनुस्वारसहितत्वे मन्त्रत्वमित्याह—द्वाभ्यामिति । आद्यद्वाभ्याम् अकाराकाराभ्याम्, अन्त्यद्वाभ्याम् अनुस्वारविसर्गाभ्यामित्यर्थः । इदं बीजचतुष्टयं पूर्व स्वप्नव्यूहमन्त्रचतुष्के च प्रतिपादितं ज्ञेयम् ॥ १९-२० ॥

स्वर वर्ण के आदि के तथा अन्त के दो-दो अक्षर अनुस्वार युक्त हों तो उनमें स्वाभाविक मन्त्रता सिद्ध है ॥ १९-२० ॥

स्वरेणैकेन युक्तस्य स्वरयुग्मान्वितस्य च ॥ २० ॥
सानुस्वारस्य बीजत्वं व्यञ्जनस्यापि लाङ्गलिन् ।

ककारादिव्यञ्जनस्यापि बिन्दुसहितत्वेनैव मन्त्रत्वमाह—स्वरेणेति ॥ २०-२१ ॥

अनुस्वार सहित एक स्वर से युक्त व्यञ्जन अथवा अनुस्वार सहित दो स्वर से युक्त ककारादि व्यञ्जन की भी बीज संज्ञा होती है ॥ २१ ॥

य ओंकाराख्यशब्दस्य विवर्तो दीधितिप्रभः ॥ २१ ॥
चिल्लक्षणस्त्वनाकारो विद्धि तद्वाचकं त्रिधा ।
क्वचित् पिण्डं क्वचिद्बीजं क्वचिच्छब्दमनाहतम् ॥ २२ ॥
तस्य चोद्गीर्यमाणस्य परिणामः स्फुटो हि यः ।
बह्वक्षरो बहुपदः स्तुतिसम्बोधलक्षणः ॥ २३ ॥

बीजपिण्डसंज्ञापदमन्त्राश्चत्वारोऽपि प्रणवस्य परिणामाः । तत्राद्यास्त्रयः सूक्ष्मपरिणामाः, अन्त्यः स्थूलपरिणाम इत्याह—य ओंकाराख्यशब्दस्येति सार्धद्वाभ्याम् । आकारभेद इति यावत्, दीधितिप्रभः केवलतेजोरूप इत्यर्थः । चिल्लक्षणः = चिद्रूपः । अनाकारो गुणलक्ष्य इत्यर्थः । एवमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

शब्दब्रह्मविवर्तोऽयं किरणायुतसंकुलः ॥
चिल्लक्षणः सद्गुणात्मा तस्य भेदश्चतुर्विधः ।
क्वचिद्बीजं क्वचित्पिण्डं क्वचित्संज्ञा क्वचित्पदम् ॥
तुर्यं सुषुप्तिः स्वप्नं च जाग्रद्व्यूहादयः क्रमात् ॥ (२१।९-११)

एवं च मन्त्रप्रतिपाद्यस्य भगवतः पूर्वं परसूक्ष्म(स्य?)स्थूलभेदेन त्रैविध्यम्, तत्र सूक्ष्मस्य तुर्यसुषुप्तिस्वप्नभेदेन त्रैविध्यं च यथा प्रतिपादितम्, तद्वदिहापि प्रणवस्य परत्वम्, बीजपिण्डसंज्ञामन्त्राणां तुर्यसुषुप्तिस्वप्नक्रमेण सूक्ष्मत्वम्, पदमन्त्रस्य स्थूलत्वं चोक्तं भवतीति ज्ञेयम् ॥ २१-२३ ॥

ॐकार शब्द का विवर्त्त सूर्य की किरणों के समान अनेक है अर्थात् ओंकार पर है तथा बीज, पिण्ड एवं संज्ञा मन्त्र क्रमशः तुर्य, सुषुप्ति और स्वप्न के क्रम से सूक्ष्म है । पदमन्त्र वैखरी होने से स्थूल है ॥ २१-२२ ॥

उसी ॐकार के उच्चारण करने से परिणाम स्पष्ट जाना जाता है । वह कभी स्तुति सम्बोधन लक्षण वाला तथा बहुत अक्षरों वाला होता है और कहीं बहुत पदों वाला बन जाता है ॥ २३ ॥

अविनाशी स ओंकारो बीजादीनां महर्द्धिदः ।
प्राग् दद्यात् प्रणवेनातः सत्याख्येनासनं महत् ॥ २४ ॥
तस्माद् वै सत्यभिन्नं तु बीजं तदुपरि न्यसेत् ।
स्वविवर्तेन बीजस्य मूर्त्युत्थानं प्रकल्पयेत् ॥ २५ ॥
प्राप्तेज्यावसरे नित्यं सम्पन्ने यजने सति ।
तप्तोपले जलं यद्वत् तद्वत् विप्रलयं स्मरेत् ॥ २६ ॥

एवं प्रणवस्य नित्योदित्वात् सर्वमन्त्राणामप्याधारत्वेनादौ निवेशनम्, तदुपरि तद्विवृत्तस्य बीजस्य न्यासम्, प्रत्यहमाराधनकाले बीजात् तत्परिणामाकारेण संज्ञापद-मन्त्रयोरन्यतरस्योत्थानम्, समाप्ते यजने पुनस्तत्रैव लयं चाह—अविनाशीति त्रिभिः । बीजस्य क्षेत्रज्ञरूपत्वात् तदुपरि स्थितानां वर्णानां क्षेत्ररूपत्वाच्च मूर्त्युत्थानमुक्तम् । विप्रलयं स्मरेदित्यनेन मूर्तिरूपस्य मन्त्रस्य बीजे उपसंहारः, बीजस्य तत्कारणे प्रणवे चोपसंहारो बोध्यः । तथा च जयाख्ये—

भोगस्थानगता मन्त्राः पूजिता ये यथाक्रमम् ॥
मुख्यमन्त्रशरीरं तु सम्प्रविष्टांश्च संस्मरेत् ।
ज्वाला ज्वालान्तरे यद्वत् समुद्रस्येव निम्नगाः ॥
तं मन्त्रविग्रहं स्थूलं सर्वमन्त्रास्पदं द्विज ।
प्रविष्टं भावयेत् सूक्ष्मे बुद्ध्यक्षे ह्युभयात्मके ॥
परे प्रागुक्तरूपे तु तं सूक्ष्ममुभयात्मकम् ।
तं परं प्रस्फुरद्रूपं निराधारपदाश्रितम् ॥
सन्धिमार्गेण हृत्पद्मे सम्प्रविष्टं तु भावयेत् । (१५।२३३-२३७)

इति ॥ २४-२६ ॥

वह ॐकार अविनाशी है और बीजों को महान् समृद्धि देने वाला है । अतः साधक सर्वप्रथम सत्य नामक प्रणव से आसन प्रदान करे ॥ २४ ॥

इस प्रकार प्रणव के नित्योदित होने के कारण तथा सभी मन्त्रों का आधार होने के कारण पहले प्रणव का आसन सन्निविष्ट करे । उसके बाद उसके विवर्त्तभूत बीज मन्त्र को आसन देवे । प्रतिदिन आराधन काल में बीज से उसके परिणाम स्वरूप संज्ञामन्त्र, अथवा पदमन्त्र में किसी एक का उत्थान करे । फिर यजन समाप्त होने पर उसी में लय करे । इसलिये वह अविनाशी है । याग का अवसर प्राप्त होने पर पुनः उसकी समाप्ति हो जाने पर मन्त्र उस ॐकार में इस प्रकार सन्निहित हो जाते हैं, जैसे तप्त पत्थर पर जल डालने से जल उसमें लीन हो जाते हैं ॥ २५-२६ ॥

भानुप्रसरसंकोचतुल्यमेतद् महामते ।
क्रियावशात्तु किन्त्वत्र भेदमात्रोपलक्षणम् ॥ २७ ॥

(पृथिवीभिन्नस्य?) संज्ञापदमन्त्रयोरन्यतरस्य पूजाकाले बीजात् प्रसरणं तत्समाप्तौ तत्र संकोचश्च कथमुपपद्यत इति शङ्कां किरणसादृश्येन परिहरति—भानुप्रसरेति ॥ २७ ॥

संज्ञा एवं पदमन्त्र में से कोई एक पूजाकाल में कैसे बीज से फैल जाते हैं और कैसे संकुचित हो जाते हैं? इसे किरणों के सादृश्य से कहते हैं—जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य से ही विकसित हो कर उसी में लीन हो जाती हैं । यह भेद मात्र उपलक्षण है जो क्रियावश किया जाता है ॥ २७ ॥

न यत्र बीजं पिण्डं वा तत्र वै प्रणवादनु ।
प्राग्वर्णं पदमन्त्रस्य यत् तदालोकवाचकम् ॥ २८ ॥
तच्छिष्टं विग्रहं वर्णैस्तस्मादुत्थाप्य वृक्षवत् ।

बीजेन पिण्डेन वा विरहिते मन्त्रे प्रथमाक्षरस्यैव बीजत्वम्, तदवशिष्टानां वर्णानां तद्विग्रहत्वेन तस्मादुत्पादनं चाह—न यत्रेति सार्धेन । उत्थाप्येत्यत्राऽर्चयेदिति शेषः । एवमेवोपबृंहितं हरिवल्लभयापि—

बीजं बीजवतां जीवः शिष्टं क्षेत्रं प्रकीर्तितम् ॥
निर्बीजानामादि जीवः क्षेत्रं तु परिशेषितम् । इति । (लक्ष्मी० २१।१७-१८)
आदि प्रथमवर्णमित्यर्थः ॥ २८-२९ ॥

जहाँ बीज अथवा पिण्ड न हो वहाँ प्रणव के बाद 'पद वर्ण' का पहला अक्षर ही बीज का वाचक हो जाता है उससे शेष वर्णाक्षर रूप विग्रह को उसी बीज से वृक्ष की तरह उत्पन्न कर लेवे फिर उसकी अर्चा करे ॥ २८-२९ ॥

केवलं यत्र वै बीजं पिण्डं वा पदवर्जितम् ॥ २९ ॥
तत्राकाराख्यवर्णस्य क्षेत्रज्ञत्वं विधीयते ।
क्षेत्रत्वमवशिष्टानां वर्णानां पिण्डरूपिणाम् ॥ ३० ॥

संज्ञापदमन्त्ररहिते बीजे पिण्डे वाऽकारस्य बीजत्वम्, तदवशिष्टानां वर्णानां विग्रहत्वं चाह—केवलमिति सार्धेन । एवमेवोक्तं कमलवासिन्यापि—

बीजानां चैव पिण्डानामस्तु क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥
शिष्टं तु क्षेत्रमुद्दिष्टम् .... (लक्ष्मी० २१।१८-१९) इति ।

बीजानां पिण्डानां पदवर्जितकेवलबीजपिण्डानामित्यर्थः । अस्तु अकारस्त्वित्यर्थः ॥ २९-३०॥

केवलस्य हि बीजस्य स्वस्थितिर्ब्रह्मवर्णता ।
स्वभावप्रच्युतिर्बीजं बीजोच्चारस्तथाकृतिः ॥ ३१ ॥
बीजवत् पिण्डमन्त्राणां परिज्ञेयः सदोदयः ।

अकारेणापि रहितं बीजपिण्डविषयमाह—केवलस्येति सार्धेन । केवलस्य बीजस्य स्वस्थितिरेव ब्रह्मवर्णता स्वस्य स्थूलरूपा सूक्ष्मरूपा च स्थितिरेव ब्रह्मता वर्णता च । ब्रह्मता स्थूलता, मूर्तत्वमिति यावत् । वर्णता बीजत्वमित्यर्थः । क्षेत्रत्वं क्षेत्रज्ञत्वमप्यवस्थाभेदेनैकनिष्ठमिति भावः । तथाहि—स्वभावप्रच्युतिः स्थूलताविरहः, मध्यमावस्थेति यावत् । सैव बीजं जीव इत्यर्थः । बीजोच्चारो बीजस्य स्थूलरूपेण स्फुटोच्चारणमेव आकृतिः, क्षेत्रमित्यर्थः । एवमेव पिण्डमन्त्राणामप्युदयः परिज्ञेयः, क्षेत्रक्षेत्रज्ञभावो बोध्य इत्यर्थः । लक्ष्मीतन्त्रे त्वेवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञभाव एकमात्रबीजविषये प्रतिपादितः । अकाररहितबीजविषये तु स्वरस्यैव क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम् । तथाहि—

... ...अकाररहिते पुनः ।
क्षेत्रज्ञः स्वर उद्दिष्टः केवले च स्वरे पुनः ॥
जीवः स्यात् प्रथमा मात्रा द्वितीयादि तनुर्भवेत् ।
एकमात्रे तु जीवः स्यात् संस्कारो भूतलक्षणम् ॥
उच्चार्यमाणं क्षेत्रं स्यान्निःस्वरे पिण्डके पुनः ।
प्रथमो जीव उद्दिष्टः शिष्टं क्षेत्रं प्रचक्षते ॥
—(२१।१९-२१) इति ।

संस्कारः शब्दस्य मध्यमावस्थेत्यर्थः । उक्तं खलु तत्रैव—

ततः परो य उन्मेषस्तृतीयः शक्तिसंभवः ।
मध्यमा सा दशा तत्र संस्कारयति संगतिम् ॥
वाच्यवाचकभेदस्तु तदा संस्कारतामयः ॥ (१८।२५-२६) इति ।

भूतलक्षणं स्थूलरूपम्, उच्चार्यमाणं वैखर्यवस्थापन्नमित्यर्थः । तथा चोक्तं तत्रैव —"वैखरी नाम सावस्था वर्णवाक् संस्कृतोदया (१८।२७) इति ॥ ३१-३२ ॥

जहाँ केवल बीज हो, अथवा जहाँ केवल पिण्ड हो, पद न हो, वहाँ केवल अकार वर्ण को बीज समझे । उससे शेष वर्ण को विग्रह समझे ॥ २९-३० ॥

जहाँ अकार भी न हो वहाँ केवल बीज की स्वस्थिति ब्रह्मवर्णता तथा स्वभाव प्रच्युति बीज समझनी चाहिये । बीज का स्पष्ट रूप (बैखरी रूप) से उच्चारण करना क्षेत्र है । इसी प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ भाव समझना चाहिये । बीज के समान पिण्ड मन्त्रों का भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ भाव समझना चाहिये । जितने भी बीज लक्षण वैष्णव मन्त्र है उनमें महान् शक्ति है ॥ ३१-३२ ॥

यद्बीजलक्षणं मन्त्रं सामर्थ्यं वैष्णवं महत् ॥ ३२ ॥
असंख्येयमसंख्यानां वाच्यानां भिन्नरूपिणाम् ।
तद्यथावत् परिज्ञानाज्जपाद् ध्यानात् समर्चनात् ॥ ३३ ॥
हवनात् तन्मयत्वाच्च निर्बीजं पदमृच्छति ।
सहाभिमतसिद्धिः स्यात् साधकानां सदैव हि ॥ ३४ ॥

बीजमन्त्रफलमाह—यदिति सार्धद्वाभ्याम् । वैष्णवं सामर्थ्यं = भगवत्सामर्थ्य-रूपमित्यर्थः । असंख्येयं = मन्त्रप्रतिपाद्यस्य नानारूपतयाऽसंख्याततत्वात् तत्प्रतिपादक-मपि तथा नानाविधाकारमित्यर्थः । तद्यथावत् परिज्ञानात् तस्य बीजस्य सप्रकार-ज्ञानादित्यर्थः । निर्बीजं पदम् = अनाद्यन्तं परमं धामेत्यर्थः । ऋच्छति = प्राप्नोति, साधक इति शेषः । सहाभिमतसिद्धिः स्यादिति तेन मोक्षरूपफलेन सहाभिमतार्थ-सिद्धेरुक्तत्वान्मोक्षस्य प्राधान्यमन्येषामानुषङ्गिकत्वमुक्तं भवति ॥ ३२-३४ ॥

जिस प्रकार मन्त्र से प्रतिपाद्य के अनेक रूप होने से वह असंख्यात है उसी प्रकार उसका प्रतिपादक भी अनेक रूप होने से असंख्यात है । उस बीज के

यथावत् परिज्ञान से, ध्यान से, अर्चन से, हवन से एवं तन्मयता से साधक भी निर्बीज (अनाद्यन्त परम धाम) प्राप्त कर लेता है। ऐसा करते रहने से साधक के अभिमत की सिद्धि हो जाती है ॥ ३३-३४ ॥

पिण्डादिभगवन्मन्त्रमूर्तीनामेवमेव हि ।
परिज्ञानाद् भवेत् किन्तु पिण्डात् तत्स्थैर्यमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
नानात्वं नाममन्त्राच्च नानालोकान्तरोत्थितम् ।
भवेत् सर्वपदप्राप्तिः परिज्ञानात् पदाभिधात् ॥ ३६ ॥

पिण्डसंज्ञापदमन्त्राणामप्येवमेव चतुर्विधपुरुषार्थप्रदत्वमस्ति, किन्तु तत्र मोक्षेतर-फलस्थैर्यादिकं भवेदित्याह—पिण्डादीति सार्धद्वाभ्याम् । तत् स्थैर्यं मोक्षेतराभि-मतार्थस्थैर्यमित्यर्थः । नानात्वं तेषामेव नानाविधत्वमित्यर्थः ॥ ३५-३६ ॥

पिण्ड, संज्ञा, पद, मन्त्रों में भी यद्यपि चतुर्विध पुरुषार्थ प्रदत्व है किन्तु उसमें मोक्षेतर फल देने का निश्चय है। मोक्ष के विषय में कोई निश्चय नहीं क्योंकि मोक्षफल प्राप्ति के लिये दृढ़ निश्चय की आवश्यकता होती है ॥ ३५-३६ ॥

सबीजं वा सपिण्डं वा मन्त्राणां यत्परं द्वयम् ।
विदधाति फलं स्वं स्वं किन्त्वाद्यं भावयेत् परम् ॥ ३७ ॥
मन्त्रक्षेत्रज्ञरूपत्वाद् यस्मात् सर्वेश्वरोऽच्युतः ।
व्याप्यव्यापकरूपेण वर्ततेऽनुग्रहेच्छया ॥ ३८ ॥

बीजपिण्डाभ्यां सह संज्ञापदमन्त्रयोः संयोजनमुक्तम् । तत्र फलप्रदत्वं पूर्वस्य वा परस्य वोभयोर्वेत्याकाङ्क्षायां परस्यैव स्वफलप्रदत्वम्, पूर्वस्य तु क्षेत्रज्ञरूपेण भावनामात्रं चाह—सबीजमिति सपादेन ॥ ३७-३८ ॥

बीज, पिण्ड तथा संज्ञा पद इनका संयोजन पहले कह दिया गया है। किन्तु पूर्वद्वय की अपेक्षा संज्ञा पद (द्विक) मन्त्र में फल देने की शक्ति है। इतर द्वय क्षेत्रज्ञ रूप से भावना मात्र है ॥ ३६-३७ ॥

यद्यपि सर्वेश्वर अच्युत क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ दोनों रूप से स्थित हैं तथापि भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये वे व्याप्य-व्यापक (= क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ) रूप भी धारण करते हैं ॥ ३८ ॥

व्याप्यरूपेण भूलोकाद् भोगादारभ्य चाखिलात् ।
षाड्गुण्यमहिमान्तं च ददाति फलमुत्तमम् ॥ ३९ ॥
स्वपदं भोगखिन्नस्य दिव्यदेहस्य कर्मिणः ।
क्षेत्रज्ञबीजपिण्डात्मा निरावरणलक्षणः ॥ ४० ॥
ज्ञानं यदमलं शुद्धं संयच्छत्यात्मलाभदम् ।

पुनरिममेवार्थं सहेतुकं द्रढयन् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरुभयोरपि भगवद्रूपत्वात् क्षेत्रस्यैव भोगमोक्षप्रदत्वं क्षेत्रज्ञभूतस्य बीजपिण्डान्यतरस्य तु मोक्षसाधकज्ञानप्रदत्वं चाह— यस्मादिति सपादैस्त्रिभिः । व्याप्यव्यापकरूपेण = क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपेणेत्यर्थः । निरावरण-लक्षणो व्यापकरूप इत्यर्थः ॥ ३८-४१ ॥

वह सर्वेश्वर भगवान् व्याप्य रूप से समस्त भूलोक से 'भोग से आरम्भ कर षाड्गुण्य महिमा पर्यन्त समस्त उत्तम फल प्रदान करते हैं । भोग से खिन्न दिव्य देह वाले संसारी मनुष्यों के लिये वह क्षेत्रज्ञ, बीज, पिण्डात्मा एवं निरावरण लक्षण अर्थात् व्यापक स्वरूप वाले अपना पद प्रदान कर देते हैं और आत्म कल्याण करने वाले निर्मल विशुद्ध ज्ञान को भी देते हैं ॥ ३०-४१ ॥

शक्तिव्यक्तिमयत्वं च जाग्रद्वृत्तेः पदात्मनः ॥ ४१ ॥
एवं संज्ञात्मनः स्वप्नवृत्तेरेकत्वमस्ति च ।
सुषुप्तिवृत्तेः पिण्डाख्यमन्त्रस्यैव महामते ॥ ४२ ॥
बीजात्मनस्तुर्यवृत्तेः शक्तिव्यक्तित्वमस्ति वै ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यावस्थानां पदसंज्ञापिण्डबीजानां च क्रमेण परस्परं शक्ति-व्यक्तित्वमाह—शक्तीति द्वाभ्याम् ॥ ४१-४३ ॥

व्यक्तिर्ज्ञानफलोपेता नियता यद्यपि स्मृता ॥ ४३ ॥
भगवन्मन्त्रमूर्तीनां तथापि परमात्मनः ।
आद्यस्य चातुरात्म्यस्य केवलस्याथवा विभोः ॥ ४४ ॥
चतुष्प्रकारं यन्मन्त्रं विद्धि तन्मोक्षभूतिदम् ।
अतोऽन्यथा यदुद्दिष्टममिश्रं मिश्रमेव हि ॥ ४५ ॥
फलं भाववशाच्चैव तत्तथा विद्धि नान्यथा ।

यद्यपि बीजादिभगवन्मन्त्रव्यक्तेर्ज्ञानप्रदत्वं भोगमोक्षफलप्रदत्वं च नियमेनोक्तम्, तथापि तत्सुषुप्तिव्यूहादिमन्त्रव्यक्तिविषयम्, परमन्त्राणां तु चतुर्विधानामपि मोक्षप्रदत्व-मेवेत्याह—व्यक्तिरिति त्रिभिः । आद्यस्य चातुरात्म्यस्य = तुर्यव्यूहस्येत्यर्थः । केवलस्य विभोः = परात्परस्येत्यर्थः । अतोऽन्यथा यदुद्दिष्टं = सुषुप्तिव्यूहादि-क्रमेणोक्तं मन्त्रजातमित्यर्थः । अमिश्रं फलं केवलमोक्षमित्यर्थः । मिश्रं फलं भोग-सहितं मोक्षमित्यर्थः । भाववशात् तत्तदभिसन्ध्यनुसारेणेत्यर्थः । ददातीति शेषः । एवं च द्वितीयपरिच्छेदोक्तस्य परमन्त्रस्य पदमन्त्रत्वेऽपि मुख्यतो मोक्षप्रदत्वात्, अत एव तन्मन्त्रस्य योगिभिरूपास्यत्वेन पूर्वमुक्तत्वाच्चेदानीं संज्ञापदमन्त्रसामान्यस्य भोगप्रदातृ-त्वोक्तिर्विरुद्ध्यतीत्यभिप्रायेणैवं विषयव्यवस्था कृतेति बोध्यम् ॥ ४३-४६ ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तूर्य अवस्था वाले पद, संज्ञा, बीज एवं पिण्ड मन्त्रों में क्रम से परस्पर शक्ति की व्यक्ति होती है । इस प्रकार संज्ञा वाले मन्त्र और

स्वप्न वृत्ति में एकता है । हे महामते ! इसी प्रकार सुषुप्ति वृत्ति और पिण्डात्म मन्त्र में एकता है । बीज मन्त्र और तुर्यवृत्ति में भी शक्ति का व्यक्तित्व है ॥ ४१-४३ ॥

यद्यपि बीजादि भगवन् मन्त्र में ज्ञान प्रदत्व, भोग-मोक्ष फलप्रदत्व नियमपूर्वक कहा गया है तथापि सुषुप्ति आदि अवस्था व्यूहादि मन्त्रव्यक्ति के विषय हैं ।

आद्य चातुरात्म्य (तूर्य व्यूह) केवल विभु (परात्पर) इनके जो चार प्रकार के मन्त्र है वे मोक्ष और भूति दोनों प्रदान करते हैं । इसके अतिरिक्त सुषुप्तिव्यूहादि क्रम से कहे गये जो मन्त्र समूह हैं वे भावना के अनुसार अमिश्र (केवल मोक्ष) और मिश्र भोग सहित मोक्ष देने वाले हैं ॥ ४३-४५ ॥

ज्ञात्वैवमर्चयेत् पश्चान्नानामन्त्रैर्महामते ॥ ४६ ॥
गौणमुख्यादिगुह्यैस्तु प्रादुर्भावगणं विभोः ।

एवं तत्तन्मन्त्रफलभेदादिज्ञानपूर्वकं भगवदर्चनं कुर्यादित्याह—ज्ञात्वेति । प्रादुर्भावगणं वक्ष्यमाणपद्मनाभाद्यवतारसमूहमित्यर्थः ॥ ४६-४७ ॥

अतः, हे महामते ! गौण मुख्यादि गुह्य स्वरूपों से, वक्ष्यमाण पद्मनाभादि अवतार समूहों का तथा तत्तन्मन्त्र फल भेदादि का ज्ञान कर अनेक प्रकार के मन्त्रों से महाज्योति स्वरूप उस चातुरात्मा की पूजा करे ॥ ४६-४७ ॥

महाज्योतिस्वरूपस्य सह वै चतुरात्मना ॥ ४७ ॥
प्राग् जाग्रत्पदसंस्थस्य लेशेनोक्तं तदर्चनम् ।
इदानीं सविशेषेण मन्त्रध्यानक्रियान्वितम् ॥ ४८ ॥
प्रवक्ष्यामि समासेन शृणुष्वायतलोचन ।

परेण भगवता सह जाग्रद्व्यूहस्यार्चनं पूर्वं संग्रहेणोक्तम्, इदानीं सविशेषं वक्ष्यामीत्याह—महाज्योतिरिति द्वाभ्याम् । महाज्योतिस्वरूपस्य परस्येत्यर्थः । चतुरात्मना सह वासुदेवादिचातुरात्म्येन सहेत्यर्थः । "स्वमूर्तिभिरमूर्ताभिरच्युताद्याभिरन्वितः" (२।७२) इति तत्रापि चातुरात्म्यमुक्तं हि । जाग्रत्पदसंस्थस्य जाग्रद्व्यूहस्येत्यर्थः । प्राक् पूर्वम्, तदर्चनं तथाविधमर्चनम्, लेशेनोक्तं द्वितीयपरिच्छेदे मानसार्चनम्, षष्ठपरिच्छेदे बाह्यार्चनं चोक्तमित्यर्थः ॥ ४७-४९ ॥

पहले जाग्रत्पदस्थ की पूजा के विषय में लेश मात्र अर्चन कहा गया है । अब यहाँ मन्त्र, ध्यान एवं क्रियापूर्वक विशेष रूप से तथा समास रूप से भी कहते हैं—हे आयतलोचन उसे आप सुनिये ॥ ४८-४९ ॥ (द्र. द्वितीय परिच्छेद एवं षष्ठ परिच्छेद)

भगवतः प्रादुर्भावरीतिकथनम्

विशाखयूपो भगवान् स्वयं विश्वसिसृक्षया ॥ ४९ ॥
अध्यक्षेण स्वरूपेण समुदेत्येक एव हि ।

महिमानं तु निश्शेषं शुद्धसंवित्पुरस्सरम् ॥ ५० ॥
आदायाद्यपदस्थस्य चातुरात्म्यस्य वै विभोः ।

आदौ सकलविभवदेवानामधिपतेर्विशाखयूपसंज्ञस्य भगवतः प्रादुर्भावरीतिमाह—विशाखयूप इति द्वाभ्याम् । आद्यपदस्थस्य चातुरात्म्यस्य (च?) तुर्यव्यूहस्य । शुद्धसंवित्पुरस्सरं महिमानमादाय व्यूहविभवावतारसाधनोपकरणं संगृह्येत्यर्थः । एवमेवोपबृंहितं जगज्जनन्यापि—

तुर्याद्यस्वप्नपर्यन्ते चातुरात्म्यादिके हि यत् ॥
तत्तदैश्वर्यसम्पन्ने षाड्गुण्यं सुव्यवस्थितम् ।
तदादायाखिलं दिव्यं शुद्धसंवित्पुरस्सरम् ॥
विभजत्यात्मनात्मानं वासुदेवादिरूपकः । (लक्ष्मी० ११।१५-१७)

इति ॥ ४९-५१ ॥

विशाखयूप भगवान्, जो समस्त विभवदेवों के अधिपति हैं, विश्व सिसृक्षा के लिये अध्यक्ष स्वरूप में अकेले अग्र पदस्थ चातुराम्य विभु के शुद्ध संवित् पुरः सर महिमा तथा व्यूह विभवावतार के समस्त उपकरणों को अपने साथ लेकर उदित होते हैं ॥ ४९-५१ ॥

तदुपकरणानां विवरणम्

तथा चाधारभूयिष्ठदेवानां चेष्टितं हि यत् ॥ ५१ ॥
सितादयः कान्तयोऽथ श्र्यादिकं च महामते ।
सलाञ्छनं वैभवीयं सायुधं बीजमेव तु ॥ ५२ ॥
ज्ञानाद्यं गुणषट्कं च तदुक्ताः शक्तयोऽखिलाः ।
अणिमाद्यष्टकं चैव स्थित्युत्पत्तिलयोदयाः ॥ ५३ ॥
शक्तिः सा चातुरात्मीया त्वैश्वरीत्यभिधीयते ।

तदुपकरणानां विवरणमाह—तथा चेति त्रिभिः । श्र्यादिकं श्रीदेव्यादिकं शक्तिजालमित्यर्थः । एषां सर्वेषामपि षाड्गुण्यमयत्वमुक्तं लक्ष्मीतन्त्रे—

परादिविभवान्तानां सर्वेषां देवतात्मनाम् ।
शुद्धषाड्गुण्यरूपाणि वपूंषि त्रिदशेश्वर ॥
यावन्त्यस्त्राणि देवानां चक्रशङ्खादिकानि वै ।
भूषणानि विचित्राणि वासांसि विविधानि च ॥
ध्वजाश्च विविधाकाराः कान्तयश्च सितादिकाः ।
वाहनानि विचित्राणि सत्याद्यानि सुरेश्वर ॥
शक्तयो भोगदाश्चैव विविधाकारसंस्थिताः ।
आन्तःकरणिको वर्गस्तदीया वृत्तयोऽखिलाः ॥
यच्च यच्चोपकरणं सामान्यं पुरुषान्तरैः ।

षाड्गुण्यनिर्मितं विद्धि तत्सर्वं बलसूदन ॥ —(११।३२-३६)

इति ॥ ५१-५४ ॥

अब महात्मा विशाखयूप के समस्त उपकरणों को कहते हैं—वे भगवान् विशाखयूप उन आद्य पदस्थ चातुराम्य के तथा आधार में रहने वाले सभी देवताओं की सेवा के साथ उदीयमान हुए हैं । उनके साथ श्री आदि शक्तियों का समूह, लाञ्छन सहित तथा सायुध सितादि कान्तियाँ बीज एवं ज्ञानादि षाड्गुण्य तथा उनमें रहने वाली समस्त शक्तियाँ, अणिमादि समस्त सिद्धियाँ तथा स्थिति, उत्पत्ति, लय तथा उदय नाम वाली चातुरात्मीया शक्तियाँ, जिसे ईश्वरी शक्ति कहा जाता है, ये सभी उनके उपकरण थे ॥ ५१-५४ ॥

यथार्ककिरणव्रातं त्यक्त्वा तेजःकणो महान् ॥ ५४ ॥
स्वकारणं विना सर्वमापूरयति गोचरम् ।
स्वातन्त्र्यात् परिपूर्णत्वात् तद्वत् स परमेश्वरः ॥ ५५ ॥
विहाय वासुदेवाद्यं मूर्तिशाखाचतुष्टयम् ।
वैभवीयस्य यूथस्य पतित्वेनावतिष्ठते ॥ ५६ ॥
सम्भूतिस्थितिसंहारभोगकैवल्यलक्षणम् ।
प्रेरयन् वै धिया चक्रं पञ्चारमिदमुत्तमम् ॥ ५७ ॥

सूर्यतेजःकणदृष्टान्तपूर्वकं तस्य विशाखयूपस्यैव विभवदेवताधिपत्यमाह—यथे-त्यादिभिः सार्धैः (षड्भिः?त्रिभिः) । एवमेवोपबृंहितं लोकमात्रापि—

पुनर्विभववेलायां विना मूर्तिचतुष्टयम् ॥
विशाखयूप एवैष विभवान् भावयत्युत । इति ।
—(लक्ष्मी० ११।१७-१८)

ननु भवता प्रथमपरिच्छेदव्याख्यानप्रकरणे विभवदेवानामनिरुद्धोत्पन्नत्वमुक्तम्, इदानीं विशाखयूपस्य तत्कारणत्वमुच्यते । कथमुभयोरविरोध इति चेत्, सत्यम् । उभयोरभेदेनाविरोधो बोध्यः ॥ ५४-५७ ॥

जिस प्रकार सूर्य की किरणों के समूह को छोड़कर महान् तेज:कण अपने कारण के बिना भी सभी गोचर जगत् को अपने वैभव से पूर्ण कर देता है, उसी प्रकार वह विशाखयूप भगवान् भी वासुदेवादि मूर्त्ति शाखा चतुष्टय को छोड़कर स्वतन्त्र एवं परिपूर्ण होने से वैभवीय यूप के अधिपति होकर स्थित हो जाते हैं । वे अपनी बुद्धि से, जगत् की संभूति, स्थिति, संहार, भोग एवं कैवल्य प्रदान करने वाले इस उत्तम चक्र को प्रेरित करते हैं ॥ ५४-५७ ॥

स्मर्तव्यः स्वपदस्थः स स्वबीजेनामलात्मना ।
आमूर्धतोऽङ्घ्रिपर्यन्तं तदीयं गात्रमण्डलम् ॥ ५८ ॥

रत्नवद् वैभवीयैस्तु बीजैर्भाव्यमलङ्कृतम् ।
क्रमादुच्चार्यमाणैस्तैरमृतौघेन पूर्ववत् ॥ ५९ ॥
पूजनात् परमेशत्वमचिरादेव गच्छति ।

विशाखयूपस्य तद्बीजेन स्वपदे ध्यानम्, पद्मनाभादिबीजैस्तदीयगात्रालङ्करण-ध्यानम्, तदर्चनफलं चाह—स्मर्तव्य इति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ५८-६०॥

अतः उन विशाखयूप का उनके अमलात्मा बीज से ध्यान करे । पद्मनाभादि बीज से अलङ्कृत तथा वैभवीय रत्न बीज से जड़ित शिर से लेकर पाद पर्यन्त उनके गात्र का ध्यान करे । उन अमृत समूह बीजों का उच्चारण करने मात्र से तथा पूजन करने से वह साधक थोड़े ही दिनों में परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है ॥ ५८-६० ॥

श्रृणु तद्बीजनिचयं सावधानेन चेतसा ॥ ६० ॥
तत्प्रसादात् परां सिद्धिं प्रयान्ति भगवन्मयाः ।
शुचौ देशे मनोज्ञे च सुलिप्ते पुष्पभूषिते ॥ ६१ ॥
चन्दनक्षोदसंयुक्ते सुधूपेनाधिवासिते ।
विलिख्य मातृकाचक्रं भेदेनानेन वै पुनः ॥ ६२ ॥
येन सन्दृष्टमात्रेण शतधा याति कल्मषम् ।
प्रागादौ पञ्चवर्गान्तं मध्यान्तं मध्यतो लिखेत् ॥ ६३ ॥
यादयो नव नाभिस्था आदयः षोडशारगाः ।
कादयो नेमिगाः सर्वे पूर्वचक्रे यदक्षगम् ॥ ६४ ॥
तदस्मिन् प्रधिभूतं तु पूजयेद् विधिना ततः ।
शब्दब्रह्ममयं चक्रमर्घ्यपुष्पादिकैः क्रमात् ॥ ६५ ॥

विभवदेवबीजोद्धरणार्थं वर्णचक्ररचनां तदर्चनं चाह—शृण्विति सार्धैः पञ्चभिः । वर्गान्ता ङकारञकारणकारनकारमकारा इत्यर्थः । यादयो नव यकारादिक्षकारान्ताः । पूर्वचक्रे द्वितीयपरिच्छेदोक्ते चक्रे । अक्षगं यद्वर्णं प्रणव इत्यर्थः ॥ ६०-६५ ॥

हे सङ्कर्षण ! अब उन बीज समूहों को सावधान चित्त होकर सुनिए, जिसके वृक्ष से वैष्णव साधक भगवन्मय शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । किसी पवित्र प्रदेश में जो मनोज्ञ हो, उपलिप्त हो, पुष्पों से भूषित हो, चन्दन के जल से उक्षिप्त हो, सुन्दर धूप से धूपित हो इस प्रकार के स्थान पर भेद सहित मातृका चक्र लिखे । जिसके दर्शन मात्र से पाप खण्ड-खण्ड हो जाते हैं ॥ ६०-६१ ॥

वर्गान्त ङकार, ञकार, णकार, नकार और मकार इन पाँचों वर्गान्तों को पूर्व में लिखे । मध्य में मध्यान्त वर्णों को लिखे । नाभि पर यकारादि नव वर्ण लिखे । अकारादि सोलह स्वर वर्ण अरे पर लिखे । सभी ककारादि वर्णों को नेमि पर लिखे

और पूर्व चक्र से अक्ष पर रहने वाले ॐ वर्ण को प्रधि पर लिखे । फिर शब्द ब्रह्ममय उस चक्र को अर्घ्य पुष्पादिकों से सविधि पूजन करे ॥ ६१-६५ ॥

बीजोद्धारक्रमविधानम्

तन्मध्यादुद्धरेदादौ सर्वेषां कारणं हि यत् ।
उदक्स्थमक्षरं चाक्षादरान्ताद्येन भूषितम् ॥ ६६ ॥
विद्धि सर्वेश्वरस्येदं बीजं निर्बीजकारणम् ।
एतदेवाब्जनाभस्य विसर्गसहितं स्मृतम् ॥ ६७ ॥
नेमिवर्गाद् द्वितीयं वै ततोऽरात् षष्ठमक्षरम् ।
अष्टमं नाभिदेशाच्च तत्संख्यं नेमिमण्डलात् ॥ ६८ ॥
नेमिपूर्वमतो नाभेः सप्तमं पञ्चमारगम् ।
अराच्चतुर्दशं त्वक्षात् पश्चिमाशागतं हि यत् ॥ ६९ ॥
नेमेरेकादशं चाथ षोडशं च त्रयोदशम् ।
पञ्चमं नाभिदेशाच्च नेमेरेकोनविंशकम् ॥ ७० ॥
तदन्तं सप्तमं चैव नवमं हि महामते ।
नाभेस्तृतीयं तदनु नेमेस्तत्संख्यमेव च ॥ ७१ ॥
द्वादशं च बहिष्ठेभ्यो दशमं षोडशात् परम् ।
नाभिपूर्वं ततो वर्णं नेमेः पञ्चदशं हि यत् ॥ ७२ ॥
तुर्यसंख्यमराद्बीजं ततो नाभिचतुर्थकम् ।
षष्ठं नेमेश्चतुर्थं च मध्यमक्षात् तथा हरेत् ॥ ७३ ॥
तत्रैव पूर्वदिक्स्थं यद् बाह्याद्वै पञ्चमं ततः ।
अक्षाद् दक्षिणदिक्संस्थं नेमेरष्टादशं ततः ॥ ७४ ॥
द्वितीयं नाभिदेशाच्च तदन्ते सप्तमारगम् ।
चतुर्दशमतो नेमेः षष्ठं नाभेरथाहरेत् ॥ ७५ ॥
सर्वे कारणवन्मूर्ध्ना योजनीयाः समासतः ।
प्रणवाद्या नमोन्ताश्च तेजसातीव निर्भराः ॥ ७६ ॥

बीजोद्धारक्रममाह—'तन्मध्यादित्यारभ्य' तेजसाऽतीव निर्भरा इत्यन्तम् । अक्षाद् उदक्स्थमक्षरं नकारमुद्धृत्य, अरान्ताद्येनानुस्वारेण भूषितं कुर्यात् । तथा च नमिति प्रयोगः । इदं सर्वेश्वरस्य विशाखयूपस्य बीजम् । एतदेव विसर्गसहितं चेद् अब्जनाभस्य बीजं भवति । ध्रुवबीजं तु नेमिवर्गाद् द्वितीयं खकारः । अनन्तबीजं तु अरात् षष्ठमक्षरम् ऊकारः । एवं क्रमेण अष्टमनाभेरथाहरेदिति पातालशयन-बीजान्तमर्थो बोध्यः ।

सर्वे बीजाः कारणवत् पूर्वोक्तविशाखयूपवत्, मूर्ध्ना अनुस्वारेण योजनीयाः । प्रणवाद्या नमोन्ताश्च ज्ञेयाः । तथा चैषां प्रयोगः—

ॐ नं नमः, ॐ खं नमः, ॐ ऊँ नमः, ॐ हं नमः, ॐ टं नमः, ॐ कं नमः, ॐ सं नमः, ॐ उं नमः, ॐ औं नमः, ॐ णं नमः, ॐ डं नमः, ॐ यं नमः, ॐ तं नमः, ॐ शं नमः, ॐ नं नमः, ॐ अं नमः, ॐ जं नमः, ॐ टं नमः, ॐ लं नमः, ॐ गं नमः, ॐ ढं नमः, ॐ ठं नमः, ॐ पं नमः, ॐ यं नमः, ॐ दं नमः, ॐ रं नमः, ॐ वं नमः, ॐ लं नमः, ॐ धं नमः, ॐ मं नमः, ॐ ङं नमः, ॐ चं नमः, ॐ अं नमः, ॐ फं नमः, ॐ रं नमः, ॐ ऋं नमः, ॐ थं नमः, ॐ षं नमः । इत्यष्टत्रिंशद् बीजानि ॥ ६६-७६ ॥

अब बीजोद्वार का क्रम कहते हैं—तन्मध्यात् ...... तेजसाऽतीव दुर्भराः (९.६६-७६) अक्षात् उदवस्थमक्षरं अर्थात् नकार । इन्हें अनुस्वार से भूषित करे नं यह सर्वेश्वर विशाख का बीज हुआ । इसी को जब विसर्ग सहित कर दिया जाय तब अब्जनाभ का बीज हो जायगा । ध्रुव बीज नेमि वर्ग से द्वितीय (खकार) है । (ॐ खं नमः) अनन्तबीज अर से षष्ठाक्षर अकार ॐ अं नमः । इसी क्रम से पातालशयन बीजान्त बीजों का आहरण करे । इन सभी बीजाक्षरों को (पूर्वोक्त विशाखयूप के समान) मूर्ध्ना अनुस्वार से युक्त करना चाहिये ।

मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—ॐ नं नमः (१), ॐ खं नमः (२), ॐ ऊं नमः (३), ॐ हं नमः (४), ॐ टं नमः (५), ॐ कं नमः (६), ॐ सं नमः (७), ॐ उं नमः (८), ॐ औं नमः (९), ॐ णं नमः (१०), ॐ डं नमः (११), ॐ यं नमः (१२), ॐ तं नमः (१३), ॐ शं नमः (१४), ॐ नं नमः (१५), ॐ अं नमः (१६), ॐ जं नमः (१७), ॐ टं नमः (१८), ॐ लं नमः (१९), ॐ गं नमः (२०), ॐ ढं नमः (२१), ॐ ठं नमः (२२), ॐ पं नमः (२३), ॐ यं नमः (२४), ॐ दं नमः (२५), ॐ रं नमः (२६), ॐ वं नमः (२७), ॐ लं नमः (२८), ॐ धं नमः (२९), ॐ मं नमः (३०), ॐ ङं नमः (३१), ॐ चं नमः (३२), ॐ अं नमः (३३), ॐ फं नमः (३४), ॐ रं नमः (३५), ॐ ऋं नमः (३६), ॐ थं नमः (३७), ॐ षं नमः (३८) । ये ३८ बीजाक्षर हैं ॥ ६६-७६ ॥

पद्मनाभादयो देवा वाच्यास्तेषां क्रमेण तु ।
पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः शक्त्यात्मा मधुसूदनः ॥ ७७ ॥
विद्याधिदेवः कपिलो विश्वरूपो विहङ्गमः ।
क्रोडात्मा वडवावक्त्रो धर्मो वागीश्वरस्तथा ॥ ७८ ॥
देव एकार्णवशयः कूर्मः पातालधारकः ।
वाराहो नरसिंहश्चाप्यमृताहरणस्तु वै ॥ ७९ ॥

श्रीपतिर्दिव्यदेहोऽथ कान्तात्माऽमृतधारकः ।
राहुजित् कालनेमिघ्नः पारिजातहरो महान् ॥ ८० ॥
लोकनाथस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेयो महाप्रभुः ।
न्यग्रोधशायी भगवानेकशृङ्गतनुस्ततः ॥ ८१ ॥
देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी त्रिविक्रमः ।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च ॥ ८२ ॥
ज्वलत्परशुधृग् रामो रामश्चान्यो धनुर्धरः ।
वेदविद् भगवान् कल्की पातालशयनः प्रभुः ॥ ८३ ॥
प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युक्तस्ते समासतः ।

एषां वाच्यान् पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशद्देवान् क्रमेणाह—'पद्मनाभादय' इति प्रक्रम्य 'इत्युक्तस्ते समासतः' इत्यन्तम् । देव इति पदमेकार्णवशयस्य विशेषणम् । पातालधारक इति कूर्मविशेषणम् । दिव्यदेह इति श्रीपतिविशेषणम् । अमृतधारक इति कान्तात्मनो विशेषणम् । महानिति पारिजातहरस्य विशेषणम् । शान्तात्मेति लोकनाथस्य विशेषणम् । महाप्रभूरिति दत्तात्रेयस्य विशेषणम् । भगवानिति न्यग्रोधशायिनो विशेषणम् । देव इति वामनस्य, सर्वव्यापीति त्रिविक्रमस्य च विशेषणम् । ज्वलत्परशुधृगिति रामस्य, धनुर्धर इत्यन्यस्य रामस्य च विशेषणम् । भगवानिति कल्किनः, प्रभुरिति पातालशयनस्य च विशेषणम् । एवं विशेषणविशेष्यमबुध्वा पारमेश्वरव्याख्याने विमानार्चनप्रकरणे एकशृङ्गतन्वादिषु द्वादशमूर्तिषु, कूर्मादिषु द्वादशमूर्तिषु च जागरुकास्वप्येकशृङ्गादिपातालशयनान्तमेकादश मूर्तयः, कूर्मादिन्यग्रोधशाय्यन्तमेकादश मूर्तय इति च लिखितम् । अतः सावधानं बोद्धव्यम् ।

एवं चात्र पद्मनाभादिपातालशयनान्ता अष्टत्रिंशद्विभवदेवा ज्ञेयाः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (११।१९) इति प्रक्रम्य "त्रिंशाच्चाष्टाविमे देवाः पद्मनाभादयो मताः" (११।२५) इत्युक्तम् । अहिर्बुध्न्यसंहितायां तु पञ्चमेऽध्याये एवमेव विभवदेवानुक्त्वा "त्रिंशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः" (५।५७) इत्युक्तम्, नैतावता परस्परविरोधः शङ्कनीयः । पद्मनाभादयोऽष्टत्रिंशद्देवाः, तेषामधिपतिर्विशाखायूपस्त्वेकः । तेन सहैकोनचत्वारिंशद्देवा इत्यभिप्रायेण "त्रिंशच्च नव चैवैते" (५।५७) इत्युक्तमिति बोध्यम् । यतो विशाखयूपस्य विभवदेवाधिपत्यं पूर्वमेवोक्तम्—"वैभवीयस्य यूथस्य पतित्वेनावतिष्ठते" (९।५६) इति । अत एवात्र विशाखयूपपुरस्सरमेकोनचत्वारिंशद्बीजान्युक्तानि । किञ्च, ध्यानप्रकरणेऽपि—

त्रयाणां मुख्यपूर्वाणां ध्रुवान्तानां पुरोदितम् ।
शेषादीनामशेषाणामिदानीमवधारय ॥
ध्यानं पातालनिलयपर्यन्तानां यथास्थितम् । (१२।३-४)

इति विशाखयूपस्यापि विभवदेवैः साहचर्यं वक्ष्यति । ननु—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (५।५०) इति प्रक्रम्य, "त्रिंशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः"

(५।५७) इति पद्मनाभादीनामेवैकोनचत्वारिंशत्संख्याकत्वेनोक्तत्वादनुक्तविशाखयूपस्य संख्यापूरणार्थं तत्र संयोजनमनुचितम् । तथा गत्यभावे तद्योजनं कार्यम् । अस्ति च गत्यन्तरम् । तथाहि—"श्रीपतिर्भगवान् देवः" (अहि० ५।५३) इत्यत्र देवशब्देन पौष्करोक्तमन्दरोत्पाटकृद्देवो ग्राह्यः, उभयत्राप्येकरूपदेवशब्दप्रयोगात्, प्रकरणाच्च । पौष्करे हि—

> मन्दरोत्पाटकृद् देवस्त्वमृताहरणस्तथा ।
> सुधाकलशधृक् चैव वनिताकृतिविग्रहः ॥
> भूयो रूपान्तरं चैव राहोश्चिच्छेद मस्तकम् ।
> एवं चतुर्धा भगवान् एष एव महामते ॥
> प्रादुर्भावान्तरोपेतः प्रादुर्भावोत्तमोत्तमः । (३६।२१५-२१७)

इति मन्दरोत्पाटकृदवतारस्य पार्थक्येन निर्देशः कृत इति चेन्न, अहिर्बुध्न्ये—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (५।५०) इति प्रक्रम्य सात्वतोक्तानुपूर्व्या एव पठितत्वात्, "सात्वते शासने सर्वं तत्तदुक्तं महामते" (५।५९) इति पद्मनाभादिलक्षणानां सात्वते द्रष्टव्यत्वेनोक्तत्वाच्चाहिर्बुध्न्यस्थवाक्यानामपि सात्वतानुसारेणैव व्याख्येयत्वात् । सात्वते हि मन्दरोत्पाटकृद् देवो न पृथग् निर्दिष्टः । तस्मात्—

> आप्तकामः स भगवान् स्वव्यापारवशेन तु ॥
> स्वां शक्तिमवलम्ब्यास्ते पद्मनाभात्मना पुनः । (९।९७-९८)

इ(ति पूर्वो?त्यु)क्तेः पद्मनाभविशाखयूपयोरभेदात्, अत एवेश्वरपारमेश्वरयोरङ्गुरार्पणप्रकरणे—"अब्जनाभं परं चैव पद्मनाभं ध्रुवं तथा" (ई० सं० १०।१७४, पा०सं० १५।१५९) इति विशाखयूपस्यापि पद्मनाभशब्देनैव व्यवहृतत्वाच्च, अहिर्बुध्न्ये—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (५।५०) इत्यत्र पद्मनाभशब्देनैव विशाखयूपोऽपि संगृहीत इति सूक्ष्मदृष्ट्या बोध्यम् । नन्वहिर्बुध्न्यवाक्यस्यैवं कथञ्चिद् गतिरुक्ता,

> पद्मनाभादिकाः सर्वे वैभवीयास्तथैव च ।
> षट्त्रिंशत्संख्यासंख्याताः प्राधान्येन गणेश्वर ॥
> षट्त्रिंशद्भेदभिन्नास्तु पद्मनाभादिकाः सुराः ।
> अनिरुद्धात् समुत्पन्ना दीपाद्दीप इवेश्वराः ॥ (तत्त्व०, पृ० १३४)

इति विष्वक्सेनसंहितावाक्यस्य का गतिरिति चेत्, तदगतिकल्पनं तु श्रीमद्रम्यजामातृमुनिभिरेव तत्त्वत्रयव्याख्याने कृतम् । तथाहि—अहिर्बुध्न्यसंहितोक्तैकोनचत्वारिंशद्विभवदेवेषु कपिलदत्तात्रेयजामदग्न्यानां गौणप्रादुर्भावतया मुमुक्षुभिरनर्चितत्वात् तान् विहाय मुमुक्षुभिरर्च्याः पद्मनाभादयो मुख्यप्रादुर्भावाः षट्त्रिंशदिति विष्वक्सेनसंहितायामुक्तमिति ।

नन्वेवं गतिकल्पनमज्ञानमूलकम्, यतः—"पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः" (५।५०) इत्यहिर्बुध्न्योक्तानुपूर्व्यां स्थितस्य वेदविच्छब्दस्य वेदव्यासोऽर्थ इति रम्यजामातृमुनिभिर्न ज्ञातम्, तस्य वेदव्यासपरत्वनिर्णायकसहस्रनायभाष्यवाक्यमपि नाधीतमिति चेत्, किमरे मूढाग्रगण्य! तेषामाचार्याणामाशयमविदित्वा दूषयसि—

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् ।
को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद् भवेत् ॥ (विष्णु० ३।४।५)

इत्युक्तमहामहिम्नि सूत्रकृति श्रीकृष्णद्वैपायने साक्षाद् भगवदवतारत्वमेव तेषामभिमतम् ।

नुन तर्हि व्यासस्यावेशावतारत्वं मुमुक्षुभिरनुपास्यत्वं च तैरेव कथमुक्तमिति चेत्, सत्यम् । न तत् कृष्णद्वैपायनविषयम्, अपि तु विष्णुपुराणोक्ताष्टाविंशतिसंख्याकव्यासान्तरविषयम् ।

ननु च सहस्रनामभाष्ये—'तत्र प्रादुर्भावाः केचित् साक्षात्, यथा मत्स्यकूर्मादयः। अन्ये तु ऋष्यादिविशिष्टपुरुषाधिष्ठानेन, यथा भार्गवरामकृष्णद्वैपायनादयः' (पृ० १८२) इति कृष्णद्वैपायनस्यैवावेशावतारत्वमुक्तम्, तस्य का गतिरिति चेत्, तच्च कल्पभेदेनावतीर्णद्वैपायनविषयं बोध्यम्, अन्यथा आचार्योक्तिविरोधात् । यथा तत्त्वत्रयव्याख्याने बुद्धस्य साक्षादवतारत्वमाचार्यहृदये प्रतिपादितम् । विष्वक्सेनसंहितादिषु तस्यावेशावतारत्वमुक्तम् । उभयोर्विरोधः कल्पभेदेन परिहरणीय इति व्याख्यातम्, तद्वदिहापीति सन्तोष्टव्यमायुष्मता ।

ननु "प्रादुर्भावगणो मुख्यः" (९।८४) इति पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशद्देवानामपि मुख्यप्रादुर्भावत्वमुक्तम्, तदन्तःपातिकपिलादीनां गौणत्वं कथं वक्तुं शक्यमिति चेत्, ब्रूमः—अत्र "प्रादुर्भावगणो मुख्य" (९।८४) इत्यत्र स्थितो मुख्यशब्दो विष्वक्सेनसंहितोक्तो मुख्यशब्दश्च न समानार्थकः, यतो विष्वक्सेनसंहितायाम्—

प्रादुर्भावो द्विधा प्रोक्तो गौणमुख्यविभेदतः ।
मदिच्छया हि गौणत्वं मनुष्यत्वमिवेच्छया ॥
सूकरत्वं च मत्स्यत्वं नारसिंहत्वमेव च ।
यथा वा दण्डकारण्ये कुब्जाम्रत्वं ममेच्छया ॥
यथा वाजिमुखत्वं च मम संकल्पतो भवेत् ।
सेनापते ममेच्छातो गौणत्वं न च कर्मणा ॥
प्रादुर्भावास्तु मुख्या ये मदंशत्वाद् विशेषतः ।
अजहत्स्वभावविभवदिव्याः प्राकृतविग्रहाः ॥
दीपाद् दीप इवोत्पन्ना जगतो रक्षणाय ते ।
अर्च्या एव हि सेनेश अनर्च्यादितरान् विदुः ॥
अनर्च्यानपि वक्ष्यामि प्रादुर्भावान् यथाक्रमम् ।
चतुर्मुखस्तु भगवान् सृष्टिकार्ये नियोजितः ॥
शङ्कराख्यो महारुद्रः संहारे विनियोजितः ।
मोहनाख्यस्तथा बुद्धो व्यासश्चैव महानृषिः ॥
वेदानां व्यसने तत्र देवेन विनियोजितः ।
अर्जुनो धन्विनां श्रेष्ठो जामदग्न्यो महानृषिः ॥
वसूनां पावकश्चापि वित्तेशश्च तथैव च ।
एवमाद्यास्तु सेनेश प्रादुर्भावैरधिष्ठिताः ॥

जीवात्मानः सर्व एते नोपास्तिर्वैष्णवी हि सा ।
आविष्टमात्रास्ते सर्वे कार्यार्थममितद्युते ॥
अनर्च्याः सर्व एवैते विरुद्धत्वान्महामते ।
अहङ्कृतियुताश्चैव जीवमिश्रा ह्यधिष्ठिताः ॥
—(तत्त्व० पृ० १३०-१३२)

इत्यादिभिर्मुख्यः साक्षादवतारः, गौणस्त्वावेशावतार इति प्रतिपादितम् । अत्र तु साक्षादवतारानावेशावतारांश्च सह पठित्वा प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युभयेषामपि मुख्य-प्रादुर्भावत्वप्रतिपादनादुभयसाधारणप्रसिद्धत्वमेव मुख्यशब्दार्थः, न तु साक्षादवतारत्व-मिति बोध्यम् ।

किञ्च, ''प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युक्तस्ते समासतः'' (९।८४) इत्यत्र प्रादुर्भाव-शब्देन मुख्यप्रादुर्भावा गौणप्रादुर्भावाश्च यथा संगृहीताः, तथा प्रादुर्भावान्तराण्यपि संगृहीतानि बोध्यानि, त्रिविक्रमादीनां प्रादुर्भावान्तरत्वात् । प्रादुर्भावान्तरं नाम तत्त-दवताराणामवान्तरभेदाः । तथा च पौष्करे—

स्वभावमजहच्छश्वदाकारान्तरमाकृतेः ।
यत्तदंशसमुद्भूतं प्रादुर्भावान्तरं तु तत् ॥ इति। (३६।२०१-२०२)

कण्ठरवेण च प्रतिपादितास्तत्रैव—

तथा वामननाथेन खर्वमूर्तिधरेण च ।
स्नातकब्रह्मचारीयलाञ्छनेर्लाञ्छितेन च ॥
तस्य रूपान्तरेणैव सुखानां सुखदेन च ।
त्रिविक्रमाख्यसंज्ञेन त्रैलोक्याक्रान्तमूर्तिना ॥ (३६।१९६-१९८)

इत्यादिभिः । विष्वक्सेनसंहितायां चैवमेवोक्तम्—

पूर्वोत्पन्नाद् वैभवीयात् प्रादुर्भूता महेश्वराः ।
प्रादुर्भावान्तरान् विद्धि तान् गणेश्वर मुख्यतः ॥
उपेन्द्राच्च यथा मुख्यात् त्रिविक्रमतनुर्हरिः । (तत्व०,पृ० १३५)

इत्यादिभिः । लक्ष्मीतन्त्राहिर्बुध्न्यसंहितयोस्त्वावेशावताराणां प्रादुर्भावान्तरत्व-मुक्तम्—

आविश्याविश्य कुरुते यत्र देवनरादिकम् ।
जगद्धितं जगन्नाथस्तज्ज्ञेयं विभवान्तरम् ॥
—इति, (लक्ष्मी० ४।३०)

विभवान्तरसंज्ञं तद् यच्छक्त्यावेशसंभवम् ।
—इति च । (अहि० ८।५१)

वस्तुतस्तु ''प्रादुर्भावगणो मुख्य इत्युक्तस्ते समासतः'' (९।८४) इति पद्म-नाभादीनां मुख्यत्वोक्त्या तदन्येऽमुख्या विभवावतारा बहवः सन्तीति ज्ञायते । अत्र श्रीकृष्णस्य पारिजातहरशब्देनोक्तत्वात् तदनुक्तिर्न शङ्कनीया ।

ननु ''नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च'' (९।८२) इति कृष्णस्तूच्यत एव, तदनुक्तिः केनोच्यत इति चेन्न, यतोऽत्र प्रतिपादितः कृष्णो न वसुदेवात्मजः, अपि तु धर्मात्मज इति बोध्यम् । तथा च पौष्करे—

धर्मात्मा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भावं च शाश्वतम् ।
प्रादुर्भूतं हि वै यास्मान्नराद्यं कृष्णपश्चिमम् ॥ इति । (३६।२०७)

ननु चात्र केवलकृष्णशब्दस्योक्तत्वाद् वसुदेवपुत्रः प्रसिद्धः कृष्ण एव स्यादिति चेन्न, साहचर्यविरोधाद् वक्ष्यमाणध्यानविरोधाच्च । किञ्च, अत्रानन्तस्योक्तत्वाद् बलभद्रलक्ष्मणावप्युक्तप्रायाविति बोध्यम् ।

अनन्तः प्रथमं रूपं लक्ष्मणश्च ततः परम ।
बलभद्रस्तृतीयस्तु कलौ कश्चिद् भविष्यति ॥

इति प्रसिद्धेः ।

ननु भगवदवतारमध्ये शेषावतारयोर्बलभद्रलक्ष्मणयोः कथनं कस्यापेक्षितमिति चेन्न, शेषस्यैव भगवतारत्वात् । अत एवात्र—''पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः'' (९।७७) इत्यनन्तस्याप्युक्तत्वाच्च ।

ननु तर्हि मत्स्याद्यवतारदशकेऽप्यन्तर्भूतस्य बलभद्रस्यास्मिन् पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशावतारगणे कथमप्रतिपादनमिति चेत्, सत्यम् । यथा श्रीरामस्योक्त्या लक्ष्मणाद्यास्त्रयोऽप्युक्तप्रायाः, तथा पारिजातहरस्योक्त्या तद्भ्रातृपुत्रपौत्राः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा अप्युक्तप्राया इति बोध्यम् ।

ननु किं प्रद्युम्नानिरुद्धयोरपि भगवदतारान्तर्गतत्वमङ्गीक्रियत इति चेत्, निःसंशयमङ्गीक्रियते । ननु तर्हि पुराणार्थनभिज्ञोऽसि, श्रीभागवते दशमस्कन्धे—

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग् रुद्रमन्युना ।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥ (१०।५५।१)

इत्यत्र मुनिभावप्रकाशिकाख्यायां व्याख्यायाम्—''वासुदेवांश इति विशेषणम् । अनेन भाविजन्मप्रभृति सम्बन्ध उक्तः । न(नु?तु) चतुर्व्यूहेष्वयं तृतीयव्यूह उच्यते, नामसाम्यं तु तद्विभूतित्वनिबन्धनमिति विवेकः । वासुदेवाधिष्ठितचित्तप्र(भा प्र)वत्वाद् वासुदेवांशस्तत्सृष्टिहेतुत्वाद्वा'' इति व्याख्यातम् । अतः प्रद्युम्ननिरुद्धयोर्भगवदवतारत्वं न संभवतीति चेन्न, यतस्तद्व्याख्यातृभिः सहस्रनामभाष्यादिकं कदापि न दृष्टम् । भगवच्छास्त्रमपि न श्रुतम् । सहस्रनामभाष्ये हि—''कृष्णत्वेऽप्यजहद्वासुदेवादिचतुर्मूर्तित्वादिति विभवेऽपि तन्मूलव्यूहं प्रत्यभिज्ञापयति—चतुर्मूर्तिः । बलभद्रवासुदेवप्रद्युम्नानिरुद्धाश्चतस्रो मूर्तयो यदुकुलेऽप्यस्येति व्यूहमूलेन निरुपाधिकपररूपेण देवक्यामवततार'' (पृ० ६५८-६५९) इति, ''अत्रापि तथैव समस्तव्यस्तषाड्गुण्यावस्थत्वाच्चतुर्व्यूहः'' (पृ० ६६०) इति च प्रद्युम्नानिरुद्धयोरपि भगवदवतारत्वमसकृदुक्तम् । भगवच्छास्त्रेऽपि लक्ष्मीतन्त्रे—

अवतारो हि यो विष्णोश्चतुर्धा संभविष्यति ।

मधुरायामहं व्यक्तिं चतुर्थैष्यामि वै तथा॥
रेवती रुक्मिणी चैव रतिर्नाम्ना तथाप्युषा। (८।४५-४६)

इति बलभद्रादीनां चतुर्णामपि भगवदवतारत्वं सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥ ७७-८४ ॥

अब इनके वाच्य अड़तीस पद्मनाभादि देवताओं के नाम कहते हैं—पद्मनाभ, ध्रुव, अनन्त, शक्त्यात्मा, मधुसूदन, विद्याधिदेव, कपिल, विश्वरूप, विहङ्गम, क्रोडात्मा (१०), वडवावक्त्र, धर्म, वागीश्वर, देव एकार्णवशय, पातालधारक कूर्म, वाराह, नरसिंह, अमृताहरण, दिव्य देह श्रीपति, अमृतधारककान्तात्मा (२०), राहुजित्, कालनेमिघ्न, महान् पारिजातहर, शान्तात्मा, लोकनाथ, महाप्रभु दत्तात्रेय, भगवान् न्यग्रोधशायी, एकशृङ्गतनु, देव वामनदेह (३०), सर्वव्यापी त्रिविक्रम, नर, नारायण, हरि, कृष्ण, ज्वलत्परशुधृक् परशुराम, धनुर्धरराम, वेदावर्त, भगवान् कल्की, प्रभु पातालशयन ॥ ७७-८३ ॥

हे सङ्कर्षण ! इस प्रकार संक्षेप में गौण तथा मुख्य प्रादुर्भाव गण (तत्तदवतार और उनके अवान्तर भेद) कहे गए । अब प्रधान देवी गणों को कहते हैं, अब यहाँ सभी शक्ति संघों में प्रधान शक्ति संघ कहता हूँ ॥ ८४ ॥

शक्तिसंघात् प्रधानो यः शक्तिसंघः स उच्यते ॥ ८४ ॥
लक्ष्मीः पुष्टिर्दया निद्रा क्षमा कान्तिः सरस्वती ।
धृतिर्मैत्री रतिस्तुष्टिर्मतिर्द्वादशमी स्मृता ॥ ८५ ॥

अथ प्रधानं देवीवर्गमाह—शक्तीति सार्धेन । शक्तिसंघादिति जात्येकवचनम् । यतः श्र्यादिदेवीनामेकद्विकचतुष्कषट्काष्टकद्विषट्कभेदैः षोढा संघान् वक्ष्यति द्वादशे परिच्छेदे । अयमपि संघो वक्ष्यमाणान्तर्गत एव । अत्रापि मुख्यतमत्वात् प्रतिपादितः । पद्मनाभादीनां प्रसिद्धा देव्यस्त्वीश्वरलक्ष्मीतन्त्रयोः प्रतिपादिताः । तथाहि—

धीस्तारा वारुणी शक्तिः पद्मा विद्या तथैव च ।
संख्या विश्वा खगा भूर्गौर्लक्ष्मीर्वागीश्वरी तथा ॥
अमृता धरणी च्छाया नारसिंही तथा सुधा ।
श्रीः कान्तिर्विश्वकामा मा सत्या शान्तिः सरोरुहा ॥
माया पद्मासना खर्वा विक्रान्तिर्नरसंभवा ।
नारायणी हरिप्रीतिर्गान्धारी काश्यपी तथा ॥
वैदेही वेदविद्या च पद्मिनी नागशायिनी ।
त्रिंशच्चाष्टाविमा देव्यः पद्मनाभादिशक्तयः ॥ इति । (८४-८५)
—(लक्ष्मी० २०।४५-४८, ई० सं० ७।३३-३७)

लक्ष्मी, पुष्टि, दया, निद्रा, क्षमा, कान्ति, सरस्वती, घृति, मैत्री, रति, तुष्टि एवं मति ये द्वादश शक्तियाँ हैं ॥ ८५ ॥

प्रधानभूतांश्छारीरानलङ्कारान्निबोध मे ।
किरीटः कौस्तुभो भाढ्यः श्रीवत्सोऽमृतलक्षणः ॥ ८६ ॥
वनमालेति गरुडः प्रधानान् हेतिकान् शृणु ।
चक्रं शङ्खो गदा पद्मं लाङ्गलं मुसलं शरः ॥ ८७ ॥
शार्ङ्गं च खड्गखेटौ तु दण्डः परशुरीतिहा ।
पाशाङ्कुशौ मुद्गरश्च वज्रः शक्तिसमन्वितः ॥ ८८ ॥
इत्येतद् देवताचक्रमङ्गमन्त्रगणान्वितम् ।
विग्रहे देवदेवस्य संलीनमवतिष्ठते ॥ ८९ ॥

अथ किरीटादिभूषणप्रधानचतुष्टयं वाहनं चक्रादिसप्तदशप्रधानायुधानि चोक्त्वा एषामङ्गमन्त्रैः सह भगवद्विग्रहे संलीनत्वमाह—प्रधानभूता इति चतुर्भिः । ईतिहन्त्रेति ईतिहेति परशोर्विशेषणम् । अत्र विशेष्यभ्रान्त्या पारमेश्वरव्याख्यातृभिर्विमानदेवता-कथनप्रकरणे चक्रादिशक्त्यन्ताष्टायुधन्यास इत्युक्तम्, सहस्रकलशाभिषेक-प्रकरणेऽपि—

चक्रादिवज्रपर्यन्तमस्त्रषोडशकं यजेत् ॥
कोणस्थेषु चतुष्केषु न्यसेच्छक्तिं ततः परम् । (१४।४४७-४४८)

इति श्लोकव्याख्यावसरे पूर्वोक्तभ्रान्तिजल्पितस्य दृढीकरणार्थं चक्रादिवज्र-पर्यन्तमित्यत्रातद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति चोक्तम् ॥ ८६-८९ ॥

अब इनके प्रधान शारीरिक अलङ्कारों को सुनिए—देदीप्यमान किरीट, कौस्तुभ, अमृत लक्षण श्रीवत्स और वनमाला इनके ये चार अलङ्कार हैं । गरुड़ वाहन हैं । अब इनके प्रधान शस्त्रों को सुनिए । चक्र, शङ्ख, गदा, पद्म, लाङ्गल, मुसल, द्वार, शार्ङ्ग, खड्ग, खेटक, दण्ड, ईतियों को नष्ट करने वाला परशु, पाश, अङ्कुश, मुद्गर, वज्र शक्ति, अङ्ग मन्त्र गणान्वित, इतने देवता चक्रादि देवाधिदेव विष्णु के विग्रह में लीन होकर स्थित रहते हैं ॥ ८६-८९ ॥

देवतावर्गकथनम्

वक्ष्ये भवोपकरणं गीर्वाणगणमुत्तमम् ।
नानाविभवमूर्तीनां योऽवतिष्ठेत शासने ॥ ९० ॥
कालो वियन्नियन्ता च शास्त्रं नानाङ्गलक्षणम् ।
विद्याधिपतयश्चैव सरुद्रः सगणः शिवः ॥ ९१ ॥
प्रजापतिसमूहश्च इन्द्रः सपरिवारकः ।
मुनयः सप्त पूर्वेऽन्ये ग्रहास्तारादिकैर्वृताः ॥ ९२ ॥
जीमूताश्चाखिला नागास्त्वप्सरोगण उत्तमः ।

ओषध्यश्चैव पशवो यज्ञाः साङ्गाखिलाश्च ये ॥ ९३ ॥
विद्या चैव पराविद्या पावकश्चैव मारुतः ।
चन्द्राकौं वारिवसुधे इत्युक्तममलेक्षण ॥ ९४ ॥
चतुर्विंशतिसंख्यं च भवोपकरणं महत् ।

अथ भवोपकरणदेवतावर्गमाह—वक्ष्य इत्यादिभिः । सरुद्र सगण इति च शिवस्य विशेषणम् । रुद्रैरेकादशभिः सह वर्तत इति तथोक्तः ॥ ९०-९५ ॥

अब भवोपकरण भूत देवता वर्गों को कहते हैं—जो नाना प्रकार के विभव मूर्त्तियों के शासन में रहते हैं । समस्त विद्याधिपति, सरुद्र, सगण शिवप्रजापति समूह सपरिवार, इन्द्र, अन्य ग्रह तारादिकों से संयुक्त सप्तर्षि, समस्त भूतगण, नाग, अप्सरा गण, औषधियाँ, पशु, साङ्ग समस्त यज्ञ, विद्या, पराविद्या, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, सूर्य, जल एवं वसुधा इतने भवोपकरण हैं । हे अमलेक्षण ! इन्हें मैंने आपसे कहा ॥ ९०-९४ ॥

ये सभी २४ संख्या में भवोपकरण कहे गये । यतः भव (= प्रकृति) प्रधान है, प्रकृति लक्षण व्यापक है और जड़ लक्षण वाली है ॥ ९५ ॥

भवः साक्षात् प्रधानं तु व्यापको जडलक्षणः ॥ ९५ ॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात् सोऽपि पूज्यत्वमेति च ।
इत्येवमादि सर्वेषां भविनां परमेश्वरः ॥ ९६ ॥
स्थितोऽन्तर्यामिभावेन रूपमासाद्य निष्कलम् ।
आप्तकामः स भगवान् स्वव्यापारवशेन तु ॥ ९७ ॥
स्वां शक्तिमवलम्ब्यास्ते पद्मनाभात्मना पुनः ।
धराम्बुहुतभुग्वातमूलनालदलोदरे ॥ ९८ ॥

एवं भवोपकरणदेवता विवृत्य भवस्यापि पूज्यत्वमाह—भव इति । भवत्यस्मात् सर्वमिति भवः, प्रकृतिरित्यर्थः । प्रधानं प्रधानशब्दवाच्यः । एतद्भवोपकरणादीनां सर्वेषामपि प्रकृतियुक्तानामन्तर्यामिभावेन स्थितोऽपि स्वयं पूर्णकामोऽपि भक्तानुग्रहार्थं पद्मनाभाख्यविभवरूपमङ्गीकरोतीत्याह—इत्येवमिति द्वाभ्याम् । निष्कलं निराकार-मित्यर्थः ॥ ९५-९८ ॥

चतुस्तत्त्वमये पद्मे गगनैकार्णवोदरे ।
मानसेऽनन्तशयने दिव्यबोधतनुर्विभुः ॥ ९९ ॥
सहस्रांशुसहस्राभ उत्तानस्थो हि लीलया ।
ततो विविधरत्नाभे तदीये नाभिपुष्करे ॥ १०० ॥
प्रोद्वहंस्तु स्ववीर्येण विद्यां सामर्थ्यविग्रहाम् ।

मूर्तैर्ध्वजादिकैः सर्वैरावृतस्तत्परायणैः ॥ १०१ ॥

तत्पद्मनाभरूपं विशिनष्टि—धरेति सार्धैस्त्रिभिः । धराम्बुहुतभुग्वातमूलनालदलोदरे चतुस्तत्त्वमये पृथिवीतत्त्वस्य मूलत्वम्, अप्तत्त्वस्य नालत्वम्, तेजस्तत्त्वस्य दलत्वम्, वायुतत्त्वस्य कमलोदरत्वं च क्रमेण ज्ञेयम् । गगनैकार्णवोदरे आकाशतत्त्वात्मकसमुद्रमध्य इत्यर्थः । मानसेऽनन्तशयने मनस्तत्त्वात्मकनागपर्यङ्क इत्यर्थः । दिव्यबोधतनुः बुद्धितत्त्वात्मकदिव्यशरीर इत्यर्थः । उत्तानस्थः उत्तानशायीत्यर्थः । तदीये नाभिपुष्करे प्रकृतितत्त्वात्मकनाभिपद्म इत्यर्थः । विद्यां चतुर्मुखमूर्तिरूपां वेदविद्यामित्यर्थः । तस्य विद्यादेहत्वं प्रतिपादितं खलु जयाख्यादिषु—

तन्मध्ये मानवो ब्रह्मा मया सृष्टश्चतुर्मुखः ।
जगतां प्रभवस्तस्माद् विद्यादेहः सनातनः ॥ (२।२७)

इति ॥ ९८-१०१ ॥

मन्त्र मन्त्रेश्वर के न्यास के कारण वह पूज्यता प्राप्त किये हुए हैं । इस प्रकार सभी सांसारिक वस्तुओं में अन्तर्यामी भाव से स्थित होकर परमेश्वर निष्कल (निराकार) होकर भी साकार रूप धारण करते हैं । यद्यपि भगवान् आप्तकाम हैं किन्तु अपने व्यापार के वशीभूत होकर पद्मनाभ रूप से अपनी शक्ति का सहारा ले कर चतुस्तत्त्वमय धरा, जल, अग्नि एवं वायु रूप मूल, नाल एवं दल के उदर में, गगन रूप एकार्णव उदर वाले पद्म में, मनस्तत्त्वात्मक नाग के पर्यङ्क पर दिव्यज्ञान शरीर धारण कर सहस्रों सूर्य के समान प्रकाशित हो कर अपनी लीला से उतान पड़े रहते हैं । अर्थात् यहाँ चार तत्त्वों में पृथ्वी मूल है, जल तत्त्व नाल है, तेजस तत्त्व कमल दल है, वायुतत्त्व कमलोदर है, आकाशतत्त्व समुद्र मध्य है। उनकी नाभि पुष्कर में प्रकृति तत्त्वात्मक नाभि पद्म उत्पन्न हुआ है वे मनस्तत्त्वात्मक नाग पर्यङ्क पर लीलापूर्वक उतान सोये हुए हैं ॥ ९६-१०० ॥

वे अपनी शक्ति से शक्ति स्वरूपा महाविद्या को वहन कर रहे हैं । वे विद्या में परायण सभी मूर्त्ति ध्वजादिकों से घिरे हुए हैं ॥ १०१ ॥

अनन्तचेष्टस्य विभोरित्येवं त्वीश्वरात्मनः ।
भोगापवर्गदं रूपं शान्तव्यक्तं च वैभवम् ॥ १०२ ॥
प्राग्वत् तुर्यपदावस्थं स्मरेद् हृत्कमलाम्बरे ।

एवं पद्मनाभरूपस्य हृदयकमले ध्यानस्थानमाह—अनन्तेति सार्धेन । शान्तं निराकारम्, अन्तर्यामिभावेन स्थितमिति यावत् । व्यक्तं साकारमित्यर्थः । साकारत्वेन निराकारत्वेनोभयथापि ध्येयमिति भावः । प्राग्वत् तुर्यपदावस्थं द्वितीयपरिच्छेदोक्तरीत्या (२।६९) नादावसानगगनस्थितमित्यर्थः ॥ १०२-१०३ ॥

तदधः कर्णिकामध्ये त्वभिजातोत्पलद्युतिम् ॥ १०३ ॥
दिशो दश द्योतयन्तं नानागात्ररुहैश्चितम् ।

सौम्यं द्विरष्टवर्षं च राजीवदललोचनम् ॥ १०४ ॥
भचक्रचक्रभृद्देवं गदादेहं तथैव च ।
शक्तिमाधारसंज्ञां च प्रोद्वहन्तं स्मरेद् ध्रुवम् ॥ १०५ ॥
स्थितो यः स्तम्भभूतस्तु अस्मिन् वै विश्वमन्दिरे ।
नभोऽनिलात्मना चैव भूमिकाभिन्नलक्षणे ॥ १०६ ॥

तदधः कर्णिकामध्ये सुषुप्तिस्थाने ध्रुवस्य ध्यानप्रकारमाह—तदध इति सार्धैस्त्रिभिः । नायं प्रसिद्धोऽर्वाचीनो ध्रुव इति मन्तव्यः । अपि तु तस्यापि ध्रुवत्व-प्रदः । साक्षाद् भगवद्रूपोऽन्य इति बोध्यम् । तथा च सहस्रनामभाष्ये''अतिशयेन धीयते बद्ध्यतेऽस्मिन् ज्योतिश्चक्रमिति व्यवसायः, ... नक्षत्राधारव्योमशरीर-त्वात् । अतो हि ''गगनमूर्तये'' (सा० २३।४४) इति मन्त्रवर्णः । ''भचक्रचक्र-भृद्देवम्'' (सा० ९।१०५) इति हि ध्यानम् । सर्वमस्मिन् संतिष्ठते समाप्यत इति संस्थानः । स एव ''परमपदप्राप्तिहेतुः'' (सा० २३।४५) इति मन्त्रवर्णात् स्थानदः । स खलु तुङ्गपदप्रदानेनार्वाचीनं ध्रुवमपि ध्रवीचकार, अतो ध्रुवः'' (पृ० ३६४-३६६) इति ॥ १०३-१०६ ॥

अनन्त चेष्टा वाले ईश्वरात्मा उन विभु का वैभव-स्वरूप भोग एवं अपवर्ग देने वाला है और शान्त (निराकार) व्यक्त साकार है । इस प्रकार तूर्य पदावस्थ उनको साकार निराकार दोनों रूप का ध्यान करना चहिये ॥ १०२-१०३ ॥

इस प्रकार कर्णिका के मध्य में सुषुप्ति स्थान में अत्यन्त मनोहर कमल के समान अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए सौम्य-स्वरूप सोलह वर्ष की अवस्था वाले, कमल के समान नेत्रों से युक्त, नक्षत्र चक्र में चक्र धारण किये हुए, गदा धारण किये हुए, उसी प्रकार अपनी शक्ति तथा आधार संज्ञा को धारण किये हुए ध्रुव स्वरूप भगवान् का ध्यान करे ॥ १०२-१०५ ॥

नभ, वायु और भूमि से अभिन्न लक्षण वाले इस विश्वमन्दिर में खम्भे की तरह वे अडिग स्थित है ॥ १०६ ॥

प्रागादावीशकोणान्तं संस्मरेत् कर्णिकोपरि ।
द्विषट्कं यदनन्ताद्यं सरश्शाय्यन्तमग्निगम् ॥ १०७ ॥

तस्मिन्नमेव स्थाने प्रागादीशानान्तमनन्तादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—प्रागादाविति । अग्निगम् = अग्निमण्डलस्थमित्यर्थः ॥ १०७ ॥

अब ऐसे स्थान में पूर्व से ईशानादि क्रम से द्वादश मूर्त्तियों का ध्यान करे, इस बात को कहते हैं—पूर्व से आरम्भ कर ईशानकोण पर्यन्त कर्णिका पर सरश्शायी अग्नि के मण्डल में स्थित बारह संख्यक अनन्तादि का ध्यान करे ॥ १०७ ॥

तत्संख्यं केसरोर्ध्वस्थं तद्वत् कूर्मादिकं न्यसेत् ।
न्यग्रोधशायिपर्यन्तममृताधारमण्डले ॥ १०८ ॥

केसरस्थाने स्वप्नपदे कूर्मादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—तत्संख्यमिति । अमृताधारमण्डले चन्द्रमण्डल इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

केशर के ऊर्ध्व भाग में कूर्मादि से लेकर न्यग्रोधशायी पर्यन्त बारह देवताओं के आधारभूत चन्द्रमण्डल में न्यास करे ॥ १०८ ॥

सूर्यचक्रसमारूढं दलभूमिगतं ततः ।
पातालशायिपर्यन्तमेकशृङ्गादिकं हि यत् ॥ १०९ ॥

दलस्थाने जाग्रत्पदे एकशृङ्गादिद्वादशमूर्तिध्यानं कार्यमित्याह—सूर्येति । एषामनन्तादिषट्त्रिंशद्देवानां ध्यानप्रकारा वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः ॥ १०९ ॥

दल स्थान में (जाग्रत्पद में) सूर्य चक्र पर समारुढ़ एकशृङ्ग से लेकर पातालशायी पर्यन्त मूर्त्तियों का ध्यान करे । (अनन्त से लेकर ३६ देवताओं का ध्यान आगे चलकर कहेंगे) ॥ १०९ ॥

न्यस्यैवममृतोत्थैस्तु भोगैरभ्यर्च्य मानसैः ॥
यथावद् ध्यानयोगेन प्राग्वत् सृष्टिक्रमेण तु ॥ ११० ॥
पुनः संहृतियोगेन पातालशयनात् तु वै ।
यावद् गगनशाय्यन्तमर्चनीयं फलाप्तये ॥ १११ ॥

पद्मनाभाद्यष्टत्रिंशद्देवानामपि सृष्टिक्रमेण संहारक्रमेण च मानसार्चनं कार्यमित्याह—न्यस्येति द्वाभ्याम् । गगनशाय्यन्तं पद्मनाभान्तमित्यर्थः ॥ ११०-१११ ॥

इस प्रकार इन देवताओं का न्यास कर मानस भोगों से उनकी अर्चना कर पहले ध्यान करे । फिर सृष्टिक्रम से न्यास करे ॥ ११० ॥

फिर संहार क्रम से पातालशयन से आरम्भ कर गगन शय्यन्त अर्थात् पद्मनाभान्त देवताओं का फल प्राप्ति के लिये अर्चना करे ॥ ११०-१११ ॥

य उक्तः समुदायेऽस्मिन् हृद्यागे देवतागणः ।
यजेद् भिन्नक्रमेणैव विधिनानेन तं पुनः ॥ ११२ ॥
त्रिकं यद्वै द्विषट्कानां त्रिस्थानस्थं प्रकाशितम् ।
पृथक् पृथक् तदेकैकं न्यस्य न्यस्य यजेत् क्रमात् ॥ ११३ ॥

अनन्तादिद्वादशकस्य कूर्मादिद्वादशकस्य मीनादिद्वादशकस्य च प्रत्येकं प्रत्येकमप्यर्चनं कुर्यादित्याह—य इति द्वाभ्याम् ॥ ११२-११३ ॥

इस समुदाय में अन्तर्याग में जो देवतागण कहे गए हैं । उन अनन्तादि

द्वादशक, कूर्मादि द्वादशक, मीनादि द्वादशक देवों का एक-एक का अलग से न्यास कर अर्चना करे ॥ ११२-११३ ॥

प्रतिद्वादशकस्याद्यं प्रगुक्तेन क्रमेण यत् ।
तन्निष्कलात्मना पूर्वमिष्ट्वा वै कर्णिकोदरे ॥ ११४ ॥
समुत्थाप्य ततो मध्यात् तमेव सकलात्मना ।
न्यसेदाधारभूतं च सर्वत्र कमलादधः ॥ ११५ ॥
तमेवार्घ्यादिनाऽभ्यर्च्य कमलच्छदकोटिगम् ।
द्वितीयं कर्णिकामध्ये तदग्रे केसरोर्ध्वगम् ॥ ११६ ॥
ध्यात्वा न्यस्य तृतीयं तु ततः पत्राष्टकेऽष्टकम् ।
द्वादशाख्यं हि सर्वत्र गगने पद्मनाभवत् ॥ ११७ ॥
भवोपकरणीयाभिर्देवताभिः समावृतम् ।
यस्त्वङ्गदेवतासंघः सर्वः स कमलाद् बहिः ॥ ११८ ॥
न्यस्यैवमर्चनं कुर्याद् दिव्यैर्भोगैस्तु पूर्ववत् ।

प्रत्येकार्चनप्रकारमाह—प्रतिद्वादशकस्येत्यारभ्य दिव्यैर्भोगैस्तु पूर्ववदित्यन्तम् । प्रतिद्वादशकस्याद्यं यद् अनन्तः कूर्मो मीनश्चेत्यर्थः । द्वितीयं शक्त्यात्मानं वराहं वामनं चेत्यर्थः । तृतीयं मधुसूदनं नारसिंहं त्रिविक्रमं चेत्यर्थः । अष्टकं विद्यादेवाष्टकं श्रीपत्याद्यष्टकं नराद्यष्टकं चेत्यर्थः । द्वादशाख्यम् एकार्णवशायिनं न्यग्रोधशायिनं पातालशायिनं चेत्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—अनन्तादिद्वादशकार्चनप्रकरणे प्रथममनन्तं स्वहृदयकमलकर्णिकामध्ये निराकारं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य, पुनस्तमेव तस्मात् स्थानादुत्थाप्य, हृदयकमलाधस्थाद् आधारभूतं साकारं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य , तमेव हृत्कमलदलाग्रेऽप्यभ्यर्च्य, कर्णिकामध्ये शक्त्यात्मानं तत्पुरतः केसरस्थाने मधुसूदनं दलाष्टके विद्याधिदेवाद्यष्टकं चाभ्यर्च्य, नादावसानगगने पद्मनाभवत् साकारं निराकारं चैकार्णवशायिनं ध्यात्वाऽभ्यर्च्य, लक्ष्म्यादिशक्तिकिरीटादिभूषणचक्रादिलाञ्छनानि कालादिभवोपकरणदेवताश्च कमलाद् बहिरभ्यर्चयेत् । कूर्मादिद्वादशकार्चनप्रकरणे त्वनन्तस्थाने कूर्मम्, शक्त्यात्मस्थाने वराहम्, मधुसूदनस्थाने नृसिंहम्, विद्याधिदेवाद्यष्टकस्थाने श्रीपत्याद्यष्टकम्, एकार्णवशायिस्थाने न्यग्रोधशायिनं चार्चयेत् । मीनादिद्वादशकार्चनप्रकरणे तु कूर्मस्थाने मीनम्, वराहस्थाने वामनम्, नृसिंहस्थाने त्रिविक्रमम्, श्रीपत्याद्यष्टकस्थाने नराद्यष्टकम्, न्यग्रोधशायिस्थाने पातालशायिनं चार्चयेत् ॥ ११४-११९ ॥

प्रत्येक का अर्चन कहते हैं—प्रथम द्वादशक के—आद्य, अनन्त, कूर्म एवं मीन, द्वितीय—शक्त्यात्मा, वराह एवं वामन, तृतीय द्वादशक—मधुसूदन, नारसिंह एवं त्रिविक्रम, अष्टक—विद्यादेवाष्टक, श्रीपत्याद्यष्टक एवं नराष्टक, द्वादशाख्य—एकार्णवशायी, न्यग्रोधशायी एवं पातालशायी, प्रयोग—अनन्तादिद्वादशकार्चन

प्रकरण में कहे गए प्रथम अनन्त की हृदय कमल कर्णिका के मध्य में निराकार का ध्यान करे और अर्चन करे। फिर वहाँ से उठ कर हृदय कमल से नीचे आधारभूत साकार का ध्यान करे और अर्चना करे। फिर हृदय कमलदलाग्र में उनकी अर्चना करे। कर्णिका के मध्य में शक्त्यात्मा के सर स्थान में मधुसूदन, दलाष्टक में विद्यादिदेवाष्टक की अर्चना करे। नादावसान गगन में साकार, निराकार एवं एकार्णवशायी विष्णु का ध्यान कर अर्चन करे। फिर लक्ष्म्यादिशक्ति, किरीटादि, भूषण, चक्रादि लाञ्छन, कालादिभवोपकरण देवता की कमल से बाहर अर्चना करे। कूर्मादिद्वादशार्चन के प्रकरण में कहे गए अनन्त के स्थान में कूर्म, शक्त्यात्म स्थान में वराह, मधुसूदन स्थान में नृसिंह, विद्यादि देवताष्टक स्थान में श्रीपत्यादि अष्टक, एकार्णवशायी स्थान में न्यग्रोधशायी की अर्चना करे। मीनादिद्वादशकार्चन प्रकरण में कहे गए कूर्म स्थान में मीन, वराह स्थान में वामन, नरसिंह स्थान में त्रिविक्रम, श्रीपत्याद्यष्टक स्थान में नराद्यष्टक और न्यग्रोधशायि स्थान में पातालशायी की अर्चना करे। इस प्रकार न्यास करने का विधान है ॥ ११४-११८ ॥

मूर्तौ मण्डलमध्ये च बहिरग्नौ जलाशये ॥ ११९ ॥
स्वमन्त्रेणाम्बरस्थस्य मूर्तं स्रक्चन्दनादिकम् ।
दातव्यं कर्णिकामध्ये न्यस्तमन्त्रस्य मूर्धनि ॥ १२० ॥
प्रतिबिम्बति तद् यस्मात् तद् ब्रह्मद्वारदर्पणे ।

एवं मानसार्चनमुक्त्वा बिम्बादिबाह्यार्चनेऽप्येवमेव देवतान्यासक्रमः । किन्तु गगनस्थमूर्तेरर्चनार्थं पुष्पचन्दनादिकं कर्णिकामध्यस्थितमूर्तेर्मूर्ध्न्येव समर्पयेत् । यतः कर्णिकामध्यस्थितमूर्तिब्रह्मरन्ध्रदर्पणे गगनस्थमूर्तिः प्रतिबिम्बतीत्याह—मूर्ताविति द्वाभ्याम् । मूर्तौ बिम्बे मण्डलमध्ये वक्ष्यमाणमण्डले, अग्नौ प्रतिष्ठितेऽग्नौ, जलाशये तीर्थमध्य इत्यर्थः । मानसिकत्वनिवृत्त्यर्थं मूर्तमिति स्रक्चन्दनादिकस्य विशेषणमुक्तम् । मूर्तं = बाह्येन्द्रियविषयमित्यर्थः ॥ ११९-१२१ ॥

मानसार्चन करने के बाद बिम्बादि बाह्य अर्चन में भी इसी प्रकार देवता न्यास का क्रम है—मानस पूजा के पश्चात् मूर्त्ति में, मण्डलमध्य में, बाहर अग्नि में, अथवा जलाशय में उन-उन के अपने मन्त्र से अम्बरस्थ मूर्त्ति के लिये स्रक, चन्दनादि कर्णिका के मध्य में स्थापित मूर्त्ति के शिर पर समर्पित करे। क्योंकि गगनस्थ मूर्त्ति नीचे वाले ब्रह्मद्वार दर्पण में प्रतिबिम्बित होती रहती है ॥ ११९-१२१ ॥

यस्य यस्य यदा यस्मिन्नाकारे रमते मनः ॥ १२१ ॥
भोगाप्तये वा मोक्षार्थं तं तं मध्येऽर्चयेत् तदा ।
तदुद्देशेऽर्चनं कुर्यात् तत्स्थानप्रच्युतस्य वा ॥ १२२ ॥
नानासिद्धिप्रदानाच्च सह संहारमूर्तिना ।

यस्य साधकस्य यस्मिन् भगवदवतारे विशेषेणाभिरुचिः, तेन स एव भगवान्

प्राधान्येन कर्णिकामध्ये तदूर्ध्वगगनस्थितार्णवशाय्याद्यन्यतममूर्तिना सह पूजनीयः, तस्य स्थाने तु पूर्वं कर्णिकामध्येऽर्चनीयत्वेन य उक्तः, स पूजनीय इत्याह—यस्येति (सार्ध?) द्वाभ्याम् । तत्स्थानप्रच्युतस्य कर्णिकामध्यादुत्थापितस्येत्यर्थः । संहारमूर्तिना एकार्णवशायिन्यग्रोधशायिपातालशाय्यन्यतमेनेत्यर्थः ॥ १२१-१२३ ॥

दोनों मूर्ति एक ही हैं, जिस-जिस साधक का जिस-जिस आकार में मन रमण करे वह भोग की प्राप्ति के लिये, अथवा मोक्ष के लिये उसे उस कर्णिका के मध्य में स्थित मूर्त्ति का, ऊर्ध्व गगन स्थित, अथवा तीनों अर्णवशायी किसी एक संहार मूर्त्ति के साथ पूजा करनी चाहिये ॥ १२१-१२३ ॥

एवमेवाङ्गमन्त्राणामर्चनादीप्सितं लभेत् ॥ १२३ ॥
तत्रायं हि विशेषः स्याद् विन्यासे तन्निबोध मे ।
भूलोकाखिलसिद्धीनामाप्तये तावदुच्यते ॥ १२४ ॥

अथ भूलोक एव पातालाद्यखिललोकभोगसिद्ध्यर्थं श्रियादिशक्तिकिरीटादिभूषणचक्रादिलाञ्छनसंज्ञाङ्गमन्त्रानेवार्चयेत्, तदानीं देवताविन्यासप्रकार उच्यत इ(त्युत-आ? त्या)ह—एवमिति सार्धेन ॥ १२३-१२४ ॥

इसी प्रकार अङ्गमन्त्रों की अर्चना से साधक अभीष्ट फल प्राप्त करता है । वहाँ विन्यास में जो विशेषता होती है, हे सङ्कर्षण ! आप सुनिए भूलोकादि अखिल सिद्धियों के लिये उपाय कहता हूँ ॥ १२३-१२४ ॥

प्राग्वद् द्वादशकादन्त्यादेकशृङ्गमथो यजेत् ।
श्र्याख्यं यदङ्गमन्त्रं तु कर्णिकायां न्यसेत् ततः ॥ १२५ ॥
अथ केसरकोटिस्थं स्मरेत् तत्पुरतोऽपरम् ।
पश्चात् क्रमाद् दलान्तस्थं दलाग्रस्थं द्विरष्टकम् ॥ १२६ ॥
पातालशायिनं मध्ये मन्त्रस्योपरि पूर्ववत् ।
ध्यायेन्निश्शेषपातालसिद्धीनामालयं परम् ॥ १२७ ॥
तच्छक्त्यनुगृहीतस्तु मन्त्रेशः कर्णिकागतः ।
समस्तसिद्धिदाने स्यादाश्रितस्याङ्गसंज्ञकः ॥ १२८ ॥

प्रथमं पाताललोकसिद्ध्यर्थं लक्ष्मीमन्त्रस्य प्राधान्येनार्चनक्रममाह—प्राग्वदिति चतुर्भिः । अन्त्याद् द्वादशकाद् एकशृङ्गादिद्वादशकादित्यर्थः । एकशृङ्गं मीनमित्यर्थः । श्रियाख्यं लक्ष्मीसंज्ञमित्यर्थः । अपरं पुष्टिमन्त्रमित्यर्थः । पश्चात् क्रमाद्दलान्तस्थं द्विरष्टकं निद्रादिदशकं कीरीटादिचतुष्टयं गरु(डश्च?डं चक्रं) चाहत्य द्विरष्टकं बोध्यम् । दलाग्रस्थं द्विरष्टकं तु शङ्खादिशक्त्यन्तं ज्ञेयम् ॥ १२५-१२८ ॥

प्रथम एकशृङ्गादि द्वादश से लेकर लक्ष्मीसंज्ञक जितने मन्त्र हैं उनसे कर्णिका में न्यास करे ॥ १२५ ॥

उसके पश्चात् केशर कोटि में उसके आगे दलान्तस्थ सोलह पुष्टि मन्त्रों से न्यास करे । फिर दलाग्रस्थ शङ्खादि शक्ति पर्यन्त का न्यास करे । फिर मन्त्र के ऊपर मध्य में पूर्ववत् पातालशायी का, फिर पाताल सिद्धियों के आलयभूत पद देवता का ध्यान करे । उसकी शक्ति से अनुग्रहीत कर्णिकागत अङ्गसंज्ञक मन्त्रेश समस्त सिद्धियों को देने में समर्थ हो जाता है ॥ १२६-१२८ ॥

एवमेव भुवर्लोकसिद्धीनां प्राप्तये सदा ।
स्मर्य ऊर्ध्वे सरश्शायी त्वनन्तः कमलादधः ॥ १२९ ॥

अथ भुवर्लोकसिद्ध्यर्थमर्चने विशेषमाह—एवमिति । सरश्शायी एकार्णवशय इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

अब भूलोक की सिद्धि के लिये विशेष अर्चन कहते हैं—इसी प्रकार भुव लोक की सिद्धि के लिये सदा ऊपर एकार्णवशायी अनन्त का तथा नीचे कमलादि का यजन करे ॥ १२९ ॥

यजेद् गगनसिद्धीनामशेषाणामथाप्तये ।
खस्थं न्यग्रोधशयनं कूर्मं कमलमूलगम् ॥ १३० ॥

सुवर्लोकादीनां सिद्ध्यर्थमर्चने विशेषमाह—यजेदिति । खस्थं कर्णिकामध्यगतलक्ष्मीयन्त्रस्योपरि स्थितमित्यर्थः ॥ १३० ॥

सुवर्लोक की सिद्ध के लिये विशेष पूजन—कर्णिका मध्यगत लक्ष्मी यन्त्र के ऊपर स्थित कमल मूल में स्थित कूर्म भगवान् का यजन करे ॥ १३० ॥

एतेषामपि सञ्चारं नानासिद्धिव्यपेक्षया ।
प्रधानमन्त्रवत् कुर्यात् प्राग्वत् सर्वत्र सर्वदा ॥ १३१ ॥

एवं लक्ष्मीमन्त्रवत् पुष्पाद्यङ्गमन्त्राणामपि तत्तत्फलप्राप्तीच्छया प्राधान्येनार्चनं कुर्यादित्याह—एतेषामिति ॥ १३१ ॥

लक्ष्मी मन्त्र के समान पुष्पादि अङ्गमन्त्रों की भी उन उन फलों के प्राप्ति की इच्छा से प्राधान्येन अर्चन करना चाहिये ॥ १३१ ॥

एवमाद्यैस्तु विधिवद् भोगैर्नानाविधोत्थितैः ।
यः स्थितस्त्रिविधे सर्गे विभवः पारमेश्वरः ॥ १३२ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—एवमिति ॥ १३२ ॥

इस प्रकार नानाविध भोगों तथा मोक्षों से युक्त होकर जो तीनों लोकों में विधिवत् स्थित है वही पारमेश्वर विभव है ॥ १३२ ॥

पौष्कराख्ये च वाराहे प्राजापत्ये महामते ।

सूक्ष्मत्वेन च निश्शेषं प्रत्येकस्मिन् हि वर्तते ॥ १ ३ ३ ॥
समाश्रित्य बृहत्त्वं च तृतीयांशेन तिष्ठति ।

सर्गत्रयविवरणं तत्र सूक्ष्मस्थूलभेदेनावस्थानं चाह—पौष्कराख्य इति सार्धेन । पौष्करे पाद्मकल्प इत्यर्थः । प्राजापत्ये ब्राह्मकल्प इत्यर्थः । यथा च श्रीभागवते—

पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।
कल्पो यत्राऽभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥
तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद् यं पाद्ममभिचक्षते ।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ॥
अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत ।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीत् सूकरो हरिः ॥ (३।११।३४-३६)

इति ॥ १३३-१३४ ॥

हे महामते! वह पद्मकल्प, ब्रह्मकल्प, तथा वाराहकल्प इन तीनों सर्गों में सूक्ष्म रूप से तथा स्थूल रूप से प्रत्येक में वर्त्तमान रहता है ॥ १३३ ॥

वह बृहत्त्व का आश्रय लेकर तृतीय अंश (=स्थूल रूप) से तीनों कल्पों में रहता है ॥ १३४ ॥

यथोक्तक्रमयोगेन युक्तः सर्गत्रये तु वै ॥ १३४ ॥
परिवारं समादाय भवोपकरणान्वितम् ।
दिक्पालकगणोपेतं समाक्रम्य तमेव हि ॥ १३५ ॥

पौष्करादिसर्गत्रयेऽपि पूर्वोक्तलक्ष्म्यादिपरिवारसंग्रहणमाह—
यथोक्तेति ॥ १३४-१३५ ॥

वह पारमेश्वर विभव तीनों पौष्करादि सर्गों में अपने श्री आदि परिवार के साथ काल आदि भवोपकरण (द्र. ९.९०-९५) एवं दिक्पालगण आदिकों को अपने वश में करके स्थित रहता है ॥ १३४-१३५ ॥

अभिधानाक्षरं पूर्वमरान्ताद्येन भूषितम् ।
योक्तव्यमभिधानेन पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ।
पूजार्थं चैव सर्वेषां क्रमेऽस्मिन् सम्प्रकाशितम् ॥ १३६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवतान्तर्यागो नाम
नवमः परिच्छेदः ॥ ९ ॥

परिवाराणां बीजपिण्डयोरनुक्तत्वात् तत्तन्नाम्नामाद्याक्षरमेवानुस्वारान्वितं कृत्वा तत्तत्संज्ञामन्त्रैर्योज्यमित्याह—अभिधानेति सार्धेन । अरान्ताद्येन पूर्वोक्तवर्णचक्रे, अरान्तो विसर्गः, तदाद्येन अनुस्वारेणेत्यर्थः ॥ १३६ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये नवमः परिच्छेदः ॥ ९ ॥

— ❀ —

यहाँ परिवारों का बीज पिण्ड नहीं कहा गया है । अतः उनके नाम के आदि अक्षर को ही अनुस्वार से युक्त कर पूर्वोद्दिष्ट मार्ग से संज्ञा मन्त्रों में जोड़ देना चाहिये ।

इस प्रकार विभवदेवतान्तर्याग के इस क्रम में सभी देवताओं की पूजा के लिये यह प्रकाशित किया गया है ॥ १३६ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के विभवदेवतान्तर्याग नामक नवम परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ ९ ॥

दशमः परिच्छेदः

विभवदेवताबहिर्यागविधिः

नारद उवाच

अथ लाङ्गलिना विप्राश्चोदितः परमेश्वरः ।
यत् तदाकर्ण्यतामद्य चेतसा संयतेन तु ॥ १ ॥

अथ दशमो व्याख्यास्यते । पुनः सङ्कर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्टस्तच्छृणुध्वमिति नारदो मुनीनाह—अथेति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे मुनीश्वरो! संकषर्ण द्वारा पूछे जाने पर परमेश्वर ने जो कहा था अब उसे सावधान होकर आप लोग सुनिए ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

मण्डलेऽग्नौ बहिर्नाथ जलमध्ये त्वयाऽर्चनम् ।
नोक्तं विभवदेवानां व्यक्तं कृत्वा तदादिश ॥ २ ॥

सङ्कर्षणो बाह्यागं पृच्छति—मण्डल इति ॥ २ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे नाथ! आपने मण्डल में अग्नि के बाहर जल के मध्य में विभव देवताओं का किस प्रकार अर्चन करना चाहिये इसे नहीं कहा, इसलिये उसे स्पष्ट रूप से कहिये ॥ २ ॥

भगवानुवाच

सुलक्षणे तु भूभागे समे पूर्वोक्तलक्षणे ।
तत्र मण्डलमालेख्यं सर्वेषामेकमर्चने ॥ ३ ॥
चतुरश्रं चतुर्द्वारं पीठाद्यवयवान्वितम् ।
षट्त्रिंशद्दलपद्मेन मध्यतश्चाप्यलङ्कृतम् ॥ ४ ॥
वितानध्वजसंवीतं किङ्किणीदर्पणान्वितम् ।
तोरणव्यजनच्छत्रचामरस्रग्विमण्डितम् ॥ ५ ॥
उक्तानुक्तमशेषं तु कृत्वा पूर्वोक्तलक्षणम् ।

वासुदेवस्तमुपदिशन् पूर्वं षट्त्रिशद्दलपद्मगर्भितवक्ष्यमाणपीठाद्यवयवान्वित-मण्डललेखनं यागमण्डलालङ्करणं च कार्यमित्याह—

सुलक्षण इति सार्धैस्त्रिभिः ॥ ३-६ ॥

भगवान् ने कहा—पूर्वोक्त लक्षण वाले सुलक्षण एवं समतल भू भाग में ऐसा मण्डल निर्माण करना चाहिये जहाँ सबकी एक साथ अर्चना की जावे । मण्डल चौकोर एवं चार द्वारों वाला तथा पीठादि अवयवों से संयुक्त हो । भीतरी भाग छत्तिस दल वाले कमलों से अलङ्कृत हो, चारों ओर तथा मध्य में सर्वत्र अलंकृत हो, चारों ओर ध्वजाओं से घिरा हो, चारों ओर किङ्किणी, दर्पण, तोरण, व्यजन, छत्र, चामर एवं माल्य से मण्डित हो । जो कहा गया हो और जो नहीं कहा गया है, उन सभी से मण्डप पूर्ण हो ऐसा पूर्वोक्त लक्षण लक्षित मण्डल निर्माण करे ॥ ३-६ ॥

ततस्तु करयोर्न्यस्य विग्रहे बीजमैश्वरम् ॥ ६ ॥
समालम्ब्य च तादात्म्यमभिमानं सुनिश्चलम् ।
बद्ध्वा च वैभवीं मुद्रां स्पृशेत् सर्वाङ्गकं तया ॥ ७ ॥
समुच्चार्य धिया सर्वं मन्त्रग्रामं क्रमस्थितम् ।
सर्वदेवमयं देहमेवं स्मृत्वा स्वकं पुरा ॥ ८ ॥

अथ करयोर्देहे च विशाखयूपबीजन्यासम्, विशाखयूपोऽहमिति तत्तादात्म्याव-लम्बनम्, वक्ष्यमाण (१०।४१-४४) वैभवमुद्रया सर्वाङ्गस्पर्शम्, पद्मनाभाद्यष्ट-त्रिंशन्मन्त्रोच्चारणपूर्वकं स्वदेहस्य सर्वमन्त्रमयत्वापादनं चाह—तत इति सार्धद्वाभ्याम् । ऐश्वरं बीजं विशाखयूपबीजमित्यर्थः । नमिति यावत् । विशाखयूपतादात्म्याश्रितस्य पुनः पद्मनाभादिसर्वदेवमयविग्रहत्वम्—

आमूर्धतोऽङ्घ्रिपर्यन्तं तदीयं गात्रमण्डलम् ॥
रत्नवद् वैभवीयैस्तु बीजैर्भाव्यमलङ्कृतम् । (९।५८-५९)

इति पूर्वोक्तप्रकारेण बोध्यम् ॥ ६-८ ॥

तदनन्तर साधक अपने दोनों हाथ में तथा शरीर में विशाखयूप बीज 'नम्' से न्यास करे । 'मैं विशाखयूप हूँ'—इस प्रकार तादात्म्याभिमान कर साधक स्थिर हो जावे, फिर वैभवी मुद्रा बना कर सर्वाङ्ग का स्पर्श करे । फिर बुद्धि से क्रमपूर्वक अड़तीस बीज मन्त्रों का उच्चारण कर अपने देह को सर्वमन्त्रमय (एक-देव मय) बनावे ॥ ६-८ ॥

अन्तश्चक्रनिविष्टं तु संस्मरेद् भद्रपीठवत् ।
मण्डलं देवताधारं चक्रमन्त्रेण तद् यजेत् ॥ ९ ॥

मण्डले भद्रपीठवदन्तर्लीनचक्रराजस्मरण तदर्चनं चाह—अन्तरिति ॥ ९ ॥

इस प्रकार अपना शरीर सर्वदेवमय बना लेने के बाद मण्डल में भद्रपीठ के समान अन्तर्लीन चक्रराज का स्मरण करे तथा देवताधार उस मण्डल का चक्रराज के मन्त्र से उनका अर्चन करे ॥ ९ ॥

ततस्तु सर्वमन्त्राणां विन्यासं तत्र चेतसा ।
समाचरेद् यथायोगं पुष्पदानपुरस्सरम् ॥ १० ॥

तस्मिन् मण्डले प्रत्येकं पुष्पदानपूर्वकं मन्त्राणां न्यासमाह—तत इति ॥ १० ॥

इसके बाद सभी मन्त्रों का चित्त से ध्यान कर उसी से पुष्पदान पुरःसर यथायोग न्यास करे ॥ १० ॥

ध्रुवात्मा भगवान् मध्ये कर्णिकायामतः क्रमात् ।
दिक्चक्रमभिवीक्षन्तं प्राग्दलादादितो न्यसेत् ॥ ११ ॥
पातालशायिपर्यन्तमनन्ताद्यं महामते ।
न्यसेत् कमलबाह्ये तु ईशाद् वह्निपदावधि ॥ १२ ॥
चतुष्टयं किरीटाद्यं मन्त्राणां पूर्वचोदितम् ।
उदग्दक्षिण आप्याद्ये पैठीये दिक्चतुष्टये ॥ १३ ॥
द्वन्द्वद्वयं तु लक्ष्म्याद्यं विनिवेश्यं यथाक्रमम् ।
तत्रैव चेशकोणात् तु यावद् वायुपदावधि ॥ १४ ॥
द्वयं द्वयं क्षमाद्यं च मत्यन्तं सन्निवेश्य च ।
बहिः पीठस्य निकटे चाग्रतो वै पतत्रिराट् ॥ १५ ॥
चक्रात् कमलपर्यन्तं चतुष्कं शाङ्करात् पदात् ।
वायुकोणावधेर्यावत् पीठबाह्ये तु योजयेत् ॥ १६ ॥
सौम्ययाम्याप्यपूर्वाशावस्थितं च द्वयं द्वयम् ।
लाङ्गलाद्यं परश्वन्तमष्टकं तद्वदेव हि ॥ १७ ॥
याम्यसौम्याप्यपूर्वाशागतं दद्याच्चतुष्टयम् ।
पाशाद्यं वज्रपर्यन्तं शक्तिकोणचतुष्टये ॥ १८ ॥
आ ईशकोणनिकटात् पदात् तन्निकटे स्थितम् ।
प्रदक्षिणक्रमेणैव पदं यावद् द्वितीयकम् ॥ १९ ॥
कालादीनां च विन्यासः कार्यश्चानुक्रमेण तु ।
यज्ञान्तानां महाबुद्धे षोडशानां यथास्थितम् ॥ २० ॥
क्रमात् पूर्वोत्तरे कोणे न्यसेद् दक्षिणपश्चिमे ।
विद्याऽविद्याद्वयं यद् वै स्वपदस्थेऽग्निमारुते ॥ २१ ॥

चन्द्रादित्यावुदग्याम्ये द्वारयोर्विनिवेश्य च ।
प्रत्यग्द्वारगतं तोयं प्राग्द्वारे विन्यसेद् धराम् ॥ २२ ॥
चतुर्णामथ कोणानामव्यक्तं मण्डलाद् बहिः ।
संयजेद् भवनाम्ना वै यस्मान्नान्यो भवः स्मृतः॥ २३ ॥
ततः कामात्मतत्त्वानां दशकं सिद्धतां गतम् ।
भगवत्तुल्यसामर्थ्यं सर्वज्ञादिगुणैर्युतम् ॥ २४ ॥
वियुक्तं प्राकृताद् दुःखान्नियुक्तं चेश्वरेणतु ।
भवसन्तारकत्वेन मण्डलस्य बहिर्न्यसेत् ॥ २५ ॥
उपेन्द्रः पूर्वदिग्भागे दक्षिणे दुरतिक्रमः ।
महाह्रदः पश्चिमे तु वसुरेतास्तथोत्तरे ॥ २६ ॥
न्यस्यस्तेजो धराख्यस्तु पूर्वदक्षिणमध्यगः ।
नैर्ऋते तु महाकर्मा त्वग्राह्यः पश्चिमोत्तरे ॥ २७ ॥
पूर्वोत्तरे वर्धमानः साक्षी गगनगोचरे ।
आधारनिलयं नाम्ना सर्वस्याधोगतं स्मरेत् ॥ २८ ॥
तेषां बहिः स्वमन्त्रेण दिक्क्रमेण तु हेतिराट् ।
स्वमरीचिगणेनैव भासयन्तं निवेश्य च ॥ २९ ॥

मण्डले ध्रुवादीनां स्थानान्याह—ध्रुवात्मेति प्रक्रम्य भासयन्तं निवेश्य चेत्यन्तम् ।

तथा च प्रयोगः—कर्णिकामध्ये ध्रुवं प्रागादिषट्त्रिंशद्दलेषु दिङ्मण्डलमभिवीक्षतोऽनन्तादीन् पातालशयनान्तान् षट्त्रिंशद् देवान् तद्बहिरैशान्यादिवायव्यन्तकोणचतुष्टये किरीटश्रीवत्सकौस्तुभवनमालाः, ततः पीठे उत्तरदिशि लक्ष्मीम्, दक्षिणदिशि पुष्टिम्, पश्चिमदिशि दयाम्, पूर्वदिशि निद्राम्, ईशानकोणे क्षमां क्षान्तिं च, आग्नेयकोणे सरस्वतीं धृतिं च, नैर्ऋतकोणे मैत्रीं रतिं च, वायव्यकोणे तुष्टिं मतिं च, तद्बहिः पीठसमीपे पुरतो गारुडम्, पीठाद्, बहिरैशान्यादिवायव्यान्तकोणचतुष्टये क्रमेण चक्रशङ्खगदापद्मानि, सौम्यदिशि पाशम्, याम्यदिश्यङ्कुशम्, वारुणदिशि मुद्गरम्, पूर्वदिशि वज्रम, कोणचतुष्टये शक्तिम्, ईशानकोणसमीपस्थपदादारभ्य तत्समीपस्थद्वितीयपदपर्यन्तमर्धशोभापूर्णशोभास्थितनीलोत्पलरक्तोत्पलाख्यषोडशपदेषु प्रादक्षिण्येन कालादियज्ञान्तं भवोपकरणदेवताषोडशकम्, ईशानकोणे विद्याम्, नैर्ऋतकोणेऽविद्याम्, अग्निकोणेऽग्निम्, वायुकोणे वायुम्, उत्तरद्वारे चन्द्रम्, दक्षिणद्वारे सूर्यम्, पश्चिमद्वारे तोयम्, पूर्वद्वारे वसुधां च, मण्डलाद् बहिःकोणेषु प्रकृतिम्, तद्बहिः पूर्वादिदिक्षु विदिक्षु ऊर्ध्वमधश्च उपेन्द्रादिसिद्धदशकं च, तद्बहिः सर्वदिक्षु चक्रराजं च न्यसेत् ॥ ११-२९ ॥

मण्डल में ध्रुवादि का स्थान कहते हैं—कर्णिका मध्य में ध्रुव का, पूर्वादि छत्तिस कमल दलों में दिङ् मण्डल की ओर देखते हुए अनन्त से लेकर

पातालशयनान्त छत्तिस देवताओं का, उसके बाहर ईशान से लेकर वायव्यन्त चारों कोनो में किरीट, श्रीवत्स, कौस्तुभ एवं वनमाला का, पीठ के उत्तर दिशा में लक्ष्मी का, दक्षिण दिशा में पुष्टि का, पश्चिम दिशा में दया का, पूर्व दिशा में निद्रा का, ईशानकोण में क्षमा एवं शान्ति का, आग्नेयकोण में सरस्वती एवं धृति का, नैर्ऋत्यकोण में मैत्री एवं रति का, वायव्यकोण में तुष्टि तथा मति का, उसके बाहर पीठ के समीप आगे गरुड़ का तथा पीठ के बाहर ईशान से लेकर वायव्य कोणान्त चारों कोनो में क्रमशः चक्र, शङ्ख, गदा एवं पद्म का, उत्तर दिशा में पाश का, दक्षिण दिशा में अङ्कुश का, पश्चिम दिशा में मुद्‌गर का, पूर्व दिशा में वज्र का, कोण चतुष्टय में शक्ति का, ईशान कोण समीपस्थ पद से लेकर उसके समीपस्थ द्वितीय पद पर्यन्त अर्ध शोभा एवं पूर्ण शोभा स्थित नीलोत्पल का, रक्तोत्पल नामक षोडश पदों में, फिर प्रदक्षिणा क्रम से कालादि यज्ञान्त भवोपकरण षोडश देवता का, ईशानकोण में विद्या का, नैर्ऋत्यकोण में अविद्या का, अग्निकोण में अग्नि का, वायुकोण में जल का, पूर्व द्वार में वसुधा का, मण्डल से बाहर कोणों में प्रकृति का, उसके बाहर पूर्वादि दिशाओं का विदिशाओं (कोणों) में ऊपर नीचे उपेन्द्रादि दश सिद्धों का और उसके बाहर सभी दिशाओं में उन चक्रराज का न्यास करे जो अपने तेज समूहों से समस्त जगत् को भासित करते हैं ॥ ११-२९ ॥

न्यस्यैवमर्चनं कुर्यान्मन्त्रमुद्रान्वितेन च ।
निरीक्षणादिशुद्धेन अर्घ्यस्त्रक्चन्दनादिना ॥ ३० ॥
यथाक्रमेणोदितानामादिदेवं यजेत् ततः ।
उपरिष्टात् तु सर्वेषां स्वपदस्थं तु पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

एवं मण्डलदेवतान्यासानन्तरं तेषां यथाक्रममर्चनम्, मध्ये उपरिष्टात् पद्मनाभार्चनं च कार्यमित्याह—न्यस्येति द्वाभ्याम् । निरीक्षणादिशुद्धेनेत्यत्रादिशब्देन दहनाप्यायनादिकं संगृह्यते ॥ ३०-३१ ॥

इस प्रकार मण्डल देवताओं का न्यास करने के बाद यथाक्रम मन्त्र एवं मुद्रादि द्वारा निरीक्षण, दहन और आप्यायन से शुद्ध कर अर्घ्य, माला एवं चन्दनादि द्वारा उनका अर्चन करे । मध्य में ऊपर पद्मनाभ का पूर्व के समान अर्चन करे ॥ ३०-३१ ॥

प्राग्वत् सुसंस्कृते कुण्डे ततः संस्कृत्य पावकम् ।
तन्मध्ये सर्वमन्त्राणां न्यासं कुर्याच्च यागवत् ॥ ३२ ॥
प्राक् समित्सप्तकेनैवं तर्पयेद् वै यथाक्रमम् ।
मन्त्रपूतं हि निश्शेषं हवनान्तं सकृत् सकृत् ॥ ३३ ॥
भवन्ति सम्मुखा मन्त्राः साधकस्याग्निमध्यगाः ।

सन्तर्प्याथ तथा कुर्यात् सहस्रशतसंख्यया ॥ ३४ ॥
एकैकस्य तु वै होमं तिलैराज्यसमन्वितैः ।
दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चात् सर्वेषां तर्पणे कृते ॥ ३५ ॥
पुनरप्यर्चनं कुर्यादित्य वै मण्डलान्तरे ।
यथाक्रमेण सर्वेषां पुष्पधूपैस्तु केवलैः ॥ ३६ ॥
सकृद् ध्यानसमेतं तु चतुर्धाप्यथवाष्टधा ।
क्रमात् समस्तमन्त्राणां परावर्तनमाचरेत् ॥ ३७ ॥
सुशुभेनाक्षसूत्रेण स्वकैर्वा करपर्वभिः ।
ततोऽर्घ्यकुसुमैर्गन्धैः पूरयित्वा कराञ्जलिम् ॥ ३८ ॥
सर्वदेवमयं मन्त्रं स्मृत्वोच्चार्य च तं क्षिपेत् ।
सर्वत्र सर्वदानेन क्रमेणेष्ट्वा च भक्तितः ॥ ३९ ॥
प्रदर्श्य सर्वमन्त्राणामेकां मुद्रां च वैभवीम् ।
प्रणवेन सहस्रांशुसन्निभां सर्वसिद्धिदाम् ॥ ४० ॥

अथैतेषां वह्निमध्ये सन्तर्पणप्रकारं पुनर्मण्डलार्चनपूर्वकजपयज्ञविधिं पुष्पाञ्जलिसमर्पणपूर्वकमुद्रादर्शनं चाह—प्राग्वत् सुसंस्कृते कुण्ड इत्यादिभिः ॥ ३२-४०॥

इसके बाद सुसंस्कृत कुण्ड में अग्नि का संस्कार कर उस अग्नि के मध्य में समस्त मन्त्रों का यज्ञ की तरह न्यास करे ॥ ३२ ॥

प्रथम सात समिधाओं से यथाक्रम अग्निदेव का तर्पण करे । फिर मन्त्र से पवित्र समस्त हवनान्त कर्म अलग कर करे ॥ ३३ ॥

अग्नि के मध्य में रहने वाले मन्त्र साधक के सम्मुख हो जाते हैं । अग्नि के सन्तर्पण के पश्चात् एक लाख की संख्या में हवन करे और घी मिश्रित तिलों से एक-एक मन्त्र द्वारा एक-एक आहुति देवे । इस प्रकार सभी देवताओं के तर्पण के अनन्तर पश्चात् पूर्णाहुति देवे फिर अन्य मण्डल में आकर केवल पुष्प धूप से यथाक्रम अर्चन करे ॥ ३४-३६ ॥

फिर उन मन्त्रों का एक बार, चार बार, अथवा आठ बार ध्यान कर उनका परावर्त्तन करे । यह आवरण आवर्त्तन मनोहर कवलगट्टा से अथवा हाथ के पर्वों से करे । फिर अर्घ्यपुष्प तथा गन्ध से कराञ्जलि पूर्ण कर, सर्वदेवमय मन्त्र का स्मरण कर, उच्चारण करते हुए उसे ऊपर की ओर फेंक देवे । इस प्रकार पुष्पाञ्जलि समर्पण कर सभी मन्त्रों की एक ही वैभवी मुद्रा प्रदर्शित करे । यह मुद्रा सूर्य के समान तेजस्विनी है और सर्वसिद्धिप्रदा है । इसका प्रयोग प्रणव के साथ करना चाहिये ॥ ३७-४० ॥

वैभवमुद्रालक्षणकथनम्

श्लेष्य पाणितले द्वे प्राङ्नम्रं कुर्याल्लतागणम् ।
विविक्तमन्तरीकृत्य सहाङ्गुष्ठद्वयेन तु ॥ ४१ ॥
मणिबन्धद्वयं कुर्यात् सुलग्नमतिनिश्चलम् ।
करयुग्मं सगर्भं तु सन्धार्य स्वधिया चलम् ॥ ४२ ॥
ऊरुमध्यनिषण्णे तु कुर्याद् वै बाहुकूर्परे ।
गुप्तं कृत्वा प्रयत्नेन बन्धमस्याः समाचरेत् ॥ ४३ ॥
सर्वदा सर्वसिद्धीनामाप्तये त्वमलेक्षण ।

वैभवमुद्रालक्षणमाह—श्लेष्येति सार्धैस्त्रिभिः । द्वे पाणितले संश्लिष्य अङ्गुलिगणं नम्रं कृत्वा अङ्गुष्ठद्वयेन सह विविक्तमन्तरीकृत्य मणिबन्धद्वयं सुसंलग्न (मि?म)तिनिश्चलं कृत्वा सगर्भं करयुग्मं तु स्वधिया चलं संधार्य बाहुकूर्परे ऊरुमध्यनिषण्णे = ऊरुमध्ये निषण्णे स(ति?ती) कुर्यात् । सर्वेषां विभवदेवानां साधारणीयं मुद्रा ॥ ४१-४४ ॥

अब वैभवमुद्रा का लक्षण कहते हैं—दोनो हाथों के तल भाग को एक में सटा देवे । समस्त अङ्गुलियों को मोड़ देवे, दोनो अङ्गुष्ठों से विविक्त स्थान को बन्द कर देवे । दोनो मणिबन्धों को स्थित कर देवे, इस प्रकार सगर्भ दोनों हाथों को अपनी बुद्धि से सचल कर दोनो बाहुकूर्पर को ऊरु के मध्य में स्थापित कर देवे । यह मुद्रा बन्ध सबसे छिपाकर प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये । यह सभी विभव देवताओं की साधारणी मुद्रा है । हे अमलेक्षण सङ्कर्षण ! सभी सिद्धियों की प्राप्ति के लिये साधक प्रतिदिन यह मुद्रा प्रदर्शित करे ॥ ४१-४४ ॥

तीर्थमध्ये स्वहृत्पद्मे बिम्बे वेद्यां स्थले तु वा ॥ ४४ ॥
वह्निगर्भे तु निर्धूमे नित्यमस्मिंश्चतुष्टये ।
मन्त्राणामर्चनं कुर्यात् सिद्ध्यर्थमपि मुक्तये ॥ ४५ ॥

प्रत्यहं तीर्थादिस्थानचतुष्टये भगवदर्चनं कार्यमित्याह—तीर्थेति सार्धेन । वेद्यां बिम्बं विना केवलभद्रपीठ इत्यर्थः । स्थले मण्डल इत्यर्थः ॥ ४४-४५ ॥

तीर्थ के मध्य में, अपने हृत्पद में, बिम्ब में, बिम्ब रहित वेदी में (केवल भद्रपीठ में) इन चारों के मण्डल में तथा निर्धूम वह्नि गर्भ में सिद्धि के लिये तथा मुक्ति के लिये नित्य मन्त्र भगवान् का अर्चन करे ॥ ४४-४५ ॥

सजलाञ्जलिपूरैस्तु तीर्थेऽथ हृदयाम्बुजे ।
भावनामृतजैर्भोगैर्मूर्तैरर्घ्यादिकैर्बहिः ॥ ४६ ॥
समित्सप्तकपूर्वैस्तु साज्यैर्वह्निगतं तिलैः ।

तत्तत्स्थानोचितार्चनद्रव्यभेदानाह—सजलेति सार्धेन । एवं सजलाञ्जलिभिस्तीर्थमध्ये भगवदर्चनं जयाख्येऽपि विशदमुपपादितम्—

आधारमासनं ध्यात्वा जलमध्येऽच्युतस्य च ।
मन्त्रग्रामसमोपेतमाहूय विनिवेश्य तम् ॥
तर्पयेदुदकेनैवं विष्वक्सेनावसानकम् ।
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण पाणिभ्यामग्रतः क्रमात् ॥ (९।५५-५६)

इत्यादिभिः । एवं पारमेश्वरेऽपि करशुद्धिसमोपेतमित्यादिभिरष्टभिः श्लोकैर्जलमध्यार्चनक्रमो विस्तरेणोक्तः । वस्तुतस्तु पारमेश्वरोक्तरीत्या जलमध्येऽर्चनात् पूर्वमेव करशुद्धिप्राणायामभूतशुद्धिमन्त्रन्यासभगवत्तादाम्यावलम्बनानुष्ठानमुचितम् । बिम्बार्चनप्रकरणे मानसार्चनात् पूर्वं तदनुष्ठानोक्तिस्त्वौदकस्नानाद्यशक्त्या तीर्थमध्ये भगवदर्चनमकृतवद्विषयेति बोध्यम् ।

ननु "नित्यमस्मिंश्चतुष्टये । मन्त्राणामर्चनं कुर्यात्" (१०।४५) इत्युक्त्या जलमध्येऽर्चनं कृतवतैव मानसार्चनादिकं कार्यमिति चेन्न,

यावज्जीवं यथाशक्ति संस्थितो यत्र कुत्रचित् ।
स्थानेषु हृदयाद्येषु कुर्यान्मन्त्रगणार्चनम् ॥
द्रव्यैः पुष्पाम्बुपूर्वैस्तु तदभावात् तु वै हृदि ।
मानसीं पूर्ववत् पूजां निर्वपेन्न्यासपूर्विकाम् ॥ (१७।१२६-१२७)

इत्यशक्तानां हृदयादिस्थानेष्वन्यतममात्रार्चनस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् । किञ्च, पारमेश्वरे तीर्थमध्यार्चनं मानसार्चनं च होमान्तमुक्तम् । सात्वतनिष्ठैस्तु जपयज्ञान्तमेव कार्यम् । यतोऽत्र सप्तदशे परिच्छेदे—

ध्यात्वाऽथ भावनाजातैर्भोगैः परमपावनैः ॥
पूजयित्वा जपान्तं चाप्यवतार्य बहिर्यजेत् । (१७।४२-४३)

इति जपान्तमेव वक्ष्यति ॥ ४६-४७ ॥

तीर्थ और हृत्कमल में पूर्ण जलाञ्जलि द्वारा अर्चन करे और भावनामृत से उत्पन्न भोगों से अथवा मूर्त्ति एवं अर्घ्यादिकों से बाहर अर्चना करे ॥ ४६-४७ ॥

पूजयित्वा यथान्यायं प्रत्येकस्मिन् पदे क्रमात् ॥ ४७ ॥
संन्यासं सञ्चयं वापि कृत्वा सम्यक् कृतस्य वै ।
मन्त्ररूपानुकारिण्या मुद्रणीयं च मुद्रया ॥ ४८ ॥

एवं तीर्थमध्यादिपदेषु क्रमेण भगवन्तमभ्यर्च्य तत्तदर्चनानन्तरं निष्कामश्चेत् कृतस्य कर्मणः परित्यागं कुर्यात्, सकामश्चेत् तदार्चनं कुर्यात् । उभयत्रापि पूर्वोक्तमुद्राबन्धं कुर्यादित्याह—पूजयित्वेति सार्धेन ।

ननु फलान्तरसम्पादककर्मणां निष्कामत्याज्यत्वमुचितम्, प्राधान्येन मोक्षसम्पादकभगवदाराधनकर्मणोऽपि त्याज्यत्वं कथमुक्तमिति चेन्न, सिद्धोपायनिष्ठैर्भगवदाराधनकर्मणोऽपि स्वयं प्रयोजनतयाऽनुष्ठेयत्वात् ॥ ४७-४८ ॥

इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक पद में समिधाओं से घृत युक्त तिलों से होम करे और यथोक्त पूजन करे । फिर अपने किये हुए कर्म का त्याग करे अथवा उसका सञ्चय करे । फिर मन्त्र रूप का अनुकरणवाली मुद्रा से उसे मुद्रित कर देवे ॥ ४७-४८ ॥

फलार्थं प्रसवं येन नैति संन्यासकारिणाम् ।
फलपर्यवसानं च कालमागमचोदितम् ॥ ४९ ॥
हर्तुं नो युज्यते येन सिद्धाद्यैस्तु फलार्थिनाम् ।

ननु संचितकर्मणामुपरि मुद्राबन्धः समुचितः । संन्यस्तकर्मणामुपरि मुद्राबन्धेन किं प्रयोजनमित्याशङ्कायामुभयत्रापि सार्थक्यमाह—फलार्थमिति सार्धेन । येन मुद्राबन्धेन हेतुना संन्यासकारिणां कर्मत्यागिनां फलार्थं प्रसवं पुष्पमेव नैति = नोत्पद्यत इत्यर्थः । फलार्थिनां कर्मसंचितवतां तु शास्त्रोक्तफलानुभवकालपर्यन्तं येन मुद्राबन्धेन हेतुना सिद्धाद्यैरन्यैर्हर्तुं नो युज्यते । यथा जतुमुद्रितधनग्रन्थेर्धनमनपहार्यं भवति, तथा कर्माप्यन्यैरनपहार्यं भवतीति भावः ॥ ४९-५०॥

तीर्थ के मध्य आदि स्थानों में भगवान् की अर्चना के पश्चात् यदि साधक निष्काम हो तो कर्म का भगवान् को समर्पण कर देवे और यदि सकाम हो तब उसका अर्जन करे । इन दोनों विधियों में पूर्वोक्त मुद्राबन्ध अवश्य करे । क्योंकि सन्यास लेने वाले साधक को कर्म में मुद्राबन्ध कर देने से उसमें फल देने के लिये पुष्प ही नही आता । किन्तु जो कर्म का फल चाहते हैं या उसका अर्जन करना चाहते हैं उन्हें शास्त्रोक्त फलानुभव काल पर्यन्त मुद्रा बन्ध से कोई सिद्ध आदि जन भी उसकी चोरी नहीं कर सकता ॥ ४९-५० ॥

कालानुकालमुद्राणां यो बन्धः परिचोदितः ॥ ५० ॥
उक्तप्रयोजनादन्यः स विघ्नविनिवृत्तये ।

एवं पूजानन्तरकालीनमुद्राया उक्तं प्रयोजनं संभवति, पूजामध्यकालेषूक्तानां कर्मणां किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां विघ्ननिवृत्तिरूपं फलमाह—कालेति ॥ ५१ ॥

उक्त प्रयोजन से अतिरिक्त समय-समय पर मुद्रा बन्ध का फल यह होता है कि वह विघ्न की विनिवृत्ति करता है ॥ ५०-५१ ॥

मुदं कर्मात्मतत्त्वानां ददात्यमलयाजिनाम् ॥ ५१ ॥
द्रावयित्री च दोषाणां बाह्याभ्यन्तरचारिणाम् ।
तेन मुद्रा समाख्याता कृतस्यापि च मुद्रणात् ॥ ५२ ॥

एतदुभयप्रयोजनानुसारेण मुद्राशब्दनिर्वचनमाह—मुदमिति सार्धेन । अमलयाजिनां शुद्धयाजिनामित्यर्थः । कर्मात्मतत्त्वानां यजनादिकर्मनिष्ठचेतनानामित्यर्थः । दोषाणामिति कर्मणि षष्ठी । एवं च मुद्राशब्दे मुदित्यत्र ददातीति शेषः । द्रेत्यत्र दोषा-

निति शेषः । पूजामध्यकालीनमुद्राणां प्रयोजनानुसारीदं निर्वचनम् । मु(द्राणां?द्रणाद्) मुद्रेति निर्वचनं तु पूजानन्तरकालीनमुद्राया इति ज्ञेयम् ॥ ५१-५२ ॥

निष्कपट रूप से याग करने वाले उस महात्मा साधक को मुद्रा बन्ध प्रसन्नता प्रदान करता है तथा साधक के बाह्य एवं आभ्यन्तर रहने वाले समस्त दोषों को दूर करता है । (मोदयतीति मुद् तद्दरदाति मुद्रा यद्वा दोषान् द्रावयतीति मुद्रा) इतना ही नहीं 'कृतं मुद्रयतीति मुद्रा' इसलिये उसे मुद्रा कहते हैं । इस प्रकार वह प्रसन्नता प्रदान करता है, दोषों को दूर करता है, विघ्न नहीं होने देता, कर्म पर मुहर लगा देता है, जिससे कोई उसे चुरा न सके ॥ ५१-५२ ॥

तस्मात् स्वाभाविकं कृत्वा बद्धं वा मानसं पुरा ।
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण स्मरेद् व्याप्तिं सदैव हि ॥ ५३ ॥

कायिकं मानसिकं वा मुद्राबन्धं कृत्वा तत्र तत्तन्मन्त्रव्याप्तिं स्मरेदित्याह—तस्मादिति । मानसार्चने मानसिको मुद्राबन्धः, बाह्यार्चने कायिक इति विवेकः ॥ ५३ ॥

इस कारण बाह्य अर्चन में शरीरिक मुद्रा बन्धन करे, अथवा मानसिक अर्चन में मानसिक रूप से मुद्रा बन्धन करे ॥ ५३ ॥

चैतन्येनानुविद्धो यः शाखासंघश्च यद्यपि ।
तत्रापि मन्त्रोऽत्राध्यक्षस्तत्कार्यं सम्प्रयच्छति ॥ ५४ ॥

केवलचैतन्यानुविद्धाङ्गुलिगणस्यैवं विघ्ननिवृत्त्यादिफलप्रदानसामर्थ्यं मन्त्राधिष्ठितत्वात् संभवतीत्याह—चैतन्येनेति ॥ ५४ ॥

चैतन्याधिष्ठित अङ्गुलियों से ही मुद्रा बन्धन करने से मन्त्राधिष्ठित देवता विघ्न निवृत्यादि फल प्रदान करते हैं ॥- ५४ ॥

मण्डलस्थदेवानामुपसंहारक्रमकथनम्

एवं कृते ततः कुर्यान्मन्त्राणां मण्डलान्तरात् ।
पूर्ववच्चोपसंहारमेकस्मिन् गगनस्थिते ॥ ५५ ॥
स्मृत्वा परात्मना तं च स्वसंविद्गगने हृदि ।
विश्रान्तं भावयेद् देवं स्वभावेन समन्वितम् ॥ ५६ ॥

मण्डलस्थदेवानामुपसंहारक्रममाह—एवमिति द्वाभ्याम् । एकस्मिन् गगनस्थिते पद्मनाभ इत्यर्थः । परात्मना = निष्कलरूपेणेत्यर्थः । स्वसंविद्गगने = नादान्तर्गगन इत्यर्थः ॥ ५५-५६ ॥

अब मण्डल स्थित देवताओं का उपसंहार क्रम कहते हैं—ऐसा कर देने के पश्चात् उस मण्डल से सभी मन्त्र देवताओं का गगन स्थित एक पद्मनाभ में, निष्कल परमात्मा में, अथवा नादान्तर्गत हृदरूप गगन में पूर्ववत् किसी एक में उपसंहार कर देवे ॥ ५५-५६ ॥

द्विजातेर्दत्तशिष्टस्य पुष्पपत्रादिकस्य च ।
विहितश्चाम्भसि त्यागो विष्वक्सेनार्चने कृते ॥ ५७ ॥

कारिप्रदानाद्यवशिष्ठनैवेद्यपत्रपुष्पफलादीनां विष्वक्सेनार्चनानन्तरं जलमध्ये प्रक्षेपमाह—द्विजातेरिति ॥ ५७ ॥

काम करने वाले तथा द्विजातियों को देने से बचे हुए अन्न को विष्वक्सेन की पूजा के अनन्तर जल में फेंक देवे ॥ ५७ ॥

धर्तव्यं न चिरं चाग्रे यत्पुरा विनिवेदितम् ।
नैवेद्यं मन्त्रमूर्तीनां किञ्चित् पुष्पफलादृते ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवतार्चन नाम
दशमः परिच्छेदः ॥ १० ॥

— ❧ ❊ ❧ —
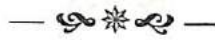
तत्र हेतुमाह—धर्तव्यमिति । यद्यस्मात् कारणात् पुरा निवेदितं मन्त्रमूर्तीनां नैवेद्यं भगवन्निवेदितहविरादिकं किञ्चित् पुष्पफलादृते स्वप्राशनोपयुक्तं किञ्चिद् भागं विनाऽन्यत् सर्वं चिरं बहुकालं न धार्यम् । शीघ्रं जलमध्ये प्रक्षेप्तव्यमित्यर्थः । इममेवार्थं सुस्पष्टं वक्ष्यति सप्तदशे परिच्छेदे च—

ततो विसर्जनं कुर्यादुपसंहृत्य चाखिलम् ।
विनिक्षिप्याम्भसो मध्ये पत्रपुष्पफलादि यत् ॥
निष्कामः पावनार्थं तु स्तोकमुद्धृत्य वै पुरा ।
संधार्य मन्त्रपूतं प्राक् तमश्नीयाच्च मौनवान् ॥

—(१७।१४५-१४६) इति ।

ननु स्तोकमुद्धृत्य वै पुरेत्यत्र किं विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव स्तोकोद्धरणम्, अथवा तदर्चनान्तरं जलप्रक्षेपात् पू(र्वं वेत्या?र्वमित्या)काङ्क्षायां तत्पक्षद्वयमप्युपपन्नमिति ज्ञेयम् । यतः पारमेश्वरे—

स्वप्राशनार्थमेकांशं स्थापयित्वा निरीक्षितम् ।
शेषाशनाभिधानस्य गणेशस्यार्चनाय वै ।
भागमेकं तु संस्थाप्य भागेनान्येन तोषयेत् ।
ब्राह्मणादीन् शुभाचारान् भक्तान् ग्रामाधिवासिनः ॥

इति विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव स्वप्राशनार्थभागोद्धरणमुक्तम् । तत्रैव महाहविः प्रकरणे तु—

प्रक्षिपेज्जलमध्ये तु विष्वक्सेननिवेदितम् ॥
जलजानां नीरगाणां जन्तुनां तृप्तयेऽथवा ।
जले किञ्चिद् विनिक्षिप्य शेषमन्नं तदग्रतः ॥
तद्भक्तानां द्विजातीनां निरतानां स्वकर्मसु ।

—(पा०सं०१८।४०५-४०७)

इति तन्निवेदितस्वीकारोऽप्युक्तः । अतएवं सच्चरित्ररक्षायाम्—"विष्वक्सेन-निवेदिते च विकल्पभेदास्तत्तत्संहितानुसारेण प्रयोगपद्धतिरत्नावल्यादिषु भोजराजादिभिः स्थापिता द्रष्टव्याः" (पृ० ११७) इत्युक्तम् ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥ १० ॥

— ❀ —

जो अन्नादि मन्त्र मुर्त्तियों को निवेदन कर दिया गया है उसमें पुष्प फलादि किञ्चिन्मात्रा में शेष रख कर जल में प्रवाहित कर देवे । बहुत काल तक अपने पास में न रखे ।

विमर्श—सत्रहवें परिच्छेद में १४५-१४६ श्लोक में विसर्जन का विधान किया गया है; जो शीघ्रातिशीघ्र करना चाहिए ॥ ५८ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के विभवदेवतार्चन नामक दशम परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १० ॥

— ❀ —

एकादशः परिच्छेदः

मण्डलकुण्डलक्षणम्

नारद उवाच

श्रुत्वैवमच्युतमुखाद् वनमाली मुनीश्वराः ।
पुनः सञ्चोदयामास यदाकर्णयताद्य तत् ॥ १ ॥

अथैकादशपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र सङ्कर्षणेन भगवान् यत्सम्पृष्टस्तदाकर्णयतेत्याह—श्रुत्वेति ॥ १ ॥

श्री नारद जी ने कहा—वनमाली सङ्कर्षण ने इस प्रकार अच्युत श्रीकृष्ण के मुख से सुन कर पुनः जो पूछा, हे मुनीश्वरों ! उसे सुनिये ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

यथावज्ज्ञातुमिच्छामि मण्डलध्यानलक्षणम् ।
भगवन् भवभीतानामुपकाराय तद्वद ॥ २ ॥

सङ्कर्षणः पृच्छति—यथावदिति ॥ २ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे भगवन् ! अब मैं मण्डल एवं ध्यान का लक्षण जानना चाहता हूँ । अतः संसार से भयभीत भक्तों के उपकार के लिये उसे कहिये ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

संसाध्य यष्टियोगेन सूत्रात् पूर्वापरे पुरा ।
तद्दिग्द्वयान्तरे दद्यात् प्राग् वै सूत्रचतुष्टयम् ॥ ३ ॥
समांशेन द्विधा कृत्वा स्फुटं मध्यात् तदङ्क्य च ।
साधितेनार्धमानेन प्राक्प्रत्यक्स्थेन तन्तुना ॥ ४ ॥
दक्षिणोत्तरभागाभ्यां समुत्पाद्य चतुष्पथौ ।
सूत्रं पूर्वापरसमं कृत्वा तदुपरि क्षिपेत् ॥ ५ ॥
पुनरर्धसमं दिक्षु दत्वा कोणचतुष्टयम् ।
चतुष्पथचतुष्केण नयेद् भक्तिं प्रसार्य वै ॥ ६ ॥

समं सूत्रचतुष्कं च चतुरश्राश्रसिद्धये ।
तद्विभज्याष्टदशभिश्चतुर्दिक्षु पदैः समैः ॥ ७ ॥
क्षिपेत् सूत्रगणं तत्र घटिकारेणुरञ्जितम् ।
मध्ये पद्मावनिं कुर्याद् भागपङ्क्तित्रये क्रमात् ॥ ८ ॥
तद्बहिः पदपङ्क्त्या तु पीठमष्टदिगन्वितम् ।
तस्य भागचतुष्कोत्थं दिक्चतुष्कं प्रकल्प्य च ॥ ९ ॥
विदिक्चतुष्कं त्रिपदं पङ्क्त्या पीठप्रदक्षिणम् ।
प्रदक्षिणं क्षितेर्बाह्याच्चतुष्कं दिक्चतुष्टयात् ॥ १० ॥
चतुर्णां तु चतुर्णां तु बाह्याद् बाह्यं द्वयं द्वयम् ।
शोधयित्वा तु तद्बाह्याच्चतुष्कं द्वारसिद्धये ॥ ११ ॥
चतुष्टयं क्रमेणैव भूयो दिक्षु पदं पदम् ।
सबाह्याभ्यन्तरगतं शोधनीयं प्रयत्नतः ॥ १२ ॥
पुनः सर्वपदाभ्यां तु षट्कं षट्कं तु चान्तरात् ।
संमार्ज्य पूर्णशोभार्थं तत्र रक्तोत्पलाष्टकम् ॥ १३ ॥
यथा दिक्षु स्थितं कुर्यात् पूजनाय दिवौकसाम् ।
बाह्यस्थपदपार्श्वात् तु त्रीणि त्रीणि च लोपयेत् ॥ १४ ॥
त्रयाणामन्तरस्थं यत्पदमेकात्मतां नयेत् ।
उपशोभं तु तं विद्धि कुर्यान्नीलाब्जभूषितम् ॥ १५ ॥
पञ्चकं पञ्चकं कोणाद् वीथौ नीत्वा लयं पुरा ।
शेषैः कोणं तु निर्वर्त्य सान्तरं च ततो बहिः ॥ १६ ॥
दद्यात् सूत्रत्रयं चैव मध्येऽथ कमलं लिखेत् ।

तेन पृष्टो भगवान् पूर्वं मण्डललक्षणमाह—संसाध्य यष्टियोगेनत्यारभ्य क्रमाद् रेखागणं बहिरित्यन्तम् । अस्यैवं प्रयोगः—संसाध्य यष्टियोगेनेत्याद्युक्तप्रकारेण वेदिकोपरिभागं सूत्रपातादिना चतुरश्रीकृत्य तत्क्षेत्रं समैरष्टादशपदैर्विभज्य घटिकारेणुरञ्जितं सूत्रगणं तत्र प्रक्षिप्य मध्ये पङ्क्तित्रयस्य षट्त्रिंशत्कोष्ठेषु पद्मं कुर्यात् । तद्बहिरेकया पङ्क्त्या पीठं कुर्यात् । तत्र चतुर्भिश्चतुर्भिः कोष्ठैः प्रागादिदिक्चतुष्टयं त्रिभिस्त्रिभिः कोष्ठैराग्नेयादिविदिक्चतुष्टयं कुर्यात् । तद्बहिरेकया पङ्क्त्या प्रदक्षिणविधिं कृत्वा तद्बहिः पङ्क्तिद्वये पूर्वादिदिक्षु पूर्णशोभाचतुष्टयसिद्ध्यर्थं प्रागादिष्वन्तःपङ्क्त्यां कोष्ठचतुष्कं बहिःपङ्क्त्यां कोष्ठद्विकं चैकीकृत्य तद्बहिः पूर्वादिषु पङ्क्तिद्वयस्थकोष्ठचतुष्केण चतुर्द्वाराणि परिकल्प्य पूर्णशोभापार्श्वयोरर्धशोभासिद्ध्यर्थं बहिःपङ्क्त्यां कोष्ठद्विकमन्तः पङ्क्त्यामेकं कोष्ठं चैकीकृत्य प्रागादिपूर्णशोभाचतुष्के रक्तोत्पलाष्टकमर्धशोभाष्टके नीलोत्पलाष्टकं च विलिखेत् । आग्नेयादिविदिक्षु उपशो-

भयोरन्तरालेऽन्तःपङ्क्तिस्थं कोष्ठपञ्चकं वीथ्या सहैकीकृत्य बहिःपङ्क्तिस्थकोष्ठ-सप्तकेन कोणानि तद्बहिः पङ्क्तिद्वये सान्तरं रेखात्रयं कृत्वा मध्ये षट्त्रिंशद्दलसंयुक्तं कमलं लिखेत् ॥ ३-१७ ॥
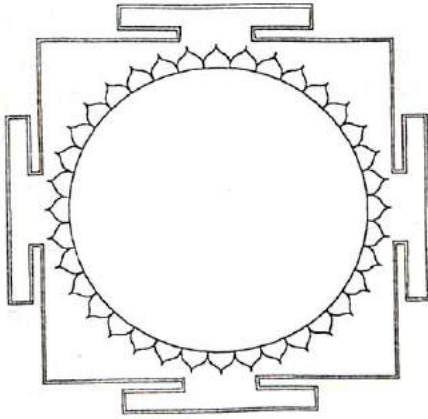
श्री भगवान् ने कहा—लाठी की तरह सूत्र को नीचे गिरा कर उससे वेदी का ऊपरी भाग अच्छी तरह चौकोर बना लेवे । उस वेदी के क्षेत्र को समान रूप से १८ भागों में विभक्त कर, घटिका रेणु से रञ्जित सूत्र को प्रक्षिप्त कर मध्य की तीन पङ्क्तियों में स्थित ३६ कोष्ठकों में कमल निर्माण करे । उसके बाहर एक पङ्क्ति में पीठ निर्माण करे । उसमें चार-चार कोष्ठों से युक्त पूर्वादि चारों दिशाओं का, फिर तीन-तीन कोष्ठों से युक्त आग्नेयादि चार विदिक् (कोण) दिशा का निर्माण करे । उसके बाद बाहर एक पङ्क्ति में प्रदक्षिणा के लिये वीथी बनावे । उसके बाहर दो पङ्क्ति में पूर्वादि चारों दिशाओं में पूर्ण शोभा चतुष्टय की सिद्धि के लिये पूर्वादि दिशाओं की अन्त वाली पङ्क्ति में चार कोष्ठ बनावे और बाहर की पङ्क्ति में दो कोष्ठ को एक में मिला देवे । उसके बाहर पूर्वादि दिशाओं में दो पङ्क्ति में स्थित चार कोष्ठ में चार द्वार बनावे । पूर्ण शोभा वाले दोनों पार्श्व में अर्ध शोभा की सिद्धि के लिये बाहर की पङ्क्ति में दो कोष्ठक और अन्तः पङ्क्ति में एक कोष्ठक इन दोनों को एक में मिला देवे । पूर्वादि पूर्ण शोभा वाले चार कोष्ठक में आठ रक्तोत्पल अर्ध शोभाष्टक में नीलोत्पल का निर्माण करे । आग्नेयादि कोणों में रहने वाले दो-दो उपशोभा के अन्तराल में भीतरी पङ्क्ति में पाँच कोष्ठक को वीथी के साथ एक में मिला देवे । बाहरी पङ्क्ति में रहने वाले कोष्ठ सप्तक से कोण, उसके बाहर दो पङ्क्ति के अन्तर में तीन रेखा बना देवे । फिर मध्य में छत्तिस दल का कमल बनावे ॥ ३-१७ ॥

षट्त्रिंशद्दलसंयुक्तं तस्य लक्षणमुच्यते ॥ १७ ॥
पीठावनिसमीपे तु चतुर्थांशपदात् पुरा ।
समुद्धृत्य भ्रमं कुर्याद् ब्रह्मस्थानाच्च तन्तुना ॥ १८ ॥
दिक्सूत्राणां चतुर्णां तु एकैकं हि यदन्तरम् ।
वृत्तावधेः समैर्भागैः पत्रसंख्यैर्विभज्य च ॥ १९ ॥
षड्भिर्हीनं शतं सार्धं सूत्राणां तत्र निक्षिपेत् ।
सूत्रं प्राक्पदसंस्थं यत् तदाश्रित्याब्जपल्लवम् ॥ २० ॥

कुर्याद् भागचतुष्केण यथा तदवधारय।

तत्प्रकारः—पीठावनिसमीपे पादाच्चतुर्थांशं विहाय ब्रह्मस्थानगतेन तन्तुना भ्रमणं कृत्वा तद्वृत्तमध्ये पूर्वपश्चिमायतमेकं सूत्रं तदुपरि दक्षिणोत्तरायतमेकं सूत्रं च दत्वा दिक्सूत्राणां चतुर्णामेकैकं यदन्तरालं तद्वृत्तावधेः समैर्भागैर्नवधा नवधा विभज्यैकैकं भागं पुनश्चतुर्धा चतुर्धा विभज्य सूत्राणि प्रक्षिपेत् । आहत्य चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशतसूत्राणि भवन्ति । तत्र प्राक्दिकसूत्रमारभ्य चतुर्भिश्चतुर्भिर्भागैरेकैकं दलं कुर्यात् ॥ १७-२१ ॥

अब कमल निर्माण का प्रकार कहते हैं—पीठ की भूमि के समीप एक पाद का चौथा अंश छोड़कर ब्रह्म स्थान पर स्थित तन्तु से घुमा कर वृत्त बनावे । उस वृत्त के मध्य में पूर्व पश्चिम की ओर एक आयतन सूत्र से नापे । उसके ऊपर दक्षिणायतन एक सूत्र लगाकर दिशाओं में स्थित चार सूत्रों के अन्तराल में वृत्तावधि पर्यन्त सम भाग से नव-नव भागों में प्रविभक्त करे । फिर एक-एक भाग को चार-चार भागों में प्रविभक्त करे । फिर सूत्र फेंक देवे । इस प्रकार कुल जोड़ कर १४४ सूत्र होंगे । उसमें पूर्व दिशा के सम से आरम्भ कर चार-चार भागों का एक दल निर्माण करे । इस प्रकार कुल छत्तिस कमल दल का निर्माण हो जायेगा ॥ १७-२१ ॥

सव्यापसव्ये ये सूत्रे अन्तरस्य निरन्तरे ॥ २१ ॥
तयोरंशं समं कुर्याद् दलाग्रादङ्कमन्तरे ।
तदुद्देशात् तु सूत्रेण तदङ्कान्तर्गतेन च ॥ २२ ॥
अर्धचन्द्रद्वयं कुर्यात् तेन सूत्रेण वै समम् ।
पुनरभ्यन्तरे सूत्रं तत्सूत्राभ्यां निरोध्य च ॥ २३ ॥
पत्राग्रमानयेत् तस्माद् बहिस्तं शृङ्गसन्निधेः ।
लाञ्छ्यमानं दलाग्रं तु विधिनानेन सिद्ध्यति ॥ २४ ॥
दलाग्रब्रह्मदेशाभ्यां तुरीयांशेन चान्तरात् ।
भ्राम्य वै कर्णिकावृत्तं द्वयंशमानेन केसरम् ॥ २५ ॥
दलाग्रगांशं वै मध्याद् व्योमार्थं भ्रामयेत् ततः ।
कृत्वैवं वर्णकैः पूतैः पूरणीयं महोज्ज्वलैः ॥ २६ ॥

तत्प्रकारः—एकस्मिन् भागे मध्यमसूत्रस्य दक्षिणभागयोरव्यवहिते ये सूत्रे, तयोरन्तरालं यत्प्रमाणं तत्प्रमाणसमं दलाग्रान्मध्यमसूत्रे लाञ्छनं कृत्वा तल्लाञ्छनान्तर्गतेन सूत्रेण दलाग्रमारभ्य सव्यदक्षिणयोरर्धचन्द्राकाररेखाद्वयं विलिख्य पुनरभ्यन्तरस्थं सूत्रं तद्रेखाभ्यां संयोज्य तस्मात् शृङ्गसन्निधेर्बहिः पत्राग्रं चानयेत् । ततो दलाग्रब्रह्मदेशयोन्तरालं यत्प्रमाणं तच्चतुर्थांशेन मध्यात् कर्णिकार्थं मण्डलं परिभ्राम्य तद्द्विगुणमानेन केसरार्थं वृत्तं परिभ्राम्य दलाग्रांशमध्येऽपि व्योमार्थमेकं मण्डलं परिभ्रामयेत् । एवं कृत्वा ततो वर्णपूरणं कुर्यात् ॥ २१-२६ ॥

उसका प्रकार कहते हैं—किसी एक भाग में मध्य सूत्र के दाहिनी ओर दो भागों में बिना व्यवधान के जो दो सूत्र स्थापित हैं, उनके अन्तराल का जितना प्रमाण है उतने अन्तराल के समान दल के आगे वाले मध्य सूत्र में चिह्न बनावे। फिर उस लाञ्छन के भीतर वाले सूत्र से दल के अग्रभाग से आरम्भ कर बायीं एवं दाहिनी दोनों ओर अर्धचन्द्राकार दो रेखा बनावे। फिर अनास्थ सूत्र को उस रेखा से मिला कर वहाँ से शृङ्ग सन्निधान से बाहर पत्र के आगे तक ले जावे। फिर दलाग्र से ब्रह्म देश तक का जितना प्रमाण है, उसके चतुर्थांश से मध्य देश से कर्णिका के लिये, मण्डल घुमाकर, उसके दूने मान से केसर के लिये वृत्त (गोला) घुमाकर दल के अग्रांश के मध्य में गोला (= व्योम) के लिये एक मण्डल घुमावे। इतना करने के पश्चात् उसमें उज्ज्वल एवं पवित्र रङ्ग भर देवे ॥ २१-२६ ॥

उच्चाग्रविततां पीतां सबीजां विद्धि कर्णिकाम् ।
रेखान्वितानि पत्राणि सर्वाणि सुसितानि च ॥ २७ ॥
केसरत्रितयं कुर्यात् पत्रे पत्रेऽरुणप्रभम् ।
दलान्तरालमसितं वृत्तबाह्यं ज्वलत्प्रभम् ॥ २८ ॥
सितानि पीठकोणानि रक्तं तद्दिक्चतुष्टयम् ।
राजोपलप्रभां वीथीं पत्रमालाद्यलङ्कृताम् ॥ २९ ॥
पश्चिमांशाद् विना सर्वद्वाराण्यम्बुजपत्रवत् ।
कृष्णानि सर्वशोभानि द्वारोद्देशस्थितानि च ॥ ३० ॥
तदर्धाकृतितुल्यानि तूपशोभानि गर्भवत् ।
कोणानि केसराभानि सितशङ्खान्वितानि च ॥ ३१ ॥
शोणहेमादिवर्णं च क्रमाद् रेखागणं बहिः ।

तत्प्रकारः—कर्णिकां पीतवर्णेन, पीठदिक्चतुष्टयं र(त्ने?क्ते)न, तत्कोणचतुष्कं श्वेतेन, प्रदक्षिणविधिं कृष्णवर्णेनापूर्य, वीथ्यां नानावर्णैः पत्रमालादींश्च विलिख्य, पश्चिमांशं विना सर्वद्वारा(णि) अपि मध्यस्थितकमलदलवत् श्वेतेन, पूर्णशोभा-चतुष्टयमपि कृष्णवर्णेन, अर्धशोभाष्टकं कमलगर्भवत् पीतेन, कोणानि केसरवद् रक्तेन चापूर्य, कोणेषु श्वेतरेखाभिः शङ्खांश्च विलिख्य, रक्तपीतश्वेतवर्णैः क्रमेण रेखात्रयं पूरयेत् । एवं मण्डललेखनप्रकारः ॥ २७-३२ ॥

रंग भरने का प्रकार कहते हैं—ऊपर को उठी हुई कर्णिका पीत वर्ण से रंगे और पीठ की चारों ओर की दिशायें लाल वर्ण से, उसके चारों कोण श्वेत रङ्ग से और प्रदक्षिणा विधि काले वर्ण से पूर्ण करे। वीथी में अनेक वर्ण के पत्र माला आदि का निर्माण करे। पश्चिम दिशा को छोड़कर सभी द्वारों को, मध्य में स्थित कमल दल के समान श्वेत रंग से, पूर्ण शोभा चतुष्टय को कृष्ण वर्ण से, अर्ध शोभाष्टक को कमल गर्भ के समान पीत वर्ण से तथा कोणों को केसर के समान

रक्त वर्ण से पूर्ण कर कोणों पर श्वेत रेखा से शङ्ख बना कर रक्त, पीत एवं श्वेत वर्णों से क्रमश: तीन रेखाओं को पूर्ण करे । यहाँ तक मण्डल लेखन का प्रकार कहा गया ॥ २७-३२ ॥

कृत्वैवमनुसन्धाय सर्वात्मत्वेन देहवत् ॥ ३२ ॥
रजांसि विद्धि भूतानि सितपीतादिकानि च ।
तन्मात्राण्युपशोभानि शोभानि करणानि तु ॥ ३३ ॥
एवं सर्वाणि कोणानि सद्वाराणीन्द्रियाणि च ।
बहिरावरणं यद्वै सत्त्वाद्यं त्रितयं हि यत् ॥ ३४ ॥
मनः सुवितता वीथी गर्वः पीठमुदाहृतम् ।
धीः पद्मं तदधिष्ठाता बीजात्मा चिन्मयः पुमान् ॥ ३५ ॥

एतन्मण्डलस्य भगवच्छरीरतयाऽत्रापि प्रसिद्धदेहवद् भूततन्मात्राणि दर्शयति—कृत्वैवमित्यादिभिः ॥ ३२-३५ ॥

यतः यह मण्डल भगवान् का शरीर है इसलिये प्रसिद्ध देह के समान इसमें भी भूत और तन्मात्रायें है । इसे कह रहे हैं—रजादिकों को पञ्चभूत समझे और सित पीतादि वर्णों को तन्मात्रा समझे तथा उपशोभाओं को शोभा और करण समझे। इसी प्रकार सभी कोणों को द्वार सहित इन्द्रियाँ समझे, जो बाहर के आवरण हैं । वही सत्त्वादि त्रितय हैं, मन विस्तृत वीथी है, पीठ गर्व है, पद्म धी (= बुद्धि) है और उसका अधिष्ठाता पुमान् चिन्मय बीजात्मा है ॥ ३२-३५ ॥

अमूर्त ईश्वरश्चात्र तिष्ठत्यानन्दलक्षणः ।
यस्य सन्दर्शनादेव शश्वद्भावः प्रसीदति ॥ ३६ ॥
ससङ्गानामसङ्गानां वपुष्पाते कृते सति ।
प्रायशो मुक्तिभाजां च त्विह जन्मैकशेषिणाम् ॥ ३७ ॥
देव आस्ते ज्ञतां हित्वा बहिरन्तश्च कर्मिणाम् ।
अन्यथा दृष्टमात्राद् वै कथमाह्लादमेति वै ॥ ३८ ॥
अन्तः संवेदनसमम् अस्तित्वप्रतिपादकम् ।
यद्यत् स्वलक्षणं तत्त्वं तत्तत् सर्वत्र सिद्धिगम् ॥ ३९ ॥

मण्डले भगवदवस्थानं सहेतुकमाह—अमूर्त इत्यादिभिः ॥ ३६-३९ ॥

इस प्रकार आनन्द लक्षण ईश्वर बिना मूर्त्ति के इस मण्डल में स्थित है । जो सहेतुक है इसके दर्शन मात्र से शाश्वत भाव प्रसन्न हो जाता है । सङ्ग युक्तों के एवं सङ्ग रहितों के, प्राय: मुक्तिभाजों के, अथवा एक जन्म मात्र शेष लोगों के कर्म कर्त्ताओं के शरीर पात कर देने पर भी इसमें बाहर और भीतर ज्ञान को

परित्याग कर ईश्वर रहता ही है । अन्यथा इस शरीर के दर्शन मात्र से मनुष्य किस प्रकार आह्लादित हो सकता है । अन्त: समवेदना के समान अस्तित्व का प्रतिपादक जो-जो इसमें स्वलक्षण तत्त्व हैं वहीं सब प्रकार की सिद्धि प्रदान करते हैं ॥ ३६-३९ ॥

वस्तुत्वेन गृहीत्वैवं मण्डलं पूर्वनिर्मितम् ।
नाम्नाऽब्जनाभभुवनं सर्वदुःखक्षयङ्करम् ॥ ४० ॥
ततस्तस्मिन् क्रमेणैव ध्यात्वैकैकं निवेशयेत् ।
पूर्वोद्दिष्टेन बीजेन त्वाकारं पारमेश्वरम् ॥ ४१ ॥

एवमब्जनाभभुवनाख्यं मण्डलं परिगृह्य तत्र पूर्वोक्तक्रमेण तद्देवान् तत्तद्-बीजादिमन्त्रैर्निवेशयेदित्याह—वस्तुत्वेनेति द्वाभ्याम् ॥ ४०-४१ ॥

सभी दुःखों का विनाश करने वाले एक अब्जनाभ भुवनाख्य मण्डल को लेकर उसमें पूर्वोक्त क्रम से तत्तद् देवताओं को तत्तद् बीजादि मन्त्रों से ध्यान करते हुए सन्निविष्ट करे । यहाँ तक मण्डल का लक्षण कहा गया । अब शङ्ख, चक्र और पद्म एवं वृत्त कुण्ड तथा चतुरस्र पाँच कुण्डों के लक्षण को हे सङ्कर्षण सुनिये ॥ ४०-४१ ॥

अथैवं भाजितात् क्षेत्राच्चतुरश्राद् महामते ।
पूर्वोद्दिष्टानि धिष्ण्यानि यथा कार्याणि तच्छृणु ॥ ४२ ॥

एवं मण्डललक्षणमुक्त्वा कुण्डलक्षणं शृण्वित्याह—अथेति । एवं भाजितात् क्षेत्रात् पूर्वं मण्डलोक्तप्रकारेण सूत्रपातैरष्टादशधा विभक्तादित्यर्थः । पूर्वोद्दिष्टानि = पूर्वमाराधनप्रकरणादिषूक्तानीत्यर्थः । धिष्ण्यानि = वह्निगृहाणि, कुण्डानीति यावत् ॥ ४२ ॥

अब **कुण्ड निर्माण** का प्रकार कहते हैं—कुण्ड स्थान को पूर्व में आराधना प्रकरण में कहे गये मण्डलोक्त क्रम की तरह सूत्रपात के द्वारा १८ भागों में प्रविभक्त करे । हे महामते ! अब जिस प्रकार वह्नि गृह का निर्माण करना चाहिए, उसे सुनिए ॥ ४२ ॥

पञ्चमं ब्रह्मकर्माद्यं मर्म प्राग्दिश्यवस्थितम् ।
अंशं दीर्घेण तत्स्थेन कुर्यात् सूत्रेण लाञ्छनम् ॥ ४३ ॥
अर्धचन्द्रसमाकारं भागयुग्मस्य चान्तरे ।
दक्षिणोत्तरभागाभ्यां तदधस्तत्समं तथा ॥ ४४ ॥
लाञ्छनद्वितयं कुर्यात् तिर्यक्संस्थानसंस्थितम् ।
भागद्वादशकस्यैक्यं स्यात् पङ्क्तिद्वितयाद् यथा ॥ ४५ ॥
ब्रह्ममर्म चतुर्थं यत् संख्यामानं च पूर्ववत् ।

मर्म तस्य च पक्षस्थावेकमर्मान्तरीकृतौ ॥ ४६ ॥
ताभ्यामवस्थितेनैव सूत्रेणैतत् प्रजायते ।
पुनर्मध्याद् द्वितीयं यद् मर्म चोर्ध्वं प्रवर्तते ॥ ४७ ॥

उसमें मध्यम मर्म मान से पूर्व दिशा में स्थित जो पाँचवाँ मर्म है, उन संस्पर्शों में एक कोष्ठ बढ़ाए और बढ़ाए गये सूत्र से दो कोष्ठ में अर्ध चन्द्राकार लाञ्छन करे । उसके नीचे की दो पङ्क्ति में एक द्वादश कोष्ठ की सिद्धि के लिये, उसके दशक के बाहर दक्षिण दो कोष्ठों में और उत्तर के दो कोष्ठों में पूर्ववत् अर्ध चन्द्राकार दो चिह्न तिरछे लिख कर मध्य से चौथा जो मर्म (= सन्धि) उसके दक्षिण भाग में स्थित मर्म (= सन्धि) द्वय में स्थित सूत्र से इसी प्रकार उसके वाम भाग के मर्मद्वयावस्थित सूत्र से पहले से लिखा हुआ अर्ध चन्द्राकार, तीनों लाञ्छनों को एक में मिला देवे ॥ ४३-४७ ॥

तस्माद् वै त्र्यन्तरीभूतं चतुर्थं पक्षयोर्द्वयोः ।
मर्म तत्स्थेन सूत्रेण वृत्तार्थे पूर्ववल्लिखेत् ॥ ४८ ॥
ब्रह्ममर्मणि षष्ठस्य प्रत्यग्दिक्संस्थितस्य च ।
मर्मणोऽप्यथ वै सूत्रं कृत्वा तत्सम्प्रसार्य च ॥ ४९ ॥
यावद् वृत्तार्थबुध्नस्थं शृङ्गकोटेस्तु सन्निधिम् ।
एवं सूत्रद्वये दत्ते धिष्ण्यः शङ्खाकृतिर्भवेत् ॥ ५० ॥

प्रथमं शङ्खकुण्डलक्षणं दर्शयन् तत्कुण्डक्षेत्रमध्यखातस्य शङ्खाकारतासिद्ध्यर्थं परितो लाञ्छनक्रममाह—पञ्चममित्यारभ्य धिष्ण्यः शङ्खाकृतिर्भवेदित्यन्तम् ।

ब्रह्मकर्माद्यं = मध्यमर्मप्रारम्भकमित्यर्थः । मर्म = प्राक्पश्चिमायतसूत्रस्य दक्षिणोत्तरायतसूत्रस्य च सन्धिस्थानमित्यर्थः ॥ ४३-५०॥

तथा चैवं कुण्डनिर्माणप्रकारः—कुण्डस्थानं पूर्वं मण्डलोक्तप्रकारेण सूत्रपातैरष्टादशधा विभज्य तत्र मध्यमान्मर्मस्थानात् पञ्चमं प्राक्दिक्स्थ यन्मर्म तत्संस्पर्शानामेककोष्ठदीर्घेण सूत्रेण कोष्ठद्वयेऽर्धचन्द्राकारं लाञ्छनं कृत्वा तदधःपङ्क्तिद्वये कोष्ठद्वादशकस्यैक्यसिद्ध्यर्थं तद्दशकाद् बहिर्दक्षिणकोष्ठद्वये तदुत्तरकोष्ठद्वये च पूर्ववदर्धचन्द्राकारं लाञ्छनद्वयं तिर्यग्विलिख्य मध्याच्चतुर्थं यन्मर्म तद्दक्षिणभागस्थमर्मद्वयावस्थितेन सूत्रेण तद्वामभागमर्मद्वयावस्थितेन सूत्रेण च पूर्वं विलिखितमर्धचन्द्राकारलाञ्छनत्रयं चैकीकृत्य पुनर्मध्याद् द्वितयमूर्ध्वस्थं यन्मर्म तस्मात् त्र्यन्तरीभूतं चतुर्थं दक्षि(णं?ण)पार्श्वस्थं वामपार्श्वस्थं च यन्मर्म तदवस्थितेन सूत्रेण पूर्ववद् दक्षिणकोष्ठद्वये वामकोष्ठद्वये चार्धचन्द्राकारं लाञ्छनद्वयं तिर्यग् विलिखेत् । एवं कृते पूर्वोक्तद्वादशकस्याधःपङ्क्तिद्वयेऽपि भागद्वादशकस्यैक्यं भवति । अथ पश्चिमदिशि मध्यात् षष्ठस्य मर्मणः सूत्रद्वयं प्रसार्य पूर्वोक्तयोर्दक्षिणोत्तरभागस्थार्धचन्द्राकारलाञ्छनयोः शृङ्गाग्राभ्यां सह योजयेत् । एवं कृते शङ्खाकारता सिद्ध्यति ॥ ४३-५० ॥

इसके बाद, पुन: मध्य से द्वितीय ऊपर में रहने वाला जो मर्म उन तीनों के अन्तर में रहने वाला चतुर्थ दक्षिण पार्श्वस्थ तथा वामपार्श्वस्थ जो मर्म उसमें रहने वाले सूत्र से पूर्ववत् दक्षिण कोष्ठ द्वय तथा वाम कोष्ठद्वय में अर्ध चन्द्राकार दो लाञ्छन तिरछी ओर लिखे । ऐसा करने से पूर्वोक्त द्वादशक के नीचे दोनों पङ्क्ति में रहने वाला भाग द्वादशक एक हो जायेगा । इसके बाद पश्चिम दिशा में मध्य से छठे मर्म को दो सूत्र फैलाकर पूर्वोक्त दक्षिणोत्तर भागस्थ अर्ध चन्द्राकार दोनों लाञ्छनों को शृङ्ग के आगे रहने वाले दोनों किनारों से मिला देवे । ऐसा करने से उस अग्निकुण्ड की शङ्खकुण्ड की आकारता सिद्ध हो जायेगी ॥ ४८-५० ॥

तस्य भागसमा कार्या लाञ्छनैर्मेखला बहिः ।
पूर्वोक्तमर्मगैः सूत्रैर्यथा तदवधारय ॥ ५१ ॥
द्व्यंशदीर्घेण सूत्रेण नवचन्द्रकलासमम् ।
चतुर्णामन्तरेशानां प्राग्दिक् कुर्याच्च लाञ्छनम् ॥ ५२ ॥
ईशवह्निपदाभ्यां तु वृत्ततुर्यांशसम्मिते ।
द्वे लाञ्छने समे कुर्यादेकभागाधिके ततः ॥ ५३ ॥
तत्समे ह्यपरे द्वे वै यत्तदा लाञ्छ्य लाञ्छनैः ।
दक्षिणोत्तरभागाभ्यां पश्चात् सूत्रद्वयं क्षिपेत् ॥ ५४ ॥
कृत्वा सप्तममर्मस्थं पूर्वोद्दिष्टक्रमेण तु ।
जीवसूत्रस्य पाश्चात्त्ये भागे पार्श्वद्वये स्थितम् ॥ ५५ ॥

तत्खातस्य बहिः शङ्खाकारमेखलानिर्माणप्रकारमाह—तस्य भागसमेत्यारभ्य पूर्वोद्दिष्टक्रमेण त्वित्यन्तम् ॥ ५१-५५ ॥

एवं खातार्थं परितो लाञ्छनं कृत्वा तद्बहिस्तथैव शङ्खाकारैकभागमिति मेखलासिद्ध्यर्थं प्राग्दिशि कोष्ठद्वयदीर्घेण सूत्रेण कोष्ठचतुष्टयेऽर्धचन्द्राकारं लाञ्छनं कृत्वा तथैवैशान्यकोण आग्नेयकोणे च कोष्ठपञ्चके लाञ्छनद्वयं कृत्वा तदधः पार्श्व-द्वयेऽपि कोष्ठचतुष्टये पूर्ववद् द्वे लाञ्छने विलिख्य पूर्वोक्तरीत्या पश्चिमभागस्थ-सप्तममर्मणः सूत्रद्वयं प्रसार्य पूर्वोक्तलाञ्छनद्वययोः शृङ्गाग्राभ्यां सह योजयेत् । एवं कृते मेखलारूपं सिद्ध्यति ॥ ५१-५५ ॥

इसी प्रकार खात के लिये भी चारों ओर लाञ्छन निर्माण करे । उसके बाहर शङ्खाकार के एक भाग की मेखला सिद्धि के लिये, पूर्व दिशा में दो कोष्ठक के समान दीर्घ सूत्र से चार कोष्ठों में अर्ध चन्द्राकार लाञ्छन बना कर, उसी प्रकार ईशानकोण, आग्नेयकोण में और पञ्चकोष्ठक में दो लाञ्छन बनाकर, उसके नीचे दोनों पार्श्व में स्थित कोष्ठ चतुष्टक में पूर्ववत् दो लाञ्छन लिख कर, पूर्वोक्त रीति से पश्चिम भाग के सातवें मर्म का दोनों सूत्र फैलाकर पूर्वोक्त दोनों लाञ्छन के शृङ्ग के अग्रभाग से एक में मिला देवे । ऐसा करने से मेखला का रूप सिद्ध हो जायेगा ॥ ५१-५५ ॥

भागद्वयं द्वयं लाञ्छ्यं योन्यर्थं चार्धवृत्तवत् ।
तच्छृङ्गकोटिगे सूत्रे कृत्वा ते सम्प्रसार्य च ॥ ५६ ॥
खातभूभागपर्यन्तं तत्पदाद् वटपत्रवत् ।
जायते सर्वकुण्डानां योनिरेवंविधा शुभा ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार कुण्ड के पश्चिम भाग में योनि निर्माण के लिये मध्यसूत्र के दक्षिण भाग के कोष्ठों में तथा वाम भाग के दोनों कोष्ठों में अर्ध चन्द्राकार दो लाञ्छन बना कर दक्षिण लाञ्छन के दक्षिण शृङ्गाग्र में एक सूत्र, वाम भागस्थ लाञ्छन के वाम शृङ्गाग्र से एक सूत्र, दोनों मिलाकर उन दोनों को वटपत्र के समान खात भाग पर्यन्त फैला देवे । ऐसा करने से योनि बन जायेगी । इस प्रकार योनि का निर्माण आगे कहे जाने वाले कुण्डों में भी करना चाहिये ॥ ५६-५७ ॥

भागार्धमानसूत्रेण योनेरभ्यन्तरे पुनः ।
अर्धवृत्तद्वयं दद्यात् तद्वत् सूत्रद्वयान्वितम् ॥ ५८ ॥
खातस्यान्तर्गतो वर्ज्यश्चतुर्थांशस्तु कोष्ठकात् ।
कोष्ठार्धं निखनेच्छेषं तत्समं वा पुरोदितम् ॥ ५९ ॥
दैर्घ्यात् पादाधिका कार्या योनिर्वै पृष्ठतोन्नता ।
गजोष्ठसदृशी चाग्रात् स्पृशन्ती दशनच्छदम् ॥ ६० ॥

तद्बहिःपङ्क्तिमारभ्य खातपर्यन्तं प्रागादिषु योनिनिर्माणप्रकारं खातस्य परितः कोष्ठचतुर्थांशेनौष्ठनिर्माणप्रकारं चाह—जीवसूत्रस्येत्यारभ्य स्पृशन्ती दशनच्छदमित्यन्तम् । जीवसूत्रस्य मध्यसूत्रस्येत्यर्थः । पार्श्वद्वये मध्यसूत्रस्य दक्षिणवामभागयोरित्यर्थः । तत्समं निखनेत् । खातभूभागविस्तारायामतुल्यं खातं कुर्यादित्यर्थः । अथवा पुरोदितं "त्र्यंशेनार्धेन वांशेन खाताद् व्यासो विधीयते" (६।७७) इति नित्याग्निकार्यप्रकरणोक्तं वेत्यर्थः । एवमेवोक्तं पारमेश्वरेऽपि—

खातार्थमन्तरावृत्तादन्तरं निखनेत् समम् ॥
त्रिपादमर्धपादं वा (२६।१२-१३) इति ।

दशनच्छदमोष्ठमित्यर्थः ॥ ५५-६०॥

अथ पाश्चात्त्ये भागे योनिसिद्ध्यर्थं मध्यसूत्रदक्षिणभागकोष्ठद्वये वामभागकोष्ठद्वये चार्धचन्द्राकारलाञ्छनद्वयं विलिख्य दक्षिणलाञ्छनस्य दक्षिणशृङ्गाग्र एकं सूत्रं वामभागस्थलाञ्छनस्य वामशृङ्गाग्रेणैकं सूत्रं संयोज्य तद्द्वयमपि वटपत्रवत् खातभागपर्यन्तं प्रसारयेत् । एवं कृते योनिः सिद्ध्यति । इयं योनिर्वक्ष्यमाणकुण्डानामपि साधारणा ॥ ५६-५७ ॥

पुनस्तद्योनेरभ्यन्तरे मध्यसूत्रस्य दक्षिणकोष्ठे च कोष्ठार्धमानसूत्रेण पूर्ववदर्धचन्द्राकारं लाञ्छनद्वयं विलिख्य पूर्ववत् तयोः शृङ्गाग्राभ्यां सूत्रद्वयं प्रसारयेत् । अथ खातस्य परित ओष्ठसिद्ध्यर्थं खातस्यान्तः परित एकं कोष्ठं चतुर्धा विभज्य तेष्वेकं

भागं विसृज्य शेषं सर्वमपि खातभागविस्तारसमं तत्र्यंशमर्धं वा निखनेत् । पूर्वोक्त-योनिदैर्घ्यात् सपादकोष्ठद्वयमिता पृष्ठतो गजोष्ठसदृशी पूर्वोक्तमोष्ठं स्पृशन्ती सती (= मेखला) कर्तव्या ॥ ५८-६० ॥

योनिकुण्ड
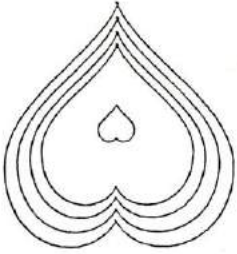
पुनः उस योनि के भीतर मध्य सूत्र के और दक्षिण कोष्ठ में भी कोष्ठक के आधे प्रमाण वाले सूत्र से पूर्ववत् अर्ध चन्द्राकार दो लाञ्छन बना कर पूर्ववत् उनके दोनों शृङ्ग से दो सूत्र प्रसारित करे । इसके बाद खात के चारों ओर ओष्ठ की सिद्धि के लिये, खात के भीतर चारों ओर एक कोष्ठ को चार भागों में विभक्त करे । उसमें एक भाग को छोड़कर शेष सभी खातभाग के विस्तार के समान उसका तीसरा अंश अथवा आधा अंश खने । पूर्वोक्त योनि के विस्तार से लेकर सवा दो कोष्ठ पर्यन्त पीछे की ओर हाथी के ओठ के समान पूर्वोक्त ओष्ठ का स्पर्श करते हुए मेखला निर्माण करे ॥ ५८-६० ॥

पुरोभागचतुर्थांशं योनेरग्राद् विसृज्य तु ।
दद्यात् प्राक्सूत्रसम्बन्धं सूत्राणां द्वितयं परम् ॥ ६१ ॥

पूर्वोक्तलाञ्छनानुसारेण खातर्थमेकं तद्बहिरोष्ठार्थमेकं तद्बहिर्मेखलार्थमेक-मिति सूत्रत्रयं दद्यादित्याह—पुरोभागेति ॥ ६१ ॥

इस प्रकार से चारों ओर योनि के अग्रभाग में पूर्वोक्त रीति से कोष्ठ का चतुर्थांश त्याग कर खात के लिये, शङ्खाकार सूत्र पूर्व की भाँति लगाकर उसके बाद ओष्ठ निर्माण के लिये एक सूत्र और मेखला के निर्माण के लिये एक सूत्र देवे ॥ ६१ ॥

अनुपातेन वै ताभ्यामग्रात् सङ्कोचमाचरेत् ।
भागपङ्क्तित्रयेणैव मेखलात्रितयं बहिः ॥ ६२ ॥
सम्पाद्यं चतुरश्रं तु शङ्खं तत्त्रितयोपरि ।
आशङ्खं मेखलानां तु प्रोन्नतत्वं स्वविस्तृतेः ॥ ६३ ॥

ओष्ठाद्यङ्गानां क्रमेण संकोचमाह—अनुपातेनेति । एवमुक्तं पारमेश्वरेऽपि— ''मेखलावधिपर्यन्तं नीचान्यङ्गानि मीलयेत्'' (२६।२३) इति ।

मेखलात्रयनिर्माणमाह—भागपङ्क्तित्रयेणेति सार्धेन ॥ ६२-६३ ॥

एवं च खातप्रदेशे परितो योन्यग्रे पूर्वोक्तरीत्या कोष्ठचतुर्थांशं विसृज्य खातार्थं शङ्खाकारं सूत्रं पूर्ववद् दत्वा तदनन्तरमोष्ठार्थमेकं सूत्रं मेखलार्थमेकं सूत्रं च दद्यात् । ऊर्ध्वे ओष्ठं तदधो मेखला यथा स्यात् तथा तत्सूत्रयोः पातं संकुचितं कुर्यात् तद्बहिः परितः पङ्क्तित्रयेण चतुरश्रं मेखलात्रयं कुर्यात् । शङ्खान्तानां मेखलानामौन्नत्यं तु कुण्डविस्तारसमं कुर्यात् ॥ इति शङ्खकुण्डलक्षणम् ॥ ६२-६३ ॥

जिस प्रकार अपर ओष्ठ उसके नीचे मेखला बन जावे उस प्रकार संकोच के साथ दोनों सूत्रपात करे । उसके बाहर तीन पङ्क्ति में चौकोर तीन मेखला का निर्माण करे । शङ्खान्त मेखलाओं की ऊँचाई कुण्ड के विस्तार के समान ही करे ॥ ६२-६३ ॥

चक्रकुण्डलक्षणकथनम्

मेखलानां तु शङ्खस्यं यन्मध्येऽश्रिचतुष्टयम् ।
तच्चक्रचिह्नितं कुर्यात् तल्लक्षणमथोच्यते ॥ ६४ ॥
ब्रह्ममर्मनिरुद्धेन चतुर्भागसमेन तु ।
खातार्थं प्राग् भ्रमं दद्यात् क्षेत्रमध्ये महामते ॥ ६५ ॥
बहिर्भागसमा नाभिस्तद्बहिर्द्व्यंशविस्तृतम् ।
अरक्षेत्रं च तस्यापि नेमिभागसमा बहिः ॥ ६६ ॥
भागेन तद्बहिस्त्वेका चतुरश्रा च मेखला ।
भ्राम्य मध्यादरक्षेत्रं वृत्तेनैकेन वै पुनः ॥ ६७ ॥
ततः सूत्राष्टकं दद्याद् दिग्विदिक्संस्थितं पुरा ।
तस्य चान्तर्गतं पश्चादष्टकं पातयेत् परम् ॥ ६८ ॥
ततस्तेषां समापाद्यम् अरत्वममलेक्षण ।
अन्तर्वृत्तनिरोधेन प्रतिसूत्रस्य पक्षयोः ॥ ६९ ॥
सूत्रेण लाञ्छनं कुर्यान्नाभिनेमिभ्रमावधेः ।
एकांशादर्धमानं च नेमिवृत्तस्य चान्तरे ॥ ७० ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यामराभ्यां तु मध्ये कुर्यात् प्रधिं प्रधिम् ।
विस्तारप्रोन्नता नाभिः कूर्मपृष्ठोपमाऽरका ॥ ७१ ॥
नेमिं दर्पणवत् कुर्यात् त्वीषन्निम्नावसानतः ।

अथ चक्रकुण्डलक्षणमाह—मेखलानां तु शङ्खस्येत्यारभ्य शिष्टं पुरोदितं सर्वमित्यन्तम् । अत्र प्रतिसूत्र(स्य) पक्षयोः सूत्रेण लाञ्छन कुर्यादित्यरलक्षणमुक्तम् । पारमेश्वरे—''मत्स्यवल्लाच्छनं कुर्यात्'' (२६।२१) इति व्यक्तमुक्तं ज्ञेयम् ॥ ६४-७२ ॥

अथ चक्रकुण्डलक्षणमुच्यते—पूर्वोक्तप्रकारेणाष्टादशधा विभक्ते चतुरश्रे क्षेत्रे मध्ये मर्मस्थाने सूत्रं संस्थाप्य मध्यात् पञ्चमरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं मण्डलं विलिख्य पुनः षष्ठरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं वृत्तमापाद्य पुनर्नवामरेखास्पर्शिना सूत्रेणैकं वृत्तं कुर्यात् । तेषु प्रथमं मण्डलं खातार्थं द्वितीयं नाभिस्थानं तृतीयमरस्थानं चतुर्थं नेमिस्थानमिति ज्ञेयम् । तद्बहिःपङ्क्तौ चतुरश्रा एकैव मेखला कर्तव्या । पूर्वोक्तमरस्थानं मध्यात् पुनरेकेन वृत्तेन परिभ्राम्य तत्र प्रागादिदिक्ष्वाग्नेयादिविदिक्षु च सूत्राष्टकं दत्वा तेषामरत्वसिद्ध्यर्थमन्तर्वृत्तनिरुद्धेन सूत्रेण प्रतिसूत्रस्य पक्षयोर्नाभिवृत्तपर्यन्तं नेमि-

वृत्तपर्यन्तं च मत्स्यवल्लाञ्छनं कृत्वा नेमिवृत्तस्यान्तरे द्वयोर्द्वयोररयोर्मध्ये एकैकं प्रधिं कुर्यात् । अत्र नाभिः कुण्डविस्तारसदृशोच्छ्राया कूर्मपृष्ठसदृशी कार्या । नेमि-दर्पणसदृश्यग्रे ईशन्निम्ना च कर्तव्या । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् कुर्यात् ॥ इति चक्र-कुण्डलक्षणम् ॥ ६४-७२ ॥

चक्रकुण्ड
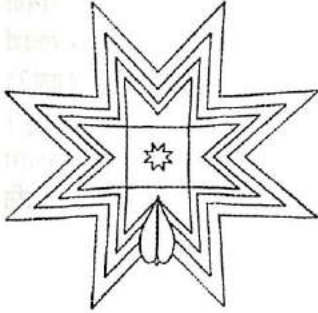
अब **चक्र कुण्ड** का लक्षण कहते हैं— पूर्वोक्त प्रकार से अट्ठारह भागों में प्रविभक्त चौकोर क्षेत्र में मध्य के मर्मस्थान में सूत्र संस्थापित करे । मध्यम से पञ्च रेखा का स्पर्श करने वाले सूत्र से एक मण्डल निर्माण कर षष्ठ रेखा का स्पर्श करने वाले सूत्र से एक वृत्त बना कर, फिर नवम रेखा का स्पर्श करने वाले सूत्र से एक वृत्त का निर्माण करे । उसमें प्रथम मण्डल खात के लिये, द्वितीय नाभि स्थान के लिये, तृतीय अरा के लिये और चतुर्थ मण्डल नाभि के लिये समझना चाहिये । उसके बाहर की पङ्क्ति में चौकोर एक ही मेखला बनानी चाहिये । पूर्वोक्त अर स्थान मध्य से पुनः एक वृत्त से घुमा कर, पूर्वादि दिशाओं में तथा आग्नेयादि कोणों में, आठ सूत्र लगा कर, उनके अरत्व की सिद्धि के लिये, अन्तर्वृत्त निरुद्ध सूत्र से, प्रत्येक सूत्र के दोनों पक्षों के नाभिवृत्त पर्यन्त और नेमिवृत्त पर्यन्त, मछली के समान रेखा खींच कर, नेमिवृत्त के भीतर रहने से दो-दो अरों के बीच में एक-एक प्रधि निर्माण करे । यहाँ नाभि कुण्ड के विस्तार के सदृश ऊँची कूर्मपृष्ठ के सदृश बनावे । नेमि दर्पण के समान आगे थोडी नीची बनावे । अन्य सब निर्माण पूर्ववत् करे ॥ ६४-७२ ॥

पद्मकुण्डलक्षणकथनम्

शिष्टं पुरोदितं सर्वम् अथ पद्माकृतिं शृणु ॥ ७२ ॥
भागार्धं भ्रामयेन्नाभेर्बहिः केसरसिद्धये ।
भ्रामयेदपरं चार्धमरक्षेत्रस्य बाह्यगम् ॥ ७३ ॥
नीत्वा लोपमनेनैव विधिना नेमिमण्डलम् ।
अरसूत्राश्रितं कुर्यात् ततः पद्मदलाष्टकम् ॥ ७४ ॥
केसरभ्रमरुद्धेन सूत्रेणार्धेन्दुलक्षणम् ।
तच्छृङ्गकोटिसंस्थेन परिधेर्बाह्यकेन तु ॥ ७५ ॥
सूत्रद्वयेन पत्राग्रं कुर्याद् ब्रह्मभ्रमावनेः ।
निरन्तराणामा मूलात् केसराणां महामते ॥ ७६ ॥
कर्णिकोच्छ्रायतुल्यानां विभागं जनयेत् स्फुटम् ।

शङ्खकोणचतुष्के तु शेषं पूर्ववदाचरेत् ॥ ७७ ॥

पद्मकुण्डलक्षणमाह—

अथ पद्माकृतिं शृण्वित्यारभ्य शेषं पूर्ववदाचरेदित्यन्तम् ॥ ७२-७७ ॥

अथ पद्मकुण्डलक्षणमुच्यते—अत्रापि चक्रकुण्डवत् प्रथमं मण्डलं खातार्थं कृत्वा द्वितीये नाभिमण्डले भागार्धं कर्णिकासिद्ध्यै अपरार्धं केशरसिद्ध्यै द्वेधा मण्डलीकृत्याऽरक्षेत्रस्य बहिरेवमेव नेमिमण्डलं द्वेधा कृत्वा प्रथमभागमरक्षेत्रेण सहैकीकुर्यात् । उत्तरभागं पत्राग्रसिद्ध्यै स्थापयेत् । अरक्षेत्रेऽष्टदलसिद्ध्यर्थं प्रागाद्यष्टदिक्ष्वपि केसरमण्डलरुद्धेन सूत्रेणाऽर्धचन्द्राकारं लाञ्छनद्वयं (द्वयं?) परस्पराभिमुखं कृत्वा तच्छृङ्गाग्रसंस्थितेन दलमण्डलबाह्यगेन सूत्रद्वयेन पत्राग्रं कुर्यात् । आमूलान्निरन्तराणां कर्णिकोच्छ्रायतुल्यानां केसराणां व्यक्तं यथा तथा विभागं जनयेत् । पत्राग्रमण्डलाद् बहिश्चतुष्कोणेषु शङ्खचतुष्टयं कुर्यात् । शेषं पूर्ववत् ॥ इति पद्मकुण्डलक्षणम् ॥ ७३-७७ ॥

पद्मकुण्ड
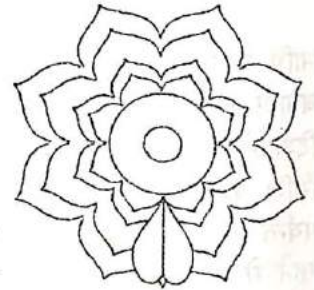
अब **पद्म कुण्ड** का लक्षण कहते हैं—यहाँ भी चक्रकुण्ड के समान प्रथम मण्डल खात के लिये बनावे । द्वितीय नाभिमण्डल में आधा भाग कर्णिका बनाने के लिये, शेष आधे भाग में केशर निर्माण के लिये दो मण्डल बनावे । फिर अर क्षेत्र के बाहर भी इसी प्रकार नेमि मण्डल कर, दो भाग कर, प्रथम भाग को अरा क्षेत्र के साथ मिला देवे । उत्तर भाग पत्राग्र बनाने के लिये स्थापित करे । अरा क्षेत्र में अष्टदल निर्माण के लिये पूर्वादि आगे दिशाओं में केशर मण्डल से अवरुद्ध सूत्र से अर्ध चन्द्राकार दो लाञ्छन परस्पराभिमुख बना कर, उस शृङ्गाग्र स्थित दल मण्डल से बाहर रहने वाले दो सूत्रों से पद्माग्र निर्माण करे । मूल से प्रारम्भ करके अन्तर रहित कर्णिका के ऊँचाई के तुल्य जिस प्रकार केशर स्पष्ट दिखाई पड़े, ऐसा उनका विभाग करे और पद्माग्र मण्डल के बाहर चारों कोणों पर चार शङ्ख बनावे । शेष पूर्ववत् बनावे ॥ ७३-७७ ॥

योनिमेकेन भागेन चतुर्भिर्मेखलागणम् ।
खातं पूर्वसमं किन्तु वृत्ते वृत्तास्तु मेखलाः ।
चतुरश्रे तदाकारा इत्युक्तं कुण्डपञ्चकम् ॥ ७८ ॥

वृत्तचतुरश्रकुण्डयोर्लक्षणमाह—योनिरिति सार्धेन ॥ ७८ ॥

अब **वृत्त तथा चौकोर कुण्ड** का लक्षण कहते हैं—पूर्वोक्त रीति से अट्ठारह भाग में प्रविभक्त क्षेत्र में मध्य में पूर्ववत् ६४ कोष्ठ खात के लिये छोड़कर, उसके बाहर एक पङ्क्ति में योनि बनावे । फिर चार पङ्क्ति में चार मेखला

वृत्त कुण्ड
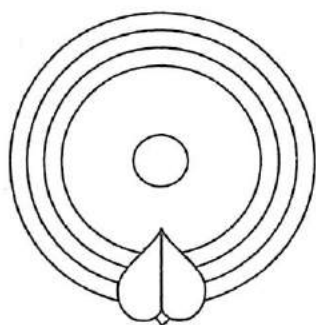
चतुरस्त्रकुण्ड
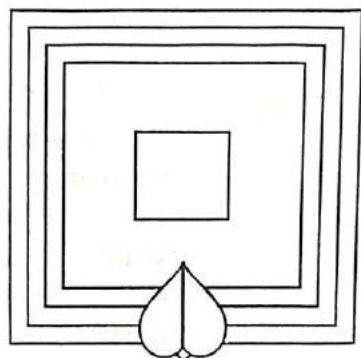
निर्माण करे । किन्तु खात और मेखला वृत्त कुण्ड में वृत्ताकार तथा चौकोर कुण्ड में चौकोर निर्माण करनी चाहिये । वृत्त और चौकोर इन दोनों कुण्डों में ओष्ठ और योनि पूर्ववत् निर्माण करे ॥ ७८ ॥

कालमाहुतिसंख्यां च होमद्रव्यप्रभूतताम् ।
ज्ञात्वैवमेकहस्तात् तु कुर्यादष्टकरावधि ॥ ७९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां यागकुण्डविधिर्नाम एकादशः परिच्छेदः ॥ ११ ॥

— ❦ —
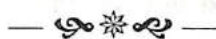
होमाधिक्यानुसारेण कुण्डविस्ताराभिवृद्धिमाह—कालमिति । अत्रैकहस्तादारभ्याष्टहस्तपर्यन्तमेकैकाङ्गुलवृद्ध्या नवषष्ट्युत्तरशतसंख्याकमानभेदा ज्ञेयाः । पारमेश्वरे द्वादशाङ्गुलमारभ्याष्टहस्तपर्यन्तमेकाशीत्यधिकशतसंख्याकमानभेदा उक्ताः—

आ द्वादशाङ्गुलान्मानादेकैकाङ्गुलवर्धनात् ।
द्विचतुर्हस्तपर्यन्तमेकाशीत्यधिकं शतम् ॥
एतेष्वेकतरं प्रोक्तमन्येषामेवमेव हि । (२६।२८-२९) इति ।

द्वादशाङ्गुलमारभ्य कुण्डमानाभिवृद्धिरवश्यमपेक्षिता । यतोऽत्र प्रतिष्ठाप्रकरणे–

ह्रासादङ्गुलयुग्मस्य यावद्वै षोडशाङ्गुलम् ।
स्यात् षट्करे गृहे कुण्डं कार्या वा मेखलाधिका ॥ (२५।१४)

इति षोडशाङ्गुलकुण्डमप्युक्तम् । एवमेतावत्संख्याकहोम एतावन्मानमितं कुण्डमिति व्यक्तमुक्तं जयाख्ये—

शतार्धसंख्याहोमे तु कुण्डं स्याद् द्वादशाङ्गुलम् ॥
होमे साष्टशते चैव मुष्ट्यरत्निसमं भवेत् ।
होमे चार्धशते चैव सारत्निः सकनिष्ठिकः ॥

हस्तं सहस्रहोमे तु अयुताख्ये द्विहस्तकम् ।
लक्षहोमे चतुर्हस्तं कोटिहोमेऽष्टहस्तकम् ॥
—(१५।१२-१४) इति ।

द्वादशाङ्गुलादिकुण्डानां मेखलाप्रमाणमपि तत्रैव स्पष्टमुक्तम्—

प्रमाणं मेखलानां च यवद्वादशसंमितम् ॥
द्वादशाङ्गुलमानस्य कुण्डस्य परिकीर्तितम् ।
विस्तारतुल्यमुच्छ्रायो मेखलानां महामते ॥
मेखलात्रितयं चैवमेकीकृत्य तु जायते ।
विस्तारस्तु ततोच्छ्रायः सार्धं तु चतुरङ्गुलम् ॥
रत्निमात्रस्य कुण्डस्य मेखला द्व्यङ्गुलाः स्मृताः ।
अङ्गुलं सकनिष्ठस्य कुण्डस्यार्धोत्तरं द्वयम् ॥
त्र्यङ्गुला हस्तमात्रस्य कुण्डस्य समता स्मृता ।
द्विहस्तस्य द्विजश्रेष्ठ मेखलाश्चतुरङ्गुलाः ॥
चतुर्हस्तस्य कर्तव्याः सर्वाश्चैव षडङ्गुलाः ।
अष्टाङ्गुलिश्च कुण्डस्य अष्टहस्तस्य कीर्तिताः ॥ (१५।१६-२१)

इति ॥ ७९ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये एकादशः परिच्छेदः ॥ ११ ॥

— ❀ —

काल, आहुति, संख्या, होम एवं द्रव्य की अधिकता को देखते हुए कुण्ड एक हाथ से लेकर आठ हाथ तक गहरा निर्माण किया जा सकता है ॥ ७९ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के यागकुण्डविधि नामक एकादश परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ ११ ॥

— ❀ —

द्वादशः परिच्छेदः

विभवदेवताध्यानम्

नारद उवाच

एवमाकर्ण्य स त्वेवं मुसली मुनिनायकाः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा पप्रच्छ जगतां पतिम् ॥ १ ॥

अथ द्वादशो व्याख्यास्यते । इह सङ्कर्षणो वासुदेवं विभवदेवध्यानं पप्रच्छेत्याह—एवमिति ॥ १ ॥

इस बारहवें परिच्छेद में सङ्कर्षण भगवान् वासुदेव से विभव देवताओं का ध्यान पूछते हैं । नारद ने कहा—हे मुनिनायकों ! इस प्रकार पूर्वोक्त वचनों को सुन कर सङ्कर्षण ने हाथ जोड़कर भगवान् से पूछा ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

यथाक्रमस्थितानां च मन्त्राणां लक्ष्मिनन्दन ।
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि सर्वेषां ध्यानलक्षणम् ॥ २ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—यथाक्रमस्थितानामिति । लक्ष्मीं नन्दयति सन्तोषयतीति लक्ष्मीनन्दनेति वासुदेवसम्बोधनम् ॥ २ ॥

सङ्कर्षण ने पूछा—हे लक्ष्मिनन्दन ! अब मैं यथाक्रम स्थित विभव देवताओं का ध्यान आपसे जानना चाहता हूँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रयाणां मुख्यपूर्वाणां ध्रुवान्तानां पुरोदितम् ।
शेषादीनां च शेषाणामिदानीमवधारय ॥ ३ ॥
ध्यानं पातालनिलयपर्यन्तानां यथास्थितम् ।

एवं पृष्टो भगवान् प्रत्याह—त्रयाणामिति सार्धेन । मुख्यपूर्वाणां विशाखयूपादीनामित्यर्थः । त्रयाणां विशाखायूपपद्मनाभध्रुवाणामित्यर्थः । पूर्वं नवमपरिच्छेदे—"विशाखायूपो भगवान् स्वयं विश्वसिसृक्षया" (९।४९) इत्यादिभिर्विशाखयूप-

ध्यानम्, ''इत्येवमादिः सर्वेषाम्'' (९।९६) इत्यादिभिः पद्मनाभध्रुवध्यानं च प्रतिपादितमित्यर्थः । शेषाणाम् अवशिष्टानामित्यर्थः । शेषादीनामनन्तादीनां पातालनिलयपर्यन्तानां पातालशाय्यन्तानां षट्त्रिंशद्विभवदेवानामित्यर्थः ॥ ३-४ ॥

एक एव जगन्नाथः स्वरूपाद्यैस्तु शक्तिभिः ॥ ४ ॥
नानात्वेनाप्यनन्तो यो भक्तानुग्रहकाम्यया ।
तस्याभिमानिकं रूपं शृणु सर्वेश्वरस्य तु ॥ ५ ॥

तत्रादावनन्तस्य रूपं शृण्वित्याह—एक इति सार्धेन ॥ ४-५ ॥

श्री भगवान् ने कहा—मैंने पूर्व के मुख्य-मुख्य तीन ध्रुवान्त (विशाखयूप, पद्मनाभ और ध्रुव) (द्र. ९.४९-९६) का ध्यान पूर्व में कह दिया है अब शेष अनन्तादिकों से प्रारम्भ कर पातालशायी पर्यन्त ३६ विभव देवताओं के ध्यान को सुनिए । एक ही जगन्नाथ अपनी शक्तियों से स्वरूपों से अनेक होने के कारण जो भक्तों पर अनुग्रह करने के लिय अनन्त नाम से अभिमानिक रूप धारण करते हैं उन सर्वेश्वर के स्वरूप को सुनिये ॥ ४-५ ॥

तुहिनाचलसंकाशं पूर्णचन्द्रसमाननम् ।
स्वमणिव्यञ्जितेनैव युक्तं फणगणेन तु ॥ ६ ॥
प्रोद्वहन्तं हलं चक्रमपसव्यद्वयेन तु ।
वामहस्तद्वयेनैव शङ्खं मुसलमेव च ॥ ७ ॥
नित्यसन्निहिताशेषशक्तिं सर्वज्ञमच्युतम् ।
मनस्यन्तर्मुखानां यत् कर्मिणां पूरयेच्च तत् ॥ ८ ॥

तस्य ध्यानप्रकारमाह—तुहिनेति त्रिभिः । शेषकृत्यं भगवत्कैङ्कर्यधुरीणमित्यर्थः । नन्वनेनानन्तस्य भगवदाविष्टत्वमात्रं ज्ञायते, न साक्षादवतारत्वम्, कथं तस्य मुख्यप्रादुर्भावेष्वन्तर्भाव इति चेन्न, भगवदधिष्ठितबद्धचेतनानामेव मुख्येष्वनन्तर्भावात् । अन्तर्मुखानां निजभक्तानां मनसि यद्वाञ्छितमस्ति, तत् पूरयेत् प्रयच्छेदित्यर्थः । अनन्तस्थानं तु श्रीविष्णुपुराणे—

आस्ते पातालमूलस्थः शेषोऽशेषसुरार्चितः ॥
तस्य वीर्यं स्वभावं च स्वरूपं रूपमेव च ।
नहि वर्णयितुं शक्यं ज्ञातं वा त्रिदशैरपि ॥
यस्य सा सकला पृथ्वी फणामणिशिखारुणा ।
आस्ते कुसुममालेव कस्तद्वीर्यं वदिष्यति ॥ (२।५।२०-२२)

इति ॥ ६-८ ॥

भगवान् अनन्त का स्वरूप तुहिन (बर्फ) के समान स्वच्छ है तथा चन्द्रमा के समान मुख है, जो अपने कण समूहों में स्थित मणि समूहों से सारी पृथ्वी

प्रकाशित कर रहे है, जो अपने अपसव्य (दाहिने) दो हाथों से हल और चक्र धारण किये हुए हैं और दोनों बायें हाथों से शङ्ख और मुशल धारण किये हुए है । सम्पूर्ण शक्तियाँ जिनके सान्निधान में है, जो सर्वज्ञ अच्युत हैं और जो मन में अन्तर्मुख जीवों की अभिलाषा पूर्ण करते हैं ॥ ६-८ ॥

१. शक्तीशध्यानकथनम्

शक्तीशोऽप्यथ सञ्चिन्त्यः पुण्डरीकनिभेक्षणः ।
इच्छारूपधरश्चैव सौम्यः प्रहसिताननः ॥ ९ ॥
व्यक्तये च फलादीनां भक्तानामनुकम्पया ।
पीडयन् स्वाङ्घ्रियुग्मेन वसुधां च करद्वयम् ॥ १० ॥
युगानुसारिकान्तिश्च चतुर्वक्त्रश्चतुर्भुजः ।
मूर्तचक्रगदाहस्तः अमूर्ताब्जाम्बुजाङ्कितः ॥ ११ ॥
शमं नयति सन्तापं कमलेनेन्दुकान्तिना ।
नानामन्त्रमयीं विद्यां व्यञ्जयत्यमलात्मनाम् ॥ १२ ॥
सम्यग् वाक्पतिना चैव कम्बुना शब्दमूर्तिना ।
आज्ञाप्रतीक्षकेणैव गदाचक्रद्वयेन तु ॥ १३ ॥
प्रेरितेन हिनस्त्याशु साधुसन्तापकारिणाम् ।
नारसिंहेन वक्त्रेण भवभीतिविघातकृत् ॥ १४ ॥
पुष्णाति सर्वभूतानि वाराहेणामृतात्मना ।
कुरुते पश्चिमस्थेन कापिलेनोपसंहृतिम् ॥ १५ ॥
भक्तिश्रद्धापराणां च स्मृतमात्रः सदैव हि ।
हृन्मध्ये गगने भूमौ वह्निमध्ये जलान्तरे ॥ १६ ॥
चतुर्णां ब्राह्मणादीनां स्वयमेवानुकम्पया ।
चातुरात्म्येन रूपेण चतुर्धा व्यक्तिमेति च ॥ १७ ॥
आत्मतुल्येन देहेन शङ्खपद्माङ्कितेन तु ।
मूर्तिमद्भिर्हलाद्यैस्तु युक्तेन वदनैर्विना ॥ १८ ॥
वर्णानुरूपवर्णेन समेनाप्यसमेन तु ।
अन्योन्यानुगतेनैव पूर्वोद्दिष्टेन नान्यथा ॥ १९ ॥

अथ शक्त्यात्मध्यानमाह—शक्तीश इत्येकादशभिः । इच्छारूपधरः, वक्ष्यमाणवाहनदेवीभुजास्त्रभेदैर्नानारूपधर इत्यर्थः । अमूर्ताब्जाम्बुजाङ्कितः, अमूर्तः = केवलरेखारूपः, अब्जः = शङ्खः, अम्बुजं = कमलम्, ताभ्यामङ्कितः । एवं शक्तीशावतारो व्यूहाद् विभवाद्वा संभवतीति बोध्यम् । यतोऽस्मिन्नेव परिच्छेदे वक्ष्यति—

चातुरात्म्यसमूहं तु यत्पद्मदलभूस्थितम्।
तथा विभवदेवानां मध्यात् पद्मदलेक्षण॥
एकस्त्वनुग्रहार्थं तु शक्त्यात्मा भावितात्मनाम्।
बिभर्ति बहुभेदोत्थं रूपं सद्वाहनस्थितम्॥(१२।१७५-१७६)

इति । अंशावतारत्वमेवोक्तमस्य सहस्रनाभभाष्ये—"अथांशावतारा युगानुसारिकान्तिश्चेति । एवं व्याप्तिनियमनादिशक्तिद्वारा विश्वस्य व्याप्तेर्विष्णुः, "सर्वशक्त्यात्मने" (सा०सं० २३।४८) इति मन्त्रवर्णात्" (पृ० ५३१) इति । एवं च त्रिमूर्तिष्वयमेकतम इति बोध्यम्, "नारायणावतारो यः शक्तीशो नाम नामतः" (८।१९) इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः ॥ ९-१९ ॥

अब **शक्तीश का ध्यान** कहते हैं—उन अंशावतार शक्तीश का ध्यान करना चाहिए; जिनका कमल के समान नेत्र है, जो इच्छानुसार रूप धारण करते हैं, सौम्य तथा प्रहसित मुख हैं, जो भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये उन्हें फलादि प्रदान करने के लिये अपने दोनों पैरों से तथा दोनों हाथों को तथा वसुधा को पीड़ित करते रहते हैं । उनकी कान्ति युगानुसार बदलती रहती है । उनकी चार भुजायें तथा मुख हैं । मूर्त्त रूप से चक्र और गदा हाथ में धारण किये हुए हैं और अमूर्त्त रूप से जल में उत्पन्न कमल धारण किये हुए हैं । जो चन्द्रमा के समान कान्ति वाले हैं और अपने कमल से सबके सन्ताप को शमन करते हैं । इतना ही नहीं जो अमलात्मा महात्माओं में नानामन्त्रमयी विद्या प्रकाशित करते हैं । जो वाक्पति शब्दमूर्त्ति शङ्ख से प्रेरित होने पर आज्ञा प्रतीक्षक के समान अपनी गदा तथा अपने चक्र इन दोनों से साधुओं को सन्ताप देने वालो को नष्ट कर देते हैं और अपने नरसिंह के मुख से सारे संसार का भय दूर करने वाले है । अमृतात्मना अपने वाराहमुख से सारे प्राणियों का पोषण करते हैं । पश्चिमस्थ कापिल मुख (अग्नि) से सब का उपसंहार करते हैं । भक्ति और श्रद्धा युक्त अमलात्मा महात्माओं द्वारा स्मरण किये जाने पर हृदय के मध्य में, आकाश मण्डल में, भूमि में, आग के मध्य में तथा ब्राह्मणादि चारों वर्णों पर अनुकम्पा के लिये अपने चातुरात्म्य रूप से चार प्रकार से प्रगट हो जाते हैं । जो शङ्ख, पद्माङ्कित अपने शरीर के समान जो बिना मुख के भी मूर्त्तिमान हलादि से युक्त होकर वर्णानुरूप वर्ण से, सम रूप से अथवा विषम रूप से अन्योन्यानुगत के समान पूर्वोदिष्ट रूप से प्रगट हो जाते हैं ॥ ९-१९ ॥

२. मधुसूदनध्यानकथनम्

प्रलयानलसूर्याभः स्मर्तव्यो मधुसूदनः ।
अष्टबाहुर्विशालांसोऽप्यग्निष्टोमकराङ्कितः ॥ २० ॥
शङ्खचक्रधरश्चैव बाणकार्मुकधृक् तथा ।
रजस्तमोभ्यां मूर्ताभ्यां सम्प्रवृत्तिनिवृत्तये ॥ २१ ॥

कर्णपीठनिविष्टं च ध्येयं पाणियुगं विभोः ।

अथ मधूसूदनध्यानमाह—प्रलयानलेति सार्धद्वाभ्याम् । अस्यावतारस्य प्रादुर्भावान्तरत्वमुक्तं पौष्करे—

मधुकैटभमाथी च प्रादुर्भाविश्वरस्य च ।
प्रादुर्भावान्तरं विद्धि पद्मनाभस्य वै विभोः ॥ —(३६।२१४) इति ।

अस्य स्थानमप्युक्तं तत्रैव—

मधुकैटभमाथी च संस्थितः सोऽवनीतले ॥
क्षीरोदकक्षितिक्षेत्रे सुरासुरनिषेविते ।—(३६।३४३-३४४)

इति ॥ २०-२२ ॥

अब **मधुसूदन का ध्यान** कहते हैं—प्रलयकालीन ऐसे शक्तीश का ध्यान करना चाहिए जो अग्नि तथा सूर्य के समान देदीप्यमान, अष्टबाहु, विशाल कन्धे वाले तथा अग्निष्टोम कराङ्कित मधुसूदन हैं । जो मूर्त्तिमान रज तथा तम की प्रवृत्ति के लिये शङ्ख, चक्र तथा बाण और धनुष धारण किये हुए हैं तथा जो अपने कर्णपीठ पर अपने दोनों हाथों को रखे हुए हैं, ऐसे मधुसूदन का ध्यान करना चाहिए ॥ २०-२२ ॥

३. विद्याधिदेव ध्यानकथनम्

विद्याधिदेवं भगवच्चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम् ॥ २२ ॥
लम्बकूर्चं जटादण्डकमण्डल्वक्षसूत्रिणम् ।
फुल्लरक्ताम्बुजाभासं श्वेतपद्मकराङ्कितम् ॥ २३ ॥

अथ विद्याधिदेवध्यानमाह—विद्याधिदेवमिति सार्धेन । यद्यपि चतुर्वक्त्रमित्यस्य श्रुतीर्वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमित्यस्य चैककण्ठ्याद् "वेदविदे" (सा० सं० २३।५०) इति विद्याधिदेवमन्त्रवर्णलिङ्गाद् उत्तरत्र स्मरेद् ध्यायेदिति पौनरुक्त्यप्रसङ्गासंभवाच्च "श्रुतीर्ऋगाद्या वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमतः स्मरेत्" (१२।२४) इति वाक्यस्यापि पूर्वेणान्वयः स्वरसः, तथापि सर्वज्ञैः श्रीमत्पराशरभट्टारकैः सहस्रनामभाष्ये (पृ० ४८३) तस्य वाक्यस्य कपिलध्यानपरत्वेनोत्तरत्र योजितत्वादस्मादृशैस्तच्चलयितुं न शक्यम् । किञ्च, यद्यप्यस्य विद्याधिदेवस्य चतुर्वक्त्रत्वजुटाकमण्डल्वक्षसूत्रधरत्वादिलक्षणानामुक्तत्वादयं विरिञ्चिरिति ज्ञायते, तथापि सहस्रनामभाष्ये (पृ० १८३) नियमेन तेषां ब्रह्मादीनां भगवदवतारगणनास्वपरिगणनात्, देवमनुष्यादिवत्, सृष्टिप्रकरणेषु सृज्यतया परिगणनात्, प्रत्युत तेषां प्रादुर्भाविभ्यो भेदव्यपदेशात्, प्रादुर्भावविलक्षणेन प्रादुर्भावान्तरशब्देन निर्देशात्, भगवद्विभूतिलेशोद्भवत्वतत्प्रादूर्भावविशेषाधीनप्रवृत्तित्वादिव्यवहाराच्च ब्रह्मणः प्रादुर्भावत्वं निह्नुतम् । किञ्च,

कालो वियन्नियन्ता च शास्त्रं नानाङ्गलक्षणम् ।
विद्याधिपतयश्चैव सरुद्रः सगणः शिवः ॥

प्रजापतिसमूहस्तु इन्द्र सपरिवारकः । —(९।९१-९२)

इत्यादिपूर्वोक्तभवोपकरणदेवतावर्ग एव प्रजापतिसमूह इत्यत्र चतुर्मुखस्याप्यन्त-र्भावश्चोक्तः । तस्मात् "परमात्मने" (सा०सं० २३।५१) इति मन्त्रवर्णलिङ्गाच्च नायं विद्याधिदेवो विरिञ्चिः, अपि तु साक्षात् प्रादुर्भाव इति ज्ञेयम् ।

ननु पौष्करे—

मधुकैटभमाथी च प्रादुर्भाविश्वरस्य च।
प्रादुर्भावान्तरं विद्धि पद्मनाभस्य तद्विभोः ॥ —(३६।२१४)

इत्यादिभिर्मधुसूदनादीनामपि प्रादुर्भावान्तरत्वं बहुशः कण्ठरवेणोक्तम् । किं तावता तेषामपि प्रादुर्भावत्वविरोध इति चेन्न, समुच्चितैः पूर्वोक्तैर्हेतुभिश्चतुर्मुखादीनां प्रादुर्भावत्वविरोधात्, मधुसूदनादिषु तथाविधहेतुसमुच्चयस्यानवकाशाच्च ॥२२-२३॥

विद्याधिदेव का ध्यान—चार भुजा, चार मुख वाले लम्बे कूर्च (दाढ़ी), जटा, दण्ड, कमण्डल तथा अक्षमाला धारण किये हुए, विकसित रक्त कमल के समान कान्ति वाले, हाथ में श्वेत पद्म धारण किये हुए विद्याधिदेव का स्मरण करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

४. कपिलध्यानकथनम्

श्रुतीर्ऋगाद्या वक्त्रेभ्यः प्रोद्गिरन्तमतः स्मरेत् ।
निर्धूमाङ्गारवर्णाभं शङ्खपद्माक्षसूत्रिणम् ॥ २४ ॥
फुल्लरक्ताब्जविभवं देवताद्यात्मसूत्रकम् ।
ध्यायेदभयपाणिं तं कपिलं तेजसां निधिम् ॥ २५ ॥

अथ कपिलध्यानमाह—श्रुतीरिति द्वाभ्याम् । वक्त्रेभ्य इति पूजायां बहुवचनं बोध्यम् । यद्वा तस्याप्यैच्छिकं चतुर्मुखत्वं वक्तव्यम् । अस्य श्रुतिप्रवर्तकत्वं तु सहस्र-नामभाष्य एव प्रतिपादितम्, "सत्यवृत्तिस्त्रिविक्रमः । महर्षिः कपिलाचार्यः" (५७-५८ श्लो०) इत्यत्र— "ईदृशेन महामहिम्ना वाच्येन विक्रान्तत्रिवेदस्त्रिविक्रमः ।

त्रिरित्येवं त्रयो वेदाः कीर्तिता मुनिसत्तमैः ।
क्रमसे तांस्तथा सर्वान् त्रिविक्रम् इति स्मृतः ॥" (पृ० ४८१)

इति, "यथोक्तवेददर्शनान्महर्षिः" (पृ० ४८२) इति च । अस्य पातालतलवा-सित्वं सुप्रसिद्धम् । अर्चारूपस्थानं तु पौष्करे—

प्राक्समुद्रापयाने तु भूभागे शुभलक्षणे ॥
कापिलीं मूर्तिमासाद्य वासुदेवः स्थितः प्रभुः । (३६।३५७-३५८)

इति प्रतिपादितम् ॥ २४-२५ ॥

अब **कपिल का ध्यान** कहते हैं—वेद की ऋचाओं का स्मरण करते हुए, विधूम अग्नि के समान तेजस्वी शङ्ख, पद्म एवं अक्षमाला धारण किये हुए,

विकसित रक्त वर्ण के समान तेजस्वी आत्मज्ञानी, आदिदेव, अभयपाणि तथा तेजोनिधि कपिल का ध्यान करे ॥ २४-२५ ॥

५. विश्वरूपध्यानकथनम्

योऽन्तः सर्वेश्वरो देवःसाक्षिभूतो व्यवस्थितः ।
स्फटिकोपलवद् भावान् स्वशक्त्युत्थान् बिभर्ति च ॥ २६ ॥
अविद्याविष्कृतानां तु भक्तानां सत्पदाप्तये ।
तमनादिं जगन्नाथं बहिः स्थूलतरात्मनाम् ॥ २७ ॥
द्यावापृथिव्योरन्तःस्थं विश्वरूपमनुस्मरेत् ।
अनेकवक्त्राङ्घ्रिकरम् अनेकमकराङ्कितम् ॥ २८ ॥
यद्यप्यनेकवदनम् अनेकभुजभूषितम् ।
तथापि वै त्रयस्त्रिंशद् वदनैर्विविधैर्युतम् ॥ २९ ॥
चतुरभ्यधिकैर्दिव्यैश्चत्वारिंशन्महाभुजैः ।
ब्रह्मरुद्रेन्द्रदक्षार्कचन्द्रसिद्धास्तथा श्रुतिः ॥ ३० ॥
पौरुषस्य तु वक्त्रस्य चोर्ध्ववक्त्रस्थितास्त्वमी ।
पिशाचाग्निमरुच्छेलद्वीपगन्धर्ववारिभिः ॥ ३१ ॥
वक्त्रैरूर्ध्वस्थितैर्ध्यायेद् दक्षिणं वदनं विभोः ।
पातालदिङ्महामेघलोकराशिग्रहोत्थितैः ॥ ३२ ॥
वक्त्रैस्तारासमेतैस्तु ध्यायेद् वक्त्रं तु पश्चिमम् ।
यक्षान्तकाम्बुनागाद्यैर्वसुनक्षत्रगोगणैः ॥ ३३ ॥
वक्त्रैर्वराहवक्त्रोर्ध्वस्थितैर्ध्यायेच्च दक्षिणम् ।
पद्माद्यं चातुरात्मीयमस्त्राणां दशकं महत् ॥ ३४ ॥
प्रोच्छ्रितं हि सुवर्णाद्यं तल्लाञ्छनचतुष्टयम् ।
लोकेशास्त्राष्टकं चैव पुस्तकं चाक्षसूत्रकम् ॥ ३५ ॥
दर्वी कमण्डलुर्हैमश्चाभयं हि वरान्वितम् ।
दर्भाजिनं ततश्छत्रं सुशुभं चामरं सितम् ॥ ३६ ॥
स्रुक्स्रुवौ चापि कलशौ वेदिर्वह्निसमन्विता ।
चन्द्रार्कमण्डले पूर्णे नागेन्द्रो मणिदर्पणः ॥ ३७ ॥
पुष्पस्रग् व्यजनं दिव्यं विश्वपत्रलता तथा ।
स्मर्तव्यास्तु भुजेष्वस्य विभोः संस्थानकैः समैः ॥ ३८ ॥
यथोदितक्रमेणैव व्यत्ययो न भवेद् यथा ।
भाभिर्नानाप्रकाराभिर्देहोत्थाभिरिदं जगत् ॥ ३९ ॥

भासयन्तं जगन्नाथं स्मरेद् हृत्कमलादिषु ।

अथ विश्वरूपध्यानमाह—योऽन्तः सर्वेश्वरो देव इत्यारभ्य स्मरेद् हृत्कमलादिष्वित्यन्तम् । प्राङ्मुखस्य पौरुषस्य वक्त्रस्योर्ध्वे ब्रह्मादिश्रुत्यन्तवक्त्राष्टकम्, दक्षिणस्य नारसिंहवक्त्रस्योर्ध्वे पिशाचादि(वारि)पर्यन्तवक्त्रसप्तकम्, पश्चिमस्य कपिलवक्त्रस्योर्ध्वे पातालादितारान्तवक्त्रसप्तकम्, औत्तरस्य वाराहवक्त्रस्योर्ध्वे यक्षादिगोगणान्तवक्त्रसप्तकम्, आहत्य त्रयस्त्रिंशद्वक्त्राणि ज्ञेयानि । तारासमेतैरित्यत्र ताराशब्देन अश्विन्यादिप्रधाननक्षत्राणि, नक्षत्रशब्देन तदन्यानि नक्षत्राणि ज्ञेयानि, अन्यथा पौनरुक्त्यात् । एवं वारिभिरित्यत्र वारिधिर्विवक्षणीयः । अम्बुशब्देन केवलमुदकं विवक्षणीयम् । नागाद्यैरित्यत्र नागानामाद्यः प्रथमोऽनन्त इत्यर्थः । चातुरात्मीयं वासुदेवादिव्यूहीयमित्यर्थः । पद्माद्यमस्त्राणां दशकं पद्मशङ्खचक्रगदाखड्गलाङ्गलमुसलशरशार्ङ्गखेटाख्यमायुधदशकमित्यर्थः । एतेषामायुधानां पूर्वं जाग्रद्व्यूहवासुदेवचतुर्मूर्तिलाञ्छनत्वेनोक्तत्वाच्चातुरात्मीयत्वं सुस्पष्टम् । लोकेशास्त्राष्टकं तु वज्रशक्त्यादिकं प्रसिद्धमीश्वरादिषु (९।११६-११७) प्रतिपादितं च । विश्वरूपस्थानं तु श्रीपौष्करे—

श्वेतद्वीपे कुरुक्षेत्रे हिमवन्ताचलेऽब्जज ।
वेदिकायामपि तटे विश्वरूपः स्थितः प्रभुः ॥ (३६।३३७)

इति ॥ २६-४० ॥

अब **विश्वरूप का ध्यान** कहते हैं—जो सर्वेश्वर सभी के अन्तःकरण में साक्षात् रूप से स्थित है, स्फटिक मणि के समान स्वशक्ति से उठे हुए भावों को धारण करते हैं, अविद्याग्रस्त भक्तों को सन्मार्ग बताने के लिये जो उद्यत रहते हैं, जो स्थूलतर आत्माओं के बाहर हैं और जो द्यावापृथिवी के अन्तराल हैं, ऐसे अनादि जगन्नाथ का विश्वरूप के रूप में स्मरण करे । जो अनेक मुख, अनेक चरण और अनेक हाथों वाले हैं । अनेक मकर चिह्नों से युक्त हैं । यद्यपि उनके अनेक मुख हैं और अनेक भुजाओं से वे भूषित हैं, फिर भी वे मुख्य रूप से विविधाकार तैंतीस मुखों से युक्त है तथा ४४ दिव्य भुजाओं वाले है ॥ २७-३० ॥

उनके पूर्व स्थित पौरुष वक्त्र के ऊपर ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, दक्ष, अर्क, चन्द्रमा, सिद्ध तथा श्रुति ये आठ देवता स्थित हैं । दक्षिण नारसिंह वक्त्र के ऊपर पिशाच, अग्नि, मरुत्, शैल, द्वीप, गन्धर्व और वारि ये सात देवयोनियाँ स्थित हैं । पश्चिम कपिल वक्त्र के ऊपर पाताल, दिक्, महामेघ, लोक, राशि, ग्रह एवं तारादि सात मण्डल स्थित हैं । उत्तर वाराह वक्त्र के ऊपर यक्ष, अन्तक, अम्बु, नाग, वसु, नक्षत्र और गोगण ये सात स्थित हैं । तारा, नक्षत्रादि मिलाकर कुल ३३ वक्त्र हो जाते हैं । वासुदेवादि चार व्यूह और पद्मादि दश, अस्त्र, वासुदेवादि चतुमूर्त्ति, लाञ्छन, लोकेश, अस्त्राष्टक, वज्रादि, पुस्तक, अक्षसूत्र, दर्वी, कमण्डल, अभय, वर, दर्भ, अजिन, मनोहर छत्र, श्वेत चामर, स्रुक्-स्रुवा, दो कलश, वेदी, वह्नि, पूर्ण चन्द्रार्क मण्डल, नागेन्द्र, मणिदर्पण, पुष्पमाला, दिव्य व्यञ्जन, विश्वपत्र तथा लता—ये सभी भगवान् की भुजाओं में यथास्थान सन्निविष्ट

हैं । अतः इन सभी से समन्वित भगवान् की भुजा का स्मरण करे । जैसा कहा गया है साधक उसी प्रकार स्मरण करे, जिससे व्यत्यय न हो । इस प्रकार जो शरीर से उठी हुई अपनी नाना प्रकार की कान्ति से सारे जगत् को भासित करते हैं ऐसे जगन्नाथ का हृदय-कमल आदि में ध्यान करे ॥ २४-४० ॥

६. हंसध्यानकथनम्

हंसमूर्तिमथात्मानं ज्ञानयज्ञभुजं स्मरेत् ॥ ४० ॥
कुन्देन्दुस्निग्धकान्तिं च हेमतुण्डं महातनुम् ।
रजस्तमोऽङ्घ्रिं सत्सत्त्वविग्रहं परमेश्वरम् ॥ ४१ ॥
धर्माधर्मेक्षणं ध्यायेदग्नीषोमात्मकेन तु ।
दक्षिणोत्तरसंस्थेन पक्षयुग्मेन राजितम् ॥ ४२ ॥
बहिस्तमेवोदकस्थं तुहिनाचलसन्निभम् ।
ध्यात्वाऽर्चयेत् तु विधिवद् हंसविग्रहमच्युतम् ॥ ४३ ॥

अथ हंसध्यानमाह—हंसेति सार्धैस्त्रिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे— "सिद्धामरार्चितं विद्धि श्वेतद्वीपे तु हंसराट्" (३६।३१७) इति ॥ ४०-४३ ॥

अब **हंस स्वरूप का ध्यान** कहते हैं—ज्ञान रूप यज्ञ की भुजा वाले, कुन्द इन्द्र के समान श्वेत कान्ति वाले, स्वर्ण के समान तुण्ड से युक्त एवं रज-तम स्वरूप चरणों वाले, सत्सत्त्व विग्रह वाले, धर्मा-धर्म नेत्रों वाले, दक्षिण-उत्तर अग्निषोमात्मक दो पङ्खों से सुशोभित, उदक में निवास करने वाले, हिमालय के समान सर्वत्र श्वेत वर्ण उन परमेश्वर हंस रूप विग्रह वाले अच्युत का विधिवत् ध्यान कर साधक को पूजन करना चाहिये ॥ ४०-४३ ॥

७. वराहध्यानकथनम्

बहिर्द्रव्यमयस्त्वेकः सामान्येनैकलक्षणः ।
सम्यङ्निर्वर्तितः स्वर्गं पूर्वमृच्छति चार्थिनाम् ॥ ४४ ॥
अन्तर्वेद्यां चतुर्धा यस्त्वेक एव महामखः ।
तपोयागजपध्यानस्वरूपः शश्वदेव हि ॥ ४५ ॥
याजिनामपवर्गं तु विदधाति समापनात् ।
तं यज्ञपुरुषं ब्रह्म वासुदेवमजं हरिम् ॥ ४६ ॥
ध्यायेद् वै सूकारात्मानमञ्जनाद्रिसमप्रभम् ।
यज्ञाङ्गचिह्निताङ्घ्रिं च महाव्याहृतिदंष्ट्रिणम् ॥ ४७ ॥
भूर्भुवः स्वः शरीरं च शब्दब्रह्मैकमानसम् ।
निर्णुदन्तं प्रपन्नानामविद्यापङ्कमञ्जसा ॥ ४८ ॥

वैद्येन पोत्रप्रान्तेन त्वक्षयेनामलेन च ।

अथ वराहध्यानमाह—बहिर्द्रव्यमय इत्यादिभिः । वैद्येन = विद्यामयेन । पोत्र-प्रान्तेन वराहवक्त्राग्रेणेत्यर्थः । एवं यज्ञाङ्गदेहत्वं विष्णुपुराणेऽपि स्पष्टमुक्तम्—

पादेषु वेदास्तव यूपदंष्ट्र दन्तेषु यज्ञाश्चितयश्च वक्त्रे ।
हुताशजिह्वोऽसि तनूरुहाणि दर्भाः प्रभो यज्ञपुमांस्त्वमेव ॥
विलोचने रात्र्यहनी महात्मन् सर्वात्मदं ब्रह्मपदं शिरस्ते ।
सूक्तान्यशेषाणि सटाकलापो घ्राणं समस्तानि हवींषि देव ॥
स्रुक्तुण्ड सामस्वरधीरनाद प्राग्वंशकायाखिलसत्रसन्धे ।
पूर्तेष्टधर्मश्रवणोऽसि देव सनातनात्मन् भगवन् प्रसीद ॥ इति ।
—(१।४।३२-३४)

अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

"सौकरीयेन रूपेण क्षेत्रे तत्संज्ञके तु वै" (३६।३१९)

इति ॥ ४४-४९ ॥

बाहर से एकद्रव्यमय, सामान्य रूप से एक लक्षण वाले, जो अर्थी जनों के लिये पूर्व में स्वर्ग का निर्माण कर देते हैं, जो हैं तो एक ही महामख किन्तु अन्तर्वेदी में होतादि चार स्वरूप हो जाते हैं । जो निरन्तर तप, याग, जप, ध्यान स्वरूप वाले हैं, जो समापन होने पर यज्ञ कर्त्ताओं को अपवर्ग प्रदान करते हैं । उन यज्ञ पुरुष, ब्रह्मस्वरूप अज, हरि, वासुदेव, अञ्जन-पहाड़ की तरह कान्तिमान सूकर शरीरधारी भगवान् का ध्यान करे । जिनका पैर यज्ञाङ्ग से चिह्नित है और महाव्याहृतियाँ जिनकी दंष्ट्रा है, भूर्भुवः स्वः जिनका विग्रह है, एक शब्द-ब्रह्म ही जिनका मन है, जो शरणागतों के अविद्या रूप पङ्क को अपने अक्षय एवं अमल वक्त्र के अग्रभाग से अकस्मात् दूर कर देते हैं उन वाराह भगवान् का ध्यान करना चाहिये ॥ ४४-४९ ॥

८. वडवानलध्यानकथनम्

वासनावासितानां च जीवानां भवशान्तये ॥ ४९ ॥
महाविभूतिर्भगवान् पूर्णषाड्गुण्यविग्रहः ।
स्वकाच्छान्ततराद् ब्रह्मतत्त्वादादाय चाञ्जलिम् ॥ ५० ॥
करोति सेचनं दोषदग्धानां च स्वतेजसा ।
स्थूलरूपेण तमजं बहिराराधनाविधौ ॥ ५१ ॥
आध्मातं वायुना यद्वन्निर्धूमाङ्गारपर्वतम् ।
ध्यायेत् तद्वन्महादीप्तं वाजिवक्त्रमलाच्छनम् ॥ ५२ ॥
बद्धब्रह्माञ्जलिं कस्थं द्रवत्कनकलोचनम् ।
घोणाग्रेणाहरन्तं च त्रैलोक्योत्थं जलेन्धनम् ॥ ५३ ॥

कृत्वा तद् भस्मसात् सम्यक् स्फूक्कुर्वन्तं मुखेन तु ।

वडवानलध्यानमाह—महाविभूतिरित्यादिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—"अश्वात्मा वडवामुखे" (३६।३१८) इति ॥ ५०-५४ ॥

अब **वड़वानल का ध्यान** कहते हैं—अविद्या वासना वासित जीवों के भवशान्ति के लिये जो महाविभूति भगवान् षाड्गुण्य विग्रह रूप धारण करते हैं। जो आज भवाग्निरूप दोष से दग्ध जीवों के दोष को स्थूल रूप से धारण कर, अपने तेज से एवं ब्रह्मतत्त्व रूप स्वच्छ अन्तरात्मा द्वारा जलाञ्जलि भर कर उससे उस दोष को शान्त कर देते हैं। जिस प्रकार निर्धूम अङ्गार-पर्वत वायु से आध्मात होने पर प्रदीप्त हो जाता है, उसी प्रकार बाहर स्थूल रूप से आराधना करने पर जो अज प्रदीप्त हो जाते हैं, जिन्होंने ब्रह्माञ्जलि बाँध ली है, जिनके सुवर्णमय लोचन द्रवीभूत हो रहे हैं और जो घोण के अग्रभाग से त्रैलोक्य से उत्पन्न जलेन्धन को जला रहे हैं, इस प्रकार (मोह रूप) इन्धन को भस्म कर मुख से जो फूत्कार कर रहे हैं, उस वड़वामुख वाले अज का ध्यान करना चाहिये ॥ ५०-५४ ॥

९. धर्मध्यानकथनम्

धर्मसामान्यममलमनादिनिधनं विभुम् ॥ ५४ ॥
दुर्लभं यत् प्रबुद्धानां यत्प्रसादधिया विना ।
तस्य स्थूलतरं रूपं शृणु तत्प्राप्तये परम् ॥ ५५ ॥
तुहिनाचलसंकाशं सौम्यवक्त्रं चतुर्भुजम् ।
कामार्थावुद्वहन्तं च शङ्खपद्मच्छलेन तु ॥ ५६ ॥
साधुमार्गे स्थितानां तु संयच्छन्तं धिया च तौ ।
सिताक्षमालं धर्मं तु वरपाणिमतः स्मरेत् ॥ ५७ ॥

अथ धर्मध्यानमाह—धर्ममिति सार्धैस्त्रिभिः । तौ कामार्थावित्यर्थः, कामार्थावुद्वहन्तमिति पूर्वोक्तेः । अनेन प्रसिद्धस्यैव धर्मस्य भगवदवतारत्वमिति न भ्रमितव्यम्, तस्य तदुपकरणत्वमात्रात् । तथा च सहस्रनामभाष्ये—"तच्छीलभगवदुपकरत्वाद्धि प्रसिद्धस्यापि धर्मस्य ताच्छील्यमिति, प्रसिद्धोऽपि धर्मोऽस्य सर्वसाधारणोपकरमिति धर्मी" (पृ० ४३५) इति । किञ्च,

धर्मात्मा भगवान् विष्णुः प्रादुर्भावं च शाश्वतम् ।
प्रादुर्भूतं हि वै यास्मान्नराद्यं कृष्णपश्चिमम् ॥
सपञ्चकालषट्कर्ममखधर्मैः समन्वितम् ।
जपध्यानसमोपेतमेवं यः पाति सर्वदा ॥
चतुर्मूर्तिमयो विप्र नरो नारायणो हरिः ।
कृष्णसंज्ञश्च भगवान् प्रादुर्भावान्तरं विभोः ॥
—(३६।२०७-२०९) इति,

धर्ममूर्तिर्महात्मा वै धर्मारण्ये सुरार्चिते ।
अनुग्रहपरस्त्वास्ते लोकानां लोकपूजितः ॥ (३६।३३२)

इति च श्रीपौष्करे सुस्पष्टं प्रतिपादितम् ॥ ५४-५७ ॥

अब **धर्म का ध्यान** कहते हैं—जो सामान्य अमल, अनादि, विभु हैं । जिनकी प्रसन्नता के बिना प्रबुद्ध जन भी जिन्हें नहीं प्राप्त कर पाते, उनके स्थूल रूप को उनकी प्राप्ति के लिये, हे सङ्कर्षण ! आप सुनिए । जो हिमालय के समान स्वच्छ हैं, जिनका मुख्य सौम्य है, जिनकी चार भुजायें हैं, जो शङ्ख एवं पद्म के बहाने से काम और अर्थ धारण किये हुए हैं, जो साधुमार्ग में स्थित जनों के अर्थ एवं काम को बुद्धि से नियन्त्रण करते हैं ऐसे वरदपाणि, श्वेत, अक्षमाला धारण करने वाले भगवान् धर्म का स्मरण करना चाहिये ॥ ५४-५७ ॥

१०. हयग्रीवध्यानकथनम्

वाङ्मयं निखिलं यस्य वस्तुजातमनश्वरम् ।
शक्तित्वेन स्वभावस्थं चिद्रूपस्यामलद्युतेः ॥ ५८ ॥
वरवाजिमुखं ध्यायेदथ वागीश्वरं विभुम् ।
सूर्यकान्ताग्निसंकाशमनेकभुजभूषितम् ॥ ५९ ॥
कमलं चाक्षसूत्रं च वेदिं त्रेताग्निभूषिताम् ।
साज्यधारौ स्रुक्स्रुवौ तु विष्टरं सोमसंयुतम् ॥ ६० ॥
दर्भाजिनं मेखलां चाप्यपसव्येषु षट्स्वमी ।
स्मरेद् वामकरेष्वस्य पुस्तकं शङ्खमेव च ॥ ६१ ॥
दण्डं कमण्डलुं दर्वीमेकस्मिंस्त्रितयं करे ।
पूर्णं ग्राम्यैस्तथारण्यैश्चरुबीजैस्तु पञ्चमे ॥ ६२ ॥
स्रुङ्मूलफलपत्रैस्तु यज्ञद्रव्यैः सदक्षिणैः ।
सर्वाश्रमोपकरणैर्युक्तं चमसभाजनम् ॥ ६३ ॥
ध्येयमस्य भुजे षष्ठे वृत्तभूतैर्ऋग्गादिभिः ।
वेदाङ्गैरुपवेदैस्तु संस्कारैः समखैस्तथा ॥ ६४ ॥

अथ हयग्रीवध्यानमाह—वाङ्मयमित्यादिभिः । सोमसंयुतं सोमलतान्वितमित्यर्थः । ग्राम्यारण्यबीजभेदास्त्वीश्वरपारमेश्वरयोर्हविःपाकप्रकरणे प्रतिपादिता द्रष्टव्याः । विष्णुपुराणे च—

व्रीहयः सयवा माषा गोधूमा अणवस्तिलाः ।
प्रियङ्गुसप्तमा ह्येते अष्टमास्तु कुलुत्थकाः ॥
श्यामाकास्त्वथ नीवारा जर्तिलाः सगवेधुकाः ।
तथा वेणुयवाः प्रोक्तास्तद्वन्मर्कटका मुने ॥

ग्राम्यारण्याः स्मृता ह्येता ओषध्यस्तु चतुर्दश ।

—(१।६।२४-२६) इति ।

एतैर्बीजैः पूर्णं पात्रं चतुर्थे, यज्ञद्रव्यैः पूर्णं पात्रं पञ्चमे, आश्रमोपकरणैर्युक्तं चमसभाजनं षष्ठे हस्ते च ध्येयम् । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—''कृष्णाश्वेऽश्वशिरोदेवो क्षितिक्षेत्रे ममार्चिते'' (३६।३२१) इति ॥ ५८-६४ ॥

अब **हयग्रीव का ध्यान** कहते हैं—जो चिद्रूप, अमलद्युति, समस्त वाङ्मय रूप, समस्त वस्तुजात रूप, अनश्वर हैं और जिनकी शक्ति से वे अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं, उन अश्व के समान मुख वाले विभु वागीश्वर का ध्यान करना चहिये । जो सूर्यकान्ता अग्नि के समान हैं, जो अनेक भुजाओं से भूषित हैं। कमल, अक्षसूत्र, त्रेताग्नि से भूषित वेदी वाले, साज्य, आधार, स्रुक्-स्रुवा एवं विष्टर, सोमलता, दर्भ, अजिन मेखला अपने ६ दाहिने हाथों में तथा ६ बायें हाथों में पुस्तक, शङ्ख, दण्ड, कमण्डल, दर्वी, तीन हाथों में बीजों से पूर्ण पात्र, चतुर्थ में यज्ञद्रव्यों से पूर्ण पात्र, पञ्चम हाथ में आश्रमोपकरण से युक्त चमस और भाजन बायें षष्ठ हाथ में लिये हुए हैं । इनके छठे हाथ वृत्ति के उपकरण भूत, ऋगादि, वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, संस्कार तथा मख से संयुक्त हैं ऐसे हयग्रीव का ध्यान करना चाहिए ॥ ५८-६४ ॥

११. एकार्णवशायीध्यानकथनम्

विकारवसुधाधारे ह्यभावे तु गुणोदधौ ।
स्वशक्तिभावितं कृत्वा मनःपूर्वं चतुष्टयम् ॥ ६५ ॥
प्रकृत्यन्तं समास्ते यः सर्वज्ञः पुरुषात्मना ।
निषण्णं भोगिशय्यायां तपनीयरुचिं स्मरेत् ॥ ६६ ॥
देवमर्णवशाय्याख्यं मूर्तैश्चक्रादिकैर्वृतम् ।
लक्ष्म्या संवाह्यमानं च समाक्रान्तं च निद्रया ॥ ६७ ॥
वीज्यमानं हि वै प्रीत्या गीयमानं हि विद्यया ।

एकार्णवशायिध्यानमाह—विकारेति सार्धैस्त्रिभिः । मनःपूर्वं चतुष्टयं मनोबुद्ध्यहङ्कारप्रकृतिचतुष्टयमित्यर्थः । अस्य लक्ष्म्यादिशक्तिचतुष्टयान्वितत्वं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि प्रतिपादितम्—

अवतारो हि यो विष्णो सिन्धुशायीति संज्ञितः ।
स्थितोऽहं परितस्तस्य चतुर्धा रूपमेयुषी ॥
लक्ष्मीर्निद्रा तथा प्रीतिर्विद्या चेति विभेदिनी ।

—(८।३०-३१) इति ।

ननु किमयं चतुर्मुखरूपो भगवदवतारः । यतः श्रीविष्णुपुराणे—

एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः ।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः ॥ (१।३।२४)

इति ब्रह्मण एवैकार्णवशायित्वं प्रतिपादितमिति चेन्न, यतो ब्रह्मणोऽप्याधारभूतोऽयमर्णवशाय्यवतारः । ब्रह्मणस्तु तदानीं तन्नाभिकमलशायित्वम् । भोगिशय्यागतवचनं तु "भगवन्नाभिसरोरुहव्यवधानसहम्" (१।३।२४) इति विष्णुचित्तीये प्रतिपादितम् ॥ ६५-६८ ॥

अब **एकार्णवशायी का ध्यान** कहते हैं—विकार रूप वसुधाधार में तथा गुणसमुद्र में, मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्रकृति, को जो सर्वज्ञ अपने पुरुषार्थ से प्रभावित कर सर्पशय्या पर स्थित हैं, जो मूर्त्तिधारी चक्रादि आयुधों से घिरे हुए हैं, लक्ष्मी जिनकी सेवा कर रही हैं, जो स्वयं निद्रा से समाक्रान्त हैं, प्रीति जिन्हें पङ्खा कर रही हैं और विद्या गीत गा रही हैं, ऐसे सुवर्ण विग्रह वाले एकार्णवशायी भगवान् का ध्यान करे ॥ ६५-६८ ॥

१२. कूर्मध्यानकथनम्

कूर्मात्मा कूर्मवद् बुद्ध्या ध्यातव्यस्त्वथ लाङ्गलिन् ॥ ६८ ॥
द्रवत्कनकवर्णाभः स्वसामर्थ्याज्जलाश्रयः ।
शक्त्यादिककलाद्वन्द्वद्वितयाङ्घ्रिः सनातनः ॥ ६९ ॥
शक्त्यादिककलाढ्यश्च प्रोद्गिरंस्तु श्रुतित्रयम् ।

अथ कूर्मध्यानमाह—कूर्मात्मेति द्वाभ्याम् । अस्य स्थानं तु—"रसातले तु कूर्मात्मा" (३६।३१८) इति पौष्करे दर्शितम् । अयं तु निखिलजगदाधारभूतकूर्मावतारः, "भवनधृते" (२३।६४) इति मन्त्रवर्णात्, "द्वन्द्वद्वितयाङ्घ्रिः" (१२।६९) इति ध्यानाच्च । केवलकूर्मवक्त्रावतारश्च विद्यते । तथा च पौष्करे—

लवणोदधिपर्यन्ते भूभागे सिद्धसेविते ।
कूर्मवक्त्रश्च भगवान् संस्थितः शङ्खचक्रधृक् ॥ —(३६।३२२)

इति ॥ ६८-७० ॥

अब **कूर्म का ध्यान** कहते हैं—हे लाङ्गलिन् ! अब इसके बाद अपनी बुद्धि से कूर्मात्मा का कूर्मवद् ध्यान करे । जिनकी शरीर की आत्मा द्रवीभूत सुवर्ण कान्ति के समान है, अपनी सामर्थ्य से जो जल का आश्रय लिये हुए हैं, शक्त्यादि तथा कलादिक जिनके दो चरण हैं, जो अपने मुख से तीनों श्रुतियों का उद्गिरण करते रहते हैं, ऐसे कूर्म भगवान् का ध्यान करना चाहिये ॥ ६८-७० ॥

१३. वराहध्यानकथनम्

अतसीपुष्पसंकाशः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ७० ॥
मखोपकरणाङ्गश्च निमग्नोद्धरणक्षमः ।

स्वशक्तिविभवाधारमिच्छाज्ञानक्रियार्चिषम् ॥ ७१ ॥
नानाविशेषविज्ञानस्फुलिङ्गोर्मिसदोदितम् ।
दारयन्तं स्थितं हार्दमनूनं मोहमुल्बणम् ॥ ७२ ॥
नदन्नादमनाख्येयं तमजं परमेश्वरम् ।

वराहध्यानमाह—अतसीपुष्पसंकाश इति त्रिभिः । पूर्वोक्तो वराहस्तु साक्षाद् वराहः, अयं नृवराह इति ध्येयम्, "शङ्खचक्रगदाधरः" (१२।७०) इति ध्यानात्, "कोकामुखे वराहस्तु वाराहे तु नगोत्तमे" (३६।३२४) इति पौष्करे पुनर्वराह-स्थानप्रदर्शनाच्च ॥ ७०-७३ ॥

अब **वराह का ध्यान** कहते हैं—अतसी पुष्प के समान नीलवर्ण वाले तथा शङ्ख, चक्र एवं गदा धारण किये हुए, जिनके अङ्ग यज्ञ सामग्री से निर्मित हैं, जो डूबे हुए को ऊपर लाने में समर्थ हैं । स्वशक्ति, विभवाधार तथा इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया से संयुक्त हैं, अनेक प्रकार के विशेष विज्ञान के स्फुलिङ्ग रूप ऊर्मि से सदा उदीयमान हैं । हृदय में स्थित उल्बण महामोह को उखाड़ कर फेकने में सर्वथा सशक्त हैं, ऐसे वराह भगवान् का ध्यान करना चहिये ॥ ७०-७३ ॥

१४. नृसिंहध्यानकथनम्

निष्टप्तकनकाभं च ध्यायेद् देवं नृकेसरिम् ॥ ७३ ॥
ज्वलदग्निस्फुलिङ्गाभिः स्वदेहोत्थाभिरावृतम् ।
रथाङ्गशङ्खधातारं बृहन्मूर्तिं सुभीषणम् ॥ ७४ ॥
सत्सत्त्वकरजश्रेणीदीप्तेनोभयपाणिना ।
संयच्छन्तं धिया सम्यग् भविनां साभयं वरम् ॥ ७५ ॥

अथ श्रीनृसिंहध्यानमाह—निष्टप्तेति सार्धद्वाभ्याम् । मूर्तं ब्रह्म साकारं परंब्रह्-त्यर्थः । ब्रह्ममूर्तिमिति पाठे बृहत्कायमित्यर्थः । सत्सत्त्वकरजश्रेणीदीप्तेनोभयपाणिना साभयं वरं संयच्छन्तं शुद्धसत्त्वमयनखपङ्क्तिरिवाजिताभ्यां कराभ्यामभयवरदमुद्रा-न्वितमित्यर्थः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

नृहरिः कृतशौचे तु उज्जयिन्यामपि द्विज ।
विशालमूलसंज्ञे तु स्थाने त्वेवं स्थितस्त्रिधा ॥ (३६।२२३) इति ।

केवलनृसिंहावतारस्थानमपि तत्रैव प्रतिपादितम्—"विन्ध्यारण्ये तु पौष्कर । विज्ञातव्यो मृगेन्द्रात्मा पापहा सर्वदेहिनाम्" (३६।३१८-३१९) इति ॥ ७३-७५ ॥

अब नृसिंह जो अज हैं और अप्रतिम नाद करते रहते हैं, जिनके शरीर की आभा तपाये हुए सुवर्ण की भाँति उद्दीप्त है, जो अपने शरीर से निकली हुई अग्नि को जलती हुई ज्वालाओं से आवृत किए हुए हैं, जो चक्र, शङ्ख धारण किये हुए है, जिनका शरीर अत्यन्त बृहत् तथा भीषण है, जो सत्त्व युक्त, प्रदीप्त

नख श्रेणी युक्त, अपने दो हाथों से संसति मनुष्यों को वर और अभय प्रदान कर रहे हैं, ऐसे नृसिंह भगवान् का ध्यान करना चाहिये ॥ ७३-७५ ॥

१५. अमृताहरणध्यानकथनम्

अमृताध्मातमेघाभममृताहरणं विभुम् ।
पीताम्बरधरं ध्यायेदेकवक्त्रं चतुर्भुजम् ॥ ७६ ॥
श्रोणीतटार्पितकरं शङ्खचक्रविभूषितम् ।
मध्यतो दक्षिणेनैव वहन्तं गिरिरूपधृक् ॥ ७७ ॥
शुद्धज्ञानानुविद्धं च कर्मसम्भवभीतिहम् ।
दिशन्तं स्वधिया सम्यग् भक्तानां भक्तवत्सलम् ॥ ७८ ॥
मन्थामथितदुग्धाब्धिं क्षोभयित्वा प्रकाशितम् ।
अमृतं क्षुत्तृषादीनां प्रतिपक्षमनामयम् ॥ ७९ ॥
शुद्धं चानश्वरं भाव्यं मायाख्यार्णवमध्यगम् ।
आत्मामृतमनौपम्यम् आहारध्वंसकर्मणा ॥ ८० ॥

अमृताहरणध्यानमाह—अमृतेत्यादिभिः । अस्यं स्थानं तु श्रीपौष्करे—

क्षारोदकक्षितिक्षेत्रे सुरासुरनिषेविते ।
मन्दराद्रिकरो देवो वर्तते देवपूजितः ॥
तत्रैवामृतजिद् देवः संस्थितः सिद्धसेवितः ।
कान्तारूपधरश्चैव सुधाकलशधृक् तथा ॥
सिद्धानां च मुनीनां च देवानां मृत्युजित् स्थितः ।
—(३६।३४४-३४६)

इति ॥ ७६-८०॥

अब **अमृताहरण का ध्यान** कहते हैं—अमृतपूर्ण मेघ के समान गरजते हुए पीताम्बरधारी, एक मुख एवं चार भुजा वाले विभु रूप अमृताहरण का ध्यान करना चाहिये । जो अपने नितम्ब प्रदेश पर बायाँ हाथ स्थापित किये हुए हैं । शङ्ख, चक्र से विभूषित हैं, मन्दराचल का रूप धारण किये हुए है तथा दक्षिण हाथ में अमृत धारण किये हुए है जो अमृत शुद्ध ज्ञान से अनुविद्ध हैं । वह मनुष्यों द्वारा किये गये दुष्कर्म से उत्पन्न भीति को दूर करने वाले हैं । अपने भक्तों को अपनी बुद्धि के अनुसार भक्त वत्सलता स्वरूप अमृत प्रदान कर रहे हैं, उस अमृत रूप दुग्धोदधि को मथानी से मथकर जिन्होनें स्वयं प्रकाशित किया है । वह अमृत भूख प्यास का शत्रु है, अनामय है, शुद्ध है, अनश्वर (नित्य) है, माया नामक समुद्र के मध्य में रहने वाला है, आत्मामृत है, अनुपम है, क्योंकि भूख को सर्वथा सर्वदा के लिये मिटा देता है, ऐसे अमृताहरण विष्णु का ध्यान करना चाहिए ॥ ७६-८० ॥

१६. श्रीपतिध्यानकथनम्

ध्यायेत् कनकगर्भाभं देववेवं श्रियःपतिम्।
कमलालयहेतीशविभूषितकरद्वयम् ॥ ८१ ॥
द्वयं देवीपरिणये लीलयैव समर्पयन्।
प्रकाशयन्ननादित्वमात्मनः प्रकृतेः सह ॥ ८२ ॥
मत्करैरनुविद्धेयं प्रकृतिः प्राकृतैरहम्।
यतोऽहमाश्रयश्चास्या मूर्तेर्मय्येतदात्मिका ॥ ८३ ॥
यामालम्ब्य सुखेनेमं दुस्तरं हि गुणोदधिम्।
निस्तरन्त्यचिरेणैव व्यक्तं ध्यानपरायणाः ॥ ८४ ॥

श्रीपतिध्यानमाह—ध्यायेदित्यादिभिः । ''प्रकृतिर्जगन्माता लक्ष्मीः'' (पृ० ३५१) इति सहस्रनामभाष्ये व्याख्यातम् ॥ ८१-८४ ॥

अब **श्रीपति का ध्यान** कहते हैं—कनक के समान कान्तिमान् देवाधिदेव श्रीपति लक्ष्मीनारायण का ध्यान करना चाहिये, जिनके दोनों हाथ कमलालय, पद्म और हेतीराट् सुदर्शन चक्र से विभूषित हैं ॥ ८१ ॥

भगवान् श्रीपति ने देवी परिणय काल में इन दोनों को समर्पित करते हुए प्रकृति के साथ अपना अनादित्व प्रकट करते हुए कहा था कि यह प्रकृति हमारे हाथ में अनुविद्ध है तथा प्रकृति तत्त्व से मैं अनुविद्ध हूँ क्योंकि मैं इस श्री की मूर्त्ति का आश्रय हूँ और एतदात्मिका मूर्त्ति मैं हूँ जिस मूर्त्ति का आश्रय ले कर लक्ष्मीनारायण में ध्यान परायण भक्त थोड़े ही काल में इस दुस्तर गुणोदधि को सुख से पार कर लेते हैं, ऐसे श्रीपति का ध्यान करना चाहिए ॥ ८१-८४ ॥

१७. कान्तात्मध्यानकथनम्

मदविह्वलनेत्रं च देवमुद्भिन्नयौवनम्।
फुल्लरक्ताम्बुजाभासमत्यजन्तं निजां स्मृतिम्॥ ८५ ॥
त्रैलोक्यविस्मयकरं कान्ताकृतिधरं स्मरेत्।
आनन्दामृतसम्पूर्णवदनेनेन्दुकान्तिना ॥ ८६ ॥
कलशाकृतिरूपेण करस्थेन विराजितम्।
लीलाकटाक्षवाग्बाणैः सूदयन्तं सुरद्विषः ॥ ८७ ॥
द्विरेफपटलाक्रान्तसहकारलताकरम् ।

कान्तात्मध्यानमाह—मदविह्वलनेत्रैरिति सार्धैस्त्रिभिः । अस्यावतारस्य लक्ष्मीनारायणोभयात्मकमुक्तं जगज्जनन्या—

यत्तु तन्मोहनं रूपं श्रूयतेऽमृतधारकम्॥

भवद्भावौ तदा तत्र रूपे तुल्योपलक्षितौ ।
देवैः पुरुषरूपेण स्त्रीरूपेण सुरेतरैः ॥
सह सिद्धं मयीत्येतज्जन्म मे महदद्भुतम् ॥ (८।४८-५०)

इति ॥ ८५-८८ ॥

अब **कान्तात्मा का ध्यान** कहते हैं—जिनके नेत्र मद से विह्वल है, जिनमें यौवन प्रगट हो रहा है, जिनकी कान्ति विकसित कमल के समान हैं, जिन्होंने स्त्री रूप धारण करके भी अपनी स्मृति का त्याग नहीं किया है । ऐसे त्रैलोक्य विस्मयकारी स्त्री रूप धारण करने वाले कान्तात्मा का ध्यान करना चाहिये । जो चन्द्रमण्डल के समान आनन्दामृत से पूर्ण मुख वाले और हाथ में कलश लिये हुए अपने लीला कटाक्षरूपी बाणों से असुरों का वध कर रहे हैं तथा द्विरेफ (भ्रमर से) लिपटी हुई सहकार युक्त लता जिनके हाथ में है ऐसे कान्तात्मा का ध्यान करे ॥ ८५-८८ ॥

१८. राहुजित् ध्यानकथनम्

कलामूर्त्यभिमानात्मा राहुसंज्ञो विभीषणः ॥ ८८ ॥
मूर्तामूर्तेन रूपेण संग्रसत्यनिशं किल ।
अग्नीषोममयीं मूर्तिं कर्मिणामुपकारिणीम् ॥ ८९ ॥
योऽन्तः प्राणादिरूपेण चन्द्रादित्यात्मना बहिः ।
स्थितस्तद्विजयेऽध्यक्षः सत्यध्यानरतात्मनाम् ॥ ९० ॥
निष्पन्दं बोधभावेन तं तु व्यक्तं स्मरेद् बहिः ।
नीलनीरदवर्णाभं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ ९१ ॥
मध्याह्नभास्कराकारं द्वादशारकरोद्यतम् ।
श्रोणीतटनिविष्टेन वामहस्तेन लीलया ॥ ९२ ॥
ध्रियमाणं गदां गुर्वीं निषण्णां धरणीतले ।

राहुजिद्ध्यानमाह—कलामूर्तीत्यादिभिः । अस्यापि क्षीरोदकक्षितिक्षेत्रवासित्वमेव बोद्धव्यम्, "सिद्धानां च मुनीनां च देवानां मृत्युजित् स्थितः" (३६।३४६) इति पौष्करोक्तेः ॥ ८८-९३ ॥

अब **राहुजित् का ध्यान** कहते हैं—जो कलामूर्त्ति के अभिमानी देवता है, सबको भयभीत करने वाले हैं, जिनका नाम राहुजित् है, जो मूर्त्त अमूर्त्त दोनों रूपों से संसारी जनों का उपकार करने वाली अग्निमयी एवं सोममयी मूर्त्ति को नित्य ग्रसता रहता है, जो भीतर प्राणादि रूप से तथा बाहर चन्द्रादित्य रूप से स्थित हैं और सत्य ध्यान में निरत रहने वालों के विजय में अध्यक्ष रूप से स्थित है, जो बोध भाव से निष्पन्द (स्थिर) है, जो नीले बादल के समान कृष्णवर्ण की आभा

वाले हैं, जिनके नेत्र कमल के समान विशाल हैं और मध्याह्न भास्कर के समान जो तेजस्वी हैं, जो द्वादश अरों के समान करों से समुद्यत हैं, जो नितम्ब प्रदेश पर स्थित अपने बायें हाथ से पृथ्वी पर रखी हुई गदा को धारण किये हुए हैं, ऐसे राहुजित् भगवान् का ध्यान करना चाहिये ॥ ८८-९३ ॥

१९. कालनेमिघ्नध्यानकथनम्

अविद्याख्या च या नेमिः कालचक्रस्य दुर्धरा॥ ९३ ॥
सामाधीयं समाश्रित्य विग्रहं विधुनोति च।
जपयज्ञक्रियादीनां तामसेन बलेन च॥ ९४ ॥
ध्यायेत् तत्प्रसरघ्नं च देवं राजोत्पलद्युतिम्।
विज्ञानरश्मिभिर्दीप्तं सत्सत्त्वगरुडासनम्॥ ९५ ॥
नानास्त्ररूपभूतात्मसद्विद्याभुजभूषितम्।
चक्रं पद्मं गदां बाणमङ्कुशं कुन्तमेव च॥ ९६ ॥
षट्सु दक्षिणहस्तेषु शक्तिं पाशौ च कार्मुकम्।
मुसलं मुद्गरं भीमं खेटकं वामबाहुषु॥ ९७ ॥

कालनेमिघ्नध्यानमाह—अविद्याख्येत्यादिभिः ॥ ९३-९७ ॥

अब **कालनेमिघ्न का ध्यान** कहते हैं—कालचक्र की दुधर्रा अविद्या नामक नेमि है, जो समिधा का आश्रय लेकर अपने तामस बल से विग्रह को नष्ट करती है। ऐसे जप, यज्ञ, क्रिया के प्रसार को नष्ट करने वाले, कमल के समान प्रकाशक का ध्यान करना चाहिये। जो विज्ञान रश्मियों से उद्दीप्त हैं, सत्सत्त्व गरुडासन पर विराजमान हैं, जो अनेक अस्त्रों से भूतात्मा हैं, सद्विद्या रूप भुजाओं से भूषित हैं, जिनके छः दाहिने हाथों में चक्र, पद्म, गदा, बाण, अङ्कुश और कुन्द तथा ६ बायें हाथों में शक्ति, पाश, कार्मुक, मुसल, मुद्गर, भीम और खेटक है ॥ ९३-९७ ॥

२०. पारिजातहरध्यानकथनम्

देव आम्रदलाभश्च स्मर्तव्यः पारिजातजित्।
अक्लिष्टकर्मा देवेशस्त्वनेकाद्भुतविक्रमः॥ ९८ ॥
प्रबन्धप्रतिपन्नानां भक्तानामपि देहिनाम्।
यो बोधभूमौ संरूढो ह्यनित्यश्चानुरञ्जकः॥ ९९ ॥
न्यग्रोधविटपाकारोऽप्यविद्याबन्धलक्षणः।
कर्मवृक्षः सुविततो मोहमायाफलावृतः॥ १०० ॥
तदुत्पाटनसिद्ध्यर्थमनुग्राह्यजनं सदा।

आविश्याऽऽस्तेंऽशमात्रेण कृपया स जगत्प्रभुः ॥ १०१ ॥
स विवेकात्मना भूत्वा ज्ञानबाहुवितानधृक् ।
ऐश्वर्यधर्मवैराग्यशमास्यश्चितिशक्तिभृत् ॥ १०२ ॥
आदाय संयमास्त्रौघं नियमास्त्रगुणं तथा ।
इन्द्रियादिगणं जित्वा कर्मिणां दोषदो हि यः ॥ १०३ ॥
यदस्य सुरजिद्रूपं तद् द्वादशभुजं स्मरेत् ।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्याभरणभूषितम् ॥ १०४ ॥
चतुर्वक्त्रं सुनयनं वामोत्सङ्गार्पितप्रियम् ।
खड्गं चक्रं गदां बाणं मुसलं च तरूत्तमम् ॥ १०५ ॥
षट्सु दक्षिणहस्तेषु शङ्खमङ्कुशकार्मुके ।
छत्रं च फणभृत्पाशं विभोर्वामभुजेष्वमी ॥ १०६ ॥
षष्ठेनालिङ्गिता देवी सारविन्देन बाहुना ।
तदं(श?स)लग्नकरया देव्या तच्चित्तयाऽनिशम् ॥ १०७ ॥
संवीज्यमानं विनयाच्चामरेण सितेन तु ।

पारिजातहरध्यानमाह—देव आम्रफलाभ इत्यादिभिः । दोषदो दोषच्छेदक इत्यर्थः । "दो अवखण्डने" (११४८दि०) इति धातोः । अस्य स्थानं तु पौष्करे—

आसाद्य सूकरक्षेत्रं देवो गरुडवाहनः ।
संस्थितो गरुडारूढः पारिजातकराङ्कितः ॥
सिद्धैः सुरगणैः सार्धं गगने चापि पौष्कर ॥—(३६।३५३-३५४)

इति ॥ ९८-१०८ ॥

अब **पारिजातहर विष्णु का ध्यान** कहते हैं—पारिजात हरण करने वाले, आम्रफल के समान आभा वाले, अक्लिष्ट कर्मा, अनेक अद्भुत कर्म करने वाले देवों के स्वामी का स्मरण करना चाहिये । जो बन्धन में बँधे हुए देहधारी भक्तों के हृदय में उत्पन्न हुए हैं, अनित्य हैं, अनुरञ्जक हैं, न्यग्रोध (= गूलर) के वृक्ष के समान विशाल हैं, जो अविद्या से बाँधने वाले हैं, जो मोहमाया से समाहत करने वाले हैं तथा जो अत्यन्त विस्तृत हैं, उस कर्मवृक्ष को उखाड़कर फेंकने के लिये जो प्रभु हैं और अनुग्राह्यजनों के भीतर कृपापूर्वक प्रविष्ट होकर विवेक स्वरूप से जो स्थित हैं, ज्ञान-बाहुरूप वितान धारण कर ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्य, शान्त मुख वाले चिति शक्ति धारण करते हैं, संयमास्त्र समूह तथा नियमास्त्र समूह हाथ में लेकर इन्द्रिय गणों को जीत कर, समस्त दोषों को नष्ट कर देते हैं । जो इनका द्वादश भुजा वाला सुरजित् रूप है, उसका स्मरण करना चाहिये । उनके चार नेत्र हैं, अपने बायें उत्संग में प्रियतमा को बिठाये हुए हैं, अपने छः दक्षिण

हाथों में खेट, चक्र, गदा, बाण, मुसल और पारिजात तथा बायीं भुजा में शङ्ख, अङ्कुश, कार्मुक, इत्र, नागपाश तथा छठी अपनी बलवान् भुजाओं से प्रियतमा का आलिङ्गन किये हुए हैं, जो उनके कन्धे पर हाथ रखकर सर्वदा अपने चित्त में उनका ध्यान करती रहती हैं और श्वेत से चामर लेकर विनयपूर्वक हवा करती रहती हैं ॥ ९८-१०८ ॥

२१. लोकनाथध्यानकथनम्

लोकनाथं विशालाक्षं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥ १०८ ॥
वरसिंहासनारूढं ध्यायेन्मीलितलोचनम् ।
पद्मासनेनोपविष्टं पद्मगर्भोपमद्युतिम् ॥ १०९ ॥
करुणाविष्टबुद्धिं च शङ्खपद्मकराङ्कितम् ।
ज्ञानवैराग्यसद्धर्ममार्गत्रयनिदर्शकम् ॥ ११० ॥

लोकनाथध्यानमाह—लोकनाथमिति सार्धद्वाभ्याम् । अस्य रूपान्तरं बुद्धावतार इति बोध्यम्,

लोकेश्वरः शान्ततनुर्बौद्धं यस्यापरं वपुः ।
नियन्ता बुद्धिधर्माणां हिंसादोषस्य दूषकः ॥ —(३६।२२६)

इति पौष्करोक्तेः । अस्य स्थानं तु—

मगधामण्डले विप्र महाबोधधराश्रितः ।
संस्थितो लोकनाथात्मा देवदेवो जनार्दनः ॥—(३६।३५९-३६०)

इति पौष्करे ॥ १०८-११०॥

अब **लोकनाथ का ध्यान** कहते हैं—विशाल नेत्रों वाले, समस्त देवताओं से नमस्कृत, श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे हुए, कमल के समान प्रकाश वाले, करुणा से आविष्ट बुद्धि वाले, हाथ में शङ्ख और पद्म धारण किये हुए, ज्ञान, वैराग्य और सद्धर्म रूप तीनों मार्गों का प्रदर्शन करने वाले भगवान् लोकनाथ का ध्यान करना चाहिये ॥ १०८-११० ॥

२२. दत्तात्रेयध्यानकथनम्

संस्मरेदथ दत्ताख्यं ज्ञानमूर्तिमलेपकम् ।
मनुष्यमुनिदेवानां समाधिनिरतात्मनाम् ॥ १११ ॥
ईषल्लब्धरसानां च ब्रह्ममार्गानुसारिणाम् ।
स्वप्रभानिकरेणैव भासयन्तं च तत्पथम् ॥ ११२ ॥
मनसा सह वायूनामाकृतिप्रतिषेधकृत् ।
श्रुतीनां मानसानां चाप्याचाराणां तथैव च ॥ ११३ ॥

वर्णानामाश्रमाणां च परिरक्षक एव हि ।
मानसैकार्णवान्तस्थे निष्कम्पे बुद्धिपादपे ॥ ११४ ॥
अभिमानलताढ्ये चाप्युपरिस्थमनुस्मरेत् ।
प्रावृड्गिरिरिव श्यामं तेजसा ज्वलनोपमम् ॥ ११५ ॥
ध्वंसकृद् विघ्नजालस्य निन्द्रालस्यचयस्य यः ।
उत्कृष्टद्विजरूपेण विकसत्पद्मरूपिणा ॥ ११६ ॥
स एव द्विभुजो ध्येयो दण्डदर्भाक्षसूत्रधृक् ।

अथ दत्तात्रेयध्यानमाह—संस्मरेदथ दत्ताख्यमित्यादिभिः । संस्मरेदित्यस्य पूर्वेणैवान्वयः ॥ १११-११७ ॥

अब **दत्तात्रेय का ध्यान** कहते हैं—ज्ञान मूर्त्ति, संसार से सर्वथा अलिप्त, देवता के मार्ग समाधि में निरन्तर मनुष्य, मुनि मार्ग तथा ब्रह्म मार्ग का अनुसरण करने वाले, ब्रह्म रस को किञ्चिन्मात्रा में प्राप्त करने वाले, मार्ग को अपने प्रभा किरणों से भासित करने वाले, मन के साथ वायु की भी आकृति को रोक देने वाले, श्रुतियों के मानसिक आचारों के वर्णाश्रम धर्मों के एक मात्र परिरक्षक, अभिमान लता से परिपूर्ण, मानस समुद्र के अन्त में स्थित, बुद्धि पादप से परे और उससे भी ऊपर के स्थान में निवास करने वाले भगवान् दत्तात्रेय का स्मरण करना चाहिये । वर्षाकालीन मेघ की तरह श्याम वर्ण वाले, तेज से अग्नि के समान दहकते हुए, विघ्न समूह का विनाश करने वाले, निद्रा एवं आलस्य समूहों के विनाश कर्त्ता, विकसित कमल के समान प्रकाशित रूप से उत्कृष्ट, द्विज रूप से विराजमान उन द्विभुज दत्तात्रेय का ध्यान करना चाहिये जो दण्ड, कुशा और अक्षसूत्र धारण किये हुए हैं ॥ १११-११७ ॥

२३. न्यग्रोधशायीध्यानकथनम्

दन्तज्योत्स्नाजिताज्ञानं न्यग्रोधशयनं विभुम् ॥ ११७ ॥
निषण्णमीषदुत्तानं द्विभुजं शिशुरूपिणम् ।
एवमेव निरस्तास्त्रं शान्तनिद्रारसं स्थितम् ॥ ११८ ॥
अनुज्झितस्वभावं च योगमायाबलेन च ।
त्यजन्तमाहरन्तं च श्वासोच्छ्वासद्वयेन तु ॥ ११९ ॥
आब्रह्मभुवनं सर्वं कर्म प्राधानिकं हि यत् ।

न्यग्रोधशयनध्यानमाह—दन्तज्योत्स्नेति त्रिभिः । प्राधानिकं प्राकृतमित्यर्थः । पूर्वोक्त एकार्णवशायी नैमित्तिकप्रलयकर्ता, अयं तु प्राकृतिकप्रलयकर्तेति बोध्यम् । नैमित्तिकप्राकृतिकयोर्लक्षणं तु श्रीविष्णुपुराणे—

ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र यच्छेते जगतः पतिः ।

प्रयाति प्रकृतिं चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतो लयः ॥ (१।७।४२)

इति ॥ ११७-१२०॥

अब **न्यग्रोधशायी का ध्यान** कहते हैं—जो अपनी दाँतों की प्रभा से समस्त अज्ञान को दूर करने वाले हैं उन न्यग्रोध के नीचे सोने वाले न्यग्रोधशायी विभु का ध्यान करना चाहिये। कुछ उतान हो कर बैठे हुए हैं, दो भुजा धारण किये हुए, शिशु स्वरूप हैं, अस्त्र रहित हैं, शान्त निद्रा रस का स्वाद ले रहे हैं, योगमाया के बल से अपने स्वभाव का परित्याग नहीं कर पा रहे हैं, जो अपनी श्वास-उच्छ्वास के त्याग एवं ग्रहण के द्वारा ब्रह्म से लेकर भुवन पर्यन्त समस्त प्राधानिक कर्म (प्राकृतिक प्रलय) करते रहते हैं ऐसे न्यग्रोधशायी विष्णु का ध्यान करना चाहिए ॥ ११७-१२० ॥

२४. मत्स्यावतारध्यानकथनम्

अपौरुषेण रूपेण संवृतावयवात्मना ॥ १२० ॥
स्वमायाजलमध्यस्थम् अध्यक्षमथ संस्मरेत् ।
ज्ञानादिगुणवृन्देन पक्षभूतेन भूषितम् ॥ १२१ ॥
स्वोत्थं सन्निःसृतं ब्रह्म एकशृङ्गविराजितम् ।
कल्पावसानसमये वहन्तं चैव चिन्तयेत् ॥ १२२ ॥
नौरूपां विततां क्षोणीं प्रजापतिगणान्विताम् ।
मुक्ताफलगणेनैव वपुषा निर्मलेन च ॥ १२३ ॥
अनिमीलितनेत्रः स मीनात्मा भगवानथ ।

अथ मत्स्यावतारध्यानमाह—अपौरुषेणेति चतुर्भिः । नौरूपां = तरणिरूपामित्यर्थः । ''स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः'' (१।१०।१०) इत्यमरः । तदानीं महालक्ष्मीरेवैवं नौरूपं बिभर्तीति ज्ञेयम् । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

अवतारो हि यो विष्णोर्नाम्ना मीनधरः शुभः ।
अनुग्रहक्रमात् तत्र साऽहं नौरूपधारिणी ॥—(८।३३-३४) इति।

अस्य स्थानं तु पौष्करे—''मत्स्यात्मा भगवानप्सु'' (३६।३१८) इति । मीनवक्त्रस्थानमप्युक्तं तत्रैव—''नौबन्धनगिरावेव मीनवक्त्रः स्थितः प्रभुः'' (३६।३२१) इति ॥ १२०-१२४ ॥

अब **मत्स्यावतार का ध्यान** कहते हैं—जो अपने अपौरुषेय रूप से अपने रूपावयव को समेट लेते हैं और अपने माया रूप से जल के मध्य में रहने वाले जगत् के अध्यक्ष हैं, उनका स्मरण करे। जो ज्ञानादि गुण समूह रूप अपने पक्ष से विभूषित हैं, जो अपने में उत्पन्न और अपने से ही निकले हुए ब्रह्म रूप एक शृङ्ग से विराज रहे हैं। जो कल्पान्त काल में इस समस्त जगत् को उस शृङ्ग में

बाँधकर वहन कर रहे हैं । ऐसे मत्स्य भगवान् का चिन्तन करे । प्रजापति गणों से समन्वित इस विस्तृत पृथ्वी को जिन्होंने नाव बना कर मोती के समान अपने निर्मल शरीर से वहन किया है, उन मीनावतार का ध्यान करे ॥ १२०-१२४ ॥

२५. वामनध्यानकथनम्

यो नित्यं भवभीतानां बुधानां कृपया स्वयम् ॥ १२४ ॥
हृत्स्थो नियतिदण्डेन मार्ताण्डायुतसन्निभः ।
जित्वाऽज्ञानबलं भीममिन्द्रियारिगणान्वितम्॥ १२५ ॥
संयच्छत्यचिराद् ब्रह्मनन्दनं सत्सुखाय च ।
ध्यायेत् तमेव ह्रस्वाङ्गं श्यामं पद्मदलेक्षणम् ॥ १२६ ॥
अन्तर्निविष्टभुवनं जटावल्कलभूषितम् ।
छत्रं तद्वामहस्तेऽस्य दण्डमन्यत्र वैष्णवम् ॥ १२७ ॥

वामनध्यानमाह—यो नित्यमित्यादिभिः । अज्ञानं जित्वा अविद्यामपोह्येत्यर्थः । ब्रह्म नन्दयतीति ब्रह्मनन्दनं ज्ञानमित्यर्थः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

कन्दमाले विवैतस्ते कुलकुक्षौ हिमाचले ॥
वामनं खर्वमूर्तिं च वैश्वरूप्येण संस्थितम् । —(३६।३२४-३२५)

इति ॥ १२४-१२७ ॥

अब **वामन का ध्यान** कहते हैं—जो नित्य ही संसार सागर से डरने वाले बुद्धिमानों के हृदय में अपनी कृपा से निवास करते हैं । जो नियति (= भाग्य) रूपी दण्ड से दश हजार सूर्य के समान तेजस्वी हैं, जो भयङ्कर इन्द्रियारि गणान्वित हैं तथा अज्ञान रूप बल को जीतकर स्वल्प काल ही में सज्जनों के सुख के लिये उन्हें ज्ञान प्रदान करते हैं । उन ह्रस्वाङ्ग, वामन स्वरूप, श्याम वर्ण, कमल के समान नेत्र वाले अपने भीतर समस्त प्रश्नों को धारण करने वाले, जटावल्कल से विभूषित, बायें हाथ में छत्र और अन्य हाथ में वैष्णव दण्ड धारण किये हुए हैं, ऐसे भगवान् वामन का ध्यान करना चहिये ॥ १२४-१२७ ॥

२६. त्रिविक्रमध्यानकथनम्

आक्रम्य जाग्रदादित्यः सूर्येन्दुहुतभुक्प्रभाम् ।
तिष्ठत्यनन्तो भगवांस्तुर्याख्यश्चिद्विभूतिधृक् ॥ १२८ ॥
सम्प्रेरयन्ननिच्छातः स्वपदादमृतप्रभाम् ।
आह्लादजननीं शक्तिं कर्मिणां भावितात्मनाम् ॥ १२९ ॥
त्रैलोक्यपूरकं ध्यायेत् तमेव हरितद्युतिम् ।
नानामुद्रास्त्रयुक्तेन भुजवृन्देन भूषितम् ॥ १३० ॥

खेटकेनाङ्घ्रिदण्डेन वहन्तमरिसूदनम् ।
वहन्तं सद्वैजयन्तीं देवानां च जयार्थिनाम् ॥ १३१ ॥
खड्गचक्रगदादण्डबाणाङ्कुशसमुद्गराः ।
शक्तिः परशुशैलेन्द्रौ दश दक्षभुजेष्वमी ॥ १३२ ॥
शङ्खतोमरशार्ङ्गं च पाशशूलमहीरुहाः ।
कुलिशं क्षुरिका चैव लाङ्गलं मुसलं महत् ॥ १३३ ॥
वामहस्तेष्वमी ध्येया अन्ये मुद्रान्विता दश ।
भयविस्मयहृद् वेणीकण्ठग्रहणलक्षणाः ॥ १३४ ॥
ध्येया मुद्रा विभोः पञ्च सव्ये तु करपञ्चके ।
वराख्यां भूतिसंज्ञां च युक्ताख्यां साभयां तु वै ॥ १३५ ॥
गोपनीं दक्षहस्तेषु तत्संख्येषु च संस्मरेत् ।

त्रिविक्रमध्यानमाह—आक्रम्येत्यादिभिः । आह्लादजननीं शक्तिं गङ्गामित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

त्रैविक्रमाह्वयो विष्णोरवतारः परः स्मृतः ॥
आह्लादजननी गङ्गा तत्पादात् प्रभवाम्यहम् ।—(८।३४-३५) इति।

अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

मध्यदेशे तु गङ्गायाः कुरुक्षेत्रे तु पौष्कर ॥
यामुनं कूलमासाद्य प्रादुर्भावान्तरं महत् ।
स्थितं त्रिविक्रमाख्यं यस्त्रैलोक्याक्रान्तविग्रहः ॥—(३६।३२५-३२६)

इति ॥ १२८-१३६ ॥

अब **त्रिविक्रम का ध्यान** कहते हैं—सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के तेज का आक्रमण कर जो स्वयं जाग्रत् आदित्य हैं जिन अनन्त भगवान् को तूर्य नाम से कहा जाता है । जो चिद्विभूति को धारण किये हुए हैं, जो अपनी अनिच्छा से पुण्यात्मा, संसारी मनुष्यों के कल्याण के लिये शक्ति स्वरूपा आह्लाद की जननी श्री गङ्गा जी को अपने पैर से प्रेरित कर रहे हैं । अपने पैसे समस्त त्रिलोकी को पूर्ण करने वाले कृष्ण वर्ण वाले त्रिविक्रम का ध्यान करना चाहिये जो अनेक प्रकार के मुद्रास्य युक्त भुजाओं से विभूषित है । जिन अरिसूदन को अङ्घ्रिदण्ड रूप खेटक से वहन किया जा रहा है । जो विजय की इच्छा करने वाले देवताओं की वैजयन्ती को वहन कर रहे हैं । जो अपनी बलशाली भुजाओं में खेट, चक्र, गदा, दण्ड, बाण, अङ्कुश, मुद्गर, शक्ति, परशु और शैलेन्द्र (वज्र) इन दश आयुधों को धारण किये हुए हैं । शङ्ख, तोमर, शार्ङ्ग, धनुष, पाश, शूल, महीरुह, कुलिश, क्षुरिका, लाङ्गल और महान मुशल इन दश को अन्य बायें हाथ में धारण किये हुए हैं ।

इसके अतिरिक्त दश मुद्रायें भी उन्हीं हाथों में रहती हैं, उनका भी ध्यान करना चाहिये । भयङ्कर, विस्मय, हृदययुक्त, वेणी, कण्ठ और ग्रहण लक्षण वाली इन पाँच मुद्राओं का भी ध्यान करे, जो बायें पाँचों हाथों में रहती हैं । वरा नाम वाली, भूति नाम वाली, युक्ता नाम वाली, समया और गोपनी नामक मुद्राएँ उनके दाहिने पाँचों हाथों में रहती हैं । इनका भी ध्यान करे ॥ १२८-१३६ ॥

२७.-३०. नर-नारायण-हरि-कृष्णानां ध्यान कथनम्

जगत्सूत्रं सहाक्षैस्तु येनोक्तममितात्मनाम् ॥ १३६ ॥
गुणषट्कस्वरूपेण पूर्वोक्ताकृतिभिर्विना ।
स्मर्तव्यः स चतुर्धा वै लाञ्छनास्त्रविवर्जितः ॥ १३७ ॥
सर्वदा परिरक्षन्तु जपपूर्वं चतुष्टयम् ।
योगक्रियातपोऽन्तं च सद्भिभूत्यपवर्गदम् ॥ १३८ ॥
नराद्यः कृष्णनिष्ठश्च पृथगेकत्र चेच्छया ।
नरं तत्र प्रवालाभमर्धोन्मीलितलोचनम् ॥ १३९ ॥
अन्तर्निविष्टभावं च शब्दब्रह्मैकमानसम् ।
पदोपलक्षणं मन्त्रं लपमानमलक्षितम् ॥ १४० ॥
स्फाटिकेनाक्षसूत्रेण करस्थेन च शोभितम् ।
गणयन्नक्षसूत्रीयानावर्तान् वामपाणिना ॥ १४१ ॥
अथ नारायणं देवं ध्यायेत् कुमुदपाण्डरम् ।
बद्धब्रह्माञ्जलिं शान्तं हृत्पद्मार्पितमानसम् ॥ १४२ ॥
युञ्जानं च स्वमात्मानं परस्मिन्नव्यये पदे ।
कमण्डलुधरं ध्यायेत् काञ्चनाभमतो हरिम् ॥ १४३ ॥
विष्टराविष्टपाणिं च क्रियाकाण्डप्रदर्शकम् ।
पठन्तमनिशं शास्त्रं पञ्चरात्रपुरस्सरम् ॥ १४४ ॥
कृष्णमिन्दीवरश्याममूर्ध्वबाहुं जटाधरम् ।
पादेनैकेन तिष्ठन्तमाहरन्तं च मारुतम् ॥ १४५ ॥
एकत्रिषड्द्विषड्रात्राद्यतिकृच्छ्रपरायणम् ।
पक्षमासोपवासांश्च दिशन्तमनुचिन्तयेत् ॥ १४६ ॥
कृष्णाजिनोत्तरीयाश्च सर्वे काषायधारिणः ।
ब्रह्मलिङ्गधराः सर्वे सर्वे ब्रह्मपरायणाः ॥ १४७ ॥
मुख्यकर्मपरिक्रान्ताः साधूनां प्रेरणाय च ।
कालानुकालमाश्रित्य सर्वे सर्वपरायणाः ॥ १४८ ॥

अथ नरादीनां चतुर्णां ध्यानमाह—जगत्सूत्रमित्यादिभिः । जप-योग-क्रिया-तपः-परिरक्षकत्वं नर-नारायण-हरि-कृष्णानां क्रमेण बोध्यम् । एषां स्थानानि तु—

नरसंज्ञो जगन्नाथः सिद्धैः सम्पूजितेषु च ।
भूभागेषु च रम्येषु नित्यं सन्निहितः स्थितः ॥
गिरौ गोवर्धनाख्ये तु देवः सर्वेश्वरो हरिः ।
संस्थितः पूजिते स्थाने गवां निष्क्रमणेषु च ॥
सालिग्रामे च भगवान् राजेन्द्राख्ये वने द्विज ।
तथैव वसुधांशेन स्थितो देवव्रताभिधे ॥
कृष्णोऽपरश्चतुर्मूर्तिरवतीर्य धरातले ।
स्थितः पिण्डारके विप्र मोचयन् दुष्कृताज्जनान् ॥

—(पौ० सं० ३६।३३३-३३६)

इति ॥ १३६-१४८ ॥

अब **नर, नारायण, हरि और कृष्ण का ध्यान** कहते हैं—जिन्होंने पूर्वोक्त आकृति के बिना केवल षाड्गुण्य स्वरूप से ज्ञानियों के लिये अक्षसूत्र के साथ जगत्सूत्र का उपदेश किया ।

लाञ्छनास्त्र से विवर्जित उन्हें चार प्रकार से ध्यान करना चाहिये । वे अपने चारों रूपों से सद्विभूति और अपवर्ग देने वाले जप, योग, क्रिया और तप की सर्वदा रक्षा करें । नर, नारायण, हरि और कृष्ण चाहे पृथक् हों अथवा एकत्र हों, उनमें इनकी इच्छा ही प्रधान है, उनमें भगवान् **नर** प्रवाल की आत्मा वाले हैं, उनके नेत्र आधे खुले हैं, समस्त भाव उनके अन्तःकरण में सन्निविष्ट हैं, मानस शब्दब्रह्मैकनिष्ठ है, वे अलक्षित होकर पदोपलक्षण मन्त्र का जप करते रहते हैं और बायें हाथ में स्थित स्फटिक की माला से आवृत्त माला की संख्या की गणना करते रहते हैं ।

अब कुमुद के समान स्वच्छ वर्ण वाले **नारायण का ध्यान** कहते हैं जो ब्रह्माञ्जलि बाँधे हुए हैं, शान्त हैं, अपना मन हृदयपद्म में अर्पित किये हुए हैं, अपनी आत्मा को पर अव्यय पद में संयुक्त किये हुए हैं ।

अब **हरि का ध्यान** कहते हैं जो कमण्डल धारण किये हुए हैं । जिनके शरीर की आभा काञ्चन के समान है, विष्टर पर हाथ रखे हुए हैं, जो क्रियाकाण्ड के प्रदर्शक हैं और जो पञ्चरात्रपुरःसर सर्वदा शास्त्रों का पाठ करते रहते हैं ।

अब **कृष्ण का ध्यान** कहते हैं—नीलकमल के समान श्याम वर्ण वाले, ऊपर की ओर भुजा उठाये, जटा धारण किये हुए, एक पैर से खड़े होकर वायु पान करते हुए, भगवान् कृष्ण का ध्यान करना चाहिए । एक, तीन, छह या बारह रात्रि पर्यन्त अतिकृच्छ्र व्रत करने वाले एक पक्ष एवं मास पर्यन्त उपवास का उपदेश करने वाले ऐसे कृष्ण का ध्यान करना चाहिये । नर, नारायण हरि और

कृष्ण ये सभी कृष्णमृग का उत्तरीय तथा काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण किये हुए हैं। सभी ब्राह्मण चिह्नधारी हैं और वेद पाठ में लगे रहने वाले हैं। साधुओं को प्रेरणा देने के लिये अपने मुख्य कर्म में लगे रहते हैं, काल-अनुकाल का आश्रय लेकर सभी सबका हित करते हैं ऐसे चारों विष्णु के अवतारों का ध्यान करना चाहिए ॥ १३६-१४८ ॥

३१. परशुरामध्यानकथनम्

असङ्गशक्त्या भगवान् सत्कुठाराभिधानया।
छिनत्ति बद्धमूलान् यः कर्मवृक्षांस्तु कर्मिणाम् ॥ १४९ ॥
तमेव द्विभुजं ध्यायेदुदयादित्यवर्चसम्।
कृष्णैणचर्मवसनं सत्कुठारकराङ्कितम् ॥ १५० ॥

परशुरामध्यानमाह—असङ्गशक्त्येति द्वाभ्याम्। अस्य स्थानं तु—

नगोत्तमे महेन्द्राख्ये परश्वधकरो द्विजः।
रामसंज्ञश्च भगवान् संस्थितः क्षत्रियान्तकः॥

—(पौ०सं० ३६।३२७)

इति ॥ १४९-१५०॥

अब **परशुराम का ध्यान** कहते हैं—जो भगवान् बिना किसी की सहायता से अपनी कुल्हाड़ी मात्र से संसारी जीवों के बद्धमूल कर्मवृक्ष का उच्छेदन करते हैं, उदीयमान सूर्य के समान तेजस्वी दो भुजा वाले उन भगवान् परशुराम का ध्यान करना चाहिये। काले मृग के चर्म का वस्त्र तथा हाथ में कुठार धारण किये हुए उन परशुराम का ध्यान करना चाहिये ॥ १४९-१५० ॥

३२. श्रीरामध्यानकथनम्

दशेन्द्रियाननं घोरं यो मनोरजनीचरम्।
विवेकशरजालेन शमं नयति योगिनाम् ॥ १५१ ॥
ध्येयः स एव विश्वात्मा सतोयजलदप्रभः।
रक्तराजीवनयनो धनुःशरकराङ्कितः ॥ १५२ ॥

श्रीरामध्यानमाह—दशेन्द्रियाननमिति द्वाभ्याम्। अस्य स्थानं तु—

धराधरे चित्रकूटे रक्षःक्षयकरो महान्।
संस्थितश्चापरो रामः पद्मपत्रायतेक्षणः॥ —(पौ० सं० ३६।३२८)

इति ॥ १५१-१५२ ॥

अब **राम का ध्यान** कहते हैं—जो योगियों के मन रूपी महाघोर रावण राक्षस को अपने विवेक रूप शर जाल से शान्त कर देते हैं। सज्जल बादल के

समान कान्ति वाले, कमल नेत्र, हाथ में धनुष एवं बाण धारण किये हुए उन विश्वात्मा भगवान् राम का ध्यान करना चाहिये ॥ १५१-१५२ ॥

३३. वेदव्यासध्यानकथनम्

वाग्वेदमण्डलं यो वै स्वरूपद्युतिलक्षणम् ।
स्वयं स्वोत्थं विभजति त्रिधा पश्यन्तिपूर्वकम्॥ १५३ ॥
बोधमारुतहृत्पूर्वस्थानेष्वभ्युदितं क्रमात् ।
स्मर्तव्यः सोऽपि भगवानतसीकुसुमद्युतिः ॥ १५४ ॥
वहन् वै वामहस्तेन सर्वशास्त्रार्थपुस्तकम् ।
दक्षिणेन तु शास्त्रार्थमादिशंश्च यथास्थितम् ॥ १५५ ॥
युगानुसारिबोधानामखेदजननाय च ।
विभजंस्तु चतुर्धा वै वेदमेकं त्रिकालवित् ॥ १५६ ॥

अथ वेदव्यासध्यानमाह—वाग्वेदमण्डलमित्यादिभिः । स्वरूपद्युतिलक्षणम्, अन्तःस्थितज्योतिःस्वरूपमित्यर्थः, "स्वरूपज्योतिरेवान्तर्भावयन् संस्थितं हृदि" (३४।६३) इति पौष्करोक्तेः । केवलशान्तस्वरूपमिति यावत् । वाग्वेदमण्डलं शब्दब्रह्मेत्यर्थः । पश्यन्तीपूर्वकं त्रिधा विभजति पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभेदैस्त्रेधा विभक्तं करोतीत्यर्थः । एताः शब्दब्रह्मणोऽवस्थाः सुव्यक्तमुक्ता लक्ष्मीतन्त्रे—

बोधोन्मेषः स्मृतः शब्दः शब्दोन्मेषोऽर्थ उच्यते ।
उद्यच्छब्दोदयः शक्तेः प्रथमः शान्ततात्मनः ॥
स नाद इति विख्यातो वाच्यतामसृणस्तदा ।
नादेन सह शक्तिः सा सूक्ष्मेति परिगीयते ॥
नादात् परो य उन्मेषो द्वितीयः शक्तिसंभवः ।
(बिन्दुरित्युच्यते सोऽत्र वाच्योऽपि मसृणः स्थितः ॥)
पश्यन्ती नाम साऽवस्था मम दिव्या महोदया ।
ततः परो य उन्मेषस्तृतीयः शक्तिसंभवः ॥
मध्यमा सा दशा तत्र संस्कारयति सङ्गतिम् ।
वाच्यवाचकभेदस्तु तदा संस्कारतामयः ॥
चतुर्थस्तु य उन्मेषः शक्तेर्माध्यमिकात् परः ।
वैखरी नाम साऽवस्था वर्णवाक्यस्फुटोदया ॥
अस्ति शक्तिः क्रियात्मा मे बोधरूपाऽनुसारिणी ।
सा प्राणयति नादादिं शक्त्युन्मेषपरम्पराम् ॥
शान्तरूपाऽथ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी तथा ।

—(१८।२२-२९) इति ।

बोधमारुतहृत्पूर्वस्थानेष्वभ्युदितं क्रमादिति पश्यन्त्याद्यवस्थात्रयस्य विशेषणं बोध्यम्,

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा बुद्धिसंयुता।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

इत्युक्तेः ॥ १५३-१५६ ॥

अब **वेदव्यास का ध्यान** कहते हैं—जो आत्मस्वरूप को प्रकाशित करने वाले, वेदमण्डल को स्वयं अपने ज्ञान से पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी पूर्वक तीन भागों में प्रविभक्त करते हैं, जो ज्ञानरूपी वायु से आहरण किये जाने के स्थान में उत्पन्न होते हैं । ऐसे अलसी पुष्प के समान प्रभा वाले भगवान् वेदव्यास का स्मरण करना चाहिये । जो अपने बायें हाथ से सभी शास्त्रों की पुस्तक तथा दाहिने हाथ से सभी शास्त्रों का उपदेश यथास्थित रूप से करते हैं और जो त्रिकालवेत्ता हैं, जो युगानुसारी बोध को बिना परिश्रम ज्ञान के लिये एक ही वेद को चार भागों में विभक्त कर देते हैं, उन वेदव्यास का ध्यान करना चाहिये ॥ १५३-१५६ ॥

३४. कल्किध्यानकथनम्

दानधर्मरतानां च यागयज्ञानुयाजिनाम् ।
तपःस्वाध्यायसक्तानां मुक्तानां वै पुनर्भवात् ॥ १५७ ॥
संरक्षणाय योग्यत्वविज्ञानव्यक्तयेऽपि च ।
समुदेति जगन्नाथस्तेषां हृत्कमलावने ॥ १५८ ॥
मनोवाजिनमाक्रम्य त्वादायात्मगुणायुधान् ।
नूनमुत्पाटयत्याशु जन्मान्तरशतोत्थितम् ॥ १५९ ॥
वैषयं वासनाजालं शुद्धविज्ञानसिद्धये ।
ध्यायेद् वराश्वगं तं वै तनुत्रावृतविग्रहम् ॥ १६० ॥
सितोष्णीषललाटं च नातिदीर्घजटाधरम् ।
द्रवत्कनकवर्णाभम् इषुधिद्वयमध्यगम् ॥ १६१ ॥
शरचापकरव्यग्रं खड्गकुन्तकुठारिणम् ।
यज्ञाध्ययनदानानि परिरक्षन्तमेव हि ॥ १६२ ॥
शातयन्तमवर्णांश्चाप्यधर्मनिरतात्मनः ।

अथ कल्किध्यानमाह—दानधर्मरतानां चेत्यादिभिः । अस्य स्थानं तु श्रीपौष्करे—

कल्की विष्णुश्च भगवान् स्तूयमानो द्विजैः स्थितः ।
समासाद्य विपाशां च नदीं नियतमानसः ॥ (३६।३३१)

इति ॥ १५७-१६३ ॥

अब **कल्कि का ध्यान** कहते हैं—दान, धर्म में निरत, योग-यज्ञ करने वाले तपःस्वाध्याय में लगे हुए, मुक्त जनों को संसार से संरक्षण के लिये,

सर्वोत्तम विज्ञान प्रगट करने के लिये, जो जगन्नाथ हृदयरूपी कमलावन में उत्पन्न होते हैं, जो मन रूपी घोड़े पर चढ़कर, अपने गुणरूपी आयुध को लेकर, सैकड़ों जन्म से उत्पन्न वैषयिक वासना जाल को शुद्ध विज्ञान वृद्धि के लिये शीघ्र उखाड़ कर फेंकते हैं, ऐसे शीघ्रगामी घोड़े पर सवार होकर शरीर में कवच धारण किये हुए, सिर पर स्वच्छ उष्णीष (साफा) बाँधे हुए, सामान्य जटा धारण किये हुए, तप्त काञ्चन के समान उद्दीप्त, दो तरकसों में बाण तथा हाथ में धनुष धारण किये हुए, तलवार, भाला और कुठार धारण कर संसारी लोगों के यज्ञ, अध्ययन एवं दान की रक्षा करते हुए, अधर्म निरत पापियों को विनष्ट करने वाले भगवान् कल्कि का ध्यान करना चाहिये ॥ १५७-१६३ ॥

३५. पातालशयनध्यानकथनम्

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
आधारं भुवनानां च ध्यातव्यस्तदधः स्थितः ॥ १६४ ॥
अनन्तशयनारूढः कल्पान्तहुतभुक्प्रभः ।
ज्वलज्ज्वालावलीयुक्तो ज्वलनांशुकवेष्टितः ॥ १६५ ॥
चक्राद्यायुधवृन्देन मूर्तेन परिवारितः ।
स्थिताङ्घ्रिदेशतो लक्ष्मीश्चिन्ता दक्षिणतो विभोः ॥ १६६ ॥
मूर्धदेशगता निद्रा पुष्टिस्तद्वामतः स्थिता ।

पातालशयनध्यानमाह—सर्वतत्त्वाश्रयमित्यादिभिः । पद्मनाभपातालशाय्येकार्णवशायिन्यग्रोधशायिनां स्थानानि श्रीपौष्करे प्रतिपादितानि—

क्षारोदधौ पद्मनाभः शेषाहिशयनो हरिः ।
स्थितो नाभ्यब्जसंभूतो यस्माच्चैव पितामहः ॥
चतुर्धा रूपमाश्रित्य विश्वेऽस्मिन् सैव वर्तते ।
हिताय सर्वलोकानां यथा तदवधारय ॥
आसाद्य शयनं ब्रह्मन् पातालतलसंस्थितः ।
वटमादाय चाग्नेयं योऽन्ते संहरते जगत् ॥
वटमूलं समाश्रित्य प्रयागे सुरपूजिते ।
जगदेकार्णवं कृत्वा दिव्यमासाद्य पादपम् ॥
संतिष्ठते स भगवान् तस्मिंस्तीरे क्षितौ द्विज ।
न्यग्रोधशयनं चैव ध्यायेद् दिव्यगतिप्रदम् । (३६।३३८-३४२)

अस्यैवं शक्तिचतुष्टयान्वितत्वं लक्ष्मीतन्त्रेऽप्युक्तम्—

अनन्तशयनो नाम योऽवतारो हरेरहम् ॥
स्थिता चतुर्दिशं तस्य चातुरात्म्यमुपेयुषी ।
लक्ष्मीश्चिन्ता तथा निद्रा पुष्टिश्चेत्याख्यया युता ॥ (८।३५-३६)

इति ॥ १६३-१६७ ॥

अब **पातालशयन का ध्यान** कहते हैं—सभी तत्त्वों के आश्रय तत्त्व, सर्व-शक्तिमय, विभु (= व्याप्त), सभी इन्द्रियों को भासित करने वाले, किन्तु स्वयं सर्वान्द्रिय विवर्जित, सभी भुवनों के आधार, पाताल में स्थित, अनन्तशायी और कल्पान्त अग्नि स्वरूप पातालशायी भगवान् का ध्यान करना चाहिये । जो जाज्वल्यमान ज्वाला से युक्त ज्वलन का वस्त्र धारण किये हुए हैं । जो मूर्त्तिमान् चक्रादि आयुध समूह रूप परिवारों से घिरे हुए हैं । जिनके पाद-प्रदेश में लक्ष्मी तथा जिन प्रभु के दाहिने चिन्ता स्थित हैं, शिर के पास निद्रा एवं बायीं ओर पुष्टि स्थित हैं इस प्रकार के पातालशायी प्रभु का ध्यान करना चाहिए ॥ १६३-१६७॥

प्रधानदेवताध्यानमिदमुक्तं समासतः ॥ १६७ ॥
यज्ज्ञात्वा विनिवर्तन्ते जन्ममृत्युजरारुजः ।
नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां व्यक्तिर्व्यक्ता जगत्त्रये ॥ १६८ ॥
तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्घ्रिगोचरे ।
ललाटे चांसपट्टे तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥ १६९ ॥
तनूरुहचये मूर्ध्नि कर्मिणां प्रतिपत्तये ।

फलकथनेन सहोक्तमर्थं निगमयति—प्रधानेति ।

एषां विभवदेवानामुक्तक्रमेण हस्तादिषु तत्तन्मूर्तिज्ञापकायुधादिलाञ्छनराहित्येऽपि तेषामङ्घ्रिललाटादिषु लाञ्छनमस्ति, तत्सावधानं परीक्षितव्यमित्याह—नास्त्रैरिति द्वाभ्याम् । इदं श्लोकद्वयमीश्वर (३।१८२-१८३) पारमेश्वर(१०।९३-९५)योरपि विमानार्चनप्रकरणे प्रतिपादितम् । किन्तु तयोः केषुचित् कोशेषु—''अस्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषाम्'' इति नकारो न दृश्यते । तल्लेखकप्रमादकृतम्, मूलविरुद्धत्वात् । यद्वा ईश्वरव्याख्याने तत्पाठस्यापि गतिर्दर्शितैव । पारमेश्वरव्याख्याने—''अङ्घ्रिगोचरे स्थित्यासनादिना, ललाटे नेत्रत्रयादिना, अंसपट्टे भुजभेदेन, पृष्ठे शरचक्रादिना'' इत्यादिक्रमेण व्याख्यातम् । तदसंगतम्, लाञ्छनशब्दस्य चक्रादिपरत्वेनैव सार्वत्रिकप्रसिद्धेः । उत्तरश्लोक एव ''न जहात्यच्युतं लिङ्गम्'' (१२।१७१) इति कण्ठरवेणात्र वक्ष्यमाणत्वाच्च ॥ १६७-१७०॥

यहाँ तक हमने संक्षेप में प्रधान देवता का ध्यान कहा । (अध्याय नव में पाताल शयन प्रभु ही तक मुख्य अवतार कहा गया है जैसा कि वेदवित् भगवान् कल्की पाताल शयनः प्रभुः ९९.९३) कहा । अब विभव देवताओं का वर्णन करते हैं—जिनके ज्ञान से जन्म, मृत्यु, जरा और रोग निवृत्त हो जाते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति (प्राकट्य) अस्त्र, वस्त्र और ध्वज से तीनों लोक में नहीं जानी जाती किन्तु वे भी अपने पैरों में, ललाट में, अंसपट्ट में, पृष्ठ में, दोनों हाथों में, बालों में एवं शिर में कर्म करने वाले जीवों के ज्ञान के लिये तथा संसारी मनुष्यों के लिये अथवा वैष्णव स्वभाव से लाञ्छन वृन्द धारण करते हैं ॥ १६७-१७० ॥

अपि संसारिणो जन्तोः स्वभावाद् वैष्णवस्य च ॥ १७० ॥
न जहात्यच्युतं लिङ्गं किं पुनर्विभवाकृतेः ।
सर्वेषां कामचारित्वं यदुक्तं वै मया पुरा ॥ १७१ ॥
तदङ्घ्रिभुजवर्णास्यबृहन्मध्याणुलक्षणम् ।
एकाद्यनेकसंख्यं च दृश्यं सर्वत्र सर्वदा ॥ १७२ ॥

उक्तमर्थं किंपुनर्न्यायेन द्रढयति—अपीति । जन्तोरिति, विभवाकृतेरिति च कर्मणि षष्ठी । केवलवैष्णवजनस्यैव सामुद्रिकलक्षणपरीक्षणकाले हस्ताद्यवयवेषु चक्रादिलाञ्छनं दृश्यते । साक्षाद्विष्णोर्विभवावतारस्य तथा लाञ्छ(नस्त्वेकः?ने कुतः) संदेह इति भावः । उक्तानां विभवदेवानां सर्वेषामपि ''कृष्णारूपाण्यसंख्यानि'' इतिवद् भुजवर्णायुधादिभिरसंख्यातकामरूपधरत्वमाह—सर्वेषामिति सार्धेन ॥ १७०-१७२॥

जब वे अपना अच्युत लिङ्ग (= चिह्न) भी नहीं त्यागते हैं, फिर विभवाकृति चिह्न के विषय में क्या कहा जाय? ऊपर कहे गये सभी विभव देवों के जब असंख्य कृष्ण रूप हैं तब उनकी भुजायें, वर्ण और आयुध भी असंख्य हो सकते हैं ॥ १७०-१७२ ॥

न त्वन्यरूपता कार्या करणं कामरूपता ।
यस्मादस्ति पृथग्भूतो व्यापारो विश्वमन्दिरे ॥ १७३ ॥
देवानां स्थितिसंहारसृष्टिकाले स्वकः स्वकः ।
सत्येवं नियमे सिद्धे तथापि भगवद्वशात् ॥ १७४ ॥
चातुरात्म्यसमूहात् तु यत्पद्मदलभूस्थितम् ।
तथा विभवदेवानां मध्यात् पद्मदलेक्षण ॥ १७५ ॥
एकस्त्वनुग्रहार्थं तु शक्त्यात्मा भावितात्मनाम् ।
बिभर्ति बहुभेदोत्थं रूपं सद्वाहनस्थितम् ॥ १७६ ॥

एवं सर्वेषां कामरूपवत्तापि नहि मूर्तिविपरीतज्ञानजननी, तत्तन्मूर्तिनिर्णायकविजातीयस्वस्वव्यापारसत्त्वादित्याह—न त्विति सार्धेन । यद्यप्येवं सर्वेषां कामरूपधरत्वनियमः सिद्धः, तथापि सर्वे देवा युगपत् कामरूपधरा न भवन्ति, जाग्रद्व्यूहवासुदेवादीनां मध्ये पद्मनाभादिविभवदेवानां मध्ये वा एको जगद्रक्षणार्थं वक्त्रभुजास्त्रशक्तिवाहनभेदैर्बहुधा रूपं बिभ्रन् शक्त्यात्मसंज्ञां भजतीत्याह—सत्येवमिति सार्धद्वाभ्याम् । यत्पद्मदलभूस्थितं जाग्रद्व्यूहसं(ज्ञां?ज्ञं) चातुरात्म्यमित्यर्थः,

तत्पत्रमध्ये भगवान् जाग्रत्संज्ञे पदे त्वथ ।
यष्टव्यो भावनीयश्च यथा तदधुनोच्यते ॥ (५।४)

इति जाग्रद्व्यूहस्य हि पद्मदलभूस्थितत्वमुक्तम् ॥ १७३-१७६ ॥

इस प्रकार सबकी कामरूपता भी मूर्त्तिविपरीत ज्ञान की जननी नहीं हैं

क्योंकि उसमें तत्तन्मूर्त्ति निर्णायक द्विजातीय एवं स्व-स्व व्यापार स्थित हैं, क्योंकि इस विश्वमन्दिर में उन देवताओं के सृष्टि, स्थिति एवं संहार काल में अपने-अपने कामरूप परतत्त्व के नियम हैं तथापि भगवद्वश से एवं चातुरात्म्य समूह से जो पद्मदल की भूमि में स्थित हैं वे जाग्रद् व्यूह वासुदेव के मध्य में, अथवा पद्मनाभादि विभव देवों के मध्य में कोई एक भी इस जगत् की रक्षा के लिये वक्त्र, भुजा, अस्त्र, शक्ति एवं वाहन भेदों से अनेक रूप धारण करते हुए शक्ति संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं ॥ १७०-१७६ ॥

वाहनस्य भेदान्, तल्लक्षणकथनम्

यदनुस्मरणाद् ध्यानादर्चनादचिरात् पुमान् ।
प्राप्नोति मनसोऽभीष्टं तन्मे निगदतः शृणु ॥ १७७ ॥
सत्यः सुपर्णो गरुडस्तार्क्ष्यश्च विहगेश्वरः ।
पञ्चात्मकस्य प्राणस्य विकारस्त्वेष पञ्चधा ॥ १७८ ॥
आचाङ्घ्रिगोचरात् सर्वो यस्य देहस्तु पौरुषः ।
द्विभुजस्तुहिनाभश्च स सत्यः प्राणदैवतम् ॥ १७९ ॥
सुपर्णः पद्मरागाभो निर्मलः स्वर्णलोचनः ।
गरुडः काञ्चनाभस्तु कुटिलभ्रवरुणेक्षणः ॥ १८० ॥
केकराक्षस्तु तार्क्ष्यो वै प्रावृड्जलदसन्निभः ।
द्रवत्कनकनेत्रस्तु शबलाभश्च पञ्चमः ॥ १८१ ॥
चतुर्भुजाः सुपर्णाद्याः सौम्यरूपास्त्वनाकुलाः ।
पतत्रिचरणाः सर्वे पक्षमण्डलमण्डिताः ॥ १८२ ॥
लम्बोदराः सुपीनाङ्गाः कुण्डलाद्यैस्तु भूषिताः ।
कुटिलभ्रूसुवृत्ताक्षा वक्रतुण्डाः स्मिताननाः ॥ १८३ ॥
अपानादिसमीराणामाधिपत्येन संस्थिताः ।
महाबला महाकाया रक्ततुण्डोऽत्र पञ्चमः ॥ १८४ ॥
आधेयचरणाधःस्थः सव्य आद्यस्य वै करः ।
दक्षिणश्चाक्षसूत्रेण सुसितेन च भासितः ॥ १८५ ॥
एवमेव सुपर्णस्य परिज्ञेयं भुजद्वयम् ।
नाभ्युद्देशेऽपरो वाम उत्तानस्तु सविस्मयः ॥ १८६ ॥
पुष्पस्तबकसम्पूर्ण ऊर्ध्ववक्त्रस्तु दक्षिणः ।
गरुडस्य द्वयं विद्धि हृद्देशेऽञ्जलिरूपिणम् ॥ १८७ ॥
तत्रैव सम्पुटाकारं चतुर्थस्य करद्वयम् ।

दक्षिणेऽमृतकुम्भस्तु वामे तु विषमः फणी ॥ १८८ ॥
पञ्चमस्य द्वयं शेषं त्रयाणां च द्वयोः समम् ।
आधेयचरणाक्रान्तो यदि वै दक्षिणः करः ॥ १८९ ॥
सञ्चारो विहितो वामे त्वक्षसूत्रस्य वै तदा ।
आधेयचरणाधःस्थं यस्य पाणितलद्वयम् ॥ १९० ॥
निरस्तसूत्रं तं विद्धि वाहनं भगवन्मयम् ।

अथ प्रसक्तस्य वाहनस्य भेदान् तल्लक्षणं चाह—यदनुस्मरणादित्यादिभिर्भगवन्मयमित्यन्तैः । आ चाङ्घ्रिगोचरात् चरणादारभ्य यस्य सर्वो देहः पौरुषः समस्तोऽपि कायः पुरुषाकृतिरित्यर्थः । प्राणदैवतं प्राणाधिपतिरित्यर्थः । केकराक्षः केकरे वक्रे अक्षिणी यस्य स तथोक्तः । "बलिरः केकरे" (२।६।४९) इत्यमरः । केकरपदेनैव वक्राक्षत्वे सिद्धेऽप्यत्र पृथगक्षिपदनिर्देशात् केकरशब्दस्य वक्रमात्रपरत्वं बोध्यम् ।

पारमेश्वरव्याख्याने तु—"केकराक्षो भगवद्ध्यानवशादर्धोन्मीलितलोचनः" इति लिखितम्, तद्विचारणीयम् । शबलाभः = चित्रवर्णाभ इत्यर्थः । आद्यस्य सत्यस्य सव्यः करो वामहस्तः । आधेयचरणाधस्थः आधेयस्य निजस्कन्धाधिरूढस्य भगवतः पादपद्माधः स्थित इत्यर्थः । दक्षिणस्तु अक्षसूत्रेण भासितः । अत्र चकारद्वयेन कदाचिद्वामहस्तस्याप्यक्षसूत्रभासितत्वम्, दक्षिणस्याप्याधेयचरणा(धः)स्थितत्वं च संभवतीत्यर्थः सूच्यते—

आधेयचरणाक्रान्तो यदि वै दक्षिणः करः ।
सञ्चारो विहितो वामे त्वक्षसूत्रस्य वै तदा ॥
—(१२।१८९-१९०)

इत्युक्तेः । ननु—

स्वस्वाङ्गुष्ठद्वयप्रोतगणित्रोभयपाणिना ।
पुष्पाञ्जलिधराः सर्वे मुख्येन विहगोत्तमाः ॥
—(ई०सं० ८।४८, पा०सं० ८।४७-४८)

इतीश्वरपारमेश्वरोक्तेः करद्वयेऽप्यक्षसूत्रधारणं स्यात्, किन्तु दक्षिणहस्ते भगवच्चरणाक्रान्ते सति तदा वामहस्तस्थितस्याक्षसूत्रस्य सञ्चारो गणनार्थं सञ्चालनं स्यादित्यर्थः सरस इति चेन्न,

आधेयचरणाधःस्थं यस्य पाणितलद्वयम् ।
निरस्तसूत्रं तं विद्धि वाहनं भगवन्मयम् ॥ —(१२।१९०-१९१)

इति वचनविरोधात् । भ(ग?) वदुक्तार्थे सिद्धे निरस्तसूत्रसञ्चारं तं विद्धीति वचनं (कथं) प्रवर्तेत । स्वस्वाङ्गुष्ठद्वयप्रोतगणित्रोभयपाणिनेत्यत्रापि पुष्पाञ्जलिप्रकरणादङ्गुष्ठद्वयप्रोतमेकमेवाक्षसूत्रमिति ज्ञायते । यद्वा दक्षिणे वामे वाऽङ्गुष्ठेऽक्षसूत्रं धार्यमिति ज्ञापनार्थमङ्गुष्ठद्वयमप्युक्तमिति ज्ञेयम् ।

सुपर्णस्य भुजद्वयं मुख्यहस्तद्वयमेवमेव सत्योक्तलक्षणमेवेत्यर्थः । अपरो वामः

पाश्चात्त्यो वामहस्तः सविस्मयः, विस्मयमुद्रान्वित इत्यर्थः । दक्षिणः पाश्चात्त्यो दक्षिणहस्तस्तु पुष्पस्तबकसम्पूर्णः, मन्दारपुष्पस्तबकान्वित इत्यर्थः । ऊर्ध्ववक्त्र उत्तानश्चेत्यर्थः । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

सुपर्णः पश्चिमाभ्यां तु पाणिभ्यां दक्षिणादितः ।
मन्दारपुष्पस्तबकं दधद् विस्मयमुद्रिकाम् ॥ इति ।

—(ई०सं० ८।४९, पा० सं० ८।४८-४९)

गरुडस्य द्वयं पश्चात्करद्वयमित्यर्थः । चतुर्थस्य करद्वयं तार्क्ष्यस्य पश्चात्करद्वयमित्यर्थः । पञ्चमस्य विहगेश्वरस्य दक्षिणे पश्चाद्दक्षिणकरे । वामे पश्चाद्वामकर इत्यर्थः । त्रयाणां गरुडतार्क्ष्यविहगेश्वराणाम् । शेषं द्वयमवशिष्टं मुख्यहस्तद्वयम् । द्वयोः समं सत्यसुपर्णयोः समम्, तन्मुखहस्तयोः सदृशमिति यावत् ।

ननु गरुडस्य द्वयमित्याद्युक्तमेव मुख्यहस्तद्वयं स्यात् । त्रयाणां शेषं पश्चात्करद्वयं द्वयोः सुपर्णपश्चात्करयोः सदृशमित्यर्थः सरस इति चेन्न, तथाऽथर्वणनि तत्तत्स्कन्धाधिरूढभगवच्चरणारविन्दयोराधारासिद्धेः, "पञ्चमो विहगेश्वरः । दक्षिणेन सुधाकुम्भं वामेन तु फणीश्वरम्" (ई०सं० ८।५१, पा०सं० ८।५०-५१) इतीश्वरपारमेश्वरोपबृंहणविरोधाच्च ।

ननु किं तर्हि मूलोपबृंहणयोः सर्वत्रैकार्थ्यं संभवति ? अत्र भवदुक्तरीत्या विरोधे परिहृतेऽपि,

तथाविधाभ्यां गरुडस्ते धत्ते व्यत्ययेन तु ।
तार्क्ष्यः पश्चिमयोर्नित्यं धत्ते दक्षिणवामयोः ॥
कद्रूं तथाऽमृतं कुम्भम् ....

—(ई०सं८।५०-५१, पा०सं० ८।४९-५०)

इति वचनम्,

स्वस्वाङ्गुष्ठद्वयप्रोतगणित्रोभयपाणिना ।
पुष्पाञ्जलिधराः सर्वे मुख्येन विहगोत्तमाः ॥

—(ई०सं० ८।४८, पा०सं० ८।४७-४८)

इति वचनं च मूलविरुद्धं भवति । तत्र का गतिरिति चेत्, सत्यम् । उपबृंहणवचनविरोधेऽपि न प्रत्यवायः । तथाहि—तत्र सत्यादीनां प्रधानपक्षीश्वरपरिवारत्वदशाप्रकरणाद् भगवद्वाहनत्वस्य तदानीमप्राप्तत्वाच्च सर्वेषामपि मुख्यहस्ताभ्यां पुष्पाञ्जलिधरत्वमेवोक्तम्, सुपर्णविहगेश्वरयोर्मूलानुसारेणैव सामञ्जस्यात् । पश्चात्कराभ्यां पुष्पस्तबकविस्मयमुद्रिकाधारणं सुधाकुम्भफणीश्वरधारणं चोक्तम् । गरुडतार्क्ष्ययोस्तु मुख्यहस्ताभ्यामेव पुष्पाञ्जलिधारणस्योक्तत्वात् पुनः पश्चात्कराभ्यामञ्जलिपुटधारणस्यासामञ्जस्यात् सुपर्णविहगेश्वरोक्तलाञ्छनयोरेवाभ्यां व्यत्ययेन धारणमुक्तमिति ज्ञेयम् । भगवद्वाहनत्वदशायां सत्यादीनां ध्यानं तु यथामूलं विलिखितमीश्वरे ॥ १७७-१९१ ॥

जिसके अनुसरण से, ध्यान से, अर्चन से पुरुष अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेता हैं । सत्य, सुपर्ण, गरुड़, तार्क्ष्य और विहगेश्वर ये सभी पञ्चप्राण के विकार हैं, जिनका चरण से लेकर समस्त देह पुरुषाकृति है, जिनकी दो भुजायें हैं, जो तुहिन के समान स्वच्छ हैं, वह प्राण दैवत **सत्य** हैं । जिसकी पद्मरागमणि के समान निर्मल कान्ति है, सोने के समान चमकीली आँखे हैं, वह **सुपर्ण** हैं । जिसके शरीर की आभा काञ्चन के समान है, भ्रू कुटिल हैं, नेत्र लाल हैं, वह **गरुड़** हैं । जिसकी आँखे वक्र हैं, जो वर्षाकालीन बादल के समान हैं, वह **तार्क्ष्य** हैं । तप्त कनक के समान चमकीले नेत्रों वाला चित्रवर्ण पञ्चम **विहगेश्वर** हैं। सुपर्णादि सभी चार भुजा वाले, सौम्य स्वरूप, धैर्यशाली, पक्षियों के समान चरण वाले, पङ्खों के मण्डल से मण्डित, लम्बोदर, मोटे तथा कुण्डलादि से विभूषित हैं, उनका भ्रू कुटिल है। मुख गोल है और नासिका चोंच की तरह टेढ़ी है, प्रसन्नचित्त हैं, ये सभी अपानादि वायुओं के अधिपतित्व के रूप में स्थित हैं, सभी महाबलवान् हैं, महाकाय हैं, इसमें पाँचवे विहगेश्वर रक्त तुण्ड हैं। आद्य प्राण अधिदैवत सत्य का बायाँ हाथ आधेय विष्णु के चरण के नीचे है। दाहिना हाथ भगवान् के अक्षसूत्र से भासित है । इसी प्रकार सुपर्ण की दोनों भुजायें सत्य की दोनों भुजाओं के समान हैं, ऐसा समझना चाहिये । पीछे का बायाँ दूसरा हाथ नाभि देश पर उतान है तथा विस्मय युक्त है । पीछे का दाहिने हाथ फूल के गुच्छों से युक्त है । ऊपर का मुख उतान है और गरुड़ का पीछे का दोनों हाथ हृदय स्थान पर अञ्जलि रूप में है। चतुर्थ तार्क्ष्य का दोनों हाथ वही सम्पुटाकार है । उनके दाहिने हाथ में अमृत का कुम्भ है और बायें हाथ में विषैला सर्प है ।

विहगेश्वर का दो हाथ खाली है, इस प्रकार तीन में दो का हाथ समान है । यदि दाहिना हाथ आधेय से आक्रान्त है तब वे बायें हाथ से अक्षमला घुमाते हैं । किन्तु जिनका दोनों हाथ आधेय के चरण के नीचे है, तब उन भगवन्मय वाहन को माला (अक्षसूत्र) से रहित समझना चाहिये ॥ १७७-१९१ ॥

अनुग्रहपरस्त्वास्ते पक्षिपक्षाब्जविष्टरे ॥ १९१ ॥
स्वतेजोनिजसामर्थ्यमसूरकवरान्विते ।
पद्मासनादिना चैव केवलं वा श्रियान्वितः ॥ १९२ ॥
सुव्यक्तावयवस्थित्या विद्धि तं गरुडासनम् ।

एवमुक्तलक्षणे वाहने भगवदवस्थानक्रममाह—अनुग्रहेति द्वाभ्याम् । स्वतेजोनिजसामर्थ्यमेव मसूरकवरमास्तरणोत्तमं तेनान्विते ॥ १९१-१९३ ॥

भगवान् पक्षि के पक्ष रूपी कमल के विष्टर पर बैठे हुए हैं और वह अनुग्रह परायण रहते हैं । ऐसे तो अपने तेज, अपने सामर्थ्य से वे खोली युक्त रूई के गद्दे

अथवा पद्मासन पर रहते हैं। किन्तु वहाँ अकेले नहीं रहते लक्ष्मी के साथ से रहते हैं सुव्यक्त (स्पष्ट) शरीरावयव स्थिति में वे गरुड़ासन पर रहते हैं ॥ १९१-१९३ ॥

मेढ्रभूः सोदराऽस्यैव गोपिता वेगगामिना ॥ १९३ ॥
वीर्यपातात् स्वशिरसा गच्छतश्चाण्डजेन तु ।

भगवन्मेढ्रप्रदेशस्य पक्षीश्वरशिरसा गोपने प्रयोजनमाह—मेढ्रभूरिति । सोदरा उदरसहितेत्यर्थः । वीर्यपातादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अण्डजेन (=पराक्रम) पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः ॥ १९३-१९४ ॥

वे गरुड़ जब चलने लगते हैं तब अपने वेगगामी शिर से उनके वीर्यपात से अण्डकोश को छिपा देते हैं ॥ १९३-१९४ ॥

लोकान्तराणां कार्यार्थं वात्सल्याद् ध्यायिनामपि ॥ १९४ ॥
प्रत्यक्षदर्शनार्थं तु स्मृतो गरुडवाहनः ।

भगवतो गरुडारोहणप्रयोजनमाह—लोकेति ॥ १९४-१९५ ॥

लोकान्तर में कार्य के लिये, अथवा ध्यान करने वालों पर वत्सलता प्रगट करने के लिये, अथवा प्रत्यक्ष दर्शन के लिये वे गरुड़ को वाहन रूप में स्मरण करते हैं ॥ १९४-१९५ ॥

तस्माद् भगवतो विष्णोरेवंरूपधरस्य तु ॥ १९५ ॥
समाहूतस्य सिद्ध्यर्थमासीनां संस्मरेत् स्थितिम् ।

साधकेन तत्तत्फलसिद्ध्यर्थं भगवदासनभेदः स्मर्तव्य इत्याह—तस्मादिति ॥ १९५-१९६ ॥

उपसंहृतवामाङ्घ्रिः कञ्जस्थो वा खगस्थितः ॥ १९६ ॥
वाममिच्छाफलानां यो ध्वंसयत्यन्यचिन्तितम् ।
आजानोर्दक्षिणस्यैवमविक्षिप्तः स्मृतोऽच्युतः ॥ १९७ ॥
आमोक्षात् सर्वसिद्धीनां दक्षिणोऽध्यायिनां भवेत् ।
सर्वमेव ऋजुस्थित्या संस्थितश्चार्थिना स्मृतम् ॥ १९८ ॥
स्वस्तिकाद्यैर्भवत्येवं किन्तु ते वाहनं विना ।
विहिताः पीठकह्लारसिंहासनगतस्य च ॥ १९९ ॥

आकुञ्चितवामपादो भगवाननिष्टं निवारयतीत्याह—उपसंहृतेति । वामं प्रतिकूलमित्यर्थः । कुञ्चितदक्षिणाङ्घ्रिस्त्विष्टं प्रापयतीत्याह—आमोक्षादिति । दक्षिण उदार इत्यर्थः । तदुभयं विना ऋजुस्थितो भगवाननिष्टनिवारमिष्टप्रदानं च सर्वं करोतीत्याह—सर्वमित्यर्धेन । एवं स्वस्तिकाद्यासनभेदा वाहनं विना पीठाधिरूढस्यापि संभवन्तीत्याह—स्वस्तिकाद्यैरिति ॥ १९६-१९९ ॥

इस कारण, भगवान् के इस प्रकार रूप धारण करने पर, सिद्धि की प्राप्ति के लिये बुलाये जाने पर, गरुड़वाहन विष्णु का ध्यान करे, अथवा बायें पैर को समेटे हुए कमल पर बैठे हुए ध्यान करे, अथवा गरुड़ पर बैठे हुए भगवान् का ध्यान करे। (यहाँ (काम्य कर्म रूप) कार्य भेद से विष्णु के आसन का भेद कहा गया) ये भगवान् प्रतिकूल इच्छित फल को शीघ्र विनष्ट करते हैं। इस प्रकार ध्यान करने वाले भक्तों द्वारा बुलाने पर भगवान् अच्युत जानु से लेकर दाहिने पैर को संकुचित कर सभी सिद्धियों से लेकर मोक्ष पर्यन्त सब कुछ देने के लिये तैयार रहते हैं। दोनों पैरों के संकोच विना केवल ऋजु स्थिति में भी वे वैष्णव अर्थियों को सब कुछ देने के लिये स्थित रहते हैं ॥ १९५-१९८ ॥

इसी प्रकार स्वस्तिकासन आदि भेद से वाहन के विना भी पीठ एवं कल्हार तथा सिंहासन पर बैठ कर भी वे वाञ्छित पूर्ण करते रहते हैं ॥ १९९ ॥

विहगाधिपतिश्चात्र योगैश्वर्याद् बिभर्ति च।
सवक्त्रं भुजवृन्दं तु नागेन्द्रास्त्रवरान्वितम् ॥ २०० ॥
विभोराज्ञावशेनैव तुष्ट्यर्थं वा स्वयं विभोः।
जगज्जयोदयार्थं तु शान्तये शरणैषिणाम् ॥ २०१ ॥
विभिन्नेन च रूपेण नानालोकान्तरेषु च।
अनिरुद्धगतिर्वीरो विचरत्येक एव हि ॥ २०२ ॥

स्वाधिरूढशक्तीश इव पक्षीशोऽपि तदाज्ञया निखिलजगत्संरक्षणार्थं वक्त्र-भुजायुधादिभिर्विविधस्वरूपः स्वयमेक एव सर्वत्र विचरतीत्याह—विहगाधिपतिरिति त्रिभिः ॥ २००-२०२ ॥

इसी प्रकार पक्षीश भी भगवान् की आज्ञा से समस्त जगत् की रक्षा के लिये मुख सहित भुजवृन्द नागेन्द्र युक्त श्रेष्ठ अस्त्र धारण कर भगवान् की आज्ञावश होकर, अथवा अपनी तुष्टिवश, अथवा जगज्जय के लिये, अथवा शरणार्थियों को शरण देने के लिये विभिन्न रूप धारण कर अनेक लोक-लोकान्तरों में बेरोक-टोक अकेले विचरण करते हैं ॥ २००-२०२ ॥

तदारूढस्य यद् रूपं शक्तीशस्य च सम्प्रति।
अनेकभेदभिन्नं तु निबोध गदतो मम ॥ २०३ ॥

शक्तीशस्य रूपभेदान् शृण्वित्याह—तदारूढस्येति ॥ २०३ ॥

गरुड़ पर आरुढ़ रहने वाले शक्तीश का सम्प्रति जो अनेक भेद एवं भिन्न रूप है उसे हे सङ्कर्षण! आप सुनिये, मैं कह रहा हूँ ॥ २०३ ॥

संयच्छन्तं सदा शान्तिं भविनां दक्षिणेन तु।
प्रोद्वहन्तं च वामेन शङ्खं पूर्वोक्तलक्षणम् ॥ २०४ ॥

द्विभुजस्य त्विदं रूपं शक्तीशस्य तु केवलम् ।
रूपेणानेन च पुनः षोढा समुपयाति च ॥ २०५ ॥
सह कान्तागणेनैव त्वेकाद्येन पृथक् पृथक् ।
प्राग्वल्लक्ष्म्या समेतं यत्तदेकं रूपमैश्वरम् ॥ २०६ ॥
श्रीपुष्ट्योरथ मध्यस्थं द्वितीयं परिकीर्तितम् ।
श्रियादिमायानिष्ठेन चतुष्केणावृतं परम् ॥ २०७ ॥

पूर्वं केवलं द्विभुजरूपं तस्य लक्ष्म्यादिभिः षोढा भेदांश्चाह—संयच्छन्तमित्यादिभिः ॥ २०४-२०७ ॥

वे शक्तीश अपने दाहिने हाथ से संसारी जनों को सर्वदा शान्ति प्रदान करते हैं और बायें हाथ से पूर्वोक्त लक्षण वाला शङ्ख धारण किये हुए हैं । यह केवल शक्तीश का द्विभुज रूप है । वे शक्तीश पुनः इसी रूप से छह प्रकार के हो जाते हैं ॥ २०४-२०५ ॥

वे एकादि कान्ता गणों के साथ पृथक्-पृथक् रूप धारण करते हैं । पूर्व में कही गई लक्ष्मी के साथ उनका जो एक रूप है वह ऐश्वर्य रूप है । जब वे श्री एवं पुष्टि के मध्य में रहते हैं, तब वह दूसरा रूप होता है । जब चारों श्रियादि माया के साथ रहते हैं तब वह उनका तृतीय रूप हो जाता है ॥ २०६-२०७ ॥

शुद्ध्यादिकेन षट्केन चतुर्थं विद्धि संवृतम् ।
पुष्ट्यन्तेन श्रियाद्येन त्वष्टकेन तु पञ्चमम् ॥ २०८ ॥
लक्ष्म्याद्येन द्विषट्केन षष्ठं विद्धि समन्वितम् ।
श्रीदेवी कीर्तिदेवी च जयादेवी हलायुध ॥ २०९ ॥
चतुर्थी भगवन्माया विश्वस्यास्य निबन्धनी ।
शुद्धिर्निरञ्जना नित्या ज्ञानशक्त्यपराजिते ॥ २१० ॥
प्रकृतिः सुन्दरी षट्कमित्युक्तं सर्वसिद्धिदम् ।
लक्ष्मीः शब्दनिधिः सर्वकामदा प्रीतिवर्धनी ॥ २११ ॥
यशस्करी शान्तिदा च तुष्टिदा पुष्टिदाष्टकम् ।

श्रियादिचतुष्टयस्य शुद्ध्यादिषट्कस्य लक्ष्म्याद्यष्टकस्य च नामधेयान्याह—श्रियेति (त्रिभिः?पञ्चभिः) । शब्दनिधिः = सरस्वतीत्यर्थः ॥ २०७-२१२ ॥

शुद्ध्यादि छह के साथ जब वे (शक्तीश) रहते हैं तब उनका वह चतुर्थ रूप होता है । श्री से लेकर पुष्ट्यन्त के साथ जब वे रहते हैं, तब उनका पञ्चम रूप होता है एवं जब लक्ष्म्यादि बारह देवियों के साथ वे रहते हैं, तब उनका षष्ठ रूप होता है ॥ २०८-२१० ॥

हे हलायुध, श्री देवी, कीर्त्ति देवी, जया देवी और चौथी भगवन्माया जो इस समस्त जगत् को बाँधने वाली हैं। ये श्रियादि चतुष्टय है ॥ २०९-२१० ॥

अब शुद्ध्यादि षट्क कहते हैं। शुद्धि, निरञ्जना, नित्या, ज्ञानशक्ति, अपराजिता, सुन्दरी, प्रकृति इसके बाद लक्ष्म्याद्यष्टक, लक्ष्मी, शब्दनिधि (= सरस्वती), सर्वकामदा, प्रीतिवर्धनी, यशस्करी, शान्तिदा, तुष्टिदा और पुष्टिदा ये आठ लक्ष्म्याद्यष्टक हैं ॥ २१०-२११ ॥

द्विषट्कं वैभवे योगे देवीनां कीर्तिदं हि यत्॥ २१२ ॥
लक्ष्म्याद्यं तच्च बोद्धव्यं भेदेऽस्मिन् पारमेश्वरे।

लक्ष्म्यादिद्विषट्कं पूर्वं नवमपरिच्छेद (९।८५) एवोक्तं द्रष्टव्यमित्याह—द्विषट्कमिति। वैभवे योगे = विभवदेवताकथनप्रकरण इत्यर्थः।

नन्वेवं व्याख्यानं सात्वतोपबृंहणलक्ष्मीतन्त्रविरुद्धम्, यतस्तत्र—

एकधा द्विचतुर्धा च षोढा चैव तथाष्टधा।
पुनर्द्वादशधा चैव तत्र नामानि मे शृणु॥
श्रीर्नाम द्विभुजस्याहमङ्कस्था वरवर्णिनी।
तस्यैवोभयतो रूपे श्रीश्च पुष्टिश्च वासव॥
चतुर्दिशं तु तस्यैव श्रीः कीर्तिश्च जया तथा।
मायेति कृत्वा रूपाणि भुज्येऽहं तेन विष्णुना॥
तस्यैव कोणषट्कस्था षोढाऽहं शृणु नाम च।
शुद्धिर्निरञ्जना नित्या ज्ञानशक्तिश्च वासव॥
तथाऽपराजिता चैव षष्ठी तु प्रकृतिः परा।
तस्यैव चाष्टधा दिक्षु साहं रूपैर्व्यवस्थिता॥
लक्ष्मीः सरस्वती सर्वकामदा प्रीतिवर्धनी।
यशस्करी शान्तिदा च तुष्टिदा पुष्टिरष्टमी॥
कोणद्विषट्के तस्यैव स्थिता द्वादशधाऽस्म्यहम्।
श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिः क्रियाशक्तिर्विभूतयः॥
इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च। —(८।२०-२७)

इति श्रीसात्वताष्टमपरिच्छेदोक्तं (८।३१-३२) लक्ष्मीवागीश्वर्यादिद्विषट्कमेव प्रतिपादितम्, अतो वैभवयोग इत्यत्रापि विभोरयं वैभव इति भगवत्सम्बन्धिनि व्रतार्चन इत्येवार्थो वर्णनीय इति चेन्न, सत्यं तन्नायं भवद्दोषः, किन्तु लक्ष्मीतन्त्रलेखकदोषः। यतस्तेन "लक्ष्मीः पुष्टिर्दया निद्रा" (९।८५) इत्यादिश्लोकस्थाने प्रमादात् "श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिः" (८।३१-३२) इत्यादिश्लोको विलिखितः। यद्यपि तदेव भवता समर्थितम्, तथापि त्रयोदशपरिच्छेदे ध्यानप्रकरणे (१३।३६-४३) नवमपरिच्छेदोक्तलक्ष्मीपुष्ट्यादिद्विषट्कस्यैव कण्ठरवेण वक्ष्यमाणत्वान्न भवतोऽभिमतं सिद्ध्यति।

ननु च लक्ष्मीतन्त्रकोशेषु सर्वत्राप्येकरूपः पाठः परिदृश्यते, कथं तस्य प्रामा-

दिकत्वमिति चेन्न, प्रथमकोशानुसारेण सर्वत्रापि प्रामादिकस्यैव प्रसृतत्वात् । यथा पारमेश्वरकोशेषु सर्वत्राप्यावरणदेवतालक्षणाध्याये—"कुन्दावदातं कमलम्" (६। २५९) इत्यादिप्रसिद्धकमलध्यानश्लोक एव "वृन्दावदातं मुसलम्" इति मुसलध्यान-परत्वेन विलिखितः प्रामादिकः परिदृश्यते, तथाऽयमपीति ज्ञेयम् ।

ननु कुन्दावदातं कमलमिति कुत्र प्रसिद्धमिति चेत्, पारमेश्वरार्चनाध्याय (६।२५९) एव पश्यतु भवान् ।

ननु च किं तावता कमलमुसलयोरेक एव ध्यानश्लोकः स्यादिति चेत्, किं मुसलकिसलयमपेक्षसे । यतः कमलमुसलादीनां प्रत्येकं ध्यानश्लोकानत्रैव वक्ष्यति । एतदनुसारेणैव पारमेश्वरे समस्तायुधध्यानश्लोका विलिखिताः ।

ननु पारमेश्वरोक्तं न प्रामादिकम्, अपि तु संहिताकारस्यैवाभिमतम् । तथाहि पौष्करे—"शिशिरास्त्रकरं स्मरेत्" (४।१५५) इति सोमस्य शिशिरम्, "दण्डहस्तं प्रजापतिम्" (४।१५८) इति प्रजापतेर्मुसलं च प्रतिपादितम् । जयाख्ये (७।८४-८७) तु—सोमस्य मुद्गरं प्रजापतेः कमलं च प्रतिपादितम् । उभयत्राऽप्यायुधध्यान-मुक्तम् । तदेव पारमेश्वरे शिशिरकमलयोः प्रतिपादितमिति चेत्, मर्मज्ञोऽसि । तथापि शिशिरमुद्गरयोः पर्यायत्वबुद्ध्या कदाचित् तथा ध्यानकथनं संभवेत् । तथा कमल-मुसलयोरभेदबुद्धेरवतरणासंभवात् तल्लेखकप्रमादकृतमेव । अथवा जयाख्योक्त-पक्षान्तरज्ञापनार्थं मुद्गरध्यानश्लोके शिशिरपदप्रक्षेपश्चैवमेव बोध्यः । एवं चोभयथापि प्रामादिकत्वं सिद्धम् । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । प्रकृतमनुसरामः ॥ २१२-२१३ ॥

इस प्रकार वैभव प्रकरण (९.८५) में जो १२ देवियाँ कही गई हैं उनको इस पारमेश्वर (= बारहवें) प्रकरण में यहाँ से भिन्न जानना चाहिये ॥२१२-२१३॥

पुनश्चतुर्भुजस्यैवं विज्ञेयं भेदसप्तकम् ॥ २१३ ॥
किन्तु वै शङ्खचक्रे द्वे वामहस्ते द्वयेन तु ।
जगत्यस्मिन् हि यच्छन्तं शान्तिमाद्येन शाश्वतीम् ॥ २१४ ॥
प्रोद्वहन्तं द्वितीयेन त्वपसव्येन वै गदाम् ।

चतुर्भुजस्यापि द्विभुजवत् केवलरूपमेकम्, लक्ष्म्यादिभिः सहितं रूपं षोढा चाहत्य सप्तधा रूपं ज्ञेयमित्याह—पुनरित्यर्धेन । चतुर्भुजस्य लाञ्छनचतुष्टय-धारणक्रममाह—किन्त्विति सार्धेन । शान्ति यच्छन्तमित्येनैव कमलधारणं सूचितं हि भवति, "शमं नयति सन्तापं कमलेनेन्दुकान्तिना" (१२।१२) इति पूर्वं शक्त्यात्म-लक्षणोक्तेः ॥ २१३-२१५ ॥

इसके बाद चतुर्भुज के भी सात भेद इस प्रकार जानना चाहिये । पहले लक्ष्म्यादि के साथ छह रूप कह आये हैं । अब यहाँ सात रूप कहते हैं—चतुर्भुज का द्विभुजवत् केवल एक रूप है । पहले लक्ष्म्यादि के साथ छह रूप कहा गया है । इस प्रकार कुल सात रूप निष्पन्न हो जाता है ॥ २१३ ॥

अब उन चतुर्भुज का लाञ्छन चतुष्टय धारण का क्रम कहते हैं—उन्होंने

अपने दोनों बायें हाथ में शङ्ख एवं चक्र धारण किया है । इस प्रकार वे आद्य (शङ्ख) धारण करने से इस संसार में शाश्वती शान्ति प्रदान कर रहे हैं । द्वितीय दाएँ हाथ में वे गदा धारण करते हैं (जो पालनहार का प्रतीक है) ॥२१४-२१५॥

भूयः करचतुष्केण पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ॥ २१५ ॥
चतुर्णामब्जपूर्वाणामन्योन्यत्वेन धारणात् ।
धत्ते द्वादशधा रूपं निःशक्तिकं च केवलम् ॥ २१६ ॥

एषां कमलादीनां परस्परव्यत्यस्तधारणेन चतुर्भुजरूपं द्वादशधा संभवतीत्याह—भूय इति सार्धेन । द्वादशधा पद्मादिधारणक्रमस्तु मुख्यदक्षिणहस्तमारभ्य मुख्यवामकरान्तम्—

१. पद्मगदाचक्रशङ्खाः	२. पद्मशङ्खचक्रगदाः	३. पद्मगदाशङ्खचक्राणि
४. पद्मचक्रशङ्खगदाः	५. पद्मचक्रगदाशङ्खाः	६. पद्मशङ्खगदाचक्राणि
७. शङ्खगदाचक्रपद्मानि	८. शङ्खपद्मचक्रगदाः	९. शङ्खचक्रगदापद्मानि
१०. शङ्खपद्मगदाचक्राणि	११. शङ्खगदापद्मचक्राणि	१२. शङ्खचक्रपद्मगाश्च

क्रमेण ज्ञेयाः ॥ २१५-२१६ ॥

फिर वे अपने परस्पर-व्यत्यस्त चारों हाथों में चार पूर्ण कमल धारण करने से बारह रूप धारण करते हैं जो केवल निःशक्तिक रूप है और शान्ति का प्रतीक है । (इन बारह स्वरूपों का क्रम टीका में देखना चाहिए) ॥ २१५-२१६ ॥

पुनर्द्वादशकं तच्च सह शक्तिचयेन तु ।
स्थितमेकाधिकेनैव षोढा कमललोचन ॥ २१७ ॥
एवं चतुर्भुजेनैव वपुषा बहुधा स्थितः ।

इदमेकैकं रूपं पुनः प्रत्येकं लक्ष्म्यादिशक्तिभेदैः षोढा भवतीत्याह—पुनर्द्वादशकमिति सार्धेन । शक्ति(द्व?च)येन देवीसमूहेनेत्यर्थः । अत्र चयेनेति जात्येकवचनम्, द्विकचतुष्कषट्काष्टकद्विषट्कभेदभिन्नानां शक्तिसमूहानामुक्तत्वात् । एकाधिकेन लक्ष्म्याधिकेनेत्यर्थः । "प्राग्वल्लक्ष्म्या समेतं यत्तदेकं रूपमैश्वरम्" (१२।२०६) इति पूर्वोक्तेः । समूहस्यानेकात्मकत्वादेकाधिकेनेति शक्ति(द्व?च)यस्य पृथग्विशेषणमुक्तमिति ज्ञेयम् । एवं चतुर्भुजेनैव वपुषा बहुधा स्थितः । केवलरूपैर्द्वादशभिर्लक्ष्म्यादिशक्तिसहितैर्द्विसप्ततिरूपैराहत्य चतुरशीतिरूपभेदैरन्वित इत्यर्थः ॥ २१७-२१८ ॥

पुनः यही एक-एक रूप में लक्ष्म्यादि शक्ति के भेद से छः भेद हो जाता है । इनका कुल ७ × १२ = ८४ रूप हो जाता है, उसे वहीं देखिये) फिर शक्ति के साथ उनका बारह रूप हो जाता है । इस प्रकार, हे कमललोचन ! एकाधिक अर्थात् लक्ष्मी के साथ ६(= ७) रूप हो जाता है ॥ २१७-२१८ ॥

सप्तधा षड्भुजाद्येन भुजाधिक्येन वै पुनः ॥ २१८ ॥
स्थितस्त्वनेकधा देवो यथा तदवधारय ।

पुनः षड्भु(जाः?जाद्यान्) अष्टादशभुजान्तान् सप्तरूपभेदान् शृण्वित्याह—सप्तधेति ॥ २१८-२१९ ॥

पुनः षड्भुजा से लेकर अष्टादश भुजा पर्यन्त ७ रूपों को सुनिये षड्भुजा से लेकर अष्टादश भुजा पर्यन्त बाहु के आधिक्य से सात रूप होते हैं । इस प्रकार वे देव जिसके प्रकार अनेक रूपों में स्थित होते हैं उसे सुनिए ॥ २१८-२१९ ॥

षड्बाहुरष्टबाहुश्च दशद्वादशबाहुधृक् ॥ २१९ ॥
द्विसप्तषोडशकरस्तथाष्टादशभूषितः ।
केवलादिश्च सर्वेषां प्राग्वद् भेदस्तु सप्तधा ॥ २२० ॥

षड्भुजादीनां सप्तानामपि प्राग्वत् केवलत्वेन सशक्तिकत्वेन च सप्तधा भेदाः संभवन्तीत्याह—षड्बाहुरिति सार्धेन ॥ २१९-२२०॥

षड्बाहु, अष्टबाहु, दशबाहु, द्वादशबाहु, द्विसप्त (१४), षोडश तथा अठारह भुजाओं से वे भूषित होते हैं । इस प्रकार केवल षड्भुजादि जो सात कहे गये हैं । मात्र उन्हीं के सशक्ति सात भेद हो जाते हैं ॥ २१९-२२० ॥

तन्मे शृणु यथावस्थमस्त्रविन्यासचिह्नितम् ।
षड्भुजो दक्षिणैर्धत्ते निस्त्रिंशं कमलं गदाम् ॥ २२१ ॥
सशरं कार्मुकं शङ्खं वामैरस्त्रोत्तमं त्रिभिः ।
गदामुसलचक्रासीनष्टबाहुस्तु दक्षिणैः ॥ २२२ ॥
शङ्खमङ्कुशपाशौ च वामैस्तु सशरं धनुः ।
खड्गबाणगदापद्मशक्तियुक्तास्तु दक्षिणाः ॥ २२३ ॥
दशबाहोर्धनुःशङ्खचक्रखड्गाश्च साभयाः ।
षण्णां दक्षिणहस्तानां द्विषट्कभुजभूषितः ॥ २२४ ॥
सन्धत्ते कमलं खड्गचक्रबाणगदाङ्कुशान् ।
शङ्खपाशाभयान् शक्तिं सव्यानां मुसलं धनुः ॥ २२५ ॥
चतुर्दशभुजो धत्ते वामे तु भुजसप्तके ।
शङ्खं गदाङ्कुशौ पाशं मुसलं मुद्गरं हलम् ॥ २२६ ॥
दण्डाब्जकुलिशान् चक्रं खड्गशक्तिपरश्वधान् ।
बिभृयात् षोडशभुजो मुख्यहस्तैः समुद्गरान् ॥ २२७ ॥
अभयं कमलं खड्गं शक्तिदण्डवराङ्कुशान् ।
शङ्खचक्रगदावज्रपाशलाङ्गलकार्मुकान् ॥ २२८ ॥
वरं कराष्टकेनैव धत्ते सव्येन विश्वजित् ।
पद्मखड्गगदावज्रचक्रबाणवराङ्कुशान् ॥ २२९ ॥

दण्डं दक्षिणहस्तैस्तु धत्तेऽष्टादशबाहुधृक् ।
शङ्खाभयौ हलं शक्तिं मुद्‌गरं मुसलं धनुः ॥ २३० ॥
कुठारमतुलं पाशं विभुर्वामभुजैरमून् ।
बिभर्ति दुष्टशान्त्यर्थं साधूनां पालनाय च ॥ २३१ ॥

षड्भुजादीनामायुधभेदानाह—तन्मे शृणु यथावस्थमित्यारभ्य साधूनां पालनाय चेत्यन्तम् ॥ २२१-२३१ ॥

अब अस्त्रविन्यास से चिह्नित यथावस्था उनके स्वरूपों को सुनिये—**षड्भुज** अपने दाहिने हाथ में त्रिशूल, कमल एवं गदा, तथा तीन बायें हाथों में बाण सहित धनुष तथा शङ्ख धारण करते हैं । **अष्टबाहु** अपने दाहिने चार हाथों में गदा, मुसल, चक्र एवं तलवार तथा चार बायें हाथ में शङ्ख, अङ्कुश, पाश तथा सशर धनुष धारण करते हैं । **दशबाहु** अपने हाथों में धनुष, शङ्ख, चक्र, खड्ग और अभय धारण करते हैं । **द्वादश भुजाओं** वाले अपने छह दाहिने हाथों में कमल, खड्ग, चक्र, बाण, गदा, अङ्कुश, एवं बायें हाथों में शङ्ख, पाश, अभय, शक्ति, मुशल और धनुष धारण करते हैं ॥ २२१-२२५ ॥

चतुर्दश भुजा वाले अपने बायें भुजसप्तक में शङ्ख, गदा, अङ्कुश, पाश, मुसल, मुद्‌गर, हल एवं दाहिने हाथों में दण्ड, अब्ज, कुलिश, चक्र, खड्ग, शक्ति तथा परशु धारण करते हैं । **षोडश भुजा** वाले अपने मुख्य हाथों में मुद्‌गर, अभय, कमल, खड्ग, शक्ति, दण्ड, वर, अङ्कुश, तथा बायें हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा, वज्र, पाश, लाङ्गल (=हल), कार्मुक एवं वर मुद्रा धारण करते हैं ॥ २२६-२२८ ॥

विश्वजित् अपने बायें कराष्टक में पद्म, खड्ग, गदा, वज्र, चक्र, बाण, वर, अङ्कुश और दण्ड तथा वही **अष्टादशबाहु** धारण करने वाले विश्वजित् अपने दाहिने हाथ में शङ्ख, अभय, हल, शक्ति, मुद्‌गर, मुसल, धनुष, अतुल कुठार, एवं पाश धारण करते हें । वे विश्वभुज दुष्टों की शान्ति के लिये तथा साधुओं के पालन के लिये इन अस्त्रों को धारण करते हैं ॥ २२९-२३१ ॥

भूयो विशेषरूपाणि त्वेतान्येव विशेषतः ।
स्ववक्त्रद्वयमात्रेण नयत्यमितविक्रमः ॥ २३२ ॥

उक्तान्येतानि रूपाणि पुनर्वक्त्रद्वयमात्रेण विशेषत्वं प्रापयतीत्याह—भूय इति ॥ २३२ ॥

सिंहतेजोऽसहिष्णूनां पितृयाणरतात्मनाम् ।
अङ्गनादिकसंसारभीतानां वै हिताय च ॥ २३३ ॥
आमृते वै ग्रहे भागे तैजसे नित्यदक्षिणे ।
वामदक्षिणवक्त्राभ्यां कुर्याद् वै व्यत्ययं प्रभुः ॥ २३४ ॥
वृद्धयेऽपि च शान्त्यर्थं तेजसः पद्मलोचन ।

दक्षिणोत्तरवक्त्रयोर्व्यत्यासभेदमाह—सिंहेति सार्धद्वाभ्याम् । स्वदक्षिणभागस्यैव तेजोमयत्वात् पुनस्तत्रातितेजोमयं सिंहवक्त्रमप्यस्ति चेत्, उपासकास्तदुभयं तेजः संमिलितं सोढुं न शक्नुवन्तीति तेषां मुमुक्षूणामुपासकानां हितार्थं तेजोमयं सिंहवक्त्रममृतम(यैः ये) स्ववामभागे, वराहमुखं तैजसे दक्षिणभागे च प्राप्नोतीति भावः ॥ २३३-२३५ ॥

हेतुनानेन भगवान् बहिरन्तर्गतिन वै ॥ २३५ ॥
अग्नीषोमौ समीकृत्य त्वास्ते साधारणात्मना ।
व्यक्तं वागीशवक्त्रं तु नीत्वैवं शिरसोपरि ॥ २३६ ॥

एवं मुखद्वयव्यत्ययेन हेतुना समीकृततेजोऽमृतमयविग्रहः सन् सर्वसेव्यो भवतीत्याह—हेतुनेति ॥ २३५-२३६ ॥

पञ्चवक्त्रेण वपुषा त्वामूलाद् यात्यनेकधा ।
शब्दब्रह्मरतानां च ध्यायिनामात्मसिद्धये ॥ २३७ ॥

शब्दब्रह्मासक्तोपासकानुग्रहार्थमूर्ध्वचतुर्मुखमध्ये हयग्रीववक्त्रं च बिभर्तीत्याह—व्यक्तमिति सार्धेन ॥ २३६-२३७ ॥

यहाँ तक विष्णु के सभी रूपों को कह दिया गया है । इनमें विशेषता यही है कि अमित पराक्रम वाले विष्णु अपने दोनों मुखों से ही इतने रूपों को धारण करते हैं, जो सिंह का तेज सहन करने में असमर्थ हैं, पितृयाण में अधिक रुचि रखने वाले हैं और जो अङ्गनादि से संसार में भयभीत हैं, उनके हित के लिये वे ऐसा करते हैं । यतः उन विश्वजित का दक्षिण भाग अत्यन्त तेजोमय है । वहीं अत्यन्त तेजोमय सिंह मुख भी है । उपासक उन सम्मिल्लित दोनों तेजों को सहन नहीं कर सकते । इसलिये उनकी भलाई के लिये अपना तेजोमय सिंहमुख एवं वराहमुख वाले वामभाग में और वराहमुख तेज के लिये अपने दक्षिण भाग में कर देते हैं । ऐसा करने से दोनों भाग का तेज सम हो जाता है । यही विशेषता है, एक ओर तेज की अभिवृद्धि और दूसरी ओर तेज की शान्ति हो जाती है । इस प्रकार अग्नीषोमात्मक दोनों तेजों को बराबर कर साधारण एवं सर्व सामान्य मार्ग में स्थित हो जाते हैं । शब्दब्रह्म में आसक्त उपासकों की आत्मसिद्धि के लिये वे परमात्मा, ऊपर के अपने चार मुखों में, अपने हयग्रीव मुख को, शिर के ऊपर धारण कर, पाँच मुख वाले शरीर से वे प्रभु अनेक प्रकार के होते हैं ॥ २३२-२३७ ॥

आ पातालाच्च सर्वेषां लोकानां पूरणाय च ।
नानावपूर्धरो भूयस्त्वेकैकेनैष याति च ॥ २३८ ॥
भेदेन रूपमाश्रित्य दशधा च सितादिकम् ।
विना वक्त्रैर्नृसिंहाद्यः सर्वज्ञमहिमान्वितः ॥ २३९ ॥

वर्णभेदं चाह—आपातालादिति सार्धेन । पातालादिसमस्तलोकेषु स्वयमेव

गत्वा गत्वा संरक्षितुमिच्छारूपधर एष भगवान् एकैकेन भेदेन भुजास्त्रशक्ति-वक्त्रभेदेनैकैकं रूपमाश्रित्य दशधा सितादिकं च याति । "युगानुसारिकान्तिश्च" (१२।११) इति पूर्वोक्तक्रमेण तत्तद्युगानुसारिण्याऽवस्थया सितरक्तादिवर्णभेदं च प्राप्नोतीत्यर्थः । एवं च पूर्वोक्तैर्भुजवक्त्रवर्णैः शक्तीशस्याशीत्युत्तरचतुःशताधिक-सहस्ररूपभेदा भवन्तीति ज्ञेयम् ॥ २३८-२३९ ॥

पाताल से लेकर सभी लोकों की पूर्ति के लिये वे विश्वात्मा अनेक रूप धारण कर फिर एक-एक रूप से लोक में विचरण करते हैं ॥ २३८ ॥

वे युगादि भेद से दश प्रकार का सितादि रूप धारण करते हैं, वे सर्वज्ञ हैं, वे महिमामण्डित हैं । वे आद्य केवल नृसिंह का मुख धारण नहीं करते ॥ २३९ ॥

विमर्श—इस प्रकार पूर्वोक्त भुजाओं, वक्त्रों एवं वर्ण की विभिन्नता से वे आद्य प्रभु चार सौ अस्सी हजार रूप धारण करते हैं—ऐसा समझना चाहिए ।

बिभर्ति रूपाण्येतानि त्वनिरुद्धस्तु तार्क्ष्यकम् ।
एवमाक्रम्य गरुडं प्रद्युम्नो बिभृयात् तनुम् ॥ २४० ॥
नानात्वमपि चाभ्येति सङ्कर्षणः सुपर्णगः ।
देवः सत्योपरि स्थित्वा विश्वात्मा यात्यनेकधा ॥ २४१ ॥
सुरसिद्धमनुष्यादिभूतानां दुःखशान्तये ।

अथ "चातुरात्म्यसमूहात्तु यत्पद्मदलभूस्थितम्" (१२।१७५) इत्याद्युक्त-प्रकारेण वासुदेवादीनां मध्येऽन्यतमस्य शक्त्यात्मत्वे तस्य नृसिंहादिवक्त्रद्वयं विना भुजास्त्रशक्तिभेदान्वितत्वं सर्वं प्राग्वदेव, वाहनं तु सत्यादिक्रमेण विभिन्नमित्याह—विना वक्त्रैरिति त्रिभिः ॥ २३९-२४२ ॥

अनिरुद्ध तार्क्ष्य पर सवार होकर इतने रूपों को धारण कर लेते हैं । प्रद्युम्न गरुड़ पर सवार होकर अनेक शरीर धारण कर लेते हैं । सङ्कर्षण सुपर्ण पर सवार होकर नाना रूप धारण कर लेते हैं । इसी प्रकार विश्वात्मा प्रभु देवाधिदेव-सत्यात्मा पर सवार होकर अनेक रूप धारण कर लेते हैं ॥ २४०-२४१ ॥

चतुर्णां योनिजा वर्णास्ते तु मूर्त्यन्तरेषु च ॥ २४२ ॥
चतुर्भुजस्यादिमूर्तेर्विष्णोर्मूर्त्यन्तरस्य च ।
वर्णलाञ्छनतुल्यत्वे भेदकृत् तद्ध्वजद्वयम् ॥ २४३ ॥

वासुदेवाद्युक्तं शुक्लादिवर्णचतुष्टयं शक्त्यात्ममूर्त्यन्तरेष्वपि संभवतीत्याह—चतुर्णामित्यर्धेन ॥ २४२ ॥

चतुर्भुजस्य वासुदेवस्य तथाविधशक्त्यात्ममूर्तेश्च वर्णलाञ्छनतुल्यत्वेन मूर्तिसंदेहे प्राप्ते तत्तद्ध्वजद्वयं तत्तन्मूर्तिभेदज्ञानजनकं भवतीत्याह—चतुर्भुजस्येति ॥ २४३ ॥

देवता, सिद्ध, मुनष्य तथा समस्त प्राणियों के दुःख की शान्ति के लिये जो

चारों वर्णों के चार योनिज वर्ण शुक्ल, रक्त, पीत एवं नीलादि हैं वे अन्य मूर्त्तियों में भी हो जाते हैं। आदि मूर्त्ति चतुर्भुज विष्णु में तथा अन्य मूर्त्तियों में वर्ण एवं लाञ्छन समान होता है। किन्तु उनमें लाञ्छन से भेद न होकर ध्वजा से भेद होता है ॥ २४२-२४३ ॥

अपसव्यस्थितेनैव तत्तालाख्यध्वजेन तु।
स्वरूपभेदमाप्नोति स्वमूर्तिः सह सर्वदा॥ २४४ ॥

सर्वत्रैवं तद्दक्षिणभागस्थध्वजेन तन्मूर्तिभेदो ज्ञेय इत्याह—अपसव्येति ॥२४४॥

यस्मात् कार्यवशेनैव मूर्तीनामपि पाणिगाः।
चतुःपद्मादयोऽमूर्ता मूर्ताः शान्तास्तथोद्यताः॥ २४५ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां विभवदेवताध्यानं नाम द्वादशः परिच्छेदः ॥ १२ ॥

—※—

तत्र हेतुमाह—यस्मादिति। वासुदेवादीनां हस्तस्थितपद्मादिलाञ्छनानि प्रकृतकार्यानुसारेण कदाचित् शान्तरूपमङ्गीकृत्यामूर्तानि भवन्ति, कदाचिदिच्छारूपमङ्गीकृत्य मूर्तीभूतानि भवन्ति। तस्माल्लाञ्छनैर्भेदो न ज्ञायते, तत्तद्ध्वजेनैव तत्तन्मूर्तिभेदो ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ २४५ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये द्वादशः परिच्छेदः ॥ १२ ॥

—※—
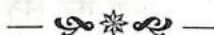
यतः वासुदेवादि हस्तस्थ पद्मादि लाञ्छन प्रकृत कार्य के अनुसार कभी शान्तरूप अङ्गीकार कर अमूर्त्त रूप होते हैं और कभी इच्छा रूप अङ्गीकार कर मूर्त्त स्वरूप हो जाते हैं। इसलिए लाञ्छन से भेद नहीं जानना चाहिये। इस प्रकार ध्वज से ही मूर्त्तिभेद जानना चाहिये ॥ २४४-२४५ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के विभवदेवताध्यान नामक द्वादश परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १२ ॥

—※ x—

त्रयोदशः परिच्छेदः

भूषणाद्यस्त्रदेवताध्यानम्

श्रीभगवानुवाच

यागेऽस्मिंस्त्वेकपीठे वै सर्वसामान्यलक्षणे ।
ध्येया विशेषरूपेण किरीटाद्यखिलास्तु वै ॥ १ ॥
चतुर्भुजाश्चतुर्वक्त्रा वस्त्रस्रग्भूषणान्विताः ।
पुनर्विशेषयागानामर्चनावसरे वपुः ॥ २ ॥
एकाननं च सर्वेषां द्विभुजं विहितं सदा ।

अथ त्रयोदशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र प्रथमं किरीटादिभूषणानां लाञ्छनानां च सर्वेषामपि स्वातन्त्र्येणार्चनप्रकरणे चतुर्मुखत्वं चतुर्भुजत्वं च ध्येयम्, पारतन्त्र्येणार्चनप्रकरणे तु द्विभुजत्वमेकमुखत्वमेव ध्येयमित्याह—याग इति सार्धद्वाभ्याम् । अत एव जयाख्य (१३।१५१) लक्ष्मीतन्त्रादिषु (३८।६८) भोगयागप्रकरणे कौस्तुभादीनां द्विभुजत्वमेवोक्तम् ।

ननु तर्हीश्वरपारमेश्वरयोर्भोगयागप्रकरणेऽपि श्रीवत्सकौस्तुभयोश्चतुर्भुजत्वम्, "उद्गिरन्तं स्ववक्त्रैर्मुखैः" (ई०सं० ४।१२०, पा०सं० ६।३६३) इत्यनेन शङ्खस्य चतुर्मुखत्वं चोक्तम् । तस्य का गतिरिति चेत्, सत्यम् । तत्र सात्वतोक्तस्वतन्त्रार्चनपरध्यानश्लोका एव यथावस्थितं विलिखिताः । तथापि तत्रैवोत्तरत्र—

ध्येयाः स्वरुचिसंयुक्ता द्विभुजाः पुरुषोपमाः ॥
सास्त्राः किरीटपूर्वा ये गदामालाङ्गनाकृतीः ।
—(ई०सं० ४।१२०-१२१, पा०सं० ६।२६९-२७०)

इत्युक्तत्वान्न विवादावकाशः ॥ १-३ ॥

श्री भगवान् ने कहा—इस सर्वसामान्य एक पीठ नामक याग में विशेष रूप से किरीट आदि समस्त भगवान् के भूषणभूत चिह्नों का स्वतन्त्र रूप से अर्चन प्रकरण में चतुर्मुखत्व तथा चतुर्भुजत्व स्वरूप ही ध्येय है, किन्तु पारतन्त्र्य अर्चन के प्रकरण में इन सभी वस्त्र, माला एवं आभूषणों का द्विभुजत्व तथा एक मुखत्व स्वरूप समझना चाहिये ॥ १-३ ॥

किरीटध्यानकथनम्

किरीटः सौम्यवदनः काञ्चनाभो महातनुः ॥ ३ ॥
भाभिराकृतियुक्ताभिर्नानारूपाभिरावृतः ।
स्थितो वैद्याधरीयेण स्थानकेनान्तरिक्षगः ॥ ४ ॥

किरीटध्यानमाह—किरीट इति सार्धेन ॥ ३-४ ॥

अब सर्वप्रथम **किरीट का स्वरूप** कहते हैं—किरीट का मुख सौम्य है, कान्ति कनक की आभा के समान है, शरीर विशाल है, वे अपनी देदीप्यमान आभा युक्त आकृति से नाना रूप धारण करने वाले हैं । वे अपनी रुचि के अनुसार अकेले अन्तरिक्ष में निवास करते हैं ॥ ३-४ ॥

कौस्तुभध्यानकथनम्

पद्मरागाचलाकारं कौस्तुभं रत्ननायकम् ।
दिशो दश द्योतयन्तं संलग्नाङ्घ्रिस्थितं स्मरेत् ॥ ५ ॥
वहन्तं वक्षसो मध्ये स्वहस्तकृतसम्पुटम् ।
सन्धारयन्तमपरं तथा वै शिरसोपरि ॥ ६ ॥

कौस्तुभध्यानमाह—पद्मरागेति द्वाभ्याम् ॥ ५-६ ॥

कौस्तुभ का लक्षण कहते हैं—रत्ननायक कौस्तुभ पद्मराग के पर्वत के समान दशों दिशाओं को प्रज्वलित करते हुए तथा भगवान् के पैर का स्पर्श करते हुए स्थित हैं इस प्रकार उनका ध्यान करना चाहिये ॥ ५ ॥

भगवान् स्वयं उस कौस्तुभ (मणि) को अपने हाथ के सम्पुट में स्थापित कर अपने वक्षस्थल के मध्य में धारण करते हैं तथा दूसरी कौस्तुभ की माला शिर के ऊपर धारण किये हुए हैं ॥ ६ ॥

श्रीवत्सध्यानकथनम्

स्फटिकाद्रिप्रतीकाशं श्रीवत्समथ भावयेत् ।
बद्धपद्मासनासीनं न्यस्तहस्तं स्वपार्श्वयोः ॥ ७ ॥

श्रीवत्सध्यानमाह—स्फटिकेति सार्धेन । कूर्ममुद्रा अविद्यादलिनी मुद्रेत्यर्थः, "अविद्यादलिनीं मुद्रां कूर्माख्यां संस्मरेद् विभोः" (१७।८४) इति नृसिंहकल्पे वक्ष्यमाणत्वात् । तल्लक्षणमपि तत्रैव वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् ॥ ७-८ ॥

श्रीवत्स का लक्षण—स्फटिकमणि के पर्वत के समान चमकीले श्रीवत्स का ध्यान करना चाहिये जो पद्मासन से बैठे हुए है और अपने दोनों पार्श्वभाग पर हाथ रखे हुए हैं ॥ ७ ॥

वनमालाध्यानकथनम्

वहन्तं कूर्ममुद्रां च मुख्यहस्तद्वयेन तु।
ध्येया भगवती माला चित्ररूपा मनोहरा॥ ८ ॥
सर्वगन्धान्विता सौम्या ईषद्विकसितानना।

वनमालाध्यानमाह—ध्येयेति ॥ ८-९ ॥

वनमाला का ध्यान—अपने दोनों हाथों से अविद्या दलिनी कूर्ममुद्रा धारण किये हुए, चित्ररूपा एवं मनोहरा वनमाला का ध्यान करना चाहिये जो विग्रह सर्वगन्धान्विता एवं सौम्या है जिसका मुख ईषद् विकसित है ॥ ८ ॥

चक्रादिसप्तदशायुधानं ध्यानकथनम्

स्वरश्मिमण्डलान्तःस्थं वल्गन्तं हेतिपं स्मरेत्॥ ९ ॥
विभोराज्ञां प्रतीक्षन्तं ह्रस्वाङ्गं रक्तलोचनम्।
कुन्दावदातकमलं सौम्यमीषत्स्मिताननम्॥ १० ॥
रवं रवन्तं मधुरं श्रोत्रेन्द्रियसुखावहम्।
गदां हेमाद्रिसंकाशां तन्वीं कुवलयेक्षणाम्॥ ११ ॥
स्वोत्थेन रश्मिजालेन भासयन्तीं नभस्थलम्।
तुहिनाचलसंकाशं शङ्खं कमललोचनम्॥ १२ ॥
सदागमादिसारं तमुद्गिरन्तं स्वकैर्मुखैः।
सन्ध्याजलदसंकाशं लाङ्गलं भीमलोचनम्॥ १३ ॥
क्षामाङ्गमुन्नतासं च वज्रकायं बलोत्कटम्।
कृशोदरं च मुसलं रश्मिज्वालावलीवृतम्॥ १४ ॥
अङ्गारराशिसदृशं प्रलम्बमतिनिष्ठुरम्।
नीलोत्पलदलश्याममिष्वस्त्रं बाणविग्रहम्॥ १५ ॥
नानारूपं च निशितं दीर्घदृक्चण्डविक्रमम्।
कार्मुकं हेमगौरं च किङ्किणीजालमण्डितम्॥ १६ ॥
आस्फोटयन्तं स्वकरं महाजलदनिस्वनम्।
स्वरश्मिखचितं ध्यायेन्नृत्यमानं च नन्दकम्॥ १७ ॥
शरदाकाशसंकाशं दशन्तं दशनावलिम्।
सूर्यमण्डलसंकाशं खेटकं सौम्यमूर्तिकम्॥ १८ ॥
ग्रसन्तमस्त्रपूगानि स्ववक्त्रेणानिशं बलात्।
बद्धमुष्टिं स्मरेद् दण्डं रक्ताङ्गं रक्तलोचनम्॥ १९ ॥
क्रोधमूर्तिं स्वदशकैर्दशन्तमधरं स्वकम्।

शक्रकार्मुकवर्णं च परशुं भीमविक्रमम् ॥ २० ॥
द्रवत्कनकनेत्रं च ज्वलज्ज्वालाजटाधरम् ।
पाशं फणिगणाकीर्णं विद्युज्जिह्वं भयानकम् ॥ २१ ॥
हेमालिपाण्डराभं च घोरास्यं रक्तलोचनम् ।
कृशाङ्गं दीर्घबाहुं च पिङ्गलाक्षं तु चाङ्कुशम् ॥ २२ ॥
विकरालमुखं रौद्रं भिन्नाञ्जनगिरिप्रभम् ।
मुद्गरं शतधामाभं पीनांसं पृथुविग्रहम् ॥ २३ ॥
जटाकलापधृक् सौम्यं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
वज्रं वज्रोपलाभं तु सितदीर्घनखाङ्कितम् ॥ २४ ॥
दंष्ट्राकरालवदनं ज्वलत्कनकलोचनम् ।
सौदामिनीं प्रभाशक्तिं शान्ताग्निवदनेक्षणाम् ॥ २५ ॥
घनघर्घरनिर्घोषमुद्गिरन्तीं मुहुर्मुहुः ।

चक्रादिशक्त्यन्तानां सप्तदशायुधानामेकैकस्यैकश्लोकक्रमेण ध्यानमाह—स्वरश्मिमण्डलान्तःस्थमित्यादिभिः सप्तदशभिः ॥ ९-२६ ॥

चक्रादि सत्रह आयुधों का ध्यान—अब चक्रादि सप्तदश आयुधों का क्रमश एक-एक श्लोक में लक्षण कहते हैं ।

१. **हेतिप (= चक्र) का ध्यान**—अपने अन्तःस्थित रश्मिमण्डल से समस्त दिशाओं को प्रकाशित करते हुए **चक्र** का ध्यान करना चाहिये, जो सर्वदा भगवान् की आज्ञा की प्रतीक्षा में निरत है, जिनका अङ्ग अत्यन्त ह्रस्व है तथा नेत्र रक्त वर्ण के हैं ॥ ९ ॥

२. **कमल का ध्यान**—जो कुन्द के समान अत्यन्त धवल है, सौम्य है, जिसका मुख मण्डल ईषात्सित है जो श्रोत्रेन्द्रिय को सुख देने वाले मधुर शब्द करने वाला है, ऐसे **कमल** का स्मरण करे ॥ १० ॥

३. **गदा का ध्यान**—हेमाद्रि के समान स्वच्छ वर्ण वाली, कुवलय के समान नेत्रों वाली, अत्यन्त तन्वी **गदा** का स्मरण करे जो अपने में उत्पन्न प्रकाश से समस्त आकाश मण्डल को देदीप्यमान कर रही है ॥ ११ ॥

४. **शङ्ख का ध्यान**—हिमालय के समान स्वच्छ **शङ्ख** हैं, जिसके कमल के समान नेत्र हैं तथा जो समस्त उत्तम शास्त्रों के सार को अपने मुख से उगलते रहते हैं ॥ १२ ॥

५. हल का ध्यान—सन्ध्याकालीन बादल के समान भयानक नेत्रों वाला जिन भगवान् का लाङ्गल (हल) है, जिनका शरीर तो अत्यन्त कृश है किन्तु नासिका उन्नत है । शरीर वज्र जैसा दृढ़ एवं बलवान् है ॥ १३ ॥

६. **मुशल का ध्यान**—जो **मुशल** उदर से कृश है तथा रश्मिज्वाला से चमकीला है । अङ्गार राशि के समान है और अत्यन्त लम्बा तथा महानिष्ठुर (निर्दयी) है ॥ १४ ॥

७. **इषु का ध्यान**—जो **इषु** नीले कमल के समान श्यामवर्ण वाला है, जिसकी आकृति बाण के समान है, उसके अनेक रूप हैं । वह बड़ा तीक्ष्ण है, भुजायें विशाल हैं तथा जो प्रचण्ड पराक्रम से युक्त है ॥ १५ ॥

८. **धनुष का ध्यान**—जो **कार्मुक** सुवर्ण के समान गोरा है, जिसमें अनेक किङ्किणियाँ जड़ी हुई हैं, जो महान् जलद के समान अपने हाथों को स्फोटित कर शब्द करता रहता है ॥ १६ ॥

९. **नन्दक का ध्यान**—प्रकाश समूह के व्याप्त नृत्यमान भगवान् के **नन्दक** का ध्यान करे, जिसकी कान्ति शारदीय आकाश के समान अत्यन्त स्वच्छ है तथा जो क्रोध से उत्कृष्ट होकर अपने दाँतों को पीस रहे हैं ॥ १७ ॥

१०. **खेटक का ध्यान**—सूर्यमण्डल के समान अत्यन्त तेजस्वी सौम्य स्वरूप **खेटक** का ध्यान करे जो निरन्तर बलपूर्वक अपने मुख से अस्त्र समूहों को ग्रसते रहते हैं ॥ १८ ॥

११. **दण्ड का ध्यान**—लाल वर्ण वाले रक्त एवं नेत्रों वाले मुट्ठी बाँधे हुए भगवान् के उस दण्ड का ध्यान करे जो क्रोध की साक्षात् मूर्त्ति हैं और अपने दाँतों से अपने ही अधर को चबाते रहते हैं ॥ १९ ॥

१२. **परशु का ध्यान**—इन्द्र के धनुष के समान वर्ण वाले एवं प्रचण्ड विक्रमयुक्त भगवान् के **परशु** का ध्यान करना चाहिये, जिनके कनकरूपी नेत्र सदा द्रवीभूत रहते हैं तथा जो जलती हुई ज्वालायुक्त जटा धारण किये हुए हैं ॥ २० ॥

१३. **पाश का ध्यान**—बिजली के समान देदीप्यमान जिह्वा वाला, महा-भयानक साँप के फणों से सर्वत्र व्याप्त, भगवान् के **पाश** का स्मरण करे, जो सर्प पङ्क्ति के समान पाण्डर (= पीत) वर्ण का है, जिसका मुख महाभयानक तथा नेत्र अत्यन्त रक्त है ॥ २१ ॥

१४. **अङ्कुश का ध्यान**—विशीर्ण कज्जल गिरि के समान खण्डित, महा-रौद्र, विकराल मुख वाले, कुशाङ्ग, दीर्घबाहु तथा पीले मुख वाले भगवान् के **अङ्कुश** का स्मरण करे ॥ २२ ॥

१५. **मुद्गर का ध्यान**—मोटे-मोटे कन्धों वाले, स्थूल शरीर से युक्त एवं शतधाम (सुवर्ण) के समान आभा वाले भगवान् के **मुद्‌गर** का स्मरण करे, जो जटा कलाप धारण किये हुए हैं, सौम्य है तथा जिनके नेत्र कमल के समान दीर्घ है ॥ २३ ॥

१६. **वज्र का ध्यान**—वज्रोपल के समान आभा वाले, लम्बे किन्तु श्वेत वर्ण के नखों वाले **वज्र** का स्मरण करे, जिसका मुख तीक्ष्ण, महाभयानक और दाँतों से महाभयङ्कर है ॥ २४ ॥

१७. **सौदामिनी का ध्यान**—जिसकी प्रभाशक्ति सौदामिनी है, जिसके मुख और नेत्र शान्ताग्नि के समान लाल हैं उस **सौदामिनी** का स्मरण करे, जो प्रतिक्षण घन के समान घर्घर निर्घोष करती रहती है ॥ २५-२६ ॥

एतेऽस्त्रनायका सर्वे विभोराज्ञाप्रतीक्षका: ॥ २६ ॥
प्रोत्थिता विचलन्तश्च सुसमै: स्थानकै: स्थिता: ।
श्रोणीतटार्पितकराश्चामरव्यजनोद्यता: ॥ २७ ॥
सपद्मं तु किरीटाद्यं वर्जयित्वा चतुष्टयम् ।
तर्जयन्तं च दुष्टौघमन्येषां दक्षिणं करम् ॥ २८ ॥
स्मर्तव्यं ध्यानकाले तु सर्वेषामथ मस्तके ।
ध्येयं स्वकं स्वकं चिह्नं सुप्रसिद्धं निराकृति ॥ २९ ॥

सर्वेषां सामान्यलक्षणमाह—एतेऽस्त्रनायका इति सार्धैस्त्रिभि: । एते किरीटादय इत्यर्थ: । अस्त्रनायकाश्चक्रादय इत्यर्थ: । श्रोणीतटार्पितकरा: श्रोणीतटन्यस्तवामहस्ता इत्यर्थ: । चामरव्यजनोद्यता: सचामरव्यजनदक्षिणहस्ता इत्यर्थ: । आयुधानां भूषणानां च किञ्चित् तारतम्यमुक्तम्—सपद्ममित्यादिना । सपद्मं पद्मसहितम्, किरीटाद्यं चतुष्टयं किरीटकौस्तुभश्रीवत्सवनमालाचतुष्टयम्, वर्जयित्वाऽन्येषां चक्रादीनां दक्षिणं करं दुष्टौघं तर्जयन्तं च ध्यायेदिति योजना । चक्रादीनां चामरव्यजनसमर्पणकैङ्कर्यमात्रोद्योगे दुष्टानामसुरादीनां यथेच्छं दुष्कृत्येष्ववकाशो भवतीति भिया चामरादिसमर्पणसमयेऽपि दुष्टौघतर्जनमुक्तम् । यद्वा तर्जयन्तं चेत्यत्र चकारो विकल्पनार्थ: । चक्रादीनां दक्षिणं करं चामरव्यजनोद्यतं तर्जनीमुद्रान्वितं वा स्मेरदित्यर्थ: । चामरव्यजनोद्यतमिति पाठे तु नैतावान् क्रम: । सपद्मकिरीटादिचतुष्टयस्यैव चामरोद्यतदक्षिणकरत्वम्, अन्येषां तर्जनीमुद्रान्वितत्वमेवेत्यर्थ: सरसो भवति । कस्मिंश्चित् पारमेश्वरप्रयोगे चक्राद्यायुधानामेव चामरव्यजनोद्यतत्वं सपद्मकिरीटादिचतुष्टयस्य तर्जनीमुद्रान्वितत्वमुक्तम् । तदसंगतम्, तर्जयन्तमित्यस्य चतुष्टयमित्यस्य चाविभिन्नलिङ्गकत्वात्, आयुधानामेव दुष्टौघतर्जनसामर्थ्यात्, भूषणानां तदसंभवाच्च । अत एव पद्मस्यायुधकोटिपरिगणितत्वेऽपि तस्य लीलाकमलत्वात् सौम्यत्वाच्च दुष्टौघतर्जनं (न) संभवतीत्यभिप्रायेण सपद्ममिति भूषणै: सह वर्णनं कृतमिति च ज्ञायते ।

ननु पूर्वं कौस्तुभश्रीवत्सयोर्दण्डयोश्च कार्यान्तरविनियुक्तहस्तत्वमुक्तम्, इदानीं पुनस्तेषामपि श्रोणीतटनिविष्टहस्तत्वं चामरपाणित्वतर्जनीमुद्रान्वितत्वयोरन्यतरत्वं च कथं संभवतीति चेन्न, पूर्वमुक्तस्य लक्षणस्य चतुर्भुजविषयत्वादिदानीमुक्तस्य द्विभुजविषयत्वात् ॥ २६-२९ ॥

सभी आयुधों के सामान्य लक्षण कहते हैं—ये १७ अस्त्र आयुध शिरोमणि कहे जाते हैं, जो भगवान् की आज्ञा की निरन्तर प्रतीक्षा करते रहते हैं ॥ २६ ॥

ये सभी खड़े रहते हैं, चलते भी रहते हैं । सम स्थान में बैठे भी रहते हैं । अपना हाथ नितम्ब स्थल पर रखे रहते हैं तथा हाथ से चामर का व्यजन (= पंखा) डुलाते रहते हैं ॥ २७ ॥

जब चामर व्यजन दाहिने हाथ से डुलाते हैं तब अपना बायाँ हाथ नितम्ब स्थल पर रखते हैं । जब दाहिने हाथ में कमल धारण करते हैं, तब लीला के लिये किरीट, कौस्तुभ, श्रीवत्स और वनमाला का त्याग करते हैं, इस प्रकार इनका ध्यान करे । इसी प्रकार दुष्ट जनों को भयभीत करते समय चक्र के दाहिने हाथ को अपने मस्तक पर ध्यान करे । किन्तु निराकार अवस्था में उनका अपना-अपना केवल चिह्न ही ध्यान करे ॥ २८-२९ ॥

किरीटादीनाम् अधिष्ठातृन् कथनम्

किरीटो हुतभुग् वेद्यः कौस्तुभस्तु प्रभाकरः ।
स्वयं शशाङ्कं श्रीवत्सो माला षण्माधवादयः ॥ ३० ॥
प्राणं पतत्त्रिराड् विद्धि कालचक्रं महामते ।
अपाम्पतिर्वै कमलं गदा देवी सरस्वती ॥ ३१ ॥
खं शङ्खः सीरमोषध्यो मुसलं नागनायकः ।
शब्दादयः सायकास्तु धनुर्विद्धि समीकरम् ॥ ३२ ॥
नन्दकं सर्वशास्त्राणि खेटकं वसुधा स्मृता ।
ज्ञेयो हि दण्डो नियतिर्वैराग्यं परशुः स्मृतः ॥ ३३ ॥
पाशो मायाङ्कुशः कामोऽप्यहङ्कारस्तु मुद्गरः ।
विज्ञानममलं वज्रं समाधिः शक्तिरुच्यते ॥ ३४ ॥

अथ किरीटादीनामधिष्ठातृनाह—किरीट इत्यादिभिः । माधवादयः ... सन्ता ... प? इत्यर्थः । पारमेश्वरेऽपि—

अपांपतिर्वै कमलं गदा देवी सरस्वती ।
चक्रं लोकप्रतिष्ठा वै शब्दब्रह्म तु शङ्खराट् ॥ —(६।२७८-२७९)

इति गदापद्मयोरधिष्ठातृदेवौ सात्वतोक्तशब्दाभ्यामेव प्रतिपादितौ, चक्रशङ्खयोरधिष्ठातारौ तु शब्दान्तराभ्यामुक्तौ । अतस्तत्रापि लोकप्रतिष्ठा काल इत्यर्थः, सर्वाधारः काल इति प्रसिद्धेः । शब्दो (बृ?बृं)हत्यस्मिन्निति शब्दब्रह्म आकाशमित्यर्थश्च बोध्यः । पारमेश्वरव्याख्याने तु लोकप्रतिष्ठा भूमिरित्युक्तम् । तद्विचारणीयम् ॥ ३०-३४ ॥

अब **किरीटी इत्यादि के अधिष्ठातृ देवताओं** को कहते हैं—किरीटी के अग्नि अधिष्ठातृ देवता हैं । कौस्तुभ के प्रभाकर अधिष्ठातृ देवता समझना

चाहिये। श्रीवत्स के शशाङ्क और माला के षण्माधवादि (= सन्ताप) अधिष्ठातृ देवता हैं ॥ ३०॥

पतत्रिराट् (गरुड़) के प्राण, चक्र के महाकाल, कमल के समुद्र तथा गदा की अधिष्ठातृ देवता स्वयं सरस्वती हैं ॥ ३१ ॥

शङ्ख के आकाश, हल की औषधियाँ, मुसल के नागनायक (अनन्त), सायक के शब्दादि तथा धनुष के समीकरण देवता है ॥ ३२ ॥

नन्दक के सर्वशास्त्र और खेटक की अधिष्ठात्री स्वयं वसुधा (पृथ्वी) देवी हैं। दण्ड के नियति और परशु स्वयं वैराग्य हैं ॥ ३३ ॥

पाश की अधिष्ठात्री माया, अङ्कुश के काम, मुद्‌गर के अहङ्कार, वज्र के निर्मल विज्ञान एवं शक्ति की समाधि अधिष्ठात्री कही गई हैं ॥ ३४ ॥

चिन्तादिदेवानां वर्णध्यानक्रमकथनम्

भिन्नरूपस्य च विभोर्य उक्तः सुन्दरीगणः ।
साधारश्चाप्यनाधारस्तासां ध्यानं क्रमाच्छृणु ॥ ३५ ॥
चिन्ताऽऽखण्डलचापाभा लक्ष्मी रक्ताम्बुजप्रभा ।
पुष्टिः कनकगौरा च कीर्तिः कुमुदपाण्डरा ॥ ३६ ॥
जयाऽर्ककान्तिसदृशी मायाऽञ्जननिभा स्मृता ।
शुद्धिः किंशुकसंकाशा गुञ्जाभा तु निरञ्जना ॥ ३७ ॥
बन्धुजीवोज्ज्वला नित्या ज्ञानशक्तिः सिताऽरुणा ।
फुल्लेन्दीवरवर्णा च परिज्ञेयाऽपराजिता ॥ ३८ ॥
रक्तोत्पलाभा प्रकृतिः सितपीता सरस्वती ।
सर्वकामप्रदा सिद्धिस्त्विन्द्रनीलसमप्रभा ॥ ३९ ॥
सिन्दूरपुञ्जवर्णाभा विज्ञेया प्रीतिवर्धनी ।
यशस्करी च दुग्धाभा शान्तिदा विद्रुमोज्ज्वला ॥ ४० ॥
तुष्टिस्तुहिनसंकाशा दया वैडूर्यसन्निभा ।
निद्राऽयस्कान्तसदृशी क्षमा पीतारुणप्रभा ॥ ४१ ॥
कान्तिर्दर्पणसंकाशा धृतिर्गोरोचनोज्ज्वला ।
मैत्री बन्धूकपुष्पाभा रतिर्गैरिकसन्निभा ॥ ४२ ॥
मतिर्मरकताभा वै सर्वाः प्रमुदिताननाः ।

अथ पूर्वोक्तानां चिन्तादिदेवानां वर्णध्यानक्रममाह—भिन्नरूपस्येत्यादिभिः । चिन्ता नाम पातालशायिनो दक्षिणभागस्था पूर्वोक्ता देवीति ज्ञेया । श्र्यादिद्विके श्र्यादि-

चतुष्टये शुद्ध्यादिषट्के लक्ष्म्याद्यष्टके लक्ष्म्यादिद्विषट्के च चिन्ताया अनन्तर्गतत्वात् प्रथमं तद्ध्यानमुक्तमिति सूक्ष्मदृष्ट्या बोध्यम् ।

नन्वेकार्णवशायिनः परितःस्थितदेवीचतुष्टयान्तर्गतप्रीतिविद्यायोरप्यत्र द्विकादिसमूहेष्वनन्तर्गतत्वात् तयोरपि ध्यानं कुतो नोक्तमिति चेत्, पामरोऽसि, विद्यासरस्वतीशब्दयोः पर्यायत्वं स्तनन्धयोऽपि जानीते । "तुष्टिदापुष्टिदाष्टकम्" (१२।२१२) इत्यत्र तुष्टिदाशब्देनोक्तायाः "तुष्टिस्तुहिनसंकाशा" इति पुनस्तुष्टिशब्देनात्रैव ग्रहणाद् यथा तुष्टिदातुष्टिशब्दयोः पर्यायत्वं ज्ञायते, तथा प्रीतिप्रीतिवर्धनीशब्दयोः पुष्टिदापुष्टिशब्दयोः शान्तिदाशान्तिशब्दयोश्च पर्यायत्वं निरङ्कुशम् । अतः प्रीतिविद्ययोरपि द्विकादिसमूहान्तर्गतत्वादेव पृथग् ध्यानं नोक्तमिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता । लक्ष्मीध्यानस्य प्रथममेवोक्तत्वात् पुनर्द्विके चतुष्टयेऽष्टके द्विषट्के च तद्ध्यानं नोक्तम् । एवमष्टक एव तुष्टेः सरस्वत्याश्च ध्यानस्योक्तत्वात् पुनर्द्विषट्के नोक्तमिति ध्येयम् ॥ ३५-४३ ॥

भिन्न रूप उन परमात्मा विभु के साधार अथवा निराधार जो सुन्दरियाँ कही गई हैं । हे सङ्कर्षण! अब उनका ध्यान सुनिये ॥ ३५ ॥

चिन्ता इन्द्रधनुष के समान हैं, लक्ष्मी रक्त कमल की कान्ति से युक्त हैं, पुष्टि कनक के समान गौर वर्ण वाली हैं और कीर्ति कुमुद के समान स्वच्छ वर्ण वाली हैं ॥ ३६ ॥

जया का स्वरूप सूर्य के समान, माया अञ्जन के सदृश, शुद्धि पलाशपुष्प के समान, निरञ्जना (माया राहित्य) गुञ्जा के सदृश हैं । नित्या शक्ति बन्धुजीवपुष्प के समान उज्ज्वल हैं और ज्ञानशक्ति सिता और अरुणा है तथा अपराजिता को विकसित कमल के समान आभा वाली समझना चाहिये ॥ ३७-३८ ॥

प्रकृति रक्त कमल के समान कान्तिमती हैं, सरस्वती सितपीता हैं और सिद्धि सर्वकामप्रदा है, जिनका वर्ण इन्द्रनीलमणि के समान है ॥ ३९ ॥

प्रीतिवर्धनी को सिन्दूरपुञ्ज के वर्ण के समान समझना चाहिये । यशस्करी दुग्ध के समान आभा वाली हैं तथा शान्ति विद्रुम के समान उज्ज्वल हैं ॥ ४० ॥

तुष्टि बर्फ के समान उज्ज्वल हैं, दया वैदूर्य के समान हैं, निद्रा अयस्कान्त मणि के समान हैं, क्षमा पीत और अरुण कान्ति वाली है ॥ ४१ ॥

कान्ति दर्पण के समान निर्मल हैं, धृति गोरोचन के समान उज्ज्वल हैं, मैत्री बन्धूकपुष्प के समान हैं और रति गौरिक के समान हैं ॥ ४२ ॥

मति मरकत के समान कान्ति वाली है, ये सभी उक्त देवियाँ सर्वदा प्रसन्नमुख रहती हैं ॥ ४३ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरा नानालङ्कारभूषिताः ॥ ४३ ॥
दिव्यस्रग्वेष्टनोपेता वीक्षमाणाः स्वकं पतिम् ।

देवीनां सर्वासामपि सामान्यं लक्षणमाह—दिव्यमाल्येति ॥ ४३-४४ ॥

सभी दिव्य माला धारण किये हुए अनेक अलङ्कारों से विभूषित हैं ये सभी दिव्यमाला तथा दिव्यवस्त्र धारण किये हुए अपने-अपने पतियों की ओर देख रही हैं ॥ ४३-४४ ॥

चतस्त्रः शक्तयो यास्तु विभोः शयनगस्य तु ॥ ४४ ॥
प्रागुक्तास्तत्र पूर्वाशावस्थिता वीजयन्त्यजम् ।
त्रयं यद् दिक्त्रयस्थं तु तत्संवाहनतत्परम् ॥ ४५ ॥

पातालशायिनः परितः स्थितस्य लक्ष्म्यादिशक्तिचतुष्टयस्य हस्तव्यापारानाह—चतस्त्र इति सार्धेन ॥ ४४-४५ ॥

इसके अतिरिक्त भगवान् की चार शक्तियाँ और हैं जो उनके शयनागार में निवास करती हैं । इन देवियों के विषय में पहले कह आये हैं (द्र. १२.१०७-१०८) ये भगवान् का वीजन करती हैं । इसके अतिरिक्त तीन और शक्तियाँ हैं जो तीनों दिशाओं में भगवान् का पदसंवाहन करती हैं ॥ ४५ ॥

यत्रैका श्रीर्विभोस्तत्र सन्निवेशः पुरोदितः ।
यत्रैका श्रीर्विभोस्तत्र वामे वा दक्षिणेऽपि वा ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीमात्रविषयमाह—यत्रेति । पुरोदितः पूर्वम् ''पद्मासनादिना चैव केवलं वा श्रियान्वितः'' (१२।१९२) इत्यत्र ।

षष्ठेनालिङ्गिता देवी सारविन्देन बाहुना ।
तदंसलग्नकरया देव्या तच्चित्तयाऽनिशम् ॥
संवीज्यमानं विनयाच्चामरेण सितेन तु ।—(१२।१०७-१०८)

इत्यत्र वोक्त इत्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—''श्रीर्नाम द्विभुजस्याहमङ्कस्था वरवर्णिनी'' (८।१२) इति ॥ ४६ ॥

उसमें से एक, जिसका नाम श्री है उनका सन्निवेश पहले (१२.१९२) कह आये हैं । एक ओर श्री हैं जो भगवान् के कदाचित् दायें और कदाचित् वाम भाग में निवास करती हैं ॥ ४६ ॥

श्रीपुष्टिद्विकस्य लक्षणकथनम्

श्रीपुष्ट्याख्यद्वयं यत्र तत्र तद् दक्षिणोत्तरे ।
पद्मासनेनोपविष्टा पक्षिपक्षद्वये स्थिता ॥ ४७ ॥
नलिनीनालहस्ताद्या मृदुकुम्भकराऽपरा ।
अग्नीषोममयो देह आद्यो यः सर्वगस्य च ॥ ४८ ॥
तस्य शक्तिद्वयं तादृगमिश्रं भिन्नलक्षणम् ।

भोक्तृशक्तिः स्मृता लक्ष्मीः पुष्टिर्वै कर्तृसंज्ञिता ॥ ४९ ॥
भोगार्थमवतीर्णस्य तस्य लोकानुकम्पया ।
उदितं सह तेनैव शक्तिद्वितयमव्ययम् ॥ ५० ॥
नानात्वेन हि वै यस्य परिणामः प्रकीर्तितः ।

श्रीपुष्टिद्विकस्य लक्षणमाह—श्रीपुष्ट्याख्यद्वयमिति सार्धैश्चतुर्भिः । यस्य शक्तिद्वयस्य परिणामो नानात्वेन प्रकाशितः, चिन्ताकीर्तिजयामायादिरूपभेदैः प्रदर्शित इत्यर्थः ॥ ४७-५१ ॥

श्री, पुष्टि दो और शक्तियाँ हैं जो क्रमशः नारायण के दक्षिण और उत्तर रहती हैं । ये दोनों ही गरुड़ के पक्ष पर पद्मासन से बैठी रहती हैं ॥ ४७ ॥

एक के हाथ में कमलिनी का नाल है, तो दूसरे के हाथ में कोमल जल कलश है । सर्वत्रव्यापी भगवान् का सर्वप्रथम होने वाला जो अग्नीषोममय देह है। उनकी दो शक्तियाँ हैं । एक परस्पर मिली हुई और दूसरी परस्पर भिन्न हैं । उसमें लक्ष्मी भोक्त्री शक्ति हैं और दूसरी पुष्टि शक्ति हैं, जिन्हें कर्मी शक्ति भी कहा जाता है ॥ ४८-४९ ॥

जब भगवान् लोक पर अनुग्रह करने के लिये भोग के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं तो वे अव्यय प्रभु इन्हीं दोनों शक्तियों के साथ अवतरित होते हैं । इनकी इन्ही दो शक्तियों का परिणाम चिन्ता, कीर्ति, दया, जया तथा माया आदि रूपों में अनेक प्रकार से कहा जाता है ॥ ४९-५१ ॥

दिक्पत्रचतुरन्तःस्थं यद् वै देवीचतुष्टयम् ॥ ५१ ॥
शक्तिः परशुपाशास्त्रमङ्कुशं तत्करे क्रमात् ।

लक्ष्मीकीर्त्यादिशक्तिचतुष्टयलक्षणमाह—दिक्पत्रेति ॥ ५१-५२ ॥

चारों दिक्पत्रों के अन्त में जो चार शक्तियाँ स्थित हैं उनके हाथ में क्रमशः परशु, पाश, अस्त्र और अङ्कुश है ॥ ५१-५२ ॥

षट्कं केसरजालस्थं तत्र प्राक्पश्चिमे द्वयम् ॥ ५२ ॥
द्वयं द्वयं सौम्ययाम्ये तासां वामकरेषु च ।
शङ्खं चक्रं गदा सीरमिष्वस्त्रं नन्दकं शिवम् ॥ ५३ ॥

शुद्ध्यादिदेवीलक्षणमाह—षट्कमिति सार्धेन । प्राक्पश्चिमे द्वयम् । प्राग्भागे एका शक्तिः, पश्चिमभागे एका शक्तिरित्यर्थः । द्वयं द्वयं सौम्यायाम्ये । उत्तरकोणद्वये शक्तिद्वयम्, दक्षिणकोणद्वये शक्तिद्वयमित्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—''तस्यैव कोणषट्कस्था षोढाऽहं शृणु नाम च'' (८।२३) इति ॥ ५२-५३ ॥

अब **शुद्ध्यादि देवियों के लक्षण** कहते हैं—केशर जाल में छह शक्तियाँ

है जिसमें पूर्व और पश्चिम में एक-एक क्रम से दो शक्ति, उत्तर और दक्षिण में दो-दो और इनके वाम हस्त में शङ्ख, चक्र, गदा, हल, बाण एवं नन्दक नामक अस्त्र हैं ॥ ५३ ॥

शक्त्यष्टकलक्षणकथनम्

पत्रमध्यनिविष्टं तु यत्कान्ताष्टकमुत्तमम् ।
तस्य वामकराणां च विज्ञेयं त्वादितोऽष्टकम् ॥ ५४ ॥
श्रीफलं चाक्षसूत्रं स्रग् दर्पणः पुष्पमञ्जरी ।
विष्टरं किङ्किणी चास्त्रसञ्चयः कमलेक्षण ॥ ५५ ॥

शक्त्यष्टकलक्षणमाह—पत्रमध्येति द्वाभ्याम् ।
श्रीफलं = विल्वफलमित्यर्थः ॥ ५४-५५ ॥

अब **शक्त्यष्टक के लक्षण** कहते हैं—पत्र के मध्य में जो आठ (शक्तियाँ) कान्तायें सन्निविष्ट की गई हैं, उनके बायें हाथ में भी आठ वस्तुयें इस प्रकार सन्निविष्ट हैं । (१) श्री फल, (२) अक्षसूत्र, (३) माला, (४) दर्पण, (५) पुष्पमञ्जरी, (६) विष्टर, (७) किञ्किणी, (८) अस्त्र मञ्चय । हे कमलेक्षण ऐसा समझो ॥ ५४-५५ ॥

लक्ष्म्यादिद्विषट्कलक्षणम्

विज्ञेयः शान्तिदः पाणिर्द्वादशानां तु साभयः ।
अन्तरान्तरयोगेन सर्वाश्चामरलाञ्छिताः ॥ ५६ ॥
स्वस्तिकेनोपविष्टाश्चाप्यन्तर्मुदितमानसाः ।

लक्ष्म्यादिद्विषट्कलक्षणमाह—विज्ञेय इत्यर्धेन । सर्वसाधारणं लक्षणमाह—अन्तरेति । अन्तरान्तरयोगेन दक्षिणहस्तधारणेनेत्यर्थः ॥ ५६-५७ ॥

अब इन **लक्ष्म्यादि बारहों के सामान्य लक्षण** कहते हैं—इन द्वादश महालक्ष्मियों के दाहिने हाथ में स्वास्तिक आदि माङ्गलिक वस्तुओं के धारण करने के कारण इनमें बारह हाथों को भी अभय देने वाला तथा शान्ति प्रदान करने वाला समझना चाहिये । ये सभी चिह्न देवचिहनों से युक्त है । स्वास्तिक से युक्त है, सभी भीतर से प्रसन्नचित्त रहने वाले हैं ॥ ५६-५७ ॥

द्व्यादिकस्यास्य संघस्य द्वादशान्तस्य लाङ्गलिन् ॥ ५७ ॥
सितादिकेन वर्णेन लाञ्छनव्यत्ययेन तु ।
तुल्यलाञ्छनयोगेन तन्निरासे च वै सति ॥ ५८ ॥
वराभयाभ्यामन्योन्यपाणिभ्यामथ केवलात् ।
बहुधा भेदवृन्दं तु परिज्ञेयं तु पूर्ववत् ॥ ५९ ॥

शक्तीशवत् शक्तीनामपि सितादिवर्णपद्मादिलाञ्छनव्यत्ययतुल्यलाञ्छनत्वादि-भेदैर्बहुधा भेदा विज्ञेया इत्याह—द्व्यादिकस्येति सार्धद्वाभ्याम् । द्वयादिकस्य श्रीपुष्टि-द्विकपूर्वकस्येत्यर्थः । द्वादशान्तस्य लक्ष्मीपुष्टिदयादिद्विषट्कस्येत्यर्थः । संघस्येति जात्येकवचनम् । पञ्चसंघानामित्यर्थः । भवोपकरणदेवानां प्रसिद्धत्वात् तल्लक्षणानि सर्वत्र प्रसिद्धानि द्रष्टव्यानीति ॥ ५८-५९ ॥

शेषं भवोपकरणं देवानां निचयो हि सः ।
सुप्रसिद्धो महाबुद्धे किन्त्वब्जाद्यैस्तु पूर्ववत् ॥ ६० ॥
ध्यातव्या लाञ्छिताः सर्वे पाणिपादतलेषु च ।

नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां व्यक्तिर्व्यक्ता जगत्त्रये ॥
तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्घ्रिगोचरे ।
ललाटे चांसपट्टे तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥ (१२।१६८-१६९)

इत्याद्युक्तप्रकारेण शक्तिभूषणास्त्रलाञ्छनानामप्यस्पष्टत्वे तत्पाणिपादतलादिषु तानि द्रष्टव्यानीति चाह—शेषमिति सार्धेन ॥ ६०-६१ ॥

जिस प्रकार भवोपकरण देवों के प्रसिद्ध लक्षण सर्वत्र प्रसिद्ध देखे जा सकते हैं, उसी प्रकार इनके भी लक्षण सर्वत्र प्रसिद्ध देखे जा सकते हैं । किन्तु जिनके अस्त्र, ध्वज, वस्त्रादि द्वारा लक्षण प्रसिद्ध नहीं है वे भी अपने पैरों में लक्षण धारण करते हैं, अथवा ललाट में, अथवा कन्धों पर, अथवा पीठ में, अथवा दोनों हाथों में धारण करते ही है । बिना लक्षण के नहीं रहते इन लक्षणों के अस्पष्ट होने पर उन्हें हाथों तथा पादतलों में अवश्य देखा जा सकता है इसी बात को स्पष्ट करते हैं—शेषं भवोपकरणं देवानां निचयों हि सः । सुप्रसिद्धो महाबुद्धे किन्त्वब्जाद्यैस्तु पूर्ववत् ॥ ५७-६१ ॥

भक्तिश्रद्धाव्रतपरः सर्वेषां यः सदेव हि ॥ ६१ ॥
ध्यात्वैवमर्चनं कुर्याद् भोगैः संस्पर्शपूर्वकैः ।
सोऽचिरान्मोक्षनिष्ठं तु फलं प्राप्नोत्यभीप्सितम् ॥ ६२ ॥

एतेषामर्चनफलमाह—भक्तीति सार्धेन ॥ ६१-६२ ॥

यतः इनके लाञ्छन पाणि पादतल में प्रतिष्ठित हैं । अतः वही साधक उनका ध्यान कर संस्पर्श पूर्वक भोगों (गन्ध, धूपादि, नैवेद्यादि द्वारा) से अर्चन करता है । इस प्रकार वह भक्त शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है और शीघ्र ही अपना अभीष्ट भी प्राप्त कर लेता है ॥ ६१-६२ ॥

किरीटाद्यस्त्रनिष्ठेन परिवारेण चावृतम् ।
भक्त्या ह्यभीप्सितं रूपमर्चनीयमथापि वा ॥ ६३ ॥
निर्मुक्तपरिवारं वा स्वेन ध्यानेन लक्षितम् ।

एवं किरीटादिपारिवारध्यानैः सहितं वा तैर्विना केवलतत्तद्भगवन्मूर्तिध्यानमात्रेणं वाऽन्वितमर्चनं कार्यमित्याह—किरीटेति सार्धेन ॥ ६३-६४ ॥

इस प्रकार जो किरीटादि परिवारों के साथ, अथवा केवल भगवन्मूर्त्ति के साथ भक्तिपूर्वक परिवार सहित अथवा परिवार रहित ध्यान एवं अर्चन पूजन करता है, भगवान् दोनों प्रकार से उसे चतुर्विध पुरुषार्थ प्रदान करते हैं ॥ ६४ ॥

विदधात्यर्चनान्नूनं स्वपदं फलसंयुतम् ॥ ६४ ॥
ज्ञात्वैवं साधकः कुर्याद् यथाभिमतमर्चनम् ।
आत्मशक्तिसमैर्भोगैरखिलैः शुद्धविग्रहैः ॥ ६५ ॥
हृदि वेद्यां बहिर्मूर्तौ प्रासादे स्वगृहे तु वा ।
बहुप्राकारनिर्मुक्ते धूमदाहादिनोज्झिते ॥
शरणे रमणीये च निःसम्पर्के तु भाविते ॥ ६६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां भूषणाद्यस्त्रदेवताध्यानं नाम त्रयोदशः परिच्छेदः ॥ १३ ॥

— ❦ —

उभयथाऽर्चनेऽपि भगवान् चतुर्विधपुरुषार्थानपि प्रयच्छतीति ज्ञात्वा स्वेच्छानुसारेण यथाशक्त्यार्जितैर्भोगैर्मनसि बहिर्वेद्यां बिम्बे वाऽऽलये स्वगृहे वाऽर्चनं कुर्यादित्याह—विदधातीति त्रिभिः ॥ ६४-६६ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये त्रयोदशः परिच्छेदः ॥ १३ ॥

— ❦ —

यह अर्चन, आत्मशक्ति के अनुरूप तथा आत्मशक्ति के अनुसार शुद्ध विग्रह से हृदय में या वेदी पर, किसी शुद्ध स्थान में, मूर्त्ति में, प्रासाद में, अपने गृह में, बहुत प्राकार से निर्मुक्त स्थान पर, धूम एवं दाह विवर्जित स्थान में, सर्वोत्तम मनोरम गृह में, निर्जन स्थान में तथा अत्यन्त पवित्र स्थान में करना चाहिए ॥ ६४-६६ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के भूषणाद्यस्त्रदेवताध्यान नामक त्रयोदश परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १३ ॥

— ❦ —

चतुर्दशः परिच्छेदः

पवित्रारोपणविधिः

नारद उवाच

अखण्डनाय नित्यस्य तथा नैमित्तिकस्य च ।
कर्मणश्चोदयामास हली विष्णुं मुनीश्वराः ॥ १ ॥

अथ चतुर्दशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह नित्यनैमित्तिककर्मणामखण्डनावहं कर्म सङ्कर्षणो वासुदेवं पृच्छतीत्याह—अखण्डनायेति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे मुनीश्वरों ! अब इसके बाद सङ्कर्षण, भगवान् वासुदेव से नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों में जिस प्रकार किसी प्रकार बाधा न हो, वह अखण्डित रहे, इस विषय में पूछते हैं ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

यैराजीवावधिं कालं नित्यमाराधनं प्रति ।
धीः कृता पुण्डरीकाक्ष श्रद्धापूतेन चेतसा ॥ २ ॥
तेषामाकस्मिकाल्लोपाद् भोगानामप्यसम्भवात् ।
यः स्यात् तस्योपशमनं ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥ ३ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—यैरिति द्वाभ्याम् । तेषां भागवतानाम्, आकस्मिकाल्लोपाद् अबुद्धिपूर्वकादाह्निकव्रतादिलोपादित्यर्थः । भोगानामसंभवाद् = औपचारिकादीनां लोपादित्यर्थः । यः स्याद् = यो दोषः संभवेदित्यर्थः । तस्योपशमनं = ज्ञातुमिच्छामीति प्रश्नः ॥ २-३ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे भगवन् ! जिस प्रकार महाभागवतों की नित्य एवं नैमित्तिक क्रिया का लोप न हो, अथवा भोगों के अभाव में या औपचारिकता के अभाव से दोष न पड़े, उसके उपशमन का उपाय बताइये क्योंकि उस महाभागवत ने आजीवन नित्य श्रद्धा युक्त चित्त से आप की आराधना की प्रतिज्ञा की है ॥ २-३ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोभबुद्धिं विना यस्य भोगानामप्यसम्भवः ।

सामर्थ्येन विना यस्य कृच्छ्रादीनां परिच्युतिः ॥ ४ ॥
ज्वरादिव्याधिदोषेण जातो यस्याह्निकक्षयः ।
चातुर्मास्यस्य चाप्राप्तिर्यस्य स्वातन्त्र्यतो विना ॥ ५ ॥
तस्य तस्य महाबुद्धे श्रृणु यद्विहितं हितम् ।
सांस्पर्शिकानां भोगानां मात्रावित्तं हि पूरणम् ॥ ६ ॥
हृदयङ्गमसंज्ञानामन्नं च हविषा प्लुतम् ।
औपचारिकभोगानां बीजानि विहितानि वै ॥ ७ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवस्तांस्तान् दोषहेतून् स्वयमपि विविच्य तत्तदुपशामकानाह—लोभबुद्धिमित्यादिभिः । लोभबुद्धिं विना द्रव्यलोभं विना । अनुपपत्तिविनाशादिति भावः । यस्य पुरुषस्य यत्पुरुषकर्तृक इत्यर्थः । भोगानाम् = औपचारिक-सांस्पर्शिकाभ्यवहारिकाणाम्, असम्भवो लोपः संभवति । स्वातन्त्र्यतो विना पार-तन्त्र्याद्यस्य पुरुषस्य चातुर्मास्यस्य व्रतस्य चाप्राप्तिर्लोपः संभवति, तस्य तस्य पुरुषस्य यद्धितं प्रायश्चित्तरूपं हितं विहितं शास्त्रचोदितं तच्छृणिवत्यर्थः । सांस्पर्शिकानां भोगानां स्रक्चन्दनादीनाम्, मात्रावित्तं प्रत्यहं पूजाकाले दीयमानं सहिरण्यशालितण्डुलतिलादि-कम्, पूरणं भोगलोपदोषजनितच्छिद्रपूरकमित्यर्थः । हृदयंगमसंज्ञानाम् = आभ्यव-हारिकाणाम्, हविषा प्लुतम् = आज्याक्तमन्नं पूरकम् । औपचारिकभोगानां = छत्र-चामरादीनाम्, विविधानि बीजानि मात्रार्थं कल्पितानि मुद्गादीनि पूरकाणि ॥ ४-७ ॥

श्री भगवान् के कहा—हे सङ्कर्षण! द्रव्य लोभ के बिना ही जिस पुरुष के आराधना में औपचारिक, सांस्पर्शिक एवं आभ्यवहारिक भोगों का लोप हो जाता है स्वतन्त्रता के अभाव में या परतन्त्रता के कारण जिस पुरुष के चातुर्मासिक व्रत्तों में विघ्न पड़ जाता है । अब उसके विषय में जो-जो प्रायश्चित्त हैं, हे सङ्कर्षण ! उसे सुनिये । आराधना में सांस्पर्शिक दोष (स्रक्, चन्दनादि का अभाव), पूजा करने में मात्रावित्त (= सहिरण्य, शालि, तण्डुल, तिलादि, दान) से पूर्ण होता है । आभ्यवहारिक दोष आज्य परिप्लुत अन्न के होम से पूर्ण होता है और औपचारिक भोग (छत्र, चामरादि के अभाव का दोष) का विविध बीज (मुद्गादिदान) से पूर्ण होता है ॥ ४-७ ॥

कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां व्रतानां परिपूरकः ।
विशेषार्चनसंयुक्तश्चातुर्मास्यस्तु संयमः ॥ ८ ॥
सौत्रं प्रतिसरं चित्रं मुक्ताहारोपमं शुभम् ।
शमं नयति भक्तानां सर्वदा लोपमाह्निकम् ॥ ९ ॥

एवं भोगलोपप्रायश्चित्तमुक्त्वा कृच्छ्रादिलोपप्रायश्चित्तं दर्शयति—कृच्छ्रचान्द्रा-यणादीनामिति । कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां व्रतानां विशेषार्चनसंयुक्तश्चातुर्मास्यस्य संयमः अष्टमपरिच्छेदोक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः पूरकः ।

अथ क्रमप्राप्तमाह्निकलोपप्रायश्चित्तं दर्शयति—मुक्ताहारोपमं चित्रं शुभं सौत्रं क्षौमादिसूत्रकृतं प्रतिसरं पवित्राख्यं भूषणं भक्तानामाह्निकं लोपम् = आह्निकलोपजन्यं दोषं शमं नयति शान्तिं प्रापयतीत्यर्थः । चातुर्मास्यव्रतलोपस्यापीदं प्रायश्चित्तमिति ज्ञेयम्, तस्याह्निकेष्वेवान्तर्भूतत्वात्, अत एव तस्य प्रत्येकं प्रायश्चित्तानुक्तेः । एवं च मन्त्रलोपक्रियालोपद्रव्यलोपादिसंभवे हि कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतान्यनुव्रीयन्ते, तेषाामपि पूरकश्चातुर्मास्यव्रतः, तस्यापि पूरकं पवित्रारोपणम् । अतोऽस्य सर्वप्रायश्चित्तत्वमुक्तं भवति । तथा च वक्ष्यति कण्ठरवेण—

तपोदानव्रतानां च विहितस्याह्निकस्य च ।
निःशेषयागभोगानां कृत्वा सम्पूरणक्रियाम् ॥ —(१५।१)

इति ॥ ८-९ ॥

कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों में होने वाले दोषों का प्रायश्चित्त विशेषार्चन संयुक्त चातुर्मास्य का संयम है ॥ ८ ॥

अब क्रम-प्राप्त आह्निक क्रिया के लोप से होने वाले दोषों का प्रायश्चित्त कहते हैं—भक्तों के नित्य आराधन में आह्निक दोष होने पर प्रतिसर (क्षौमादि सूत्र की ग्रथित माला जिसे 'पवित्रा' कहते हैं) उससे उस आह्निक-दोष की शान्ति हो जाती है ॥ ९ ॥

पवित्रारोपणानुष्ठानकालकथनम्

तच्च मासचतुष्कस्य मध्ये कुर्याच्छुभे दिने ।
आषाढपञ्चदश्यास्तु यावद् वै कार्तिकस्य च ॥ १० ॥
सम्पूर्णचन्द्रदिवसं तं कालं चान्द्रमन्तिमम् ।
आ कर्कटकसंक्रान्तेस्तुलाभोगक्षयावधि ॥ ११ ॥
कालं तं चाष्टपक्षं तु सौरं मध्यमसंज्ञितम् ।
एकादश्यादि चान्तो यश्चातुर्मास्योपलक्षितः ॥ १२ ॥
कालं तं वैष्णवं विद्धि तूत्तमं सर्वसिद्धिदम् ।

तस्मादस्य विधानं विस्तरेण दर्शयन् प्रथमं तदनुष्ठानकालमाह—तच्चेत्यादिभिः । आषाढपञ्चदश्या = आषाढपूर्णमासीमारभ्य कार्तिकस्य मासस्य सम्पूर्णचन्द्रदिवसं पौर्णमासीति यावत् । तावन्तं कालं चान्द्रं चान्द्रमानसंज्ञम् अन्तिमम् अधमं सन्तं विद्धि । आ कर्कटकसंक्रान्तेस्तुलाभोगक्षयावधि सूर्यस्य कर्कटकप्रवेशमारभ्य तुलाधिष्ठानभोगावसानपर्यन्तम् । अथवा तुलायां तुलामासे ये भोगाः शालिव्रीह्यादीनां फलानि, तेषां क्षयावधि तल्लवनसंग्रहणपर्यन्तमित्यर्थः । यद्वा तुलामासस्याभोगो विस्तारस्तदवसानपर्यन्तमित्यर्थः । अष्टपक्षम् = अष्टौ पक्षा यस्य तं तथोक्तं कालं सौरं सौरमानसंज्ञं मध्यमं विद्धि । चातुर्मास्योपलक्षितः = एकादश्यादि चान्तो यः काल आषाढशुक्लैकादशीमारभ्य कार्तिकशुक्लैकादश्यन्तं मासचतुष्टयात्मक इत्यर्थः । तं

कालं वैष्णवं वैष्णवमानसंज्ञम्, उत्तमं तं विद्धि । पारमेश्वरव्याख्याने—"एकादश्यादि चान्तो य इत्यत्र एकादश्यामादिरारम्भस्तत्र तीर्थं वा" इति विलिखितम् । तद्विचारणीयम् ॥ १०-१३ ॥

वह पवित्रारोपण चातुर्मास्य काल में पवित्र शुभ तिथि में करे, आषाढ़ की पूर्णिमा से लेकर कार्त्तिक की पूर्णिमा तक का दिन चातुर्मास्य कहा जाता है ॥ १० ॥

जिस दिन चन्द्रमा सायं से कार्त्तिक मास के जिस दिन सारा दिन चन्द्रमा हो उस दिन को 'पूर्णमासी' कहा जाता है उतना चान्द्रमान काल 'अधम' कहा जाता है ॥ १०-११ ॥

कर्क की संक्रान्ति से लेकर तुलाभोगक्षयावधि पर्यन्त इस प्रकार कुल आठ पक्ष का सौर काल 'मध्यम' संज्ञक कहा जाता है । अत: आषाढ़ शुक्ल एकादशी से लेकर कार्त्तिक शुक्ल एकादशी के अन्त तक का काल विद्वानों द्वारा चातुर्मास्य 'उत्तम' संज्ञक कहा जाता है ॥ ११-१२ ॥

अप्राप्तेरस्य कालस्य त्वन्तरायेण केनचित् ॥ १३ ॥
निर्वाहणीयोऽप्यपर: कालश्चान्द्रायणादिना ।

उत्तमकालालाभेऽधमादिकाले वेदमनुष्ठेयमित्याह—अप्राप्तेरिति ॥ १३-१४ ॥

यही काल वैष्णव मान के अनुसार चातुर्मास्य समझना चाहिये जो सर्वोत्तम है । यदि इस प्रकार का काल संभव न हो, तब अधमकाल में भी वेदानुष्ठान (पवित्रारोपण) अनुष्ठेय है ॥ १३-१४ ॥

सम्पाद्यं चैव तन्मध्ये विधिवद् यागपूरकम् ॥ १४ ॥
दिनत्रये तु पूर्वोक्ते पूर्णिमाद्युपलक्षिते ।
सोपवासै: क्रियापूर्वं कर्म प्रातिसरीयकम् ॥ १५ ॥

उत्तमकालेष्वन्यतमे दिनत्रये पवित्रारोपणं कार्यमित्याह—सम्पाद्यमिति । सम्पाद्यं = कर्तव्यमित्यर्थ: । तन्मध्ये उत्तमादिकालत्रयमध्ये, यागपूरकं = भगवदाराधनच्छिद्रपूरकमित्यर्थ:, पौर्णिमाद्युपलक्षिते = पौर्णमास्या एकादश्या संक्रान्त्या वाऽन्वित इत्यर्थ: । प्रातिसरीयकं = पावित्रकमित्यर्थ: ॥ १४-१५ ॥

तीन दिन के उत्तम काल में किसी भी उत्तम दिन पवित्रारोपण विधेय है । इस उत्तमादिकालत्रय के मध्य में भगवदाराधन में होने वाले छिद्र की पूर्त्ति के लिये याग तथा पौर्णमासी एकादशी अथवा संक्रान्ति काल में प्रतिसरानुष्ठान (पवित्रारोपण) भी विधेय है ॥ १४-१५ ॥

पवित्रदिवसाख्य कर्मकथनम्

दशम्यामर्चनं कृत्वा हुत्वाग्निं च निशामुखे ।
आनिमन्त्र्य च देवेशं धूपं दत्त्वाऽर्घ्यपूर्वकम् ॥ १६ ॥

निजानन्दमयैर्भोगैर्नित्यतृप्तस्त्वमव्ययः ।
तथापि भक्त्या तृप्तोऽहं त्वां यजाम्यात्मसिद्धये ॥ १७ ॥
निवेद्य मुखवासादीनित्युक्त्वा दन्तधावनम् ।
सम्पूज्याथ सुगन्धैस्तु सितसूत्रसमूहजम् ॥ १८ ॥
शुभं प्रतिसरं त्वेकं तत्तुल्यानि बहूनि वा ।
कुङ्कुमाद्यैर्यथाशोभं रञ्जयित्वा स्वशक्तितः ॥ १९ ॥
जाम्बूनदमयैः पुष्पैर्नानारत्नोपशोभितैः ।
सनालैर्भूषणीयं च रम्यैर्वा रजतोत्थितैः ॥ २० ॥
धूपितेऽभिनवे भाण्डे कृत्वाच्छाद्यास्तरेण तु ।
प्रणवेनार्चयित्वा तु संस्थाप्य पुरतो विभोः ॥ २१ ॥
देवागारं बहिश्चान्तर्मन्दिरं यागसंज्ञितम् ।
संवेष्ट्य सितसूत्रेण चतुर्धा तद्गुणेन तु ॥ २२ ॥
ततोऽभ्यर्च्य समूहं तु पञ्चकालपरायणम् ।
षट्कर्मनिरतं चापि यतिवृन्दं तु वैष्णवम् ॥ २३ ॥
समक्षं भवतां भक्त्या श्वः प्रभुं पूजयाम्यहम् ।
सन्निधानमतः कार्यं मदनुग्रहकाम्यया ॥ २४ ॥
स्नानाद्यमेकादश्यां वै सविशेषं समाचरेत् ।
हवनान्तं क्रियाकाण्डं जपस्तुतिपरस्ततः ॥ २५ ॥
आराध्यस्याग्रतः स्थित्वा जागरेण नयेन्निशाम् ।

अथ दशम्येकादश्योः कर्तव्यं पवित्रदिवसाख्यं कर्माह—दशम्यामित्यारभ्य जागरेण नयेन्निशामित्यन्तम् । अर्चनं कृत्वा कुम्भमण्डलबिम्बेषु यथाविधि सम्पूज्येत्यर्थः । अग्निं च हुत्वा अग्नौ च देवं सन्तर्प्येत्यर्थः, एवमधिवासदिनादिषु चतुःस्थानार्चनस्येश्वरपारमेश्वरादिषु प्रतिपादितत्वात् । यद्वाऽर्चनं कृत्वेत्यत्र केवलबिम्बार्चनमेव विवक्षितम्,

यदा तु केवलं बिम्बे पवित्रारोपणं भवेत् ॥
तदा स्याद् बिम्बकस्यैव अधिवासोक्तपूजनम् ।
तथा वह्निगतस्यापि वर्जयेत् कुम्भमण्डले ॥
—(१२।४७८-४७९)

इति पारमेश्वरोक्तेः । इत्थं दिनद्वयेऽप्यधिवासकरणाशक्तस्यैकादश्यामेवाधिवासनम्, तत्राप्यशक्तस्य सद्योऽधिवासनम्, अधिवासात् पूर्वमङ्कुरार्पणं रक्षाबन्धनं चोक्तमीश्वरे—

पूर्वं दशम्येकादश्योः कुर्यात् कर्माधिवासनम् ।
एकादश्यां वानुकल्पे अधिवासनमाचरेत् ॥

सद्योऽधिवासं द्वादश्यां कुर्याद्वा शक्त्यभावतः ।
अधिवासदिनात् पूर्वदिनं कृत्वाङ्कुरार्पणम्॥
अधिवासदिने कुर्याद् रक्षाबन्धं च देशिकः ।
—(१४।१६७-१६९)

इति । एवमेवोक्तं पारमेश्वरेऽपि—

प्राक्सप्त(मे) दिने कृत्वा प्राग्वदङ्कुररोपणम् ।
प्राग्वत् कृत्वाधिवासं तु पुरस्ताद् वासरद्वये॥
—(१२।४७५) इति ।

द्रव्याभावो द्विजश्रेष्ठ! अशक्तिर्यदि वा भवेत् ।
सद्योऽधिवासं द्वादश्यां कृत्वा शक्त्यनुसारतः ॥
—(१२।४९८-४९९) इति ।

अधिवासदिने चतुःस्थानार्चनानन्तरम् ''आनिमन्त्र्य च देवेशम्'' (१४।१६) इत्यत्रैकैकं पवित्रं समर्पणीयम् । तथा चोक्तमीश्वरे पारमेश्वरे च—

प्रणम्य देवदेवेशं ततस्त्वेकं पवित्रकम् ।
दहनाप्यायसंशुद्धं प्रोक्षितं चार्घ्यवारिणा॥
वासितं गन्धधूपाभ्यां चतुःस्थानस्थितस्य च ।
निवेद्य च क्रमेणैव धूपं दत्त्वाऽर्घ्यपूर्वकम्॥ इति ।
—(ई०सं० १४।१८०-१८१, पा०सं० १२।२६१-२६२)

पवित्रनिर्माणप्रकरणेऽपि—

चतुःस्थानावतीर्णस्य विभोरामन्त्रणाय वै ।
पवित्रमाद्यसदृशमेकैकं वा द्वयं द्वयम्॥ इति ।
—(ई०सं० १४।११२-११३, पा०सं० १२।१४१-१४२)

अत्र पवित्राणां तन्तुसंख्याग्रन्थिकल्पनगर्भरचनादिकं नोक्तमपीश्वरपारमेश्वराद्युक्तं ग्राह्यम् । अथवा—

यथेच्छाकल्पितैः सूत्रैर्ग्रन्थिभिस्तु यथेच्छया ।
निशारोचनया वापि पवित्राणां च धातुना॥
केनचिद् ग्रन्थयो विप्रा विधिवत् परिरञ्जयेत् ।
पुष्पपूर्णानि गर्भाणि कृत्वा वा केवलान्यतः ॥
—(ई०सं० १४।२६७-२६८, पा०सं० १२।५००-५०१)

इतीश्वरपारमेश्वरयोर्लघुपक्षस्याप्युक्तत्वात् तन्तुग्रन्थिनियमादीनामन्यतो ग्रहणाभावेऽपि न प्रत्यवायः ।

ननु यथेच्छाग्रन्थिकल्पनस्यापि मूलेऽनुक्तत्वात् तदपि वाऽन्यत्र ग्राह्यं खल्विति चेन्न, ''मुक्ताहारोपमम्'' (१४।९) इत्यनेनैव ग्रन्थिकल्पनसिद्धेः । ''संवेष्ट्य सितसूत्रेण चतुर्धा तद्गुणेन तु'' (१४।२२) इत्यत्र तद्गुणेन चतुर्गुणेनेत्यर्थः,

चतुर्गुणेन संवेष्ट्य ह्यन्तराद् यागमन्दिरम् ।
प्रदक्षिणचतुष्कं तु वर्ममन्त्रं तु संस्मरन् ॥ —(१२।२६९-२७०)

इति पारेमेश्वरस्पष्टोक्तेः ॥ १६-२६ ॥

यह पवित्रानुष्ठान दशमी अथवा एकादशी को भी किया जा सकता है, प्रतिसर (= पवित्रारोपण) कर्म में उपवास कर्म करे । सायंकाल अग्नि में हवन कर दशमी को भगवान् का अर्चन करे । प्रथम देवेश का आमन्त्रण करे, अर्घ प्रदान करे, फिर धूप देवे ॥ १६ ॥

फिर उनसे प्रार्थना करे—हे भगवन् ! आप स्वयं अपने आनन्दमय भोग से नित्य तृप्त हैं । आप में कोई विकार है ही नहीं, तथापि आप की भक्ति से तृप्त हुआ मैं अपनी सिद्धि की कामना के लिये आप का यजन करता हूँ ॥ १७ ॥

इस प्रकार प्रार्थना कर भगवान् को दन्त धावनादि मुख वास प्रदान करे । फिर श्वेत सूत्र समूह से बने हुए एक अथवा अनेक सूत्र समूहों की सुगन्धित वस्तुओं से पूजा करे । उसे कुङ्कुमादि से यथाशक्ति रञ्जित करे, जिससे वह शोभा सम्पन्न हो जाय । सुवर्णमय पुष्पों से तथा नाना प्रकार के रत्नों से अथवा रजतमय खण्डों से धूपित नाल उसे भूषित करे । इस प्रकार भूषित कर लेने के बाद किसी भूषित अभिनव भाण्ड में अन्तरण पर स्थापित कर प्रणव से अर्चना करे । फिर उसे भगवान् के सामने स्थापित करे ॥ १८-२१ ॥

फिर देवागार, मन्दिर और यज्ञभूमि को श्वेतसूत्र से चार बार लपेट कर उसे सामूहिक रूप से नित्य पूजन करे । फिर पञ्चकाल परायण षट्कर्म निरत यतिवृन्दों तथा वैष्णवों को बुलावे तथा प्रार्थना करे कि मैं आप लोगों के समक्ष कल अपने इन प्रभु की पूजा करुँगा । अतः हे प्रभु ! मेरे ऊपर कृपा करते हुए कल अवश्य पधारियेगा ॥ २२-२४ ॥

इसके बाद एकादशी के दिन स्नानादि कार्य विशेष रूप से सम्पादन करना चाहिए । फिर हवनादि समस्त क्रिया-काण्ड करे तथा साधक जप और स्तुति में तत्पर रहे । अपने आराध्य भगवान् के सामने स्थित होकर जागते हुए रात बितावे ॥ २५-२६ ॥

पुनरभ्यर्च्य देवेशं प्रभाते विधिपूर्वकम् ॥ २६ ॥
भूषयेद् भूषणेनैव त्वामूर्ध्नः प्रणवेन तु ।
यथारूपैश्च बहुभिर्ब्रूयाद् बद्धाञ्जलिस्त्विदम् ॥ २७ ॥
नावलेपान्न मोहाच्च कर्मत्यागो मया कृतः ।
त्वमेव सर्वं जानासि सर्वेश हृदये स्थितः ॥ २८ ॥
यथाशक्त्या त्वनिच्छातस्तत्रापि परमेश्वर ।

तन्निमित्तमिदं कर्म कृतं त्वत्प्रीतये मया॥ २९ ॥
एवमुक्त्वा समभ्यर्च्य चतुरः पाञ्चरात्रिकान् ।
भगवत्प्रतिपत्त्या तु शक्त्या प्रावरणैर्धनैः ॥ ३० ॥
तथा प्रतिसरान्तैस्तु ब्रह्मचारीन् यतीन् गुरून् ।
तर्पयित्वाऽथ चान्नेन पूतेन विविधेन तु॥ ३१ ॥
क्षान्त्वाऽनुव्रज्य नैवेद्यपूर्वं कुर्याच्च भोजनम् ।

अथ द्वादश्यां प्रातर्नित्यार्चनचतुःस्थानार्चनपूर्वकं पवित्रसमर्पणम्, हविर्निवेदनाद्यनन्तरं नावलेपादिति श्लोकद्वयेन प्रार्थनम्, भगवत्प्रतिपत्त्या चतुर्णां कारिणां ब्रह्मचार्यादीनां भागवतानां च पवित्रसमर्पणहविर्भोजनान्तमर्चनमपराधक्षमापणादिकं स्वानुयागं चाह—पुनरभ्यर्च्य देवेशमित्यादिभिः । प्रावरणैर्वस्त्रैरित्यर्थः ॥ २६ - ३२ ॥

फिर प्रभात होने पर विधिपूर्वक देवेश का अभ्यर्चन करे । फिर प्रणव मन्त्र से भगवान् के रूप के अनुसार पैर से शिर तक भगवान् को भली प्रकार से भूषित करे । तदनन्तर हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रार्थना करे ॥ २६-२७ ॥

हे भगवन् ! मैंने अहङ्कारवश अथवा अज्ञानवश अपने इस कर्म का त्याग नहीं किया है । आप सबके हृदय में निवास करते हैं और सब कुछ जानते हैं । हे परमेश्वर ! मैंने अनिच्छावश भी अपनी शक्ति के अनुसार उस मूल के कारण यह सारा कार्य आपकी प्रीति के लिये किया है ॥ २८-२९ ॥

साधक इस प्रकार प्रार्थना कर चार अथवा पाँच पाँचरात्र के उपासकों की पूजा करे । इस प्रकार द्वादशी को प्रातः नित्यार्चन चतुःस्थानार्चनपूर्वकभगवान् को पवित्रा समर्पण करे । फिर हवि निवेदन के अनन्तर 'नावलेपादिति' (२८-२९) श्लोक द्वय से प्रार्थना करे । फिर भगवद् इष्ट या चार कर्मकारी ब्रह्मचारियों को तथा चार महाभागवत भक्तों को पवित्रा समर्पण कर हविष्य भोजन करावे । पुनः अर्चनपूर्वक अपराध समापन करावे । पुनः उन ब्रह्मचारी तथा महाभागवतों को पीछे अनुगमन कर नैवेद्य पूर्वक भोजन करे ॥ ३०-३२ ॥

अपरेऽहनि संन्यासमाचरेद् वा दिने दिने॥ ३२ ॥
अपनीय तु माल्यादीन् प्रदद्याद् वा दिने दिने ।
नो याति म्लानतां यावच्चतुर्थेऽहनि वा त्यजेत्॥ ३३ ॥
विशेषयागपूर्वं तु कारिभ्योऽवसरे स्वके ।

तदपरेद्युरेव पवित्रविसर्जनमाह—अपरेऽहनीत्यर्धेन ।

अथवा पुष्पाणामेव प्रत्यहं विसर्जनं कुर्वन् पवित्राणां विसर्जनं तु चतुर्थेऽहनि विशेषेण कारिपूजनपूर्वकं कुर्यादित्याह—अपनीयेति सार्धेन । एतदूर्ध्वमपि पवित्रस्थापनमुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

एकरात्रं त्रिरात्रं वा पञ्च वा सप्तरात्रकम् ।
पवित्रकं स्थापयित्वा ततः संन्यासमाचरेत् ॥
अथवार्चागतं विप्र तावत्संस्थाप्य भूषणम् ।
यावदेकादशी शुक्ला संवृत्ता कार्तिकस्य तु ॥ इति ।
—(ई०सं० १४।२५०-२५१, पा०सं० १२।४४६-४४७)

अन्ये च बहवो विशेषा अत्रापेक्षिता ईश्वरादिषु द्रष्टव्याः ॥ ३२-३३ ॥

फिर दूसरे दिन विधिपूर्वक सन्यास ग्रहण कर लेवे, अथवा पूर्वदिन का समर्पित माल्यादि हटाकर प्रतिदिन नयी-नयी माला समर्पित करे, अथवा यदि माला तीन दिन तक मलिन न हुई हो तो उसे चतुर्थ दिन त्याग करे । इस प्रकार कार्यकारी भक्तों के लिये, अपने अवसर उपस्थित होने पर अन्य भी, बहुत सी विशेषतायें हैं ॥ ३२-३४ ॥

एवं कृते सति तदा सिद्धिर्भवति शाश्वती ।
सर्वथाऽऽराधकानां तु चेतसोऽभीप्सितं तथा ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां पवित्रारोपणविधिर्नाम चतुर्दशः परिच्छेदः ॥ १४ ॥

— ❀ —

एतत्फलमाह—एवमिति ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यांयनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये चतुर्दशः परिच्छेदः ॥ १४ ॥

— ❀ —

जो इस प्रकार से आराधना में दोष होने पर, इस प्रकार का प्रायश्चित करता है उसे शाश्वती सिद्धि प्राप्त होती है तथा आराधना करने वाले का सर्वथा अभीष्ट सिद्ध हो जाता है ॥ ३४ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के पवित्रारोपणविधि नामक चतुर्दश परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १४ ॥

— ❀ —

पञ्चदशः परिच्छेदः

पवित्रस्नानविधिः

श्रीभगवानुवाच

तपोदानव्रतानां च विहितस्याह्निकस्य च ।
निश्शेषयागभोगानां कृत्वा सम्पूरणक्रियाम् ॥ १ ॥
अपरेऽहनि वै कुर्याच्चतुर्थे सप्तमे तु वा ।
स्नपनं पूज्यमन्त्रस्य तीर्थोद्देशे च सङ्गमे ॥ २ ॥
नद्यां समुद्रगामिन्यां देवखाते ह्रदे तु वा ।
प्रीतये परमेशस्य त्वात्मनो दुःखशान्तये ॥ ३ ॥
आह्लादायामराणां च पितॄणां तृप्तये तु वै ।
आप्यायनार्थं भूतानां भुवनानां च भूतये ॥ ४ ॥
देशदोषप्रशान्त्यर्थं गोब्राह्मणहिताय च ।

अथ पञ्चदशपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । एवं सर्वच्छिद्रपूरकं पवित्रारोपणाख्यं कर्म कृत्वा तदवरोपणदिने तदनन्तरं देवस्यावभृथं कार्यमित्याह—तप इत्यादिभिः ॥ १-५ ॥

श्री भगवान् ने कहा—इस प्रकार सर्वाच्छिद्रपूरक पवित्रारोपण कर्म करने के पश्चात् तप, दान एवं व्रतों को तथा विहित आह्निक कर्मों को सम्पूर्ण याग भोगों के छिद्र पूर्त्ति की सारी क्रिया सम्पादन करे । दूसरे दिन, अथवा चौथे दिन, अथवा सातवें दिन किसी तीर्थ प्रदेश में, अथवा सङ्गम स्थल में पूज्य मन्त्र के स्नान कराने की क्रिया सम्पादन करे ॥ १-२ ॥

अथवा समुद्रगामिनी नदी में, देवखात में, ह्रद में इस पूज्य मन्त्र का स्नान, परमेश्वर की प्रीति के उद्देश्य से, अथवा अपने दुःख की शान्ति के उद्देश्यों से, अथवा देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, अथवा पितरों की तृप्ति के लिये करावे, अथवा प्राणियों के वृद्धि के उद्देश्य से, अथवा समस्त लोकों के कल्याण के लिये कराना चाहिये । देशदोष की प्रशान्ति के लिये, अथवा गौ ब्राह्मण के हित के लिये पूज्यमन्त्र का स्नान कराना चाहिये ॥ ३-४ ॥

कुशकूर्चनिर्माणप्रकारकथनम्

बहुशाखमभग्नाग्रं समूलं यदपुष्पितम् ॥ ५ ॥
प्राङ्मुखो दर्भमादाय प्रणवेन पुरा क्षितेः ।
ततस्तेनैव तन्मूलं प्राग्वत् कुर्यादधिष्ठितम् ॥ ६ ॥
तस्य मध्यमनालं यन्न्यग्भूतमवतिष्ठते ।
आराध्य मन्त्रनाथेन स्मरेद् व्याप्तं महात्मना ॥ ७ ॥
विवर्तं परमात्मीयमध्यक्षाख्यं च विद्धि तम् ।
अनेकगर्भमुच्चं यत्काण्डं काण्डेषु चोत्तमम् ॥ ८ ॥
अणिमादिगुणैर्युक्तं पुंस्तत्त्वं तेन कल्प्यते ।
वाचकं तस्य योक्तव्यं हंसयुक्तं द्विलक्षणम् ॥ ९ ॥
बहिःकाण्डचतुष्केण चित्तपूर्वं चतुष्टयम् ।
ग्रथनीयमधोवक्त्रमव्यक्तान्तं स्वकैः पदैः ॥ १० ॥
प्रणवादिनमोऽन्तैस्तु व्यापकं सूक्ष्मलक्षणम् ।
एवं श्रोत्रादिकान् पञ्च स्वनाम्ना ग्रथयेत् तथा ॥ ११ ॥
कर्मेन्द्रियाणि तदनु ततस्तन्मात्रपञ्चकम् ।
पञ्चकं त्वथ भूतानां बद्ध्वा वै क्ष्माऽवसानिकम् ॥ १२ ॥
अवशिष्टैस्तु तत्काण्डैर्बध्नीयात् तत् तरण्डवत् ।
विना शिखासमूहेन समुत्तानावधेरथ ॥ १३ ॥
किञ्चित् तदूर्ध्वदेशाच्च यथा नो याति वै पुनः ।
बहुधा काण्डसंघस्तु कल्पितस्तत्त्वसंख्यया ॥ १४ ॥
विभिन्नानां च काण्डानां भङ्गादेकतमस्य च ।
उत्पद्यतेऽन्यथात्वं च तस्मात् तद् ग्रथयेद् दृढम् ॥ १५ ॥

तदर्थं कुशकूर्चनिर्माणप्रकारमाह—बहुशाखमित्यादिभिः। बहुशाखम् = अनेककाण्डान्वितमित्यर्थः । तेनैव = प्रणवेन, तन्मूलं = दर्भमञ्जरीमूलम्, अधिष्ठितं कुर्याद् = व्याप्तं भावयेदित्यर्थः । परमात्मीयं विवर्तं = भगवदाकारान्तरमित्यर्थः । अध्यक्षाख्यमिति विवर्तस्य विशेषणम् । अध्यक्षं नाम भगवत्सूक्ष्मरूपभेदः । तथा चोक्तं जयाख्ये—

तन्महाविग्रहं स्थूलं सर्वमन्त्रास्पदं द्विज ।
प्रविष्टं भावयेत् सूक्ष्मे ह्यध्यक्षे ह्युभयात्मके ॥
परे प्रागुक्तरूपे तु तं सूक्ष्ममुभयात्मकम् ।
तं परं प्रस्फुरद्रूपं निराधारपदाश्रितम् ॥
सिद्धिमार्गेण हृत्पद्मे सम्प्रविष्टं तु भावयेत् ।
—(१५।२३५-२३७) इति ।

पुंस्तत्त्वं = जीवात्मेत्यर्थः । तस्य वाचकं = जीवमन्त्रमित्यर्थः । हंसयुक्तं = हंसाक्षरयुक्तमित्यर्थः । द्विलक्षणं = पदद्वयात्मकमित्यर्थः । तथा च तन्मन्त्रोद्धारो जयाख्ये—

अप्रमेयेण सूत्रेण व्योमाख्येनामृतेन च ।
परमेश्वरयुक्तेन त्रितारोक्तात्मना तु वा ॥ (७।२५) इति ।

अयमेवार्थः सुस्पष्टमुपबृंहितो लक्ष्मीतन्त्रे—"प्रत्यगात्मपरामर्शिशब्दः सोमोऽथ सर्गवान्" (३३।४७) इति । एवं च 'अहं सः' इति जीववाचकमन्त्रो ज्ञेयः । चित्तपूर्वकमव्यक्तान्तं चतुष्टयं = मनोबुद्ध्यहङ्कारप्रकृत्याख्यं तत्त्वचतुष्टयमित्यर्थः । प्रणवादिनमोन्तैः = स्वकैः पदैः ॐकारनमस्कारसम्पुटितैश्चतुर्थ्यन्तैस्तत्तन्नामभिरित्यर्थः। कर्मेन्द्रियाणि = वाक्पाणिपादपायूपस्थानि । तन्मात्रपञ्चकं = शब्दतन्मात्रादिपञ्चकम् । भूतानां पञ्चकम् = आकाशादिभूतपञ्चकम् । क्ष्मावसानि(का?कं) = पृथिव्यन्तमिति तद्विशेषणम् । अवशिष्टैस्तत्काण्डैः पञ्चविंशतिकाण्डेभ्योऽतिरिक्तैः कुशकाण्डैरित्यर्थः ॥ ५-१५ ॥

अब स्नान के लिये सर्वप्रथम **कूर्चनिर्माण का प्रकार** कहते हैं—जिसमें बहुत सी शाखायें हो, जो स्थूल हो, जो पुष्पित न हो ऐसे कुशों को पूर्वाभिमुख हो, प्रणव मन्त्र से, पृथ्वी से उखाड़ कर कुश मूल में भगवद् भावना कर भगवान् को स्थापित करे ॥ ५-६ ॥

उसका मध्यमनाल जो नीचे की ओर लटका हुआ है, उसमें महात्मा मन्त्रनाथ की आराधना कर उनसे व्याप्त होने की भावना करे ॥ ७ ॥

उसे सर्वाध्यक्ष परमात्मा का जीवात्म स्वरूप दूसरा विवर्त्त (= परिणाम) समझे । सभी काण्डों में जो अनेक गर्भों वाला सबसे ऊँचा काण्ड है, उसमें अणिमादि से युक्त पुंस्तत्त्व (जीव) की कल्पना करे । फिर उसमें जीव वाचक 'हंस' युक्त इन दो पदद्वयात्मक अक्षरों की कल्पना करे ॥ ८-९ ॥

फिर उसमें चित्तपूर्वक अव्यक्तान्त (मन, बुद्धि, अहङ्कार एवं प्रकृति) इन तत्त्व चतुष्टय की अधोमुख ॐकार तथा नमस्कार सम्पुटित चतुर्थ्यन्त तत्तन्नामों से ग्रथित करे ॥ १० ॥

इसी प्रकार वाक्पाणिपादपायूपस्थ को भी उनके नाम पञ्चक के साथ तथा शब्द-तन्मात्रादि पञ्चक को और आकाशादि पृथ्व्यन्त भूतपञ्चक को भी उसमें बाँध देवे । पचीस काण्ड से बचे हुए (कुश) काण्डों को एक में मिलाकर गोले के समान बाँध देवे । उन शेष काण्डों को इस प्रकार दृढ़ता से बाँधे जिससे वह पुनः ऊपर की ओर न उठे । जहाँ तक हो सके काण्ड की संख्या तत्त्व संख्या (२५) तक ही होनी चाहिये । इससे अधिक काण्ड संख्या होने पर उसमें किसी एक काण्ड के भङ्ग होने से अनर्थ उत्पन्न होने की संभावना रहती है । इसलिये उतने काण्ड को दृढ़ता के साथ बाँधे ॥ ११-१५ ॥

दर्भमञ्जरिजं त्वेवं सम्पाद्यादौ पवित्रकम् ।
अनुसन्धीयते तत्र मन्त्रध्यानं यथास्थितम् ॥ १६ ॥
पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पाद्यैरलङ्कृत्य पठेदिदम् ।

एवंविधं पवित्रं परिकल्प्य तत्र ध्यानपूर्वकं भगवन्तमभ्यर्च्य प्रार्थयेदित्याह—दर्भमञ्जरिजमिति सार्धेन । तीर्थबिम्बाद्यभावे त्वेवं दर्भपवित्रकल्पनं कार्यम् । तत्सत्त्वे तस्यैव तीर्थस्नानं बोध्यम् । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

यथावत् स्नपन कुर्यात् तीर्थबिम्बे विशेषतः ।
नित्यस्नपनबिम्बे वा कुर्यात् तत्तदसन्निधौ ॥
नित्योत्सवपरे बिम्बे ह्याचरेत् तदसन्निधौ ।
तदभावे पवित्रे तु दर्भमञ्जरिजे शुभे ॥ इति ।

—(ई०सं० १४।२८०-२८१, पा०सं० १२।५३५-५३७) ॥ १६-१७ ॥

इस प्रकार साधक दर्भ की मञ्जरियों से पवित्री निर्माण करे । फिर उसमें मन्त्र का ध्यान कर मन्त्रनाथ की प्रतिष्ठा करे । फिर अर्घ्य पुष्पादि से अलङ्कृत कर यह प्रार्थना करे ॥ १६-१७ ॥

त्वमेव तीर्थं भगवंस्त्वमेवायतनं परम् ॥ १७ ॥
त्वय्येवाधिष्ठितं सर्वमिति जानामि तत्त्वतः ।
तत्रापि च त्वयाऽऽदिष्टं क्रियाकाण्डं शुभप्रदम् ॥ १८ ॥
यत्तन्निर्वाहयाम्यद्य त्वदनुग्रहकाम्यया ।

प्रार्थनाश्लोकद्वयमाह—त्वमिति ॥ १७-१९ ॥

प्रार्थना मन्त्र का अर्थ—हे भगवन् ! आप ही महान् तीर्थ हो, आप महान् आयतन हो, सारी सृष्टि आप में ही अधिष्ठित है, इस बात को मैं तत्त्वतः जानता हूँ । फिर भी आपकी आज्ञा से इसे कल्याणकारी क्रिया काण्ड का आपका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये आज इसका निर्वाह कर रहा हूँ ॥ १७-१९ ॥

एवं विज्ञाप्य भगवन् ! मन्त्रमूर्तिं परावरम् ॥ १९ ॥
तं पत्रपात्रगं कृत्वा ब्रह्मयानगतं तु वा ।
वेदगेयध्वनीशङ्खशब्दमङ्गलपूर्वकम् ॥ २० ॥
नीत्वा तीर्थान्तिकं तत्र तीरदेशे निधाय च ।
पूर्वामुखं च तं यानमथादाय पवित्रकम् ॥ २१ ॥
वामहस्ततले कुर्यात् क्ष्मामण्डलगतं त्विव ।
विधृयान्मध्यभागाच्च पाणिना दक्षिणेन तु ॥ २२ ॥
अवतीर्याम्भसो मध्ये निमज्जेत् सह तेन वै ।

एवं विज्ञाप्य तत्पवित्रं ब्रह्मयाने वा समारोप्य वेदवाद्यघोषैः सह तीर्थसमीपं नीत्वा तत्र प्राङ्मुखमवरोप्य पवित्रमादाय वामकरतले भूमण्डलगतमिव निधाय तन्मध्यं दक्षिणपाणिना गृहीत्वा तीर्थमध्येऽवतीर्य तेन सह स्नायादित्याह—एवमिति चतुर्भिः ॥ १९-२३ ॥

इस प्रकार परावर मन्त्रमूर्त्ति भगवान् से निवेदन कर उन्हें किसी पत्ते के पात्र में, अथवा किसी ब्रह्मयान में समारोपित कर वेद गान की ध्वनिपूर्वक शङ्ख बजाते हुए, माङ्गलिक जय-जयकार शब्द करते हुए, किसी तीर्थ स्थान में ले जाकर उसके तट पर उन्हें स्थापित करे । उस यान को पूर्वाभिमुख कर उसमें से उस पवित्रक को लेकर, अपने बायें हाथ पर भूमण्डल के समान स्थापित करे ॥ १९-२१ ॥

फिर अपने दाहिने हाथ से उन्हें मध्य भाग में ग्रहण कर जल में उतर कर उनके साथ ही डुबकी लगावे । (उसी समय वहाँ समस्त तीर्थ भी उनके साथ पहुँच जाते हैं) ॥ २२-२३ ॥

सन्निधिं तत्र तत्कालं प्रकुर्वन्त्यचिरात् तु वै ॥ २३ ॥
निःशेषाणि च तीर्थानि लोकत्रयगतानि च ।
मन्त्रात्मा यत्र रक्षार्थं क्षणमास्ते जलाशये ॥ २४ ॥
तत्रायतनतीर्थानां सर्वेषां स्यात् समागमः ।
किं पुनर्यत्र भगवान् मन्त्रमूर्तिरधोक्षजः ॥ २५ ॥
साधकाभ्यर्थितः स्नायात् सर्वानुग्रहया धिया ।

तत्काले तत्तीर्थे सर्वतीर्थसान्निध्यप्रभावमाह—सन्निधिमिति त्रिभिः ॥ २३-२६॥

जब मन्त्रात्मा प्रभु रक्षा के लिये, क्षण भर के लिये भी जलाशय में उपस्थित हो जाते हैं, तभी तीनों लोकों के समस्त तीर्थ उस जलाशय में पहुँच जाते हैं ॥ २३-२४ ॥

इस प्रकार उस जलाशय में समस्त आयतनों तथा समस्त तीर्थों का एकत्र समागम हो जाता है । जहाँ अधोक्षज भगवान् विष्णु मन्त्रमूर्त्ति रूप से विराज रहे हों वहाँ सभी तीर्थ आयतन क्यों न उपस्थित हो? ॥ २५ ॥

साधकों से अभ्यर्थित जो तीर्थ प्राप्त कर इस विधि से स्नान करता है वह तत्त्ववेत्ता है । सभी साधकों को इसी प्रकार सर्वानुग्रह बुद्धि से स्नान करना चाहिये ॥ २६ ॥

विद्वान् योऽनेन विधिना तीर्थमासाद्य तत्त्ववित् ॥ २६ ॥
स्नापयेद् बन्धुमित्रादीन् प्राप्नुवन्त्यचिराच्च ते ।
तैर्थं फलमनायासान्मन्त्रमूर्तेः प्रसादतः ॥ २७ ॥

एवं कूर्चद्वारा दूरदेशगतानां जनानामपि तीर्थस्नानं फलाधायकमित्याह—विद्वा-

निति सार्धेन । बान्धवादीनामिति कर्मणि षष्ठी । ते बान्धवादय इत्यर्थः ॥ २६ - २७ ॥

जो विद्वान् इस प्रकार तीर्थ में आकर स्नान करता है वह तत्त्ववेत्ता साधक है। इसी प्रकार अपने सभी बन्धुओं और मित्रों को तीर्थ में स्नान कराना चाहिये । ऐसा करने से वे सभी बन्धु-बान्धव मन्त्रमूर्त्ति के कृपा प्रसाद से उस तीर्थ स्नान का फल अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ २६-२७ ॥

किन्तु तद्यानवादित्रवर्जितस्तु भवेद् विधिः ।
इमं विद्धि महाबुद्धे विशेषं चात्र कर्मणि ॥ २८ ॥

अत्र विशेषमाह—किन्त्विति । यानारोपणं मङ्गलवाद्यान्वितत्वं च भगवत एवार्हम्, नान्यस्येति भावः ॥ २८ ॥

किन्तु हे महाबुद्धे ! इस कर्म में यह एक विशेषता है कि तीर्थ स्नान में वाहन, बाजा आदि वर्जित रखे ॥ २८ ॥

सामान्यमविनाशं यच्चिन्मयं रूपमैश्वरम् ।
विशेषसंज्ञासम्बन्धं जीवहंसं विभाव्य तम् ॥ २९ ॥
पवित्रकं तदाकारं स्मृत्वा स्नाप्यस्ततोऽम्भसा ।

अस्य शरीरस्य भगवच्छरीरभूतत्वादेनमपि भगवदात्मकं स्मृत्वा पवित्रद्वारा स्नानं कारयेदित्याह—सामान्यमिति सार्धेन ॥ २९ - ३० ॥

उस पवित्रक में सामान्य अविनाशी सच्चिन्मय ऐश्वर स्वरूप विशेष संज्ञा सम्बन्ध वाले जीव रूप हंस की संभावना करे । इस प्रकार के आकार का ध्यान कर उसे जल में स्नान करावे ॥ २९-३० ॥

एवं तेनैव चान्येषां बहूनां बहुभिस्तु वा ॥ ३० ॥
सम्पाद्यं विष्टरैः स्नानं दूरस्थानां सदैव हि ।

तेनैकेनैव पवित्रेण बहूनां बान्धवादीनां यद्वा पृथक् पवित्रैः स्नानं कारयेदित्याह—एवमिति । दूरस्थानां ग्रामान्तरगतानां लोकान्तरगतानां वेत्यर्थः ॥ ३० - ३१ ॥

इसी प्रकार उस पवित्रक के साथ अन्यों को अनेक लोगों के साथ स्नान करावे । फिर दूर के लोगों को भी स्नान करा कर भगवान् के स्नानान्तर के पश्चात् उन्हें विष्टर सम्पादन करे ॥ ३०-३१ ॥

सम्पन्ने स्नपने त्वेवं द्वितीयेऽह्नि महामते ॥ ३१ ॥
रथे कृत्वार्च्चिते तं वै प्रपूज्य च यथाविधि ।
यात्राख्यमुत्सवं कुर्यादन्नदानपुरस्सरम् ॥ ३२ ॥
सनृत्तगेयवादित्रं जागरेण समन्वितम् ।
एकरात्रं द्विरात्रं वा त्रिरात्रं भक्तिपूर्वकम् ॥ ३३ ॥

एवमवभृथानन्तरं ब्रह्मरथे पवित्रस्थं देवमारोप्याभ्यर्च्य तदीयाराधनपूर्वकं ग्रामप्रादक्षिण्येन यात्रोत्सवं कुर्यादित्याह—सम्पन्न इति सार्धद्वाभ्याम् । उत्सवानन्तरं तद्रात्रौ जागरणं च कार्यमिति भावः । द्विरात्रं त्रिरात्रमावृत्तिरुत्सवस्यैव न तु स्नानस्य ॥ ३१-३३ ॥

हे महामते ! इस प्रकार स्नान सम्पन्न हो जाने पर दूसरे दिन रथ निर्माण कर, यथाविधि अर्चन पूजन कर, अन्नदान पुरः सर यात्रोत्सव करे । यह यात्रोत्सव वृत्त गेय वादित्र और जागरण पुरस्सर भक्तिपूर्वक एक रात, दो रात अथवा तीन रात तक निरन्तर होना चाहिये ॥ ३१-३३ ॥

सकृत् संवत्सरस्यान्ते उत्सवं स्नपनादिकम् ।
कुर्याद् यो मन्त्रनाथस्य स सिद्धिं लभते पराम् ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां पवित्रस्नानविधिर्नाम पञ्चदशः परिच्छेदः ॥ १५ ॥

— ❦ —

पवित्रोत्सवप्रकरणे फलमाह—सकृदिति ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चदशः परिच्छेदः ॥ १५ ॥

— ❦ —

जो संवत्सर के अन्त में एक बार भी इस प्रकार मन्त्रनाथ का स्नपनोत्सव करता है, वह शीघ्र ही परा (=श्रेष्ठ) सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के पवित्रस्नानविधि नामक पञ्चदश परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १५ ॥

— ❦ —

षोडशः परिच्छेदः

अघशान्तिकल्पः

नारद उवाच

प्रभुर्मुनीश्वरा भूयश्चादितो वनमालिना ।
सर्वलोकहितार्थं तु यत् तद्वक्ष्याम्यतः परम् ॥ १ ॥

अथ षोडशःपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र सङ्कर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्टस्तद्वक्ष्यामीत्याह—प्रभुरिति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे मुनीश्वर ! सङ्कर्षण के द्वारा पुनः पूछे जाने पर भगवान् वासुदेव ने लोकहित के लिये जो कहा उसे अब कहता हूँ ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

देव सम्प्रतिपन्ना ये क्रमेऽस्मिन् ब्राह्मणादयः ।
दीक्षणीयाः कथं ते वा एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—देवेति ॥ २ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे देव ! इस क्रम में जो ब्राह्मणादिक सम्बद्ध हैं उनको किस प्रकार दीक्षित करना चाहिये अब मैं यह सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

भगवानुवाच

यथाक्रमेणोदितानां वर्णानां शृणु लाङ्गलिन् ।
त्रिविधं दीक्षणोपायं संक्षेपात् सर्वसिद्धिदम् ॥ ३ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवस्त्रिविधदीक्षोपायं शृण्वित्याह—यथाक्रमेणेति ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—हे लाङ्गलिन् यथाक्रम कहे गये इन ब्राह्मणादि वर्णों के सर्वसिद्धिप्रद तीन प्रकार के दीक्षा के उपायों को सुनिए ॥ ३ ॥

त्रिविधदीक्षोपायनिरूपणम्

पूर्वोक्तलक्षणो ज्ञात्वा कश्चिद् दृढतरः पुमान् ।

संसारभयभीतस्तु निर्वाणमभिवाञ्छति ॥ ४ ॥
वैराग्यधीरचपलश्चिरकालं गुरोर्गृहे ।
संस्थितो दासभावेन खेदोद्वेगविवर्जितः ॥ ५ ॥

दीक्षार्थं प्रथमं गुरुकुलवासः कार्य इत्याह—पूर्वोक्तेति द्वाभ्याम् ॥ ४-५ ॥

दीक्षा के लिये सर्वप्रथम गुरुकुल में वास करे, इस सम्बन्ध में कहते हैं— आचार्य सर्वप्रथम गुरुगृह में संसार के भय से मुक्ति की इच्छा रखने वाले, वैराग्यबुद्धि सम्पन्न, चाञ्चल्य रहित (स्थिर बुद्धि वाले), दासभाव से संस्थित, खेद एवं उद्वेग से रहित शिष्य को निवास कराए ॥ ४-५ ॥

प्रायश्चित्तशान्त्यादिनिर्देशः

ज्ञात्वा तस्यार्थितां नूनमाहूयाग्रे निवेश्य च ।
कृताकृतं च प्रष्टव्य आ स्मृतेस्तत्क्षणावधि ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा दोषबलं सम्यक् प्रायश्चित्तैर्यथोदितैः ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रपूर्वैस्तु शोधनीयं प्रयत्नतः ॥ ७ ॥

आचार्यस्तद्दोषबलाबले ज्ञात्वा यथोदितैः प्रायश्चित्तैस्तच्छान्तिं कुर्यादित्याह— ज्ञात्वेति द्वाभ्याम् ॥ ६-७ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण सम्पन्न ऐसे दृढ़तर शिष्य के दोषादोष की जब परीक्षा कर लेवे तब शास्त्रीय रीति से उसके दोषों का प्रायश्चित्त करे । सर्वप्रथम उसकी दीक्षा विषयक प्रार्थना सुने । फिर निश्चयपूर्वक उसे अपने सामने बुला कर बैठावे । फिर तत्क्षण पर्यन्त उसके किये गये समस्त स्मृत कृत्याकृत्य के विषय में प्रश्न करे । इस प्रकार उसके दोष-बल का ज्ञान कर शास्त्र में यथोदित कृच्छ्रातिकृच्छ्र प्रायश्चित्त करा कर प्रयत्नपूर्वक उसके पाप का शोधन कर उसे शुद्ध करे ॥ ६-७ ॥

बहूनां परिपीडानामसामर्थ्यात् तु लाङ्गलिन् ।
मनःप्रसादपर्यन्तं कालं वा द्वादशाह्निकम् ॥ ८ ॥
नियोक्तव्यो मिते पूतेऽयाचिते नक्तभोजने ।
स्तुतिसम्मार्जनस्नानपुष्पाद्याहरणोद्यमे ॥ ९ ॥
आश्रमे वैष्णवानां तु दिव्याद्यायतने विभोः ।
अनिशं भगवद्बिम्बमा पीठादवलोकने ॥ १० ॥

बहुदिनमुपोषणाशक्तौ मनःप्रसादपर्यन्तं द्वादशदिनं वा मिते नक्तभोजने भगवत्स्तोत्रादिसत्कार्येषु च नियोजयेदित्याह—बहूनामिति त्रिभिः । भगवद्बिम्बमापीठादवलोकने आपीठान्मौलिपर्यन्तं भगवद्बिम्बदर्शन इत्यर्थः,

आपीठान्मौलिपर्यन्तं पश्यतः पुरुषोत्तमम् ।
पातकान्याशु नश्यन्ति किं पुनस्तूपपातकम् ॥

(शाण्डिल्य स्मृ० २।८८) इति प्रसिद्धेः ॥ ८-१० ॥

हे लाङ्गलिन् ! यदि शिष्य बहुत दिन तक उपोषण में अशक्त हो तो उसके मन को शुद्ध होने तक, अथवा द्वादश दिन पर्यन्त, अथवा अयाचित नक्त काल में भोजन की आज्ञा देकर, अथवा भगवत्स्तोत्रादि सत्कार्य में उसे लगा कर उस शिष्य को शुद्ध करे ॥ ८ ॥

अथवा उसके दोष की शान्ति के लिये वैष्णवों के आश्रम में, अथवा भगवान् विभु के दिव्य आयतन में, स्तुति, सम्मार्जन, स्नान, पुष्पाद्याहरण कार्य में नियुक्त करे, अथवा भगवान् के पीठ से लेकर बिम्बपर्यन्त निरन्तर दिन रात दर्शन कार्य में लगाकर उसे शुद्ध करे ॥ ९-१० ॥

ब्रह्मकूर्चसहितं प्रायश्चित्तकथनम्

अभिजाततनुर्यः प्राग् दुष्कृतैर्मलिनीकृतः ।
साम्प्रतं भगवद्भक्त्या पवित्रीकृतमानसः ॥ ११ ॥
अहोरात्रोषितो भूत्वा नखकेशादिलुण्ठितः ।
पञ्चगव्यमथापाद्यं हृदाद्यैः सकुशोदकम् ॥ १२ ॥
मन्त्रैस्तद् वासुदेवाद्यैः समावर्त्य चतुःशतम् ।
एवं दिनचतुष्कं तु स्नापयेत् तेन तं सुधीः ॥ १३ ॥
प्रत्यहं चतुरो वाराना प्रभातनिशागमम् ।
ब्रह्मतीर्थं चतुष्कं स त्वापूर्यापूर्य संपिबेत् ॥ १४ ॥
क्रमात् सञ्चोदितैर्मन्त्रैः समाचम्यान्तराऽन्तरा ।
अतृप्तमशनं कुर्यादन्ते क्षीराज्यभावितम् ॥ १५ ॥
क्षपयेत् फलमूलैर्वा अहोरात्रचतुष्टयम् ।
इति भक्त्या प्रपन्नानामा जीवमपि दुष्कृतात् ॥ १६ ॥
कथितं विरतानां च देहशुद्धिकरं परम् ।
ब्रह्मकूर्चसमेतं तु प्रायश्चित्तं मयाऽद्य ते ॥ १७ ॥

ब्रह्मकूर्चसहितं प्रायश्चित्तमाह—अभिजाततनुरित्यादिभिः ॥ ११-१७ ॥

अब **ब्रह्मकूर्च सहित प्रायश्चित्त** कहते हैं—पापी शिष्य का जो शरीर पापों के कारण अत्यन्त मलिन हो गया था । अब वह दोषों के प्रायश्चित्त करने से सर्वथा नवीन और निर्मल हो गया और भगवद् भक्ति से सर्वथा कार्य, वाणी तथा मन तक पवित्र हो गया ॥ ११ ॥

प्रायश्चित्त करने के बाद शिष्य का नख केशादि समस्त कर्त्तन करावे । पञ्च-गव्य पिलावे और कुश जल से प्रोक्षण करे ॥ १२ ॥

वासुदेवादि के मन्त्रों का चार सौ जप करावे तथा चार दिन तक निरन्तर चार सौ की संख्या में स्नान करावे । इस प्रकार सुधी आचार्य चार दिन तक मन्त्र से शिष्य को स्नान करावे ॥ १३ ॥

अथवा प्रभातकाल से लेकर सायंकाल तक चार बार जल भर-भर कर चार बार ब्रह्मतीर्थ का जल पिलावे ॥ १४ ॥

प्रायश्चित्त के अन्त में आचमन कर बीच-बीच में मन्त्राभिषिक्त जल पीते हुए क्षीराज्यभावित भोजन उतना ही करे, जो न अधिक हो न कम हो । (भोजन की विधि यह है कि आधा पेट अन्न से भरे, शेष एक भाग जल से तथा एक भाग वायु सञ्चरण के लिये खाली रखे इसको अतृप्त अशन कहा जाता है) ॥ १५ ॥

अथवा चार रात एवं चार दिन केवल फल, मूल भोजन कर व्यतीत करे । यहाँ तक भक्तिपूर्वक भगवत् शरणागतों के जीवन पर्यन्त दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त कहा गया है । ब्रह्मकूर्च समेत यह सारा प्रायश्चित्त कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकारों के दोषों का महत्त्व समझा कर पाप से विरत के लिए कहा गया है ॥ १६-१७ ॥

ज्ञात्वा महत्त्वं दोषाणां त्रिविधानां तु वै पुरा ।
सम्भवे सति हेमादिदानं सततमाचरेत् ॥ १८ ॥

दोषाधिक्ये हेमदानादिकमपि कार्यमित्याह—ज्ञात्वेति । त्रिविधानां कायिक-वाचिकमानसिकानामित्यर्थः ॥ १८ ॥

यदि कायिक, वाचिक और मानसिक पाप अधिक हो, तब सुवर्णादि का सतत् दान भी करे ॥ १८ ॥

पूर्वोक्ताद् विहितात् कालाल्लघुदुष्कृतिना क्रमात् ।
चतुर्थांशेन ह्रासस्तु ब्रह्मकूर्चं पिबेत् ततः ॥ १९ ॥

दोषकाले पूर्वोक्तब्रह्मकूर्चप्रायश्चित्तकालस्य चतुर्थांशेन ह्रासं कुर्यादित्याह—पूर्वोक्तादिति । एवं ब्रह्मवर्णस्य सामान्यतः प्रायश्चित्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

पूर्वोक्त काल में ब्रह्मकूर्च प्रायश्चित्त काल का चतुर्थांश कम कर देवे । इस प्रकार केवल ब्राह्मण वर्ण के लिये सामान्य प्रायश्चित्त कहा गया ॥ १९ ॥

कालेन वर्णोत्कर्षेण सह सामान्यमुच्यते ।
प्रायश्चित्तं हि सर्वेषां सर्वकल्मषनाशनम् ॥ २० ॥
उत्तरोत्तरतां बुद्ध्वा प्रथमं दुष्कृतस्य च ।
क्षपयेत् तद् द्विजेन्द्रस्तु मासैर्द्वित्रिचतुर्गुणैः ॥ २१ ॥

दोषाधिक्ये तत्रापि द्वित्रिचतुर्गुणमासाभिवृद्धिः कार्येत्याह—कालेनेति द्वाभ्याम् । तद्दुष्कृतं क्षपयेद् नाशयेदित्यर्थः ॥ २०-२१ ॥

जब पाप का दिन अधिक बढ़ता जाय तब काल के अनुसार उत्तरोत्तर एक गुना द्विगुणित, त्रिगुणित मास के क्रम से प्रायश्चित्त में भी वृद्धि करे ॥ २०-२१ ॥

नृपविट्छूद्रजातीय एकैकं वर्धयेत् क्रमात् ।
मासमेकादिकात् कालात् समारभ्य यथाक्रमम् ॥ २२ ॥

नृपादीनां द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणक्रमेण प्रायश्चित्ताभिवृद्धिमाह—नृपेति ॥ २२ ॥

नृपादि के लिये क्रमश द्विगुणित, त्रिगुणित, चतुर्गुणित प्रायश्चित्त कहते हैं—राजा ब्राह्मण की अपेक्षा उतने ही पाप का द्विगुणित, वैश्य त्रिगुणित और शूद्र चतुर्गुणित प्रायश्चित्त करे । इस प्रकार एक मास से आरम्भ कर यथाक्रम प्रायश्चित्त काल भी वर्णानुसार बढ़ाते रहना चाहिये ॥ २२ ॥

दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा ।
समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं यदि ॥ २३ ॥
निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात् परमात्मनः ।
किं पुनर्योऽनुतापार्तः शासनेऽस्मिन् हि संस्थितः ॥ २४ ॥
विरतो दुष्कृताच्चैव भक्तिच्छायां समाश्रितः ।

भगवच्छासनोल्लङ्घनपरोऽपि तच्छरणागत्या निर्दोषो भवति । एतच्छासननिष्ठस्य शरणागतस्य निर्दोषत्वं किंपुनर्न्यायसिद्धमित्याह—दुराचार इति सार्धद्वाभ्याम् । कृताकृताद्विरत इत्यनेन सर्वधर्मपरित्यागः सूचितो भवति । भक्तिच्छायां भक्तेश्छायेव छाया यस्यास्तां शरणागतिमित्यर्थः ॥ २३-२५ ॥

दुराचारी, कुत्ते, चाण्डाल के समान सब का सब कुछ खाने वाला, सर्वाशी, कृतघ्न, नास्तिक भी यदि श्रद्धापूर्वक आदिदेव की शरण ग्रहण करे, तो उसे परमात्मा के प्रभाव से सर्वथा दोषमुक्त समझना चाहिये । फिर जो पाप कर के भी उसके अनुताप से आर्त होकर भगवत् शरणागत हो जाता है अथवा जो भक्ति के शरणागत होकर पापों से विरत हो गया है उसके विषय में क्या कहा जा सकता है ॥ २३-२५ ॥

एवं संशुद्धदोषाणां बहुजन्मार्जितस्य च ॥ २५ ॥
कल्मषस्य विघातार्थं नारसिंही महामते ।
कृत्वा वै साम्प्रतं दीक्षां दद्याद् वै मन्त्रपूर्वकम् ॥ २६ ॥
आराधनं हि तस्यैव वैभवीयस्य वै विभोः ।
सबाह्याभ्यन्तरं चैव सम्यङ्मासचतुष्टयम् ॥ २७ ॥
मासाष्टकं वत्सरं वा बुद्ध्वा भावबलं पुरा ।

ज्ञात्वा भव्याशयानां च प्रसादं पारमेश्वरम् ॥ २८ ॥
विभवव्यूहसूक्ष्माख्यां दीक्षां कुर्यादनन्तरम् ।

पूर्वोक्तब्रह्मकूर्चादिप्रायश्चित्तानामिह जन्मनि सम्पादितदोषमात्रशामकत्वात् प्राग् बहुजन्मार्जितदोषशामनार्थं नृसिंहमन्त्रदीक्षामपि दत्त्वा तेन नृसिंहाराधनं च कारयेत् । तन्मनःपरिशुद्ध्यादिकं तस्मिन् भगवदनुग्रहं च ज्ञात्वा परव्यूहविभवमन्त्रदीक्षां दद्यादित्याह—एवमिति चतुर्भिः ॥ २५-२९ ॥

इस प्रकार, हे महामते ! इस जन्म के समस्त दोषों के शुद्ध हो जाने पर बहुजन्मार्जित पापों के विनाश के लिये मन्त्रपूर्वक दीक्षा देकर नारसिंही मन्त्र की दीक्षा प्रदान करे ॥ २५-२६ ॥

फिर उससे चार मास या आठ मास अथवा एक वर्ष तक बाह्य एवं आभ्यन्तर नृसिंहाराधन करावे, जब उसका मन शुद्ध हो जाय तब उसके ऊपर भगवदनुग्रह जानकर परव्यूह विभव मन्त्र की दीक्षा देवे ॥ २७-२९ ॥

सङ्कर्षण उवाच

परिज्ञेयो हि कैर्लिङ्गैः साधकानामघक्षयात् ॥ २९ ॥
सम्यगाराधनान्मन्त्रप्रसादः कमलापते ।

तस्मिन् भगवदनुग्रहो जात इति कथं ज्ञेय इति पृच्छति सङ्कर्षणः—परिज्ञेय इति ॥ २९-३० ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे भगवन् ! किन-किन चिह्नों से यह ज्ञात होता है कि अब इस उपासक का पाप विनष्ट हो गया है? हे कमलापते ! किन-किन चिह्नों से जाना जाय कि आराधक के ऊपर आराधन-मन्त्र का प्रसाद हो चुका है? ॥ २९-३० ॥

श्रीभगवानुवाच

चित्तप्रसादस्त्वतुलस्तेजोवृद्धिरतीव हि ॥ ३० ॥
धैर्यमुत्साहसन्तोषावकार्पण्यादयो गुणाः ।
येषां तेषां हि बोद्धव्यं मन्त्रात्माऽभिमुखः स्थितः ॥ ३१ ॥
प्रयुक्तिः शान्तिकादीनां कर्मणामचिरादपि ।
प्रयाति यदि साफल्यं विज्ञेयं तेन हेतुना ॥ ३२ ॥
सम्पन्नः पापदाहश्च प्रसन्नश्चापि मन्त्रराट् ।
ददाति धर्मकामार्थानचिराद् यदि योजितः ॥ ३३ ॥
अणिमाद्यष्टकं चापि विविधा योगसिद्धयः ।
आत्मसिद्धिसमेताश्च परितुष्टास्तदा स्मृताः ॥ ३४ ॥

एवं पृष्टस्तज्ज्ञाने हेतूनाह—चित्तप्रसाद इत्यादिभिः ॥ ३०-३४ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—जब चित्त अभूतपूर्व प्रसन्न हो जावे, तेज की वृद्धि अत्यन्त हो जावे, धैर्य, उत्साह, सन्तोष तथा अदैन्य एवं अकार्पण्य आदि गुण उत्पन्न हो जावे। जिनमें इतने गुण आ जावे, तब समझ लेना चाहिये कि मन्त्रात्मा इसके अनुकूल है ॥ ३०-३१ ॥

यदि शान्ति के कार्यों में प्रवृत्ति हो, अल्पकाल में कार्य का साफल्य हो, तब समझे कि मन्त्र साधक पर सफल हो गया है ॥ ३२ ॥

मन्त्रराट् के प्रसन्न हो जाने पर पाप का दाह सम्पन्न हो जाता है और वह धर्म अर्थ और काम प्रदत्त करता है ॥ ३३ ॥

मन्त्रराट् प्रसन्न होने पर अणिमादि आठों सिद्धियाँ तथा विविध योग सिद्धियाँ प्रदान करता है। सभी मन्त्र आत्मसिद्धि समेत उस पर परितुष्ट हो जाते हैं ॥३४॥

यस्मिन् वै वैभवे रूपे यस्याभिरमते मनः ।
तस्य कल्मषशान्त्यर्थं दीक्षां कुर्याच्च तेन वै ॥ ३५ ॥
तमाराध्य हि पूर्वोक्तं कालं तमनुयोज्य च ।

एवं नारसिंहमन्त्रेणैव दुरितक्षयार्थं दीक्षाराधनादिकं कार्यमिति नियमो नास्ति । वैभवमन्त्रेषु यस्य यस्मिन्नभिरुचिस्तेनैव तत्कार्यमित्याह—यस्मिन्निति सार्धेन । पूर्वोक्तं कालं मासचतुष्टयं मासाष्टकं संवत्सरं वेत्यर्थः ॥ ३५-३६ ॥

वैभव मन्त्रों में जिसकी जिस मन्त्र में अभिरुचि हो कल्मष नाश के लिये उसको उसी मन्त्र की दीक्षा देवे ॥ ३५ ॥

गुरु शिष्य को पूर्वोक्त (चार मास, आठ मास अथवा संवत्सर मास पर्यन्त) काल तक आराधना में अनुयोजन करे ॥ ३५-३६ ॥

योग्यतायाः परीक्षार्थमा शान्तेः सर्ववस्तुषु ॥ ३६ ॥
नारसिंहेन वान्येन मन्त्रेणाभिमतेन च ।
दीक्षयाऽऽराधनेनैव होमजापव्रतादिना ॥ ३७ ॥
कर्मणा केवलेनैव शान्तिकात्युच्छ्रितेन च ।
विनाऽणिमादिसिद्धिभ्यो बुद्ध्वा पापं क्षयं गतम् ॥ ३८ ॥
भावयेत् तेन कालेन ततः पद्मदलेक्षण ।

दीक्षितस्य मुमुक्षुत्वेन सर्वविषयेष्वप्याशाविरहे सति शान्तिकादिकर्मणामपि विरहात् तत्तत्सिद्धिलिङ्गानि विना चित्तप्रसादादिलिङ्गैरेव पापक्षयो ज्ञातव्य इत्याह—योग्यताया इति त्रिभिः ॥ ३६-३९ ॥

इसके बाद उसकी योग्यता की परीक्षा सभी वस्तुओं की शान्ति के लिये भी करे। नारसिंह मन्त्र से, अभिमतमन्त्र के जप से, दीक्षा से, आराधना से, होम,

जपादि कार्यों से भले ही उसे अणिमादि की सिद्धि न हुई हो किन्तु उन सिद्धि के लिङ्गों (=चिन्हों) के बिना यदि उसके चित्त के प्रसादादि लिङ्ग तथा शान्ति आदि चिह्न प्रगट हो गये हों तब उसके पाप का क्षय हो गया ऐसा समझ ले । हे पद्मदलेक्षण सङ्कर्षण ! शिष्य परीक्षित हो जाने पर गुरु से पर व्यूह एवं विभवादि (षाड्गुण्य) तीनों दीक्षा के प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करे ॥ ३६-३९ ॥

सिद्धीनां वैभवीयानां षाड्गुण्यमहिमाप्तये॥ ३९ ॥
निःश्रेयसविभूत्यर्थं ग्राह्यं दीक्षात्रयं वरम्।
अभ्यर्थितात् सुप्रसन्नात् प्रतिपन्नाच्च देशिकात्॥ ४० ॥

तदनन्तरं गुरुं प्राथ्र्य तत्सकाशात् परव्यूहविभवदीक्षात्रयं ग्राह्यमित्याह—सिद्धीनामिति सार्धेन ॥ ३९-४० ॥

सानुकम्पेन वा तेन स्वयमप्रार्थितेन च।
कार्यं संशुद्धपापानां भीतानां शरणैषिणाम्।
संस्कृतानां हि युक्तानामघक्षालनकर्मणि॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामघशान्तिकल्पो नाम षोडशः परिच्छेदः ॥ १६ ॥

— ❀ —

अप्रार्थितोऽपि गुरुः स्वयमेव कृपया योग्यानां शिष्याणां दीक्षां कुर्यादित्याह—सानुकम्पेनेति सार्धेन ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये षोडशः परिच्छेदः ॥ १६ ॥

— ❀ —

इस प्रकार अपने निःश्रेयस प्राप्ति के लिये उक्त तीनों दीक्षा प्राप्त करे । अभ्यर्थना से, सुप्रसन्नता से, सेवा से, अनुग्रह से प्रसन्न हो कर बिना प्रार्थना के भी गुरु शिष्य को दीक्षा देवे । इस प्रकार गुरु परीक्षा द्वारा भी शरणागत शिष्य को पाप से विशुद्ध कर दीक्षा प्रदान करे ॥ ४०-४१ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के अघशान्तिकल्प नामक षोडश परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १६ ॥

— ❀ —

सप्तदशः परिच्छेदः

वैभवीयनृसिंहकल्पः

नारद उवाच

अथ सञ्चोदितो भूयः श्रीपतिर्मुनिसत्तमाः ।
हितार्थं भवभीतानां विभुना सीरपाणिना ॥ १ ॥

अथ श्रीनृसिंहकल्पपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह सङ्कर्षणेन वासुदेवः परिपृष्ट इत्याह—अथेति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे मुनिसत्तम ! सङ्कर्षण द्वारा पुनः इस प्रकार पूछे जाने पर संसार के भय से समस्त जीवों के कल्याण के लिये वासुदेव ने इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

भगवन् विधिना केन प्रसादमधिगच्छति ।
नृणामाराधकानां तु विश्वत्राता नृकेसरी ॥ २ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—भगवन्निति ॥ २ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे भगवन् ! आराधना करने वाले अपने भक्त जनों पर विश्व की रक्षा करने वाले भगवान् नृसिंह किस प्रकार प्रसन्न होते हैं? ॥ २ ॥

श्रुत्वैवमाह भगवान् शृणुष्व गदतो मम ।
सिद्धिमोक्षप्रदं मन्त्रं वैभवं मूर्तिमोहजित् ॥ ३ ॥
कामरूपधरं नित्यं नृसिंहस्य महात्मनः ।

एवं पृष्टो वासुदेवः प्रथमं नारसिंहमन्त्रं शृणुष्वेत्याह—श्रुत्वेति सार्धेन ॥ ३-४ ॥

सङ्कर्षण की बात सुन कर भगवान् वासुदेव ने कहा—हे सङ्कर्षण! मै इस नृसिंह मन्त्र को कह रहा हूँ, आप सुनिये । आप मोह को जीतने वाले मूर्तिमान स्वरूप हैं, यह वैभव मन्त्र साक्षात् सिद्धि तथा मोक्ष का दाता है । इतना ही नहीं यह नृसिंह का महामन्त्र अपनी इच्छानुसार स्वरूप धारण करने वाला है ॥ ३ ॥

नृसिंहबीजोद्धारकथनम्

वर्णचक्रं तु पूर्वोक्तं सुगुप्ते वसुधातले ॥ ४ ॥
उपलिप्ते तु संलिख्य पूजयित्वा यथाविधि ।
समुद्धरेत् ततो मन्त्रमनेकाद्भुतविक्रमम् ॥ ५ ॥
प्रणवं पूर्वमादाय तदन्ते विनियोज्य च ।
नवमं नाभिवर्णेभ्यस्तदूर्ध्वेऽराच्चतुर्दशम् ॥ ६ ॥
तस्योपरि तदन्तःस्थं वर्णं गोलकवन्न्यसेत् ।
नमोऽन्तं वर्णमेतद् वै वाचकं परमात्मनः ॥ ७ ॥
ज्ञानादयो गुणाः षड् वै प्रागुक्ता हृदयादयः ।
तदर्थमेव वर्णं तं षोढा संलिख्य केवलम् ॥ ८ ॥
द्वितीयतुर्यषष्ठैश्च द्वादशेनान्तिमेन च ।
चतुर्दशेनारात् वर्गात् क्रमाद् वै विनियोजयेत् ॥ ९ ॥
बीजवच्छिरसा सर्वान् लाञ्छयेत् पञ्चमं विना ।
सर्वेषां प्रणवः पूर्वः स्वसंज्ञान्ते नियोज्य च ॥ १० ॥
स्वकीया जातयश्चान्ते वौषडन्ताः क्रमेण तु ।
ॐ नमो भगवते नारसिंहायेत्यनेन तु ॥ ११ ॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण स्मृत्वा विग्रहवत् पुरा ।
सबाह्याभ्यन्तरस्थेन साङ्गेनाद्येन पूजयेत् ॥ १२ ॥

वर्णचक्ररचनापूर्वकं नृसिंहबीजोद्धारं तदङ्गमन्त्रप्रकारान् द्वादशाक्षरमन्त्रं चाह— वर्णचक्रमित्यादिभिः । पूर्वोक्तं नवमपरिच्छेदोक्तमित्यर्थः । तदूर्ध्वे क्षकारोर्ध्वे अराच्चतुर्दशम् औकारम्, तस्योपरि तदन्तःस्थमनुस्वारमित्यर्थः । तथा च–ॐ क्षौं नम इति भवति । तं केवलं क्षकारमात्रमित्यर्थः । द्वितीयतुर्यषष्ठैः आकार-ईकार-ऊकारैः । द्वादशेन ऐकारेण । अन्तिमेन विसर्गेण । चतुर्दशेन (ओ? औ)कारेणेत्यर्थः । अराद्वर्गादित्यस्य सर्वत्रान्वयः । शिरसा अनुस्वारेणेत्यर्थः । पञ्चमं विना विसर्गसहितं बीजं विनेत्यर्थः । स्वकीया जातयो नमःस्वाहादिषड्जातयः । तथा च—ॐ क्षां ज्ञानाय हृदयाय नमः । ॐ क्षीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । ॐ क्षूं शक्त्यै शिखायै वौषट् । ॐ क्षैं बलाय कवचाय हुं । ॐ क्षः वीर्याय अस्त्राय फट् । ॐ क्षौं तेजसे नेत्रत्रयाय वौषट् इत्यङ्गमन्त्रा भवन्ति ॥ ४-१२ ॥

किसी विशुद्ध उपलिप्त एवं गुप्त वसुधातल में पूर्वोक्त वर्णचक्र की रचना करे । यथाविधि उस स्थान की पूजा करे । तदनन्तर अनेक अद्भुत विक्रम वाले इस नृसिंह मन्त्र का उद्धार लिखे ॥ ४-५ ॥

पहले प्रणव (ॐ) लिखे । उसके अन्त में क्षकार लिखे । उसके बाद अरा

से चतुर्दश औकार लिखे । फिर उस पर अनुस्वार लगावे । इस प्रकार 'ॐ क्षौं नम:' यह मन्त्र निष्पन्न होता है जो परमात्मा का वाचक है ॥ ६-७ ॥

पहले कहा गया है कि ज्ञानादि छ: गुण ही हृदयादि कहे जाते हैं । अत: उन्हीं पर (न्यास के लिये) इस वर्ण (क्षं) को भी ६ प्रकार से लिखे । पहले पर द्वितीय मात्रा (आ), दूसरे पर चतुर्थ मात्रा (ई), तीसरे पर षष्ठ मात्रा (ऊ), चतुर्थ पर द्वादश (ऐकार), पञ्चम पर चतुर्दश (औ), फिर सभी छ: वर्णों पर अनुस्वार लगावे । किन्तु पञ्चम पर अनुस्वार न लगाकर विसर्ग लगाये । फिर सबके अन्त में अपनी-अपनी जाति 'नम: स्वाहा' आदि लगाकर अङ्गमन्त्र निष्पन्न करे । (ॐ क्षां ज्ञानाय हृदयाय नम:, ॐ क्षीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा, ॐ क्षूं शक्त्यै शिखायै वषट्, ॐ क्षैं बलाय कवचाय हुं, ॐ क्ष: वीर्याय अस्त्राय फट्, ॐ क्षौं तेजसे नेत्रत्रयाय वौषट्) इस प्रकार अङ्गमन्त्र निष्पन्न होते हैं ॥ ८-१० ॥

फिर 'ॐ नमो भगवते नारसिंहाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्र से विग्रहवत् उनकी पूजा करे । यह पूजा अङ्ग के सहित भीतर और बाहर सर्वत्र करे ॥ ११-१२ ॥

भगवदर्चाविधानम्

अथ लब्धाधिकारस्तु मन्त्रेणानेन दीक्षित: ।
भक्तिश्रद्धापरो नित्यं मतिमांश्छिन्नसंशय: ॥ १३ ॥
गुर्वाज्ञाभिरतो नित्यं तर्कवाग्जालवर्जित: ।
स्वकर्मनिरतो नित्यं वानप्रस्थोऽथवा गृही ॥ १४ ॥

पूर्वमनेन मन्त्रेण दीक्षितो भगवदाराधनं कुर्यादित्याह—अथेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १३-१५ ॥

इस प्रकार अधिकार प्राप्त हो जाने पर इस मन्त्र की दीक्षा ग्रहण करे । दीक्षा लेने पर आराधन विधि के लिये सर्वप्रथम स्नानादि नियम ग्रहण करे । साधक शिष्य भक्ति एवं श्रद्धा में तत्पर रहे, बुद्धिमान बने, संशयालु न रहे, गुरु की आज्ञा का पालन करे, तर्क रूप वाग्जाल से सर्वथा वर्जित रहे और अपने कर्म का पालन करे ॥ १३-१४ ॥

मन्त्रमारधयेद् येन विधिना तं निशामय ।
उपार्ज्य भोगानखिलान् न्याय्योपायेन वै पुरा ॥ १५ ॥
स्नातो बद्धकचो मौनी शुद्धवासोऽर्घ्यपुष्पधृक् ।
कृत्वा द्वार्स्थार्चनाद्यं तु उपविश्यासने तत: ॥ १६ ॥

तदाराधनविधि दर्शयन् प्रथममाराधनसामग्रीसम्पादनम्, आराधकस्य स्नानादिनियमम्, द्वारदेवार्चनपूर्वकमासनोपवेशनं चाह—उपार्ज्येति सार्धेन । पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन स्नानाद्यनन्तरमेव भोगोपार्जनमिति बोध्यम् । यद्वा, पुरा पूर्व-

दिनेष्वित्यर्थो वर्णनीयः, पुष्पादीनि विना तण्डुलादीनां भोगानां पूर्वदिनेष्वपि संग्राह्यत्वात् ॥ १५-१६ ॥

अब हे सङ्कर्षण! जिस विधि से मन्त्राराधन करना चाहिये उस विधि को सुनिये । न्यायोचित उपायों से समस्त भोगों का उपार्जन करे ॥ १५ ॥

यहाँ तक दीक्षा के नियमों को कहा, फिर भगवदाराधन कहा, फिर आराधन विधि कह कर आराधन सामग्री का निरूपण करते हैं—आराधन के लिये साधक शिष्य स्नान करे, शिखाबन्धन करे, मौन धारण करे, शुद्ध वस्त्र धारण करे और शिर पर पूजा की माला धारण करे, सर्वप्रथम द्वारस्थ देवता की अर्चना करे, तदनन्तर शुद्ध आसन पर बैठे ॥ १६ ॥

सायामां भूतसंशुद्धिं धारणाभ्यां समाचरेत् ।
केवलेन तु मन्त्रेण भावनासहितेन तु ॥ १७ ॥

अथ प्राणायामपूर्विकां भूतशुद्धिं कुर्यादित्याह—सायामामिति । धारणाभ्यां दहनाप्यायनात्मिकाभ्यामित्यर्थः । तथा चोक्तं पारमेश्वरे—

धारणापञ्चकं चैव संक्षिप्तं विहितं द्वयम् ॥
दहनाप्यायनाच्चैव यदा देहात् स्वशुद्धये । —(३।२२३-२२४)

इति ॥ १७ ॥

दहन एवं आप्यायन रूप धारणाओं से प्राणायामपूर्वक भूतशुद्धि करे । यह प्राणायाम भावना सहित केवल मन्त्र से करे ॥ १७ ॥

प्राणायामप्रकारकथनम्

नाभिदेशस्थितं ध्यात्वा देवं संगृह्य कल्मषम्।
निस्सृतं वायुमार्गेण द्वादशान्तावधौ क्षिपेत् ॥ १८ ॥
निरस्तपापमाकृष्य वातचक्रसमन्वितम् ।
नासाग्रेण तु मन्त्रेशं देहसम्पूरणाय च ॥ १९ ॥
तं ध्यायेद् हृदयस्थं च गतिरुद्धेन वायुना ।
चित्तोपशमनार्थं तु नूनं वायुजयाय च ॥ २० ॥
शनैः शनैरथ बहिः केवलं मारुतं क्षिपेत् ।
विनाऽन्त्यरेचकेनैवमन्येषामुत्तरोत्तरम् ॥ २१ ॥
कालाद् ह्रासं यथाशक्ति नित्यमेव समाचरेत् ।

प्राणायामप्रकारमाह—नाभिकेशस्थि(त इ?तमि)ति सार्धैश्चतुर्भिः । वायुमार्गेण प्रथमप्राणायामान्त्यरेचकवायुमार्गेणेत्यर्थः । वातचक्रसमन्वितं द्वितीयप्राणायामपूरक-वायुसहितमित्यर्थः । गतिरुद्धेन वायुना तृतीयप्राणायामकुम्भकेनेत्यर्थः । एवमेवैत-द्व्याख्यातं नित्यव्याख्याने ॥ १८-२२ ॥

अब **प्राणायाम का प्रकार** कहते हैं—केवल भावना सहित अथवा मन्त्र सहित देव को नाभिदेश में स्थित ध्यान करे । फिर वहाँ से पाप को संग्रहीत कर वायु के द्वारा आदि प्राणायाम के साथ अन्त्यरेचक वायु द्वारा बाहर निकाल कर उसे द्वादशान्त विधि में प्रक्षिप्त कर देवे । इस प्रकार पाप के बाहर हो जाने पर वातचक्र समन्वित मन्त्र को द्वितीय पूरक प्राणायाम के द्वारा नासाग्र से भीतर ले जा कर उसी से देह को पूर्ण करे । फिर कुम्भक के द्वारा उसकी गति को हृदय में ही रोक कर मन्त्रेश का वहीं ध्यान करे । यह प्राणायाम चित्त की शान्ति के लिये तथा वायु पर विजय प्राप्त करने के लिये बारम्बार अभ्यास करते रहना चाहिये ॥ १८-२० ॥

फिर धीरे-धीरे वायु बाहर निकाले । इस प्रकार अन्त्य रेचक को छोड़कर उत्तरोत्तर यथाशक्ति काल का ह्रास करने का नित्य अभ्यास करे ॥ २१-२२ ॥

भूतशुद्धिप्रकारकथनम्

द्वादशान्तेऽथ मन्त्रेशं तप्तहाटकसन्निभम् ॥ २२ ॥
सहस्त्ररविसंकाशं वृत्तमण्डलमध्यगम् ।
स्मृत्वाथ मुक्तं तन्मात्रैर्निर्दहेद् विग्रहं स्वकम् ॥ २३ ॥
दक्षिणाङ्घ्रेरथाङ्गुष्ठप्रान्तदेशे शिखाक्षरम् ।
ध्यात्वा युगान्तहुतभुग्रूपं ज्वालासमावृतम् ॥ २४ ॥
तेन स्वविग्रहं ध्यायेत् प्रज्वलन्तं समन्ततः ।
देहजां भावयेज्ज्वालां मन्त्रनाथे लयं गताम् ॥ २५ ॥
दिव्यं प्रशान्ताकारं तु तमधिष्ठाय चेतसा ।
स्वमन्त्रादमृतौघेनासेचयेद् विग्रहं स्वकम् ॥ २६ ॥
ततः समन्त्रं तद्बिम्बमाकृष्य हृदि विन्यसेत् ।

भूतशुद्धिप्रकारमाह—द्वादशान्त इति पञ्चभिः । द्वादशान्ते स्वमूर्ध्नो द्वादशाङ्गुलोपरीत्यर्थः । तथा च पारमेश्वरे—

सौषुम्नाद् दक्षिणद्वारान्निर्गमय्य हरिं बहिः ॥
सहस्त्ररविसंकाशं वृत्तमण्डलमध्यगम् ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभमासीनं परमे पदे ॥
मन्त्रात्मानं तु तं ध्यात्वा ह्युपरि द्वादशाङ्गुले: ॥ इति ।
—(३।१४३-१४५)

तन्मात्रैर्मुक्तं तत्त्वसंहारक्रमेण गन्धतन्मात्रादिभिर्मुक्तमित्यर्थः । स्वमन्त्रात् तन्मन्त्रप्रतिपाद्यद्वादशान्तस्थितभगवतः सकाशादित्यर्थः । तद्बिम्बं स्वमन्त्रं द्वादशाङ्गुलोपरि वृत्तमण्डलमध्यस्थं देवमित्यर्थः ॥ २२-२७ ॥

तदनन्तर तपाये हुए सोने के समान सहस्त्ररश्मि सूर्य रूप मन्त्रेश का

द्वादशान्त में, वृत्तमण्डल मध्य में ध्यान कर, पञ्चतन्मात्राओं से निर्मुक्त उसी में अपने शरीर को जला देवे। फिर दाहिने पैर के अङ्गुष्ठ प्रान्त प्रदेश में युगान्त अग्निस्वरूप ज्वाला-शत स्वरूप शिखाक्षर का ध्यान कर चारों ओर उसी में जलते हुए अपने विग्रह का ध्यान करे ॥ २२-२५ ॥

फिर अपने देह की उस ज्वाला को मन्त्रनाथ में लीन होते हुए उसी का ध्यान करे। दिव्य प्रशान्ताकार उन मन्त्रनाथ को चित्त पर स्थापित कर, अपने मन्त्र से प्रतिपाद्य द्वादशान्त स्थित भगवान् से निकले हुए अमृत समूह रूप जल से अपने विग्रह का आसिञ्चन करे। तदनन्तर मन्त्र सहित उस बिम्ब को द्वादशाङ्गुल के ऊपर स्थित वृत्तमण्डल के मध्य में रहने वाले अपने हृदय में स्थापित करे ॥ २५-२६ ॥

करन्यासविधानम्

अथ हस्तद्वये न्यसेद् दीप्तिमद् द्वादशाक्षरम् ॥ २७ ॥
मणिबन्धान्नखाग्रं तु मूलमन्त्रपुरस्सरम्।
हृदादयोऽस्त्रपर्यन्ता अङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु च ॥ २८ ॥
सर्वासु युग्मयोगेन नेत्रं नखमुखाश्रितम्।

करन्यासमाह—अथेति द्वाभ्याम्। द्वादशाक्षरं पूर्वोक्तनृसिंहद्वादशाक्षरमित्यर्थः। मूलमन्त्रपुरस्सरं पूर्वोक्तनृसिंहबीजपुरस्सरमित्यर्थः। युग्मयोगेन हस्तद्वयेऽपि युगपदित्यर्थः ॥ २७-२९ ॥

इसके बाद दीप्तिमद् द्वादशाक्षर मूल मन्त्र से दोनों हाथों के मणिबन्ध से नखाग्र तक न्यास करे। इसी प्रकार हृदय से लेकर अस्त्र पर्यन्त तथा अङ्गुष्ठादि अङ्गुलियों में भी हृदयन्यास और करन्यास करे ॥ २७-२८ ॥

इसी प्रकार दोनों हाथों को एक में मिलाकर नख, मुख तथा शिर से ले कर चरण पर्यन्त सुधी साधक द्वादशाक्षर मन्त्र का देह में न्यास करे ॥ २९ ॥

अङ्गन्यासविधानम्

आमूर्ध्नश्चरणान्तं तु द्वादशार्णं न्यसेत् तनौ ॥ २९ ॥
जीवभूतं तदन्तःस्थं मूलमन्त्रं तथा न्यसेत्।
हृदाद्यं नेत्रपर्यन्तमङ्गषट्कं स्वगोचरे ॥ ३० ॥
स्वस्वाङ्गुलियुगेनैव तेजोरूपं विनाऽऽकृतेः।
श्रीवत्सं वक्षसो वामे पूर्णेन्दुसदृशद्युतिम् ॥ ३१ ॥

अङ्गन्यासमाह—आमूर्ध्न इति द्वाभ्याम्। स्वगोचरे = हृदयादिस्थानेष्वित्यर्थः। स्वस्वाङ्गुलियुगेन = वक्ष्यमाणहृदादिमुद्रयेत्यर्थः। आकृतेर्विना = निराकारमित्यर्थः ॥ २९-३१ ॥

अपने शरीर में रहने वाले हृदयादि-स्थानों में दो-दो अङ्गुलियों से आकृति के बिना (निराकार) वक्ष्यमाण मुद्रा से न्यास करे ॥ ३०-३१ ॥

भूषणायुधशक्तिन्यासकथनम्

कौस्तुभं हृदये न्यस्य चण्डदीधितिलक्षणम् ।
नानाब्जवनपुष्पोत्थां वनमालां च कण्ठतः ॥ ३२ ॥
पद्मं दक्षिणपाणौ तु शङ्खं वामकरे न्यसेत् ।
गदां पद्मकरे भूयः शङ्खपाणौ तु चक्रराट् ॥ ३३ ॥
खड्गं दक्षिणहस्तेऽथ धनुर्वामकरे न्यसेत् ।
आचांसाद् दक्षिणे भागे न्यस्या श्रीरुत्तरे तथा ॥ ३४ ॥
पुष्टिर्गुल्फावसानं च वक्त्रमध्ये सरस्वती ।
पृष्ठतो विन्यसेन्निद्रां ततः पाणिद्वयेन तु ॥ ३५ ॥

भूषणायुधशक्तिन्यासमाह—श्रीवत्समित्यादिभिः । एवं भूषणादीनां न्यासो हस्तयोरपि कार्यः, सर्वमन्त्राणामपि करन्यासं विनाऽङ्गन्यासमात्रस्याविहितत्वात् । तथा च पारमेश्वरे—

या विभोः परमा शक्तिर्हृत्पद्मकुहरान्तगा ॥
वायव्यं रूपमास्थाय दशधा संव्यवस्थिता ।
इच्छया सप्रवाहेण पाणिमार्गेण निर्गता ॥
नाडीदशकमाश्रित्य ता एवाङ्गुलयो मताः ।
अत एव द्विजश्रेष्ठ श(क्त्या)ख्ये प्रभुविग्रहे ॥
पूर्वं मन्त्रगणं न्यस्य ततो भूतमये न्यसेत् । (४।२०-२३) इति,
व्यापारो मानसो ह्येष न्यासाख्यो यद्यपि स्मृतः ।
न बध्नाति स्थितिं सम्यक् तथापि क्रियया विना ॥
कराधिना पुनः साऽतः प्राङ्न्यासस्तु तयोः स्मृतः । (४।४-५)

इति च ।

अत ऐवेश्वरपारमेश्वरादिषु (ई०सं० २।५७, पा०सं० ४।१७) हस्तयोरपि किरीटादिन्यास उक्तः । स तु मूलकारस्याप्यभिमतः । अन्यथाऽत्र हस्तयोर्हन्मन्त्रादि-न्यासोऽपि तेन नोच्येत ॥ ३१-३५ ॥

अब **भूषणायुध शक्ति न्यास** कहते हैं—पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्रचण्ड प्रकाश करने वाले **कौस्तुभ** का हृदय में न्यास करे । अनेक प्रकार के वन में रहने वाले कमल के पुष्पों की **वनमाला** से कण्ठ पर्यन्त न्यास करे ॥ ३२ ॥

दाहिने हाथ में कमल से और बायें हाथ में शङ्ख का न्यास करे, फिर गदा से कमल वाले हाथ में तथा शङ्ख वाले हाथ में चक्रराज से न्यास करे ॥ ३३ ॥

दाहिने हाथ में खड्ग का और बायें हाथ में धनुष का न्यास करे। फिर श्री का न्यास दक्षिण भाग में कन्धे तक तथा उसी (श्री) से उत्तर भाग में न्यास करे। गुल्फपर्यन्त पुष्टि का तथा मुखमध्य में सरस्वती का न्यास करे। पीठ में दोनों हाथों से निद्रा का न्यास करे ॥ ३४-३५ ॥

स्वस्मिन् देवत्वभावनाकथनम्

मुद्रां बद्ध्वा स्मरेद् ध्यानं देवोऽहमिति भावयेत्।
अथ प्रणवपूर्वेण स्वनाम्ना नतिना सह॥ ३६ ॥

मूलादिमुद्राप्रदर्शनपूर्वकं स्वस्मिन् देवत्वभावनामाह—मुद्रामित्यर्धेन । एवमेव व्यक्तमुक्तं जयाख्येऽपि—

अहं स भगवान् विष्णुरहं नारायणो हरिः ।
वासुदवो ह्यहं व्यापी भूतावासो निरञ्जनः ॥
एवं रूपमहङ्कारमासाद्य सुदृढं मुने। (११।४१-४२) इति।

नैतावता जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपैक्यं शङ्कनीयम्, यतः श्रीपञ्चरात्ररक्षायां तृतीयेऽधिकारे—"एतेन लाञ्छनन्यासाद्यनन्तरम् "मुद्रां बद्ध्वा स्मरेद्देवं देवोऽहमिति भावयेत्" (सा०सं० १७।३६) इति समाराधनग्रन्थोऽपि निर्व्यूढः । "बद्ध्वा मूलादिकां मुद्रां देवोऽहमिति भावयेत्" इत्यादिसंहितान्तरग्रन्थाश्चात्र तुल्यन्यायाः । "अत्र मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा०उ० ३।१८।१) इत्यादिष्विवेतिकारादिवशाद् दृष्टिविधित्वं सुस्पष्टम् । अत एव हि तथाविधभावनयाऽप्यनन्तरयोग्यतापादनमात्रमुक्तम्—

न्यासेन देवमन्त्राणां देवतादात्म्यभावनात् ।
अप्राकृताङ्गकरणात् पूजामर्हति साधकः ॥ इति ।

अन्यथा—

देवतारूपमात्मानमर्चयेदर्घ्यधूपकैः ।
धूपावसानिकैर्भोगैर्ध्यात्वा नारायणं हृदि ॥

इति समनन्तरकर्तव्यं कथं संगच्छते । नहि स्वरूपैक्यभावनायां हृदि पुनर्नारायणध्यानमिति किञ्चित् स्यात् । न च शेषवृत्तौ प्रवर्तमानस्य स्वरूपैक्यभावनं जाघटीति । अतो दृष्टिविधिपक्षोऽत्र स्वीकार्यः । यद्वा, गत्यन्तरे संभवति दृष्टिविधिविवक्षा च न युक्ता । अतस्तच्छरीरतया तादधीन्यादिभिः सर्वानुवृत्तस्तद्व्यपदेशः । तदभिप्रायेण च "स्वनियाम्येत्यादिकं वक्ष्यति भाष्यकारः" (पृ० ८६-८७) इति सुस्पष्टमुपपादितम् ॥ ३६ ॥

मुठ्ठी बाँधकर प्रणवपूर्वक अपने नाम के आगे चतुर्थ्यन्त लगाकर नमः के साथ 'हम देव हैं' इस प्रकार की भावना करते हुए ध्यान करे ॥ ३६ ॥

शेषपूर्वं तु वह्न्यन्तमासनं परिकल्पयेत्।

तदाक्रम्याथ तस्यैव कार्या स्वहृदि कल्पना ॥ ३७ ॥

अथ मानसाराधनार्थं स्वहृदये प्रणवादिनमोऽन्तैश्चतुर्थ्यन्तैस्तत्तन्नामभिरनन्तादि-वह्न्यन्तपीठपरिकल्पनं कार्यमित्याह—अथेति सार्धेन । पारमेश्वरे तु जयाख्योक्तरीत्या "नाभिमेढ्रान्तरे ध्यायेत्" (ज०सं० १२।२, पा०सं० ५।५) इत्यादिभिर्हृदि जाग्रदासनकल्पनमुक्तम् । अत्र तु स्वप्नासनस्योक्तत्वात् तत्रोक्तस्थानविभागोऽत्रापि यथासंभवं बोध्यः । स्वप्नजाग्रदासनभेदस्तु परमेश्वर एवं दर्शितः—

> स्वप्नः शेषाहिपूर्वं तु वह्निपर्यन्तमासनम् ।
> क्षीरार्णवादितो भावासनान्तं जाग्रदासनम् ॥ —(३।५७)

इति ॥ ३७ ॥

इस प्रकार मानसाराधन करे । फिर पूर्व में शेष उसके ऊपर अग्नि की कल्पना कर आसन निर्माण करे । उस पर बैठे हुए इस प्रकार के आसन की हृदय में कल्पना करे ॥ ३७ ॥

> **ब्रह्मस्वरूपममलं स्वचैतन्यं तदूर्ध्वतः ।**
> **विकल्पोपरतं कृत्वा इच्छया तु विवर्तते ॥ ३८ ॥**
> **परध्वनिस्वरूपेण तत्प्रकाशात्मना पुनः ।**
> **व्यक्तिभावेन तच्चापि एवं प्रविलये सति ॥ ३९ ॥**
> **विसर्जनं तु बोद्धव्यं सम्पन्ने तु क्रियाक्रमे ।**
> **क्रम एष क्रमोक्तानां मन्त्राणामवतारणे ॥ ४० ॥**

तदासनोर्ध्वे भगवदभिव्यक्तिक्रममाराधनानन्तरं विसर्जनक्रममाह—ब्रह्मस्वरूप-मिति सार्धद्वाभ्याम् । विकल्पोपरतं = विशेषणरहितमित्यर्थः । केवलज्ञानस्वरूपमिति यावत्,

> ज्ञानेन्द्रियगणे चैव विकल्पं तनुते मनः ।
> विकल्पो विविधः क्लृप्तस्तच्च प्रोक्तं विशेषणम् ॥
> धर्मेण सह सम्बन्धो धर्मिणश्च स उच्यते ।
> विकल्पः पञ्चधा ज्ञेयो द्रव्यकर्मगुणादिभिः ॥ (५।६८-६९)

इति लक्ष्मीतन्त्रोक्तेः ।
विवर्तते पुनर्विशेषणसम्बन्धेन व्यक्तीभवतीत्यर्थः ॥ ३८-४० ॥

इस प्रकार के परिकल्पित आसन पर ज्ञान स्वरूप भगवान् की अभिव्यक्ति क्रमपूर्वक आराधना करते हुए उनका विसर्जन कर देवे । क्रिया क्रम सम्पन्न हो जाने पर विसर्जन करने की विधि के अनुसार विसर्जन करे । इस प्रकार क्रमपूर्वक कहे गये सभी मन्त्रों के आराधन का क्रम कहा गया ॥ ३८-४० ॥

लाञ्छनादिक्रियाध्यानमेषां चैव हि कल्पना ।

ज्ञातव्याऽऽराधकेनैव नित्यं कर्मणि कर्मणि ॥ ४१ ॥

सर्वमन्त्राराधनेष्वप्ययमेवावाहनादिक्रमो ज्ञेय इत्याह—
क्रम इति सार्धेन ॥ ४०-४१ ॥

आराधक को इसी प्रकार इन देवताओं के भूषणादि लाञ्छनपूर्वक क्रियाओं का ध्यान एवं इनकी आवाहनादि क्रम की कल्पना नित्य प्रत्येक कर्म में जानना चाहिये ॥ ४१ ॥

मन्त्रन्यासमतः कुर्याद् हस्तन्यासं विना विभोः ।
ध्यात्वाऽथ भावनाजातैर्भोगैः परमपावनैः ॥ ४२ ॥
पूजयित्वा जपान्तं चाप्यवतार्य बहिर्यजेत् ।

अथ स्वहृदये भगवतोऽङ्गन्यासपूर्वकं जपयज्ञान्तं मानसैरुपचारैरभ्यर्च्य बहिर्यागं च कुर्यादित्याह—मन्त्रन्यासमिति सार्धेन ॥ ४२-४३ ॥

इसके बाद अपने हृदय में भगवान् का अङ्गन्यासपूर्वक जप, यज्ञान्त मानस उपचारों से पूजन एवं परमपान भोगों से नैवेद्य चढ़ाकर उसके बाद नीचे उतार कर बहिर्याग करे ॥ ४१-४२ ॥

दक्षिणोत्तरहस्ताभ्यां हृद्बीजेन विचिन्त्य च ॥ ४३ ॥
सूर्यसोमौ ततः कुर्याद् द्रव्यदाहसमुद्भवौ ।
तोयमादाय पात्रेऽथ तत्र हृन्मन्त्रितं क्षिपेत् ॥ ४४ ॥

बहिर्यागविधिं दर्शयन् प्रथममर्घ्यादीनां दहनाप्यायनमुद्रादर्शनमाह—
दक्षिणेति ॥ ४३-४४ ॥

दायें बायें दोनों हाथों से हृद् बीज (नमः) से भगवान् का ध्यान कर प्रथम अर्घ्य मुद्रा प्रदर्शित करे । फिर दहन एवं आप्यायन मुद्रा प्रदर्शित करे । फिर सूर्य तथा सोम से द्रव्य का दाह तथा उसकी उत्पत्ति करे । अब पूजन सामग्री का प्रोक्षण कहते हैं—किसी पात्र में जल ले कर हृदय मन्त्र (नमः) से अभिमन्त्रित कर उससे सभी सामग्री का प्रोक्षण करना चाहिये ॥ ४३-४४ ॥

पुष्पगन्धसमोपेतं सुसितं शालितण्डुलम् ।
मन्त्रयेत् प्रणवाद्येन बहुशो हृदयेन तु ॥ ४५ ॥
तदुद्धृतेनाम्भसा वा अस्त्रमन्त्रं समुच्चरन् ।
प्रोक्षयेत् स्वासनस्थानं यागोपकरणं तथा ॥ ४६ ॥

पूजोपकरणानां प्रोक्षणमाह—तोयमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ४४-४६ ॥

इसके बाद पुष्पगन्ध से वासित सुन्दर एवं श्वेत शाली धान के चावल को प्रणवादि हृदय मन्त्र (ॐनमः) से अभिमन्त्रित करे ॥ ४५ ॥

अथवा उससे अभिमन्त्रित जल से, अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए, उस जल से, आसन स्थान तथा याग सामग्री का सम्प्रोक्षण करे ॥ ४६ ॥

चित्रस्थाद् भगवद्बिम्बाद् भुक्तं पुष्पादिकं हि यत् ।
अपनीय तु तत्कुर्याद् वाससा रेणुमार्जनम् ॥ ४७ ॥

चित्रबिम्बशोधनमाह—चित्रस्थादिति ॥ ४७ ॥

चित्र स्वरूप भगवद्बिम्ब के ऊपर चढाये गये पुष्पादिकों को दूर फेंक देवे और समस्त पूजा स्थान आर्द्रवस्त्र से परिमार्जित कर शुद्ध करे ॥ ४७ ॥

धातुद्रव्यमये कुर्यात् क्षालनं गन्धवारिणा ।

लोहमयस्य शोधनमाह—धात्विति ॥ ४८ ॥

यदि धातुमय (लोहादि) द्रव्य निर्मित हो तब सुगन्धित जल से उसका प्रक्षालन कर देवे । फिर जल सहित गोमय द्वारा समस्त पूजा स्थान का उपलेपन कर देवे ॥ ४८ ॥

मण्डलरचनाविधानम्

उपलिप्याथ भूभागं साम्भसा गोमयेन तु ॥ ४८ ॥
तत्र मण्डलमालेख्यं सूत्रयित्वा पुरा समम् ।
चतुरश्रं चतुर्द्वारं मार्गपीठाब्जभूषितम् ॥ ४९ ॥
त्रिनाभिनेमिषडरं चक्रं तु कमलाद् बहिः ।
मेध्यैः सितादिकै रागैः पुष्पैर्वा तैश्च तैः शुभैः ॥ ५० ॥
चन्दनाद्यैः सुगन्धैस्तु सर्षपैस्तिलतण्डुलैः ।
सर्वौषधिमयेनैव चूर्णेन परिपूर्य वा ॥ ५१ ॥

मण्डलरचनाप्रकारमाह—उपलिप्येत्यादिभिः ॥ ४८-५१ ॥

अब **मण्डल रचना का प्रकार** कहते हैं—उपलेपन के बाद वहाँ चतुष्कोण चार द्वारों वाला मार्गपीठ तथा कमल से भूषित मण्डल बनाना चाहिये ॥ ४९ ॥

फिर कमल से बाहर जिसमें तीन नाभि हो, नेमि हो, छह अरायें हों ऐसा चक्र निर्माण करे । वह चक्र स्थान अत्यन्त पवित्र श्वेत रङ्ग से, अथवा श्वेत शुभ पुष्पों से, सुगन्धित चन्दनों से, सरसों से, तिल तण्डुल से तथा सर्वौषधिमय के चूर्णों से अच्छी तरह परिपूर्ण होना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

पीठपरिकल्पनप्रकारकथनम्

पुष्पैरथार्घ्यपात्रं तु मन्त्रैः सम्पूज्य निष्कलैः ।
पात्रेऽपरस्मिंस्तस्माद् वै स्तोकमुद्धृत्य चोदकम् ॥ ५२ ॥

योगपीठार्चनं कुर्यादनुसन्धानपूर्वकम् ।
स्वनाम्ना प्रणवाद्येन नमोऽन्तेन यथाक्रमम् ॥ ५३ ॥
अनन्तेशं स्मरेन्मध्ये सर्वाधारमयं प्रभुम् ।
आग्नेयादौ तु धर्माद्यमैशान्यान्तं चतुष्टयम् ॥ ५४ ॥
प्रागादावप्यधर्माद्यमुत्तरान्तं न्यसेत् परम् ।
तदूर्ध्वे कमलं ध्यायेत् स्वनाम्नाऽथ तथोपरि ॥ ५५ ॥
स्मरेत् पत्राश्रितं सूर्यं शशाङ्कं केसरावनौ ।
कर्णिकास्थं हुतभुजं ततो गन्धादिना यजेत् ॥ ५६ ॥

पीठपरिकल्पनप्रकारमाह—पुष्पैरित्यादिभिः ॥ ५२-५६ ॥

इसके बाद निष्कल मन्त्रों से पुष्प द्वारा अर्घ्यपात्र का पूजन करे । फिर उसमें से किसी दूसरे पात्र में जल निकाले ॥ ५२ ॥

तदनन्तर सावधानी से उस जल द्वारा प्रणवपूर्वक स्वनाम, तदनन्तर नमः शब्द से योगपीठ का यथाक्रम अर्चन करे ॥ ५३ ॥

मण्डल के मध्य में सर्वाधारमय प्रभु अनन्तेश का स्मरण करते हुए पूजन करे । आग्नेय से लेकर ईशानकोण पर्यन्त धर्मादि चार (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यादि) का न्यास करे ॥ ५४ ॥

पूर्व दिशा से लेकर उत्तर दिशा पर्यन्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्यादि का न्यास करे । इसके बाद उसके ऊपर अपने नाम से कमल का ध्यान करे ॥ ५५ ॥

कमलपत्र पर सूर्य का, केशर स्थान पर चन्द्रमा का, कर्णिका पर अग्निदेव का ध्यान कर फिर गन्धादि द्वारा कमल की पूजा करे ॥ ५६ ॥

महाकुम्भस्थापनकथनम्

गणेशाद्यर्चनं कृत्वा प्रथमं गुरुसन्ततेः ।
प्राप्तानुज्ञोऽथ कलशमादाय शुभलक्षणम् ॥ ५७ ॥
तमम्भसाऽस्त्रजप्तेन सम्पूर्यादौ तु निक्षिपेत् ।
तद्‌गर्भे काञ्चनं रत्नं बीजान्योषधिसत्फलम् ॥ ५८ ॥
चूतादिविटपोद्‌भूतां सपत्रां पुष्पमञ्जरीम् ।
कौशेयवस्त्रकण्ठं कृत्वा चन्दनचर्चितम् ॥ ५९ ॥
तन्मध्ये पूजयेन्मन्त्रं साङ्गं सावरणं क्रमात् ।
प्राग्दिङ्मण्डलबाह्येऽथ दत्त्वा वै पुष्पचक्रिकाम् ॥ ६० ॥
पीठमन्त्रोपजप्तां च तदूर्ध्वे स्थापयेच्च तम् ।

अथ विष्वक्सेनादिगुरुपङ्क्त्यर्चनतदनुज्ञापूर्वकं महाकुम्भस्थापनप्रकारमाह—गणेशाद्यर्चनमित्यादिभिः । नन्वत्र गणेश इति सामान्यशब्दप्रयोगाज्जयाख्यलक्ष्मीतन्त्र-पारमेश्वरद्युक्तो विनायकस्तदर्थः स्यादिति चेन्न,

अथ शिष्टैस्तु नैवेद्यैर्यजेद् गणपतिं प्रभुम् ।
विष्वक्सेनाभिधानं चाप्यादावेवार्चितो हि यः ॥ (१७।१४२)

इति विशेषशब्दस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अत एवेश्वरतन्त्रे—

विष्वक्सेनं गणाधीशं गुरूंश्च तदनन्तरम् ।
गुरून् परमसंज्ञांश्च यजेत् सर्वगुरूंस्तदा ॥
आदिसिद्धसमूहं तु भगवद्ध्यानतत्परम् ।
नित्याधिकारिणश्चाप्तान् भगवत्तत्त्ववेदिनः ॥
चत्वारो मनवश्चान्ये ऋषयः सप्तपूर्वकाः । (४।३३-३५)

इति गुरुपङ्क्तिरुक्ता । प्राक्दिक् पूर्वदिशीत्यर्थः । विभक्तिलोपश्छान्दसः । मण्डलबाह्ये पूर्वोक्तमण्डलाद् बहिरित्यर्थः । पीठमन्त्रोपजप्तामिति चक्रिकाया विशेषणम् । पीठमन्त्रैः पूर्वोक्तैरनन्तादिमन्त्रैः, उपजप्ताम् = अर्चितामित्यर्थः ॥ ५७-६१ ॥

प्रथम गणेशादि का पूजन करे, फिर गुरु पङ्क्ति का पूजन करे । फिर गुरु की आज्ञा से शुभ लक्षण युक्त कलश हाथ में लेवे ॥ ५७ ॥

उस कलश में अस्त्र मन्त्र का जप कर उसे जल से परिपूर्ण करे । फिर उसमें सोना, रत्न, बीज, औषधियाँ, फल, पत्र, मञ्जरी सहित आम्रादि पञ्चपल्लव, कण्ठ में कौशेयवस्त्र और माला से बाँध कर चन्दन चर्चित करे । फिर उसमें कलश के मध्य में साङ्ग एवं सावरण मन्त्रनाथ का पूजन करे । मण्डल के बाहर पूर्वादि दिशाओं में पीठ मन्त्रोपजप्ता पुष्प चक्रिका प्रदान करे ॥ ५८-६१ ॥

अथाऽवतार्यो हृदयान्मन्त्रो विमलदीधितिः ॥ ६१ ॥
कर्मणा मनसा वाचा सिद्धिमार्गेण साधकैः ।
अनुज्झितस्वरूपं च सूर्यबिम्बमिवाम्भसि ॥ ६२ ॥
कर्मणा प्रेरयेच्चैव वाचा तं मन्त्रमुच्चरेत् ।
आगच्छपदसंयुक्तं संस्मरेन्मनसाकृतिम् ॥ ६३ ॥

तत्र भगवदावाहनक्रममाह—अथेति सार्धद्वाभ्याम् । करणत्रयेणाप्यावाहनं कार्यमित्युक्त्याऽऽवाहनकाले करणत्रयस्यापि प्रेरणोच्चारणस्मरणाख्यकार्यत्रय-मपि प्रतिपादितम् । प्रेरणं चात्रार्घ्यपुष्पाञ्जलिसमर्पणमन्त्रन्याससन्निधिसन्निरोध-सांमुख्यमुद्रादर्शनादिकं ज्ञेयम् । उच्चारणं चतुर्वारं बोध्यम् । मन्त्रं पूर्वोक्तं नृसिंह-मन्त्रमित्यर्थः ॥ ६१-६३ ॥

उस (पीठ मन्त्र = अनन्तादि मन्त्र) के ऊपर उसे स्थापित करे । साधक कर्मणा मनसा वाचा अपने हृदय स्थित विमल प्रकाश वाले मन्त्र को उतारे ।

उनके स्वरूप में कोई अन्तर न पड़े जिस प्रकार जल में सूर्य का बिम्ब उतारा जाता है ॥ ६१-६२ ॥

उन मन्त्रदेव (नृसिंहमन्त्र) को कर्म से प्रेरित करे, वाणी से चार बार उच्चारण करे और मन से 'भगवन् आगच्छ' ऐसा कहते हुए उनकी आकृति का स्मरण करे। (इस प्रकार तीन करण (इन्द्रियों) से नृसिंह मन्त्र का आवाहन करना चाहिये) ॥ ६३ ॥

एवमाहूय वै दद्यादर्घ्यपाद्ये च भक्तितः ।
आमूलात् सर्वमन्त्राणां व्यक्तिस्थानां समर्चनम् ॥ ६४ ॥
अर्घ्यपुष्पादिना कुर्यात् स्वेन स्वेन स्वके पदे ।

एवमाहूतस्य भगवतोऽर्घ्यपाद्याद्युपचारानुपूर्वी कथयन् प्रथमं लययागमाह— एवमिति सार्धेन । व्यक्तिस्थानां = भगवद्दिव्यमङ्गलविग्रहविन्यस्तानामित्यर्थः । अनेनावाहनान्तरं स्वशरीरवद् भगवदवयवेष्वपि मूलमन्त्रादीनां न्यासः कार्य इत्युक्तं भवति । ''अर्घ्यपुष्पादिना''इत्यत्रादिशब्देन गन्धधूपौ ग्राह्यौ । स्वेन स्वेन = स्वस्वमन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ६४-६५ ॥

इस प्रकार श्रीनृसिंह मन्त्र का आवाहन कर भक्तिपूर्वक यथाविधि अर्घ्यपात्र देवे तदनन्तर भगवद्दिव्यमङ्गल विग्रह में आहूत समस्त विन्यस्त मन्त्रों का अर्चन करे। फिर अर्घ्य पुष्पादि के तत्तन्मन्त्रों से अर्घ्य पुष्प प्रदान करे ॥ ६४-६५ ॥

भोगयागक्रमकथनम्

तदोदितं विभोर्देहाद् हृदयाद्यं चतुष्टयम् ॥ ६५ ॥
न्यसेत् कमलपत्राणामा पूर्वादुत्तरान्तिकम् ।
अग्नीशरक्षोवायव्यदलेष्वस्त्रं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥
नेत्रं केसरजालस्थं चक्रं नाभित्रयोपरि ।
श्रीवत्सकौस्तुभौ चैव वनमालां तथैव च ॥ ६७ ॥
उदक्पश्चिमभागस्थे चाक्रीये त्वप्यरत्रये ।
कमलं निशिताग्रं च नन्दकं विन्यसेत् क्रमात् ॥ ६८ ॥
प्राग्भागदक्षिणस्थाभ्यां त्रितयं चाथ विन्यसेत् ।
कार्मुकं हेतिराट् शङ्खं ततो देवस्य दक्षिणे ॥ ६९ ॥
नेमिभागे श्रियं देवीं पुष्टिमुत्तरतो न्यसेत् ।
पृष्ठदेशे स्थितां निद्रामग्रभागे सरस्वतीम् ॥ ७० ॥

अथ भोगयागक्रममाह—तदोदितमित्यारभ्याग्रभागे सरस्वतीमित्यन्तम् । चाक्रीये चक्रसम्बन्धिनीत्यरत्रयस्य विशेषणम् । निशितान्यग्राणि यस्य तं तथोक्तं

गदामित्यर्थः । अनयोरर्चनयोर्मन्त्राणां निराकारत्वसाकारत्वभेदं लयभोगसंज्ञाकत्वं च जयाख्ये प्रतिपादितम्—

शक्तयश्चाङ्गषट्कं च लाञ्छनं कमलादिकम् ॥
भूषणं कौस्तुभाद्यं च वदनानां तथा त्रयम् ।
सत्याद्या मूर्तयश्चैव देवे देहस्य भाविताः ॥
व्यापकस्य तथात्वेन स्वे स्वे स्थाने प्रभात्मकाः ।
तद्देहसंस्थिताः सर्वे पूजनीयाः क्रमेण तु ॥
परिवारं विना मन्त्रैः स्वैः स्वैः पुष्पानुलेपनैः ।
लययागो ह्ययं विप्र लक्ष्म्यादिष्वनुकीर्तितः ॥
तस्माद् हृत्कर्णिकाधारे मूर्तौ वा यत्र कुत्रचित् ।
मूलमन्त्रशरीरस्थं परिवारं यजेत् सदा ॥
याग एष लयाख्यस्तु संक्षिप्तः सर्वसिद्धिदः ।
मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु ॥
साकाराः केवलाः सर्वे यत्र भोगाभिधः स तु ।
केवलेन च यागेन पृथग्भूतेन नारद ॥
पूजनं कमलादीनामधिकाराभिधः स तु ॥ (१२।७६-८३) इति ।

प्रभात्मकास्तेजोरूपाः, निराकारा इति यावत् । परिवारं विना तत्तत्परिवारं विनेत्यर्थः । परिवारस्यापि परिवारकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गादिति भावः। एत एव श्लोका ईश्वरपारमेश्वरयोरपि स्वस्वोक्तमन्त्रन्यासानुसारेण प्रतिपादिताः । परमेश्वरव्याख्याने तु ''अन्या मूर्तय इत्यनेनाष्टाद्यनेकभुजभूषितायुधमूर्तिविषया द्रष्टव्याः'' इति व्याख्यातम् । तदसंगतम्, अत्रत्यमूर्तिशब्दस्य सत्यादिमूर्तिपरत्वात्, ''सत्याद्या मूर्तयश्चैव'' (जया० सं० १२।७७) इति मूलोक्तेश्च । परिवारं विनेत्यत्रापि परिवाराकारत्वकल्पनां विनेति व्याख्यातम् । तदप्यप्रकृतम्, प्रभात्मका इत्यनेनैव तदर्थसिद्धेः । ''मूलमन्त्रशरीरस्थं परिवारं यजेत् सदा'' (जया० १२।८०) इत्यनेन तदानीमपि परिवारत्वस्य दुर्निरोधत्वाच्च । पारमेश्वरे लययागः स्वोक्तन्यासानुसारेण हृन्मन्त्रक्रमेणैवोक्तः । भोगयागस्तु केवलजयाख्यवचनेनैव प्रतिपादितः । तथापि पारमेश्वरसंहितानिष्ठैर्हृन्मन्त्रादिक्रमेणैव भोगयागः कार्यः, तस्यापि पूर्वोक्तन्यासानुसारेणैव कर्तव्यत्वात्, तथैव बाह्ययागे वक्ष्यमाणत्वाच्च ।

पारमेश्वरव्याख्यानेऽप्येवमेवोक्तम्—लक्ष्म्याद्याः केसरादिषु । तत्र लक्ष्म्यादयः, अत्र हृदादय इति विशेष इति । उत्तरत्रापि पारमेश्वरे मानसयागानन्तरं ''भोगस्थानगतानां च लक्ष्म्यादीनां क्रमेण तु'' (जया०सं० १२।११३, पा०सं० ५।१४८) इति जयाख्यवचनमेवोदाहृतम् । तत्रापि व्याख्याकारैर्लक्ष्म्यादीनामिति नारदश्रुतग्रन्थे लक्ष्म्यादित्वमन्त्रहृदयादिति विवेक इत्युक्तम् । एतदबुद्ध्वैव कैश्चित् पारमेश्वरप्रयोगकारैर्यथेच्छं पाण्डित्यं प्रदर्शितम् । केषुचित् पारमेश्वरप्रयोगेष्वस्मिन्नवसरेऽधिकारयागस्यापि कर्तव्यत्वम्, तस्य स्वबुद्धिकल्पितस्थानान्तरं चोक्तम् । तैरधिकारयागशब्दार्थ एव न ज्ञात(व्य?)ः, व्याख्यानपङ्क्तिरपि न दृष्टा, पृथग्भूतेनेति विशेषणमपि न स्मृतम् । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ॥ ६५-७० ॥

फिर भगवान् नृसिंह के शरीर से उत्पन्न हृदयादि चतुष्टय में कमलपत्र के पूर्व दिशा से लेकर उत्तर दिशा पर्यन्त भगवान् हरि का न्यास करे । कमल के आग्नेय, ईशान, नैर्ऋत्य तथा वायव्य कोण में अस्त्र मन्त्र से क्रम पूर्वक न्यास करना चाहिए ।। ६५-६६ ।।

केशर जाल पर नेत्र का, तीनों नाभियों पर चक्र का और श्रीवत्स, कौस्तुभ तथा वनमाला का चक्र के उत्तर और पश्चिम के तीनों अराओं पर न्यास करे । कमल अत्यन्त तीक्ष्ण नन्दक नामक खड्ग का न्यास करे ।। ६७-६८ ।।

देवता के दक्षिण, पूर्वभाग और दक्षिण भाग में कार्मुक धनुष, चक्र और शङ्ख इन तीन का न्यास करे ।। ६९ ।।

देवता के नेमि स्थान पर श्रीदेवी का और उत्तर भाग में पुष्टि देवी का न्यास करे । इसी प्रकार देवता के पृष्ठभाग में स्थित निद्रा का तथा अग्रभाग में सरस्वती का न्यास करे ।। ७० ।।

वामदक्षिणभागाभ्यां वीथिस्थमिषुधिद्वयम् ।
द्वारेष्वस्त्रं न्यसेद् भूयो मुद्रां कोणचतुष्टये ।। ७१ ।।
सायुधानथ दिक्पालान् स्वस्थाने मण्डलाद् बहिः ।

मण्डलवीथ्यादिष्वर्चनीयान् परीवारानाह—वामदक्षिणेति सार्धेन । इषुधिद्वयं तूणीरद्वयमित्यर्थः । द्वारेष्वस्त्रं = चक्रमित्यर्थः । पूर्वं भोगयागे चक्रगदयोरुक्तत्वाद् भूय इत्युक्तम् ।। ७१-७२ ।।

वाम एवं दक्षिण भाग में वीथी में रहने वाले दो तरकसों का न्यास करना चाहिए । इसी प्रकार द्वार पर अस्त्र (=चक्र) का न्यास करे तथा चारों कोणों पर पुनः मुद्रा न्यास करे । फिर मण्डल के बाहर दशों दिशाओं में पूर्वादि क्रम से आयुध सहित दिक्पालों का न्यास करे ।। ७१-७२ ।।

मूलमन्त्रादीनां ध्यानकथनम्

एवं न्यस्य ततो ध्यायेन्मन्त्रव्यूहं यथास्थितम् ।। ७२ ।।
सर्वदेवमयं देवं सर्वेषां तेजसां निधिम् ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णं सार्वज्ञादिगुणैर्युतम् ।। ७३ ।।
निष्टप्तकनकाभं च सम्पूर्णाङ्गं महातनुम् ।
घोरशार्दूलवदनं चण्डमार्तण्डलोचनम् ।। ७४ ।।
सौदामिनीचयप्रख्यैर्लोमभिः परिपूरितम् ।
अरुणाम्भोजपत्राभं वज्राधिककरोरुहम् ।। ७५ ।।
चलत्फणीश्वरसटं चन्द्रकोटिशतद्युतिम् ।

वमन्तमान्तरं वह्निं खरन्ध्रैर्मारुतानुगैः ॥ ७६ ॥
प्रलयाम्बुदनिर्घोषमुद्गिरन्तं स्ववाचकम् ।
युगान्तहुतभुग्ज्वालामण्डलान्तर्व्यवस्थितम् ॥ ७७ ॥
षडस्त्रं चाप्यष्टबाहुं व्याप्य लोकान् स्थितं प्रभुम् ।
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गं दिव्याम्बरधरं तथा ॥ ७८ ॥
दिव्यस्त्रग्वेष्टनोपेतं दिव्यालङ्कारमण्डितम् ।
कौस्तुभेनोरसिस्थेन श्रीवत्सेनाप्यलङ्कृतम् ॥ ७९ ॥
रत्नकाञ्चनसन्मुक्तायुक्तया वनमालया ।
सब्रह्मसूत्रया चैव शोभितं परमेश्वरम् ॥ ८० ॥
भुजान्यस्त्रवरैर्दीप्तैः कमलाद्यैर्युतानि च ।
क्षीरसागरवच्छुभ्रं ततः पद्मं तु दक्षिणे ॥ ८१ ॥
प्रणवध्वनिगर्भं तु हिमाद्रिशतशोऽधिकम् ।
वामे शङ्खवरं ध्यायेद् गदाखड्गौ ज्वलत्प्रभौ ॥ ८२ ॥
दक्षिणे पाणियुग्मेऽथ चक्रं कालानलद्युतिम् ।
सधनुर्वामहस्ताभ्यां ततः पाणिद्वयेन तु ॥ ८३ ॥
अविद्यादलिनीं मुद्रां कर्माख्यां संस्मरेत् प्रभोः ।
एवमेव हि हृन्मन्त्रं ध्यायेत् कुमुदपाण्डरम् ॥ ८४ ॥
पद्मरागाचलाकारमारक्तं च शिरः स्मरेत् ।
अञ्जनाश्मप्रतीकाशं शिखामन्त्रं तथाकृतिम् ॥ ८५ ॥
परितः सूर्यसन्तप्तं यथा कनकपर्वतम् ।
तथा कवचमन्त्रं च ध्यानकाले विचिन्त्य च ॥ ८६ ॥
वृतो ज्वालासहस्त्रैस्तु अयस्कान्तसमद्युतिः ।
सर्वास्त्रशक्तिसम्पूर्णश्चास्त्रमन्त्रः प्रकीर्तितः ॥ ८७ ॥
निर्धूमाङ्गारशिखरसदृशो नेत्रमन्त्रराट् ।
ध्येयाः स्वरुचिसंयुक्ता द्विभुजाः पुरुषोत्तमाः ॥ ८८ ॥
सास्त्राः कौस्तुभपूर्वा ये गदामालेङ्गनाकृतीः ।
फुल्लपद्मोदराभा श्रीर्नलिनीनालसंयुता ॥ ८९ ॥
चन्द्ररश्मिप्रतीकाशा श्वेतचामरधारिणी ।
पूर्णेन्दुसदृशी पुष्टिरुद्वहन्ती च पाणिना ॥ ९० ॥
सम्पूर्णममृतेनैव कलशं काञ्चनोत्थितम् ।
विज्ञानपुस्तककरा स्फटिकाभा सरस्वती ॥ ९१ ॥

फुल्लेन्दीवरसंकाशा त्वक्षसूत्रकराङ्किता ।
ध्येया भगवती निद्रा सर्वाश्चामरलाञ्छिताः ॥ ९२ ॥
सम्मुखा देवदेवस्य वस्त्रालङ्कारमण्डिताः ।

मूलमन्त्रादीनां ध्यानान्याह—एवं न्यस्त्वा ततो ध्यायेदित्यारभ्य वस्त्रालङ्कारमण्डिता इत्यन्तम् । अविद्यादलिनी मुद्रा वक्ष्यमाणा (१७।१०५-१०६) ज्ञेया ॥ ७२-९३ ॥

अब **मूल मन्त्रों का ध्यान** कहते हैं—इस प्रकार न्यास कर लेने के अनन्तर यथास्थित मन्त्रव्यूह का ध्यान करे । यह मन्त्रव्यूह सर्व देवमय हैं । समस्त तेजों के निधान हैं । सभी लक्षणों से संयुक्त और सभी ज्ञानादि गुणों से समन्वित हैं ॥ ७२-७३ ॥

ये उत्तप्त कनक के समान देदीप्यमान हैं, अङ्गों से सम्पूर्ण हैं, विशाल शरीर से संयुक्त हैं, सिंह के समान महाभयानक मुख वाले हैं, इनके नेत्र प्रचण्ड सूर्य के समान देदीप्यमान हैं ॥ ७४ ॥

बिजली समूहों के समान चमकीले रोमों में भरा हुआ इनका शरीर है । नख मण्डल कमल पत्र के समान लाल वर्ण का है तथा वज्र से भी अधिक कठोर और तीक्ष्ण है ॥ ७५ ॥

सटा (= रोम) चञ्चल साँप के समान चमकीली है जिसका प्रकाश करोड़ों चन्द्रमा की किरणों के समान है । वे अपने अन्दर में रहने वाली अग्नि को वायु वेग के समान शरीर के रोमछिद्रों से बाहर उगल रहे हैं ॥ ७६ ॥

अपने वाचक शब्द (ॐ) को प्रलयकालीन अम्बुद के समान गर्जन करते हुए उगल रहे हैं । कल्पान्तकालीन प्रलयाग्नि की ज्वाला अपने अन्तःकरण में धारण किये हुए हैं ॥ ७७ ॥

जो अपने छः अस्त्रों तथा आठ बाहुओं से व्याप्त होकर संसार में स्थित हैं, जिनका अङ्ग दिव्यगन्ध से अनुलिप्त है, जो दिव्य अम्बर धारण किये हुए हैं । जो दिव्य माला से वेष्टित हैं, दिव्यालङ्कारों से मण्डित हैं और जो वक्षःस्थल पर धारण किये हुए कौस्तुभ तथा श्रीवत्स से भी अलङ्कृत हैं, रत्न काञ्चन तथा उत्तमोत्तम मोतियों की माला तथा वनमाला से विभूषित हैं इतना ही नहीं, वे परमेश्वर ब्रह्मसूत्र से भी शोभित हैं ॥ ७८-८० ॥

जिनकी भुजायें श्रेष्ठ अस्त्रों के धारण करने से देदीप्यमान हो रही हैं और कमलों से भी संयुक्त हैं, जिनके दक्षिण हाथ में क्षीरसागर के समान श्वेत प्रणव ध्वनि निर्मित है और सैकड़ों हिमालय के समान शुभ्र कमल है और बायें हाथ में श्रेष्ठ शङ्ख तथा देदीप्यमान प्रभा वाली गदा और खड्ग शोभा दे रहा है, इस प्रकार भगवान् का ध्यान करे ॥ ८१-८२ ॥

दाहिने दोनों हाथों में कालानल के समान प्रकाशित चक्र, बायें दोनों हाथों में धनुष के सहित (बाण) विद्यमान है । पुनः दोनों हाथों में अविद्यादलिनी मुद्रा धारण किये हुए हैं ऐसे प्रभु का ध्यान करे ॥ ८३-८४ ॥

इसी प्रकार कुमुद के समान स्वच्छ हृन्मन्त्र का ध्यान करना चाहिये । पद्म-राग पर्वत के आकार के समान आरक्त **हृन्मन्त्र** (नमः) के शिर का स्मरण करे । अञ्जन पर्वत के समान उसी आकृति वाले **शिखा मन्त्र** का स्मरण करे ॥ ८५ ॥

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से चारों ओर सुवर्ण पर्वत चमचमाता रहता है उसी प्रकार देदीप्यमान **कवचमन्त्र** का ध्यान काल में चिन्तन करे ॥ ८६ ॥

सहस्त्रों अग्नि ज्वाला से युक्त अयस्कान्तमणि के समान देदीप्यमान सम्पूर्ण शक्तिसम्पन्न **अस्त्रमन्त्र** कहा गया है उसका स्मरण करे ॥ ८७ ॥

धूम रहित अङ्गार पर्वत के समान **नेत्र-मन्त्रराज** का ध्यान करे । अपनी रुचि के अनुसार पुरुषोत्तम की **दो भुजाओं** का स्मरण करे ॥ ८८ ।

अस्त्र सहित **कौस्तुभ** तथा **गदा** एवं **वनमाला** इत्यादि स्त्री वेश वाले विकसित कमल के समान मनोहर स्वरूप वाली **महाश्री** एवं नाल संयुक्ता **नलिनी** का ध्यान करे ॥ ८९ ॥

चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान प्रकाश वाली, श्वेत चामरधारिणी पूर्णचन्द्र के समान हाथ में चामर लिये हुए **पुष्टि** का स्मरण करे ॥ ९० ॥

अमृत से सम्पूर्ण कनक, कलश तथा विज्ञान-पुस्तक हाथ में लिये हुए स्फटिक के समान शुभ्र वर्ण वाली **सरस्वती** का स्मरण करे ॥ ९१ ॥

विकसित कमल के समान शोभा वाली हाथ में अक्षसूत्र धारण किये हुए सभी देव लक्षणों से युक्त **भगवती निद्रा** का ध्यान करे, जो वस्त्रालङ्कार से मण्डित देवाधिदेव के सम्मुख स्थित हैं, इस प्रकार ध्यान करे ॥ ९२-९३ ॥

एवं ध्यात्वा ततः कुर्यात् पूजनं कुसुमादिकैः ॥ ९३ ॥
स्नानैर्विलेपनैर्वस्त्रैर्माल्यैर्धूपैश्च दीपकैः ।
दध्ना च मधुमिश्रेण क्षीरेणाज्यान्वितेन च ॥ ९४ ॥
हृद्यैर्मृष्टैः स्थिरैर्मेध्यैर्नैवेद्यैर्विविधैः शुभैः ।
यथाकालोद्भवैः सर्वैः फलमूलैस्तु षड्रसैः ॥ ९४ ॥
पूजितैर्मुक्तदोषैस्तु मुद्रामन्त्रोपलक्षितैः ।
मूर्तैर्ध्यानैस्तथा स्विन्नैर्बीजैर्होमादिनाऽथवा ॥ ९६ ॥

षष्ठपरिच्छेदे विस्तरेणोक्तत्वादिहोपचारानुपूर्वीं संक्षेपेणाह—एवं ध्यात्वेत्यादिभिः ॥ ९३-९६ ॥

इस प्रकार मन्त्र देवों का ध्यान कर पुष्पादि से उनका पूजन करे । स्नान विलेपन, वस्त्र, माला, धूप, दीप, दही, मधु मिश्रित क्षीर एवं घृत से हृदय को बल देने वाले, मीठे, स्थिर एवं बुद्धिवर्धक विविध कल्याणकारी नैवेद्य और यथाकाल उत्पन्न होने वाले षड्रस संयुक्त फल, मूल आदि से पूजित देव का ध्यान करे । मुद्रा मन्त्र द्वारा दोषों से मुक्त हो जावे और प्रकट मूर्त्ति के समान ध्यान करे । भींगे हुए बीजों से अथवा होमादि द्रव्यों से होम करे ॥ ९३-९६ ॥

ततः स्वहस्तौ संस्कृत्य अम्भसाऽऽलम्भनादिना ।
बद्ध्वा प्रदर्शयेन्मुद्रां त्रिशिखां सम्मुखे विभोः ॥ ९७ ॥
ध्यात्वा त्रेताग्निरूपं तु दक्षिणादङ्गुलित्रयम् ।
स्पृष्टमूर्ध्वशिखं सैव ज्येष्ठाक्रान्ता कनीयसी ॥ ९८ ॥
अथोऽखिलस्वरूपश्च ध्वान्तातीतोऽग्निरूपधृक् ।
देवो गुणत्रयातीतस्तथा मार्गत्रयातिगः ॥ ९९ ॥
धर्मैः स्थूलतरैर्मुक्तो योऽयं व्यक्तो धियार्चितः ।

मूलमुद्रादर्शनमाह—तत इति सार्धैस्त्रिभिः । अम्भसा = अर्घ्यजलेनेत्यर्थः । "मुद्राबन्धे कराभ्युक्षाम्" इत्यर्घ्यविनियोगस्य वक्ष्यमाणत्वात् । आलम्भनादिना चन्दनादिनेत्यर्थः । आदिशब्देन कर्पूरकुङ्कुमादिकं गृह्यते । दक्षिणहस्तेऽङ्गुष्ठेन कनिष्ठिकामाक्रम्य तर्जन्याद्यङ्गुलित्रयमृज्वीकृत्य भगवदभिमुखं दर्शयेदिति फलितोऽर्थः ॥ ९७-१०० ॥

अब **मूल मुद्रा प्रदर्शन की विधि** कहते हैं—फिर जल स्पर्शादि से हाथ प्रक्षालन कर, हाथ शुद्ध कर, दोनों हाथ जोड़कर भगवान् के सामने त्रिशिखा मुद्रा प्रदर्शित करे ॥ ९७ ॥

अब **त्रिशिख मुद्रा का स्वरूप** कहते हैं—त्रेताग्नि के स्वरूप का ध्यान करे फिर दाहिने हाथ के अंगूठे से कनिष्ठा को दबा देवे । तदनन्तर शेष तर्जनी आदि तीन अङ्गुलियों को सीधी खड़ी कर देवे । फिर इस मुद्रा को भगवान् के सामने प्रदर्शित करे तो वही मुद्रा त्रेताग्नि स्वरूप कही जाती है यही फलितार्थ है ॥९८॥

यही देव सर्वस्वरूप हैं, अज्ञान रूप अन्धकार से सर्वथा परे हैं, अग्नि स्वरूप हैं, किं बहुना, यही देव तीनों गुणों से परे हैं तथा मार्गत्रयातीत भी हैं । यही स्थूलतर धर्मों से तो मुक्त हैं, किन्तु मानसिक पूजा से अर्चित होने पर अभिव्यक्त होते हैं ॥ ९९-१०० ॥

हृन्मुद्राकथनम्

सम्पुटं हृदयोद्देशे बद्ध्वा हस्तद्वयेन तु ॥ १०० ॥
निरन्तराभ्यां शाखाभ्यां मुद्रैषा हार्दिकी स्मृता ।

हृन्मन्त्रमुद्रामाह—सम्पुटमिति। हार्दिकी हृदयसम्बन्धिनीत्यर्थः॥१००-१०१॥

अब **हृन्मुद्रा** कहते हैं—दोनों हाथों से सम्पुट बाँधकर हृदय प्रदेश पर स्थापित करे, दोनों हाथो की अङ्गुलियों में अन्तर न रहे तब यह हृदय सम्बन्धिनी मुद्रा कही जाती है ॥ १००-१०१ ॥

शिरोमन्त्रादिमुद्रापञ्चककथनम्

अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं शाखायुग्मं पृथक् पृथक् ॥ १०१ ॥
सान्तरं सम्पुटादस्मात् कनिष्ठादौ तथा भवेत् ।
शिरश्शिखातनुत्रास्त्रनेत्रमुद्रा यथाक्रमम् ॥ १०२ ॥

शिरोमन्त्रादिमुद्रापञ्चकमाह—अङ्गुष्ठादीति सार्धेन । पूर्ववत् करद्वयेन सम्पुटं कृत्वाऽङ्गुष्ठयुग्मं तर्जनीयुग्मं मध्यमायुग्ममनामिकायुग्मं कनिष्ठिकायुग्मं च सान्तरालं यथा तथा पृथक् पृथक् विभज्य कनिष्ठाद्यङ्गुष्ठान्तमङ्गुलियुग्मपञ्चके क्रमेण शिरः-शिखाकवचास्त्रनेत्रमुद्रा इति विज्ञेयाः ॥ १०१-१०२ ॥

अब **शिरोमन्त्रादिमुद्रा पञ्चक** कहते हैं—दोनों हाथों से सम्पुट बनाकर दोनों अंगूठो, दोनों तर्जनी, दोनों मध्यमा, दोनों अनामिका, दोनों कनिष्ठा के बीच-बीच में थोड़ा अन्तर रख कर अलग-अलग प्रविभक्त करे । इस प्रकार कनिष्ठा युग्म से अङ्गुष्ठ युग्म पर्यन्त पाँचों अङ्गुलियों को क्रमशः शिरोमुद्रा, शिखामुद्रा, कवचमुद्रा, अस्त्रमुद्रा तथा नेत्रमुद्रा कहा जाता है ॥ १०१-१०२ ॥

श्रियादिशक्तिमुद्राचतुष्टय कथनम्

अस्यामङ्गुष्ठयुग्मं तु मुद्रायां करमध्यगम् ।
प्रदेशिन्यां ततो विद्धि कनिष्ठान्तं श्रियादिषु ॥ १०३ ॥

श्रियादिशक्तिमुद्रा चतुष्टयमाह—अस्यामिति । अस्यां मुद्रायां पूर्वोक्तरीत्या पृथग्विभक्ताङ्गुलिद्विकपञ्चकविशिष्टायां मुद्रायामङ्गुष्ठयुग्मं करमध्ये कर्णिका-रूपेण संस्थाप्य तर्जन्यादिद्विकचतुष्टये क्रमेण लक्ष्मीपुष्टिसरस्वतीनिद्रामुद्राचतुष्टयं बोध्यम् ॥ १०३ ॥

अब **श्रियादि शक्ति मुद्रा चतुष्टय का प्रकार** कहते हैं—इस पूर्वोक्त मुद्रा में पृथग्विभक्त पाँचों युग्म अङ्गुलि विशिष्ट मुद्रा में, अङ्गुष्ठ युग्म को हाथ के मध्य में कर्णिका रूप से स्थापित कर देवे तो शेष तर्जनादि द्विक चतुष्टय को क्रमशः लक्ष्मीमुद्रा, पुष्टिमुद्रा, सरस्वतीमुद्रा और निद्रामुद्रा नामक चार मुद्रायें हो जाती हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १०३ ॥

स्वमन्त्रयुक्ता चान्येषामर्चितानां यथाक्रमम् ।
पुनः पुनः प्रयोक्तव्या हार्देयं शिरसा सह ॥ १०४ ॥

अन्येषां हृन्मुद्रैव शिरोमुद्रया सह तत्तन्मन्त्रेण प्रयोक्तव्येत्याह—स्वमन्त्रयुक्तेति ।

अन्येषामित्यनेन श्रीवत्सादिभूषणानां चक्रादिलाञ्छनानामनन्तादिपीठदेवानां विष्वक्सेनादिगुरूणां द्वारावरणस्थपरिवाराणां च ग्रहणं बोध्यम् ।

ननु जयाख्ये एतेषामपि मुद्राः प्रतिपादिताः । तत्राप्यनुक्तमुद्राणामेव हृ(न्मन्त्रान्मुद्रा)प्रदर्शनं सरसमिति चेन्न, तत्तत्संहितानिष्ठैस्तत्तदुक्तप्रकारेणैवानुष्ठेयत्वात् ।

ननु तर्हि सात्वतोपबृंहणे जयाख्योक्ताः श्रीवत्सादिमुद्राः संगृहीता इति चेत् सत्यम् । तत्र—

सामान्या सर्वमन्त्राणामेका मुद्राञ्जलिः स्मृता ॥
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण संयुक्तां तां प्रयोजयेत् ।

—(ई०सं० २३।४१-४२)

इति सात्वतोक्तपक्षस्यापि प्रतिपादित्वान्न भेतव्यमायुष्मता ॥ १०४ ॥

श्रीवत्सादि अन्य देवता के अर्चन में हृन्मुद्रा को ही शिरोमुद्रा के साथ तत्तन्मन्त्रों के साथ प्रयोग करे ॥ १०४ ॥

परस्परमुखौ शिलष्टौ शाखाक्रान्तौ परस्परम् ।
किन्तु वै दक्षिणं हस्तमूर्ध्वं चाप्यधरेऽपरम् ॥ १०५ ॥
अविद्यादलिनी ह्येषा मुद्रा पूर्वमुदाहृता ।

अथ भगवतो हस्तस्थिताया अविद्यादलिन्या मुद्राया लक्षणमाह—परस्परेति सार्धेन । हस्तौ परस्पराभिमुखौ संश्लिष्टौ परस्पराङ्गुलिभिराक्रान्तौ च कृत्वा । दक्षिणमुत्तरं अपरमधरं कुर्यादित्यर्थः ॥ १०५-१०६ ॥

अब भगवान् के हाथ में स्थित **अविद्यादलिनी मुद्रा का लक्षण** कहते हैं—अपने दोनों हाथों को परस्पर सामने रख कर एक में मिला देवे । फिर परस्पर अङ्गुलियों से दोनों हाथों को आक्रान्त कर दाहिने हाथ को ऊपर तथा बायें हाथ को नीचे करे । त्रिशिखा मुद्रा पहले कही गई है और अब अविद्यादलिनीमुद्रा कही गई ॥ १०५-१०६ ॥

एवं मुद्राचयं कृत्वा पूजां कृत्वा पुनः प्रभोः ॥ १०६ ॥
यथाशक्ति जपं कुर्याच्छतमष्टाधिकं तु वै ।

पूर्वोक्तां त्रिशिखामुद्रामिमामविद्यादलिनीमुद्रां च भगवते प्रदर्श्य पुनरर्घ्यादिभिरभ्यर्च्याष्टोत्तरशतवारं यथाशक्ति वा मूलमन्त्रं जपेदित्याह—एवमिति । हृन्मन्त्रादीनामेकैकवारं जपः कार्यः । तेषां मूलमन्त्राराधनाङ्गभूतत्वात् सकृज्जपेऽपि न प्रत्यवायः ॥ १०६-१०७ ॥

इस प्रकार इन मुद्राओं को भगवान् के सामने प्रदर्शित करना चाहिए फिर अर्घ्यादि द्वारा अर्चना कर मूलमन्त्र का एक सौ आठ बार अथवा यथाशक्ति जप करना चाहिए ॥ १०६-१०७ ॥

एकैकं हृदयादीनां सर्वेषां विहितं त्वथ॥ १०७ ॥
क्रियाङ्गत्वान्न दोषोऽस्ति अन्यथा तज्जपं विना ।

सकृज्जपस्याप्यकरणे प्रत्यवाय इत्याह—एकैकमिति ॥ १०७-१०८ ॥

हृन्मन्त्रादि का एक-एक बार जप करे । ये मन्त्र मूलमन्त्र के आराधन के अङ्ग हैं । अतः एक बार भी जप करने में कोई दोष नहीं । यदि इन मन्त्रों को एक बार भी जप न करे तब प्रत्यवाय होता है ॥ १०७-१०८ ॥

तमर्चयित्वाऽष्टाङ्गेन प्रणम्य परमेश्वरम् ॥ १०८ ॥
स्मृत्वाऽनुज्ञां समादाय यजेद् वह्निगतं ततः ।

एवं जपयज्ञानन्तरं साष्टाङ्गप्रणामजितन्तादिस्तोत्रपठनपूर्वकं भगवदनुज्ञया वह्नि-सन्तर्पणं कुर्यादित्याह—तमिति ॥ १०८-१०९ ॥

फिर साधक भगवान् का अर्चन कर अष्टाङ्ग प्रणिपात द्वारा उनको प्रणाम करे। तत्पश्चात् भगवान् का स्मरण कर वह्नि सन्तर्पण द्वारा उनके यजन की आज्ञा लेवे ॥ १०८-१०९ ॥

कुण्डं सुलक्षणं कृत्वा संस्कारैः संस्कृतं पुरा ॥ १०९ ॥
पूजयित्वार्घ्यपुष्पाद्यैस्तत्राग्निमवतार्य च ।
सुसमिद्धं च निर्धूमं संशुद्धं ताडनादिना ॥ ११० ॥
अर्घैर्निरम्बुकुसुमैः पूजयित्वा च भावयेत् ।
व्यस्तो गुणगणः षष्ठस्तेजो नाम गुणो हि यः ॥ १११ ॥
परस्य ब्रह्मणः सोऽयं सामान्यं सर्वतेजसाम् ।
ध्यात्वैवं नेत्रमन्त्रेण निक्षिपेत् कुण्डमध्यतः ॥ ११२ ॥
पावनैरिन्धनैः शुष्कैः कृत्वा निर्धूममेव तम् ।
समिद्भिरर्चयित्वाऽथ तन्मध्ये मन्त्रमण्डलम् ॥ ११३ ॥
ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथापूर्वं सन्तर्प्य सघृतैस्तिलैः ।
परिवारयुतं देवं सहस्रशतसंख्यया ॥ ११४ ॥
दद्यात् पूर्णाहुतिं सम्यग् होमसंख्यां निवेद्य च ।

वह्निसन्तर्पणक्रममाह—कुण्डमित्यारभ्य होमसंख्यां निवेद्य चेत्यन्तम् । सुलक्षणम् = एकादशपरिच्छेदोक्तलक्षणान्वितमित्यर्थः । संस्कारैः = षष्ठपरिच्छेदोक्तैः, उप-लेपनादिभिरित्यर्थः । पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पाद्यैरित्यत्रापि—"तदभ्यर्च्यार्घ्यपुष्पाद्यैर्ध्यायेत् तद्भद्रपीठवत्" (६।८३) इत्याद्युक्तप्रकारो ज्ञेयः । संशुद्धं ताडनादिनेत्यत्र—

सन्ताड्य चास्त्रमन्त्रेण प्रोक्षयेच्छिखया च तम् ॥
अर्चयेत् कवचेनैव कवचेनावकुण्ठ्य च ।

प्लावयेदमृतेनैव नेत्रमन्त्रेण नारद ॥
पूरकेणोपहृत्याथ स्वात्मन्युपशमं नयेत् । —(१५।६०-६२)

इति जयाख्योक्तास्ताडनादिसंस्कारा ग्राह्याः । संगृहीताश्चैवमीश्वरतन्त्रेऽपि । समिद्धिः = पूर्वोक्तसप्तसमिद्धिरित्यर्थः । मन्त्रमण्डलं = मूलमन्त्रादिमन्त्रसमूहमित्यर्थः । होमसंख्यां निवेद्य, मण्डलस्थाय भगवत इति शेषः ॥ १०९-११५ ॥

फिर आज्ञा लेने के पश्चात् एकादश परिच्छेद में कही गई विधि के अनुसार सुलक्षण कुण्ड निर्माण करे, षष्ठ परिच्छेद में कही गई विधि के अनुसार उपलेपनादि विधि से कुण्ड को संस्कार से सुसंस्कृत करे ॥ १०९ ॥

अर्घ्य, पुष्पादि से कुण्ड की पूजा करे । उसमें शास्त्रीय विधि के अनुसार अग्नि स्थापन करे । उसे अस्त्र मन्त्र से ताड़न द्वारा संशुद्ध कर निर्धूम तथा सुसमिद्ध बनावे ॥ ११० ॥

अर्घ्य तथा शुष्क कुसुमों से अग्नि की पूजा करे । उनका ध्यान करे । यह अग्नि परब्रह्म का षष्ठ तेज है जो सबसे विलक्षण एवं गुणों का समूह है । सभी तेजों में सामान्य तेज है । इस प्रकार नेत्र मन्त्र से अग्नि का ध्यान कर कुण्ड के मध्य में अग्नि स्थापन करे ॥ १११-११२ ॥

उस अग्नि में शुष्क इन्धन डाल कर उसे निर्धूम बनाना चाहिये । उसके मध्य में मन्त्रमण्डल का समिधाओं से अर्चन करे ॥ ११३ ॥

पुनः ध्यान करे, फिर अर्चन करे, तदनन्तर घृत सहित तिल से एक लाख की संख्या में परिवार युक्त देवाधिदेव नृसिंह को सन्तृप्त करे । फिर होम संख्या भगवान् को निवेदन कर अच्छी प्रकार से पूर्णाहुति प्रदान करे ॥ ११४-११५ ॥

ततः शुचीन् सोपवासान् शोधितान् बद्धलोचनान् ॥ ११५ ॥
भक्तान् प्रवेशयेत् तत्र गृहीतकुसुमांस्तु वै ।
प्रक्षेपयेन्मण्डलान्तर्नेत्रबन्धं विमुच्य च ॥ ११६ ॥
अष्टाङ्गप्रणिपातैस्तु प्रदक्षिणयुतैस्ततः ।
देवश्चाग्निर्गुरुः कुम्भः पूजनीयः पुनः पुनः ॥ ११७ ॥
तत्कालं भक्तिभावेन विज्ञाता योग्यता यदा ।
तीव्रमन्दादिकां तेषां तदा दीक्षां समाचरेत् ॥ ११८ ॥
जुहुयाद् व्यक्तसंशुद्धौ शतमष्टाधिकं तु वै ।
तिलानां तद्वदाज्यस्य द्वादशार्णेन बुद्धिमान् ॥ ११९ ॥
दद्यात् पूर्णाहुतिं पश्चान्मन्त्रमर्घ्यादिनार्च्य च ।
ततश्चाङ्गसमूहेन प्रागुक्तपरिसंख्यया ॥ १२० ॥
कुर्यादव्यक्तशुद्ध्यर्थं दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।

स्वरूपापादनार्थं तु मूलबीजेन वै तथा ॥ १२१ ॥
प्रणवादिनमोऽन्तेन कुर्याद् होममतन्द्रितः ।
ध्यात्वा निरस्तबन्धं तं शुद्धं शान्तं तु सर्वगम् ॥ १२२ ॥
समस्तसंवित्पूर्णं च दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।
मूलमन्त्रेण मन्त्रज्ञो भक्तानामनुकम्पया ॥ १२३ ॥

अस्मिन्नवसरे कर्तव्यं शिष्याणां नृसिंहमन्त्रदीक्षाक्रममाह—ततः शुचीनित्यारभ्य भक्तानामनुकम्पयेत्यन्तम् । शोधितान् पूर्वोक्तब्रह्मकूर्चप्रायश्चित्तादिभिः संशुद्धानित्यर्थः । प्रक्षेपयेत् तदञ्जलिस्थपुष्पाणीति शेषः । देवः = मण्डलस्थो देव इत्यर्थः । तत्कालं भक्तिभावेन = वक्ष्यमाणोत्पुलकानन्दबाष्पादिभक्तिसूचकेनेत्यर्थः । व्यक्तसंशुद्धौ = महदादिरूपेण स्थूलावस्थापन्नप्रकृतिशुद्ध्यमित्यर्थः । द्वादशार्णेन नृसिंहद्वादशाक्षरेणेत्यर्थः । अङ्गसमूहेन हृन्मन्त्रादिषट्केन । अव्यक्तशुद्ध्यर्थं = सूक्ष्मावस्थापन्नप्रकृतिशुद्ध्यर्थमित्यर्थः । स्वरूपापादनार्थं = चेतनशुद्ध्यर्थमित्यर्थः । मूलमन्त्रेण = नृसिंहबीजेनेत्यर्थः ॥ ११५-१२३ ॥

इसके बाद पवित्रता से पूर्ण कार्य, वचन, मन से सर्वथा शुद्ध जिनके नेत्र बँधे हुए हों ऐसे हाथ में पुष्प लिये हुए भक्तों का प्रवेश करावे । फिर उनका नेत्र खोल कर मन्त्र कुसुमाञ्जलि का उन्हीं से प्रक्षेप करावे ॥ ११५-११६ ॥

वे भक्त भगवान् को प्रदक्षिणा सहित अष्टाङ्ग प्रणाम करें, तदनन्तर देव, अग्नि, गुरु और कलश की पुनः पूजा करें ॥ ११७ ॥

इस प्रकार तत्काल भक्तिभाव देखकर जब गुरु उसकी योग्यता का ज्ञान कर लेवे, तब उत्तम और मन्द के क्रम से उन शिष्यों को दीक्षा प्रदान करे ॥ ११८ ॥

फिर स्थूलावस्थापन्न प्रकृति की शुद्धि के लिये द्वादशवर्ण के मन्त्र से एक सौ आठ बार तिल और घृत से बुद्धिमान गुरु होम करे ॥ ११९ ॥

फिर अर्घ्यादि द्वारा मन्त्र देवता को पूर्णाहुति प्रदान करे । पुनः इसके बाद हृन्मन्त्रादि छह मन्त्रों से अङ्गसमूहों को आहुति प्रदान करे ॥ १२० ॥

फिर सूक्ष्मावस्थापन्न प्रकृति की शुद्धि के लिये तथा स्वरूप की प्राप्ति के लिये नृसिंह बीज से पुनः होम करे ॥ १२१ ॥

उक्त पूर्णाहुति होम भगवान् को सर्वथा बन्धनरहित, शुद्ध, शान्त, सर्वग एवं समस्त संविदापूर्ण समझकर उनका ध्यान भक्तों के ऊपर प्रसन्न होने के लिये करना चाहिए ॥ १२२-१२३ ॥

शिष्याणां समयोपदेशप्रकारविधानम्

समयान् श्रावयेत् पश्चात् कुम्भेऽग्नौ मण्डले ततः ।
भक्त्या यया तु सम्प्राप्तमैहिकामुष्मिकं त्वया ॥ १२४ ॥

नास्याः कुर्याः परित्यागं कर्मणा मनसा गिरा ।
सध्यं विना न कुर्याद् वै स्नानादीनां च लोपनम् ॥ १२५ ॥
यावज्जीवं यथाशक्तिः संस्थितो यत्र कुत्रचित् ।
स्थानेषु हृदयाद्येषु कुर्यान्मन्त्रगणार्चनम् ॥ १२६ ॥
द्रव्यैः पुष्पाम्बुपूर्वैस्तु तदभावे तु वै हृदि ।
मानसीं पूर्ववत् पूजां निर्वपेन्न्यासपूर्विकाम् ॥ १२७ ॥
मन्त्रनाथं गुरुं मन्त्रं समत्वेनाभिवीक्षयेत् ।
मन्त्रमण्डलमुद्राणां परां गुप्तिं समाचरेत् ॥ १२८ ॥
दूरादेव नमस्कार्यो मृगराड् व्याघ्र एव वा ।
तदाकृतिर्मृगोऽन्यो वा तच्चर्म क्वापि नारुहेत् ॥ १२९ ॥
न चाक्रमेत पादेन न च तल्पादिकं स्पृशेत् ।
पद्मपत्रैस्तथाश्वत्थपर्णैर्भोजनभाजनम् ॥ १३० ॥
वर्जनीयं तथा शङ्खपद्माद्यङ्कितमासनम् ।
नक्तं वा परिपीडं वाऽप्येकादश्यां समाचरेत् ॥ १३१ ॥
विशेषपूजनं कुर्याद् द्वादशीष्वखिलासु च ।
अयनादिषु चान्येषु सूर्यसंक्रमणेषु च ॥ १३२ ॥
न भूतग्रहदुष्टानां व्याधीनां वा कदाचन ।
असिद्धेन स्वमन्त्रेण कुर्यादुत्सारणं तु वै ॥ १३३ ॥
मन्त्रजं सिद्धिलिङ्गं यत् स्वप्ने प्रत्यक्षतोऽपि वा ।
अनुभूतं न वक्तव्यं कस्यचिद् गुरुणा विना ॥ १३४ ॥
व्यक्तं नृसिंहबीजं तु दृश्यते यत्र कुत्रचित् ।
नमस्कुर्यात् समभ्यर्च्य वाक्पुष्पैः सप्रदक्षिणैः ॥ १३५ ॥
कृत्वाऽश्रुपातं शोकं वा विप्रयोगनिमित्ततः ।
स्नानादृते न कुर्याद् वै देवाग्निपितृतर्पणम् ॥ १३६ ॥
आ नाभिवर्धनात् कालादन्यत्र सति सङ्करे ।
सूतकाख्ये न कर्तव्यं प्रागुक्तं चेव यत्नतः ॥ १३७ ॥
स्वानुष्ठानं हि वै यस्मादागमात् समुपागतम् ।
तस्य सम्पूजनं यत्नाद् गोपनं च समाचरेत् ॥ १३८ ॥
ब्राह्मणादीन् यथाशक्ति दीनानाथांश्च पालयेत् ।
एवं हि समयान् दद्याद् भक्तानां भावितात्मनाम् ॥ १३९ ॥
सम्पालनाच्च येषां वै प्राप्नुयान्मन्त्रजं फलम् ।

अथ शिष्याणां समयोपदेशप्रकारमाह—समयान् श्रावयेत् पश्चादित्यारभ्य प्राप्नुयान्मन्त्रजं फलमित्यन्तम् । कुम्भमण्डलादिस्थितभगवद्विषयकया यया भक्त्या ऐहिकामुष्मिकफलसिद्धिर्भवति, तां भक्तिं करणत्रयेणापि न त्यजेदिति प्रथम-नियमार्थः । साध्यं विना औषधिसेवनादिकं विनेत्यर्थः । तल्पादिकं = व्याघ्रचर्म-कृततल्पादिकमित्यर्थः । न स्पृशेदित्यत्रापि पादेनेत्यनुषङ्गः । परिपीडं = शुद्धोपोषण-मित्यर्थः । आ नाभिवर्धनात् कालाद् अन्यत्र नाभिनालच्छेदनानन्तरमित्यर्थः । तत्पूर्वं सूतकाभावादिति भावः । तथा च जैमिनिः—

यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् ।
छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते ॥ इति ।

एवं च—

अत्र दद्यात् सुवर्णं वा भूमिं गां तुरगं रथम् ।
छत्रं छागं वस्त्रमाल्ये शयनं वासनं गृहम् ॥
धान्यं गुडं तिलं सर्पिरन्यद्वास्ति गृहे वसु ।
आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति ॥
तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि ।

इत्युक्तप्रकारेणापि स्पष्टमेव श्रीनृसिंहो भजनीय इति फलितोऽर्थः । मन्त्रमण्डलमुद्राणां गोपनं पूर्वमुक्तम् । स्वानुष्ठानमित्यनेन शास्त्रस्य गोपनमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥ १२४-१४० ॥

फिर गुरु उन शिष्यों को वैष्णव-धर्म के नियमों को इस प्रकार सुनावे—जिन कुम्भ अग्नि मण्डल पर स्थित भगवान् की भक्ति से आपने ऐहिक एवं आमुष्मिक समस्त कल्याणों की प्राप्ति की है । उन भगवान् की भक्ति का मन, वचन और कर्म से कदापि परित्याग न करना—यह प्रथम नियम है । साध्य (कारण) के बिना स्नानादि क्रिया का लोप नहीं करना—यह दूसरा नियम है । जीवन पर्यन्त यथाशक्ति जहाँ कहीं भी संस्थित रहे वहीं हृदयादि स्थानों में मन्त्रगणों का अर्चन करते रहना चाहिये ॥ १२४-१२६ ॥

यदि पुष्प, जलादि पूजा सामग्री हो तो उन्ही द्रव्यों से पूजन करे और उसके अभाव में हृदय में ही मानसी पूजा न्यास विधानपूर्वक करे ॥ १२७ ॥

मन्त्रनाथ, गुरु और मन्त्र में समान दृष्टि रखे । मन्त्र, मण्डल और मुद्रा को सर्वथा गुप्त रखे ॥ १२८ ॥

मृगराट् तथा व्याघ्र को देखकर उन्हें दूर से ही नमस्कार करे । उसकी आकृती के समान अन्य मृगादिकों को भी देखकर नमस्कार करे । उसके चर्म पर कदापि ने बैठे, न आरोहण करे ॥ १२९ ॥

पैर से स्पर्श भी न करे, व्याघ्र चर्मादि द्वारा निर्मित शय्या का पैर से स्पर्श न करे । कमल पत्र तथा अश्वत्थपत्र का पात्र न बनावे और न उस पर कदापि भोजन ही करे ॥ १३० ॥

जिस आसन पर शङ्ख और कमल का चिह्न हो उसे वर्जित करे उस पर न बैठे । रात्रि के समय अथवा एकादशी के दिन शुद्ध उपवास करे ॥ १३१ ॥

सम्पूर्ण द्वादशी तिथियों, उत्तरायण, दक्षिणायन में तथा सङ्क्रान्ति काल में विशेष पूजा करे ॥ १३२ ॥

यदि मन्त्र सिद्ध न किया गया हो तो उस असिद्ध मन्त्र से भूत एवं ग्रह से दूषितों का तथा व्याधियों का स्वतन्त्र रूप से उत्सारण कदापि न करे ॥ १३३ ॥

स्वप्न में, अथवा प्रत्यक्ष जिसे मन्त्र द्वारा सिद्धि के लक्षण दिखाई पड़ जावे, अथवा मन्त्र से अनुभूत हो जावे यह सिद्धि का चिह्न कदापि किसी से न कहे । किन्तु गुरु से कहा जा सकता है ॥ १३४ ॥

जहाँ किसी नृसिंह का बीज स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ जावे । उसे वाक्पुष्प से अर्चन करे, प्रदक्षिणा करे और नमस्कार करे ॥ १३५ ॥

किसी के विप्रयोग का निमित्त होने पर यदि अश्रुपात हो जावे, अथवा शोक हो जावे, तब बिना स्नान किये देवाग्नि पितृ तर्पण न करे ॥ १३६ ॥

जब तक नाभिनाल का छेदन न हो तब तक सूतक का दोष नहीं लगता । अन्यत्र साङ्कर्य हो जाने पर दोष लगता है । अत: पहले जितनी क्रियायें कही गई हैं उन्हें सूतक में तथा अन्य प्रत्यवायों में न करे ॥ १३७ ॥

जिस आगम से अपना अनुष्ठान सिद्ध हो, अथवा प्राप्त हो, उस आगम-शास्त्र का सर्वदा पूजन करे और सर्वदा गुप्त रखे ॥ १३८ ॥

अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणादि दीन तथा अनाथों का पालन करे । इस प्रकार संसारी शिष्य भक्तों के कल्याण के लिये गुरु उपदेश करे । जिनके कृपा प्रसाद से शिष्य मन्त्र जन्य फल प्राप्त करता है, उन गुरु का शिष्य को पूजन करना चाहिए ॥ १३९-१४० ॥

इष्ट्वैवं हि ततः कुर्यात् सेचनं कलशेन तु ॥ १४० ॥
आत्मनश्चानु भक्तानां नैवेद्यं प्रार्थयेत् ततः ।
ब्राह्मणाय च तद्दद्याद् न्यस्तमाहृत्य मन्त्रराट् ॥ १४१ ॥

शिष्यस्य महाकुम्भोदकेनाभिकेनाभिषेकमाह—इष्ट्वेत्यर्धेन। एतत्क्रमो विस्तरेण वक्ष्यमाणो ग्राह्यः ।

स्वानुयागार्थं कारिप्रदानार्थं च देवं हविः प्रार्थयेदित्याह—आत्मन इत्यर्धेन ।

कारिप्रदानमाह—ब्राह्मणायेत्यर्धेन । अत्रैकमूर्तेर्नृसिंहस्याराधनप्रकरणाद् ब्राह्मणायेत्येकवचनमुक्तम्, पूर्वं चातुरात्म्यार्चनप्रकरणात्—

सम्पूज्य गन्धधूपैश्च ततस्तु भगवन्मयान् ॥

यथाक्रमं समभ्यर्च्य नैवेद्यं प्रतिपाद्य च। (६।७४-७५) इति,
एवमुक्त्वा समभ्यर्च्य चतुरः पाञ्चरात्रिकान्॥ (१४।३०)

इति च चत्वारः कारिणः प्रोक्ता इति ज्ञेयम्। तत्राप्यशक्तावेक एवोक्तः सप्तमपरिच्छेदे (७।७८)। तदानीमेकस्यैव चतुर्मूर्त्यात्मकत्वं बोध्यम्। न्यस्तमन्त्राडाहृत्य हविषि न्यस्तं मन्त्रत्रयमुपसंहृत्येत्यर्थः। एवमेवोक्तं पारमेश्वरादिष्वपि-

विनिवेश्य च देवाय विन्यास्तानोदनोपरि॥
बलवीर्यादिसन्मन्त्रान् रसवीर्यादिवर्जितान्।
ओमित्युपाहरेन्मन्त्री ततः संहृतिमुद्रया॥ इति। (१८।३८७-३८८)
त्रय्यन्तज्ञानसम्पन्नान् यथोक्ताचारनिष्ठितान्।
समाहूयार्घ्यगन्धाद्यैः समभ्यर्च्य यथाक्रमम्॥
भगवच्छेषमादाय न्यस्तमाहृत्य मन्त्रपम्।
प्राङ्निवेदनकाले तु चतुर्धा संविभज्य तम्॥
प्रापणं मधुपर्काद्यमन्यच्चाभ्यवहारिकम्।
तेभ्यो दद्यादेकभागमर्घ्योदकपुरस्सरम्॥ इति।

पूर्व होमात् पूर्वं कारिप्रदानमुक्तम्, इदानीं होमानन्तरमपि कारिप्रदानस्योक्तत्वात् तस्य कालद्वयेऽन्यतरकर्तव्यत्वमुक्तं भवति॥ १४०-१४१॥

इसके पश्चात् गुरु कलशोदक से शिष्य का अभिषेक करे। फिर कार्यकर्त्ताओं को देने के लिये तथा अपने यज्ञ की सिद्धि के लिये भगवान् से नैवेद्य ग्रहण की प्रार्थना करे। इस प्रकार मन्त्रराज को निवेदित नैवेद्य प्रथमतः ब्राह्मण को ही देना चाहिए॥ १४०-१४१॥

क्षमापयेत् ततो देवं यत्र यत्रावतारितम्।
अथ शिष्टैस्तु नैवेद्यैर्यजेद् गणपतिं प्रभुम्॥ १४२॥

अपराधक्षमापणमाह—क्षमापयेदित्यर्धेन। यत्र यत्र कुम्भे मण्डलेऽग्नौ चेत्यर्थः।

फिर जहाँ-जहाँ कुण्ड, मण्डल और अग्नि में भगवान् को पधराया गया हो उन-उन स्थानों पर भगवान् से क्षमा प्रार्थना करे। फिर शेष नैवेद्यों से प्रभु गणपति का यजन करे॥ १४२॥

विष्वक्सेनाभिधानं चाप्यर्घ्याद्यैरर्चितो हि यः।
चरुरूपेण चान्नेन सोदकेन हृदा ततः॥ १४३॥
बहिराराधनस्थानात् प्रादक्षिण्येन निक्षिपेत्।
पूर्वादीशानपर्यन्तं मन्त्री भूतबलिं तदा॥ १४४॥

विष्वक्सेनार्चनमाह—अथेति। शिष्टैः कारिप्रदानावशिष्टैरित्यर्थः,

नैवेद्यैर्मधुपर्काद्यैर्मुख्यमूर्तेर्निवेदितैः॥
द्विजप्राशनशिष्टैस्तु स्वयं प्राशनवर्जितैः। (२०।१३-१४)

इति पौष्करे विष्वक्सेनार्चनप्रकरणे व्यक्तोक्तेः ॥ १४२-१४३ ॥

ततः कुमुदादिभूतेभ्यो बलिदानमाह—चरुरूपेणेति सार्धेन ॥ १४३-१४४ ॥

जिन अर्घ्यादिकों से विष्वक्सेन की पूजा की गई हो उन अर्घ्य सहित चरु रूप अन्नों को पूजा स्थान से बाहर दक्षिण दिशा की ओर सोदक ह्रद (तालाब या वापी) आदि में प्रक्षिप्त कर देवे । फिर मन्त्रज्ञ साधक पूर्व दिशा से आरम्भ कर ईशान पर्यन्त भूतबलि देवे ॥ १४३-१४४ ॥

ततो विसर्जनं कुर्यादुपसंहृत्य चाखिलम् ।
विनिक्षिप्याम्भसो मध्ये पत्रपुष्पफलादि यत् ॥ १४५ ॥
निष्कामः पावनार्थं तु स्तोकमुद्धृत्य वै पुरा ।
सन्धाय मन्त्रपूर्वं प्राक् तमश्नीयाच्च मौनवान् ॥ १४६ ॥

विसर्जनमाह—तत इत्यर्धेन । विसर्जनमत्र विष्वक्सेनस्येति बोध्यम् । भगवद्वि-सर्जनं तु विष्वक्सेनार्चनात् पूर्वमेव कार्यम्, तच्च—"क्षमापयेत् ततो देवं यत्र यत्राव-तारितम्" (१७।१४२) इत्यनेनैव सूचितं भवति । यता मण्डलेऽग्नौ च भगवद्विसर्ज-नानन्तरं तस्मिन्नेव स्थाने विष्वक्सेनः पूजनीय इति जयाख्यपञ्चदशपटले (१५।२४२-२५०) विस्तरेण एताद्विधानमुक्तम्, अत्रापेक्षितं च । उपसंहृत्य चाखिलं परिवार-देवतासमूहं च विसृज्येत्यर्थः ।

विष्वक्सेनार्चनानन्तरं पत्रपुष्पफलान्नादीनां जलमध्ये प्रक्षेपम्, स्वप्राशनार्थं किञ्चिदंशस्य तत्पूर्वमेव प्रत्येकं स्थापनम्, तदर्चनानन्तरं प्राशनं चाह—विनिक्षिप्येति सार्धेन । अत्र निष्काम इत्यनेन सकामस्य विष्वक्सेनार्चनानन्तरं प्रत्येकमुद्धृतस्यापि प्राशनं वर्ज्यमिति ज्ञायते । तथा च पञ्चरात्ररक्षायामागमप्रामाण्यवचनम्—

यतो भगवदर्थेन त्यक्तं स्रक्चन्दनादिकम् ।
पश्चादभोग्यतां याति विष्वक्सेनपरिग्रहात् ॥
अत एव निवेद्यादि ततः प्रागेव सात्वतैः ।
सेव्यते तेन तत् तेषामुत्कर्षस्यैव कारणम् ॥ (पृ० ८२-८३)

इति ॥ १४५-१४६ ॥

इसके अखिलकर्म का उपसंहार करके विश्वक्सेन का भी विसर्जन करे । फिर सम्पूर्ण पत्र पुष्पादि फलों को एकत्र कर जल के मध्य में फेंक देवे । विष्वक्सेन की पूजा के पहले अपने को पवित्र करने के लिये कामनारहित हो नैवेद्य का कुछ अंश अपने लिये निकाल कर रख लेवे । विष्वक्सेन के पूजन के पहले उसे मौन हो कर भोजन करे लेवे क्योंकि विष्वक्सेन की पूजा के बाद अलग कर रखे गये भी नैवेद्य का भोजन वर्जित है ॥ १४५-१४६ ॥

भोजनान्ते ततः कुर्यात् सम्प्राप्ते तु निशामुखे ।
मन्त्रजापं ततो ध्यानं तोयतर्पणपूर्वकम् ॥ १४७ ॥

तथैव रात्रिशेषं तु कालं सूर्योदयावधि ।
कर्तव्यं सजपं ध्यानं नित्यमाराधकेन तु ॥ १४८ ॥

अथ भोजनानन्तरमा सायं सद्ध्यानमन्त्रजपं सायंकाले जलमध्ये स्वमन्त्रार्चनतर्पणं तदारभ्य सूर्योदयावधि च सध्यानजपमाह—भोजनान्त इति द्वाभ्याम् ॥१४७-१४८॥

भोजन के अनन्तर सायङ्काल के समय जल से तर्पण कर मन्त्रजाप करे । फिर ध्यान करे । आराधक को रात्रिकाल के शेष काल से सूर्योदय पर्यन्त निरन्तर जप और ध्यान में व्यतीत करना चाहिये ॥ १४७-१४८ ॥

एवमेव विधानेन पूजयित्वा दिने दिने ।
जपेल्लक्षाष्टकं मन्त्री ततः सिद्ध्यति मन्त्रराट् ॥ १४९ ॥
ददाति मनसोऽभीष्टा सिद्धिः सर्वानुरूपकाः ।
रुद्रादित्येन्द्रऋषिभ्यो भक्तेभ्यश्च मयोदितम् ॥ १५० ॥

एवं प्रत्यहं भगवदर्चनपूर्वकं शिष्यैर्लक्षाष्टसंख्याके जपे कृते मन्त्रसिद्धिर्भवति, ततः स्वेष्टसिद्धिश्च भवतीत्याह—एवमेवेति सार्धेन ॥ १४९-१५० ॥

इस प्रकार दिन-प्रतिदिन पूजा कर मन्त्रज्ञ साधक आठ लाख की संख्या में जप करे । तब मन्त्रराज सिद्ध हो जाते हैं । सिद्ध हो जाने पर ये मन्त्रराज सर्वानुरूप मानसिक सिद्धियाँ प्रदान करते हैं ॥ १४९-१५० ॥

इसके अतिरिक्त जो बात यहाँ नहीं कही गई है उसे रुद्रादित्यादि के लिये एवं ऋषियों के लिये और भक्तों के लिये अन्यत्र कहा गया है । उसे वहाँ से ज्ञात कर कर्म करना चाहिए ॥ १५० ॥

लोकचित्तानुसारेण शास्त्रं वै युगभेदतः ।
यागो यागोपकरणं विमलं प्रतिपादिकम् ॥ १५१ ॥
ज्ञातव्यं तत् त्वया सम्यगविरोधेन सर्वदा ।
आगमेभ्योऽथ तज्ज्ञेभ्यः सकाशादात्मसिद्धये ॥ १५२ ॥

अनुक्तमन्यतो ग्राह्यमित्याह—रुद्रादित्येत्यादिभिः । अविरोधेन स्वोक्तार्थाविरोधेनेत्यर्थः ॥ १५०-१५२ ॥

उन स्थानों पर युगभेद से लोकचित्तानुसार वहाँ याग एवं यागोपकरण का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है ॥ १५१ ॥

हे सङ्कर्षण ! वे सभी बातें अपनी कही हुई बातों के अनुसार ही यहाँ कही गई हैं—किसी बात में कहीं कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । यहाँ आत्मसिद्धि के लिये आगमशास्त्र के अनुसार जो नृसिंहानुष्ठान के पूर्ण ज्ञाता हैं उनसे जान कर सभी बातें कही गई हैं ॥ १५२ ॥

अथोक्तमिह संक्षेपाद् वदेदन्यत्र विस्तरात् ।
अथ संसाधितं मन्त्रं ब्रह्मचर्यादिसंयमैः ॥ १५३ ॥
पयोयावकशाकाम्बुघृतमूलफलाशनैः ।
मन्त्री यथा प्रयुञ्जीयाच्छान्तिकादिषु तच्छृणु ॥ १५४ ॥

एवं पयोयावकादिप्राशनब्रह्मचर्यनियमैः साधितस्य मन्त्रस्य शान्तिकादिषु प्रयोगक्रमं शृण्वित्याह—अथेति द्वाभ्याम् ॥ १५३-१५४ ॥

यहाँ संक्षेप में कहा गया है । अन्यत्र विस्तार से कहा गया है । अब दूध यावकादि प्राशनपूर्वक ब्रह्मचर्यादि नियमों द्वारा साधित मन्त्र का शान्तिकादि कर्म में जिस प्रकार अनुष्ठान किया जाता है, हे सङ्कर्षण ! उसे सुनिये ॥ १५३-१५४ ॥

शान्तिविधानम्

ज्ञात्वादौ स्वशरीरोत्थैर्लौकिकैरपि लक्षणैः ।
प्राप्तेन स्वप्नयोगेन संस्थितिं जीवितस्य च ॥ १५५ ॥
ततः शल्यविनिर्मुक्तं स्थानमासाद्य शोभनम् ।
संच्छन्नं शरजालेन साम्बरेणाथवा गृहम् ॥ १५६ ॥
तत्र मण्डलमालिख्य सर्वोपकरणान्वितम् ।
चन्दनक्षोदयुक्तेन शशिना सहितेन च ॥ १५७ ॥
सुगन्धशालिचूर्णेन प्रागुदीरितलक्षणम् ।
निर्व्रणं लक्षणाढ्यं च पूरितं गालिताम्भसा ॥ १५८ ॥
हेमरत्नौषधीवृक्षशाखादूर्वाफलोदरम् ।
धूपिताहतशुष्केण वाससा परिवेष्टितम् ॥ १५९ ॥
सुसमाधारसंस्थं च बाह्यतो मण्डलस्य च ।
विन्यसेत् समसूत्रेण दिग्विदिक्कलशाष्टकम् ॥ १६० ॥
सुधाचन्दनलिप्ताङ्गं लाजतण्डुलपूरितम् ।
श्वेतपट्टगलोपेतं सितपुष्पस्रगन्वितम् ॥ १६१ ॥
मुक्तफलोदरं चैव बीजमल्लकभूषितम् ।
उपकुम्भाष्टकं त्वेवं कुम्भानामुपरि न्यसेत् ॥ १६२ ॥
श्वेतचामरसंयुक्तं सितमूर्ध्ववितानकम् ।
बद्ध्वा सितेन सूत्रेण सप्तधा कलशाष्टकम् ॥ १६३ ॥
संवेष्ट्य कण्ठदेशान्तं त्वच्छिन्नेन दृढेन च ।
कृत्वैवं च ततः स्नायात् कुर्यान्न्यासादिकं ततः ॥ १६४ ॥
निशाम्बुना चन्दनेन श्वेतदूर्वाङ्कुरेण च ।

सुश्लक्ष्णभूर्जपत्रे तु नाम सान्तर्गतं लिखेत्॥ १६५ ॥
अरान्तोपगतेनैव कुर्याद् बीजेन संयुतम्।
कमलं तद्बहिर्लेख्यमष्टपत्रं सकर्णिकम्॥ १६६ ॥
नाभितुर्यमधोवक्त्रं वर्णपत्राष्टकं लिखेत्।
तदन्तस्तच्चतुर्थान्तिं मन्त्रेशं च लिखेत् परम्॥ १६७ ॥
नतिप्रणवगर्भं तु ततः कमलबाह्यगम्।
विलिख्य नेमिनवमं द्विधोर्ध्वाधोमुखं तु वै॥ १६८ ॥
संवेष्ट्य सितसूत्रेण अर्घ्यकुम्भे निवेशयेत्।
आधारे शालिचूर्णीये मण्डलाग्रे निधाय तम्॥ १६९ ॥
आवाह्य मण्डले मन्त्रं प्राग्वद् हृदयकोटरात्।
ततः श्वेतोपचारेण तत्र मन्त्रेश्वरं यजेत्॥ १७० ॥
पूर्णेन्दुमण्डलान्तस्थमुद्गिरन्तं सुधारसम्।
शशाङ्कशतसङ्काशं ध्यात्वा सपरिवारकम्॥ १७१ ॥
यच्छ यच्छ महाशान्तिं पूजान्ते समुदीरयेत्।
ततः शशाङ्कदिग्भागे कुण्डे पूर्णेन्दुलक्षणे॥ १७२ ॥
क्षीरतण्डुलमध्वाज्यैर्गुग्गुलेन तिलेन च।
सचन्दनेन होमं तु सप्तरात्रं समाचरेत्॥ १७३ ॥
पयोभुक् परमेशं च प्रहराष्टकमर्चयेत्।
होमान्ते कलशस्थस्य पयसा शीतलेन तु॥ १७४ ॥
सेचनं चाम्भसा कुर्यात् प्रत्यहं प्रहराष्टकम्।
स्नानान्ते ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वे संस्मरेन्मन्त्रनायकम्॥ १७५ ॥
स्रवन्तममृतं त्वेवं शान्तिर्भवति शाश्वती।
अथवाऽऽदाय मृत्पात्रं वैदलं वाऽथ काष्ठजम्॥ १७६ ॥
तत्र पङ्कजवत् कुर्याद् रचनामोदनेन च।
पिष्टनिर्मितपात्राणां सम्प्रज्वाल्य घृतेन तु॥ १७७ ॥
दीपाष्टकं ततः पूजां कुर्यात् पूजादिकैर्बलैः।
स्विन्नानि सप्तबीजानि विकीर्य च तदूर्ध्वतः॥ १७८ ॥
ततोऽर्चिते तोयकुम्भे धूपपात्रं तु विन्यसेत्।
अच्छिन्नधूपप्रसरं त्रैकाल्यं च बलिं हरेत्॥ १७९ ॥
शान्त्यर्थं देशपालानां भूतानामेवमेव हि।
पृष्ठे चोदकधारां वै अच्छिन्नां पदसप्तकम्॥ १८० ॥

शान्तये बलिमन्त्राणामस्त्रमन्त्रेण पातयेत् ।
इति शान्तिविधानं च पौष्टिकं च निबोधतु ॥ १८१ ॥

पूर्वं शान्तिविधिमाह—ज्ञात्वेत्यारभ्य इति शान्तिविधानं चेत्यन्तम् । शशिना = कर्पूरेण । नाम = साध्यनामधेयमित्यर्थः । साध्यनामधेयप्रकारः पारमेश्वरे प्रतिपादितः—

साध्यनामस्वरूपं तु व्यापकं वक्ष्यते पुनः ॥
तारान्ते बीजशक्तिश्च देवतं तस्य चेत् ततः ।
शान्तिं पुष्टिं च वश्यं च विजयं चैवमादिकम् ॥
द्वितीयान्तं समुच्चार्य कुरुवीप्सान्वितं ततः ।
यच्छ-यच्छ-पदान्तं वा प्राक्स्थितैः प्रणवान्तिमैः ॥
अङ्कयेदवसाने च साध्यलक्षणमीरितम् ॥
—(२४।११६-११९) इति ।

सान्तर्गतं = सकारान्तर्गतमित्यर्थः । अरान्तोपगतेन बीजेन, अमुस्वारेणेत्यर्थः । नाभितुर्यं वकारम्, तच्चतुर्थान्तं नाभिचतुर्थान्तम्, वकारान्तमिति यावत् । मन्त्रेशं श्रीनृसिंहबीजम् । नेमिनवमं = टकारमित्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—आदौ स्वशरीरोत्थैर्लौकिककैर्लक्षणैः प्राप्तेन स्वप्नयोगेन च जीवितस्य संस्थितिं ज्ञात्वा सर्वशल्यविनिर्मुक्तं शोभनं स्थानमासाद्य केवले(न) शरजालेन सवस्त्रेण वा समाच्छादितं यागगेहं परिकल्प्य तत्र मध्ये वेदिकायां चन्दनचूर्णमिश्रेण कर्पूरसहितेन सुगन्धशालिचूर्णेन—

चतुरश्रं चतुर्द्वारं मार्गपीठाब्जभूषितम् ॥
त्रिनाभिनेमिषडरं चक्रं तु कमलाद् बहिः । (१७।४९-५०)

इत्युक्तलक्ष(ण णं) मण्डलमालिख्य नि(पु र्व्रणं) सलक्षणं गालितोद(कं क)-पूर्णं हेमरत्नसर्वौषधिपल्लवदूर्वाफलपूरितं सुधूपिताहतशुक्लवस्त्रपरिवेष्टितं महाकु(म्भ म्भं) मण्डलस्य बहिः पूर्वभागे आधारचक्रिकोपरि संस्थाप्य तत्परितोऽष्टदिक्ष्वपि तथाविधं कलशाष्टकं विन्यस्य सुधाचन्दनलिप्ताङ्गं तण्डुलपूरितं शुक्लकौशेय परिवेष्टितकण्ठं शुक्लपुष्पमालिकालङ्कृतं मुक्ताफलोदरं बीजपूरितशरावपिहितमुप-कुम्भाष्ट (क कं) दिक्कलशानामुपरि विन्यस्य यागगेहं श्वेतचामरसंयुक्तसितदुकूल-वितानकैरलङ्कृत्याच्छिन्नेन दृढेन सितेन सूत्रेण कलशाष्टकं कण्ठदेशान्तं सप्तवारं परितः संवेष्टयेत् । एवं सर्वोपकरणानि सम्पाद्य यथाविधि स्नात्वा मन्त्रन्या, सादिकं कृत्वा हरिद्रोदकविमिश्रितेन चन्दनेन दूर्वाङ्कुरेण लेखिन्या सुश्लक्षणे भूर्जपत्रमध्ये सकारान्तर्गतं साध्यनाम विलिख्य, तद्बहिः सकर्णिकमष्टपत्रं कमलं विलिख्य पत्राष्टकेऽधोवक्त्रं वकारं विलिख्य तदन्तः प्रणवनमःसम्पुटितं वकारान्वितं नृसिंहबीजं विलिख्य कमलाद् बहिरूर्ध्वमुखमधोमुखं च संख्याहीनं टङ्कारमूर्मिकारूपेण परितः संलिख्य तद्यन्त्रं सितसूत्रेण संवेष्टयार्घ्यकुम्भे निधाय मण्डलाग्रे शालिचूर्णपरिकल्पिते स्थण्डिले तं कुम्भं निधाय, मण्डले स्वहृदयान्मन्त्रनाथमावाह्य, तत्र श्वेतैरुपचारैरभ्यर्च्य,

पूर्णेन्दुमण्डलान्तस्थं सुधारसमुद्‌गिरन्तं शशाङ्कशतसंकाशं सपरिवारं मन्त्रनाथं ध्यात्वा, पूजान्ते महाशान्तिं यच्छ यच्छेति प्रार्थयेत् । तत उत्तरदिग्भागे पूर्णेन्दुसदृशे वृत्तकुण्डे क्षीरतण्डुलमधुघृतगुग्गुलतिलचन्दनैः सप्तभिर्द्रव्यैः सप्तरात्रं होममाचरन् केवलपयः-प्राशनं कुर्वन्, परमेशं मन्त्रनाथं प्रत्यहं प्रहराष्टकेऽप्यर्चयन्, होमान्ते कलशस्थस्य भगवतः पयसा शीतलोदकेन च प्रहराष्टकेऽपि सेचनं कुर्वन्, प्रत्यहं स्नानान्ते साधकस्य ब्रह्मरन्ध्रोपर्यमृतं स्रवन्तं मन्त्रनाथं स्मरेत् । अनेन शान्तिर्भवति ।

अथवा मृण्मयं वैदलं काष्ठजं वा पात्रमादाय तत्र केवलान्नेनाष्टपत्रं कमलं विरचय्य तद्दलाष्टके पिष्टनिर्मितघृतपूरितप्रज्वालितदीपाष्टकं विन्यस्य पुष्पादि-भिरभ्यर्च्य स्विन्नानि सप्तविधबीजानि तदुपरि विकीर्यैकं तोयकुम्भमभ्यर्च्य तदुपरि धूपपात्रं निधायाच्छिन्नधूपप्रसरं यथा तथा कालत्रयेऽपि देशपालानां भूतानां बलिं हरेत् । बलिधर्तॄणां पृष्ठे सप्तपदावधि शान्त्यर्थमच्छिन्ना करकोदकधारामस्त्रमन्त्रेण सेचयेत् ॥ १५५-१८१ ॥ इति शान्तिविधिः ॥

अब सबसे पहले **शान्तिविधि** कहते हैं—साधक अपने शरीर में होने वाले लौकिक लक्षणों से, अथवा स्वप्नयोग के लक्षणों से, जीवन की स्थिति का ज्ञान कर किसी उपद्रवरहित शोभन स्थान में जाकर केवल शरपत से आच्छादित किसी स्थान में, अथवा वस्त्र से आच्छादित किसी स्थान में जाकर, वहाँ यागगृह का निर्माण करे । उसके मध्य में वेदी निर्माण कर, उस वेदी पर चन्दनचूर्ण, कर्पूर तथा सुगन्धि शालिचूर्ण को एक में मिश्रित कर, पहले जैसा कहा गया है वैसा, उत्तमोत्तम लक्षण युक्त मण्डल निर्माण करे । फिर उस मण्डल के बाहर पूर्वभाग में सुलक्षण कलश जो वस्त्र से छाने गये जल से पूर्ण हो, हेमरत्न, सर्वौषधि एवं पञ्चपल्लव और दूर्वाफल से पूर्ण हो और सुधूपित नवीन शुक्ल वस्त्र से परिवेष्टित हो ऐसे कलश को आधार चक्र के ऊपर स्थापित करे । उसके आठों दिशाओं में वैसा ही सुलक्षण आठ कलश स्थापित करे । उसे चन्दन तथा चूने से अनुलिप्त करे । तण्डुल (= चावल) से परिपूर्ण करे । शुक्ल रेशमी वस्त्र से तथा शुक्ल माला से उसका कण्ठ परिवेष्टित करे । उन कलशों के ऊपर मोती, चावल एवं बीज पूर्ण शराव (पुरवा) स्थापित करे । इस प्रकार आठो दिशाओं के कलशों पर उपकुम्भाष्टक स्थापित कर याग गेह को भी श्वेत चामर संयुक्त एवं श्वेत वस्त्र निर्मित दुकूल वितान से अलङ्कृत करे तथा उसे आच्छन्न कर, दृढ़ श्वेत सूत्र से उस कलशाष्टक के कण्ठ प्रदेश को सात बार चारों ओर से लपेट देवे ॥ १५५-१६४ ॥

तदनन्तर यज्ञ की समस्त सामग्री एकत्रित कर यथाविधि स्नान करे । फिर मन्त्रन्यास कर, हरिद्रा मिश्रित चन्दन से, दूर्वाङ्कुर की लेखनी से, अत्यन्त चिकने भोजपत्र पर, सकारान्त साध्य नाम लिखकर, उसके बाहर कर्णिका सहित अष्टपत्र कमल लिखे । उसके आठो पत्रों पर अधोमुख वकार लिखकर, उसके भीतर प्रणव एवं नमः सम्पुटित वकारान्वित नृसिंह बीज लिखकर, कमल के बाहर ऊर्ध्वमुख एवं अधोमुख संख्या रहित टकार का ऊर्मिका रूप से चारों ओर लिखकर उस

यन्त्र को सफेद सूत्र से वेष्टित करे । उसे अर्घ्य वाले कुम्भ पर रखकर मण्डल के अग्रभाग में शालि के चूर्ण से निर्मित स्थण्डिल (वेदी) पर स्थापित करे । मण्डल पर अपने हृदय से मन्त्रनाथ का आवाहन कर, श्वेत उपचारों से उसकी पूजा कर, पूर्णेन्दुमण्डल में स्थित सुधा समुद्र का उद्गिरण करते हुए सैकड़ों चन्द्रमा के प्रकाश के समान सपरिवार मन्त्रनाथ का ध्यान करे । फिर पूजा करे और पूजा के अन्त में 'महाशान्तिं यच्छ यच्छ' ऐसी प्रार्थना करे । फिर उसके उत्तर दिग्भाग में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान निर्मित वृत्तकुण्ड में दूध, चावल, मधु, घृत, गुग्गुल, तिल और चन्दन इन सात पदार्थों से सात रात तक होम करे । केवल दूध पीकर रहे । परमेश्वर मन्त्रनाथ का प्रतिदिन आठों प्रहर अर्चन करे । होम के अन्त में प्रतिदिन कलश स्थित भगवान् को शीतलोदक से आठों प्रहर सेचन करे । प्रतिदिन स्नान के बाद साधक के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र से अमृत की वर्षा करते हुए मन्त्र नाथ का स्मरण करे इस विधि से शान्ति हो जायेगी ॥ १५५-१७५ ॥

अब **शान्ति का दूसरा विधान** कहते हैं—मिट्टी का, अथवा पत्ते का, अथवा काष्ठ का पात्र लेकर केवल अन्न से अष्टपत्र कमल का निर्माण करे । उस अष्टपत्र पर पिष्ट निर्मित धृत पूर्ण प्रज्ज्वलित आठ दीपक स्थापित करे । फिर पुष्पादि से उसकी पूजा कर आर्द्र सप्तविध बीज उसके ऊपर विकीर्ण (फैलावे) करे । फिर एक जलपूर्ण कलश की पूजा कर उसके ऊपर धूप पात्र स्थापित कर अविच्छिन्न रूप से उस पर धूप जलाते रहे । इस प्रकार तीनों कालों तक देश के पालक भूतों को बलि देवे । बलि देने वाले के पीठ को सात पद पर्यन्त शान्ति के लिये अविच्छिन्न रूप से करकोदक (करवा के जल की) धारा द्वारा अस्त्र मन्त्रों के साथ बलि मन्त्रों से सींचते रहे ॥ १७६-१८१ ॥

पौष्टिकविधानम्

कुङ्कुमक्षोदमिश्रेण कुसुम्भरजसा तु वै ।
पूर्ववन्मण्डलं कुर्याद् रक्तचन्दनभूषितम् ॥ १८२ ॥
नीवारतण्डुलेनैव ताम्रवर्णैस्तिलैः शुभैः ।
सम्पूर्य बदरोपेतैरुपकुम्भाष्टकं हि यत् ॥ १८३ ॥
सोपकुम्भानि कुम्भानि रक्तसूत्रेण वेष्ट्य च ।
शेषं यद्विहितं चात्र तत्तद् रक्तं प्रकल्पयेत् ॥ १८४ ॥
ततः स्नातः कृतन्यासो नाम रोचनया लिखेत् ।
अलक्तकाम्बुयुक्तेन सान्द्रदर्भाङ्कुरेण तु ॥ १८५ ॥
पूर्ववत् पद्मगर्भस्थं ततः पत्रेष्वधोमुखम् ।
बीजं नियोजयेत् तन्मे गदतश्चावधारय ॥ १८६ ॥
नेमेरेकोनविंशाख्यवर्णस्याधोगतं न्यसेत् ।

बीजं नाभितृतीयं यत् तदधः पञ्चमारगम् ॥ १८७ ॥
शिरसाऽरान्तपूर्वेण युक्तं बाह्याद् दशादिना ।
तदन्तस्थं न्यसेद् बीजं नाभितुर्यासनस्थितम् ॥ १८८ ॥
नाभिसप्तमगर्भेऽथ विन्यसेत् कमलं तु तत् ।
बीजं पुष्टिपदोपेतं कुरुवीप्सासमन्वितम् ॥ १८९ ॥
लिखेत् प्रणवपूर्वं तु बहिरष्टासु दिक्षु वै ।
संवेष्ट्य रक्तसूत्रेण मधुतोयघटे न्यसेत् ॥ १९० ॥
निधाय पूर्ववत् कुर्याद् दिग्बन्धं हृदयादिकैः ।
अस्त्रेण तु विदिग्बन्धं नेत्रेणोर्ध्वमधस्तथा ॥ १९१ ॥
ततो विद्रुमसंकाशं मन्त्रमावाह्य संयजेत् ।
अथो मन्त्रगणं सर्वं लोके शास्त्रान्तसंयुतम् ॥ १९२ ॥
रक्तैरकण्टकैर्हृद्यैरर्चनं कुसुमैर्हितम् ।
राजमुद्गैस्तु नैवेद्यं युक्तमत्र गुलोदनम् ॥ १९३ ॥
गुलरञ्जितभक्ष्याणि कुर्यान्नानाविधानि वै ।
सम्भवे सति वै रक्तं सर्वं कार्यमसम्भवे ॥ १९४ ॥
रञ्जयेत् कुङ्कुमाद्येन केनचिद् रक्तधातुना ।
सर्वं जपावसानं तु कृत्वा होमं समाचरेत् ॥ १९५ ॥
घृतैस्तिलैस्तु पूर्वोक्तैः शर्कराबदरान्वितैः ।
दत्त्वा पूर्णाहुतिं कुर्यात् सेचनं शर्कराम्भसा ॥ १९६ ॥
पूर्ववन्मन्त्रनाथस्य साध्यगर्भीकृतस्य च ।
ततः पूर्वोक्तविधिना बलिकर्म समाचरेत् ॥ १९७ ॥
सप्तरात्रं त्रिरात्रं वा पुष्टिरुत्पद्यते महत् ।
प्रभावान्मन्त्रराज्यस्य विधिनानेन सर्वदा ॥ १९८ ॥

अथ पौष्टिकविधिमाह—पौष्टिकं च निबोधतु इत्यारभ्य विधिनानेन सर्वदेत्यन्तम् । नाम = साध्यनामधेयम् । पूर्ववत् पद्मगर्भस्थं लिखेत्, कर्णिकामध्ये लिखेदित्यर्थः । नेमेरेकोनविंशाख्यवर्णस्य बकारस्य नाभितृतीयं बीजं लकारं पञ्चमारगम् उकारमरान्तपूर्वेणानुस्वारेण बाह्याद् दशादिना टकारेणेत्यर्थः । नाभितुर्यासनस्थितं पूर्ववद् वकारस्योपरि स्थितं बीजं नृसिहबीजं तदन्तस्थं न्यसेत्, कर्णिकामध्ये विलिखेदित्यर्थः । नाभिसप्तमगर्भे = सकारगर्भे इत्यर्थः । बीजं = नृसिंहबीजम् । पुष्टिपदोपेतं कुरुवीप्सासमन्वितं 'पुष्टिं कुरु कुरु' इत्यनेनान्वितमित्यर्थः ।

तथा च प्रयोगः—कुङ्कुमक्षोदमिश्रेण कुसुम्भरजसा पूर्ववन्मण्डलमालिख्य रक्तचन्द्रकभूषितं कृत्वां कुम्भस्थापनादिकं सर्वं पूर्ववत् कृत्वोपकुम्भाष्टकं तु नीवारतण्डुलै-

स्ताम्रवर्णैस्तिलैर्बदरीफलैरापूर्य दिक्कुम्भानामुपरि संस्थाप्य (तां तान्) रक्तसूत्रेण सप्तधा संवेष्टयेत् । अन्यच्चोपयुक्तं यद्यत् तत्सर्वमपि कल्पयेत् । ततः स्नात्वा कृत-न्यासादिकोऽलक्तकाम्बुमिश्रया रोचनया दृढदूर्वाङ्कुरेण लेखिन्या भूर्जपत्रे पद्मगर्भमध्ये साध्यनाम विलिख्याष्टपत्रेष्वधोमुखं ब्लूमिति बीजं विलिख्य परितः पूर्ववत् टङ्कारं विलिख्य पूर्ववद् वकारान्वितं नृसिंहबीजं कर्णिकान्तर्विलिख्य तत्कमलं सकारगर्भे विन्यस्य तदष्टदिक्षु ॐ पुष्टिं कुरु कुर्विति विलिख्य तद्यन्त्रं रक्तसूत्रेण संवेष्ट्य मधु-तोयकुम्भे विन्यस्य तं पूर्वोक्तस्थाने निधाय हृदादिभिश्चतुर्मन्त्रैः प्रागादिदिक्चतुष्टय-मस्त्रमन्त्रेण विदिक्चतुष्टयमस्त्रमन्त्रेणाध ऊर्ध्वं च बद्ध्वा ततो देवमावाह्य विद्रुमाभं ध्यात्वा पूर्वं मण्डलोक्तेन परिवारमन्त्रगणेन सह रक्तवर्णैः कुसुमादिभी राजमुद्गाख्यै-र्बीजैर्गुलोदनैर्गुलरञ्जितभक्ष्यैश्च यथाविधि देवं यजेत् । एवं च सर्वमुपचारगणं रक्तवर्णं कुर्यात् । तदसंभवे कुङ्कुमादिना गैरिकादिधातुना वा रक्तीकुर्यात् । एवं जपयज्ञान्तम-भ्यर्च्य घृतैः शर्कराबदरफलान्वितैस्ताम्रवर्णैस्तिलैश्च यथाविधि पूर्णाहुत्यन्तं हुत्वा पूर्व-वत् कुम्भस्थस्य देवस्य शर्कराम्भसा सेचनं कृत्वा पूर्वोक्तरीत्या बलिकर्म च कुर्यात्। एवं सप्तरात्रं त्रिरात्रं वा कृते मन्त्रमहिम्ना महती पुष्टिरुत्पद्यते ॥ १८१-१९८ ॥ इति पौष्टिकविधिः ॥

यहाँ तक शान्तिविधान कहा गया अब **पौष्टिकशान्ति का प्रकार** कहते हैं । कुङ्कुम के चूर्ण से मिश्रित कुसुम्भ के रज से पूर्ववत् मण्डल निर्माण करे । फिर उसे रक्त चन्दन के चूर्ण से भूषित करे ॥ १८२ ॥

फिर उस पर आठ दिशाओं में आठ कुम्भ स्थापित करे । उन आठों कुम्भों पर आठ उपकुम्भ (पुरवा), नीवार, तण्डुल, शुभ ताम्रवर्ण के तिल और बदरी (बैर) फलों से परिपूर्ण कर स्थापित करे । तदनन्तर लाल वर्ण के सूत्र से उन्हें सात बार परिवेष्टित करे और जो-जो उपयुक्त हो, उसे भी वहाँ स्थापित करे । तदनन्तर स्वयं स्नान कर न्यास करे । फिर अलक्तक जल से मिश्रित हल्दी के चूर्ण से पुष्ट दूर्वाङ्कुर की लेखनी से भोजपत्र पर लिखे गये अष्टदल के कमल मध्य में साध्य नाम लिख कर आठों पत्तों पर अधोमुख 'ब्लूं' (= नेमेरेकोनविंशाख्यवर्ण बकार, नाभि तृतीय लकार, पञ्चमारग उकार), इस बीज मन्त्र को लिखे उसके चारों ओर पूर्ववत् 'टं'कार (= दशादिना) लिखकर वकार युक्त (= नाभितुर्य) नृसिंह बीज कर्णिका के मध्य में लिखे उस कमल को दो सकार (= नाभिसप्तम) के मध्य में लिख कर उसके आठों दिशाओं में 'ॐ पुष्टिं कुरु कुरु' ऐसा लिखकर उस यन्त्र को लाल सूत्र से वेष्टित मधु मिश्रित जल कलश में स्थापित करे । पुनः पूर्वोक्त स्थान में रखे । फिर हृदादि चार मन्त्रों से पूर्वादि चारों दिशाओं में तथा अस्त्र मन्त्र से चारों विदिक् (कोणों) दिशाओं में, फिर नीचे ऊपर उस यन्त्र को बाँध कर श्रीनृसिंह देव का आवाहन करे । विद्रुम के आकार में उनका ध्यान करे ॥ १८३-१९२ ॥

पूर्व में मण्डल स्थान पर कहे गये परिवार मन्त्र गण के साथ रक्तवर्ण के पुष्पादिकों से, राजमुद्ग नामक बीज से, गुगुल आदि भक्ष्य पदार्थों से विधि के

अनुसार उन भगवान् नृसिंह का पूजन करे । इस प्रकार भगवान् की पूजा रक्त वर्णों के उपचारों से सम्पादित करे । यदि रक्तोपचारों का प्राप्त होना संभव न हो, तब कुङ्कुमादि से तथा गैरिकादि धातुओं से रंग कर पूजा करे ॥ १९२-१९५ ॥

इस प्रकार जप यज्ञ के अन्त में पूजन कर फिर घृत, शर्करा, बदरीफल मिश्रित ताम्रवर्ण के पीली तिलों से यथाविधि पूर्णाहुति के अन्त में हवन कर पूर्व स्थापित कुम्भ मध्यस्थ देव का शर्करा जल से सेचन करे और पूर्वोक्त रीति से बलिदान कर्म करे । इस प्रकार सात रात, अथवा तीन रात तक अनुष्ठान करने से मन्त्र की महत्ता से साध्य को महान् पुष्टि प्राप्त होती है । यहाँ तक पौष्टिक विधि कही गई ॥ १९५-१९८ ॥

आप्यायनविधिकथनम्

अथानेन हि मन्त्रेण कुर्यादाप्यायनं तु वै ।
परस्य चात्मनो मन्त्री यथा तदवधारय ॥ १९९ ॥
मण्डलं मण्डनायुक्तं चतुर्वर्णकभूषितम् ।
वस्त्रस्रग्दर्पणोपेतं किङ्किणीव्यजनान्वितम् ॥ २०० ॥
घृतेन मधुना दध्ना पयसा सुश्रितेन च ।
व्यस्तेन उपकुम्भौ तु द्वौ द्वौ सम्पूर्य यत्नतः ॥ २०१ ॥
मधूकफलकर्पूरद्राक्षामलफलैस्ततः ।
पात्राण्यापूर्य कुम्भानां वक्त्रदेशे निधाय च ॥ २०२ ॥
साङ्कुराणि शरावाणि सिक्तानि शिशिराम्भसा ।
सुधाचन्दनलिप्तानि सितपुष्पान्वितानि च ॥ २०३ ॥
चर्चितानि सितार्घ्येण योज्य कुम्भान्तरावनेः ।
सितरक्तं तु हेमाभं पुष्पाद्यमखिलं हि यत् ॥ २०४ ॥
उपचारे तु विहितं तदाहृत्याखिलं तु वै ।
कृताह्निकः शुद्धवासाःसिंहमन्त्राभिधानधृक् ॥ २०५ ॥
सकुङ्कुमेन क्षीरेण ईषदिक्षुरसेन च ।
तथा च मधुना भूर्जे वस्त्रे वा सार्णमध्यगम् ॥ २०६ ॥
दत्त्वा संज्ञापदं कुर्याद् बाह्ये पद्मं चतुर्दलम् ।
तद्बहिर्द्विगुणैः पत्रैः कर्णिकाकेसरान्वितम् ॥ २०७ ॥
द्विषट्कपत्रं तदनु तद्बहिः षोडशच्छदम् ।
ततस्त्रिरष्टपत्रं तु तद्बाह्ये वृत्तमालिखेत् ॥ २०८ ॥
अधोमुखं तु सर्वेषां दलानां बीजपञ्चकम् ।

क्रमेण पूर्वपद्मात् तु योजनीयं हि तच्छृणु ॥ २०९ ॥
नाभिसप्तमवर्णं यन्नाभितुर्योपरि स्थितम् ।
उत्तराधरयोगेन तदेवादाय वै पुनः ॥ २१० ॥
अथ नाभितृतीयं तु अधो द्वाभ्यां तु विन्यसेत् ।
अधःस्थं सप्तमं नाभेस्तच्चतुर्थं तु मूर्धनि ॥ २११ ॥
ततः सप्तममादाय तृतीयं तदधो न्यसेत् ।
तदधो नेमिवर्णाच्च योजयेदूनविंशकम् ॥ २१२ ॥
भूयो नेमेस्तथादाय नाभिसप्तमपृष्ठगम् ।
तस्याप्यधस्तृतीयं तु नाभिदेशाच्च विन्यसेत् ॥ २१३ ॥
सर्वेषां नाभिपूर्वं तु पञ्चमारगसंयुतम् ।
निदध्यादासनं पश्चाच्छिरसा लाञ्छयेत् क्रमात् ॥ २१४ ॥
नवमेन तु वै नेमेररोपान्त्यगतेन तु ।
नाभीयतुर्यवर्णान्तं प्राग्वन्मध्येऽत्र मन्त्रराट् ॥ २१५ ॥
वौषट्पदद्वयान्तस्थमथ बीजं हि केवलम् ।
दलान्तरालभूमौ तु चतुष्पत्रस्य योजयेत् ॥ २१६ ॥
अरावसानसंभिन्नं कृत्वा वै नाभिसप्तमम् ।
तेन युक्तं तथा दद्यादष्टपत्रस्य सन्धिषु ॥ २१७ ॥
तेनैव नाभितुर्यं तु भेदयित्वा तदन्तगम् ।
कृत्वा बीजवरं कुर्याद् द्विषट्पत्रान्तरालगम् ॥ २१८ ॥
वषट्कारपदोपेतं बीजं शीताम्बुसन्निभम् ।
न्यसेत् षोडशपत्रस्य सन्धिदेशगतं ततः ॥ २१९ ॥
नाभेः सप्तमबीजं तु तच्चतुर्थासनस्थितम् ।
अराच्चतुर्दशेनैव तदन्तेनाभिभूषितम् ॥ २२० ॥
एतत्सम्पुटमध्यस्थं क्षरन्तममृतं महत् ।
पूर्ववद् बाह्यपद्मस्य प्रादक्षिण्येन विन्यसेत् ॥ २२१ ॥
नाभितुर्यमथादाय स्थितं तत्सप्तमोपरि ।
नेमेर्नवमबीजेन अरान्ताद्येन चाङ्कयेत् ॥ २२२ ॥
बीजमेतन्नियोक्तव्यं संख्याहीनं निरन्तरम् ।
ऊर्मिभूतं बहिष्ठस्य पयोजावरणस्य च ॥ २२३ ॥
लिख्यैवं सितरक्तेन पीतसूत्रेण वेष्टयेत् ।
मध्विक्षुरसमाम्राम्बुपूर्णकुम्भे नियोज्य च ॥ २२४ ॥

चन्दनेन समालिप्तं कृत्वा पुष्पस्त्रगन्वितम् ।
तन्निधायोदिते स्थाने ततो मन्त्रेश्वरं यजेत् ॥ २२५ ॥
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं परिवारसमन्वितम् ।
स्वच्छस्फटिकवर्णाभं हिमादधिकशीतलम् ॥ २२६ ॥
ध्यायेत् तं ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वे सितं पद्ममधोमुखम् ।
तत्कर्णिकोदरे लीनं स्मरेद् गगनमण्डलम् ॥ २२७ ॥
प्रकाशितं निशानाथमयूखाखिलतारकैः ।
विक्षिप्तवाहैराकीर्णं सुरसिन्धुविनिर्गमैः ॥ २२८ ॥
अथार्घ्यपुष्पपूर्वाणां भोगानामर्चने विभोः ।
प्रागुक्तानां क्रमेणैव अनुसन्धानमाचरेत् ॥ २२९ ॥
यं यं संकल्पयेद् भोगं तं तं भाव्य सुधामयम् ।
पतन्तमम्बराद् वेगादमृतांशुपरिप्लुतम् ॥ २३० ॥
साक्षादमृतरूपस्तु तैस्तैरमृतसम्भवैः ।
बृंहितं मुदितं मग्नं संप्लुतं मन्त्रराट् स्मरेत् ॥ २३१ ॥
ततोऽवतार्य हृदयात् साधनेन यजेद् बहिः ।
इष्ट्वाऽथ वह्निगर्भस्थं ध्यात्वा सन्तर्पयेत् ततः ॥ २३२ ॥
सामलैराज्यसिक्तैस्तु विल्वैर्दूवाङ्कुरैर्नवैः ।
तिलैर्गोक्षीरसंयुक्तैर्लाजतण्डुलमिश्रितैः ॥ २३३ ॥
सिताज्यपुष्पसंयुक्तैर्दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।
मधुक्षीरोदकेनाथ कुर्याद् द्वे मन्त्रसेचनम् ॥ २३४ ॥
घृतेन पायसान्नेन पायसेन फलैः शुभैः ।
पूर्ववद् बलिदानं तु कुर्यादाप्यायनं भवेत् ॥ २३५ ॥

अथाप्यायनविधिमाह—अथानेन हि मन्त्रेणेत्यारभ्य कुर्यादाप्यायनं भवेदित्यन्तम् । सार्णमध्यगं सकारान्तर्गतमित्यर्थः । संज्ञापदं = साध्यनामधेयमित्यर्थः । नाभिसप्तवर्णं यत् सकारः, नाभितुर्योपरि स्थितं वकारोपरि स्थितमित्यर्थः । इदं प्रथमबीजम् । उत्तराधरयोगेन तदेवादाय वैः पुनः । सकारस्याधो वकारं संयोज्येत्यर्थः । इदं द्वितीयबीजम् । नाभितृतीयं लकारं द्वाभ्यामधः, वक्ष्यमाणसकारवकारयोरित्यर्थः । तत्रापि नाभेः सप्तमं सकाराख्यं वर्णम्, अधःस्थम्, तच्चतुर्थं वकाराख्यं वर्णं मूर्धनि । इदं तृतीयबीजम् । सप्तमं सकारम्, तृतीयं लकारम्, नेमिवर्गादूनविंशकं बकारम् । इदं चतुर्थबीजम् । भूयो नेमेस्तमादाय सकारमादायेत्यर्थः । नाभिसप्तमपृष्ठगं सकारोपरि स्थितमित्यर्थः । नाभिदेशात् तृतीयं लकारमित्यर्थः । इदं पञ्चमबीजम् । सर्वेषां पञ्च(म) बीजानामित्यर्थः । पञ्चमारग-

संयुतम् उकारान्वितं नाभिपूर्वं यकारम् आसनं निदध्याद् अधः संयोजयेदित्यर्थः । अरोपान्त्यगतेन अनुस्वारान्वितेन नेमेर्नवमेन टकारेण शिरसा लाञ्छयेत् टकारमुपरि न्यसेदित्यर्थः । नाभीयतुर्यवर्णान्तं प्राग्वन्मध्येऽत्र मन्त्रराट् । प्राग्वत् शान्तिकपौष्टिकोक्तवदित्यर्थः । मध्ये कर्णिकामध्ये नाभीयतुरीयवर्णान्तं वकारान्तमित्यर्थः मन्त्रराट् नृसिंहबीजमित्यर्थः । वौषट्पदद्वयान्तस्थमित्यपि मन्त्रराडित्यस्यैव विशेषणम् । केवलं बीजं वकाररहितं नृसिंहबीजमित्यर्थः । अरावसानसंभिन्नं विसर्गान्तमित्यर्थः । नाभिसप्तमं सकारम्, तेन युक्तं नृसिंहबीजमित्यर्थः । नाभेः सप्तमबीजं सकारम्, तच्चतुर्थासनस्थितं वकारोपरि स्थितम् । अराच्चतुर्दशेन औकारेण, तदन्तेनानुस्वारेण । एतत्सम्पुटमध्यस्थं स्वामित्यक्षरद्वयसम्पुटितं नृसिंहबीजमित्यनुषङ्गः । नाभितुर्यं वकारम्, तत्सप्तमोपरि स्थितं सकारोपरि स्थितमित्यर्थः । नेमेर्नवमबीजेन टकारेण, अरान्ताद्येन अनुस्वारेणेत्यर्थः ।

अथ: प्रयोगः—अत्र पूर्वोक्तमेव मण्डलं चतुर्वर्णभूषितं परिकल्प्य तद्यागस्थानं वितानपुष्पमालादर्पणकिङ्किणीचामरव्यजनादिभिरलङ्कृत्य घृतेन मधुना दध्ना सुश्रितक्षीरेण च प्रत्येकं द्वौ द्वावुपकुम्भौ सम्पूर्य मधूकफलकर्पूरद्राक्षामलकफलैः शरावाण्यापूर्य तान्युपकुम्भमुखेषु संस्थाप्य शिरोमन्त्रेणाम्भसा सिक्तानि सुधाचन्दनलिप्तानि सितपुष्पान्वितानि सितार्घ्येणार्चितानि साङ्कुराणि शरावाणि दिक्कुम्भान्तरालेषु संस्थाप्यात्रोपयुक्तं पुष्पादिकं सर्वं सितरक्तं हेमाभं चाहरेत् । ततः कृताह्निकः शुद्धवासाः साधको मन्त्रन्यासादिकं कृत्वा नृसिंहोऽहमिति तदभिमानमाश्रित्य सकुङ्कुमेन क्षीरेणेक्षुरसमधुभ्यां विमिश्रितेन भूर्जपत्रे सकारान्तर्गतं साध्यनामधेयं विलिख्य तद्बहिश्चतुर्दलपद्मं तद्बहिः कर्णिकाकेसरान्वितमष्टदलं पद्मं तद्बहिर्द्वादशदलं पद्मं तद्बहिः षोडशदलं पद्मं तद्बहिश्चतुर्विंशतिदलं पद्मं तद्बहिरेकं वृत्तं चालिख्य चतुर्दलेषु स्म्युट् इति बीजम्, अष्टदलेषु प्स्युट् इति बीजम्, द्वादशददलेषु स्फ्युट् इति बीजम्, षोडशदलेषु स्प्युट् इति बीजम्, चतुर्विंशातिदलेषु स्फ्युट् इति बीजं चाधोमुखं विलिखेत्, कर्णिकामध्ये वौषट् क्ष्वौं वौषट् इति विलिख्य चतुर्दलान्तरालेषु क्ष्रौं इति केवलं नृसिंहबीजं विलिख्याष्टपत्रान्तरालेषु क्षः इति बीजं विलिख्य, द्वादशपत्रान्तरालेषु क्ष्वः इति विलिख्य, षोडशदलान्तरालेषु वषट् क्ष्रौं वषट् इति विलिख्य चतुर्विंशतिदलान्तरालेषु स्वौं क्ष्रौं स्वौं इति विलिख्य, वृत्ताद् बहिः प्संट् इति बीजं प्रादक्षिण्येन निरन्तरं संख्याहीनमूर्मीभूतं विलिख्य तद्यन्त्रं सितरक्तेन पीतसूत्रेण संवेष्ट्य मध्विक्षुरसपू(र्वा? र्ण)पूर्णकुम्भे निधाय तं कुम्भं चन्दनैरालिप्य पुष्पमाल्यैरलङ्कृत्य पूर्वोक्ते स्थाने निधाय स्वहृदयकमले समस्तपरिवारसमन्वितं स्वच्छस्फटिकसन्निभं हिमादधिकशीतलं श्रीमन्नृसिंहं ध्यात्वा तद्ब्रह्मरन्ध्रोपरि स्थितमधोमुखं पद्मं ध्यात्वा तत्कर्णिकायां परिपूर्णेन्दुमण्डलनक्षत्रवृन्दामन्दाकिनीप्रवाहैराकीर्णं गगनमण्डलं संस्मृत्य

ततः खाब्जकमध्यात्तु ह्यूर्ध्वस्थां संस्मरेच्च्युताम् ।
गङ्गां भगवतो मूर्ध्नि तेनामृतजलेन तु ॥ (२।७४)

अर्घ्यादिभोगैरभ्यर्च्य ततः स्वहृदयाद् देवमवतार्य कुम्भे मण्डले च यथाविधि समभ्यर्च्याग्नौ देवमावाह्य सामलकैराज्यसिक्तैर्बिल्वैर्दूर्वाङ्कुरैर्गोक्षीरसंयुक्तैर्लाजतण्डुलमिश्रितैः सिताज्यपुष्पसंयुक्तैस्तिलैश्च सन्तर्प्य पूर्णाहुतिं दत्त्वा प्राग्वन्मधुक्षीरोदकेन यन्त्र-

स्थस्य मन्त्रनाथस्य सेचनं कृत्वां घृतेन पायसान्नेन पायसेन फलैश्च पूर्ववद् बलिदानं कुर्यात् । अनेन आप्यायनं भवति ॥ १९९-२३५ ॥ इत्याप्यायनविधिः ॥

अब **संवर्धन विधि** कहते हैं—पूर्व में कही गई विधि के अनुसार चतुर्वर्ण भूषित मण्डल निर्माण करे । फिर उस यागस्थान को चँदोवा, पुष्पमाला, दर्पण, क्षुद्र घण्टिका, चामर तथा व्यजनादि से अलङ्कृत कर घृत-मधु-दधि मिश्रित दूध से दो-दो कलशों को भरकर स्थापित करे । फिर महुआ, कपूर, द्राक्षा और आँवलों से भरे हुए उपकुम्भ (पुरवा) को स्थापित करे । फिर शिरो मन्त्र के जल से संसिक्त शरावो (पुरवों को) जो चूने से लिप्त हों, श्वेत पुष्पों से अलङ्कृत हों, श्वेत अर्घ्य से अर्चित हों और अङ्कुर युक्त हों, ऐसे पुरवों को दिशाओं के कुम्भ के मध्य स्थान में स्थापित करे । उसके लिये उपयुक्त श्वेत रक्त तथा पीले पुष्पों का आहरण करे ॥ १९९-२०५ ॥

फिर आह्निक कर्म सम्पादन कर, शुक्ल वस्त्र धारण कर, साधक स्वयं मन्त्र न्यासादिक क्रियाओं का सम्पादन करे । 'मैं स्वयं नृसिंह हूँ' इस प्रकार का अपने में अभिमान कर, कुङ्कुम समन्वित दूध से, जिसमें इक्षुरस तथा मधु मिला हो, उससे भूर्जपत्र पर दो सकार के मध्य में साध्य नाम लिखे । फिर उसके बाहर चतुर्दल कमल, उसके बाहर कर्णिका केशरान्वित अष्टदल कमल, उसके बाहर द्वादशदलान्वित कमल, उसके भी बाहर षोडश दलान्वित कमल, पुनः उसके भी बाहर चौबीस दलान्वित कमल दल बनावे । फिर उसके बाहर एक वृत्त (गोला) बनावे ॥ २०५-२०८ ॥

फिर चतुर्दल कमल पर 'स्म्युट्' यह बीज, अष्टदल पर 'प्स्युट्', द्वादशदल कमल पर 'स्क्युट्', फिर षोडश दल कमल पर 'स्युट्' तथा चौबीस दल वाले कमल पर 'स्फ्युट्' यह बीज अधोमुख लिखे । कर्णिका के मध्य में 'वौषट् क्ष्वौं वौषट्' इस बीज को लिखकर फिर चार पत्तों वाले कमल के बीच-बीच में 'क्ष्रौं' केवल नृसिंह बीज लिखे । आठ पत्तों वाले कमल के बीच-बीच में 'क्षः' यह बीज लिखे । फिर बारह पत्तों वाले कमल के बीच-बीच में 'क्ष्यः' लिखे । फिर षोडश पत्तों वाले कमल के बीच-बीच में 'क्षौं वषट् क्षौं वषट्' तथा २४ दल वाले कमल के बीच-बीच में 'स्वौं क्षौं स्वौं' यह बीज मन्त्र लिखे । तदनन्तर वृत्त के बाहर 'प्स्टं' यह बीज दक्षिण क्रमानुसार निरन्तर लिखे । इसमें संख्या का क्रम नहीं है । इस प्रकार बने हुए यन्त्र को श्वेत रक्त तथा पीत वर्ण के सूत्र से वेष्टित कर मधु तथा इक्षुरस से पूर्ण कुम्भ में स्थापित करे ॥ २०९-२२४ ॥

उस कुम्भ को चन्दन से लेपन कर, पुष्प माला से अलङ्कृत कर, पहले स्थान पर पुनः उसे स्थापित करे । फिर अपने हृदय कमल में समस्त परिवार समन्वित स्वच्छ स्फटिक के समान बर्फ से भी अधिक शीतल श्रीनृसिंह का ध्यान कर अपने ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अधोमुख कमल का ध्यान करे । उसकी कर्णिका में

पूर्णमासी के चन्द्रमा के सहित समस्त नक्षत्र मण्डलों सहित तथा गङ्गा के प्रवाहों से आच्छन्न गगनमण्डल का ध्यान करे ॥ २२४-२२८ ॥

इसके बाद पहले कहे गये भगवत्पूजन के लिये अर्घ्यादि पुष्पों से तथा उसी प्रकार तत्तद् भोगों से श्रीभगवान् की पूजा कर अनुसन्धान करे ॥ २२९ ॥

जिन-जिन भोगों की कल्पना करे उन-उन भोगों को वेग से गिरते हुए अमृतांशु से आर्द्र, अतएव साधक सुधामय साक्षात् अमृतस्वरूप की उनमें कल्पना करे ॥ २३०-२३१ ॥

फिर ऐसे मन्त्रराट् को हृदय स्थान से नीचे बाहर निकाल कर कुम्भ पर उनका मण्डल में यथाविधि यजन करे । फिर अग्नि के गर्भ में उनका यजन कर ध्यान करे और सन्तर्पण करे । आँवला, घृत, तिल, बिल्व, दूर्वाङ्कुर, गोक्षीर, लावा, तण्डुल तथा श्वेत पुष्पादि से सन्तृप्त कर पूर्णाहुति देवे । फिर घृत, पायसान्न एवं फलादि से पूर्ववत् बलिदान करे इससे साधक का आप्यायन (संवर्धन) होता है ॥ २३२-२३५ ॥

रोगार्तानां रक्षाविधानम्

अथ रक्षाविधानं तु वक्ष्ये सम्यग् यथास्थितम् ।
येन विज्ञातमात्रेण नीरुजः सर्वदा भवेत् ॥ २३६ ॥
सामान्यं सर्वदोषाणां ज्ञातानां च निवारणे ।
अज्ञातानां विशेषेण तत् सम्यगवधारय ॥ २३७ ॥
ताराग्रहोपतापेन धातुर्वैषम्यमेति वै ।
तद्वैषम्यात् प्रकुप्यन्ति व्याधयस्तु ज्वरादयः ॥ २३८ ॥
तत्कोपावसरेणैव ब्रह्मरक्षोमुखा ग्रहाः ।
शाकिन्यो भूतवेतालाः संक्रामन्ति हि देहिनः ॥ २३९ ॥
निमित्तं विद्धि सर्वेषां कर्म यद् वै पुरा कृतम् ।
सामर्थ्येन तु मन्त्रेण ज्ञानेन तपसा च वै ॥ २४० ॥
जपाऽध्ययनहोमेन दानेन विविधेन च ।
मन्त्रौषध्युपयोगेन सहसा नाशमेति तत् ॥ २४१ ॥
प्राधान्येन तु सर्वेषां मन्त्रमत्रानुतिष्ठति ।
यस्य स्मरणमात्रेण नाविशन्ति ग्रहादयः ॥ २४२ ॥
कृत्वाधारं यथोक्तं तु यजनार्थं नृकेसरेः ।
बीजैः सिद्धार्थकोपेतैरुपकुम्भानि पूर्य च ॥ २४३ ॥
वक्त्रेष्वप्युपकुम्भानां सफलानि नियोज्य च ।

तिलसर्षपपूर्णानि पात्राणि विततानि च ॥ २४४ ॥
सुसमं तद्बहिर्दद्याद् दिक्षु लोहशराष्टकम् ।
कण्ठदेशेषु बध्नीयाच्छराणां दृढतन्तुना ॥ २४५ ॥
बर्हिपक्षसमायुक्तां सर्पकञ्चुकभूषिताम् ।
महौषधीं भूतजटां शमीशाखासमन्विताम् ॥ २४६ ॥
पञ्चरागेण सूत्रेण उदगाशादितः क्रमात् ।
प्रादक्षिण्येन तु त्रेधा वेष्टयेत् तच्छराष्टकम् ॥ २४७ ॥
अष्टानां पूर्णकुम्भानामन्तरान्तरयोगतः ।
दद्यादुच्चासनस्थं तु दीपाष्टकमनुक्रमात् ॥ २४८ ॥
तैलेन राजिकाख्येन ताम्रपात्रस्थितास्तु वै ।
दीपानां वर्तयो देया महाराजतरञ्जिताः ॥ २४९ ॥
अथ बद्धशिखो मौनी प्राग्वद् दिग्बन्धमाचरेत् ।
अभिसन्धाय मनसा सर्वदोषपलायनम् ॥ २५० ॥
संयजेन्मन्त्रनाथं तु काम्यैर्बहुविधैः शुभैः ।
पुष्पैर्धूपैस्तु नैवेद्यैर्भक्ष्यैः सफलमूलकैः ॥ २५१ ॥
हुत्वाऽथ सर्वबीजानि सिद्धार्थकयुतानि च ।
राजिकाघृतयुक्तानि तिलानि सफलानि च ॥ २५२ ॥
ध्यात्वा पूर्णाहुतिं दद्यान्मध्याह्नसमये ततः ।
रक्ष्यं सुनिर्मलं कृत्वा पूर्वमभ्यञ्जनादिकैः ॥ २५३ ॥
हेमर(क्तौ?त्नौ)षधिस्नानैः प्रोक्षयित्वा प्रवेश्य च ।
ताडयित्वाऽस्त्रपुष्पेण आपादात् सन्निरीक्ष्य च ॥ २५४ ॥
नतजानुशिरः कृत्वा देवाय विनिवेदयेत् ।
उत्तराभिमुखं कृत्वा आसने परिघान्विते ॥ २५५ ॥
अस्त्रोपलक्षिते चैव तथार्घ्यादिसमन्विते ।
षडङ्गेनाथ मन्त्रेण तस्य न्यासं समाचरेत् ॥ २५६ ॥
मनसा करशाखासु स्वस्थानेष्वथ विग्रहे ।
सचक्रमथ तस्याग्रे षट्कोणं मण्डलं लिखेत् ॥ २५७ ॥
वृतं ज्वालागणेनैव ततस्तत्र निवेशयेत् ।
प्रागुक्तरचनाढ्यं तु सुपूर्णं गन्धवारिणा ॥ २५८ ॥
सप्तकं कलशानां तु मध्ये योज्यं तदक्षिषु ।
अश्रिभ्यामन्तरालस्थं दीपषट्कं यथा पुरा ॥ २५९ ॥

कृत्वा मध्यमकुम्भे तु साङ्गं मन्त्रेश्वरं यजेत् ।
नमो नृसिंहभूतेभ्यः प्रणवाद्येन पूजयेत् ॥ २६० ॥
कोणेषु भगवद्भक्तनिचयं दोषनाशनम् ।
पूजयित्वा यथान्यायं पुष्पधूपादिकेन वै ॥ २६१ ॥
दिग्बन्धमथ वै कुर्यात् सास्त्रैः सिद्धार्थकैः क्रमात् ।
ताडयेदातुरं पश्चादा पादान्मस्तकावधि ॥ २६२ ॥
स्वपाणिव्यजनेनाथ समाकृष्य विनिक्षिपेत् ।
दोषजालं च तद्देहाद् गगने वा धरातले ॥ २६३ ॥
ततोऽग्निपात्रमादाय निर्धूममतिदीप्तिमत् ।
तस्मिन्निरिन्धने कुर्याद् होमं सिद्धार्थकैस्तिलैः ॥ २६४ ॥
मूलमन्त्रेण वास्त्रेण शताष्टाधिकसंख्यया ।
अमुकं रक्ष रक्षेति स्वाहाशब्दसमन्वितम् ॥ २६५ ॥
मन्त्रान्ते तु पदं कुर्याद् भ्रामयेन्मूर्ध्नि चाहुतिम् ।
महिषाक्षमथादाय सिद्धार्थकसमन्वितम् ॥ २६६ ॥
प्रजप्य धूपयेत् तं वै कृत्वा च्छन्नं तु वाससा ।
निधाय सजलं पात्रमग्निपात्रोपगं ततः ॥ २६७ ॥
नैवेद्यशेषमन्यस्मिन् सर्वमुद्धृत्य सोदकम् ।
पशुप्रतिनिधिं चैव रञ्जितं कुङ्कुमादिना ॥ २६८ ॥
धात्वाश्रितानां दोषाणां मनसा परिकल्पितम् ।
यदीयमस्य वै बाधमिन्द्रियाणां च धातुषु ॥ २६९ ॥
आदाय च बलिं शश्वत् सिंहसत्येन मुञ्चतु ।
अन्तरान्तरयोगेन वामदक्षिणपाणिना ॥ २७० ॥
असंख्यमाचरेद् होमं बलियुक्तं प्रदक्षिणैः ।
बलिपाणिमथ क्षाल्य अस्त्रजप्तेन वारिणा ॥ २७१ ॥
भूतिमादाय वै कुण्डाद् दग्धगोमयजं तु वा ।
प्रजप्य बहुशोऽस्त्रेण ललाटादङ्घ्रिगोचरम् ॥ २७२ ॥
कार्याणि चोर्ध्वपुण्ड्राणि पृष्ठे पार्श्वद्वयेऽपि वा ।
स्वस्त्यस्तु ते युतेनाथ मन्त्रेणार्घ्योदकेन तु ॥ २७३ ॥
मन्त्रकुम्भात् समेतेन विप्रुड्भिर्ह्लादयेदनु ।
ध्यात्वा पूर्णेन्दुगं मन्त्रं पूर्णचन्द्रायुतोपमम् ॥ २७४ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे तु साध्यस्य स्रवन्तममृतं महत् ।

शरीरविटपं तेन सेचयेच्च नखावधि ॥ २७५ ॥
एवं कृत्वाऽर्चयेद् भूयो मन्त्रं मण्डलकुम्भगम् ।
कुम्भं तं शयनागारे ऊर्ध्वदेशे निधाय वै ॥ २७६ ॥
वस्त्रपीठोपरिस्थं तु च्छन्नं कृत्वा तु वाससा ।
तत्रापि दिग्विदिक्स्थं च दद्यात् पूर्णघटाष्टकम् ॥ २७७ ॥
अच्छिन्नप्रसरं धूपं दीपपात्रं घृतादिना ।
फलपुष्पौषधीदीपलाजाः सिद्धार्थकं दधि ॥ २७८ ॥
पात्रसंङ्गं तदग्रे तु कृत्वा चाथ बलिं हरेत् ।

बलिदानप्रकारकथनम्

निशामुखे तु सम्प्राप्ते सर्वदोषप्रशान्तये ॥ २७९ ॥
एकस्मिन् वै समादाय पात्रे यत् कल्पितं विभोः ।
आपुष्पधूपदीपाच्च उपसंगृह्य यत्नतः ॥ २८० ॥
तद्भूतदत्तमन्यस्मिन् षण्णां वा तत्पृथक् पृथक् ।
स्वदीपालङ्कृतं कृत्वा स्वघटोपरि विन्यसेत् ॥ २८१ ॥
रक्षरक्षपदोपेतं मन्त्रमस्त्रयुतं स्मरेत् ।
रक्ष्यस्य शिरसि भ्राम्य यथा दत्तं क्रमेण तु ॥ २८२ ॥
सत्त्वशुद्धांस्तथा भूयो मद्भक्तान् बलिवाहकान् ।
अस्त्राभिमन्त्रितान् दद्यात् तेषां सिद्धार्थकान् करे ॥ २८३ ॥
प्रजप्य भस्मना कुर्याल्ललाटे तिलकं तु वै ।
प्रवाहयेद् बलिं मन्त्री ह्यगाधेऽम्भसि वै पुरा ॥ २८४ ॥
चत्वरे वृक्षमूलेऽथ ग्रामाद् वा नगराद् बहिः ।
देवभूतबलिक्षेपो विहितश्चात्र कर्मणि ॥ २८५ ॥
धूमायन्तं च सिद्धार्थैर्वह्निपात्रं पुरोदितम् ।
तेनैव बलिपात्रेण सोदकेन समन्वितम् ॥ २८६ ॥
त्यजेत् कूपसमीपे तु वाप्यां वा निकटे तरोः ।
बलिं क्षिप्त्वा समाचम्य धौताङ्घ्रिकरपल्लवः ॥ २८७ ॥
रक्ष्यावनौ सुलिप्तायां परितः शोधितस्य च ।
तन्मूर्ध्नि दीपपात्रे च सिद्धार्थक्षेपमाचरेत् ॥ २८८ ॥
प्रजप्य बहुशोऽस्त्रेण मूलसम्पुटितेन च ।
बध्नीयात् सप्तरात्रं तु प्रत्यहं तस्य चाम्बरे ॥ २८९ ॥

कृतेनानेन विधिना पीडितानां सदैव हि ।
रक्षणं रसधातुनां शश्वदेव हि जायते ॥ २९० ॥
ततः प्रलिप्ते भूभागे कुशाजिनसमावृते ।
कृतन्यासः स्वयं तिष्ठेद् रक्ष्यागारे सहायवान् ॥ २९१ ॥
पयोभुग् वा निराहारो ध्यानजप्यपरायणः ।
आदिमध्यावसानस्थं रात्र्यंशेषु समाचरेत् ॥ २९२ ॥
पूजनं हवनं सम्यग् बलिदानसमन्वितम् ।
सक्तुना सोदकेनैव मधुनाऽथ घृतेन च ॥ २९३ ॥
पूर्वभागे तु यामिन्यामतीते विहितो बलिः ।
यवगोधूमशाल्युत्थचूर्णेन सगुडाम्भसा ॥ २९४ ॥
त्रिप्रकाराणि संवर्त्य मोदकानि तु पाणिना ।
वृत्तदीपशिखाकारैस्तुल्यान्याम्रफलस्य च ॥ २९५ ॥
क्षीरयुक्तैरपक्वैस्तैर्मध्यरात्र्यां बलिं हरेत् ।
सुमर्दितैस्तिलैः कृष्णैर्बीजैः पाकविवर्जितैः ॥ २९६ ॥
तण्डुलै रजनीचूर्णैर्दध्ना दूर्वाङ्कुरैः फलैः ।
व्यतीतायां तु शर्वर्यां बलिं रक्षागृहाद् बहिः ॥ २९७ ॥
मार्गैकदेशे निक्षिप्य चत्वरे वापि शोधिते ।
अथाभिमन्त्र्य बीजानि सप्तधान्यानि मल्लके ॥ २९८ ॥
दद्याद् द्विजेन्द्रकन्यायै तत्सकाशात् समाहरेत् ।
तिस्रः प्रसृतयः पात्र एकस्मिन् सप्त चापरे ॥ २९९ ॥
एकादश ततोऽन्यस्मिन् घटे पात्रत्रयं ततः ।
अस्त्रसम्पुटितेनैव सिंहबीजेन मन्त्रवित् ॥ ३०० ॥
शतमष्टाधिकं चैव द्विगुणं त्रिगुणं क्रमात् ।
तेन तोयघटानां तु उद्धृत्योद्धृत्य निक्षिपेत् ॥ ३०१ ॥
एकं स्थले जले चान्ये प्रातर्मध्यं दिनक्षये ।
आ समाप्तेरिदं कुर्यात् सामान्यं भूततर्पणम् ॥ ३०२ ॥
ततोऽपरस्मिन्नहनि इष्ट्वा मन्त्रं तु मण्डले ।
हुत्वा यथाविधानेन दत्त्वा पूर्णाहुतिं लिखेत् ॥ ३०३ ॥
सितेन शालिचूर्णेन अष्टाश्रं मण्डलं लिखेत् ।
तन्मध्ये शङ्खमध्यस्थं कमलं लिख्य षड्दलम् ॥ ३०४ ॥
दद्याद् घटाष्टकं बाह्ये प्राग्वद् दीपसमन्वितम् ।

अवतार्य च तन्मध्ये रक्षाकुम्भं शिरःस्थितम् ॥ ३०५ ॥
अपनीय पुरा तस्मादर्घ्यमाल्यानुलेपनम् ।
शीतलोदकधारां च पूरणार्थं परां क्षिपेत् ॥ ३०६ ॥
यथा यथा क्षयं याति तत्रस्थमुदकं तु वै ।
तथा तथा भवेद् वृद्धी रक्ष्यस्याखिलधातुषु ॥ ३०७ ॥
स्रग्वस्त्रार्घ्यानुलेपाद्यैर्नवैः कृत्वार्चितं तु तम् ।
ततः सम्पूज्य तन्मध्ये मन्त्रनाथं यथा पुरा ॥ ३०८ ॥
रक्तधातोर्भवेद् येन नृणामुपचयो महान् ।
मन्त्रदत्तेन सुरभिनैवेद्येनाथ तर्पयेत् ॥ ३०९ ॥
अर्घ्यं पुष्पं रजो धूपं दीपं यन्मन्त्रयोजितम् ।
तत्सर्वमुपसंहृत्य नित्यमम्भसि निक्षिपेत् ॥ ३१० ॥
शेषस्य विनियोगं तु प्रागुक्तं सर्वमाचरेत् ।
तृतीयेऽह्नि ततः कुर्याच्चतुरश्रं तु मण्डलम् ॥ ३११ ॥
षट्कोणं चैव तन्मध्ये पुरमुल्लिख्य साम्बुजम् ।
तत्र कुम्भसमूहं तु तस्माद् दीपान्तरीकृतम् ॥ ३१२ ॥
इष्ट्वा तु मन्त्रदत्तेन तर्पयेद् ब्राह्मणांस्तु वै ।
वृत्तमण्डलमध्ये तु चतुर्थेऽहनि संलिखेत् ॥ ३१३ ॥
अष्टारं दीप्तिमच्चक्रं वह्निवेश्म तदन्तरे ।
तत्रेष्ट्वा मन्त्रमूर्तिं तु कृत्वा रक्षां यथा पुरा ॥ ३१४ ॥
द्विजेन्द्रजां कुमारीं च तथा ब्राह्मणदारिकाम् ।
पूजयित्वा यथान्यायं ताभ्यां यच्छेन्निवेदितम् ॥ ३१५ ॥
अथाष्टकोणं कुर्वीत मण्डलं पञ्चमेऽहनि ।
शङ्खं तदन्तरे कुर्याच्छङ्खस्योदरगं लिखेत् ॥ ३१६ ॥
सनाभिवेदिपञ्चारं भूतावासं च हेतिराट् ।
सकुम्भानां च दीपानां प्राक् कृत्वा विनियोजनम् ॥ ३१७ ॥
विविधैः पूजयेद् देवं नैवेद्यैः कुसुमादिकैः ।
देवोपभुक्तमन्नं तु क्षिप्त्वा प्रागुक्तमाचरेत् ॥ ३१८ ॥
अथ षष्ठे दिने कुर्यात् त्रिकोणं भुवनान्तरे ।
सप्तारं तु महाचक्रं सप्तलोकमयं हि यत् ॥ ३१९ ॥
तदन्तरे चतुर्दिक्षु गदाद्वन्द्वद्वयं लिखेत् ।
तन्मध्ये तद्घटान्तःस्थं यजेन्मन्त्रं यथाविधि ॥ ३२० ॥

इष्ट्वा नैवेद्यमादाय उच्चस्थाने निधाय तत् ।
उपभोगं यदाऽऽयाति काकादेः खेचरेषु च ॥ ३२१ ॥
चतुरश्रं चतुर्द्वारं मण्डलं सप्तमेऽहनि ।
कुर्यात् कोणचतुष्के तु लिखेच्छङ्खचतुष्टयम् ॥ ३२२ ॥
तत्र मध्ये लिखेत् पद्ममसंख्यदलभूषितम् ।
तत्कर्णिकाश्रितं चक्रं द्वादशारं विलिख्य च ॥ ३२३ ॥
अष्टदिक्ष्वष्टकं दद्यात् कलशानां सदीपकम् ।
तत्र षड्दिवसोर्ध्वं तु विनियोगं समाचरेत् ॥ ३२४ ॥
नैवेद्यस्य च मन्त्रज्ञो दक्षिणाभिः समन्वितम् ।
एवं मांसादिधातूनां क्रमादुपचयो भवेत् ॥ ३२५ ॥
महिषोऽजो गुडं चैव हरिणः शशकस्तथा ।
मयूरश्चक्रवाकस्तु सप्ताहं सप्तकं तु वै ॥ ३२६ ॥
देहधात्वाश्रितानां तु सत्त्वानां पिशिताशिनाम् ।
रसाद्यपीष्टैः सम्पाद्यं न सजीवं हि जङ्गमम् ॥ ३२७ ॥
स्वार्थतो वा परार्थेन श्रेयसेऽभिनिवेशिना ।
प्राणिहिंसा न कार्या वै विशेषाज्जीवितैषिणाम् ॥ ३२८ ॥
आयुषः क्षयमायाति नूनं प्राणिवधान्नृणाम् ।
भूताभयप्रदानेन आयुषो वृद्धिमाप्नुयात् ॥ ३२९ ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यमपमृत्युजयं महत् ।
बलमोजो धृतिर्धैर्यं स्यान्मन्त्रान्न परायुषः ॥ ३३० ॥
मन्त्रपूजा जपो होमो दानं हेमगवादिनाम् ।
ऐहिकामुष्मिकीं वृद्धिं सत्त्वस्थानां करोति च ॥ ३३१ ॥
मण्डलस्थं ततः क्षान्त्वा ह्यतीते सप्तमे दिने ।
रजांसि बलयो वान्यत् प्राग्वदादाय संत्यजेत् ॥ ३३२ ॥
इति रक्षाविधानं तु सरुजानामुदाहृतम् ।

अथ रोगार्तानां रक्षाविधिमाह—अथ रक्षाविधानं त्विति प्रक्रम्य सरुजानामुदाहृतमित्यन्तम् ।

अथ प्रयोगः—श्रीनृसिंहाराधनार्थं पूर्ववन्मण्डलं कुम्भं च संस्थाप्योपकुम्भांस्तु श्वेतसर्षपोपेतैर्बीजैरापूर्य (तदपि यानशरीरान् ? तत्पिधानशरावान्) सफलसर्षपतिलैरापूर्य तद्बहिरष्टदिक्षु सुसमं लोहमयं बाणाष्टकं निधाय तान् दृढेन तन्तुना कण्ठदेशे बद्ध्वा बर्हिपक्षसमायुक्तं सर्पनिर्मुक्तकञ्चुकभूषितं महौषध्या भूतजटया शमीशाखया च

समन्वितं तद् बाणाष्टकं पञ्चवर्णेन सूत्रेणोत्तरदिशमारभ्य प्रादक्षिण्येन त्रेधा संवेष्ट्याष्टानां पूर्णकुम्भानामन्तरालेषून्नतासनस्थितं राजिकाख्येन तैलेन पूरितं ताम्रपात्रस्थितं महा-राजतरङ्गितवर्तियुक्तं दीपाष्टकं विन्यस्य स्नातो बद्धशिखो मौनी साधकः प्राग्वद् दिग्बन्धं कृत्वा सर्वदोषपलायनं संकल्प्य मन्त्रनाथं श्रीमन्नृसिंहं काम्यैर्बहुविधैः शुभैः पुष्पैर्धूपैः फलैर्मूलैर्नैवेद्यैर्भक्ष्यैश्च यथाविधि समभ्यर्च्याग्निमध्ये च देवं सिद्धार्थान्वितैः सर्वबीजै राजिकाघृतयुक्तैः सफलैस्तिलैश्च सन्तर्प्यातुरमापादाद् मस्तकावध्यस्त्रपुष्पैः सन्ताड्य नेत्रमन्त्रेण सन्निरीक्ष्य नतजानुशिरः कृत्वा भगवते निवेद्य परिधान्वितेऽस्त्रेणाभिमन्त्रितेऽर्घ्याद्यभ्यर्चिते आसने तं समुपवेश्य षडङ्गेन श्रीमन्नृसिंहमन्त्रेण तस्य हस्तयोर्देहे च यथाविधि न्यासं मनसा कृत्वा तस्याग्रे सचक्रं षट्कोणं मण्डलमालिख्य तत्र पूर्वोक्तं रचनापरिष्कृतं गन्धवारिणा पूर्णं कलशसप्तकं मध्ये षट्कोणेषु च संस्थाप्य कोणा-न्तरालेषु पूर्वोक्तरीत्या दीपाष्टकं च निधाय मध्यकुम्भे साङ्गं मन्त्रनाथं समभ्यर्च्य कोणस्थकलशेषु 'ॐनृसिंहभूतेभ्यो नमः' इति सर्वदोषनाशनं नृसिंहभूतगणं समभ्य-र्च्यास्त्राभिमन्त्रितैः सिद्धार्थैर्दिग्बन्धं कृत्वा पुनरातुरं पुष्पैः सन्ताड्य स्वपाणिव्यजनेन तद्दोषगणं सर्वं तद्देहान्मनसा समाकृष्य गगने धरातले वा विनिक्षिप्य निर्धूममति-दीप्तिमदग्निपात्रमादाय निरिन्धने तस्मिन्नग्नौ सिद्धार्थकैस्तिलैश्चाष्टोत्तरशतसंख्ययाऽमुकं रक्ष रक्ष स्वाहेत्यन्तेन मूलमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा जुहुयात् । प्रत्याहुत्याहुतिद्रव्यं तन्मूर्ध्नः परितो भ्रामयेत् । सिद्धार्थकसमन्वितं महिषाक्षगुग्गुलमादाय मूलमन्त्रेण धूपयित्वाऽऽ-तुरं वाससाऽऽच्छाद्य सजलं पात्रमग्निमात्रसमीपे निधायाऽन्यस्मिन् पात्रे नैवेद्यशेषं सर्वं निधाय कुङ्कुमादिना रक्तीकृत्य सोदकं तदन्नं समुद्धृत्याऽऽतुरस्य धात्वाश्रिताना दोषणा-मयं पशुप्रतिनिधिर्बलिरिति मनसा संकल्प्य,

यदीयमस्य वै बाधमिन्द्रियाणां च धातुषु ॥
आदाय च बलिं शश्वत् सिंहसत्येन मञ्चतु । (१७।२६९-२७०)

इत्युच्चरन् बलिं दद्यात् । बलेर्मध्ये मध्ये वामदक्षिणपाणिनाऽसंख्यातं होमं च कुर्वन् बलिदानार्थं प्रदक्षिणीकुर्यात् । अथास्त्रजप्तेन वारिणा पाणिं प्रक्षाल्याथ कुण्डस्थां भूतिं दग्धगोमयजां भूतिं वाऽऽदाय बहुशोऽस्त्रमन्त्रेणाभिमन्त्र्य आतुरस्य ललाटादङ्घ्रिपर्यन्तमूर्ध्वपुण्ड्राणि कृत्वा 'ॐ क्ष्रौं नमः, ॐ नमो भगवते नरसिंहाय स्वस्त्यस्तु ते' इति कुम्भोदकसमन्विताघ्योदकबिन्दुभिः सम्प्रोक्ष्य तद्ब्रह्मरन्ध्रे पूर्ण-चन्द्रमण्डलमध्यस्थं पूर्णचन्द्रायुतोपमं महदमृतं स्रवन्तं मन्त्रनाथं ध्यात्वा तदमृतेन तच्छरीरं संसिक्तं च ध्यात्वा कुम्भस्थं मण्डलस्थं च देवं पुनरभ्यर्च्य सदिक्कुम्भं सोपकलशं तं महाकुम्भमातुरस्य शयनागारे शिरःप्रदेशे वस्त्रपीठोपरि निधाय वस्त्रेणाच्छाद्याऽविच्छिन्नप्रसरं धूपपात्रं दीपपात्राणि च यथापूर्वं निधाय फलपुष्पौ-षधीदीपलाजकसिद्धार्थकदधिपात्राणि तत्पूरतो निधाय निशामुखे प्राप्ते बलिहरणं कुर्यात् ।

तत्प्रकारः—पूर्वं षट्कोणमण्डलस्थापितकलशेषु मध्यकुम्भस्थस्य भगवतोऽ-र्चनार्थं पुष्पधूपदीपादिकं यद्यत् परिकल्पितं तत्सर्वमेकस्मिन् पात्रे संगृह्य तत्परितः षट्कलशस्थितानां नृसिंहभूतानां दत्तं पुष्पधूपदीपादिकमस्मिन् पात्रे पृथक् पृथक् षट्सु पात्रेषु वा निधाय तत्तपात्रं स्वस्वदीपालङ्कृतं कृत्वा तत्तत्कुम्भोपरि विन्यस्य 'ॐ क्षः

वीर्यायास्त्राय फट् अमुकं रक्ष रक्षेति' मन्त्रं स्मरन् तत्कुम्भान् रक्ष्यस्य शिरसि यथाक्रमं पृथक् पृथक् परिभ्राम्य सात्त्विकान् भगवद्भक्तान् बलिवाहकानाहूय तेषां करेऽऽस्त्राभिमन्त्रितान् सिद्धार्थकान् दत्त्वाऽस्त्रमन्त्रेण भस्मना ललाटे तिलकं दत्त्वा तैर्बलिं वाहयित्वाऽगाधजले चत्वरे वृक्षमूले ग्रामान्नगराद् वा बहिश्च देवभूतबलिक्षेपं कुर्यात् । सिद्धार्थैर्धूमायमानं पूर्वोक्तं वह्निपात्रं जलपात्रं च तेन बलिपात्रेण सहैव त्यजेत् । एवं कूपसमीपे वापीसमीपे वृक्षसमीपे बलिं प्रक्षिप्य पाणिपादौ प्रक्षाल्याऽऽचम्य सुलिप्तायां भूमौ शायितस्य रक्ष्यस्य परितस्तन्मूर्ध्नि दीपपात्रे चास्त्रमन्त्रेण सिद्धार्थान् प्रक्षिप्य मूलमन्त्रसम्पुटितेन चास्त्रमन्त्रेण बहुशोऽभिमन्त्रितं सिद्धार्थं सप्तरात्रं प्रत्यहं रक्ष्यस्य वस्त्रे च बध्नीयात् । एवं कृते व्याधिपीडितानां रक्षणं सिद्ध्यति । ततो रक्ष्यस्य गृहे प्रलिप्ते भूभागे कुशाजिनासने स्वयं समुपविश्य कृतमन्त्रन्यासः सहायवान् पयोभुग् निराहारो वा जपध्यानपरायणः सन् रात्रेरादिमध्यावसानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण पूजनं हवनं बलिदानं च कुर्यात् ।

बलिदाने विशेषः—रात्रेः पूर्वभागे सोदकेन सक्तुना मधुना घृतेन च बलिं दद्यात्। मध्यरात्रौ यवगोधूमशालिचूर्णेन गुडोदकमिश्रितेन वृत्ताकारदीपशिखाकाराम्रफलाकाराणि त्रिप्रकाराणि मोदकानि पाणिना कृत्वा क्षीरयुक्तैरपक्वैस्तैर्मोदकैर्बलिं दद्यात् । रात्र्यवसाने त्वपक्वैः संमर्दितैः कृष्णैस्तिलैर्बीजैस्तण्डुलैर्हरिद्राचूर्णैर्दधिदूर्वाङ्कुरफलैश्च रक्षागृहाद् बहिर्मार्गैकदेशे चत्वरे वा शोधिते स्थले बलिं दद्यात् ।

अथ सप्तधान्यान्यादाय मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य शरावे निधाय द्विजेन्द्रकन्यायै दत्त्वा तत्सकाशादेकस्मिन् पात्रे त्रिप्रसृतिमितानि बीजान्यन्यस्मिन् पात्रे सप्तप्रसृतिमितानि पुनरन्यस्मिन् पात्रे एकादशप्रसृतिमितानि च बीजानि समाहरेत् । ततस्तत्पात्रत्रयं क्रमेणोदकैरापूर्यास्त्रमन्त्रसम्पुटितेन श्रीनृसिंहबीजेन प्रथमं कुम्भमष्टोत्तरशतवारं द्वितीयं द्विगुणं तृतीयं त्रिगुणं चाभिमन्त्र्य तेष्वेकं कुम्भमुद्धृत्य प्रातःकाले स्थले निक्षिपेत् । अन्य कुम्भमुद्धृत्य मध्याह्ने जले निक्षिपेत् । पुनरन्यं कुम्भमुद्धृत्य सायंकालेऽपि जले निक्षिपेत् । समाप्तिदिनपर्यन्तं प्रत्यहमेवं सामान्यतो भूततर्पणं कुर्यात् ।

ततोऽपरस्मिन् दिने यथाविधि मण्डलस्थं देवमभ्यर्च्याग्नौ च देवं पूर्णाहुत्यन्तं सन्तर्प्य गोमयोपलिप्ते स्थले सितेन चूर्णेन मण्डलमालिख्य तन्मध्ये शङ्खं तन्मध्ये षड्दलकमलं च विलिख्य पूर्वं शयनागारे शिरःप्रदेशे स्थापितदिक्कुम्भाष्टकमस्मिन् मण्डलेऽष्टाश्रेषु दीपैः सह संस्थाप्य मध्यकुम्भं मण्डलमध्ये निधाय तस्मात् पूर्वदिनार्पितार्घ्यपुष्पमालयादीन्यपनीय तत्कुम्भस्थले शोषिते सति शीतलोकदधारया पूर्ववत् पूरयेत्, कुम्भस्थमुदकं प्रत्यहं यथा यथा शोषं याति, तथा तथा रक्ष्यस्य धातुवृद्धिर्भवति । अथाभिनवैः स्रग्वस्त्रार्घ्यगन्धाद्यैरलङ्कृत्य तत्र मन्त्रनाथं यथापूर्वं सम्पूज्य रक्तधातुवृद्धिकरैर्मन्त्रपूतैः सुरभिनैवेद्यैर्देवं सन्तर्प्य पूजानन्तरमर्घ्यपुष्परजोधूपदीपादिकं सर्वमुपसंहृत्य नित्यमगाधेऽम्भसि निक्षिपेत् । शेषस्य विनियोगं च प्रागुक्तरीत्या कुर्यात् ।

ततस्तृतीयेऽहनि चतुरश्रं मण्डलमालिख्य तत्र षट्कोणं पुरं विलिख्य तन्मध्ये पद्मं च विलिख्य, तत्र कलशसमूहं पूर्ववत् संस्थाप्य, तदन्तरालेषु दीपांश्च निधाय, यथापूर्वं

समभ्यर्च्य, भगवन्निवेदितैर्हविरादिभिर्ब्राह्मणान् सन्तर्पयेत् । चतुर्थेऽहनि वृत्तमण्डलमालिख्य, तत्र नाभिनेमिसमन्वितं पञ्चारं चक्रं विलिख्य, तत्र मध्ये महाकुम्भं परितो दिक्कुम्भान् तयोर्मध्ये मध्ये दीपाश्चं विन्यस्य, विविधैर्नैवेद्यैः पुष्पादिभिश्च तत्र देवमभ्यर्च्य, तदुपभुक्तं हविरादिकं सर्वमग्नौ प्रक्षिप्यान्यत् सर्वं पूर्ववत् कुर्यात् ।

अथ षष्ठे दिने त्रिकोणं मण्डलमालिख्य तन्मध्ये सप्तारं महाचक्रं विलिख्य तदन्तरे चतुर्दिक्षु गदाचतुष्टयं विलिख्य तन्मध्ये महाकुम्भस्थं देवं यथाविधि समभ्यर्च्य तन्निवेदितान्नादिकं काकादिपक्षिणामुपभोगार्थमुन्नतस्थाने निक्षिपेत् ।

अथ सप्तमेऽहनि चतुरश्रं चतुर्द्वारं मण्डलमालिख्य, तत्कोणचतुष्टये शङ्खचतुष्टयं विलिख्य, तन्मध्येऽसंख्यातदलं पद्मं विलिख्य, तत्कर्णिकाश्रितं द्वादशारं चक्रं विलिख्य, तत्राष्टदिक्षु दीपान्तरितानष्टकुम्भान् मध्ये महाकुम्भं च निधाय, तत्र यथाविधि देवमभ्यर्च्य तन्निवेदितान्नादेर्विनियोगं षष्ठदिनोक्तवत् कुर्यात् । एवं सप्तदिनार्चनादिभिः—"रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातवः" (अ०हृ०सू० १।१८) इत्युक्तानां सप्तधातूनां क्रमेण वृद्धिर्भवति । देहधात्वाश्रितानां मांसाशनानां सत्त्वानां बल्यर्थं सप्तदिनेष्वपि क्रमेण महिषमजं गुडं हरिणं शशकं मयूरं चक्रवाकं च सम्पादयेत् । किन्त्वेतान् महिषादीन्—

पशुप्रतिनिधिं चैव रञ्जितं कुङ्कुमादिना ॥
धात्वाश्रितानां दोषाणां मनसा परिकल्पितम् । (१७।२६८-२६९)

इति पूर्वोक्तप्र(करणे?कारेण) पिष्टपशुरूपान् कुर्यात् । साक्षात् प(शु?शू)नायुष्कामो न हन्यात् । ततः सप्तमे दिनेऽतीते मण्डलादिस्थितं देवं क्षान्त्वा मण्डलीयरजांसि बल्यादींश्चादाय प्राग्वत् त्यजेत् ॥ २३६-३३३ ॥ इत्यातुराणां रक्षाविधानमुक्तम् ॥

अब रोगी के रक्षा का विधान कहते हैं जिससे साधक सदा के लिय निरोग हो जाता है ॥ २३६ ॥

यह प्रयोग सामान्यतः सभी ज्ञात दोषों के निवारण में शक्त है । किन्तु विशेष कर अज्ञात दोषों के निवारण में जो प्रयोग सफल होता है, हे सङ्कर्षण! अब उसे सुनिये ॥ २३७ ॥

तारा और ग्रहों के उपताप से धातु में विषमता आती है और धातु में विषमता होने से ज्वरादि व्याधियाँ प्रकुपित होती है । उनके कोप का अवसर प्राप्त कर ब्रह्म, राक्षस, ग्रह, शाकिनी, भूत, बेताल, रोगी के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ २३९ ॥

इन सभी का निमित्त रोगी द्वारा किया गया पूर्व का कर्म ही समझना चाहिये । मन्त्र के सामर्थ्य से, ज्ञान के सामर्थ्य से, तपस्या के सामर्थ्य से, जप, होम, विविध दान, अध्ययन के सामर्थ्य से तथा मन्त्र एवं औषधियों के उपयोग से वे सहसा नष्ट हो जाते हैं ।

इस रोग निवारण में सभी के लिये मन्त्र का अनुष्ठान अत्यन्त उपयोगी है, जिसके जप, स्मरण, ध्यान तथा मन्त्र से रोगी के शरीर में ग्रहों का प्रवेश संभव नहीं होता ॥ २४२ ॥

श्रीनृसिंह की आराधना के लिये पूर्ववत् मण्डल और कलशों का स्थापन करे । उपकुम्भों को श्वेत सर्षप के चीजों को ढकने से पूर्ण करे । उसको ढकने वाले पुरवा को सफल सर्षप तथा तिलों से पूर्ण कर उसके बाहर आठों दिशाओं में समान आकार वाले आठ लोह निर्मित बाणों को रखे । उसे किसी दृढ़ तन्तु द्वारा कलश कण्ठ में बाँधकर उसमें मोर के पङ्खे, सांप के केचुले से भूषित महौषधि, भूतजटा तथा शमी की शाख बाँध देवे । फिर उस बाणाष्टक को पञ्चवर्ण के सूत्र से उत्तर दिशा से आरम्भ कर दाहिनी ओर तीन बार लपेट देवे । फिर पूर्ण कलशों के अन्तराल (बीच-बीच) में ताम्रपात्र में सरसों का तेल भर कर महाराजत से रञ्जित बत्ती से संयुक्त कर आठ दीपक स्थापित करे ॥ २४३-२४९ ॥

तदनन्तर स्वयं स्नान करे, शिखा बाँधे, मौन धारण कर साधक पहले की भाँति दिग्बन्धन कर 'सर्वदोष पलायन' का संकल्प लेवे ॥ २५० ॥

मन्त्रनाथ श्रीनृसिंह की काम्य एवं नाना प्रकार के बहुत से कल्याणकारी पुष्पों, धूपों, फलों, मूलों तथा नैवेद्य एवं भक्ष्यों से विधिपूर्वक अर्चन करे ॥ २५१ ॥

अग्नि के मध्य में उन देवाधिदेव की सिद्धार्थ से संयुक्त सब बीजों से रजिका, घृत युक्त तिलों से सन्तुष्ट कर आतुर (रोगी) को पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त अस्त्र पुष्पों से सन्ताडित कर नेत्र मन्त्र से उसकी ओर देख कर जालु तथा शिर नीचा करा कर भगवान् को निवेदित कर परिधायुक्त अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित अर्घ्यादि से अर्चित आसन पर बिठावे । फिर षडङ्ग श्रीनृसिंह मन्त्र से रोगी के हाथ तथा देह में यथाविधि न्यास मानस रूप से कर उसके आगे चक्र सहित षट्कोण मण्डल लिखकर वहाँ पूर्वोक्त सुन्दर परिष्कृत सात कलशों में जल भर कर मध्य में षट्कोणों में स्थापित कर कोणों के बीच-बीच में पूर्वोक्त रीति से आठ दीपक भी रख कर मध्य कुम्भ में साङ्ग मन्त्रनाथ का पूजन करे । कोण में स्थापित कलशों से 'ॐ नृसिंह भूतेभ्यो नमः' इस मन्त्र से सर्वदोषनाशक श्रीनृसिंह के भूत गणों का अर्चन करे ॥ २५२-२६१ ॥

अस्त्राभिमन्त्रित सिद्धार्थक से दिग्बन्ध कर पुनः उस आतुर को पुष्पों से सन्ताडित कर अपने हाथ के पङ्खे से उसके सभी शरीरस्थ दोषों को मन से खींच लेवे । फिर उस दोष की आकाश में अथवा धरातल में प्रक्षिप्त कर फिर धूम रहित अतिदीप्त अग्निपात्र में स्थित इन्धन रहित उस अग्नि में सिद्धार्थक तिल के साथ एक सौ आठ की संख्या में 'अमुकं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मूल मन्त्र से अथवा अस्त्र मन्त्र से होम करे ॥ २६२-२६५ ॥

प्रत्येक आहुति में दिये जाने वाले द्रव्य रोगी के शिर के चारों ओर घुमावे। आतुर को सिद्धार्थक समन्वित, भैंसा गुग्गुल द्वारा मूल मन्त्र से धूपित कर, वस्त्र से आच्छादित कर, अग्निपात्र के समीप जल सहित पात्र रखकर, कुङ्कुमादि से उसे लाल बना कर, उदक सहित उस अन्न को निकाल कर, आतुर के धातुओं में स्थित समस्त दोषों के लिय 'अयं पशु प्रतिनिधि बलि:' ऐसा संकल्प कर 'यदीयमस्य वै बाधम् ... ... सिंहसत्येन मुञ्चतु' पर्यन्त मन्त्र पढ़ कर भूत बलि देवे ॥ २६६-२७० ॥

बलि देते समय मध्य में अपने बायें एवं दाहिने हाथ से असंख्यात होम करता रहे। बलिदान के लिये पहले प्रदक्षिणा करे। फिर अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से हाथ धोकर, कुण्डस्थ भूति अथवा दग्ध गोमय (= गोहरी) की विभूति ले कर, उसे कई बार अस्त्रमन्त्र से अभिमन्त्रित कर, आतुर के ललाट से लेकर पाद पर्यन्त ऊर्ध्वपुण्ड् लगाकर 'ॐ क्षौं नम:, ॐ नमो भगवते नरसिंहाय स्वस्त्यस्तु ते' इस मन्त्र को पढ़ते हुए कुम्भोदक समन्वित अर्घ्योदक बिन्दु से प्रोक्षण करे ॥ २७१-२७३ ॥

रोगी के ब्रह्मरन्ध्र में पूर्णचन्द्र मण्डल मध्यस्थ लाखों पूर्ण चन्द्रमा के समान महान् अमृत का क्षरण करते हुए मन्त्रनाथ का स्मरण करे तथा उस चूते हुए अमृत से रोगी के शरीर रूप वृक्ष के संसिक्त होने का ध्यान करे। फिर कलश स्थित तथा मण्डल स्थित देव की पुन: अर्चना करे। सोपकलश सोदक उस महाकुम्भ को आतुर के शयनागार में शिर:प्रदेश में किसी वस्त्र-पीठ पर स्थापित करे। वस्त्र से उसे आच्छादित करे। फिर वहाँ भी दिशाओं में एवं विदिशाओं में आठ पूर्ण कुम्भ स्थापित करे और निरन्तर अविच्छिन्न प्रसर धूप पात्र रखे। दीप पात्र भी पूर्व की भाँति स्थापित करे। फल, पुष्प, औषधि, दीप, लाजा, सिद्धार्थक तथा दही का पात्र उसके आगे रखे, तदनन्तर सायङ्काल होने पर बलिदान करना चाहिए ॥ २७४-२७९ ॥

बलिदान का प्रकार इस प्रकार है—प्रथम षटकोण मण्डल पर स्थापित कलशों में मध्य कुम्भस्थ भगवान् के अर्चन के लिये जो कुछ भी पुष्प, धूप, दीपादिक एकत्रित किया गया हो, उन सबको किसी एक पात्र में संग्रहीत कर, उसके चारों ओर छह कलशों पर स्थित नृसिंह के भूतों के लिये दिये गये पुष्प, धूप, दीपादिक भी एक पात्र में पृथक्-पृथक् छह पात्रों में रख कर, तत्-तत् पात्रों को स्व-स्व दीपों से अलङ्कृत करे और उन कुम्भों पर स्थापित करे। 'ॐ क्ष: वीर्यायास्त्राय फट् अमुकं रक्ष रक्ष' इस मन्त्र का स्मरण करते हुए उन-उन कलशों को साध्य के शिर:स्थान में क्रमानुसार पृथक्-पृथक् घुमावे सात्त्विक भगवद् भक्तों को जो बलि ले जाने वाले हैं उन्हें बुलावे। उनके हाथ में अस्त्राभिमन्त्रित सिद्धार्थक देकर अस्त्र मन्त्र से भस्म के द्वारा ललाट में तिलक करे। उनसे बलि

का वहन करा कर अगाध जल में, चत्वर में, वृक्ष मूल में, ग्राम के बाहर, अथवा नगर के बाहर देवभूत बलि को प्रक्षिप्त करा देवे ॥ २८०-२८५ ॥

सिद्धार्थ से धूपित पूर्वोक्त वह्निपात्र और जलपात्र भी उसी बलिपात्र के साथ त्याग देवे । इसी प्रकार किसी कूप के समीप, वापी के समीप, वृक्ष के समीप, बलि को भी प्रक्षिप्त करा देवे । फिर साधक अपना हाथ पैर धोकर आचमन करे । सुलिप्त भूमि में शयन करने वाले रोगी के शिर के चारों ओर जलते हुए दीप पात्र में अस्त्र मन्त्र से सिद्धार्थक (श्वेत सर्षप) प्रक्षिप्त करे और मूल मन्त्र से सम्पुटित अस्त्र मन्त्र से बहुत बार अभिमन्त्रित सिद्धार्थ सात रात तक प्रतिदिन रोगी के वस्त्र में बाँधे । ऐसा करने से व्याधि से पीड़ित रोगी की रक्षा सिद्ध हो जाती है । फिर रक्षा के योग्य रोगी के प्रलिप्त भूभाग में कुश अजिन के आसन पर स्वयं बैठ कर स्वयं मन्त्र न्यास करे । उसकी सहायता के लिये मात्र दूध भक्षण करते हुए अथवा निराहार रह कर जप ध्यान में परायण रहकर रात्रि के आदि मध्य और अन्त में पूर्वोक्त प्रकार से क्रमशः पूजन, हवन तथा बलिदान करे ॥ २८०-२९३ ॥

बलिदान में विशेष रात्रि के पूर्वभाग में जल सहित सक्तु, मधु और घृत से बलि देवे । मध्य रात्रि में यव, गोधूम एवं शालिधान्य का चूर्ण जिसमें गुड़ और जल मिला हुआ हो उससे तथा वृत्ताकार, दीपशिखाकर, आम्रफलाकार तीन प्रकार का मोदक हाथ से बनाकर उसमें दूध मिलाकर बिना पकाये उससे बलि देवे । रात्रि के अन्त में बिना पकाये सम्मर्दित कृष्ण तिल, बीज, तण्डुल, हरिद्राचूर्ण, दधि, दूर्वाङ्कुर और फलों से रक्षागृह के बाहर किसी मार्ग के कोने में अथवा संशुद्ध चत्वर में बलि प्रदान करे ॥ २९३-२९८ ॥

इसके बाद सप्तधान्य हाथ में लेकर मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित कर उसे किसी पुरवा में रखे । उस शरावा को किसी ब्राह्मण की कन्या को देकर उससे एक पात्र में तीन पसर बीज, दूसरे पात्र में सात पसर बीज, पुनः तीसरे पात्र में ११ पसर बीज लेवे । फिर उक्त तीनों पात्रों को क्रमशः जल से पूर्ण करे । फिर एक सौ आठ की संख्या में अस्त्र मन्त्र से सम्पुटित नृसिंह-बीज से प्रथम कुम्भ, उससे दूने सम्पुट से दूसरा पात्र तथा उससे तिगुने सम्पुट से तीसरा पात्र अभिमन्त्रित करे । प्रातःकाल में प्रथम पात्र उठाकर स्थल में छोड़े और मध्याह्न में दूसरा पात्र उठाकर जल में प्रक्षिप्त करे । समाप्ति दिन पर्यन्त प्रतिदिन सामान्य रूप से इसी प्रकार साधक भूत के तर्पण का कार्य करे ॥ २९८-३०२ ॥

फिर दूसरे दिन भी विधानपूर्वक श्रीनृसिंह देव का अर्चन कर अग्नि में पूर्णाहुति पर्यन्त उनको तृप्त कर किसी गोमयोपलिप्त स्थल में सफेद चूर्ण से मण्डल निर्माण करे । उसके मध्य में शङ्ख और उसके मध्य में षट्दल कमल लिखकर पहले शयनागार के शिरःप्रदेश में स्थापित कुम्भाष्टक के मण्डल पर आठ कोणों में आठ दीपकों के साथ मध्यकुम्भ को मण्डल के मध्य में स्थापित करे

और उस पर पूर्वदिन के पूजा के अर्घ्य पुष्प माल्यादि का अपसारण करे । उस कुम्भ के जल के सूख जाने पर शीतल जल की धारा से पुनः उसे पूर्ववत् पूर्ण करे । कुम्भ का जल जैसे-जैसे सूखता जायेगा, वैसे-वैसे रोगी के धातु की वृद्धि होगी । इसके बाद नवीन माला, वस्त्र, गन्धादि से मन्त्रनाथ को अलङ्कृत कर पूर्ववत् यजन करे । रक्त धातु की वृद्धि करने वाले मन्त्र पूत सुगन्धित पुष्प, नैवेद्यादि से देवाधिदेव को सन्तृप्त करे । पूजा के बाद अर्घ्य, पुष्प, रज, धूप, दीपादि सब एकत्रित कर नित्य कहीं अगाध जल में फेंक देवे । उससे शेष बचे का प्राक् उक्त रीति से विनियोग करे ॥ ३०३-३११ ॥

इसके बाद तीसरे दिन चौकोर मण्डल लिखकर उसमें षट्कोण एवं पुर लिखे । फिर उसके मध्य में कमल लिखकर वहाँ पूर्ववत् कलश समूह स्थापित कर उसके बीच-बीच में दीपक स्थापित करे । फिर पूर्व की भाँति अर्चना कर भगवन्निवेदित हविरादि से ब्राह्मणों को सन्तृप्त करे ॥ ३११-३१२ ॥

चौथे दिन वृत्तमण्डल लिखे । उस वृत्त पर नाभि नेमि समन्वित पञ्चार चक्र लिखकर उसके मध्य स्थित महाकुम्भ के चारों ओर दिक्कलश रक्खे । दोनों के मध्य में दीपक रखकर विविध नैवेद्य तथा विविध पुष्पों से देवाधिदेव की अभ्यर्चना कर उनके द्वारा उपयुक्त हविरादि सब अग्नि में प्रक्षिप्त करे । शेष सभी कार्य पूर्ववत् सम्पादन करे ॥ ३१३-३१५ ॥

इसके बाद पाँचवे दिन अष्टकोण मण्डल बनावे और उसमें शङ्ख लिखकर शङ्ख के भीतर कमल लिखे । उसके भीतर नाभि वेदी सहित पञ्च अरों वाला भूतों का आवास हेतिराट् (चक्र) लिखे । इसी प्रकार पूर्व की भाँति कुम्भ सहित दीपक स्थापित कर विविध प्रकार के नैवेद्यों तथा कुसुमादिकों से भगवत् पूजन सम्पादन करे । तदनन्तर देवोपयुक्त अन्नादि जल में प्रक्षिप्त कर शेष कार्य पूर्ववत् करे ॥ ३१६-३१८ ॥

इसके बाद छठे दिन त्रिकोण मण्डल लिखकर, उसके मध्य में सात अरों से युक्त महाचक्र लिखकर, उसके बीच में चारों ओर चार गदा लिखकर, उसके मध्य में स्थित महाकुम्भ पर देवाधिदेव को यथाविधि पधरा कर अर्चना करे । फिर तन्निवेदित अन्नादि का काक आदि आकाशचारी पक्षियों के खाने के लिये किसी ऊँचे स्थान पर रख देवे ॥ ३१८-३२० ॥

इसके बाद पुनः सातवें दिन चतुःकोण मण्डल निर्माण करे । फिर कोण चतुष्क पर चार शङ्ख लिखें । उसके मध्य में असंख्य दल भूषित पद्म लिखे । उस कमल की कर्णिका में द्वादश अरों वाला चक्र लिखे और उसके आठों दिशाओं में दीपयुक्त आठ कलश स्थापित करे । उस कलश पर सातवें दिन के पूजन का दक्षिणा सहित समस्त नैवेद्य का विनियोग छठें दिन के समान ही करे । ऐसा करने से रोगी के रस, अष्टक, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन धातुओं की

क्रम से वृद्धि होने लगती है । देह के धातुओं पर आश्रित मांस भोजी जन्तुओं की बलि के लिये सातों दिन क्रमशः महिष, अज, गुड, हरिण, शशक, मयूर और चक्रवाक का सम्पादन करे । कुङ्कुम से रँगे हुए विष्ट आदि द्वारा पशु प्रतिनिधि के रूप में करे । जीव हिंसा कदापि न करे क्योंकि स्वार्थ के लिये एवं पदार्थ के लिये अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष को प्राणिहिंसा कदापि नही करनी चाहिये । विशेष कर जीवित रहने की इच्छा रखने वाला पुरुष प्राणिहिंसा वर्जित करे । प्राणिहिंसा से आयु का क्षय होता है और प्राणियों को अभयदान देने से आयु की अभिवृद्धि होती है ॥ ३२९ ॥

आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, अपमृत्यु पर विजय महान्, बल, ओज, धृति, धैर्य, मन्त्र के जप से प्राप्त होता है, दूसरे के आयुष्य के हरण से नहीं ॥ ३३० ॥

सत्त्वगुण में स्थित पुरुष की मन्त्र, पूजा, जप, होम, सुवर्ण एवं गवादिक का दान करने से इस लोक की तथा परलोक की वृद्धि होती है ॥ ३३१ ॥

इस प्रकार सात दिन बीत जाने पर मण्डलादि स्थित देवताओं से क्षमा माँग कर मण्डलीय रजःकण तथा बलि आदि की समस्त वस्तुयें दूर जलादि में प्रक्षिप्त कर देवे । यहाँ तक आतुरों के रक्षा विधान की विधि कही गई ॥ ३३२-३३३ ॥

अनातुराणामपि रक्षाविधानम्

नीरुजानां विशेषेण रक्षणं भोगसेविनाम् ॥ ३३३ ॥
क्रियारतानां भक्तानामास्तिकानां हितैषिणाम् ।
कार्यं क्रियापरेणैव मन्त्रज्ञेन सदैव हि ॥ ३३४ ॥
यत्रानेन विधानेन शरीरमपि रक्ष्यते ।
तत्र भूताः प्रयच्छन्ति कल्याणं सर्वलौकिकम् ॥ ३३५ ॥
अथ सन्धारणीं रक्षां वक्ष्ये विग्रहभूषणम् ।
या सम्पन्ने क्रियामात्रे धारणादेव रक्षति ॥ ३३६ ॥
प्रणवाद्यन्तसंरुद्धं प्राग्वत् संज्ञापदं लिखेत् ।
संज्ञाधारं हि तद्बीजं विन्यसेत् प्रणवोदरे ॥ ३३७ ॥
तेनावर्तं त्रिधा कुर्यात् सर्वं तत् सिंहकुक्षिगम् ।
नेमेर्दशमबीजेन बीजराट् परिवेष्ट्यते ॥ ३३८ ॥
औकाररहितं बीजं नाभिसप्तमसंस्थितम् ।
भिन्नं सर्वारसंस्थैस्तु कृत्वा तेन प्रपूर्य तम् ॥ ३३९ ॥
कमलं तद्बहिः कुर्यात् षड्दलं व्योमभूषितम् ।
हृदाद्यं नेत्रपर्यन्तं पत्रषट्के तु विन्यसेत् ॥ ३४० ॥

प्रणवेन चतुर्दिक्षु संरुद्धं नाम संलिखेत्।
रक्षवीप्सापदोपेतं पत्रसन्धिषु षट्स्वथ॥ ३४१ ॥
द्वादशारं बहिश्चक्रं नाभिनेमियुतं लिखेत्।
नाभेरष्टमबीजं यत् तदरेष्वन्तरा न्यसेत्॥ ३४२ ॥
सप्तमाद् दशमं यावद् वर्जयित्वा अराक्षरम्।
क्रमेण भेदयेच्छेषैस्तदरार्णैः सबिन्दुकैः॥ ३४३ ॥
जहिवीप्सापदं दोषानमुकस्येति विन्यसेत्।
सर्वेषामन्तरालेषु अस्त्रमन्त्रं तु पूर्ववत्॥ ३४४ ॥
अमुकं पाहि पाहीति द्वादशाक्षरमध्यगम्।
चक्रनाभौ तु विन्यस्य नेमिदेशे तथैव हि॥ ३४५ ॥
क्रमादथ बहिर्लिख्य मन्त्रचक्रस्य यत्नतः।
वृत्तत्र्यश्रार्धचन्द्राणि चतुरश्रपुराणि च॥ ३४६ ॥
बिन्दुस्वस्तिककह्लारवज्रसंलाञ्छितानि च।
नाभिपूर्वद्वितीयेन चतुर्थेन तदादिना॥ ३४७ ॥
क्रमाद् वर्णचतुष्केण तानि युक्तानि कारयेत्।
सषडङ्गेन बीजेन नाम रक्षपदानुगम्॥ ३४८ ॥
सम्पुटीकृत्य वृत्ताख्यं मण्डलं परिपूरयेत्।
द्वादशार्णेन बाह्यस्थं तृतीयं पूर्य पूर्ववत्॥ ३४९ ॥
द्वितीयं वा चतुर्थं तु बहिर्दिक्ष्वष्टके क्रमात्।
रक्षवीप्सापदोपेतं नामवर्जं नियोजयेत्॥ ३५० ॥
सह रोचनया योज्य कर्पूरं कुङ्कुमं तु वै।
क्षीरेण कापिलेनाथ तद्गोमयरसेन च॥ ३५१ ॥
निशाम्बुना समालोड्य निम्नगासलिलेन वा।
विलिख्य भूर्जपत्रे वा बर्हिपक्षेण वासरे॥ ३५२ ॥
शुभेऽनुकूले नक्षत्रे सुलग्नेऽभ्युदिते ग्रहे।
पूज्य संवेष्ट्य सूत्रेण ततः सद्धातुना तु वै॥ ३५३ ॥
सन्धार्य मूर्ध्नि कण्ठे वा सततं दक्षिणे भुजे।
दैवदोषविमुक्तस्तु वर्धते शोकवर्जितः॥ ३५४ ॥
अधिभूतैर्भयैर्मुक्तो यावज्जीवं हि तिष्ठति।
परार्थतो वा स्वार्थेन कृतकृत्यो यदा भवेत्॥ ३५५ ॥
दोषवान् शान्तिदेनैव कर्मणाऽनेन साधुना।

मन्त्री तदा मन्त्रवरं प्रयत्नेन क्षमापयेत्॥ ३५६ ॥
सिद्ध्यर्थमन्यसिद्धीनां यागहोमजपादिना ।

अथानातुराणामपि रक्षाविधिमाह—नीरुजानां विशेषेणेत्यारभ्य यागहोमजपादिनेत्यन्तम् । दैवदोषविमुक्त आधिदैविकतापविमुक्त इत्यर्थः । आधिदैविको नाम शीतोष्णवातवर्षाम्बुवैद्युतादिसमुद्भवस्तापः । शोकवर्जित आध्यात्मिकतापविमुक्त इत्यर्थः । शोकपदमाध्यात्मिकानामन्येषामप्युपलक्षणम् । आध्यात्मिको नाम—

कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादजः ।
शोकासूयावमानेर्ष्यामात्सर्यादिमयस्तथा॥ (विष्णु पु. ६।५।५)
शिरोरोगप्रतिश्यायज्वरशूलभगन्दरैः ।
गुल्मार्शःश्वयथुश्वासच्छर्द्यादिभिरनेकधा ॥
तथाक्षिरोगातीसारकुष्ठाङ्गामयसंज्ञितैः । (विष्णु पु० ६।५।३-४)

इत्युक्तस्तापः । अधिभूतमयैर्मुक्त आधिभौतिकतापविवर्जित इत्यर्थः । आधिभौतिको नाम—

पशुपक्षिमनुष्याद्यैः पिशाचोरगराक्षसैः ।
सरीसृपाद्यैश्च नृणां जन्यन्ते चाधिभौतिकाः ॥ (विष्णु पु० ६।५।७)

इत्युक्तस्तापः । तथा च प्रयोगः—

शुभेऽनुकूले नक्षत्रे शुभे ग्रहेऽभ्युदिते सुलग्ने स्नातः कृतमन्त्रन्यासः साधको रोचनाकर्पूरकुङ्कुमानि कपिलाक्षीरेण तद्गोमयरसेन च हरिद्रोदकेन नदीजलेन च समालोड्य तत्कुङ्कुमादिपङ्कं बर्हिपक्षलेखिन्या समादाय भूर्जपत्रादौ वक्ष्यमाणप्रकारेण विलिखेत् । प्रणवसम्पुटितं साध्यनामधेयं श्रीनृसिंहबीजगर्भं विलिख्य तद् बीजं प्रणवगर्भे यथा भवेत् तया विलिख्य पुनस्तत्प्रणवं बीजगर्भस्थं कृत्वा पुनस्तद्बीजं प्रणवमध्यगतं कृत्वैवं त्रिधावर्तानन्तरं तत्सर्वं बीजगर्भगतं कृत्वा तद्बीजं नेमेर्दशमबीजेन लकारेण परिवेष्ट्यौकाररहितं नृसिंहबीजं नाभिसप्तमसंस्थितं सकारोपरि संस्थितं सर्वारसंस्थितैरकारादिविसर्गान्तैः स्वरैर्विभिन्नं च कृत्वा तेन तं प्रपूर्य तद्बहिर्व्योमभूषितं षड्दलं कमलं विलिख्य तद्दलेषु हृदादिनेत्रान्तान् षण्मन्त्रान् विलिख्य चतुर्दिक्ष्वपि प्रणवसम्पुटितं रक्ष्यस्य नामधेयं रक्ष रक्षेति पदान्वितं पत्रसन्धिषट्केऽपि विलिख्य तद्बहिर्नाभिनेमिसमन्वितं द्वादशारं चक्रं विलिख्य नाभेरष्टमबीजं हकारं सप्ताष्टम-नवम-दशमस्वरान् विहायावशिष्टैरकारादिविसर्गान्तैर्द्वादशस्वरेर्भिन्नं कृत्वा द्वादशारेष्वपि क्रमेण लिखेत् ॥ ३३३-३४३ ॥

अराणामन्तरालेषु 'ॐ क्षः वीर्याय अस्त्राय फट् अमुकस्य दोषान् जहि जहीति' विलिखेत् । चक्रस्य नाभिदेशे नेमिभागे च नृसिंहद्वादशाक्षरसम्पुटितममुकं पाहि पाहीति विलिखेत् । ततस्तन्मन्त्रचक्रस्य बहिर्बिन्दुभूषितं वृत्तमण्डलं तद्बहिः स्वस्तिकभूषितं त्र्यश्रमण्डलं तद्बहिः कह्लारभूषितमर्धचन्द्राकारं मण्डलं तद्बहिर्वज्रलाञ्छितं चतुरश्रं मण्डलं च विलिख्य नाभिपूर्वं यकारं वायुबीजं पूर्वोक्ते वृत्तमण्डले तद्द्वितीयं रेफमग्निबीजं त्रिकोणमण्डले तच्चतुर्थममृतं (वकारं) बीजमर्धचन्द्राकारमण्डले तत्तृतीयं

पार्थिवबीजं चतुरश्रमण्डले च विलिख्य वृत्तमण्डले सषडङ्गेन बीजेन सम्पुटीकृतममुक-नामधेयं रक्षेति पदद्वयं विलिखेत् । तथैवार्धचन्द्राकारमण्डलेऽपि द्वादशाक्षरसम्पुटित-ममुकं रक्षेति पदद्वयं विलिखेत् । पुरस्त्र्यश्रमण्डले वृत्तमण्डलवच्चतुरश्रमण्डलेऽर्ध-चन्द्राकारमण्डलवच्च विलिख्य बहिः प्राच्याद्यष्टदिक्षु रक्ष रक्षेति केवलं नामवर्जितं विलिखेत् । अथेदं यन्त्रं यथाविधि सम्पूज्य सूत्रेण संवेष्ट्य सुवर्णादिधातुना विधाय मूर्ध्नि कण्ठे दक्षिणभुजे वा सततं धारयेत् । अनेन यावज्जीवमाध्यात्मिकाधिदैवि-काधिभौतिकतापत्रयभयविमुक्तो भवति । एवं स्वार्थतः परार्थतो वा यन्त्रोद्धारादिकं कृत्वा यागहोमसमाधिभिर्देवं सविशेषं समाराध्य क्षमापयेत् ॥ ३४४-३५७ ॥ इति संधारिणी रक्षाविधिः ॥

अब **अनातुरों की रक्षाविधि** कहते हैं—क्रियापरायण मन्त्रज्ञ को चाहिये कि वह भोग सेवन करने वाले, रोग रहित, यज्ञ यागादि क्रियापरायण आस्तिक भक्तों की एवं अपने हितेच्छु जनों की रक्षा अवश्य करे ॥ ३३४ ॥

जहाँ उक्त प्रकार से मन्त्रज्ञ शरीर की रक्षा करता है, वहाँ भूतगण भी सार्वलौकिक कल्याण करते हैं ॥ ३३५ ॥

अब शरीर की भूषणभूत सन्धारणी रक्षा कहता हूँ । जिसके क्रिया मात्र के सम्पन्न होने से अथवा उसके धारण करने मात्र से साधक मनुष्य अपनी रक्षा कर लेता है ॥ ३३६ ॥

अब इसकी प्रयोग विधि कहते हैं—शुभ अनुकूल नक्षत्र में, शुभ ग्रह स्थिति में एवं शुभ लग्न में साधक स्नान करे और न्यास करे । फिर रोचना कुङ्कुम एवं कपूर को एक में मिला कर उसे कपिला गौ के दूध एवं गोमय से रस (हरदी का) जल तथा नदी के जल से अच्छी तरह मन्थन कर एकीकरण करे । उस पङ्क को मोर पक्ष की कलम से भोजपत्र आदि पर इस प्रकार लिखे—

श्री नृसिंह बीज के गर्भ में प्रणव सम्पुटित साध्य नाम लिखे फिर उस बीज को भी प्रणव गर्भ में जिस प्रकार वह आ सके वैसा लिखे । फिर उस प्रणव को भी उस बीज के गर्भ में स्थापित कर फिर उस बीज को भी प्रणव मध्यगत लिखे। इस प्रकार तीन बार आवृत्ति कर उन सभी को बीज के गर्भ में लिखे । फिर उस बीज को नेमि के दशम बीज लकार से परिवेष्टित करे । फिर औकार रहित नृसिंह बीज को (नाभि सप्तम स्थित) सकार के ऊपर संक्षिप्त कर सभी अरा पर संस्थित एकारादि विसर्गान्त स्वरों से संयुक्त कर, उसके बाहर व्योम-भूषित षडदल कमल लिख कर, उसके दलों पर हृदादि नेत्रान्त ६ मन्त्रों को लिख कर, उसके चारों दिशाओं में प्रणव सम्पुटित रक्ष्य का नाम 'रक्ष रक्ष' इस पद से युक्त कर, पत्र सन्धि के ६ भागों पर उसे लिखकर उसके बाहर नाभि समन्वित द्वादशाक्षर चक्र लिखकर नाभि का अष्टम बीज हकार लिखे । फिर सप्तम, अष्टम, नवम, दशम (ऋ ॠ ऌ ॡ) इन चार स्वरों को छोड़कर

अवशिष्ट विसर्गान्त एकादश स्वर (अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अः) स्वरों से संयुक्त कर द्वादश अरों पर उन्हें लिखे ॥ ३३७-३४३ ॥

अरों के बीच-बीच में 'ॐ क्षः वीर्याय अस्त्राय फट् अमुकस्य दोषान् जहि जहि' यह लिखे । फिर चक्र के नाभि देश तथा नेमिभाग पर नृसिंह के द्वादशाक्षर मन्त्र से सम्पुटित 'अमुकं पाहि पाहि' यह लिखे । तदनन्तर इस प्रकार लिखे गये उस मन्त्र चक्र के बाहर बिन्दुभूषित वृत्तमण्डल, उसके बाहर स्वस्तिकभूषित त्रिकोणमण्डल, उसके बाहर कह्लारभूषित अर्धचन्द्राकार मण्डल, उसके बाहर वज्र लाञ्छित चौकोर मण्डल लिखकर नाभिपूर्व वायु बीज यकार लिखे । पूर्वोक्त वृत्त मण्डल पर, उससे दूसरा रेफ अग्निबीज त्रिकोण मण्डल पर, चौथा अमृत बीज वकार अर्धचन्द्राकार मण्डल में, तृतीय पार्थिव बीज लकार इस प्रकार चारों मण्डल पर लिखकर वृत्त मण्डल पर षडङ्गबीज से सम्पुटित 'अमुकनामधेयं रक्ष' इस दो पद को लिखे, फिर उसी प्रकार अर्धचन्द्राकार मण्डल पर भी द्वादशाक्षर सम्पुटित 'अमुकं रक्ष' यह दो पद लिखे । फिर त्रिकोण मण्डल, वृत्त मण्डल, चतुरस्र मण्डल, अर्धचन्द्राकार मण्डल लिखकर उसके बाहर पूर्वादि आठों दिशाओं में केवल रक्ष रक्ष इतना ही नामवर्जित पद लिखे । फिर इस प्रकार निष्पन्न मन्त्र का यथाविधि पूजन कर, उसे सूत्र से संवेष्टित कर और सुवर्णादिक धातु में उसे स्थापित कर शिर, कण्ठ या दाहिने हाथ में कहीं भी सतत् धारण करे । इसको जीवन पर्यन्त धारण करने वाला पुरुष आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के तापों के भय से सदा विमुक्त हो जाता है । इस प्रकार अपने लिये तथा दूसरों के लिए मन्त्रोद्धार कर याग, होम एवं समाधि द्वारा भगवान् नृसिंह का विशेष रूप से समाराधन करने वाला साधक उनसे प्रार्थनापूर्वक क्षमा याचना करे ॥ ३४४-३५६ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्य पुरुषार्थचतुष्टयसाधनविधिः

अथ मन्त्रवराद् धर्मसाधनं योऽभिवाञ्छति ॥ ३५७ ॥
तत्प्राप्तये विधानं च संक्षेपादवधारय ।
पितॄणां लुप्तपिण्डानां पिण्डनिर्वापणाय च ॥ ३५८ ॥
प्रीतयेऽपि जगद्धातुः परित्राणार्थमात्मनः ।
कृतोपवासोऽमावास्यां मण्डलान्तर्गतं विभुम् ॥ ३५९ ॥
आवाह्य पूर्वविधिना योजयेद् भक्तिपूर्वकम् ।
पाद्यार्घ्यपुष्पधूपैस्तु दानैर्हेमगवादिकैः ॥ ३६० ॥
तिलयुक्तैस्तु नैवेद्यैः सकुशैस्तु तिलान्वितैः ।
विमलैरम्बुपात्रैश्च स्वयमञ्जलिपूरकैः ॥ ३६१ ॥
सोऽचिरान्मन्त्रमूर्तेर्वै प्रसादाच्छाश्वतं पदम् ।

प्राप्नोति नरकस्थांश्च पितृनपि नयेद् दिवम् ॥ ३६२ ॥
पत्रपुष्पफलान्नाद्यसस्यदध्योदनादिना ।
रसैरन्नैश्च सद्‌गन्धैर्वस्त्रोत्कृष्टैस्तु धातुभिः ॥ ३६३ ॥
प्रवालमुक्तामाणिक्यैर्भक्त्या च विभवे सति ।
बिम्बस्थं मण्डलस्थं वा सर्वैर्यो मन्त्रिराड् यजेत् ॥ ३६४ ॥
षडशीतिमुखोत्थायां पूर्णायां सोपवासकः ।
यज्ञधर्मफलाकाङ्क्षी स नूनं तदवाप्नुयात् ॥ ३६५ ॥
यो हि वाञ्छति सद्धर्मतीर्थाभिगमनं महत् ।
स यथावत् क्रमात् पूर्वं मण्डले मन्त्रराड् यजेत् ॥ ३६६ ॥
ततः सम्भृतसम्भारः स्नानपूर्वं समर्चयेत् ।
सिद्धप्रतिष्ठितं बिम्बं सैद्धं वाथ स्वयंकृतम् ॥ ३६७ ॥
पञ्चगव्यदधिक्षीरघृतमध्विक्षुवारिभिः ।
सर्वौषधीगन्धरत्नफलपुष्पान्वितैर्घटैः ॥ ३६८ ॥
साङ्गेनामन्त्र्य मन्त्रेण शताष्टफलपूरितैः ।
अन्तरीकृतशुद्धाम्भःकुम्भैरर्घ्यसमन्वितैः ॥ ३६९ ॥
श्रद्धापूतेन मनसा एवं निष्पाद्यते यदि ।
प्रसादं मन्त्रनाथस्य प्रागुक्तमचिराल्लभेत् ॥ ३७० ॥
संक्रान्त्यां सोपवासस्तु मण्डले मन्त्रनायकम् ।
समावाह्य यजेद् यस्तु फलपुष्पैर्यथर्तुजैः ॥ ३७१ ॥
सप्ताहं फलमूलाशी त्रिकालं स्नानतत्परः ।
बहुशोऽष्टाङ्गपातैस्तु प्रदक्षिणसमन्वितैः ॥ ३७२ ॥
स नूनं समवाप्नोति शश्वद् यस्तद् व्रतोद्भवम् ।
अथाभिमतदानाद् वै यो धर्ममभिवाञ्छति ॥ ३७३ ॥
विषुवस्थं दिनं प्राप्य सोपवासस्तु संयतः ।
अभिसन्धाय मनसा धर्मं दानादभीप्सितम् ॥ ३७४ ॥
निर्वर्त्य मण्डलं रम्यमग्न्यगारसमन्वितम् ।
गोसम्भवैस्तु नैवेद्यैर्भक्ष्यैः सफलमूलकैः ॥ ३७५ ॥
स्रग्वरैर्धूपदीपैस्तु तिलैर्होमाम्बुभाजनैः ।
सम्यगिष्ट्वाऽथ सन्तर्प्य ज्वलनान्तर्गतं ततः ॥ ३७६ ॥
समिद्भिराज्येन तिलैः सघृतैस्तण्डुलान्वितैः ।
ततोऽभिवर्धते धर्मो मूर्तादानाच्छताधिकम् ॥ ३७७ ॥

दक्षिणे वायने वाथ शुभं निर्वर्त्य मण्डलम् ।
मन्त्रनाथं तु चावाह्य विधिना संयजेत् ततः ॥ ३७८ ॥
माल्यैर्विलेपनैर्धूपैर्महादीपैघृतादिकैः ।
गुडखण्डचितैर्भक्ष्यैः पयसा कृसरेण तु ॥ ३७९ ॥
नालिकेरोदकेनैव सक्तुना च घृतेन च ।
सन्तर्प्य हुतभुङ् मध्ये मन्त्रमाज्यादिकैस्ततः ॥ ३८० ॥
विधिनानेन वै धर्ममिष्टापूर्तमवाप्यते ।
चन्द्रसूर्योपरागे चाप्यहोरात्रोषितः शुचिः ॥ ३८१ ॥
सर्वोपकरणोपेतमादौ निर्वर्त्य मण्डलम् ।
न्यस्य मन्त्रवरं तत्र विभवेन यजेत् ततः ॥ ३८२ ॥
सन्तर्प्य वह्निमध्येऽथ समिद्भिर्वा घृतादिकैः ।
जपेन्मन्त्रवरं पश्चान्मनसा ध्यानसंयुतम् ॥ ३८३ ॥
अक्षसूत्रकरो मन्त्री यावच्चन्द्रार्कदर्शनम् ।
पूजाहोमजपानां च फलानन्त्यमवाप्नुयात् ॥ ३८४ ॥
भक्तानामर्थहीनानां मन्त्रैकनियतात्मनाम् ।
साधनाङ्गविहीनानां फलेप्सूनामिदं स्मृतम् ॥ ३८५ ॥
स्नानाद् ध्यानात्तथा योगाज्जपाद्धोमाच्च सद्व्रतात् ।
सदन्नपानाद् दानाच्च सर्वलोपाच्च सामयात् ॥ ३८६ ॥
धर्मसाधनमिप्युक्तं सवित्तानां विशेषतः ।
अथार्थसाधनं मन्त्रादभिवाञ्छति योऽचिरात् ॥ ३८७ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथवा यतिः ।
कृत्वा यागं यथा सम्यक् सप्ताहं तत्र मन्त्रराट् ॥ ३८८ ॥
यजेत् स विभवेनैव त्रिस्नायी नक्तभोजनः ।
त्रैकाल्यं हुतभुङ्मध्ये सन्तर्प्याज्येन कालजैः ॥ ३८९ ॥
विल्वैरामलकैः पद्मैस्तदभावे कुशाङ्कुरैः ।
य इच्छेत् तस्य कालं तु मन्त्रं मन्त्रेश्वरात् फलम् ॥ ३९० ॥
वैशाख्ये हि सिते पक्षे सौम्यश्रवणसंयुते ।
सोपवासेन कर्तव्यं मन्त्रेशस्यार्चनं महत् ॥ ३९१ ॥
स्थले वा मण्डले बिम्बे साम्भःकुम्भेऽथवा ततः ।
दक्षिणोत्तरपादाभ्यां मन्त्रनाथस्य पूजयेत् ॥ ३९२ ॥
गङ्गां च यमुनां चैव नतिना प्रणवेन तु ।

तदङ्घ्रिजलमिश्रेण घटमापूर्य चाम्भसा ॥ ३९३ ॥
अलङ्कृत्य यथाशोभं पुष्पवस्त्रानुलेपनैः ।
विनिवेश्य च तद्वक्त्रे तिलहोमफलान्वितम् ॥ ३९४ ॥
मध्वाज्यशर्कराद्येन पूर्णं दध्योदना(नि?दि) च ।
महत्पूर्णघटं चैव पात्रं वा वैदलं ततः ॥ ३९५ ॥
निवेद्य मन्त्रमूर्तौ प्राक् सदुपानहसंयुतम् ।
तत्रातपत्रसहितं पात्रमाहूय वै ततः ॥ ३९६ ॥
स्त्रक्चन्दनार्घ्यधूपैस्तु तमलङ्कृत्य वाससा ।
मन्त्रेणार्घ्योदकं पाणौ दत्त्वा तदनु तद्घटम् ॥ ३९७ ॥
प्रतिपाद्य जगद्योनेः प्रीत्यर्थमपि तेन वै ।
प्रसक्तेन परां प्रीतिं वाच्यो मन्त्री महामते ॥ ३९८ ॥
एवमेव प्रपन्ना ये नारायणमनामयम् ।
वर्णा ब्राह्मणपूर्वा ये ते स्वदुष्कृतशान्तये ॥ ३९९ ॥
स्नात्वाऽभ्यर्च्य पितॄन् देवान् सन्नदीभ्यां तु सङ्गमे ।
आ नाभिमवतीर्याऽथ विमलाञ्जलिपूरकैः ॥ ४०० ॥
निर्वर्त्य भगवाद्यागं दद्याद् विप्रवराय च ।
आप्त्यर्थं विबुधानां च सर्वलोकनिवासिनाम् ॥ ४०१ ॥
पितॄणां स्वकुलोत्थानां सततं श्राद्धकाङ्क्षिणाम् ।
श्वेतद्वीपाप्तये चैव वृद्ध्यर्थं च स्वसन्ततेः ॥ ४०२ ॥
आस्तां सितासिता चैव द्वादशी त्वमलेक्षण ।
भगवद्भावपूतानां या काचिदपरा तिथिः ॥ ४०३ ॥
सा चैव श्रवणोपेता युता चाभिजिता तु वै ।
सा तेषामङ्गभावं च याति सर्वफलाप्तये ॥ ४०४ ॥
तस्मात् कृतोपवासस्तु तस्यामभ्यर्च्य मन्त्रराट् ।
विभवेनाथवा शक्त्या मन्त्रसाम्मुख्यसिद्धये ॥ ४०५ ॥
यानि यानीह दानानि गोभूहेमादिकानि च ।
दत्तानि चानुरूपाणि जनानां कृतकर्मणाम् ॥ ४०६ ॥
फलदानि च दातॄणां भवदार्ढ्यकराणि च ।
सम्यग् दत्तानि तान्येव भक्तानां भावितात्मनाम् ॥ ४०७ ॥
भगवत्पादलिप्सूनां भवन्ति भवशान्तये ।
अपिवादमिदं तावद् यत् सर्वत्राच्युतो हरिः ॥ ४०८ ॥

विष्णुर्नारायणो हंसः सर्वशक्तिमयः प्रभुः ।
द्रव्यात्मना विभक्तश्च ज्ञातव्यो ज्ञानकर्मणि ॥ ४०९ ॥
त्रिविधेन तु भेदेन बुद्बुदाद्या यथाम्भसि ।
एवं दानं स्वमात्मानं पात्रं नारायणात्मकम् ॥ ४१० ॥
बुद्ध्वा सामान्यबुद्ध्या प्राक् पुनस्तत्त्रिविधं पृथक् ।
सविशेषं परिज्ञेयं दानकाले ह्युपस्थिते ॥ ४११ ॥
उपायलक्षणं द्रव्यमभ्यूह्यादौ स्वचेतसा ।
अनन्तशक्तेः सामर्थ्यमिदं किञ्चिदनश्वरम् ॥ ४१२ ॥
दानाभिमानदेहस्तु प्रत्यगात्मा त्वहं प्रभुः ।
पात्रभावत्वमापन्नो मदनुग्रहकाम्यया ॥ ४१३ ॥
देवः पञ्चतनुः साक्षात् पञ्चभूतात्मना त्विदम् ।
ज्ञात्वैवं द्वादशार्णेन स्वेन वा न्यस्तविग्रहः ॥ ४१४ ॥
प्रत्ययं मन्त्रमालम्ब्य द्रव्यहोमादिकं ततः ।
स्वरूपमजहद् ध्यायेन्महद्रश्मिकदम्बवत् ॥ ४१५ ॥
अमन्त्रेण यजेत् पश्चादर्घ्यपुष्पानुलेपनैः ।
सिंहद्विषट्कमन्त्रेण स्वकेनाङ्गोज्झितेन वा ॥ ४१६ ॥
सकलीकरणं कुर्यात् पात्रभूतपरात्मना ।
तमर्चयित्वा विधिवद् वस्त्रस्त्रगनुलेपनैः ॥ ४१७ ॥
भगवत्प्रीतिपूर्वं तु दानं दद्याच्च सोदकम् ।
तेनापि प्रीणनं कार्यं भगवद्भावितात्मना ॥ ४१८ ॥
दानं ज्ञानात्मतां येन प्रयात्यच्युतवेदिनाम् ।
नारायणः परंब्रह्म प्रतिशब्दत्वमागतः ॥ ४१९ ॥
संसारानलतप्तानां भक्तानां मोहशान्तये ।
अतस्तस्य स्वमन्त्रेण मूर्तिदानं समाचरेत् ॥ ४२० ॥
द्वादशाक्षरपूर्वेण त्वथवाऽन्येन केनचित् ।
अनन्तं त्वमलं त्वेवं क्रोडीकृत्य तदात्मना ॥ ४२१ ॥
समर्चनीयं विधिवन्मन्त्राकृति यथा सदा ।
एवं दानप्रदानेन यजेन्मन्त्रात्मना परम् ॥ ४२२ ॥
महन्मन्त्रात्मना चैव पुनः सद्व्रतसिद्धये ।
ब्रह्मत्वमेति वै येन व्रतिना भगवद्व्रतम् ॥ ४२३ ॥
अनेकभेदभिन्नं च सदानं यत्पदार्थिनाम् ।

तपो यज्ञं हि विधिवद् ब्रह्मभावनयाऽर्चयेत् ॥ ४२४ ॥
यथा स्यान्मोक्षफलदमचिराद् विष्णुयाजिनाम् ।
नानाद्रव्याङ्गदेहं यद् यज्ञं चानेकलक्षणम् ॥ ४२५ ॥
मूर्ततां यज्ञमन्त्रेण नीत्वैवं प्राक् समर्चयेत् ।
जुहुयादा समाप्त्यन्तं पूर्णान्ते हेममृच्छति ॥ ४२६ ॥
दानानां च व्रतानां च तपसां यज्ञकर्मणाम् ।
निवेदितव्यं यद् द्रव्यं दत्तं वा यत्र यत्पुरा ॥ ४२७ ॥
कर्तव्यमनुयागार्थं प्राक् तदेव हि केवलम् ।
तद्भावितमतोऽश्नीयात् पावनं प्रापणान्वितम् ॥ ४२८ ॥
भवेत् त्रिरात्रं फलदं भक्तानां शुभकारिणाम् ।
किं पुनस्तु समर्थानां चोदनाश्रयिणां तु वै ॥ ४२९ ॥
दानधर्मरतानां च व्रतिनां यज्ञयाजिनाम् ।
परत्र भवभीरूणामल्पार्थानां शुभार्थिनाम् ॥ ४३० ॥
शमीपलाशश्रीवृक्षैः समिद्भिश्चामलद्रुमैः ।
अम्भसा चाम्बुमध्ये च मन्त्रतर्पणमाचरेत् ॥ ४३१ ॥
सप्ताहे समतीते तु मन्त्रमुत्थाप्य मण्डलात् ।
ध्यानयुक्तं जपं कुर्याल्लक्षसंख्यं समाहितः ॥ ४३२ ॥
ब्रह्मचर्यस्थितो मौनी दुष्टाहारविवर्जितः ।
क्षाराररनालतैलानां परित्यागी ह्यलोलुपः ॥ ४३३ ॥
नित्यं कुशाजिनेशायी मानमात्सर्यवर्जितः ।
तप्तहाटकसंकाशं परिभ्रमणविग्रहम् ॥ ४३४ ॥
भूरिधारासमाकीर्णं वक्त्रमग्रे खगं स्मरेत् ।
तन्नाभिसंस्थितं मन्त्रमचलं चैव सम्मुखम् ॥ ४३५ ॥
नानारत्नप्रभाकान्तिमुद्गिरन्तं स्वविग्रहात् ।
हेमादिधातुनिचयं चन्द्रकान्तादिसन्मणीन् ॥ ४३६ ॥
एवं ध्यायेज्जपेच्चापि पूजयेदन्तरान्तरा ।
नियमादा समाप्त्येव जपान्ते वित्तपः स्वयम् ॥ ४३७ ॥
आज्ञावश्यो विधेयः स्यादात्मना च धनेन च ।
प्रयच्छत्यर्थिनां कामं भुङ्क्ते सोऽविरतं स्वयम् ॥ ४३८ ॥
आयुरारोग्यसंयुक्तो मन्त्रेशस्य प्रभावतः ।
प्रवर्ततेऽर्थयुक्तानां काम आशु च भोगिनाम् ॥ ४३९ ॥

तत्साधनमथो वक्ष्ये साधकानां हिताय च ।
मण्डलं पूर्ववत् कृत्वा शुचौ देशे मनोरमे ॥ ४४० ॥
सङ्क्लृप्ते तत्र मन्त्रेशं समाहूय च संयजेत् ।
त्रिरात्रं सप्तरात्रं व जुहुयात् तदनन्तरम् ॥ ४४१ ॥
प्रागुक्तेन विधानेन जपध्याने समाचरेत् ।
सर्वाधारं हरिं ध्यायेत् पद्मरागरुचिं महत् ॥ ४४२ ॥
तन्मध्ये विद्रुमाभं च बन्धुजीवनिभोज्ज्वलम् ।
ध्यायेन्मन्त्रवरं मन्त्री जपेत् पूर्वोक्तसंख्यया ॥ ४४३ ॥
स्त्रीभोगं चेतसः कृत्वा जपान्ते साधकस्ततः ।
प्रार्थयन्तेऽत्र भीताश्च सन्तप्ता मदविह्वलाः ॥ ४४४ ॥
देवकिन्नरनार्यस्तु यक्षगन्धर्वकन्यकाः ।
सिद्धाः सुराङ्गनाश्चान्या नरनागस्त्रियोऽखिलाः ॥ ४४५ ॥
आजीवावधि वै सम्यक् कर्मणा मनसा गिरा ।
सेवन्ते साधकेन्द्रं तं मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ॥ ४४६ ॥
यं यं समीहते कामं पातालोत्तिष्ठपूर्वकम् ।
लक्षजापात् तथा होमात् तं तं यच्छति मन्त्रराट् ॥ ४४७ ॥
अथ कामोपभोगात् तु विरतस्य च मन्त्रिणः ।
मोक्षदं सम्प्रदायं च कथयिस्ये यथार्थतः ॥ ४४८ ॥
कृत्वा यागवरं भूयः प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
पूर्वोक्तं तु यजेत् कालं तत्र मन्त्रवरं क्रमात् ॥ ४४९ ॥
तर्पयित्वा विधानेन कुण्डे वाऽथ जलेऽम्भसा ।
सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तार्थमेव च ॥ ४५० ॥
जपेदयुतमेकं तु प्रागुक्तं वा स्वशक्तितः ।
हृत्पुण्डरीकमध्येऽथ स्मरेन्मन्त्रं समाहितः ॥ ४५१ ॥
रोमकूपगणैः सर्वैं रत्नज्वालाशतावृतम् ।
तन्मयं च स्वचैतन्यं कृत्वा तद् वह्निरश्मिभिः ॥ ४५२ ॥
भूतदेहं दहेत् कृत्स्नं तद्वियुक्तश्च साम्प्रतम् ।
मार्तण्ड इव पक्षीश आस्ते मन्त्रस्वरूपधृक् ॥ ४५३ ॥
अथ मन्त्राकृतिं स्वां वै ध्यायेत् परिणतां शनैः ।
तेजोगोलकसंकाशं सर्वाङ्गावयवोज्झितम् ॥ ४५४ ॥
तत्तेजोगोलकं पश्चाद् बृहत्परिमितं च यत् ।

सर्वगं शब्दरूपं च भावरूपं तु चिन्मयम् ॥ ४५५ ॥
तस्मादप्यभिमानं तु ह्यस्मिताख्यं शनैः शनैः ।
विनिवार्य यथा शश्वद् ब्रह्म सम्पद्यते स्वयम् ॥ ४५६ ॥
इत्येवं वैभवीयस्य नृसिंहस्य महात्मनः ।
आराधनं च संक्षेपादुक्तं सिद्धिसमन्वितम् ॥ ४५७ ॥
नित्यक्रियापराणां च संसारोद्विग्नचेतसाम् ।
मद्भक्तानामिदं वाच्यं शुद्धानां संयतात्मनाम् ॥ ४५८ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां वैभवीयनृसिंहकल्पो नाम सप्तदशः परिच्छेदः ॥ १७ ॥

— ❦ —

अथानेन नृसिंहमन्त्रेण धर्मार्थकाममोक्षख्यचतुर्विधपुरुषार्थसाधनविधिमाह—अथ 'मन्त्रवराद्धर्मेति' प्रक्रम्य यावत् परिच्छेदपरिसामाप्ति । सुगमस्तदर्थः ॥३५७-४५८॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये सप्तदशः परिच्छेदः ॥ १७ ॥

— ❦ —

हे सङ्कर्षण! याग, होम एवं जपादि द्वारा अन्य सिद्धियों के लिये तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धि के लिये जो इस मन्त्रराज की उपासना करना चाहता है, अब उसकी प्राप्ति के उपायों को सुनिए । यह सद्धर्म लुप्त पिण्ड वाले पितरों को पिण्ड का निर्वापण कराने वाला है । जगद्धाता के प्रीति का कारण है और आत्मरक्षा करने वाला है । साधक अमावास्या को उपवास करे । फिर मण्डलान्तर्गत मन्त्र मूर्त्ति विभु का आवाहन कर पूर्व की भाँति भक्तिपूर्वक उनका पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, सुवर्ण, गवादि, दान, तिल युक्त नैवेद्य जो सकुश तथा तिलयुक्त हो, स्वच्छ जलपात्रों से युक्त हो और अञ्जलि पूर्ण करने वाला हो, इस प्रकार के पदार्थों से पूजन करता है, वह भगवत्प्रसाद से थोड़े ही काल में शाश्वत-पद प्राप्त कर लेता है और अपने नरक में रहने वाले पितरों को स्वर्ग लोक प्राप्त करा देता है ॥ ३५७-३६२ ॥

जो साधक विभव होने पर पत्र, पुष्प, फल, अन्न, सस्य, दधि, ओदनादि के द्वारा तथा रस, अन्न, सद् गन्ध, उत्कृष्ट वस्त्र, उत्कृष्ट धातु जैसे प्रवाल एवं मुक्ता मणि आदिकों के द्वारा भक्तिपूर्वक बिम्बस्थ, अथवा मण्डस्थ प्रभु का यजन करता है, अथवा जो मुख्य मुख्य ८६ पूर्णिमाओं में उपवास कर भगवान् का यजन करता है वह अवश्य उसे प्राप्त करता है ॥ ३६३-३६५ ॥

जो सद्धर्म चाहता है, अथवा महान् तीर्थ में गमन करना चाहता है, वह सर्वप्रथम मण्डल पर मन्त्रराज का यजन करे ॥ ३६६ ॥

स्नान के पूर्व समस्त पूजा सामग्री एकत्रित करे । तदनन्तर स्नान कर किसी सिद्ध प्रतिष्ठित बिम्ब में, अथवा स्वयं सिद्ध बिम्ब में, अथवा अपने द्वारा स्वयं स्थापित बिम्ब में, पञ्चगव्य, दधि, क्षीर, घृत, मधु, इक्षु, जल, सर्वौषधी, गन्ध, रत्न और फल पुष्पान्वित घटों से साङ्ग मन्त्र द्वारा आवाहन कर १०८ फलों से पूर्ण घटों द्वारा तथा शुद्ध जल से पूर्ण अर्घ्य समन्वित कलशों द्वारा श्रद्धापूत मन से भगवान् का ठीक-ठीक पूजन करता है, वह मन्त्रनाथ के पूर्व में कहे गये सभी प्रकार के प्रसाद को शीघ्र प्राप्त कर लेता है ॥ ३६६-३७० ॥

जो साधक सङ्क्रान्ति के दिन उपवास कर मण्डल में मन्त्रनायक का आवाहन कर ऋतु में उत्पन्न होने वाले फल पुष्पों से श्रद्धापूर्वक यजन करता है । सात दिन तक फल मूल खाकर रहता है । तीनों कालों में स्नान करता है । अष्टाङ्ग प्रणिपात कर अनेक प्रकार से प्रदक्षिणा करता है, वह निश्चय ही उस व्रत से होने वाले समस्त फलों को प्राप्त करता है, अथवा जो अभिमत दान द्वारा धर्म की इच्छा करता है, वह विषुवस्थ दिन प्राप्त कर उपवास करे और संयम से रहकर अपने मन में दिये जाने वाले दान से अभीष्ट धर्म की प्राप्ति का ध्यान करे। फिर मण्डल निर्माण करे, उसमें अग्नि का आगार निर्माण करे । गाय के दूध, घी, दही के भक्ष्य पदार्थों द्वारा तथा फल समन्वित मूलकों को नैवेद्य, उत्तमोत्तम माला, धूप, दीप, तिल, होमपात्र एवं जलपात्र के द्वारा भगवान् को समिधा, घृत, तिल, सघृत तण्डुल पदार्थों द्वारा होम कर सन्तर्पण करता है, उसको मूर्त्त आदान की अपेक्षा सौगुना धर्म से भी अधिक धर्म का अभिवर्धन होता है ॥ ३७१-३७७ ॥

अथवा दक्षिणायन में शुभ मण्डल का निर्माण करे और उस पर मन्त्रनाथ का आवाहन कर विधिपूर्वक माला, विलेपन, धूप, महादीप, घृतादि, गुड, खाँड़ एवं अन्य भक्ष्य पदार्थ, दूध, कृसर, नारिकेल के जल, सत्तू और घृत द्वारा भगवान् का पूजन करता है या घृतादिक से अग्नि के मध्य में होम कर उन्हें सन्तृप्त करता है, इस प्रकार के धर्माचरण करने से उस साधक को इष्टापूर्त्त का फल प्राप्त होता है ॥ ३७८-३८० ॥

चन्द्र एवं सूर्योपराग (= ग्रहण) में साधक दिन-रात पवित्र रहकर उपवास

करे। फिर सर्वप्रथम सभी उपकरणों से युक्त मण्डल का निर्माण करे और उस पर मन्त्रनाथ की प्रतिष्ठा करे। फिर साधक को अपनी शक्ति के अनुसार उनका यजन करना चाहिए ॥ ३८१-३८२ ॥

तदनन्तर अग्नि के मध्य में समिधा एवं घृतादिकों से होम कर मन्त्र के स्वरूप का ध्यान करते हुए मन से मन्त्रराज का जप करे ॥ ३८३ ॥

इस प्रकार जप करने वाला साधक जब तक जगत् में चन्द्रमा और सूर्य का दर्शन हो रहा है, तब तक अपने पूजा, जप और होम का अनन्त फल प्राप्त करता है ॥ ३८४ ॥

जो भक्त अर्थहीन हैं और सभी प्रकार के साधना से रहित हैं, किन्तु मन्त्र में एकमात्र नियमतः श्रद्धा रखने वाले हैं और फल की कामना करते हैं उनके लिये यह साधन कहा गया ॥ ३८५ ॥

स्नान, ध्यान, योग, जप, होम, उत्तम व्रत, उत्तम अन्न का भोजन, धन, सर्वस्व का त्याग, समय-धर्म का पालन ये सभी धर्म साधन कहे गये हैं विशेष कर धनिकों के लिये। जो मन्त्र के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र अर्थ साधन चाहते हैं। चाहे ब्रह्मचारी, चाहे गृहस्थ, चाहे वानप्रस्थ, चाहे सन्यासी हों वे सात दिन पर्यन्त ठीक रीति से इस यज्ञ का सम्पादन करें, तीनों काल स्नान करें, नक्त में भोजन करें, तीनों काल घी तथा तत्काल में उत्पन्न हवि से उदर की अग्नि को तृप्त करें। अथवा बिल्व, आमलक एवं पद्म से उसके अभाव में कुशाङ्कुर से होम करें। इस प्रकार जो अनुष्ठान करता है तो उसका उस मन्त्रोद्धार के द्वारा तत्काल फल प्राप्त होता है ॥ ३८६-३९० ॥

वैशाख मास में, शुक्ल पक्ष में, जब सोमवार युक्त श्रवण नक्षत्र हो, उस दिन उपवास करे और मन्त्रेश का महान् अर्चन करे। पुण्य स्थल में, अथवा मण्डल में, अथवा बिम्ब में, अथवा जल पूर्ण कलश में, मन्त्रनाथ के दक्षिण और उत्तर दोनों पादों (गङ्गा, यमुना) का पूजन करे ॥ ३९१-३९२ ॥

भगवान् का दक्षिण पाद गङ्गा हैं तथा उत्तर पाद यमुना हैं, इनका पूजन 'प्रणव पूर्वक नमः' इस मन्त्र द्वारा करे। उनके पैर से निकली हुई गङ्गा के जल से घड़ा भरे। उसे पुष्प, वस्त्र एवं अनुलेपन से अलङ्कृत करे। उसमें तिल, होम तथा फल डालकर उनके मुख में स्थापित करे ॥ ३९२-३९४ ॥

इसी प्रकार मधु, घृत, शर्करादि, दहि, ओदनादि भी जलपूर्ण घट अथवा पत्ते से रहित पात्र आदि वस्तुयें मन्त्र मूर्त्ति को निवेदन करे। इसी प्रकार उपानह संयुक्त स्रक् (माला), चन्दन, अर्घ, धूप से, वस्त्र से अलङ्कृत करे। आतपत्र (छाता) भी मन्त्र द्वारा निवेदन करे। अर्घ्योदिक हाथ में देवे। इसके बाद घट प्रदान करे। इस प्रकार भगवान् की प्रीति के लिये उपर्युक्त सभी वस्तुयें प्रतिपादन

करे। इस प्रकार सभी ब्राह्मणादि वर्ण उन अनामय नारायण के शरणागत हो जाते हैं उनके समस्त पापों की शान्ति हो जाती है ॥ ३९५-३९९ ॥

उत्तमोत्तम नदियों के संगम में नाभि पर्यन्त जल में उतर कर स्नान करे। अञ्जलि में विमल जल भर कर देवता और पितरों का तर्पण करे। फिर भगवद् याग निवर्त्तन कर श्रेष्ठ ब्राह्मण को दान देवे। यह सारा कार्य सभी लोक में रहने वाले देवताओं की प्राप्ति के लिये सतत् श्राद्ध की आकांक्षा करने वाले अपने कुल में उत्पन्न पितरों की मुक्ति के लिये, स्वयं श्वेत द्वीप की प्राप्ति के लिये तथा अपने सन्तति की वृद्धि के लिये साधक करे ॥ ४००-४०२ ॥

हे अमलेक्षण! सङ्कर्षण चाहे शुक्ल पक्ष की द्वादशी हो, अथवा कृष्णपक्ष की द्वादशी हो, यदि वह श्रवण नक्षत्र से युक्त हो, अथवा अभिजित् नक्षत्र से युक्त हो, ऐसी तिथि उपर्युक्त सभी फलों की प्राप्ति के लिय विशिष्ट रूप से साधक बन जाती है ॥ ४०३-४०४ ॥

इस कारण ऐसा काल प्राप्त होने पर उस दिन उपवास करे और अपने विभव के अनुसार अथवा अपनी शक्ति के अनुसार मन्त्र के सम्मुख (= साक्षात्) की सिद्धि के लिये उस तिथि में मन्त्रराज का अर्चन करे ॥ ४०५ ॥

गौ, भूमि एवं सुवर्णादि जो-जो दान अनुरूप सदाचारी जनों को दिये जाते हैं, वे-वे सभी दान देने वालों को फल तो देते ही हैं संसार में उनकी अभिवृद्धि भी करते हैं। किन्तु वही दान यदि भावितात्मा भगवत् पाद लिप्सु भगवद् भक्तों को दिये जायें तो वे भवशान्ति के कारण बन जाते हैं। यह वाद है कि अच्युत हरि सर्वत्र विद्यमान हैं। विष्णु, नारायण, हंस, सर्वशक्तिमय प्रभु ही द्रव्य के रूप में विभक्त हैं यह बात ज्ञानकर्म में समझना चाहिये ॥ ४०६-४०९ ॥

जिस प्रकार जल में बुद्बुद् आदि तीन रूपों में विभक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार दान, स्वकीय आत्मा और नारायणात्मक पात्र इन तीन रूपों में वह द्रव्य भी प्रविभक्त हो जाता है ॥ ४१० ॥

इस प्रकार सामान्य बुद्धि से ज्ञान कर उन तीनों को दान काल उपस्थित होने पर सविशेष समझना चाहिये ॥ ४११ ॥

साधक सर्वप्रथम अपने मन से 'यह मुक्ति का किञ्चिद् द्रव्य अनन्तशक्ति के सामर्थ्य से अनश्वर है। दानाभिमानी प्रत्यगात्मा मैं हूँ तथा प्रभु मुझ पर कृपा करने की इच्छा से पात्रभावापन्न हैं, देव साक्षात् पञ्चतनु हैं, यह सब पञ्चभूतात्मक जगत् है, ऐसा समझ कर द्वादशार्ण मन्त्र से अपने शरीर पर न्यास करने वाला साधक मन्त्र को प्रत्यय का सहारा लेकर द्रव्य द्वारा होमादि क्रिया करे और अपने स्वरूप को न त्यागते हुए महान् रश्मि समूहात्मक मन्त्र का ध्यान करे। तदनन्तर बिना मन्त्र के अर्घ्य, पुष्प तथा अनुलेपन द्रव्य से बिना मन्त्र के यजन करे अथवा नृसिंह के

द्वादश मन्त्रों से यजन करे। तदनन्तर अङ्गन्यास के बिना पात्रभूत परात्मा से सकली-करण करे । फिर वस्त्र, माला एवं अनुलेपन से विधिवत् भगवान् की अर्चना करे । तदनन्तर हाथ में संकल्प का जल लेकर भगवत् प्रीतिपूर्वक दान देवे । इस प्रकार साधक भगवद्-भावित आत्मा से दान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करे ॥४१३-४१८॥

ज्ञानात्मा के लिये दान वह है जिससे वह अच्युतवेत्ताओं के पास पहुँच जावे। नारायण ही परंब्रह्म से प्रतिशब्दित कहे जाते हैं ॥ ४१९ ॥

यत: संसार रूप अग्नि से सन्तृप्त भक्तों के मोह शान्ति में भगवान् ही कारण हैं । अत: उनके मन्त्र से उन्हीं की मूर्त्ति का दान करे ॥ ४२० ॥

प्रथम द्वादशाक्षर मन्त्र से अथवा अन्य जिस किसी मन्त्र से अनन्त एवं अमल उन नारायण को स्वयं गोद में स्थापित करे ॥ ४२१ ॥

उन मन्त्र की आकृति वाले भगवान् की सर्वदा अर्चना करे । इस प्रकार दान प्रदान करे ॥ ४२२ ॥

मन्त्रात्मना परब्रह्म की पूजा करे । फिर सद्व्रत की सिद्धि के लिये महामन्त्र द्वारा उनकी पूजा करे । इस प्रकार व्रती द्वारा किया गया भगवद् व्रत साधक को ब्रह्मत्त्व की प्राप्ति करा देता है ॥ ४२३ ॥

विभिन्न पदार्थों से युक्त दिया गया यह दान अनेक भेदों से भिन्न-भिन्न है । अत: तप एवं यज्ञ का अनुष्ठान सविधि ब्रह्म भावना से करे जिससे यज्ञ विष्णु-याजियों के लिये शीघ्र मोक्ष फल प्रदान करने वाला हो जाये । वह यज्ञ अनेक द्रव्यों वाला है उसके अनेक लक्षण हैं ॥ ४२४-४२५ ॥

सर्वप्रथम यज्ञ मन्त्र से मूर्त्ति निर्माण कर उसकी अर्चना करे । फिर समाप्ति पर्यन्त हवन करे । पूर्णाहुति के अन्त में सुवर्ण प्रदान करे ॥ ४२६ ॥

दान, व्रत, तप और यज्ञ कर्मों में जो द्रव्य निवेदनीय हो अथवा जो पहले दिया जा चुका हो, उससे पहले केवल अनुयाग के लिये कर्त्तव्य करे। भगवान् को निवेदित कर प्रापणान्वित अन्न का भोजन करे क्योंकि वह पावन है । ऐसा अन्न शुभकारक भक्तों के लिये तीन रात में ही फल प्रदान करता है ॥ ४२७-४२९ ॥

जो समर्थ हैं, शास्त्र में कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं, दानधर्म में निरत हैं, व्रत करने वाले हैं, यज्ञ द्वारा यजन करते हैं, परलोक का तथा इस लोक का भय करने वाले हैं, थोड़ा अर्थ होने पर भी कल्याण चाहते हैं ऐसे लोगों के विषय में क्या कहा जा सकता है ॥ ४३० ॥

साधक सर्वप्रथम जल के मध्य में शमी पलाश तथा श्री वृक्षों से समिधाओं से आँवला के वृक्षों से तथा जल से मन्त्र तर्पण करे ॥ ४३१ ॥

जब एक सप्ताह व्यतीत हो जावे, तब मन्त्र देवता को मण्डल से उठाकर

समाहित चित्त हो ध्यान करते हुए एक लाख की संख्या में जप करे ॥ ४३२ ॥

ब्रह्मचर्य में स्थित रहे, मौन धारण करे, दुष्टाहार वर्जित रखे क्षार (खारा), आरनाल (काँजी) तथा तेल का परित्याग रखे, लोलुपता का त्याग करे । मान मत्सरता का त्याग करे । नित्य कुशा तथा अजिन पर शयन करे । फिर तपाये हुए सोने के समान तथा नित्य परिभ्रमणशील शरीर वाले एवं अनेक धारा से समाकीर्ण मुख वाले ऐसे गरुड़ का अपने आगे स्मरण करे । वहाँ पर स्थित अचल मन्त्र का भी उनके सम्मुख स्मरण करे ॥ ४३३-४३५ ॥

गरुड़ का ध्यान—वे गरुड़ अपने शरीर से नाना रत्न की प्रभा से युक्त कान्ति उगल रहे हैं, सुवर्णादि धातुओं के समूह तथा चन्द्रकान्ता आदि उत्तम मणियों का भी उद्गिरण कर रहे हैं—इस प्रकार के गरुड़ का ध्यान और जप करना चाहिए । फिर बीच-बीच में पूजन करे । यह कार्य नियम से आरम्भ कर समाप्ति पर्यन्त नित्य स्वयं करे । ऐसे साधक के सभी लोग आज्ञा के वशीभूत हो जाते हैं। किं बहुना, अपनी आत्मा तथा धन से उसके विधेय हो जाते हैं, वह याचकों की कामना पूर्ण करने वाला तथा स्वयं समस्त भोगों का भोक्ता हो जाता है ॥ ४३६-४३८ ॥

अब जिस प्रकार मन्त्रेश्वर के प्रभाव से साधक आयु एवं आरोग्य से संयुक्त हो जाता है तथा जिस प्रकार अर्थी जनों के तथा भोगीजनों की कामना शीघ्र पूर्ण हो जाती है ऐसे साधकों के हित के लिये साधन को कहता हूँ । अत्यन्त पवित्र, मनोरम तथा सुरक्षित देश में मण्डल निर्माण करे । उस मण्डल पर मन्त्रेश का आवाहन कर यजन करे । तीन रात तथा सात रात पर्यन्त निरन्तर होम करे । तदनन्तर पूर्व में कही गई विधि के अनुसार जप एवं ध्यान करे । पद्मरागमणि के समान सर्वाधार हरि का ध्यान करे ॥ ४३९-४४२ ॥

उसके मध्य में विद्रुम की आभा वाले बन्धुजीव पुष्प के समान उज्ज्वल वर्ण वाले मन्त्रवर का मन्त्री पूर्वोक्त संख्या में जप करे ॥ ४४३ ॥

जप करने के उपरान्त साधक मानस रूप से स्त्रीभोग सम्पादन करे । ऐसा करने से काम सन्तप्त, भयभीत, मद विह्वल स्त्रियाँ उसकी प्रार्थना करती हैं । देव किन्नरों की स्त्रियाँ, यक्ष एवं गन्धर्वों की कन्यायें, सिद्ध, सुराङ्गनायें समस्त नरों एवं नागों की स्त्रियाँ आजीवन इस मन्त्र के प्रभाव से मन, वचन और कर्म से उसकी सेवा करती है ॥ ४४३-४४६ ॥

इसके बाद पुनः एक लक्ष के जप से तथा उतने ही होम से साधक जो-जो कामनायें करता है उन-उन कामनाओं को मन्त्रराज पूर्ण करते हैं ॥ ४४७ ॥

अब कामोपभोग से विरत मन्त्रज्ञ साधकों के लिये मोक्षप्रद सम्प्रदाय को यथार्थ रूप से कह रहा हूँ । इसके बाद साधक प्रसन्न अन्तरात्मा से पुनः वही

श्रेष्ठ याग सम्पादन कर पूर्वोक्त काल तक मन्त्रवर का यज्ञ करे । फिर विधिपूर्वक कुण्ड में उनका तर्पण करे अथवा जल में जल से सन्तृप्त करे । फिर सर्वदोषों की निवृत्ति के लिये तथा प्रायश्चित्त के लिये एक अयुत (दस हजार) जप अपनी शक्ति के अनुसार करे । समाहित चित्त होकर हृत्कमल के मध्य में मन्त्र का स्मरण करे ॥ ४४८-४५१ ॥

साधक मन्त्राग्नि से निकलती हुई ज्वाला रश्मियों से अपने सारे रोमकूप गणों को रत्नज्वाला शतावृत कर उसमें अपने चैतन्य को मन्त्रमय बना कर, उसमें अपना भौतिक देह जला देवे । इस प्रकार भौतिक देह से रहित होने पर साधक मन्त्र का स्वरूप धारण कर सूर्य के समान तेजस्वी होकर साक्षात् गरुड़ बन जाता है ॥ ४५२-४५३ ॥

फिर अपने उस मन्त्राकृति को धीरे-धीरे परिणत होकर तेजो गोलक के समान सभी अङ्गावयवों से रहित देखे । इसके पश्चात् उसे तेजोगोलक को धीरे-धीरे परिणत होकर बृहत् परिमाण में सर्वत्र गमन करने वाला शब्दरूप, भावरूप और चिन्मयरूप में देखे ॥ ४५४-४५५ ॥

उसके बाद धीरे-धीरे अपने 'अस्मिता' नामक अभिमान का त्याग कर देने पर वह साधक स्वयं ब्रह्म स्वरूप बन जाता है । हे सङ्कर्षण ! इस प्रकार वैभवीय महात्मा नृसिंह की सिद्धि से समन्वित आराधन का प्रकार संक्षेप में कहा गया ॥ ४५६-४५७ ॥

यह वैभवीय नृसिंह के आराधन का प्रकार नित्य क्रिया में परायण, संसार से उद्विग्न चित्त वाले, संयतात्मा, शुद्ध मेरे भक्तों को ही सुनाना चाहिये । अन्य को नहीं ॥ ४५८ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के वैभवीयनृसिंहकल्प नामक सप्तदश परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १७ ॥

— ❧ ❋ ❧ —

अष्टादशः परिच्छेदः

अधिवासदीक्षाविधिः

नारद उवाच

एवमुक्ते सति पुनः कामपालो मुनीश्वराः ।
उवाचेदं हरिं वाक्यं लोकानुग्रहकाम्यया ॥ १ ॥

अथाष्टादशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । संकषर्ण पृच्छतीत्याह—एवमिति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे मुनिश्वरों ! भगवान् वासुदेव द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर सङ्कर्षण ने संसार पर अनुग्रह करने की कामना से पुनः श्रीकृष्ण से कहा ॥१॥

सङ्कर्षण उवाच

सम्प्राप्तप्रत्ययानां च द्विजातीनां च साम्प्रतम् ।
सम्यक् प्रक्षीणपापानामारूढानामिह क्रमे ॥ २ ॥
दीक्षात्रयस्य भगवन् ज्ञातुमिच्छामि निर्णयम् ।
यत्प्राप्य भगवद्भक्तः कृतकृत्योऽचिराद्भवेत् ॥ ३ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—सम्प्राप्तेति द्वाभ्याम् ॥ २-३ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे प्रत्यय! जिन द्विजातियों को आप में प्रत्यय (आस्था, विश्वास) प्राप्त हो गया है । जिनके पाप सर्वथा प्रक्षीण हो चुके हैं और जो वैष्णव दीक्षा-क्रम में आरुढ़ हो गये हैं । उन द्विजातियों के तीनों दीक्षा क्रमों को मै जानना चाहता हूँ, जिसे प्राप्त कर भगवद् भक्त अपने को कृतकृत्य बना लेता है ॥२-३॥

दीक्षामण्डपनिर्माणप्रकारकथनम्

श्रीभगवानुवाच

शुभेऽनुकूले नक्षत्रे तिथौ लग्ने ग्रहेक्षिते ।
भक्तानामधिवासार्थं क्ष्मापरिग्रहमाचरेत् ॥ ४ ॥
पुण्ये देशेऽनुकूले च मनोज्ञे साधुसेविते ।
मृद्वारिफलपुष्पाढ्ये समित्कुशसमन्विते ॥ ५ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः प्रथमं क्ष्मापरिग्रहपूर्वकं दीक्षामण्डपनिर्माणप्रकारमाह— 'शुभेऽनुकूले नक्षत्र' इत्यारभ्य 'बलिं सर्वत्र सर्वदा'इत्यन्तम् ॥ ४-२५ ॥

श्री भगवान् के कहा—शुभ अनुकूल नक्षत्र, तिथि, शुभ ग्रह से दृष्ट लग्न में भक्तों के निवास के लिये साधक सर्वप्रथम भूमि अधिग्रहण करे । वह भूमि उत्तम मिट्टी, जल, फल तथा पुष्प से समृद्ध हो । समित् कुशा समन्वित हो, अनुकूल पुण्य प्रदेश में हो, मनोज्ञ हो और साधु सन्तों से सेवित हो ॥ ४-५ ॥

गोसस्यशालिसुभगे क्षुद्राप्राणिविवर्जिते ।
तत्र वर्णानुरूपां क्ष्मां गच्छेत् पूर्वोक्तलक्षणाम् ॥ ६ ॥
सर्वदोषविनिर्मुक्तां सत्पक्षिमृगसेविताम् ।
या शुभायतनोद्देशैर्मठैर्गोष्ठापणैर्गृहैः ॥ ७ ॥
तोयाशयाश्रमैः क्षेत्रैः सद्वृत्तैरन्तरीकृता ।
जलौघभयनिर्मुक्ता बलाद् भुक्त च सज्जनैः ॥ ८ ॥
वनैरुपवनैर्ग्रामैर्नगराङ्गैः समावृता ।
अलाभे सति लाभे वा स्वभूमेर्ब्राह्मणादिषु ॥ ९ ॥
स्वमन्त्रेणार्चनात् स्वत्वं कुर्याद् वर्णव्यपेक्षया ।
उद्धृतां कृतखातां च ज्ञात्वा दोषोज्झितां पुरा ॥ १० ॥

गाय एवं हरे भरे सस्यों से पूर्ण हो और वहाँ क्षुद्र प्राणि न हों । इस प्रकार अपने वर्ण के अनुरूप पूर्वोक्त लक्षण वाली भूमि का अधिग्रहण करे । वह भूमि समस्त दोषों से रहित तथा उत्तम पक्षियों के एवं उत्तम मृगों से सेवित होनी चाहिये । जो शुभायतन, शुभ उद्देश्य वाली, शुभ मठों, शुद्ध आपणों (बाजारों) तथा शुभ ग्रहों से समन्वित हो । वहाँ जलाशय, आश्रम क्षेत्र तथा सदाचारी सज्जनों का निवास हो । जल प्लावन की संभावना न हो तथा सज्जन लोग हठपूर्वक रहने के लिये विवश हों । वह भूमि वन, उपवन, ग्राम, नगर के अङ्गों से समावृत (घिरा) हो । यदि ऐसी भूमि न प्राप्त हो, तब ब्राह्मणादि से खरीद कर प्राप्त करे, अथवा अपने मन्त्र से भूमि का अर्चन कर अपने वर्णानुसार भूमि पर अधिकार करे ॥ ६-१० ॥

शुभमृत्पूरितां कृत्वा लघ्वश्मभिरथान्तरा ।
ततस्त्वाकुट्टयेत् पश्चात् पञ्चगव्येन सेचयेत् ॥ ११ ॥
युक्तां हेमादिसद्रत्नैः समीकृत्योपलिप्य च ।
तत्रार्चनं विभोः कुर्याद् ध्यानान्तं चैव पूर्ववत् ॥ १२ ॥

वहाँ के ऊपर की मिट्टी अथवा खन कर भीतर की मिट्टी की परीक्षा करे । जब वह सर्वथा दोषरहित हो । तब वहाँ के गड्ढ़े आदि को शुभ मृत्तिका से पूर्ण

करे अथवा छिद्रों में छोटे-छोटे पत्थरों को डाल कर उसे कुटवा देवे । इस प्रकार समतल बनवा कर पञ्चगव्य से सींच देवे । हेमादि रत्नों से युक्त कर समतल बनाकर लेप करे । ऐसी भूमि अधिग्रहण कर सर्वप्रथम वहाँ भगवान् का अर्चन करे, पूर्ववत् अर्चन के बाद ध्यान करे ॥ १०-१२ ॥

भूतानां बलिदानं च सुरभीणां च तर्पणम् ।
द्विजानां दक्षिणान्तं वै ततस्तत्र समापयेत् ॥ १३ ॥

पञ्चमहाभूतों के लिये बलिदान देवे, गायों को सन्तृप्त करे । ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर फिर उसे अपने अधिकार (समाप्त) में करे ॥ १३ ॥

प्राग्दिक्षु सिद्धिपूर्वं तु मण्टपं मण्डनान्वितम् ।
सुस्तम्भद्वितयेनैव कोणगेनोपशोभितम् ॥ १४ ॥

ऐसी भूमि के पूर्वभाग में सिद्धिपूर्वक सर्वाभूषणभूषित मण्डप का निर्माण करे । दो खम्भा गाड़े जो कोणों वाले हों ॥ १४ ॥

पार्थिवेन च पीठेन मध्यगेन विराजितम् ।
विस्तरात्तु द्विजातीनां शूद्रान्तानां समं स्मृतम् ॥ १५ ॥
अष्टाश्रमथवा वृत्तं तुर्याश्रं सोपपीठकम् ।
अष्टाङ्गुलात् समुत्सेधादेकापायेन लक्षितम् ॥ १६ ॥

मध्य में मिट्टी का पीठ निर्माण करे । विस्तार की दृष्टि से द्विजातियों से लेकर शूद्रान्त तक सम (बराबर) होना चाहिये । अथवा वह पीठ आठ कोणों का तथा वृत्त (गोला) निर्माण करे । जिसमें चार कोणों का उपपीठ हो । उसकी ऊँचाई आठ अङ्गुल से एक अङ्गुल कम लक्षित हो ॥ १५-१६ ॥

स्वोन्नत्यर्थेनोपपीठं सर्वेषां परिकल्पयेत् ।
विस्तारमुपपीठानां पीठोच्छ्रायाद् द्विसङ्गुणम् ॥ १७ ॥
उपपीठस्य संलग्ना तन्मानेन तु चोन्नता ।
आप्यदिक् साग्रहस्ता च सम्पाद्याऽऽसनपिण्डिका ॥ १८ ॥
नैवेद्यमुपपीठे तु विनिवेद्य निधाय च ।
तस्य दक्षिणदिग्भागे त्वन्तर्गमनसंयुतम् ॥ १९ ॥

सभी के लिये ऊँचाई के अनुसार उपपीठ निर्माण करे । उपपीठों का विस्तार पीठ की ऊँचाई से दुगुना होना चाहिये । उपपीठ से लगा हुआ उसके मान के अनुसार उन्नत आसनपिण्डिका का निर्माण करे । नैवेद्य निवेदन करे और उपपीठ पर स्थापित करे । उसके दाहिनी ओर भीतर जाने का रास्ता बनावे ॥ १७-१९ ॥

विविक्तलोचनोपेतं पिण्डिकाकुण्डभूषितम् ।
सुकवाटार्गलोपेतं कुर्याद् हवनमण्टपम् ॥ २० ॥

एकान्त में गवाक्ष एवं पिण्डिका का कुण्ड से भूषित सुन्दर कपाट तथा अर्गला से युक्त हवन मण्डप का निर्माण करे ॥ २० ॥

उपलिप्यास्त्रजप्तेन वारिणा गोमयेन तु ।
विधिवच्छोभनं कुर्यादित्येवं मण्टपद्वयम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित जल एवं गोमय से मण्डपों का उपलेप करे । इस प्रकार के दो मण्डपों का निर्माण करे ॥ २१ ॥

विहितो वित्तविरहादधिवासो द्विजालये ।
शिष्यैर्वाऽऽचार्यभवने तत्र कुर्यात् परिग्रहम् ॥ २२ ॥

यदि धन न हो तब किसी ब्राह्मण के घर में अधिवास निर्माण करे, अथवा शिष्य के भवन में, अथवा अपने आचार्य के भवन में ही अधिवास के लिये भूमि का परिग्रह करे ॥ २२ ॥

प्राग्वदर्चनपूर्वं तु भूततर्पणपश्चिमम् ।
ओदनं दधिलाजाज्यं मधुतोयपरिप्लुतम् ॥ २३ ॥
भूततर्पणमित्युक्तं तद्विना तत्र तेऽनिशम् ।
सन्तिष्ठन्ते बहिः क्रुद्धाः काङ्क्षमाणाः परं वधम् ॥ २४ ॥

वहाँ अधिवास निर्माण कर प्राक् कथनानुसार भगवदर्चन करे । तत्पश्चात् भूत तर्पण करे । ओदन, दही, लावा, घृत, मधु और जल यह भूत तर्पण की सामग्री है । यदि भूत तर्पण नहीं किया गया तो वे मण्डल के बाहर रात-दिन क्रुद्ध होकर किसी के वध की आकांक्षा करते हुए वहीं स्थित रहते हैं ॥ २३-२४ ॥

अतश्च विहितं यत्नात् स्थाने क्षेत्रे कृते सति ।
निर्विघ्नसिद्धये दद्याद् बलिं सर्वत्र सर्वदा ॥ २५ ॥

इसलिये नवीन स्थान और नवीन क्षेत्र बना लेने पर निर्विध्नता की सिद्धि के लिये प्रयत्नपूर्वक सभी स्थानों पर सर्वदा बलिदान की विधि कही गई है ॥ २५ ॥

सम्भारार्जनकथनम्

कृत्वैवं मङ्गलार्थं तु दीर्घं घण्टारवं शुभम् ।
स्वपदात् प्राग्वदुत्थाप्य प्रोच्चार्य प्रणवं महत् ॥ २६ ॥
प्रवेशयेत् ततस्तस्मिन् लाजान् सिद्धार्थकान् शुभान् ।
फलानि श्रीफलादीनि चन्दनादीनि रोचनाम् ॥ २७ ॥

श्वेतदूर्वाः सुमनसस्तन्महीरुहमञ्जरीम् ।
साग्रान् हरितदर्भांश्च सर्वरत्नानि काञ्चनम् ॥ २८ ॥
सर्वौषधीत्वगेलाद्यं सुगन्धिनिचयं शुभम् ।
पद्मकं शङ्खपुष्पं च विष्णुक्रान्ता च कुन्दरम् ॥ २९ ॥
सप्त सप्त च धान्यानि बीजानि च समानि षट् ।
शालिश्यामाकनीवारतण्डुलं भूरिसंस्कृतम् ॥ ३० ॥

सम्भारार्जनमाह—कृत्वैवमित्यादिभिः । सप्त सप्त च धान्यानि ग्राम्यारण्यभेद-भिन्नानीश्वरपारमेश्वरयोर्हविःपाकप्रकरणोक्तानि (ई.सं. २५।५८-५९, पा.सं. १८। १३४-१३६) ज्ञेयानि । अस्मिन्नवसरेऽङ्कुरप्रतिसरावीश्वरोक्तौ (२१।७५) ग्राह्यौ, अत्रापि सम्भारवर्गे "पालिकां घटिकाम्" (१८।३९) इत्युक्तत्वात् ॥ २६-४८ ॥

इस प्रकार अधिवास निर्माण कर लेने पर बलिदान के बाद कल्याणकारी घण्टा का शब्द करे । फिर अपने स्थान से पहले की तरह उठ कर जोर से प्रणव का उच्चारण कर उस अधिवास स्थान में सर्वप्रथम लाजा, शुभ सिद्धार्थक का प्रवेश करावे । फिर श्रीफलादि फल, चन्दनादि, रोचना (हरदी), श्वेत दूर्वा, उत्तमोत्तम पुष्प, माङ्गलिक वृक्ष की मञ्जरी, अग्रभाग सहित हरा-हरा कुश, सर्वरत्न सुवर्ण, सर्वौषधी, त्वक् इलायची, सुगन्धित पदार्थ, पद्मक, शङ्खपुष्पी, विष्णु-क्रान्ता, कुन्दर (?), सप्त ग्राम धान्य, सप्त आरण्य धान्य, षड् बीज शाली, श्यामाक नीवार, तण्डुल जो ठीक प्रकार से शुद्ध किया गया हो उसका प्रवेश करावे ॥ २६-३० ॥

गोसम्भवानि वै पञ्च पात्रेष्वौदुम्बरेषु च ।
तत् स्राववर्जितान्यानि तान्येव सुबहून्यपि ॥ ३१ ॥
प्रतिक्षणोपयोगार्थं भाण्डेष्वपि नवेषु च ।
पाद्याचमनकार्यार्थं दध्यन्नविनिवेदने ॥ ३२ ॥

गौ से उत्पन्न (मल मूत्र वर्जित) दूध, दही, घी पर्याप्त मात्रा में ताम्र पात्र में रखकर प्रवेश करावे । प्रतिक्षण पाद्य आचमन कार्य के लिये उपयोग किये जाने वाले तथा दधि एवं अन्न के निवेदन में उपयोग किये जाने वाले जलादि नवीन मिट्टी के पात्रों में रखकर प्रवेश करावे ॥ ३१-३२ ॥

हेमाद्युत्थानि पात्राणि मृदुपर्णपुटानि वा ।
पाण्डाराणि दुकूलानि वस्त्रयुग्मद्वयं नवम् ॥ ३३ ॥
उपवीतं सोत्तरीयं सुसिते धौतवाससी ।
कौशेयानि पवित्राणि कङ्कणं साङ्गुलीयकम् ॥ ३४ ॥
स्फाटिकं चाक्षसूत्रं च पत्राक्षं तु गणित्रकम् ।

पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम् ॥ ३५ ॥
कुतपं योगपट्टं च नेत्रवस्त्रं मृगाजिनम् ।
ब्रुसीकाशांशुकं पट्टं पादुके च उपानहौ ॥ ३६ ॥
दण्डं प्रतिग्रहं छत्रं पूर्णगोधूमकाष्टकम् ।
चतुर्वर्णानि माल्यानि सुन्दरं पावनं लघु ॥ ३७ ॥
नीलशाद्वलसम्मिश्रं हरितं पत्रसञ्चयम् ।
गुग्गुलं मृष्टधूपं च दीपतैलं च वर्तयः ॥ ३८ ॥
दर्पणं धूपपात्रं च घण्टामर्घ्यादिपात्रकम् ।
रजांसि करणीयुग्मं पालिकां घटिकां सिताम् ॥ ३९ ॥
पञ्चाङ्गुलं तु सुदृढं हेमाद्यं कुशपञ्चकम् ।
अलक्तरञ्जितं सूत्रं सुसितं कर्तरी क्षुरम् ॥ ४० ॥
काण्डान्यष्टौ तु साग्राणि बर्हिपक्षान्वितानि च ।
प्रोन्नतानि स्थिराग्राणि लोहमृत्काष्ठजानि वा ॥ ४१ ॥
रञ्जितानि सुधाद्यैस्तु तदाधाराणि यानि च ।
कुल्लिकान्यम्बुकुम्भानि भृङ्गारं करवीं शुभाम् ॥ ४२ ॥

सुवर्ण से निर्मित पात्र अथवा कोमल पत्तों से निर्मित दोने आदि पात्र, श्वेत वर्ण के रेशमी, दो नवीन जो वस्त्र उत्तरीय सहित हों उन्हें, उपवीत, शुद्ध दो श्वेत धौत वस्त्र, कुशा निर्मित पवित्र, अंगूठी के सहित कङ्कण, स्फटिकमणि निर्मित अक्षसूत्र, पत्राक्ष, गणित्रक, पञ्चलोहमय चक्र, शङ्ख सहित द्वादशारक, कुतप योग पटट्, नेत्र वस्त्र, मृगचर्म आसन, अंशुक, पट्ट, दो पादुका, दो उपानह, दण्ड, प्रतिग्रह, छत्र, पूर्णपात्र गेहूँ, काष्ठ, चार वर्ण वाली पुष्प माला, सुन्दर पावन लघु नीले शाद्वल से मिला हुआ हरित वर्ण के पत्र समूह, गुग्गुल, मृष्टधूप, दीपक, तेल, बत्तियाँ, दर्पण, धूपपात्र, घण्टा, अर्घ्यादि के पात्र, चूर्ण करणीयुग्म पालिका, श्वेत घटिका, पाँच अङ्गुल का सुदृढ़ हेम वर्ण का कुशपञ्चक, अलक्तक से रंगा हुआ सूत्र, श्वेत वर्ण की कैंची, छूरी, मोरपङ्ख से जुड़े अग्रभाग सहित आठ कुशा के काण्ड, अत्यन्त ऊँचे स्थिर अग्रभाग वाले पाँच की संख्या में लोहे, मिट्टी तथा काष्ठ निर्मित (पात्र) जो चूने आदि से रंगे हुए हों । उनके भी आधारपात्र, कुल्लिका, जल कुम्भ, भङ्गार एवं शुभ करवी प्रवेश कराए ॥ ३३-४२ ॥

अकालमूलनिर्गर्भं साधारं कलशं तथा ।
स्थालीं कमण्डलुं दर्वीं तत्पिधानं तु चुल्लिकाम् ॥ ४३ ॥
भद्रपीठं चतुष्पादं चतुरश्रायतं नवम् ।
मात्रावित्तं सताम्बूलं दन्तधावनसञ्चयम् ॥ ४४ ॥

शुष्कगोमयसंयुक्तामरणिं चाग्निजं मणिम् ।
पालाशदूर्वासमिधः साग्राः परिधयस्तु वै ॥ ४५ ॥
प्रभूतमिन्धनं शुष्कमाज्याक्तं तिलतण्डुलम् ।
प्रागुक्तं स्रुकस्रुवाद्यं च होमोपकरणं च यत् ॥ ४६ ॥
सर्वं पक्ष्मकपर्यन्तं बृहत्पात्रद्वयान्वितम् ।
पूर्वोक्तानां च भोगानां मध्याद् यः स्थण्डिलार्चने ॥ ४७ ॥
संयाति चाङ्गभावं तद् ज्ञात्वा सर्वं प्रवेशयेत् ।

साधार कलश, स्थाली (बटुई), कमण्डल, कलछुल, ढाँकने वाला पात्र, चूल्ही, चार कोणों वाला लम्बा, नवीन, चतुष्पाद, भद्रपीठ मात्रा वित्त (मुद्गादि) जो ताम्बूल सहित हो, दन्त धावन समूह, शुष्क गोमय संयुक्त अरणि, अग्निजन्य मणि पालाश, दूर्वा, समिधायें जो अग्रभाग से युक्त हो, परिधियाँ, पर्याप्त इन्धन, घी में डुबोये गये शुष्क तिल, तण्डुल, पहले कहे गये स्रुक्-स्रुवादि जो होम के उपकरण हैं वे सभी बृहत्पात्र से युक्त पक्ष्मक पर्यन्त सभी वस्तुयें तथा स्थण्डिलार्चन के लिये पूर्वोक्त कहे गये पदार्थों में जो-जो उपयोग में आते हों उन्हें अच्छी तरह से समझ कर यागगृह में प्रवेश करावे ॥ ४३-४८ ॥

अनुग्रहधियाऽऽचार्यो भक्तानां भविनां विभोः ॥ ४८ ॥
दिव्यभोगोपलिप्सूनां निःश्रेयसपदार्थिनाम् ।
प्रत्येकैकं हि यद् गाङ्गे वर्धयेद् द्रव्यमूर्तिना ॥ ४९ ॥
नित्येनाव्यक्ततत्त्वेन सन्मन्त्रब्रह्मणा सह ।
सार्थं सर्ष्यादिकं दद्यान्मन्त्रव्यूहं यथागमम् ॥ ५० ॥
फलदं स्यात् सकामानामकामानां हि मोक्षदम् ।

शिष्याणां बहुत्वे प्रत्येकं यागद्रव्याणा(मप्य ? मपि) वृद्धिमाह—अनुग्रहधियेति त्रिभिः ॥ ४८-५१ ॥

आचार्य भगवद् दीक्षा में प्रविष्ट होने वाले भक्तों की संख्या के अनुसार अनुग्रहपूर्वक याग द्रव्य में भी वृद्धि करावे, क्योंकि कुछ भक्त दिव्य भोगों को प्राप्त करना चाहते हैं । कुछ केवल निःश्रेयस (पारलौकिक कल्याण) चाहते हैं । अतः आचार्य हर एक के द्रव्य मूर्त्ति के द्वारा याग गङ्गा का अभिवर्धन करावे । तब नित्य अव्यक्त तत्त्व वाले, सन्मन्त्र स्वरूप वाले, ब्रह्म के साथ ऋषियों के सहित, शास्त्रीय विधि से उन्हें मन्त्रव्यूह प्रदान करे । ऐसा करने से ही वह मन्त्रव्यूह सकामों को फलदायी होता है तथा अकामों के लिये मोक्षदायी होता है ॥ ४८-५१ ॥

ससहायस्ततस्तत्र प्राग्वत् स्नात्वा कृताह्निकः ॥ ५१ ॥
सम्प्रविश्याप्यदिक्संस्थः प्राङ्मुखः प्रविशेत् ततः ।

पद्मासनादिना मार्गे चर्मण्याचामपूर्वकम् ॥ ५२ ॥

अथ स्नानाह्निकादिपूर्वकं स्वासनोपवेशनमाह—ससहाय इति । ससहायः सपरिचारक इत्यर्थः । मार्गे चर्मणि एणाजिन इत्यर्थः ॥ ५१-५२ ॥

परिचारक सहित आचार्य पूर्व की भाँति स्नान करे और अपना आह्निक कार्य करे । तदनन्तर पूर्वाभिमुख हो यागमण्डप में प्रवेश करे । फिर कृष्ण मृगचर्म पर पद्मासनादि से बैठे ॥ ५१-५२ ॥

कुर्याद् यदधिकारेण मन्त्रेणानुग्रहं शिशोः ।
तेनाङ्गसहितेनैव सर्वं कर्म समाचरेत् ॥ ५३ ॥

येन मन्त्रेण दीक्षा क्रियते, तेनैवाङ्गसहितेन सर्वकर्माचरणमाह—कुर्यादिति ॥ ५३ ॥

जिन भगवान् के मन्त्र अधिकार से शिष्य को दीक्षा देनी है, अङ्ग सहित सारा कर्म उसी मन्त्र दीक्षा के अनुसार करे ॥ ५३ ॥

समस्तैर्वैभवैर्मन्त्रैः कार्यो वाऽनुग्रहो यदि ।
सर्वाराधनदानार्थं वा द्विषट्काप्तये तदा ॥ ५४ ॥
विशाखयूपमन्त्रेण कुर्यात् तद्धारणाद्वयम् ।
तद्बीजेन तनुं व्याप्य प्राग्वत् तदभिमन्त्रितैः ॥ ५५ ॥
पुराहृतैर्यथाशक्ति मण्डलं च समाचरेत् ।

सर्वाराधनादियोग्यतासिद्ध्यर्थं समस्तैरपि वैभवमन्त्रैर्युगपदेव दीक्षाप्रकरणे समस्तविभवदेवानामपि कारणभूतस्य विशाखयूपस्य मन्त्रेण दहनाप्यायनाख्यधारणा-द्वयात्मकभूतशुद्ध्यनुष्ठानं पूर्वोक्तेन विशाखयूपबीजेनैव स्वशरीरे व्यापकन्यासं तदभि-मन्त्रितैरेव सितादिरागैर्मण्डलपूरणं चाह—समस्तेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ५४-५६ ॥

यदि अनुग्रहपूर्वक समस्त वैभव मन्त्र की एक साथ ही दीक्षा देनी है । तब समस्त विभव देवों के कारणभूत 'विशाखयूप मन्त्र' से दहन एवं आप्यायन नामक दोनों धारणाओं से भूत शुद्धात्मक अनुष्ठान करे । फिर विशाखयूप के बीज से अपने शरीर में व्यापक न्यास सम्पादन कर उससे अभिमन्त्रित पहले लाए गए श्वेतचूर्ण आदि रंगों से मण्डल निर्माण करे ॥ ५४-५६ ॥

प्राक् समालभनैर्वस्त्रैः कटकाद्यङ्गुलीयकैः ॥ ५६ ॥
सितोष्णीषेण महता सितमाल्येन वै सह ।
मुखवासैः सताम्बूलैर्ललाटतिलकेन च ॥ ५७ ॥
कृत्वा शुभेन शारीरं योगपट्टेन् संस्थितम् ।

आदौ स्वस्य गन्धाद्यलङ्करणादिकमाह—प्रागिति द्वाभ्याम् ॥ ५६-५८ ॥

अब स्वयं अलङ्कृत होने का उपकरण कहते हैं—आचार्य सर्वप्रथम समस्त समालभन वस्त्रों से, कटक एवं अँगूठियों से, श्वेत वस्त्र वाले उष्णीष (पगड़ी) से, बहुत बड़ी माला से, मुखावास ताम्बूलादि से और ललाट में तिलक से अपने शरीर को अलङ्कृत करे उसमें योगपट्ट बाँधे ॥ ५६-५८ ॥

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु संन्यसेद् बीजमैश्वरम् ॥ ५८ ॥
करयोः पद्मनाभीयं ध्रुवाख्यमथ विग्रहे ।
शैषैरालभ्य पादान्तमामूर्ध्नश्चापि पूर्ववत् ॥ ५९ ॥
हस्तयोर्विग्रहे साङ्गं विन्यसेद् बीजमैश्वरम् ।
मुद्रावसानं कृत्वैवं सम्यक् तदनु चाहरेत् ॥ ६० ॥
पाणिभ्यां शङ्खचक्रे द्वे स्वमन्त्रेणाभिमन्त्रिते ।
भूत्वा तदात्मना पश्चात्ते निधाय धरातले ॥ ६१ ॥
अवलोक्याखिलं तत्स्थं प्रवर्तेताथ कर्मणि ।

हृदये विशाखयूपबीजन्यासं करयोः पद्मनाभबीजन्यासं शरीरे ध्रुवबीजन्यासमवशिष्टैरनन्तादिषट्त्रिंशद्बीजैरामूर्ध्नः पादान्तमभिमर्शनं पुनर्हस्तयोर्विग्रहे च विशाखयूपबीजेन षडङ्गन्यासं विभवमुद्रादर्शनं हस्ताभ्यां शङ्खचक्रादानं तन्मन्त्राभ्यां तयोरभिमन्त्रणं स्वस्य तादात्म्यावलम्बनादिकमखिलसम्भाराणामपि चक्रशङ्खान्तर्गतत्वेनावलोकनपूर्वकं कर्मप्रारम्भं चाह—हृत्पुण्डरीकेति चतुर्भिः ॥ ५८-६२ ॥

तदनन्तर अपने हृत्पुण्डरीक मध्य में नृसिंह बीज से न्यास करे । हृदय में विशाखयूप न्यास, दोनों हाथों में पद्मनाभ बीज न्यास, शरीर में ध्रुव बीज न्यास, अवशिष्ट अनन्तादि ३६ बीजों से शिरःप्रदेश से लेकर पादान्त न्यास, फिर दोनों हाथों तथा शरीर में विशाखयूप बीज मन्त्र से न्यास करे । तदनन्तर षडङ्गन्यास एवं विभवमुद्रा का प्रदर्शन करे, दोनों हाथों में शङ्ख एवं चक्र ग्रहण करे, तन्मात्र मन्त्र से उनका अभिमन्त्रण करे । फिर साधक अपने तथा यज्ञीय संभारों को शङ्ख एवं चक्र के तादात्म्य की भावना करते हुए उनका अवलोकनपूर्वक कर्म प्रारम्भ करे ॥ ५८-६२ ॥

यागगेहशोधनालङ्करणकथनम्

अस्त्राभिमन्त्रितं कृत्वा कर्म भृङ्गान्तरे स्थितम् ॥ ६२ ॥
तेनोपलिप्य सम्मार्ज्य यागस्थानं निघृष्य च ।
तद्ब्रह्माख्यावधौ भूयस्तेजसो हि विवृद्धये ॥ ६३ ॥
हेमपूर्वाणि रत्नानि बीजानि विनिवेश्य च ।

यागगेहशोधनालङ्करणमाह—अस्त्राभिमन्त्रितमिति द्वाभ्याम् ॥ ६२-६४ ॥

अब यागगेह की शोभा के लिये अलङ्कार कहते हैं—भृङ्गान्तर में स्थित

समस्त कर्म को अस्त्र से अभिमन्त्रित कर उससे यागगेह का मार्जन कर उपलेपन करे। उसे ब्रह्मावधि पर्यन्त पुनः तेज की वृद्धि के लिये सुवर्णपूर्वक रत्न तथा बीज सन्निविष्ट करे ॥ ६२-६४ ॥

गालितेनाम्भसाऽऽपूर्य ततः पात्रचतुष्टयम् ॥ ६४ ॥
एकस्मिन् चन्दनादीनि पूर्वं सिद्धार्थकानि च ।
साक्षतानि कुशाग्राणि तण्डुलानि तिलांस्तु वै ॥ ६५ ॥
सरत्नानुत्तमान् धातून् सफलान् विनिवेशयेत् ।
द्वितीये दधिमध्वाज्यक्षीरबिन्दुचतुष्टयम् ॥ ६६ ॥
कुशाग्रेण सबाह्लीकं सपुष्पं तिलतण्डुलम् ।
दूर्वां सविष्णुक्रान्तां च श्यामाकं शङ्खपुष्पिकाम् ॥ ६७ ॥
पद्मकं च तृतीये तु कुन्दरेणुसमन्वितम् ।
त्वगेलाद्यचयं सर्वं सकर्पूरं च चन्दनम् ॥ ६८ ॥
विनिक्षिप्य चतुर्थे तु द्रव्यं सर्वमिदं शुभम् ।
हृन्मन्त्रेण चतुर्णां तु कुर्याद् वै द्रव्ययोजनम् ॥ ६९ ॥
सास्त्रेण मूलमन्त्रेण सर्वं तच्चाभिमन्त्र्य तु ।
सषडङ्गेन तेनैव कुर्यात् पुष्पादिनाऽर्चनम् ॥ ७० ॥
यथाक्रमेण सर्वेषां ध्येयं सर्वं सुधोपमम् ।

अर्घ्यादिपरिकल्पनक्रममाह—गालितेनेत्यादिभिः । पात्रचतुष्टयम् अर्घ्यद्वितीयार्घ्यपाद्याचमनपात्रचतुष्टयमित्यर्थः । एकस्मिन् प्रधानार्घ्ये । चन्दनादीनीत्यत्रादिपदेन कर्पूरकुङ्कुमे ग्राह्ये, ''चन्दनं शशिबाह्लीकौ'' (६।४२) इति पारमेश्वरे विवृतत्वात् । सिद्धार्थकं = श्वेतसर्षपः । साक्षतानि = शोभनाक्षतसहितानि । पारमेश्वरव्याख्याने तु क्षतिरहितानीति कुशाग्रविशेषणं कृतम् । उत्तमान् धातून् सुवर्णरजतताम्रान् । तथा विवृतं पारमेश्वरे—''काञ्चनं रजतं ताम्रम्'' (६।४३) इति । सफलान् कदल्यादिफलान्वितानित्यर्थः । तथा च परमेश्वरे—''कदलीफलपूर्वाणि प्रधानार्घ्ये विनिक्षिपेत्'' (६।४३) इति । सबाह्लीकं सकुङ्कुमम् । विष्णुक्रान्ता प्रसिद्धा । श्यामाकः = मुनिप्रियः । श्याम अरिशि, ''श्यामाको नीलपुष्पः स्यात् स्मयाकश्च मुनिप्रियः'' (३।८।५८) इति वैजयन्ती । शङ्खपुष्पं कर्णाटभाषायां विषप्रहरी । पद्मकं वैद्यग्रन्थे प्रसिद्धम् । कुन्दरेणुः कुन्देन सहिता रेणुः, कुन्दो नाम वालुक्याख्यस्तृणविशेषः । ''वालुकं चाथ वालुक्यं मुकुन्दः कुन्दकुन्दरू'' (अ० २।४।१२१) इति नैघण्टुकाः। कर्णाटभाषायं कर्णिकेय हल्लु । रेणुर्नाम रेणुका, तथैव प्रसिद्धो गन्धद्रव्यविशेषः । ''हरेणू रेणुका कौन्ती'' (२।४।१२०) इत्यमरः । अथवा ''कुन्दरेण समन्वितः'' इति पाठे कुन्दरः पूर्वोक्तः कुन्द एव । वस्तुतस्तु तथैव पाठः सरसः । पूर्वं सम्भारार्जनप्रकरणे ''विष्णुक्रान्ता च कुन्दरम्'' (१८।२९) इति कुन्दमात्रस्योक्तत्वात्,

रेणुकाया अनुक्तत्वाच्च । त्वगेलाद्यचयं त्वग् लवङ्गः, "त्वक्पत्रमुत्कुटं भृङ्गम्" (२। ४।१३४) इत्यमरः । एला प्रसिद्धा । तदाद्यानां द्रव्याणां चयं समूहम् । अत्राद्यशब्देन तक्कोलजातिफले ग्राह्ये । तथोक्तं पारमेश्वरे—"एलालवङ्गतक्कोलैः सह जाती-फलानि च" (६।६४) इति । एषामर्घ्यादीनां स्थाननियमादिकं षष्ठपरिच्छेदे (६।९-११) प्रदर्शितम् । दहनाप्यायनादिकं तु नृसिंहकल्पपरिच्छेदे (१७।१७-२७) प्रदर्शितम् । तत्सर्वं संगृह्येश्वरादिषु सुव्यक्तमुक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ६४-७१ ॥

इसके बाद छाने हुए जल से चार घड़ा भर कर वहाँ प्रथम अर्घ्य पात्र, द्वितीय अर्घ्य पात्र, वाद्य पात्र और आचमन पात्र स्थापित करे । **एक घट में** चन्दनादि, सिद्धार्थकादि (श्वेत सर्षपादि), साक्षात् कुशाग्र, तण्डुल, तिल, सरल उत्तम धातु तथा कदली आदि फल डाल कर सन्निविष्ट करे । **द्वितीय घट में** दधि, मधु, घृत, दूध इन चार बिन्दुओं को कुशाग्र के साथ कुङ्कुम, पुष्प सहित तिल, तण्डुल, दूध विष्णुक्रान्ता, श्यामाक, शङ्खपुष्पी एवं पद्म डाल कर स्थापित करे । **तृतीय घट में** कुन्दरेणु समन्वित त्वक्, इलायची आदि, कपूर सहित चन्दन डालकर स्थापित करे । **चतुर्थ घट में** पहले कहे गये सभी द्रव्यों का समूह प्रक्षिप्त कर स्थापित करे । फिर अस्त्र सहित मूल मन्त्र से सभी का अभिमन्त्रण कर षडङ्ग सहित मन्त्र द्वारा पुष्पादि से उनका अर्चन करे । इस प्रकार क्रमशः सभी नैवेद्य वस्तुओं का अमृत के समान ध्यान करे ॥ ६३-७० ॥

आवाहने सन्निधाने सन्निरोधे तथार्चने ॥ ७१ ॥
विसर्जनेऽर्घ्यदानं तु प्राक्पात्रान्नित्यमाचरेत् ।
तदम्भसा चार्हणं तु तथैव परिषेचनम् ॥ ७२ ॥
कुर्यात् प्रणयनादानं प्रीणनं प्रीतिकर्म च ।

प्रधानार्घ्यस्य विनियोगमाह—आवाहन इति । प्रणयनादानं प्रणयनं पात्रान्तरे सेचनम्, तत्पूर्वकमादानं ग्रहणम् । तच्च "तर्पणं सम्प्रतिष्ठाप्य वासितं चार्घ्यवारिणा" (६।३७६) इति पारमेश्वराद्युक्तप्रकरणेषूपयुक्तं ज्ञेयम् ॥ ७१-७३ ॥

अब **प्रथम कलश से प्रधान अर्घ्य का विनियोग** कहते हैं—आवाहन, सन्निधान, सन्निरोध अर्चन एवं विसर्जन क्रिया में प्रथम पात्र से नित्य अर्घ्यदान देवे और उसी से पूजा करे तथा परिषेचन करे ॥ ७२ ॥

उसी पात्र से प्रणयन (पात्रान्तर का अभिषेचन) तथा आदान (जल ग्रहण) प्रीणन एवं प्रीतिकर्म करे ॥ ७३ ॥

द्वितीयार्घ्यपात्रविनियोगकथनम्

प्रोक्षणं सर्ववस्तूनाम् अन्यस्मादुदकेन तु ॥ ७३ ॥
आरम्भे सर्वकार्याणां तत्समाप्तौ तथैव हि ।
न्यूनाधिकानां शान्त्यै तु ज्ञानव्यत्ययशान्तये ॥ ७४ ॥

कार्यं तदर्घ्यदानं च नित्यं मन्त्रात्मना विभोः ।
कुम्भोपकुम्भकुण्डानां मन्त्रास्त्रकलशार्चने ॥ ७५ ॥
सम्पूजने च भूतानां गुर्वादीनां महामते ।
दक्षशिष्यात्मपूजार्थमुक्तानुक्तार्चनं प्रति ॥ ७६ ॥

द्वितीयार्घ्यविनियोगमाह—अन्यस्मादित्यारभ्योक्तानुक्तार्चनं प्रतीत्यन्तम् । न्यूनाधिकानां कार्याणामित्यनुषङ्गः । एवं च सर्वकार्येष्वपि समाहितस्यापि कर्मज्ञान-वैपरीत्याद् दोषः संभवत्येव । तच्छान्त्यर्थं सर्वकार्याणामारम्भेऽवसानं च भगवते सकृत् सकृत् समर्पणीयमिति भावः ।

कुम्भोपकुम्भकुण्डानां कुम्भस्य महाकुम्भस्य ये उपकुम्भास्तेषां कुण्डस्य चेत्यर्थः । यद्वा, कुम्भा महाकुम्भस्य प्रागादिषु स्थापिताः कलशाः, उपकुम्भाः, शान्तिकादिषूक्तप्रकारेण तदुपरि स्थापिताः कलशा इत्यर्थः । मन्त्रास्त्रकलशार्चने मन्त्राणामुपकुम्भेषु कुण्डमेखलास्थितकूर्चादिषु च संस्थितवासुदेवादिमन्त्राणामस्त्र-कलशस्य चार्चन इत्यर्थः । महाकुम्भस्थायार्घ्यदानं तु प्रधानार्घ्यजलेनैवेति ज्ञेयम् । भूतानां सम्पूजने कुमुदाद्यर्चन इत्यर्थः । "सम्पूजने च भोगानाम्" (६।११५) इति पाठान्तरमुक्तं पारमेश्वरे, तथैव विवृतं तद्व्याख्याकारैरपि । गुर्वादीनामित्यत्र दक्षशिष्यात्मपूजार्थमित्यत्र च तत्तद्विग्रहविन्यस्तमन्त्रार्चनविषयमिति बोध्यम् । उक्तानुक्तार्चनं प्रतीति संक्षेपेणोक्तम् ।

विशदीकृतमीश्वरपारमेश्वराभ्याम्—

दक्षशिष्यात्मपूजार्थं द्वास्थानामर्चनं प्रति ।
प्रसादासनदेवानां गुरूणां सन्ततेस्तथा ॥
लाञ्छनाङ्गपरीवारशक्तिभूषणरूपिणाम् ।
मण्डलावरणस्थानां देवानां चाऽर्चने तथा ॥
मुद्राबन्धे कराभ्युक्षं तदर्चा क्षालनं तथा ।
जपकालेऽक्षसूत्रस्य कुर्यात् तत्क्षालनं तथा ॥

—(ई०सं० ३।९४-९६, पा०सं० ६।११५-११८)

इति ॥ ७३-७६ ॥

अब **द्वितीय अर्घ्यपात्र का विनियोग** कहते हैं—सभी वस्तुओं का प्रोक्षण अन्य पात्र के जल से करे । सभी कार्यों के आरम्भ से उनकी समाप्ति पर्यन्त न्यूनाधिक दोषों की शान्ति के लिये तथा ज्ञान व्यत्यय की शान्ति के लिये साधक परमेश्वर को मन्त्र द्वारा दूसरे अर्घ्यपात्र से अर्घ्य देवे । कुम्भ, उपकुम्भ, कुण्ड तथा कलश के अर्चन में, सम्पूजन में, भूतों तथा गुरु आदि के पूजन में दक्ष शिष्य की आत्मपूजा में तथा उक्त-अनुक्त अर्चन में दूसरे अर्घ्य कलश के जल का उपयोग करना चाहिए ॥ ७३-७६ ॥

पाद्यदानं तृतीयात् तु नित्यं पात्रात् समाचरेत् ।

चतुर्थात् तु यथाकालं दद्यादाचमनं ततः ॥ ७७ ॥

पाद्यविनियोगमाह—पाद्यदानमित्यर्धेन ।
आचामनविनियोगमाह—चतुर्थादित्यर्धेन ॥ ७७ ॥

तृतीय पात्र से नित्य पाद्यदान सम्पादन करे तथा **चतुर्थ पात्र** से समय आने पर आचमन देवे ॥ ७७ ॥

मुख्यार्घ्यवारिणा प्रोक्ष्य पृथग् भाण्डस्थितं पुरा ।
पञ्चगव्यं ततः प्राग्वत् कल्पनीयं हृदादिकैः ॥ ७८ ॥
कुशोदकं तदस्त्रेण दत्वाद्येनाभिमन्त्र्य च ।

मुख्यार्घ्यवारिणा पञ्चगव्यप्रोक्षणं तत्संयोजनं चाह—मुख्येति सार्धेन । आद्येन हृन्मन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ७८-७९ ॥

तदनन्तर पृथक् भाण्ड में स्थित पञ्चगव्य को मुख्य (प्रथम) अर्घ्यपात्र के जल से पूर्ववत् आद्य हृन्मन्त्र से प्रोक्षण करे । फिर आद्य मन्त्र से अभिमन्त्रित कर अस्त्र मन्त्र से उस पञ्चगव्य पर कुशोदक छिड़के ॥ ७८ ॥

अथ पाणिद्वयेनैव अग्नीषोमात्मकेन च ॥ ७९ ॥
योग्यतापदवीं नीत्वा प्रोक्षयेद् यत् पुराहृतम् ।
साम्भसा तेन वै सर्वं विष्टराग्रगतैः कुशैः ॥ ८० ॥

सर्वोपकरणानां दहनाप्यायनमुद्रादर्शनपूर्वकं पञ्चगव्यप्रोक्षणमाह—अथेति सार्धेन । तेन पञ्चगव्येनेत्यर्थः ॥ ७९-८० ॥

तदनन्तर उसी अर्घ्यपात्र के जल को अपने अग्नीषोमात्मक दोनों हाथ में लेकर जितनी वस्तुयें यज्ञ के लिये एकत्रित की गई हैं उन पर उसका छींटा देकर यज्ञ की योग्यता पदवी के योग्य बनावे । फिर पुनः उसी अर्घ्यपात्र के जल को विष्टराग्रगत कुशों से प्रोक्षित करे ॥ ७९-८० ॥

सर्वबीजानि धान्यानि सिद्धार्थकयुतान्यथ ।
कृत्वास्त्रपरिजप्तानि ध्यात्वा चास्त्रसमानि च ॥ ८१ ॥
विघ्नोपशान्तये वेगाद् दशदिक्षु विनिक्षिपेत् ।
संहृत्य बर्हिकूर्चेन प्राच्यां दिशि निधाय वै ॥ ८२ ॥
तद् गर्भीकृत्य संलिख्य हेतिराट् चन्दनादिना ।

विघ्नोपशमनार्थं दशदिक्ष्वस्त्राभिमन्त्रितबीजधान्यश्वेतसर्षपविक्षेपादिकमाह—सर्वबीजानीति सार्धद्वाभ्याम् । हेतिराड् = हेतिराजं चक्रमित्यर्थः । विभक्तिनियमश्छान्दसः ॥ ८१-८३ ॥

सभी बीज सिद्धार्थक युक्त सभी धान्यों को अस्त्र मन्त्र का ध्यान कर अस्त्र मन्त्र से जप कर उन्हें अस्त्र के समान बनावे ॥ ७९-८१ ॥

फिर विघ्न की शान्ति के लिये उन सिद्धार्थक युक्त धान्यों को दशों दिशाओं में वेग से प्रक्षिप्त करे । फिर उन धान्यों को कुशा के कूँचे से एकत्रित कर पूर्व दिशा में स्थापित करे और किसी वस्तु के भीतर रख देवे । तदनन्तर चन्दनादि द्वारा हेतिराट् चक्र लिखे ॥ ८१-८३ ॥

कुम्भमण्डलाग्निषु भगवदर्चनक्रमकथनम्

करकं कुम्भसंयुक्तमलङ्कृत्य यथा पुरा ॥ ८३ ॥
भोगैः प्रावरणान्तैश्च मूर्तीभूतौ विचिन्त्य च ।
तद्देवताशरीरं तु पश्येदम्बरवच्छुभम् ॥ ८४ ॥

अथ कुम्भमण्डलाग्निषु भगवदर्चनक्रममाह—करकं कुम्भसंयुक्तमित्यारभ्य प्राग्वत् कुम्भेऽथ पूजित इत्यन्तम् । यथापुरमलङ्कृत्य, "प्राप्तानुज्ञोऽथ कलशमादाय शुभलक्षणम्" (१७।५७) इत्यादिसप्तदशपरिच्छेदोक्तप्रकारेणालङ्कृत्येत्यर्थः एवमेवोक्तं जयाख्येऽपि दीक्षापटले—

अथादाय दृढं शुभ्रमेकरूपं च निर्व्रणम् ॥
कलशं मृण्मयं रम्यं सौवर्णं वाऽथ राजतम् ।
रत्नहाटकसद्गन्धपुष्पसर्वौषधीयुतम् ॥
शुभपादपशाखाढ्यं पट्टस्त्रक्कण्ठभूषणम् ।
गालितोदकसम्पूर्णं वारिधारान्वितं शुभम् ॥
चन्दनाद्युपलिप्तं च परितश्चार्घ्यचर्चितम् । (१६।९५-९८) इति ।

प्रावरणान्तैर्भोगैर्वस्त्रान्तैरुपचारैरित्यर्थः । मूर्तीभूतौ विचिन्त्य कुम्भकरकौ मन्त्रनाथसुदर्शनयोः शरीरत्वेन ध्यात्वेत्यर्थः, "तद्देवताशरीरं तु पश्येदमलवर्चसम्" (ई०सं ११।१९५, पा०सं० १२।२२४) इतीश्वरपारमेश्वरोक्तेः । विचिन्त्य चेत्यत्र चकारेण पूर्वं महाकुम्भमध्ये भगवदर्चनमपि सूचितं भवति । अन्यथा— "इदमभ्यर्थयेद् देवं सास्त्रं बद्धाञ्जलिस्थितः" (१८।८७) इत्युक्तिविरोधात् । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—

कुम्भमध्ये विभोः प्राग्वदासनं परिकल्प्य च ॥
तन्मध्ये पुण्डरीकाक्षं समावाह्य विधानतः ।
सन्निधिं सन्निरोधादि भोगयागावसानकम् ॥
पूर्ववत् सकलं कृत्वा तस्य दक्षिणदिग्गतम् ।
अस्त्रविग्रहरूपं च ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथाविधि ॥
ध्वंसयन्तं च विघ्नानां जालं कर्मावसानकम् । इति ।
—(ई०सं० ११।११८-१२१, पा०सं० १२।२२७-२२९)

जयाख्ये (१६।१०२) ईशानदिशि महाकुम्भस्थापनमुक्तम् । अतस्त्वेतत्पक्ष-

द्वयमपीश्वरपारमेश्वरयोर्महोत्सवप्रकरणे पवित्रोत्सवप्रकरणे च प्रदर्शितम्—

प्रादक्षिण्येन प्रागभागात् तत्पादान्तं च तत् स्मरेत् ॥
अथवेशानदिग्भागात् तत्पादान्तं द्विजोत्तमाः । इति ।
(ई०सं० ११।१२४-१२५, पा०सं० १२।२३२)

अत्र तन्निधायाथ कुम्भेन सह कुर्यात् प्रदक्षिणमिति पूर्वं प्रादक्षिण्येन कनकधारया भित्तिसेचनानन्तरं महाकुम्भस्य प्रादक्षिण्येन भ्रामणमुक्तम्, जयाख्ये तु करककुम्भयोर्युगपदपि प्रदक्षिणमुक्तम्—"पृष्ठतः कलशो भ्राम्यस्तुल्यकालं तु वा पृथक्" (१६।१०१) इति । अत्र महाकुम्भार्चनानन्तरं तोरणध्वजाद्यर्चनोक्तावपि पूर्वोत्तरसंगत्यनुसारादीश्वराद्युपबृंहणानुसाराच्च महाकुम्भार्चनात् पूर्वमेव तत्कार्यम् । किञ्च, महाकुम्भार्चनं मण्डलार्चनस्यप्युपलक्षणं बोध्यम् । यतः—"पुराहृतैर्यथाशक्ति मण्डलं च समाचरेत्" (१८।५६) इति मण्डललेखनमुक्तम् । उत्तरत्रापि—"स्थण्डिले कलशाग्नौ च विनियुज्य यथाविधि" (१८।११०) इति कुम्भमण्डलाग्नीनां हविर्विभागं च वक्ष्यति ॥ ८३-९५ ॥

फिर कुम्भ युक्त करवा को पहले की भाँति अलङ्कृत करे । फिर उसमें प्रावरणान्त सभी भोगों के मूर्तीभूत (प्रत्यक्ष साक्षात्) की कल्पना करे । उसमें आकाश के समान निर्विकार देवता शरीर का दर्शन करे ॥ ८३-८४ ॥

विशाखयूपं तन्मध्ये समावाह्य यजेत् ततः ।
क्रमान्मुद्रावसानं तु तस्य दक्षिणदिग्गतम् ॥ ८५ ॥

तदनन्तर उसके मध्य में विशाखयूप का आवाहन कर मुद्रा दर्शन पर्यन्त उनकी पूजा करे, प्रदक्षिणा करे ॥ ८५ ॥

अस्त्रविग्रहरूपं च स्मृत्वा कुरबकं तु तत् ।
अस्त्रमन्त्रं तु तन्मध्ये ध्यात्वाऽभ्यर्च्य यथाविधि ॥ ८६ ॥
ध्वंसयन्तं च विघ्नानां कालं कर्मावसानकम् ।
इदमभ्यर्थयेद् विद्वान् सास्त्रो बद्धाञ्जलिस्थितः ॥ ८७ ॥
यागालयं हि विश्वेश गृहाण रचितं मया ।
आ समाप्तेर्भज विभो क्रियाङ्गानां च सन्निधिम् ॥ ८८ ॥

फिर उसे कुम्भ युक्त करके अस्त्र को विग्रह के रूप में ध्यान करे और यथाविधि अर्चन करे । जो कर्म के अन्त काल तक विघ्न समूहों का ध्वंस करने वाले हैं, उन भगवान् विशाखयूप से अस्त्र मन्त्र पढ़ते हुए यह प्रार्थना करे—

हे विश्वेश्वर! मैंने इस यागालय का निर्माण किया है, आप इसे ग्रहण कीजिये और हे प्रभो! जब तक यह यज्ञ समाप्त नहीं होता, तब तक आप इस यज्ञ के क्रिया कलाप के सन्निधान में निवास करें ॥ ८६-८८ ॥

ततोऽस्त्रोदकधरां चाप्यछिन्नां भित्तिकां नयेत् ।

प्रादक्षिण्येन प्राग्भागात् तत्पदान्तं च संस्मरेत् ॥ ८९ ॥
तन्निधायाऽथ कुम्भेन सह कुर्यात् प्रदक्षिणम् ।
अर्घ्यदानं तयोः कृत्वा प्राग्भागे चाधरोर्ध्वगम् ॥ ९० ॥
पूजितं वाससाच्छन्नं चक्रमन्त्राभिमन्त्रितम् ।
निदध्याद् भद्रपीठं तु तत्राधारगतं न्यसेत् ॥ ९१ ॥

फिर यज्ञ मण्डप की भित्तिका (= दीवार) पर अविच्छिन्न अस्त्रोदक की धारा पूर्व दिशा से आरम्भ कर प्रदक्षिणा क्रम से भित्ति के अन्त तक उसका सेचन करे। फिर करक को वहीं रख देवे और कुम्भ के साथ उस करक की प्रदक्षिणा करे। फिर उन दोनों के पूर्व अधः और ऊर्ध्वभाग में अर्घ्य दान कर चक्र मन्त्र से अभिमन्त्रित वस्त्र द्वारा उनकी पूजा करे। फिर वहाँ आधारगत भद्रपीठ स्थापित कर उसका न्यास करे ॥ ८९-९१ ॥

सास्त्रं हि मन्त्रकलशमर्चयित्वा प्रणम्य च ।
दिगीश्वरगणं दिक्षु पूर्वोक्तं विन्यसेत् ततः ॥ ९२ ॥

तदनन्तर अस्त्र मन्त्र सहित उस कलश का अर्चन कर प्रणाम करे। उसके आठो दिशाओं में पूर्वोक्त दिगीश्वर गणों का न्यास करे ॥ ९२ ॥

ततः समर्चनं तेषां कृत्वाऽस्त्रेण हृदा सह ।
प्रणवेन स्वनाम्ना च नमस्कारानुगेन वै ॥ ९३ ॥
तोरणध्वजपूर्वाणां कार्यमर्घ्यादिनार्चनम् ।
ततो हवनभूमध्ये ध्यात्वा पीठं पुरोदितम् ॥ ९४ ॥
तत्रार्चनं विभोः कुर्यात् पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ।
पूर्णान्तं तर्पणं कुर्यात् प्राग्वत् कुण्डेऽथ पूजिते ॥ ९५ ॥

फिर 'नमः' शब्द के साथ अस्त्रमन्त्र से तथा प्रणवपूर्वक अपने नाम को नमस्कार से युक्त कर उससे भी अर्चन करे। मण्डल स्थित तोरण एवं ध्वज का भी अर्घ्यादि द्वारा पूजन करे। हवन की भूमि में पधराये गये पीठ पर पूर्वोक्त क्रम से विभु भगवान् का पूजन करे। तदनन्तर कुण्ड के पूजनोपरान्त पूर्णाहुति के अन्त में तर्पण करे ॥ ९२-९५ ॥

भगवद्भूतबलिदानकथनम्

ततस्तु भगवद्भूतान् क्षेत्रनाथसमन्वितान् ।
अर्घ्यपुष्पादिनाऽभ्यर्च्य बलिमादाय पात्रगम् ॥ ९६ ॥
इदमुक्त्वा च तदनु क्षिपेद् यागगृहाद् बहिः ।
ये विष्णुभाविनो भूता ये च तेष्वनुयायिनः ॥ ९७ ॥

आहरन्तु बलिं तुष्टाः प्रयच्छन्तु शुभं मम।
प्रक्षालिताङ्घ्रिस्त्वाचान्तः संविशेद् यागमन्दिरम्॥ ९८ ॥

अथ भगवद्भूतबलिदानमाह—तत इति त्रिभिः ॥ ९६-९८ ॥

इसके बाद क्षेत्रपाल सहित भगवद् भूतों की अर्घ्य पुष्पादि द्वारा अर्चन कर पात्र में बलि लेकर 'ये विष्णु' आदि श्लोक मन्त्र कहकर (द्र. ९७) उस बलि को यागगृह से बाहर फेंक देवे । जो भविष्य में विष्णु के भावी भूत हैं और जो इस समय उनके अनुयायी हैं । वे सभी प्रसन्न होकर इस बलि को ग्रहण करें और हमारा कल्याण करें । इस प्रकार बलि देने के उपरान्त साधक हाथ-पैर धोकर आचमन कर यागमन्दिर में प्रवेश करे ॥ ९६-९८ ॥

हविःपाकविधानम्

अग्निगेहेऽथ संस्कृत्य चुल्लीं प्राग्दिश्यवस्थिताम् ।
पचनालयमुत्सृज्य स्वदेशात् कुण्डमध्यगाम्॥ ९९ ॥
स्थालीं चास्त्रेण संक्षाल्य बाह्यतो गोमयेन तु ।
विलिप्यान्तः सुगन्धैस्तु प्रताप्य ज्वलितैः कुशैः ॥ १०० ॥

हविःपाकविधानं तद्विभागनिवेदनादिक्रमं चाह—अग्निगेहेऽथ संस्कृत्येत्यारभ्य पूर्णया पुनरेव हीत्यन्तम् । ईशाब्जनाभरुद्धेन ईशः पूर्वोक्तो विशाखयूपः, अब्जनाभः = पद्मनाभः, ताभ्यां रुद्धेन तद्बीजाभ्यां सम्पुटितेनेत्यर्थः । हंसार्णेन = हकारेणेत्यर्थः । तद्वद् ईशाब्जनाभबीजवत् स्थिताभ्यां वौषड्वषट्काराभ्यां प्रणवाभ्यां च संरुद्धेनेत्यनुषङ्गः । सात्वतामृते तु व्यापकमन्त्रदीक्षाप्रकरणादेतन्मन्त्रस्थाने मूलमन्त्र एव प्रतिपादितः ॥ ९९-१११ ॥

अब **हविःपात्र का विधान तथा तद् विभाग निवेदनादि क्रम** कहते हैं—

अग्निगेह में पूर्व दिशा में रहने वाली चुल्ही का संस्कार करे । अपने स्थान भूत पचनालय (रसोई घर) को छोड़कर कुण्ड के मध्य में रहने वाली स्थाली (बटुई) को भीतर से अस्त्र मन्त्र से प्रक्षालन करे । उसके बाहर वाले भाग को गोमय से विलेपन करे । फिर उसके भीतरी भाग को जलते हुए कुशा से तथा सुगन्धित द्रव्यों से प्रतप्त करे ॥ ९९-१०० ॥

सन्ताड्य कुसुमास्त्रेण सितसूत्रेण कण्ठतः ।
चतुर्धा वर्मजप्तेन संवेष्ट्याघ्यादिनार्च्य च॥ १०१ ॥
चुल्ल्यां कृत्वा समारोप्य तस्यां मधु घृतं पयः ।
परिशुद्धे शृते क्षीरे त्वस्त्रेणारोप्य तण्डुलान्॥ १०२ ॥
चालयेन्मूलमन्त्रेण दृष्ट्वा नेत्रेण संस्कृतम् ।
हृदावतार्याभिघार्य शिखामन्त्रेण घट्टयेत्॥ १०३ ॥

फिर उसे कुसुमास्त्र से सन्ताडित करे । तदनन्तर कवच मन्त्र का जप कर उसके कण्ठ में चार बार सफेद सूत्र लपेटे । फिर अर्घ्यादि से उसकी पूजा करे । फिर चुल्ही पर उस बटुई को चढ़ावे । उसमें मधु, घृत और दूध डाले । जब दूध अच्छी तरह पक जावे तब अस्त्रमन्त्र से उसमें चावल छोड़े । मूल मन्त्र पढ़कर उसे चलावे । तब उसे अपनी आँखों से सुसंस्कृत (पका हुआ) देखकर हृन्मन्त्र से नीचे उतारे, फिर अभिघार्थ शिखामन्त्र से अच्छी तरह घोंटे ॥ १०१-१०३ ॥

शिरसालिप्य संक्षाल्य सुप्रसन्नेन वारिणा ।
भूतिना चन्दनाद्येन भूषयेदूर्ध्वपुण्ड्रकैः ॥ १०४ ॥

फिर शुद्ध जल शिरोभाग पर छिड़क कर उसका प्रक्षालन करे । भूति, चन्दनादि से तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र से उसे भूषित करे ॥ १०४ ॥

विष्टरोपरि चान्यत्र निदध्यान्मण्डलान्तरे ।
होमं तत्सिद्धये कृत्वा पूर्णान्तमथ वै चरोः ॥ १०५ ॥
आघारदानमाज्येन कुर्यात् तेजोमृतात्मकम् ।
ईशाब्जनाभरुद्धेन हंसार्णेन सबिन्दुना ॥ १०६ ॥
तद्वद् वौषड्वषट्कारप्रणवद्वितयेन च ।
यतोऽविनाभाविनोऽत्र स्थितिर्द्वाभ्यां च साम्प्रतम् ॥ १०७ ॥

तदनन्तर अन्यत्र दूसरे मण्डल के विष्टर पर उसे स्थापित करे । फिर उस चरु की सिद्धि के लिये उसके आदि और अन्त का भाग होम कर परीक्षित करे । तदनन्तर घी के आघार का दान कर उसे अमृतात्मक तेज से संवर्धित करे । यह कार्य विशाखयूप के बीज तथा पद्मनाभ के बीज से सम्पुटित हंसमन्त्र (सोऽहं) से करना चाहिए । इसी प्रकार वौषट् वषट् मन्त्र से सम्पुटित प्रणव मन्त्र से भी करना चाहिए । दोनों की अविनाभाव से संस्थिति रहती है क्योंकि वे एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते ॥ १०४-१०७ ॥

अतः पुरोदितेनैव तदन्नं सम्पुटेन च ।
अ(थ?ध) ऊर्ध्वे च संच्छन्नं स्मरेदादाय वै हृदि ॥ १०८ ॥

अतः पूर्व में कही गई विधि के अनुसार सम्पुटित उस अन्न को नीचे से ऊपर तक ढक कर उसे हाथ में लेकर साधक हृदय से लगावे तथा भगवत् स्मरण करे ॥ १०८ ॥

द्रव्यसम्पातहोमेऽथ पूर्णान्ते तु कृते सति ।
उद्धृत्याहुतियोगेन पात्रत्रयगतं तु तत् ॥ १०९ ॥

तदनन्तर द्रव्य-सम्पात होम तथा पूर्णाहुति करने के बाद आहुति के अनुसार उस चरु को तीन पात्र में स्थापित करे ॥ १०९ ॥

स्थण्डिले कलशेऽग्नौ च विनियुज्य यथाविधि ।
तदाद्यभावितं शेषं कुशाक्रान्तं विघट्य च ॥ ११० ॥

प्रथम भाग स्थण्डिल, दूसरा कलश और तीसरा भाग अग्नि के लिये यथाविधि स्थापित करे । शेष आद्यभावित उस चरु को कुशा डाल कर उससे अच्छी तरह चरु का विलोडन करे ॥ १०९-११० ॥

क्रमान्मूलास्त्रनेत्रेण जुहुयाच्च शतत्रयम् ।
नीत्वा सम्पूर्णभावं च पूर्णया पुनरेव हि ॥ १११ ॥

फिर क्रमशः मूल सहित अस्त्र मन्त्र से तीन सौ आहुति देवे । इस प्रकार सम्पूर्ण चरु का हवन कर पूर्णाहुति करे ॥ १११ ॥

ततश्चोत्तरदिक् कुर्यान्मण्डलं गोमयादिना ।
प्राक्प्रान्तं विष्टरं तत्र दद्याद् दर्भं हृदन्तरे ॥ ११२ ॥
तन्मध्ये विन्यसेच्छिष्यं समाङ्घ्रिं स्तब्धविग्रहम् ।
प्राङ्मुखं यतवाक्चित्तवृत्तिरूपं धृताञ्जलिम् ॥ ११३ ॥

अथ शिष्यस्य विष्टरोपरि स्थापनं प्रोक्षणं सिद्धार्थतिलैस्ताडनं कुशाग्रेण तद्विग्रहोल्लेखनं मन्त्रव्याप्ति नेत्रबन्धं पुष्पाञ्जलिप्रक्षेपणमच्युतकरेणालभनं मण्डलार्चनं तत्पुरतः पृथिव्यादिभूतसप्तकस्य तदधीशमन्त्रसंघस्य च पूजनमग्निसन्निधौ शिष्येण सहोपवेशनं शिष्यस्य कर्मवासनाविश्लेषसिद्ध्यर्थं होमं सम्पातस्पर्शं विज्ञापनं प्रायश्चित्तहोमं शिष्यस्य सूत्रात्मकशरीरकल्पनं गुल्फादिषु पृथिव्यादिव्याप्तिक्रमं पृथिव्यादिषु भुवनाध्वादीनां संस्थितिं पातालशयनादीनामवस्थानं तत्र विभवव्यूहपरमन्त्रदीक्षाभेदेन पृथिव्यादिभूतसप्तकविन्यासभेदं पुनः कुम्भार्चनं शिष्यस्य पञ्चगव्यप्राशनं चरुभोजनं दन्तधावनं तत्काष्ठपतन परीक्षां तच्छान्तिं मण्डलस्थस्य देवस्य कुम्भादौ विसर्जनं स्वप्नलाभाय शिष्यस्य शयनं तत्परितो रक्षाकरणम् आचार्यस्यापि दन्तधावनादिकं भगवत्प्रार्थनापूर्वकं प्रस्वापं चाह—ततश्चोत्तरदिक् कुर्यान्मण्डलं गोमयादिनेत्यारभ्य यावत्परिच्छेदपरिसमाप्ति । विश्वरूपाद्यं क्ष्माधरान्तं षट्कं विश्वरूपवागीशखगाननन‍ृसिंहसरश्शायिवराहाख्यदेवताषट्कमित्यर्थः ।

मधुसूदनपर्यन्तं पातालशयनादथ ॥
सप्तकं सप्तकं षटकं सम्पश्येत्क्ष्मादिपञ्चके ।
मनस्यवस्थितं ह्येवं शक्तीशात् त्रितयं हि यत् ॥
बुद्धौ कमलनाभात्मा देवः सर्वेश्वरः प्रभुः । (१८।१९६-१९८)

इत्यस्यार्थः—पातालशयनमारभ्य पद्मनाभान्तमष्टत्रिंशद्विभवदेवेषु पातालशयनादिसप्तकं क्ष्मातत्त्वे, नारायणादिसप्तकमपृतत्त्वे, लोकनाथदिसप्तकं तेजस्तत्त्वे,

नारसिंहादिसप्तकं वायुतत्त्वे, क्रोडात्मादिषट्कमाकाशतत्त्वे, शक्त्यात्मादित्रयं मनस्तत्त्वे, पद्मनाभं बुद्धितत्त्वे च सम्पश्येदित्यर्थः । सात्वतामृते तु व्यापकमन्त्रदीक्षा उक्तत्वात्

येन येन हि मन्त्रेण दीक्षा कार्याऽथ कस्यचित् ।
तस्य तस्य तदीयानां पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥
कार्योऽत्रावयवानां तु विनियोगो यथोदितः ।
समूहवद् हृदादीनां मूलान्तानां समाचरेत् ॥
सह तत्त्वगणेनैव सर्वदाऽध्यात्मरूपताम् ।
सम्यगूह्य ततः कुर्यात् प्राग्वदभ्यर्चनं तु वै ॥
—(१९।१७२-१७४)

इति वक्ष्यमाणानुसारेण क्ष्मातत्त्वादिषु हृन्मन्त्रादयः प्रतिपादिता इति बोध्यम् ॥ ११२-२३३ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये अष्टादशः परिच्छेदः ॥ १८ ॥

— ❦※❦ —

इसके बाद उस हवन कुण्ड की उत्तर दिशा में गोमयादि से मण्डल निर्माण करे । उसके पूर्वभाग में विष्टर के लिये कुशा स्थापित करे । उस विष्टर के मध्य में पाद समतल कराकर शरीर को स्थिर कराकर शिष्य को पूर्वाभिमुख चुपचाप स्थिर चित्त अञ्जलि बाँधे हुए बिठावें ॥ १११-११३ ॥

अस्त्रेण पूर्ववत् कुर्यात् प्रोक्षणं तस्य चाम्भसा ।
तेनैव ताडयेन्मूर्ध्नि दीप्तैः सिद्धार्थकैस्तिलैः ॥ ११४ ॥

अस्त्रमन्त्र से जल द्वारा उसका प्रोक्षण करे । उसी मन्त्र से दीप्त सिद्धार्थक और तिलों से शिष्य के मस्तक पर ताड़न करे ॥ ११४ ॥

अनादिवासानोत्थानां बन्धानां चालनाय च ।
फडन्तेनाथ चास्त्रेण कुशाग्रेणाङ्घ्रिगोचरात् ॥ ११५ ॥
समुल्लिख्य शिखान्तं च ऋज्वर्थं मार्गसन्ततेः ।
जालवन्मन्त्रजालेन व्याप्तं स्मृत्वा च संवृतम् ॥ ११६ ॥
बध्नीयान्नेत्रमन्त्रेण तस्य नेत्रे च वाससा ।
वस्त्वर्घ्यकुसुमैर्गन्धैः कृत्वा पूर्णाञ्जलिं पुरा ॥ ११७ ॥

यह ताड़न अनादि काल से उठी हुई वासना के बन्धन को दूर करने के लिये किया जाता है। फिर फडन्त अस्त्रमन्त्र कुशा के अग्रभाग से शिष्य के पैर से लेकर शिखान्त तक उसके कर्म मार्ग को सीधा करने के लिये लिखे। जब उसका सारा शरीर मन्त्र जाल से व्याप्त तथा आच्छन्न हो गया है ऐसा देखे, तब नेत्रमन्त्र से वस्त्र द्वारा उसके दोनों नेत्र बाँध देवे। फिर वसु, अर्घ्य, पुष्प तथा गन्ध से उसकी अञ्जलि पूर्ण करे ॥ ११५-११७ ॥

पाणिनादाय चाग्रे वा निधायाग्रस्थितं बटुम्।
प्रक्षेपयेद् देवधाम्नि नतमूर्ध्नाऽञ्जलिं च तम्॥ ११८ ॥

फिर अपने आगे बैठे हुए उस वटु को शिर नीचा कर, अञ्जलि बँधवा कर, अपने हाथ से उठाकर, अथवा आम्रपल्लव पर बिठाकर देवलोक की ओर प्रक्षिप्त करे ॥ ११८ ॥

तस्योद्घाटितनेत्रस्य त्वदृष्टस्येतरैर्जनैः।
कुशलाध्वनिविष्टस्य दृष्ट्वा वै भक्तिलक्षणम्॥ ११९ ॥

फिर कल्याणकारी मार्ग में निविष्ट इतर जनों को दिखाई न पड़ने वाले और खुले नेत्रों वाले उस शिष्य में भक्ति का लक्षण देखे ॥ ११९ ॥

रोमाञ्चौत्सुक्यहर्षाढ्यमानन्दाश्रुसमन्वितम् ।
सप्रणामजपालापदिक्प्रदक्षिणसंयुतम् ॥ १२० ॥

उस शिष्य में रोमाञ्च, औत्सुक्य, हर्ष, आनन्दाश्रु, प्रणाम, जप, आलाप तथा दिशाओं की प्रदक्षिणा आदि लक्षण देखे ॥ १२० ॥

शुद्धान्तःकरणं बुद्ध्वा योग्योऽयमिति भावयेत्।
यदा तदाऽच्युतात्मानमात्मानं भावयंस्ततः॥ १२१ ॥

तब उसका अन्तःकरण शुद्ध जानकर यह दीक्षा योग्य है, ऐसा विचार करे। फिर गुरु अपने में अच्युतात्मवत्ता की भावना करे ॥ १२१ ॥

स्मरेद् दक्षिणपाणौ तु चक्राम्बुरुहमध्यगम्।
प्रधानदेवतावृन्दं स्वे स्वे धाम्नि परे स्थितम्॥ १२२ ॥
स्वमरीचिगणेनैव द्योतयन्तं तु चाखिलम्।
तेनाच्युतकरेणैव सोदकेनालभेत तम्॥ १२३ ॥
पुष्पपूर्णाञ्जलौ पृष्ठे तस्य तत्त्रितयाश्रितम्।
कृत्वा मन्त्रगणान्तं वै मोक्षविघ्नोपशान्तये॥ १२४ ॥

अपने दाहिने हाथ में, चक्रकमल के मध्य में, प्रधान देव वृन्दों को अपने-

अपने धाम में स्थित देखे । जो अपने तेजों से सारे विश्व को प्रकाशित करते हैं, ऐसे अच्युत युक्त अपने सजल हाथ से शिष्य का स्पर्श करे और अर्घ्यपुष्प गन्ध से परिपूर्ण उसकी अञ्जलि को दीक्षा में मन्त्रगणान्त विघ्न शान्ति के लिये पीछे की ओर प्रक्षिप्त करा देवे ॥ १२२-१२४ ॥

पुनरभ्यर्चयेन्नीत्वा मन्त्रेण परमेश्वरम् ।
आधाराधेयभावेन बुद्ध्वाऽन्तःसंस्थितिं पुरा ॥ १२५ ॥
क्ष्मादीनां बुद्धिनिष्ठानां वासनानां तथात्मनः ।
ततः कुर्याच्च विश्लेषं तेषां ध्यानार्चनादिना ॥ १२६ ॥
आत्मतत्त्वं समाश्रित्य कर्मचक्रं हि वर्तते ।
तच्चक्रमवलम्ब्यास्ते बुद्धिनिष्ठं हि सप्तकम् ॥ १२७ ॥
अज्ञानं व्यापकत्वं च सुखदुःखादि वेदनम् ।
सर्वज्ञस्यात्मतत्त्वस्य कर्मचक्रावलम्बनात् ॥ १२८ ॥
चपलं कर्मचक्रं तद् वर्धमानं सदैव हि ।
क्ष्माद्यमाधारमाश्रित्य तावदेवावतिष्ठते ॥ १२९ ॥
यावत् सर्वज्ञशक्त्या वै कर्मात्मा न प्रबोधितः ।
प्रबुद्धस्तस्य संरोधं कर्तुं शक्नोति सर्वदा ॥ १३० ॥

फिर मण्डल के पास शिष्य को ले जाकर मन्त्र द्वारा परमेश्वर का अर्चन करावे । तदनन्तर अन्त:करण की स्थिति आधार-आधेय भाव से ही है ऐसा समझ कर क्षमादिकों को तथा बुद्धिनिष्ठ वासनाओं को आत्मा से ध्यान अर्चन के द्वारा अलग करावे । यतः समूचा कर्मतत्त्व, आत्मतत्त्व का आश्रय लेकर स्थित है और उसी कर्मचक्र का अवलम्बन कर बुद्धि में रहने वाले पृथ्व्यादि सप्तक तथा अज्ञान व्यापकत्त्व सुख-दु:खादि ज्ञान भी स्थित है । यह समस्त कर्मचक्र सर्वज्ञ आत्मतत्त्व का आलम्बन किये हुए है । उस आलम्बन से यह कर्मचक्र नित्य बढ़ता है और वही क्षमा आदि का आधार लेकर तभी तक स्थित रहता है । जब तक सर्वज्ञ शक्ति कर्मात्मा का प्रबोध नहीं करती । जब वह सर्वज्ञ शक्ति प्रबुद्ध हो जाती है तब वह कर्मचक्र का संरोध करने में सर्वदा सशक्त हो जाती है ॥ १२५-१३० ॥

मन्त्राराधनपूर्वेण ज्ञाननिष्ठेन कर्मणा ।
अतो य आश्रयः क्ष्माद्यः सत्त्वसारो हि पौरुषः ॥ १३१ ॥
नीरसं चेरिणीभूतं कुर्यात् संस्थाप्य साम्प्रतम् ।
निर्मुक्तचित्फलो येन कर्मवृक्षो विनश्यति ॥ १३२ ॥

इसलिये कर्मचक्र के आश्रयभूत क्षमादि जो सत्त्वसार पौरुष है उन्हें मन्त्रा-

राधन पूर्वक ज्ञाननिष्ठ कर्म से नीरस एवं ऊसर बना देवे । ऐसा करने से चित्फल निर्मुक्त हो जायेगा फिर तो कर्मवृक्ष अपने आप नष्ट हो जायेगा ॥ १३१-१३२ ॥

शुद्ध्यर्थमात्मनस्तस्मात् सर्वज्ञस्याग्रतः स्थले ।
भूताधिदेवमन्त्राणां कुर्याद् वै पूजनं क्रमात् ॥ १३३ ॥

साधक अपनी शुद्धि के लिये सर्वज्ञ परमात्मा के आगे वाले स्थल पर भूतों के अधिदेव मन्त्रों का क्रमशः पूजन करे ॥ १३३ ॥

चिन्तानुविद्धं सामान्यं मन्त्रनाथैरधिष्ठितम् ।
क्ष्माद्यध्वानं च बुद्ध्यन्तं ध्यात्वा षट्पत्रवत् पुरा ॥ १३४ ॥

चिन्तानुविद्ध सामान्य मन्त्र के अर्थ से अधिष्ठित क्ष्मादि से लेकर बुद्ध्यन्त का ध्यान कर पहले कहे गये षट्पत्र की तरह पूजा करे ॥ १३४ ॥

तत्र मध्येऽब्जनाभं तु प्राग्भागे केसरोर्ध्वगम् ।
षट्कं च विश्वरूपाद्यं क्ष्माधरान्तं तु विन्यसेत् ॥ १३५ ॥
नीत्वा स्वनाम्न आद्यर्णं क्ष्मान्तानां बीजतां पुरा ।
तेन तेषां बलान्तस्थं प्राग्वन्न्यासं स्मरेत् क्रमात् ॥ १३६ ॥
क्ष्माबीजं च दलाग्रेषु मूलनिष्ठेषु षट्सु च ।
इष्ट्वा सर्वेन्द्रियाधारमित्यभिन्नं पुरा ततः ॥ १३७ ॥

उस कमल के मध्य में **अब्जनाभ** और पूर्व भाग में केसर के ऊपर **विश्वरूप** से लेकर **क्ष्माधर** पर्यन्त (विश्वरूप, वागीश, खगानन, नृसिंह, सरःशायी वाराह) का विन्यास करे । पहले अपने नाम का आदि अक्षर, फिर क्ष्मादि का बीज छः दलाग्रों के मूल में सभी इन्द्रियों के आधार भूत अभिन्न क्ष्मा बीज से न्यास करना चाहिए ॥ १३५-१३७ ॥

चिद्वातस्कन्धवृन्देन खस्थितेनान्तरीकृतम् ।
उपर्युपरि योगेन बुद्ध्यन्तं समुपस्थितम् ॥ १३८ ॥
भेददृष्ट्या यजेत् सम्यग् भूयः संहारवर्त्मना ।
सवज्रं स्वेन बीजेन पीतं तुर्याभिलक्षणम् ॥ १३९ ॥

पुनः आकाश स्थित चिद्वातस्कन्ध वृन्द से अन्तरीकृत ऊपर के योग से बुद्ध्यन्त उपस्थित का भेददृष्टि से संहार क्रम द्वारा वज्र सहित अपने बीज से पीतवर्ण वाले तुर्याभिलक्षण का यजन करे ॥ १३८-१३९ ॥

हेमाब्जभूतं तद्ध्यात्वा क्ष्मातत्त्वं तत्र मध्यतः ।
वाराहं संयजेन्मन्त्रं साङ्गं सावरणं क्रमात् ॥ १४० ॥

तत्कारणाश्रितं कृत्वा परिधानसमन्वितम् ।

उसके बीज में सुवर्ण कमल के सामन क्ष्मातत्त्व का ध्यान करे । फिर उनमें तत्कारणाश्रित **वाराहदेव** को संयुक्त कर साङ्ग सावरण परिधान समन्वित उनका यजन करे ॥ १४०-१४१ ॥

अथ क्ष्मामण्डलोर्ध्वस्थमर्धेन्दुसदृशं स्थितम् ॥ १४१ ॥
पुरं पद्माङ्कितं स्मृत्वा सितपद्मोदरं महत् ।
सरश्मयं तदन्तःस्थमभिसन्धाय संयजेत् ॥ १४२ ॥

फिर उस क्ष्मामण्डल के ऊपरी भाग में अर्धेन्दु के सदृश स्थित पद्म के चिन्ह से संयुक्त महान् श्वेत कमल का स्मरण कर उसके भीतर **सरःशायी** का ध्यान कर उनका यजन करे ॥ १४१-१४२ ॥

तेजोमयं तदूर्ध्वे तु त्रिकोणं भावयेत् पुरा ।
रत्नज्वालाकणाकीर्णं स्वस्तिकैरुपलाच्छितम् ॥ १४३ ॥
नृसिंहं पूजयेत् तत्र मध्ये रत्नारविन्दगम् ।
तस्योपरि सितं वृत्तं पुरं तारागणाङ्कितम् ॥ १४४ ॥
स्मृत्वा नीलाम्बुजाक्रान्तं स्मरेत् तत्र खगासनम् ।
नीरूपं खं तदूर्ध्वे तु स्मरेच्छदैकलक्षणम् ॥ १४५ ॥

उसके ऊपर साधक तेजोमय त्रिकोण की भावना करे जो रत्नज्वाला से व्याप्त है और स्वस्तिक चिह्न से परिलक्षित होता है । वहाँ मध्य में रत्नमय अरविन्द पर स्थित **श्रीनृसिंह** की पूजा करे । उसके ऊपर सफेद वृत्त वाला पुर, जिसमें अनेक तारागण विद्यमान हैं, वहाँ नीले कमल के समान गरुड़ के आसन का स्मरण करे । उसके ऊपर एक मात्र शब्द लक्षण वाला रूप रहित आकाश का स्मरण करे ॥ १४३-१४५ ॥

ध्यायेत् तदन्तः सूर्याभं प्राग्वर्णं तु सपङ्कजम् ।
तत्र वागीश्वरं देवमभ्यर्च्य विधिवत् ततः ॥ १४६ ॥

उसके भीतर सूर्य के समान चमकीला नीलवर्ण के पङ्कज के समान **वागीश्वर** का ध्यान करे । पुनः उनका विधिवत् पूजन करे ॥ १४६ ॥

तत्कर्णिकोदराकाशे नानारत्नरुचिं ततः ।
संस्मरेत् कमलाकारं चित्तवृत्तिमयं तु यत् ॥ १४७ ॥
यजेत् तन्मध्यगं विश्वरूपं तु मनसस्पतिम् ।
तदूर्ध्वेऽमृतगर्भं तु शीतांशुकरकोटिवत् ॥ १४८ ॥
पद्मं स्वेनात्मनात्मानं धारयन्तं विभाव्य च ।

समभ्यर्च्यस्तदन्तःस्थोऽप्यब्जनाभो धियांपतिः ॥ १४९ ॥

उसके कर्णिका के भीतर आकाश में अनेक रत्नों से प्रकाशित होने वाले कमल की आकृति के सदृश चित्तवृत्तिमय मन के प्रतिरूप **विश्वरूप** भगवान् का यजन करे । उनके भी ऊपर अमृतगर्भ करोड़ों चन्द्रमा के समान प्रकाश करने वाले स्वयं अपनी आत्मा में पद्म धारण किये हुए का ध्यान कर उसके भीतर बुद्धि के पति अब्जानाभ का ध्यान कर उनका पूजन करे ॥ १४७-१४९ ॥

एवं गन्धरसरूपस्पर्शशब्दमनोधियाम् ।
क्रमेणाधीशसङ्घं तु अवतार्य पराद् यजेत् ॥ १५० ॥

इसी प्रकार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, मन तथा बुद्धि के भी अधीश समूहों का भी पर आत्मा से नीचे उतार कर उनका पूजन करे ॥ १५० ॥

अर्चयित्वाऽर्चयित्वा न न्यसेत् तत्रैव तं पुनः ।
ये वर्णा भूतयोनीनां रश्मयः कमलोपमाः ॥ १५१ ॥
संस्थितिं संस्मरेत् तेषामस्मिशक्तौ तथागतिम् ।
अनादिवासनारूपां त्वभेदेनात्मनि स्थिताम् ॥ १५२ ॥

बारम्बार उनकी अर्चना करे और वहीं उनका पुनः न्यास करे । भूत योनियों के जो वर्ण हैं, जिनका प्रकाश कमल के समान है, उन वर्णों की अस्मिता शक्ति की तथा गति का स्मरण करे । उससे अभिन्न आत्मा में रहने वाली अनादि वासना रूप की संस्थिति समझे ॥ १५१-१५२ ॥

निश्शेषबीजैरभ्युत्थां पद्मनाभविधारणीम् ।
निर्गतां वैषयात् सर्वाद् वियुक्तां स्वामिना कृताम् ॥ १५३ ॥
स्फुरद्रूपां परिभ्रष्टां निराधारां च संस्मरेत् ।
प्रणवेन समभ्यर्च्य दीक्षाकालेऽभ्युपस्थिते ॥ १५४ ॥
साधिभूताधिदैवं च इष्ट्वैवं भूतसप्तकम् ।
स्वयमभ्यर्चयेत् पश्चात् शिष्यमञ्जलिना च तम् ॥ १५५ ॥

उस वासना को विषय से निकली हुई वासना के स्वामी के द्वारा अलग की गई संस्फुरण करती हुई परिभ्रष्ट निराधर हुई देखे । तदनन्तर दीक्षाकाल उपस्थित देख प्रणव द्वारा उसका अभ्यर्चन करे । इसी अधिभौतिक तथा अधिदैविक सहित भूत सप्तक की भी पूजा करे । पहले स्वयं इनका अर्चन करे । फिर शिष्य की अञ्जलि से अर्चन करावे ॥ १५३-१५५ ॥

ततोऽग्नेः सन्निधिं गत्वा ध्यात्वा यामत्रयोपरि ।
दक्षिणेनात्मनो दार्भे विष्टरे चक्रमन्दिरे ॥ १५६ ॥

सकुशेन स्वहस्तेन दक्षिणं चरणं गुरोः ।
अवलम्ब्य समास्ते वै स्पर्शनाद्येकतात्मना ॥ १५७ ॥
बीजेनाङ्घ्रेः शिखान्तं च स्मरेत् तेजोमयं विभुम् ।
विश्लेषयन्तं सहसा ह्यनाद्युत्थमविग्रहम् ॥ १५८ ॥
संस्कारचक्रं विविधं प्रेरकं दुःखवर्त्मनि ।
नाड्यैक्यमभिसन्धानमभिसन्धानचेतसा ॥ १५९ ॥
विश्लेषं कर्मणां तद्वद् वर्मणास्त्रेण होमयेत् ।
क्रमेण सघृतानां च तिलानां द्वादशाहुतीः ॥ १६० ॥

तदनन्तर शिष्य के साथ अग्नि के सन्निधान में जावे । तीन-तीन याग से ऊपर अग्नि देव का ध्यान करे । फिर चक्रमन्दिर में अपने दक्षिण स्थापित दर्भ विष्टर पर, अपने हाथ में कुशा लेकर, गुरु के दक्षिण चरण का अवलम्बन लेकर, उसका स्पर्श करते हुए एकतापन्न (सावधान) होकर बैठे । बीज मन्त्र से पैर से लेकर शिखान्त न्यास करे, तेजोमय उस विभु का स्मरण करे । जो अनादि काल से उत्पन्न शरीर वाले दुख मार्ग में विविध रूप से प्रेरक संसार चक्र को साधक से अलग कर रहे हैं, जिसका एक ही नाड़ी में अभिसंधान है और मन्त्र चित्त में भी अभिसंधान है, ऐसे सभी कर्म चक्र का विश्लेष करते हुए और उन विभु का दर्शन करते हुए देखे । फिर कवच के अस्त्र मन्त्र से घृत मिश्रित तिलों द्वारा क्रमशः बारह आहुती अग्नि में देवे ॥ १५६-१६० ॥

अनुसन्धाय सम्पाद्यो मयाऽयं वै परात्मनि ।
दद्यादष्टावाहुतीश्च मूलेन सघृताः पुरा ॥ १६१ ॥

तदनन्तर मै यह आहुति परमात्मा में दे रहा हूँ, ऐसा विचार कर मूल मन्त्र से घृत युक्त आठ आहुति प्रदान करे ॥ १६१ ॥

तदुत्तमाङ्गं संस्पृष्ट्वा स्त्रुवेणाज्यान्वितेन च ।
हुत्वा ज्ञानपदेनैव भूयः सर्वगुणात्मना ॥ १६२ ॥
प्राक्संख्यमाचरेद् होममन्तरान्तरयोगतः ।
आ चेश्वरपदात् सम्यङ्नेत्रान्तं ह्येवमेव हि ॥ १६३ ॥
इति सम्पातहोमो वै सम्पन्ने सति जायते ।
कर्तव्यो मन्त्रमाहात्म्यात् संस्कारैर्निखिलैर्युतः ॥ १६४ ॥

फिर गुरु स्त्रुवा में आज्य आहुति लेकर शिष्य का उत्तमाङ्ग (शिर) का स्मरण कर सर्वगुणात्मक ज्ञानपर से होम करे । बीच-बीच में पूर्व में कही गयी संख्या (८) के अनुसार होम करता जावे । ईश्वर पद से लेकर नेत्र मन्त्र पर्यन्त इस प्रकार

होम द्वारा सम्पात होम सम्पन्न होता है । यह सम्पात-होम मन्त्र माहात्म्य से अखिल संस्कार युक्त होकर करे ॥ १६२-१६४ ॥

साम्प्रतं चाणिमादीनां गुणानामुत्तरत्र तु ।
विभोराराधनात् सम्यग् योगाभ्यासाच्च भाजनम् ॥ १६५ ॥
कृते सम्पातभवने आज्येनाथ सकृत् सकृत् ।
मन्त्राणां तर्पणं कृत्वा सार्चनं श्रावयेद् विभुम ॥ १६६ ॥
अस्य कर्मात्मतत्त्वस्य कर्मपिण्डं सवासनम् ।
यदनेकप्रकारं तु त्वच्छक्त्या स्तम्भितं मया ॥ १६७ ॥
प्रायश्चित्तनिमित्तं तु जुहुयात् तदनन्तरम् ।
बीजेनान्तर्निरुद्धेन स्वाङ्गेनाकृतिकाष्टकम् ॥ १६८ ॥

तत्काल अणिमादिकों के, उसके बाद गुणों के, उसके बाद विभु के योगाभ्यास से शिष्य मन्त्र के योग्य पात्र बनता है । घृत द्वारा सकृत् सकृत् सम्पात होम कर लेने पर तर्पण करे । फिर अर्चन कर विभु परमात्मा को सुनावे । हे प्रभो! इस शिष्य के अनेक प्रकार के कर्म तत्त्वों के जो वासना सहित कर्म पिण्ड थे, उसको मैंने आपकी शक्ति से रोक दिया है । इसके बाद प्रायश्चित्त के लिये स्वाङ्ग अन्तर्निरुद्ध बीज से काष्ठ का होम करे ॥ १६५-१६८ ॥

एतावता महाबुद्धेर्जन्तोर्जन्माश्रितस्य च ।
याति व्यामिश्ररूपस्य हेयरूपस्य संक्षयः ॥ १६९ ॥

हे महाबुद्ध! केवल इतने मात्र से जीव के जन्म-जन्म से आश्रित उसमें मिला हुआ समस्त हेयरूप दोष नष्ट हो जाता है ॥ १६९ ॥

मोक्षैकफलदो धर्म उपादेयस्त्वनन्तरम् ।
योऽसौ साम्मुख्यमायाति विविधस्तस्य वाच्युतः ॥ १७० ॥
येनान्तर्लीनमभ्येति ह्यज्ञानं सहसा क्षयम् ।
अथादायारुणं सूत्रं कृत्वा नैकगुणं पुरा ॥ १७१ ॥
निरीक्षितं दृशा चास्त्रवारिणा परिशोधितम् ।
तदङ्गुष्ठावधिं यावत् शिखान्तात् सम्प्रधार्य च ॥ १७२ ॥
संस्मरेत् सर्वदुःखानां सम्बन्धानां तदास्पदम् ।
संविश्य देवयानेन शिशुचैतन्यसन्निधिम् ॥ १७३ ॥
हुंफडन्तं च शिरसि नाम च प्रणवादिकम् ।
हृन्मन्त्रसम्पुटस्थं च कृत्वा वै पितृवर्त्मना ॥ १७४ ॥

उसके बाद मोक्ष रूप एक फल देने वाला धर्म ग्रहण करे । जिससे विविध रूप वाले अच्युत का साक्षात् दर्शन होता है और जिससे भीतर छिपा हुआ समस्त अज्ञान विनष्ट हो जाता है । इसके अनन्तर लाल वर्ण का सूत्र लेकर उसको अनेक गुणित करे और नेत्र मन्त्र से उसका निरीक्षण करे, अस्त्रमन्त्र से अभिमन्त्रित जल से उसका परिशोधन करे । फिर उस परिगुणित सूत्र से अंगूठे से लेकर शिखा के अन्त तक पहनावे । उसी को सभी दु:खों तथा सभी प्रकार के सम्बन्धों का आस्पद समझे । फिर देवयान से शिशु के चेतना के सम्बन्ध तक पहुँचे । फिर पितृवर्त्म से 'हुँ फट्' इस मन्त्र से शिर में न्यास करे तथा प्रणवादि नाम को पितृवर्त्म से एवं हृन्मन्त्र से सम्पुटित करे ॥ १७०-१७४ ॥

आनीय सह सूत्रेण नयेन्नेत्रेण साम्यताम् ।
अभ्यर्च्यार्घ्यादिनावेष्ट्य कवचेन महात्मना ॥ १७५ ॥

फिर सूत्र लाकर नेत्र के बराबर उसे नापे उसका अर्चन कर अर्घ्यादि से तथा कवच से आवेष्टित करे ॥ १७५ ॥

ॐ हूं अदन्यै हूं स्वाहेत्यनेनाकृतिसप्तकम् ।
हुत्वास्त्रमन्त्रजप्तेन सितेन रजसा ततः ॥ १७६ ॥
सन्ताड्य शैशवं कायं विशेत् तदवधिं तथा ।
विश्लेषयाऽमुकं ब्रूयात् पदं वीर्यपदानुगम् ॥ १७७ ॥

फिर 'ॐ हूं अदन्यै हूं स्वाहा' इस मन्त्र से सातों आकृतियों का हवन करे, तदनन्तर अस्त्र मन्त्र के जप से अभिमन्त्रित सफेद रज से शिशु के शरीर का सन्ताडन करे और उसकी अवधि तक प्रवेश करे । फिर 'वीर्य' पद कहकर 'अमुकं विश्लेषय' ऐसा कहे ॥ १७६-१७७ ॥

तं ज्ञानवाचकेनाथ त्वाद्यन्तेन विकृष्य च ।
स्वबुद्ध्याऽनुगतं कृत्वा ध्यात्वा नक्षत्रगोलवत् ॥ १७८ ॥

फिर उसे ज्ञानवाचक शब्द से आदि तथा अन्त में विकर्षण कर अपने बुद्धि के अनुगत कर नक्षत्रगोलक के समान ध्यान करे ॥ १७८ ॥

सन्धायाभ्यन्तरे सूत्रे हंसार्णेन सबिन्दुना ।
नतिप्रणवगर्भेण रूढशक्तिं च विग्रहे ॥ १७९ ॥
वासनामयमित्येवमातिवाहिकसंज्ञकम् ।
सूत्रात्मकं वपुः कृत्वा आत्मशक्त्या विभावितम् ॥ १८० ॥

फिर बिन्दु सहित हंस मन्त्र (हं) से भीतर के सूत्र में उसे स्थापित करे । विग्रह में 'नमः' और 'प्रणव' के बीच उसे रुढ़ शक्ति बनावे । यही अतिवाह्कि

संज्ञक, वासनामय, इस प्रकार आत्मशक्ति से विभाजित, सूत्रात्मक शरीर का निर्माण करे ॥ १७९-१८० ॥

बलमन्त्रेण संरुद्धं तदर्थं जुहुयात् ततः ।
उक्त्वा ओमात्मने स्वाहा द्विषट्कपरिसंख्यया ॥ १८१ ॥

बल मन्त्र से उसे संरुद्ध करे और उसके लिये होम करे । 'ओमात्मने स्वाहा' कहकर बारह बार होम करना चाहिये ॥ १८१ ॥

आदाय भाविनो बन्धान् व्यापकान् शुद्धभोगदान् ।
ज्ञानादयः समाश्रित्य येऽत्र तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ १८२ ॥
स्वस्थानेषु स्वमन्त्रेभ्यस्तांस्तत्रैव च योजयेत् ।
यथाक्रमेणार्चितानां कृत्वा तेषां च तर्पणम् ॥ १८३ ॥

फिर शुद्ध भोग देने वाले व्यापक एवं भावी बन्धों को लेकर ज्ञानादि का आश्रय लेकर जो यहाँ सर्वदा रहते हैं, उन्हें स्व स्व मन्त्रों से स्व स्व स्थानों पर सन्निविष्ट करे । फिर यथाक्रम अर्चित देवताओं का तर्पण करे ॥ १८२-१८३ ॥

अथ संस्कारचक्रस्य तत्त्ववृन्दाश्रितस्य च ।
सर्वगस्यापि वै विद्धि स्थितिं नियतलक्षणाम् ॥ १८४ ॥

तदनन्तर तत्त्ववृन्द के आश्रित रहने वाले, सर्वत्र गमन करने वाले तथा संसार चक्र की नियत लक्षण वाली स्थिति का ज्ञान करे ॥ १८४ ॥

तत्त्वव्याप्तिच्छलेनैव शरीरे पाञ्चभौतिके ।
गुल्फजानुकटीवक्षःकर्णभ्रूकटावधि ॥ १८५ ॥
बुद्ध्यन्तानां धरादीनां क्रमादवनिसप्तकम् ।
अहङ्कारस्तदुत्थास्तु ये भेदा विविधा अपि ॥ १८६ ॥
चित्तजा अपि ये चान्ये तिष्ठन्ति मनसा सह ।
सकालोत्थास्तथा बौद्धास्तत्पूर्वास्त्वपरे च ये ॥ १८७ ॥
अनेकभेदभिन्नास्तु श्रिता आश्रित्य ते धियम् ।
द्विसप्तभुवनं विश्वमनेकरचनान्वितम् ॥ १८८ ॥

इस पाञ्चभौतिक शरीर में तत्त्व-व्याप्ति के बहाने गुल्फ, जानु, कटी, वक्ष, कान तथा भृकुटि तक पृथ्वी से लेकर बुद्ध्यन्त क्रमशः अवनि सप्तक व्याप्त है इसी में अहङ्कार से उत्पन्न विविध भेद है, चित्त से लेकर मन तक उत्पन्न भी इसी के अन्तर्गत हैं, काल से उत्पन्न बुद्धि के आश्रित है । किं बहुना अनेक रचनाओं से युक्त यह सारा विश्व चौदह भुवनों सहित यह सारा विश्व पृथ्व्यादिक के अन्तर्गत है ॥ १८५-१८८ ॥

शतकोटिप्रविस्तीर्णमष्टयोन्यार्धसेवितम् ।
स्थिरं धराश्रितं भूयो बोद्धव्यं सर्वदैव हि ॥ १८९ ॥

इतना ही नहीं सौ करोड़ विस्तार वाली चौरासी योनियों से सेवित यह स्थिर जगत **धरा** के ही आश्रित है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १८९ ॥

चतुष्कं जाग्रदाद्यं यत् पदानामप्सु वर्तते ।
मन्त्रकोटिसहस्राणां विविधानां महामते ॥ १९० ॥

जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि चतुष्क **जल** तत्त्व में ही विद्यमान है । हे महामते! योग सिद्धि समेत अनेक प्रकार के करोड़ों सहस्र मन्त्रों की स्थिति तैजसतत्त्व में ही विद्यमान है ॥ १९० ॥

योगसिद्धिसमेतानां संस्थितिस्तैजसे पदे ।
चातुरात्मीयतत्त्वानां ज्ञेयः कैवल्यदेहिनाम् ॥ १९१ ॥
शान्तोदितस्वरूपाणां सन्निवेशो मरुत्पदे ।
अनेकशक्तिभूतानां ज्ञानादीनां च लाङ्गलिन् ॥ १९२ ॥
कालानामाश्रयो व्योम या सा मूर्तिर्न लक्ष्यते ।
संस्थिताश्चादयो वर्णाः पदे षष्ठे तु मानसे ॥ १९३ ॥

कैवल्य देह वाले चतुरात्मीय तत्त्वों की तथा शान्त उदित स्वरूपों की मरुत्पद (वायु) में समझना चाहिये । हे लाङ्गलिन् ! अनेक शक्तियों वाले ज्ञान का तथा काल का आश्रय **व्योम** है जिसकी मूर्त्ति दिखाई नहीं पड़ती । अकारादि वर्ण इन पाँचभूतों से अतिरिक्त छठें मानसतत्त्व में स्थित हैं ॥ १९१-१९३ ॥

अस्मिन् मात्रानुरक्तानि कीर्तितेऽस्मिन् षडध्वनि ।
क्षिपंस्तु चाहरंस्त्वेवं शुद्ध्यर्थं लीलयैव हि ॥ १९४ ॥
स स्थितः कर्मतत्त्वानि बुद्धिशक्तिपदे प्रभुः ।
निरस्तदोषं कृत्वा प्राक् समाविश्य तदैव हि ॥ १९५ ॥

इसी कहे गये षडध्व में मात्रादिकों का निवास है । भगवान् प्रभु इसी बहुतत्त्व पद में कर्मतत्त्व की शुद्धि के लिये लीलापूर्वक कभी ऊपर फेंक देते हैं, कभी ग्रहण करते हैं और इसे दोषरहित बनाकर फिर इसी में समाविष्ट हो जाते हैं ॥ १९४-१९५ ॥

स्वां शक्तिमुपसंहृत्य शान्तिमभ्येति शाश्वतीम् ।
मधुसूदनपर्यन्तं पातालशयनादथ ॥ १९६ ॥
सप्तकं सप्तकं षट्कं सम्पश्येत् क्ष्मादिपञ्चके ।

मनस्यवस्थितं ह्येवं शक्तीशात् त्रितयं हि यत्॥ १९७ ॥
बुद्धौ कमलनाभात्मा देवः सर्वेश्वरः प्रभुः ।
पुनः स्वसिद्धैर्युक्तानां सर्वेषां पार्थिवे पदे॥ १९८ ॥
द्विसप्तभेदभिन्ने तु बोद्धव्या संस्थितिः शुभा ।
तीव्रमन्दादिकं बुद्ध्वा भावं भक्तिसमन्वितम्॥ १९९ ॥
आलम्बनवशात् कुर्यात् सर्वेषां स्वपदे स्थितिम् ।
एष वैभवदीक्षायामधिवासनकर्मणि॥ २०० ॥

साधक इसी में अपनी शक्ति का उपसंहार कर शाश्वती शान्ति प्राप्त करता है । पातालशयन से लेकर पद्मनाभ पर्यन्त ३८ विभव देवता है । वैष्णव साधक पातालशयनादि सात देवताओं को क्ष्मा तत्त्व में, नारायणादि सप्तक को जल तत्त्व में, लोकनाथादि सप्तक को तेजस्तत्त्व में, नारसिंहादि सप्तक को वायुतत्त्व में, क्रोडात्मादि षट्कों को आकाश तत्त्व में, शक्त्यात्मादि त्रिक को मनस्तत्त्व में तथा पद्मनाभ को बुद्धितत्त्व में देखना चाहिए । फिर स्वसिद्धि से युक्त सभी को पार्थिव तत्त्व में देखना चाहिए । इन सभी को चौदह भेद वालों से ही शुभ संस्थिति जाननी चाहिये । साधक भक्ति भाव से समन्वित हो तीव्र मन्दादि का ज्ञानकर आलम्बन वश सबकी अपने पद में स्थिति करे वैभवदीक्षा के अधिवासन कर्म में यह स्थिति कही गई ॥ १९६-२०० ॥

क्रम उक्तस्त्वथेदानीमपरायां निबोधतु ।
आ पादान्नाभिदेशान्तं महाभूतैर्धरादिकैः॥ २०१ ॥
व्याप्तं चतुर्धा वाय्वन्तैस्तदूर्ध्वं नभसा पुनः ।
पूरितं हृदयान्तं च तदुद्देशाच्छिखावधि॥ २०२ ॥

यहाँ तक विभव देवताओं का क्रम कहा गया है । अब अन्यों के विषय में सुनिये । पैर से लेकर नाभि देश तक पृथ्व्यादि से लेकर वायु पर्यन्त चार भूतों से व्याप्त है । इसके बाद शिखा से लेकर हृदय पर्यन्त देश आकाश से व्याप्त है ॥ २०१-२०२ ॥

विभाव्य मनसा व्याप्तमनेनैव क्रमेण तु ।
स्थिताः सङ्कर्षणान्ताश्चाप्यनिरुद्धादयस्तु वै॥ २०३ ॥
समाक्रम्याध्वषट्कं तु अध्वातीतस्तु बुद्धिगः ।
समादायात्मतत्त्वं च प्राग्वदभ्येत्य मूर्तताम्॥ २०४ ॥
व्यापिका मूर्तयस्त्वेताः पृथग् भक्तिपरायणैः ।
तदाकारैरसंख्यैस्तु संवृताः क्ष्मावनीषु च॥ २०५ ॥

प्राक्संख्यासु च तिष्ठन्ति सर्वाः सर्वासु सर्वदा ।
स्मृत्वा ह्यभेदभावेन षट्कर्मोदकवत् पुरा ॥। २०६ ॥
शिखान्तं क्ष्मादिना तेन सर्वं व्याप्तं विचिन्तयेत् ।
चतुरात्मानमव्यक्तं शब्दमूर्तिं निराकृतिम् ॥ २०७ ॥
गुणमात्रैर्विभिन्नं च खवत् तत्रैव भावयेत् ।
अग्राह्येणाथ वपुषा स्वस्वभावमयेन च ॥ २०८ ॥

इसी क्रम से सर्वत्र मन से व्याप्त होने का ध्यान करे । इसी प्रकार अनिरुद्धादि से लेकर सङ्कर्षण पर्यन्त षडध्व का संक्रमित कर स्थित है, जो अध्व से परे है, वह बुद्धिगामी है । आत्मतत्त्व से लेकर प्राग्वत् मूर्त्तता पर्यन्त ये सभी मूर्त्तियाँ व्यापिका हैं । जो भक्ति परायणों से पृथक् असंख्य उसी आकार में सर्वत्र पृथ्वी में व्याप्त हैं । जो पहली बार कही गई संख्या में सभी सबमें सर्वदा रहती हैं। षट् कर्मोदक भाव से शिखान्त अभेदभाव द्वारा इनका स्मरण कर उन क्ष्मादि से व्याप्त उनका स्मरण करे । फिर उसी में गुण मात्र से विभिन्न निराकृति किन्तु शब्दमूर्त्ति अव्यक्त चतुरात्मा का आकाश के समान ध्यान करे ॥ २०३-२०८ ॥

संक्रान्तेन तु वै बुद्धौ सर्वदैवोदितेन तु ।
स्वशक्त्या वै ह्यनिच्छातो जीवमादाय सोर्ध्वगम् ॥ २०९ ॥
स्वसामर्थ्यं स्वशक्त्या तत् शान्तात्मास्ते विलाप्य च ।
शुद्धाशयानां भक्तानां तत्पादैकाभिलाषिणाम् ॥ २१० ॥
तत्सामर्थ्यानुविद्धानां सर्वत्र व्यक्तिमेति च ।
अतस्तु यद्यत् संवेद्यं हेयं परिमितं त्वपि ॥ २११ ॥
तत्तत् तदात्मनाभ्येति सर्वदा भावितात्मनाम् ।
इत्यादौ सर्वसामान्यो नित्यो विद्याख्य आश्रयः ॥ २१२ ॥
बोद्धव्यः सोऽपि तदनु ह्यसामान्यतया गतः ।
आ मोक्षादङ्गभावं च जीवानां स्वयमेव हि ॥ २१३ ॥
वज्रवत् सूक्ष्मरूपेण सम्पूर्णेन महामते ।
दीक्षाकाले तु शिष्याणां परिज्ञेयं यथोदितम् ॥ २१४ ॥

इसके बाद स्व स्व भावमय अग्राह्य शरीर सर्व दैवोदित बुद्धि में संक्रान्त अपनी शक्ति के अनुसार ऊपर की ओर जाने वाले जीव को लेकर अपनी सामर्थ्य एवं अपनी शक्ति के अनुसार शान्तात्मा में विलीन करे । ऐसा करने से भगवान् के चरण कमलों की अभिलाषा रखने वाले शुद्धाशय भगवत्सामर्थ्य से अनुविद्ध भक्तों के लिये वह सर्वत्र प्रगट हो जाता है । इस कारण जो-जो संवेद्य है, हेय है,

परिमित है, वह सभी भावितात्मा के लिये स्वयं आ जाता है । इस विद्या नामक आश्रय को जानना चाहिये । हे महामते! इस प्रकार वज्र के समान सम्पूर्ण, सूक्ष्मरूप से जीवों को स्वयं मोक्ष से अङ्गभाव प्राप्त है । जब शिष्य को दीक्षा देनी हो, तब इन सब बातों पर विचार करना चाहिये ॥ २०८-२१४ ॥

एवमेव विजानीयाद् भूयः सौत्रे तु विग्रहे ।
सप्तधा तु विभज्यादौ सन्धि वै कुङ्कुमादिना ॥ २१५ ॥
चित्रीकृत्य चतुर्देशात् प्रणवाद्यन्तगैस्ततः ।
स्वनामपदसंयुक्तो ग्रथनीयः स्वकारणैः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार शिष्य के सौत्र विग्रह काम में भी विचार करना चाहिये । सूत्र को सात भागों में प्रविभक्त कर उसकी सन्धि को कुङ्कुमादि से चित्रित कर उसके चारों ओर आगे तथा अन्त में प्रणव लिखकर, अपने नाम से संयुक्त कर, उसके कारणों से ग्रथन करे ॥ २१५-२१६ ॥

एवं प्राप्तिमयैर्भोगैर्हृदा पूर्णान्तिमे कृते ।
नीत्वा वै मण्डलस्थस्य विभोस्तं सन्निवेदयेत् ॥ २१७ ॥

इस प्रकार प्राप्तमय भोगों से हृदय पर्यन्त ग्रथनों को पूर्ण कर उसे अपने हाथ में लेकर मण्डल पर स्थित भगवान् को निवेदित करे ॥ २१७ ॥

वर्मणाच्छादितं कृत्वा निधाय कलशाग्रतः ।
सशिष्योऽथार्चनं कुर्यात् पुनर्विश्वात्मनो विभोः ॥ २१८ ॥
प्रदक्षिणैः प्रणामैस्तु नानास्तुतिपदैः सह ।
तत्रोपलिप्ते भूभागे मण्डलान्तर्गतं बहिः ॥ २१९ ॥
स्थानभेदस्थितं कृत्वा नेत्रहृन्मन्त्रमन्त्रिते ।
पञ्चगव्ये चरौ दन्तधावने विनियोज्य तम् ॥ २२० ॥

फिर उसे वर्म मन्त्र द्वारा आच्छादित कर, कलश के आगे रख कर, शिष्य के सहित उसका अर्चन करे । तदनन्तर विश्वात्मा विभु की प्रदक्षिण, प्रणाम एवं नाना स्तुति पदों के साथ अर्चन करे । फिर उसी उपलिप्त भू-भाग में मण्डल के भीतर किसी बाहरी स्थान में नेत्र एवं हृदय मन्त्र से अभिमन्त्रित पञ्चगव्य, चरु एवं दन्तधावन में स्थान भेद कर स्थापित करे ॥ २१८-२२० ॥

भुक्तोज्झिते दन्तकाष्ठे कुर्यात् सिद्धिविचारणम् ।
सौम्यवारुण ईशाने यदि पूर्वदिगाननम् ॥ २२१ ॥
तत्सिद्धिसूचकं विद्धि विपरीतमतोऽन्यथा ।
तद्ध्वंसनाय जुहुयाद् वीर्यमन्त्रेण वै शतम् ॥ २२२ ॥

दन्तधावन करने के पश्चात् जब उसे किसी दिशा में फेंके, तब उससे अपनी सिद्धि का विचार करे । यदि उस दन्तधावन का मुख उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण में हो तो उसे सिद्धि-सूचक समझना चाहिये । यदि उससे विपरीत हो तो अन्यथा फल होता है । उस अन्यथा फल को विनष्ट करने के लिये सौ की संख्या में वीर्यमन्त्र से आहुति प्रदान करे ॥ २२१-२२२ ॥

धूपानुलेपनादीनि रजांसि घटिकादयः ।
साज्यानि च तिलादीनि योग्यान्यन्यानि लाङ्गलिन् ॥ २२३ ॥
उद्धृत्योत्तरतः कृत्वा वर्मजप्तेन वाससा ।
अभुक्तेनाहतेनैव त्वाच्छाद्य सुसितेन च ॥ २२४ ॥
समभ्यर्च्यास्त्रमन्त्रेण पुष्पधूपानुलेपनः ।
क्षान्त्वा स्थलस्थितं देवमग्नौ व कलशे न्यसेत् ॥ २२५ ॥

फिर धूप, अनुलेपनादि चूर्ण घटिकादि (छोटे-छोटे घड़े) घृतयुक्त तिलादि और भी जो उचित हो । हे लाङ्गलिन् सङ्कर्षण ! उसे निकाल कर उत्तर की ओर स्थापित कर कवच मन्त्र से अमुक्त एवं अनाहत, जो पहना हुआ न हो और जो कहीं से कटा-फटा न हो । ऐसे श्वेत वस्त्र से पुष्प, धूप, अनुलेपन द्वारा अर्चना कर क्षमा माँगे । फिर उन सब वस्तुओं को देवता के आगे अग्नि में, अथवा कलश पर स्थापित करे ॥ २२३-२२५ ॥

अथ शुद्धे च भूभागे हृन्मन्त्रितकुशास्तरे ।
कृत्वा प्राङ्मस्तकं शिष्यं बलजप्ताङ्कुशेन तु ॥ २२६ ॥
हृदाऽवगुण्ठिततनुं मुख्यमन्त्रमनुस्मरन् ।
स्वापयेत् स्वप्नलाभाय ततो हृन्मन्त्रितैस्तिलैः ॥ २२७ ॥
सिद्धार्थकयुतैस्तस्य निदध्यात् परितो बहिः ।
सबर्हिः(र्हि)पक्षमन्त्रेण प्राग्वद् दिक्ष्वष्टकं न्यसेत् ॥ २२८ ॥

इसके बाद उपलेपनादि से संशुद्ध भू-भाग पर जहाँ हृन्मन्त्र से अभिमन्त्रित कर कुशा का शयन लगाया गया है, बल मन्त्र से जपे गये अङ्कुश के द्वारा उस शिष्य को पूर्वाभिमुख करे । वहाँ मुख मन्त्र का स्मरण करते हुए, उसके शरीर को हृन्मन्त्र से चारों ओर से घेर देवे तथा उसके स्वप्न के लिये चारों ओर बाहर हृदय मन्त्र से अभिमन्त्रित सिद्धार्थक युक्त तिल रख देवे । फिर उसके आठो दिशाओं में मन्त्र से अभिमन्त्रित मोर का पङ्खा रख देवे ॥ २२६-२२८ ॥

प्रदक्षिणेन तच्चापि सितसूत्रेण वर्मणा ।
चतुर्धा वेष्टयित्वा तु मण्टपान्निष्क्रमेद् बहिः ॥ २२९ ॥

फिर श्वेत वर्ण के सूत्र से वर्म मन्त्र के द्वारा चार बार वेष्टित कर स्वयं मण्डप से बाहर निकल आवे ॥ २२९ ॥

दन्तकाष्ठादिकं कर्म विनिष्पाद्य स्वयं स्वपेत्।
भूतले दर्भशय्यायां कृत्वा दक्षिणतः शिरः ॥ २३० ॥
संस्पृशन् स्वाङ्घ्रियुग्मेन शिशुं शयनसंस्थितम्।
भगवन्तं हि मनसा प्रार्थयन्नपवर्गदम् ॥ २३१ ॥

तदनन्तर स्वयं दन्तकाष्ठ आदि कर्म सम्पादन कर पृथ्वी पर कुशा की शय्या पर दक्षिण दिशा में शिर कर शयन पर सोये हुए उस (शिष्य रूप) शिशु को अपने चरण से स्पर्श करते हुए स्वयं भी शयन करे और मोक्ष देने वाले भगवान् से अपने मन से यह प्रार्थना करे ॥ २३०-२३१ ॥

ओमादिशं जगन्नाथ सर्वज्ञ हृदयेशय।
तत्राहं योजयाम्येनं कर्मिणं त्वत्परायणम् ॥ २३२ ॥

हे जगन्नाथ! हे सर्वज्ञ! हे दशो दिशाओं में तथा सभी के हृदय में रहने वाले प्रभो ! मैं आपके में परायण इस कर्मकारी शिष्य को आपके कार्य में लगा रहा हूँ। आज्ञा कीजिये ॥ २३२ ॥

प्राप्तानुज्ञस्तु शिष्याणां कुर्याद् वै तत्र योजनम्।
यत्र तत्र च तत् तेषामवश्यं शाश्वतं भवेत् ॥ २३३ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामधिवासदीक्षाविधिर्नाम अष्टादशः परिच्छेदः ॥ १८ ॥

— ❀ —
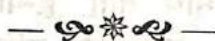
इस प्रकार आज्ञा लेकर शिष्यों को भगवत् कार्यों में योजित करे । जहाँ-जहाँ इस प्रकार शिष्यों का संयोजन किया जाता है, वहाँ-वहाँ अवश्य ही शिष्यों का शाश्वत कल्याण होता है ॥ २३३ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के अधिवासदीक्षाविधि नामक अट्ठारहवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १८ ॥

— ❀ —

एकोनविंशः परिच्छेदः

दीक्षाविधिः

नारद उवाच

अधिवासाभिधानेयं पूर्वदीक्षाऽच्युतेन वै।
कथिता सीरिणे विप्रास्तेनाऽतश्चोदितः पुनः ॥ १ ॥

अथैकोनविंशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते। एवमधिवासदीक्षां श्रुत्वा पुनः सङ्कर्षणः पृच्छतीत्याह—अधिवासेति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे ब्राह्मणो ! इस प्रकार दीक्षा के पूर्व की क्रिया भगवान् ने बलभद्र से कही। तदनन्तर श्री बलभद्र ने भगवान् से कहा ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

देव दीक्षाविधानं च त्वद्वक्त्रकमलादहम्।
श्रोतुमिच्छामि संक्षेपाद् वैष्णवानां हिताय च ॥ २ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—देवेति ॥ २ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे देव ! अब मैं आप के मुखकमल से वैष्णवों के हित के लिये संक्षेप में दीक्षा विधान सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

एकानेकस्वरूपां वै दीक्षां संसारिणां शृणु।
आसाद्य यां समायान्ति देहान्तेऽभिमतं पदम् ॥ ३ ॥

एवं पृष्टः श्रीभगवान् परव्यूहविभवभेदभिन्नदीक्षात्रयस्य फलभेदानुक्त्वा तत्र दीक्षात्रयेऽप्याचारवतां शिष्याणामधिकारं वृद्धबालाङ्गनानां तु दुश्शकाचारविरहेऽप्यधिकारं च दर्शयित्वा तेषां तत्तफलाभिसन्ध्यनसारेण दीक्षात्रयेऽन्यतमा कर्तव्येत्याह—एकानेकेत्यदिभिः। अत्राशक्तविषये लघुतरानुष्ठानमप्युक्तं जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रयोः—

महामण्डलयागेन हवनाद्वाऽथ केवलात्।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः ॥

वित्ताढ्यस्याल्पवित्तस्य द्रव्यहीनस्य च क्रमात्। (ल० ४१।९-१०)
इति ॥ ३-७ ॥

श्री भगवान् ने कहा—हे सङ्कर्षण ! संसारी मनुष्यों के लिये एक अथवा अनेक रूपों में दीक्षा का विधान है। जिसे प्राप्त कर लोग शरीर के अन्त होने पर वाञ्छित फल प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

कैवल्यफलदाऽप्येका भोगकैवल्यदा परा।
भोगदैव तृतीया च प्रबुद्धानां सदैव हि ॥ ४ ॥

एक दीक्षा वह है जो केवल प्रबुद्धों को कैवल्य (मुक्ति) फल प्रदान करती है और अन्य दीक्षा भोग एवं कैवल्य दोनों प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त तृतीया दीक्षा वह है जो केवल भोग मात्र प्रदान करती है ॥ ४ ॥

आचार्यानुमताः सर्वाः कार्याः सम्यक् फलाप्तये।
भक्तिभावानुविद्धानां शिष्याणां भावितात्मनाम् ॥ ५ ॥
वृद्धानामङ्गनानां च बालानां भावितात्मनाम्।
विनाचारसमूहेन दुश्शकेन च ता हिताः ॥ ६ ॥

सभी दीक्षायें सम्यक् फल की प्राप्ति के लिये आचार्य की आज्ञा लेकर लेनी चाहिये। ये सभी दीक्षायें भक्तिभाव से अनुविद्ध अपना कल्याण चाहने वाले शिष्यों, वृद्धों, स्त्रियों, बालकों तथा आचार समूह के पालन में अशक्त किन्तु कल्याणेच्छु जनों के लिये हितकारी है ॥ ५-६ ॥

पुरा धिया विचार्यैवमुपसन्नेन वै सह।
तदीयमाशयं ज्ञात्वा सम्पाद्यैका महामते ॥ ७ ॥

हे महामते! आचार्य अपने सन्निकट आये हुए शिष्य को देखकर विचार करे फिर उसका आशय जानकर उसे दीक्षा प्रदान करे ॥ ७ ॥

शिष्यस्वप्नपरीक्षा

अथाऽतीतेऽर्धरात्रे तु उत्थाय शयनाद् गुरुः।
कमण्डलुं समादाय बहिराचम्य संविशेत् ॥ ८ ॥

अथातीतेऽर्धरात्रे आचार्यस्य शयनादुत्थानमाचमनं मन्त्रस्नानं मण्डललेखनं प्रत्यूषे नित्यकर्मानुष्ठानं शिष्यस्वप्नपरीक्षां चाह—अथातीतेऽर्धरात्रे त्वित्यादिभिः ॥ ८-१५ ॥

आचार्य आधी रात बीत जाने पर शयन से उठ जावे। कमण्डल लेकर शयन से बाहर आचमन करे फिर आसन पर बैठे ॥ ८ ॥

संस्मरेदग्रतश्चास्त्रं हुतभुग्राशिसन्निभम्।

तदन्तः स्थं विशेद् देवं स्नानं मान्त्रं कृतं भवेत् ॥ ९ ॥
निद्रामोहमलं येन शश्वदायाति संक्षयम् ।
शङ्कून् वै घटिकास्तत्र रजांस्यस्त्रवरेण च ॥ १० ॥
समादाय च संस्मृत्य निष्पिष्याध्यैर्महीतले ।
शुष्कगोमयसंघृष्टे मण्डलं यत् पुरोदितम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर सर्वप्रथम प्रज्वलित अग्निराशि के समान अस्त्र मन्त्र का अन्त:करण से स्मरण करे, फिर मन्त्र स्नान करे जिससे निद्रा मोह और समस्त पाप का संक्षय हो जाता है । फिर अस्त्र मन्त्र पढ़कर शङ्कु (काँटा), घटिका (सूत्र) तथा रंगने वाला चूर्ण उससे, फिर अर्घ्य सिञ्चित शुष्क गोमय से संघृष्ट भूमि पर उस मण्डल का, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, निर्माण करे ॥ ९-११ ॥

भद्रत्वपरिरक्षार्थं न्यस्याः कोणेषु शङ्कवः ।
कमलभ्रमसिद्ध्यर्थमेकं मध्ये निवेश्य च ॥ १२ ॥

मण्डल की रक्षा के लिये उसके चारों कोणों पर खूँटी गाड़ देनी चाहिए । मण्डल के मध्य में कमल का भ्रम उत्पन्न करने के लिये उसके मध्य में एक खूँटी गाड़ देनी चाहिए ॥ १२ ॥

ईषन्न याति वैषम्यं तद् रात्रिसमये यथा ।
महानूनाधिके दोषः सशिष्यस्य यतो गुरोः ॥ १३ ॥

रात्रि के समय उस मण्डल की रक्षा के लिये जिस प्रकार उसमें कोई विषमता न हो वैसा प्रयत्न करे । क्योंकि उस मण्डल के न्यून होने पर अथवा अधिक होने पर शिष्य सहित गुरु को महान् दोष लगता है ॥ १३ ॥

अतस्तद् रक्षणीयं च यत्नेन महता सदा ।
निर्वर्त्य नित्यं प्रत्यूषे पुरा वै स्नानपूर्वकम् ॥ १४ ॥
शिष्यमाहूय सञ्चोद्य स्वप्नप्राप्तिं शुभाशुभाम् ।

इसलिये महान् प्रयत्न के द्वारा मण्डल की रक्षा करे । तदनन्तर प्रात:काल स्नान कर नित्य कर्मानुष्ठान सम्पादन कर शिष्य को अपने पास बुलावे और शिष्य की स्वप्न प्राप्ति पर शुभाशुभ विचार करे ॥ १४ ॥

शुभाशुभस्वप्नानि

चतुर्मूर्तिसमूहं तु यथादिक्संस्थितं तु वै ॥ १५ ॥
पश्येत् पङ्क्तिनिविष्टं च उपविष्टं तु चोत्थितम् ।
तन्मध्याद् भगवत्तत्त्वमेकं वा भिन्नलक्षणम् ॥ १६ ॥

प्रादुर्भावसमूहं च तल्लाञ्छनगणश्च यः ।
दैवीयं वनितावृन्दं सर्वमेकमथापि वा ॥ १७ ॥

शुभाशुभस्वप्नान्याह—चतुर्मूर्तिसमूहं त्वित्यादिभिः ॥ १५-३३ ॥

चारों मूर्त्तियों (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) इनको अपनी-अपनी दिशाओं में संस्थित स्वप्न में देखे, अथवा एक पङ्क्ति में बैठा हुआ तथा खड़ा देखे, अथवा उनके मध्य में एक भगवत्तत्त्व अथवा भिन्न-भिन्न लक्षण युक्त देखे । उनके प्रादुर्भाव समूह को अथवा उनके चिह्न समूहों को देखे । सभी दैवी वनितावृन्द को अथवा किसी एक को देखे तो उसे शुभावह स्वप्न समझना चाहिये ॥ १५-१७ ॥

भवोपकरणव्रातमशेषं वा पृथक् स्थितम् ।
रुद्रेन्द्रचन्द्रसूर्याम्बुहुतभुग्वातलक्षणम् ॥ १८ ॥

सभी भवोपकरणों को समूह रूप में, अथवा पृथक्-पृथक् रूप में अवस्थित स्वप्न में देखे । रुद्र, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, जल, अग्नि तथा वात (वायु) का लक्षण देखे ॥ १८ ॥

पञ्चरात्रविदो विप्रा आराधनपरायणाः ।
त्रयीमुद्घोषयन्तश्च निगदन्तश्च वा द्विजाः ॥ १९ ॥

आराधन में परायण पञ्चरात्रवेत्ता ब्राह्मणों को देखे अथवा उन्हें वेद का उद्घोष करते हुए देखे, अथवा उन्हें वेदपाठ करते स्वप्न में देखे ॥ १९ ॥

यतयः शुद्धसत्त्वाश्च सद्ब्रह्मपदसंस्थिताः ।
नगस्रक्चन्दनाद्यानि सुगन्धानि तरूत्तमः ॥ २० ॥

विशुद्ध अन्तःकरण वाले अथवा सद् ब्रह्मपद में संस्थित यतियों को यदि स्वप्न में देखे, पर्वत, स्रक् (माला), चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों को देखे, या माङ्गलिक अश्वत्थादि वृक्षों को देखे तो वह शुभ होता है ॥ २० ॥

उद्यानवनितारामवापीहर्म्यमहालयाः ।
फलबीजौषधीः साम्बुकुम्भो वा पाकनिर्गतः ॥ २१ ॥
गोगजाश्च नदी यानं कन्या सालङ्कृता शिशुः ।
मङ्गल्यगीतिर्मधुरा भेरी वंशश्च वल्लरी ॥ २२ ॥

उद्यान एवं महिलाओं की वाटिका, वापी, ऊँचे-ऊँचे प्रासाद, महालय, फल, बीज, औषधी, सजल घट अथवा उत्तमोत्तम पाक सामग्री, गौ, हाथी, नदी, यान, अलङ्कार युक्त कन्या, शिशु, मधुर माङ्गल्य गीत, नगाड़ा, बाँस या लता देखे तो शुभ होता है ॥ २१-२२ ॥

ससारसं सरः पद्मैः पूर्णं छत्रं सितं ततम् ।
हेमादिधातवो रत्नजालं गोसम्भवानि च ॥ २३ ॥
नवो नेत्रचयः शुद्धं वस्त्रवृन्दमनाहतम् ।
राजा पुरोधाः सामन्तो राजपत्नी च दर्पणम् ॥ २४ ॥
तुषारपातः सद्वृष्टिर्महामेघोदयो दिवि ।
शोणितं चार्द्रमांसानि खप्लुतिर्मदिरालयः ॥ २५ ॥
सत्पक्षिमृगसङ्घातः सुरार्चा चामरं सितम् ।
एवमादीनि चान्यानि विद्धि सिद्धिप्रदानि च ॥ २६ ॥

सारस युक्त तालाब, अथवा कमलपूर्ण तालाब, ऊपर लगाया गया श्वेत छत्र, सुवर्णादि धातु, रत्नसमूह, पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले पदार्थ, नवीन नेत्रचय (?), शुद्ध एवं नवीन वस्त्रसमूह, राजा, पुरोहित, मन्त्री, राजपत्नी, दर्पण, बर्फ, उत्तम वृष्टि, आकाश में उदीयमान महामेघ, शोणित आर्द्र, मांस, आकाश में उड़ना, मद्यवान का गृह, उत्तमोत्तम पक्षियों का समूह, उत्तमोत्तम वन्य मृगों का समूह, देव पूजा, श्वेत चामर इसी प्रकार के अन्य माङ्गलिक पदार्थों को स्वप्न में देखे तो वे सिद्धि प्रदान करते हैं ॥ २३-२६ ॥

स्वप्नानि यान्यनिष्टानि तानि मे लेशतः शृणु ।
म्लानता क्षितिकम्पश्च उपरागोऽतिभीषणः ॥ २७ ॥
नीहार उल्कापातश्च निर्घातश्चित्तभङ्गकृत् ।
गर्तप्रवेशो दध्यन्नं स्विन्नमांसास्य भक्षणम् ॥ २८ ॥

हे सङ्कर्षण ! अब स्वप्न में जो अनिष्टकारी पदार्थ हैं उन्हे संक्षेप में सुनिये । अपने आप को मलीन देखना, भूकम्प, अत्यन्त भीषण उपराग (ग्रहण), नीहार (कुहरा) पात, उल्कापात, बिजली की कड़कडाहट जिससे हृदय कम्पित हो जावे, गढ्डे में पतन, दधियुक्त अन्न का भक्षण तथा स्वेद युक्त अन्न का भक्षण देखना अशुभ होता है ॥ २७-२८ ॥

नर्तनं रथविध्वंस आज्यं स्वाङ्गद्विजच्युतिः ।
खरोष्ट्रं चोत्कटं हास्यं कपिऋक्षाकुलं वनम् ॥ २९ ॥
स्थानं धूमाकुलं दग्धमसिताम्बरवेष्टितम् ।
शुष्कत्वं सरितादीनां प्रतिस्रोतस्त्वमेव च ॥ ३० ॥

नाचना, रथ का विनाश, घृत, अपने शरीर से दाँत का टूट कर बाहर हो जाना, गदहा, ऊँट, उत्कट (भयानक) हास्य, वानर, भालुओं से परिपूर्ण वन, धूम समूह से व्याप्त स्थान, अपने आप को जले हुए तथा काले वस्त्र से वेष्टित

देखना, नदियों का सूखना तथा उनका प्रतिकूल प्रवाह में प्रवाहित होना ये सब अनिष्टकारी हैं ॥ २९-३० ॥

पोतयानध्वजच्छत्रतरुभङ्गोऽप्यसिद्धिकृत् ।
अवतारो नगाद् वृक्षान्नग्नत्वं प्रेतदर्शनम् ॥ ३१ ॥

जहाज का डूबना, यान का विनष्ट होना, ध्वज का टूटना, छत्र का भङ्ग होना तथा वृक्ष का गिरना । ये सभी स्वप्न असिद्धि प्रदान करने वाले होते हैं। वृक्ष से तथा पहाड़ से अपने को नीचे उतरते हुए तथा नङ्गे रूप में देखना, प्रेत दर्शन, ये सभी स्वप्न अमङ्गलकारी होते हैं ॥ ३१ ॥

वसाकज्जलतैलाज्यलेपः सत्कर्दमे स्थितिः ।
महिषोऽहिर्नरः कृष्णो दक्षिणाशागमः क्षुधा ॥ ३२ ॥
लुञ्छनं नखकेशानामस्थिभङ्गादिकं द्रुतम् ।
एवमादीनि चान्यानि अशुभानि महामते ॥ ३३ ॥

वसा (चर्बी), काजल, तेल, अथवा घृत का लेप, घोर कीचड में फँसा हुआ होना, भैंसा, साँप, काला पुरुष, दक्षिण दिशा में गमन, अर्धरात्रि में भूख का लगना, नख, केश का लुञ्चन, हड्डी का टूट जाना । इसी प्रकार के अन्य स्वप्न, हे महामते ! अशुभ होते हैं ॥ ३२-३३ ॥

अशुभ स्वप्न शान्तिः

प्राप्ते शुभाशुभे स्वप्नेऽप्यभिसन्धाय वै हृदि ।
औत्सुक्यादशिवध्वंसि पूजाहोमं समाचरेत् ॥ ३४ ॥

अशुभस्वप्ने तच्छान्तिमाह—प्राप्त इति ॥ ३४ ॥

इस प्रकार शुभाशुभ स्वप्न देखने पर साधक अपने हृदय में विचार करे । फिर अशुभ स्वप्न देखने पर उसकी शान्ति के लिये प्रयत्नपूर्वक पूजा एवं होम का आचरण करे ॥ ३४ ॥

कुम्भादिष्वर्चनक्रमः

यथोक्तविधिना देवमवतार्य क्रमाद् यजेत् ।
तर्पयित्वा यथान्यायं पूर्णान्तं चाचरेत् ततः ॥ ३५ ॥

पुनर्यथाक्रमं कुम्भादिष्वर्चनमाह—यथोक्तविधिनेति ॥ ३५ ॥

अथवा दुःस्वप्न शान्ति के लिये पूर्वोक्त विधि से देवाधिदेव विष्णु को कलश से नीचे उतार कर उनका पूजन करे । अथवा शास्त्रोक्त विधि से उनका तर्पण कर पूर्णाहुति करे ॥ ३५ ॥

उपवेशन-निरीक्षणादिसंस्कारकथनम्

ईशकोणेऽथवा सौम्ये पदे यागगृहस्य च ।
मण्डले पूर्वनिर्दिष्टे वृत्ते वा चतुरश्रके ॥ ३६ ॥
स्नातं स्रग्वस्त्रभृच्छिष्यं कृतन्यासं निवेशयेत् ।
निरीक्ष्य ताड्य सम्प्रोक्ष्य दर्भैरालभ्य पूर्ववत् ॥ ३७ ॥
संस्कृत्य मूर्तिवत् किन्तु अनुग्राह्यं धरागतम् ।
आपादान्मन्त्रहस्तेन परामृश्याऽथ मूर्धनि ॥ ३८ ॥

स्नातस्यालङ्कृतस्य कृतन्यासस्य शिष्यस्य गोमयलिप्ते मण्डले समुपवेशनं निरीक्षणादिसंस्कारांश्चाह—ईशकोणेति सार्धैस्त्रिभिः । निरीक्षणं नेत्रमन्त्रेण, ताडनमस्त्राभिमन्त्रिततिलसिद्धार्थैः, प्रोक्षणमस्त्राम्भसा, दर्भैरालभनम्, पीठं तेनास्त्रमन्त्रेण, मूर्तिवत् संस्कारो मन्त्रन्यासैरिति ज्ञेयम् । मन्त्रहस्तेन = प्रधानमन्त्रत्वेन भावितनिजदक्षिणहस्तेनेत्यर्थः ॥ ३६-३९ ॥

तदनन्तर यागगृह के पूर्वनिर्दिष्ट गोमयानुलिप्त गोलाकार अथवा चौकोर मण्डल के ईशानकोण में, अथवा उत्तर दिशा में स्नान किये हुए वस्त्र माला से विभूषित शिष्य को बैठावे । नेत्र मन्त्र से उसका निरीक्षण करे और अस्त्राभिमन्त्रित तिल तथा श्वेत सर्षप से उसका तांडन करे । फिर जल से प्रोक्षण करे और दर्भ से आलम्भन करे । मूर्त्ति के समान मन्त्रन्यास कर उसका संस्कार करे । फिर प्रधान मन्त्र से अभिमन्त्रित अपने दाहिने हाथ से शिष्य के पैर से लेकर मस्तक तक शरीर का स्पर्श करे ॥ ३६-३८ ॥

मन्त्रहस्तं ज्वलद्रूपं दद्याद् यो दुःखबीजजित् ।
तमादाय कराद् देवधामसन्निकटं व्रजेत् ॥ ३९ ॥

आचार्य द्वारा ज्वलद्रूप वाले जिस मन्त्रहस्त से शिष्य का स्पर्श किया जाता है वह हाथ समस्त दुःख के बीजों को नष्ट करने वाला होता है । इसके बाद आचार्य शिष्य का हाथ पकड़कर देवधाम के सन्निकट में ले जावे ॥ ३९ ॥

शिष्यस्य वैष्णवनामकरणकथनम्

कृत्वात्मनो वामभागे भूयः संच्छाद्य लोचने ।
प्रक्षेपयेत् तथा सार्घ्यमञ्जलिं मुक्तलोचनम् ॥ ४० ॥
सम्पश्येत् परमं धाम मान्त्रमच्छफलप्रदम् ।
तस्मिन्नवसरे कुर्यान्नाम यस्य यथोचितम् ॥ ४१ ॥

अथ शिष्य वैष्णवनामकरणविधानमाह—तमादायेत्यारभ्य दासान्तं शूद्रजन्मनामित्यन्तम् । अस्मिन्नवसरे शिष्यस्य नामकरणात् पूर्वं सुदर्शनपाञ्चजन्यधारणमूर्ध्वपुण्ड्र-

धारणं च कार्यम्, यतः—"तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः" (ई०सं० २१।२८४) इति तयोर्नामकरणप्राक्कालीनत्वमुक्तम् । किञ्च, "पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम्" (१८।३५) इति पूर्वं सम्भारार्जनप्रकरणोक्ताभ्यां शङ्खचक्राभ्यां तापस्त्ववसरान्तरे(न?ण) प्रतिपादितश्च ।

ननु सम्भारार्जनप्रकरणे चक्रशङ्खौ नहि तापार्थं प्रतिपादितौ, अपि तु—

मुद्रावसानं कृत्वैवं सम्यक् तदनु चाहरेत् ॥
पाणिभ्यां शङ्खचक्रे द्वे स्वमन्त्रेणाभिमन्त्रिते ।
भूत्वा तदात्मना पश्चात् ते निधाय धरातले ॥
अवलोक्याखिलं तत्स्थं प्रवर्तेताथ कर्मणि । (१८।५९-६१)

इत्येतावन्मात्रोपयोगार्थं प्रतिपादिताविति चेत्, कस्तावता भवतो विरोधः, प्रसिद्धे तापेऽप्युपयुज्येतां नाम । न च वेदविरुद्धत्वमेव मम विरोध इति वाच्यम्, तस्य वेदोक्तत्वे परश्शतप्रमाणानि सच्चरित्ररक्षायां तप्तमुद्राविद्रावणविद्राविण्यां सिद्धान्तचन्द्रिकायां च प्रतिपादितानि । सावधानं पश्यतु भवान् । अत एव वेदमूलेऽस्मिन्नपि तन्त्रे द्वादशपरिच्छेदे—

नास्त्रैर्वस्त्रैर्ध्वजैर्येषां व्यक्तिर्व्यक्ता जगत्त्रये ॥
तेऽपि लाञ्छनवृन्दं तु धारयन्त्यङ्घ्रिगोचरे ।
ललाटे चांसपट्टे तु पृष्ठे पाणितलद्वये ॥
तनूरुहचये मूर्ध्नि कर्मिणां प्रतिपत्तये ।
अपि संसारिणो जन्तोः स्वभावाद् वैष्णवस्य च ॥
न जहात्याच्युतं लिङ्गं किं पुनर्विभवाकृतेः । (१२।१६८-१७१)

इति वैष्णवभगवल्लाञ्छनधारणं सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । किञ्च, एतद्वचनस्य सहजलाञ्छनपरत्वभ्रमोऽपि सच्चरित्ररक्षायामेव (पृ० ४३) निवारितः ।

नन्वस्तु नाम सुदर्शनपाञ्चजन्यधारणं प्रमाणसिद्धम्, तदिदानीमेव दीक्षाप्रकरणे कार्यमिति कोऽयं नियमः । तथा नियमे नामकरणवत् तदपि भगवतैव कण्ठरवेणोक्तं भवेत् । जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रपाद्मादिष्वपि नहि तद्दीक्षाङ्गत्वेन प्रतिपादितमिति चेत्, सत्यम् । दीक्षाङ्गमिति केनोक्तम् । पूर्वमप्राप्तशङ्खचक्रलाञ्छनानामेव, "पञ्चलोहमयं चक्रं सशङ्खं द्वादशारकम्" (१८।३५) इति सम्भारप्रकरणे प्रतिपादितम् । उत्तरत्राचार्याभिषेकानन्तरं शिष्यायाचार्यलाञ्छनप्रदानसमयेऽपि—"स्रुक्स्रुवौ योगपट्टं च शङ्ख-चक्रे कमण्डलुम्" (२०।१६) इति वक्ष्यति । किन्तु चक्रा(ङ्ग?ङ्क) नादीनां दीक्षायाः पूर्वमेव मुख्यकालत्वाद् गौणकाले दीक्षामध्ये तत्र प्रतिपादितम् । ईश्वरतन्त्रे तु गौणकाल एव प्रतिपादितम् । नहि तत्र दीक्षाकाले प्रतिपादितत्वमात्रेण तत्तदानीमेवानुष्ठेयमिति नियमोऽस्ति, शङ्खचक्रधारणस्य जातकर्मनामकरणादिकालेषूपनयनात् पूर्वमुपनयनानन्तरं विवाहाद्यनन्तरं वा कर्तव्यत्वेन बहुविधसमयानां तत्र तत्र प्रतिपादितत्वात् । दीक्षाकालस्तु सर्वथा नोल्लङ्घनीयः । यतः पारमेश्वरे प्रतिष्ठाध्याये—

एवं तदीया विप्राश्च क्षत्रिया वैश्यजातयः ॥

मौद्गल्याद्यास्तथान्ये च न तच्चिह्नविवर्जिता: ।
भवेयु: सर्वथा तस्माच्छङ्खचक्रगदाम्बुज: ॥
लोहैर्नलसन्तप्तैस्तत्तन्मन्त्राधिवासितै: ।
पूजितैरर्घ्यगन्धाद्यैरङ्कितव्या: क्षणेन तु ॥
त्रय्यन्तज्ञानसम्पन्ना यथोक्ताचारनिष्ठिता: ।
विप्राद्यास्ते च शूद्राश्च यदैव कृतलक्षणा: ॥
तदा तु योग्या विज्ञेया: समयश्रवणादिषु ।(१५।९६१-९६५),

इति कृतलक्षणानामेव दीक्षायां योग्यता प्रतिपादिता । नन्वेवम्—

सुदर्शनं धारयित्वा वह्नितप्तं द्विजोत्तम: ।
उपनीय विधानेन पश्चात् कर्मसु योजयेत् ॥

इति कृतलक्षणस्यैव गायत्रीग्रहणादिकर्मयोग्यत्वं प्रतिपाद्यते,

भुजे चक्रं द्विजातीनां शिरश्चक्रं तु दैवतम् ।
अचक्रद्विजदेवानां पूजा दानं च निष्फलम् ॥

इत्युक्त्याऽकृतलक्षणस्य कन्यादानाद्यर्हत्वमपि नास्ति, अतश्चक्रादिलाञ्छने उपनयनविवाहकालावप्यनुल्लङ्घनीयाविति चेत्, कस्येष्टं तदुल्लङ्घनम् । अनुपपत्तिवशात् स्मार्तसंस्कारोल्लङ्घनेऽपि दीक्षाख्यवैष्णवसम्प्रदायकाल: सर्वथाऽनुल्लङ्घनीय इति निर्णय: । यत: पाद्मे—''चक्रेणैवाङ्कितो विद्वान् वासुदेवं समाश्रयेत्'' इति प्रतिपाद्यते । अत एवेश्वरे दीक्षाकालस्याप्युल्लङ्घनभिया तत्प्रकरण एव चक्राङ्कनादिकमुक्तम् । तत्पूर्वमेव कृतचक्राङ्कनानां तु दीक्षाकाले तन्न प्रकृतम् । आचारे सति पुनर्दीक्षाकाले तत्प्रकरणेऽपि न प्रत्यवाय:,

चक्रादि धारयेद् विप्रो ललाटे मस्तके भुजे ।
पातकादिविशुद्ध्यर्थं भवक्लेशविनाशनम् ॥

इत्यादित्यपुराणादिषु शुद्ध्यापादकत्वेन च प्रतिपादनात्, पूर्वं कृतलाञ्छनस्य देहोपचयादिना मलिनत्वे पुन: स्फुटत्वसिद्धेश्च । ननु—

विष्ण्वागमादितन्त्रेषु दीक्षितानां विधीयते ।
शङ्खचक्रगदापूर्वैरङ्कनं नान्यदेहिनाम् ॥

इत्यादिवचनैर्दीक्षानन्तरमपि चक्राङ्कनमवगम्यत इति चेन्न, दीक्षितानामित्यस्य दीक्षार्हपरत्वात् । सिद्धान्तचन्द्रिकायां तु दीक्षितानामित्यस्य मुमुक्षुपरत्वमुक्तम् । तदसंगतम्, तन्त्रदीक्षाप्रवेशभिया तादृशार्थाङ्गीकरणात् । निर्निमित्तेयं भीति: । यतो महाभारते शान्तिपर्वणि—

अवश्यं वैष्णवो दीक्षां प्रविशेत् सर्वयत्नत: ।
दीक्षिताय विशेषेण प्रसीदेन्नान्यथा हरि: ॥
वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च ।
शरद: समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च ॥

स्त्रियं च वर्षाकाले तु पञ्चरात्रविधानतः ।

इति ब्राह्मणादीनां सर्वेषामप्यविशेषेण तन्त्रदीक्षाप्रवेशो विधीयते । एतद्वचनानामधिकारिविशेषत्वे कथिते विनिगमनाविरहेण—

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः ।
अर्चनीयश्च सेव्यश्च नित्युक्तैः स्वकर्मसु ॥
(द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च)
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः सङ्कर्षणेन यः ॥
—(महा० भा० भीष्म पर्व ६६।३९-४०)

इति महाभारतभीष्मपर्ववचनानामप्यधिकारिविशेषपरत्वमेव संभवति । संभवतु नाम, तावताऽस्माकं का हानिरिति चेत्, आचार्योक्तिविरुद्धं वचो मा वोचः, पञ्चरात्ररक्षायां ह्येतद्भीष्मपर्ववचनान्युदाहृत्य—"एवमविशेषेण सर्वेषां ब्राह्मणादीनां श्रीमत्पञ्चरात्रोक्तमार्गेण भगवदर्चनादिकं कर्तव्यम्" (पृ० २१) इत्यभिहितत्वात् । "सर्वसूत्रनिष्ठानामपि भगवच्छास्त्रोक्तप्रक्रियया समाराधनादिकं प्रशस्ततमम् । तथा च शिष्टैरनुष्ठीयते" (पृ० २१) इति सिद्धान्तितम् । तत्रैव द्वितीयाधिकारेऽपि (पृ० ५६) श्रीमद्भाष्यकार-प्रभृतिभिः श्रीपाञ्चरात्रे यत्किञ्चित् सिद्धान्तस्थां काञ्चित् संहितां प्रधानीकृत्य नित्याराधनं संगृहीतमित्यपि प्रतिपादितम् । अतस्त्वेकत्र निर्णीतोऽर्थः सर्वत्रेति न्यायेन दीक्षाप्रवेशविधायकशान्तिपर्ववचनानामप्यविशेषेण सर्वजनविषयत्वं बोध्यम् । एतादृशे पञ्चमवेदवचने जागरुके सति भवतां तत्र दीक्षाप्रवेशे का भीतिः । तन्त्रदीक्षामन्तरा तदुक्तभगवदर्चनादौ भवतामधिकारः कथं सिद्ध्यति?

अन्येषां ब्राह्मणादीनां वर्णानां दीक्षया क्रमात् ।
अधिकारोऽनुलोमानामपि नान्यस्य कस्यचित् ॥
पूजाविधौ भगवतस्तेऽनुकल्पाधिकारिणः ।

इति पाद्मादिषु दीक्षितानामेव हि भगवदर्चनाधिकारः श्रूयते । किञ्च, अत्रापि द्वितीये परिच्छेदे—"चतुर्णामधिकारो वै वृत्ते दीक्षाक्रमे सति" (२।१२) इति प्रतिपादितम् । इदं परार्थयजनविषयमिति मावोचः, चतुर्वर्णानामविशेषेणाधिकारवर्णनात् । यद्यपि भवद्भिरपि सिद्धान्तचन्द्रिकायाम्—"वैखानसाद्यागमोक्तदीक्षां प्राप्तो हि वैष्णवः" इत्यत्र,

तन्त्रदीक्षां विना यस्तु शङ्खचक्रादिलाञ्छनम् ।
बिभर्ति स तु पाषण्डो विज्ञेयस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

इत्यत्र च तन्त्रदीक्षाऽङ्गीकृतैव, तथापि यावदर्थानुष्ठानभिया दीक्षाशब्दस्य देवतान्तरपरित्यागरूपनियमपरिग्रहमात्रपरत्वमुक्तम् । महाभारतादिवचनपर्यालोचनया दीक्षाप्रवेशे मा भीति भजन्तु भवन्तः । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । प्रकृतमनुसरामः ।

एषां चक्राङ्कनादिसंस्काराणां दीक्षाकालेऽनुष्ठानक्रम ईश्वरसंहितायां सम्यक् प्रतिपादितः । पृथक्कालेऽनुष्ठानेऽपि स एव क्रमोऽनुसरणीयः । तदानीमग्निस्तु—

विष्णोरायतनाग्नौ वा गुरोरात्मनः एव वा ।

हुते होमादिभिस्तप्तैः सुरूपैरर्चितैः क्रमात् ॥
दासभूतं यदात्मानं बुद्ध्येत परमात्मनः ।
तदैव गात्रं कुर्वीत शङ्खचक्रादिलाञ्छितम् ॥ (३।६२-६३)

इति भारद्वाजसंहितोक्तो ग्राह्यः । तत्र विष्णवायतनाग्निर्वैष्णव एव । गुरोरात्मनो वाऽग्निश्चेत्, स्वगृह्योक्तप्रतिष्ठापूर्वकमीश्वरतन्त्रोपबृंहितवैष्णवीकरणप्रक्रियया संस्कार्यः । ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणमपि चक्राङ्कनानन्तरमेव कार्यम् । नाममन्त्रयागाख्यसंस्कारत्रयं तु दीक्षाकाल एवानुष्ठेयम्, तस्य दीक्षाङ्गत्वेनैव प्रतिपादितत्वात् ।

ननु तर्हि पञ्चसंस्काराणां यौगपद्येनानुष्ठानं न संभवतीति चेत्, किं तावता प्रत्यवायः । जातस्य कुमारस्य द्वादशेऽहनि नामकरणप्रकरणे शङ्खचक्राङ्कनं शास्त्रेषूच्यते । तथैव शिष्टैरनुष्ठीयते,

द्वादशेऽहनि पुत्रस्य केशवो बन्धुभिः सह ।
तेन श्रीशैलपूर्णेन गुरुणाऽमिततेजसा ॥
शङ्खचक्राङ्कनं पूर्वं कारयित्वाऽथ लीलया ।
लोके रामानुज इति नाम चक्रे सुमङ्गलम् ॥ (२।३८-३९)

इति प्रपन्नामृतादिषु श्रीभाष्यकारादिशिष्टाचारोऽप्युद्घुष्यते च । अतो न पञ्चसंस्काराणां यौगपद्येनानुष्ठाननियमोऽस्ति ।

ननु तदानीं तेषां यौगपद्येनानुष्ठानासंभवेऽपि पुनरुपनयनानन्तरं विवाहानन्तरं वा पञ्चसंस्काराणां यौगपद्येनानुष्ठानं संभवति, तथैव भाष्यकारादिशिष्टाचारश्च प्रतिपादित इति चेत्, सत्यम् । अत एव हि दीक्षाकाले तेषां पुनःकरणे हेतुः पूर्वमस्माभिरपि प्रतिपादितः ॥ ३९-४६ ॥

फिर उसे अपनी बाईं ओर स्थापित कर उसके दोनों नेत्रों को वस्त्र से आच्छादित करे । फिर उसकी आँखे खोलकर उसके हाथों से अर्घ्य युक्त पुष्पाञ्जलि प्रक्षिप्त करावे । फिर वह शिष्य उन परमधाम भगवान् का दर्शन करे, जो मन्त्र के द्वारा सर्वोत्तम फल प्रदान करने वाले हैं । उसी समय आचार्य उस शिष्य का, वह जैसा जिस वर्ण का है उसका, वैसा ही उसी वर्ण के अनुसार यथोचित नामकरण करे ॥ ४०-४१ ॥

रहस्यसंज्ञं मुख्यं च गौणं वास्य यथास्थितम् ।
सामान्यं वासुदेवाद्यं नाम स्वाङ्गाच्चतुर्ष्वपि ॥ ४२ ॥
सर्वेषां सविशेषं वा यथा चानुक्रमेण तु ।
द्विषट्कमूर्त्यङ्कितं च स्वाम्यन्तं ब्राह्मणेषु च ॥ ४३ ॥

रहस्य संज्ञा वाला, अथवा मुख्य, अथवा गौण, अथवा यथास्थित (जैसा है) वैसा नामकरण करे, अथवा चारों वर्णों का वासुदेवादि सामान्य नामकरण करे । अथवा क्रमानुसार सभी चारों वर्णों का विशेषता युक्त नामकरण करे । ब्राह्मण शिष्य को १२ मूर्त्तियों से अङ्कित कर स्वाम्यन्त नामकरण करे ॥ ४२-४३ ॥

देवान्तं क्षत्रियाणां च कुर्याद् द्वादशधा पुनः ।
पाण्यन्तं धारनिष्ठं वा लाञ्छनास्त्रपुरस्सरम् ॥ ४४ ॥
ध्वजलाञ्छनसंज्ञं च यथावस्थं नृपेषु च ।
एवं वर्धननिष्ठं च मूर्तिलाञ्छनपूर्वकम् ॥ ४५ ॥
विहितं चापि वैश्यानां दासान्तं शूद्रजन्मनाम् ।

फिर क्षत्रियों को भी १२ मूर्त्तियों से लाञ्छित कर देवान्त नामकरण करे, अथवा अस्त्र लाञ्छन पुरस्सर पाण्यन्त, अथवा धारनिष्ठ नामकरण करे । राजाओं का यथावस्थ ध्वज लाञ्छन संज्ञक नामकरण करे । इसी प्रकार मूर्त्ति लाञ्छनपूर्वक वैश्य का 'वर्धन' निष्ठ नामकरण करे (आनन्दवर्धनादि) । शूद्र का दासान्त नामकरण करे ॥ ४४-४६ ॥

भूतशोधनकथनम्

अथोत्थाय नमस्कृत्य मण्डलं कलशं गुरुम् ॥ ४६ ॥
यायात् कुण्डसमीपे तु शिशुना सह देशिकः ।
कृतस्य कर्मणोऽच्छिद्रसिद्धये च हुते सति ॥ ४७ ॥
सन्ताड्यास्त्रात्मको भूत्वा प्राग्वत् तद्हृदयं विशेत् ।
प्राणशक्तिवियुक्तं च कृत्वानीय समासतः ॥ ४८ ॥
सम्प्रवेश्य स्वकं स्थानं तत्राग्निकणवच्च तम् ।
नीत्वा सम्यक् पृथग्भावं विरेच्य सह वायुना ॥ ४९ ॥
स्वभूमौ वाममार्गेण हृदाद्यन्तं निरोधितम् ।
जन्मग्रहमनेनैव मन्त्रयुक्तेन कर्मणा ॥ ५० ॥
भावध्यानानुविद्धेन पितृमातृमयं त्यजेत् ।

ततो मण्डलसमीपादुत्थाय गुरुदेवनमस्कारं कृतवता शिष्येण सह कुण्डसमीपं गत्वा प्रायश्चित्तहोमानन्तरमस्त्राभिमन्त्रितसिद्धार्थादिभिः शिष्यसन्ताडनं दहनाप्यायनाख्यधारणाद्वयेन तद्भूतशोधनं च कुर्यादित्याह—अथोत्थायेति पञ्चभिः श्लोकैः ॥ ४६-५१ ॥

इसके बाद शिष्य मण्डल, कलश, तथा गुरु को नमस्कार करे । तदनन्तर आचार्य उस अपने शिष्य के साथ कुण्ड के समीप में जावे और किये हुए कर्म की निर्दोषता सिद्धि के लिये प्रायश्चित्त हवन करने के पश्चात् अस्त्राभिमन्त्रित तिल एवं श्वेत सर्षप से शिष्य का सन्ताडन करे । फिर अस्त्रात्मक होकर उसके हृदय में प्रवेश करे । उसको प्राणशक्ति से विमुक्त कर बाहर निकाल कर अपने स्थान में प्रविष्ट कराकर अग्निकण से उसे जला देवे । फिर वायु के द्वारा उसके भस्म को उड़ा देवे । तदनन्तर वाममार्ग से हृदय स्थान में ले जाकर उस अपने स्थान

पर स्थापित करा देवे। इस प्रकार मन्त्र से युक्त कर्म द्वारा उसका पुर्नजन्म करा देवे ॥ ४६-५० ॥

फिर शिष्य भावना के ध्यान से युक्त होकर अपने पितृ मातृ युक्त इस जगत् का त्याग कर देवे। (यहाँ तक शिष्य के भूतशोधन की प्रक्रिया कही गई) ॥५१॥

ततः कवचमन्त्रेण दद्यात् सप्ताभिमन्त्रितम् ॥ ५१ ॥
तस्योपवीतमपरमुदितं चापि यस्य यत्।

उपवीतधारणार्हस्य त्रैवर्णिकस्य शिष्यस्य नूतनोपवीतधारणमाह—तत इति ॥ ५१-५२ ॥

सर्वदा दासभावत्वमापन्नस्य च तत्त्वतः ॥ ५२ ॥
अमद्यपाऽन्वयोत्थस्य लोकधर्मोज्झितस्य च।
आप्तवद् ब्रह्मनिष्ठस्य कर्मतन्त्ररतस्य च ॥ ५३ ॥
गोदानं शूद्रजातेर्वै विहितं चैव नान्यथा।

योग्यस्य शूद्रस्य तु गोदानं विहितमित्याह—सर्वदेति द्वाभ्याम् ॥ ५२-५४ ॥

वौषट्स्वाहावषट्कारनिष्ठानां तु प्रतिक्रिया ॥ ५४ ॥
नमस्कारेण मन्त्राणां कार्ये प्राप्ते ह्यनुग्रहे।
तदीयमर्घ्यपुष्पाद्यं यत्किञ्चिद् यागसाधनम् ॥ ५५ ॥
सुसंस्कृतमसिद्धं वा भक्त्या कर्मण्यतां व्रजेत्।

शूद्रस्य वषकाराद्यनर्हत्वान्मन्त्रशरीरे तत्प्रतिनिधित्वेन नमस्कारो योज्य इत्याह—वौषडिति। पाद्मे तु—

द्वादशाक्षरमादौ तु पश्चादष्टाक्षरात्मकम्।
मूर्तिमन्त्रांश्च तदनु समध्याप्य यथाविधि ॥
केवलं वैष्णवं नाम नमःप्रणववर्जितम्
।
हुंफडादिवषट्स्वाहावर्जितं केशवादिकम् ॥
अध्याप्य स्त्रीषु शूद्रेषु तद्वदेवानुलोमजे।
सावित्रीं येऽनुतिष्ठन्ति तेषां विप्रवदिष्यते ॥

इति शूद्रादीनां प्रणवनमस्कारावपि निषिद्धौ। अन्यत्र—

न स्वरः प्रणवोऽङ्गानि नाप्यन्यविधयः स्मृताः।
स्त्रीणां च शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते ॥

इति प्रणवमात्रं निषिद्धम्। अतः संहिताभेदेन व्यवस्था ज्ञेया। पुष्पाञ्जल्यादिसमर्पणार्थं शूद्राहृतं पुष्पादिकमपि तद्भक्तिवशेन कर्मार्हं भवतीत्याह—तदीयमिति ॥ ५४-५६ ॥

इसके बाद आचार्य उपवीत धारण करने योग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों को नूतन यज्ञोपवीत धारण करावे। यतः तत्त्वतः दास भाव को प्राप्त होने वाले, मद्यपान रहित वंश में उत्पन्न हुए, लोकधर्म से बाहर हुए, किन्तु आप्त के समान ब्रह्मनिष्ठ होने वाले कर्मतन्त्र में निरत शूद्र को दक्षिणा दान की विधि नहीं है इसलिये वह गोदान का अधिकारी है। दक्षिणादि दान का अधिकारी नहीं है। उसे वौषट्, स्वाहा, वषट्कार का अधिकार भी नहीं है इसलिये वह कार्य प्राप्त होने पर मन्त्रों को नमस्कार मात्र करे। शूद्र द्वारा लाया गया पुष्पादिक भक्ति युक्त होने के कारण कर्मार्ह हो जाता है ॥ ५१-५६ ॥

अतोऽन्येषां तु भक्तानां विहिता यागसाधने ॥ ५६ ॥
सम्यक् सत्त्वनिवृत्तिः प्राग् दर्शनप्रोक्षणान्वितम् ।

एवं त्रैवर्णिकानामपि यागसाधनद्रव्येषु स्वीयत्वाभिमाननिवृत्तिर्विहितेत्याह— अतोऽन्येषामिति त्रिभिः पादैः ॥ ५६-५७ ॥

इसी प्रकार त्रैवर्णिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) द्वारा लाये गये यज्ञ साधन द्रव्यों के दर्शन एवं प्रोक्षण से युक्त हो जाने पर उनके द्वारा स्वत्वाभिमान की निवृत्ति भी विहित है ॥ ५६-५७ ॥

पुष्पाञ्जलिसमर्पणम्

मूर्तौ वा मण्डलाग्रे तु पुष्पक्षेपं महामते ॥ ५७ ॥
नक्तं वा परिपीडं च व्रतार्थ त्वेकमेव हि ।

शिष्यैः पुष्पाञ्जलिसमर्पणं बिम्बाग्रे मण्डलाग्रे वा कार्यमित्याह—दर्शनेति त्रिभिः पादैः । दर्शनं नेत्रमन्त्रेणावलोकनमित्यर्थः । अनेन दीक्षाकाले मण्डलबिम्बयोरन्यतरार्चनं सूच्यते ॥ ५७ ॥

हे महामते! शिष्य को पुष्पाञ्जलि समर्पण बिम्ब के अग्रभाग में अथवा मण्डल के अग्रभाग में करना चाहिये। साधक दीक्षा में व्रत के लिये शुद्ध उपवास करे अथवा रात में नक्त (दिन के अष्टम भाग में) एक बार भोजन करे ॥ ५७-५८ ॥

एवं संस्कारसंशुद्धं कृत्वा वर्णगणं पुरा ॥ ५८ ॥
साङ्गेन विभुना कुर्यात् तत्प्रायश्चित्ततर्पणम् ।
सदशांशं सहस्रं तु यथा चानुक्रमेण तु ॥ ५९ ॥
गत्वाऽभ्यर्च्य च कुम्भेशं सूत्रमादाय तत्स्थितम् ।
ऋजुभूतं शिशुं कृत्वा तद्वत् सूत्रं प्रसार्य च ॥ ६० ॥

दीक्षाव्रतार्थं शुद्धोपोषणं नक्तभोजनं वा विहितमित्याह—नक्तमित्यर्धेन ।

एवं ब्राह्मणादीनां संस्कारानन्तरं वर्णानुक्रमेण साङ्गमूलमन्त्रैः सदशांशसहस्र-

संख्यया प्रायश्चित्तहोमं कुम्भस्थितभगवदभ्यर्थनपूर्वकं तत्समीपस्थापितमायासूत्र-ग्रहणम् ऋजुभूतस्य शिष्यस्या पादाच्छिखान्तं तत्सूत्रप्रसारणं चाह—एवमिति सार्ध-द्वाभ्याम् ॥ ५८-६० ॥

सूत्रप्रसारणम्

व्यक्तरूपं च मन्त्रेशं संस्मरेदग्निमध्यगम् ।
पश्येद् विभौ शिशौ सूत्रे स्वात्मन्यध्वानमञ्जसा ॥ ६१ ॥

अग्निमध्ये व्यक्तरूपं भगवन्तं संस्मृत्य तस्मिन् भगवति शिशौ सूत्रे स्वात्मनि चाध्वानं स्मरेदित्याह—व्यक्तेति ॥ ६१ ॥

इस प्रकार आचार्य ब्राह्मणादिकों के संस्कार हो जाने के उपरान्त वर्णानुक्रम से साङ्गमूल मन्त्र द्वारा दशांश सहित सहस्र संख्या में प्रायश्चित्त होम करे । फिर कुम्भ स्थित भगवान् की प्रार्थना कर उनके समीप में स्थापित सूत्र ग्रहण करे । सर्वप्रथम सीधे खड़े हुए शिष्य के पैर से लेकर शिरोभाग पर्यन्त सूत्र को प्रसारित करे और शरीर के नाप के अनुसार उसे पहनावे । तदनन्तर अग्नि के मध्य में स्थित प्रत्यक्ष मन्त्ररूप से स्थित मन्त्रेश का स्मरण करे । फिर भगवान् में, शिष्य में, सूत्र में तथा अपने में अकस्मात् अध्वा का दर्शन करे ॥ ५८-६१ ॥

तत्राध्यात्मस्वरूपं च संस्मरेन्मन्त्रदेहगम् ।
अधिदैवस्वभावं च तत्स्वात्मन्यवतार्य च ॥ ६२ ॥
अधिभूतमयं सूत्रे त्रिविधं शिष्यविग्रहे ।

अध्वस्मरणक्रममाह—तत्रेति सार्धेन । त्रिविधम् अध्यात्माधिदैवाधिभूतभेद-भिन्नस्वरूपमित्यर्थः ॥ ६२-६३ ॥

मूलमन्त्रावसाने तु सनमस्कं परात्मने ॥ ६३ ॥
पदं कृत्वा तु जुहुयादाहुतीनां चतुष्टयम् ।
तथा सूक्ष्मात्मने चोक्त्वा ततः स्थूलात्मने तु वै ॥ ६४ ॥

तेषां सन्तर्पणमन्त्रानाहुतिसंख्यां ततस्तेषां स्वशरीरे आ पादाच्छिखान्तं यथाक्रमं व्याप्तिस्मरणं चाह—मूलमन्त्रेति त्रिभिः ॥ ६३-६६ ॥

मन्त्र देह धारण करने वाले अध्वा को अध्यात्म स्वरूप से देखे और मन्त्र स्वामी को उतार कर अध्वा को अधिदैव स्वभाव में देखे । सूत्र में अध्वा को अधिभूत देखे और शिष्य के शरीर में अध्यात्म अधिदेव तथा अधिभूत स्वरूप तीनों अध्वा का दर्शन करे । इसके बाद मूल मन्त्र के अन्त में 'नमः परमात्मने' यह पद पढ़कर चार आहुती प्रदान करे । इसके बाद मूल मन्त्र के अन्त में 'नमः सूक्ष्मात्मने' पढ़कर चार आहुती देवे । इसी प्रकार मूल मन्त्र के अन्त में 'नमः स्थूलात्मने' पढ़कर चार आहुति देवे ॥ ६२-६४ ॥

सर्वात्मने च तदनु ततोऽध्वनिचयं हितम् ।
आ पादाग्राच्छिखान्तं च सर्वं ध्यात्वा स्वदेहगम् ॥ ६५ ॥
यथोद्दिष्टक्रमेणैव विभिन्नं त्रिविधं त्वपि ।

इसके बाद मूल मन्त्र के अन्त में 'नमः सर्वात्मने' यह पद पढ़कर चार आहुति प्रदान करे । ऐसा करने से समस्त अध्व समूह हितकारी हो जाते हैं । फिर उन अध्वा के शरीर में यथाक्रम पैर से लेकर शिखा पर्यन्त भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले तीनों अध्वा की व्याप्ति का स्मरण करे ॥ ६५-६६ ॥

अधिभूताधिदैवाध्यात्मपदार्थविवरणम्

रचनासन्निवेशो यः क्ष्मादीनां चाधिभूतता ॥ ६६ ॥
बोद्धव्यमधिदैवत्वं सामर्थ्यं यस्य यत् स्वकम् ।
तदधिष्ठातृमन्त्राणामध्यात्मत्वं विधीयते ॥ ६७ ॥

अधिभूताधिदैवाध्यात्मपदार्थविवरणमाह—रचनेति सार्धेन । तदधिष्ठातृमन्त्राणां पूर्वोक्तवराहादिमन्त्राणामित्यर्थः ॥ ६६-६७ ॥

जो रचना सन्निवेश है, वह अधिभूत है, इसलिये पृथ्व्यादिकों को अधिभूत कहा जाता है । जिसकी अपनी जितनी शक्ति है, उतने को अधिदैव समझना चाहिये । पृथ्व्यादि के अधिष्ठातृ मन्त्र (वराहादि मन्त्र) को अध्यात्म कहा जाता है ॥ ६६-६७॥

अथ मार्गद्वयं त्यक्त्वा द्वादशान्तं समाश्रयेत् ।
मूलमन्त्रमयो भूत्वा संव्रजेत् स्वधिया ततः ॥ ६८ ॥
ब्रह्मद्वारपदं शैष्यं ततस्तन्मध्यवर्त्मना ।
पार्थिवं पदमाक्रम्य कुर्यात् तच्छक्तिमात्मसात् ॥ ६९ ॥
बीजभूतां च हृन्मन्त्रसंरुद्धां सन्धिविग्रहाम् ।
नानाण्डबीजसंयुक्ताम् अनेकरचनान्विताम् ॥ ७० ॥
एवमादाय वै सर्वा बुद्धिनिष्ठास्तु शक्तयः ।
पृथक् पृथक् क्रमेणैव तस्मिन् हृन्मन्त्रसम्पुटे ॥ ७१ ॥
स्वेनाध्यात्मगुणेनैव परेण व्यापकात्मना ।
तद्देहं धारयन्तं च स्मरेत् तमुभयात्मकम् ॥ ७२ ॥
कालं भोगक्षयान्तं च तत्कालात् तु महामते ।
कृत्वैवं भूतशक्तीनां संहारं शिशुविग्रहात् ॥ ७३ ॥
सौत्रं देहमथाक्रम्य सम्यक् तेनैव वर्त्मना ।
प्रोल्लसंस्तद् व्रजेत्तत्र व्यञ्जयेत् तु धियादिवत् ॥ ७४ ॥
आदायाध्यात्ममन्त्रांश्च भूतभूतान्वितानथ ।

नित्यैर्ज्ञलक्षणैः शुद्धैः समन्त्रैः स्वस्थितानपि ॥ ७५ ॥
अथ सूत्राद् विनिष्क्रम्य प्रयायादनलाश्रयम् ।
तत्रावयवसन्धानान्मन्त्रसाम्यं समाचरेत् ॥ ७६ ॥
समाहृतानां मन्त्राणां परे सर्वज्ञलक्षणे ।
व्यापके सर्वसामान्ये कृत्वा स्वे स्वे पदे स्थितिम् ॥ ७७ ॥
स्वशरीरमथासाद्य ब्रह्मद्वारेण देशिकः ।

अथाचार्यस्य शिष्यब्रह्मरन्ध्रद्वारा तदन्तःप्रवेशं तत्र पृथिव्यादितत्त्वशक्तीनां संहार-प्रकारं ततः सूत्रमयदेहान्तःप्रवेशं तत्र ध्याताऽधिभूताध्यात्मादीनां च ग्रहणं ततोऽग्नि-स्थितं भगवन्तं प्राप्य तत्र समाहृतानां मन्त्राणां स्थापनं पुनः स्वशरीरान्तःप्रवेशनं चाह— अथ मार्गद्वयं त्यक्त्वेत्यादिभिः । मार्गद्वयं = भुवनपदाध्वनोर्द्वयमित्यर्थः, तयोरशुद्ध-त्वात् । मन्त्राध्वानं प्रविष्टस्य हि मूलमन्त्रमयत्वं सिद्ध्यति ॥ ६८-७८ ॥

तदनन्तर आचार्य भुवनाध्वा और पदाध्वा इन दोनों मार्गों का अशुद्ध होने के कारण त्याग कर देवे । द्वादशान्त का आश्रय ग्रहण करे । इसके बाद आचार्य अपनी बुद्धि से मूलमन्त्रमय होकर शिष्य के ब्रह्मरन्ध्र द्वारा उसके अन्तःकरण में प्रवेश करे । वहाँ प्रविष्ट होकर शिष्य के अधिभूत तथा अध्यात्म आदि का ग्रहण करे । फिर वहाँ से बाहर निकल कर अग्निस्थित भगवान् को प्राप्त कर शिष्य के हृदय से समाहृत मन्त्रों को वहीं स्थापित कर देवे और पुनः अपने शरीर में प्रविष्ट हो जावे ॥ ६८-७८ ॥

स्रुवमादाय सन्तप्य मन्त्रवृन्दं यथोदितम् ॥ ७८ ॥
तत्त्ववृन्दसमेतं च स्वनाम्ना प्रणवादिना ।
भूयः संसृष्टियोगेन द्विषट्कपरिसंख्यया ॥ ७९ ॥

पृथिव्यादितत्त्वानां तदधीशमन्त्राणां च संहारक्रमेण सन्तर्पणमाह—स्रुवमिति । ॐक्ष्मां नमः क्ष्मातत्त्वाय स्वाहा क्ष्मातत्त्वायेदं न मम । ॐवराहाय स्वाहा, वराहायेदं न मम । अप्तत्त्वाय स्वाहा, अप्तत्त्वायेदं न मम । ॐसरश्शायिने स्वाहा, सरश्शायिन इदं न मम । इत्यादिक्रमेण प्रयोगो बोध्यः तत्र द्विषट्कपरिसंख्ययेत्यनेन पूर्वं संहारक्रमेऽप्याहुतीनां द्वादशसंख्याकत्वं ज्ञायते ॥ ७८-७९ ॥

अब पृथ्व्यादि तत्त्वों का तथा तदधीश मन्त्रों का संहारक्रम से प्रयोग के अनुसार संक्षिप्त सन्तर्पण का प्रकार कहते हैं । आचार्य स्रुवा लेकर 'ॐ क्ष्मां नमः क्ष्मातत्त्वाय स्वाहा, क्ष्मातत्त्वायेदं न मम । ॐ वराहाय स्वाहा वराहायेदं न मम । अप्तत्त्वाय स्वाहा अप्तत्त्वायेदं न मम । ॐ सरश्शायिने स्वाहा शरश्शायिने इदं न मम' इत्यादि संहार क्रम से तत्त्वों तथा तदधीशमन्त्रों की तृप्ति के लिये इस प्रकार बारह आहुति प्रदान करे । तदनन्तर सृष्टिक्रम से भी इसी प्रकार १२ आहुति प्रदान करे ॥ ७८-७९ ॥

शिष्यचैतन्यस्य स्वहृदि सङ्कर्षणम्

पूरकेण समाकृष्य शिष्यहृत्कमलाद् हृदि ।
अथ व्यक्तिनिरस्तं च क्ष्माबीजं परलक्षणम् ॥ ८० ॥
ज्ञशक्त्या ज्ञानसंरुद्धं कृत्वादायानलाद् हृदि ।
प्रणवासनविश्रान्तं विरेच्याब्जे तु शैशवे ॥ ८१ ॥
स्मृत्वाऽथ शिष्यचैतन्यमेकमेव द्विरूपधृक् ।
शक्तिमच्छक्तिभावेन शक्तित्वेन तु संस्मरेत् ॥ ८२ ॥
क्ष्मातत्त्वान्तर्गतं कुण्डे शक्तिमत्त्वेन तत्पुनः ।
रेचयित्वा स्वनाम्ना च विग्रहे मध्यवर्त्मना ॥ ८३ ॥
नियोज्य तत्समाधौतं जपध्यानैकलक्षणे ।
तदेव पार्थिवं बीजं हृदा वै होमकर्मणा ॥ ८४ ॥
सम्यक् तस्योपकारार्थं नेतव्यं सूक्ष्मदेहताम् ।
स्वाहान्तं भोगसिद्ध्यर्थं नमोऽन्तं मोक्षसिद्धये ॥ ८५ ॥
भोगमोक्षाप्तये चापि तदेवोभयलक्षणम् ।
कर्मणामवसाने तु सम्पादयपदं न्यसेत् ॥ ८६ ॥
एवं तु विग्रहे सूक्ष्मे तद्हृत्पद्मगतस्य च ।
शिरसा चाधिकारात् तु तस्यापाद्य यथास्थितम् ॥ ८७ ॥
शिखामन्त्रेण तद्भोगं निर्वर्त्य शतसंख्यया ।
वर्मणा तत्फलप्राप्तिं तल्लयत्वमपि स्मरेत् ॥ ८८ ॥
सुतृप्तिमथ नेत्रेण कुर्यात् तेनैव संस्थितिम् ।
तत्त्यागश्चास्त्रमन्त्रेण विश्लेषेण युतो भवेत् ॥ ८९ ॥
मूलेनाथ गृहीत्वा तत् कुर्याच्चैवात्मसात् पुनः ।
तद्वच्छक्तिं तदीयां च कुण्डाद् व्यापकलक्षणाम् ॥ ९० ॥
क्ष्मातत्त्वस्याथ साध्यस्य ह्यनाधारस्य शान्तये ।
पूर्वसंख्यं तु चास्त्रेण कृत्वा होमं महामते ॥ ९१ ॥
स्रुवमाज्येन सम्पूर्य स्कन्धसूत्रात् तु पार्थिवम् ।
विकर्त्य पूर्णया सार्धं विलाप्याग्नौ स्वके पदे ॥ ९२ ॥
मूलमन्त्रेण सहसा हृत्पद्मप्रेरितेन तु ।
स्वदेहाद् रेचकेनाथ प्रेर्य शक्तिं च शैशवीम् ॥ ९३ ॥
तयाक्रान्तमधःस्थं च संस्मरेद् व्यतिरिक्तया ।
कबिन्दुनेवाब्जपत्रमाद्याध्वानं च भौवनम् ॥ ९४ ॥

शिष्यदेहे निरुद्धस्य व्यक्तिक्रोडीकृतस्य च।
स्वशक्तिपरिपूर्णस्य क्ष्माबीजस्य त्वथोपरि॥ ९५ ॥
विरेच्य शक्तिमन्तं च व्यस्तधर्मेण पूर्ववत्।

शिष्यचैतन्यस्य स्वहृदि सङ्कर्षणम् अग्निस्थस्य व्यक्तिनिरस्तस्य क्ष्माबीजस्य चाकर्षणं तस्य शिष्यहृत्कमले स्थापनं शिष्यचैतन्यस्याग्नौ क्ष्मातत्त्वान्तःशक्तित्वेन स्मरणं शक्तिमत्त्वेन पुनस्तस्य तद्विग्रहरेचनं क्ष्माबीजजपध्यनरूपे समये नियोजनम् ॐज्ञानाय हृदयाय नमस्य इत्यस्य सूक्ष्मदेहतां सम्पादय स्वाहेति वा, सम्पादय नम इति वा, सम्पादय नमः स्वाहेति वा मन्त्रेण होमैः सूक्ष्मदेहतानयनं तथैव तदधिकारादिहोमं तद्विश्लेषणार्थं होमं ततः शक्तिमतः शक्त्याश्च पुनरात्मसात्करणं क्ष्मातत्त्वस्य शान्त्यर्थं होमं सकर्मसूत्रपार्थिवांशखण्डेन सह पूर्णाहुति पुनः शिष्यदेहे तच्छक्तिभुवनाध्व-नोर्जलबिन्दुपद्मपत्रयोरिव सम्बन्धं तथैव शक्तिवत् क्ष्माबीजयोरपि सम्बन्धं चाह— पूरकेण समाकृष्येत्यारभ्य व्यस्तधर्मेण पूर्ववदित्यन्तम्॥ ८०-९६ ॥

शिष्यायभुवनाध्वादीनामुपदेशः

तत्क्षणे बीजसंस्थं तु अध्वानं तु यथास्थितम्॥ ९६ ॥
प्रकाशयन्ति कृपया तन्नाथास्तस्य सिद्धये।

तदानीं भुवनाध्वाद्यधीशास्तद्बीजस्थितमध्वानं यथास्थितं कृपया शिष्याय प्रकाशयन्तीत्याह—तत्क्षण इति॥ ९६-९७ ॥

दीक्षा प्रयोग—इसके बाद आचार्य शिष्य के चैतन्य को अपने हृदय में आकर्षण करे। इसी प्रकार अग्नि के अप्रकट रूप से स्थित क्ष्माबीज का आकर्षण करे। उस क्ष्माबीज को शिष्य के हृत्कमल में स्थापित करे। फिर शिष्य के चैतन्य को अग्नि में क्ष्मातत्त्व की अन्तःशक्ति के रूप में स्मरण करे। इस प्रकार क्ष्मातत्त्व के शक्तिमान होने के कारण उसे शिष्य के शरीर में डाल देवे। उस क्ष्माबीज को जप एवं ध्यान रूपी समय में इस प्रकार नियोजन करे। 'ॐ ज्ञानाय हृदयाय नमस्य इत्यस्य सूक्ष्मदेहतां सम्पादय स्वाहा' अथवा 'सम्पादय नमः इति वा सम्पादय नमः स्वाहेति वा' इस मन्त्र से सूक्ष्मदेहता का आनयन करे। उसी प्रकार उसके अधिकारी का भी होम करे। फिर उससे अलग होने का भी होम करे। फिर शक्तिमान् और शक्ति के साथ उसको आत्मसात् करे। तदनन्तर क्ष्मातत्त्व की शान्ति के लिये होम करे। फिर सकर्मसूत्र का पार्थिवांश खण्ड के साथ पूर्णाहुति करे। फिर शिष्य के देह में उस शक्ति तथा भुवनाध्व का जलबिन्दु और पद्मपत्र के समान सम्बन्ध स्थापित करे। उसी प्रकार शक्तिमान् और क्ष्माबीज का भी सम्बन्ध करे॥ ८०-९६ ॥

ऐसा करने से उसी समय भुवनादि अध्वा के अधिष्ठातृ देवता भुवनादि बीज स्थित अध्वा को वह जैसा है, उसी प्रकार कृपापूर्वक शिष्य के मनोरथ की सिद्धि के लिये प्रकाशित कर देते हैं॥ ९६-९७ ॥

विरक्तं भावयेच्छिष्यं चिन्तयन्तमिदं धिया ॥ ९७ ॥
इदं तत्पार्थिवं तत्त्वं मुधा वै दुःखपञ्जरम् ।
भावतत्त्वगतं चास्य सुमहत्त्वं च साम्प्रतम् ॥ ९८ ॥
कथमत्र त्वहं चासं यस्य मे न तत इमाः ।

प्रकाशनेन विरक्तस्य शिष्यस्य चिन्तनप्रकारमाह—

विरक्तमिति द्वाभ्याम् ॥ ९७-९९ ॥

उस प्रकाश से शिष्य का चित्त विरक्त हो जाता है और वह सोचने लगता है कि यह दु:ख से परिपूर्ण पिंजरा वाला मेरा पार्थिव शरीर व्यर्थ है । इसका महत्त्व तो भावतत्त्व की प्राप्ति में है । इतने दिनों तक मै इस पार्थिव शरीर में किस प्रकार रहा? मुझे अब तक उस परमतत्त्व की प्राप्ति क्यों नही हुई? ॥ ९८-९९ ॥

विमुक्तः पञ्जराद् यद्वत् सुखमास्ते विहङ्गमः ॥ ९९ ॥
ऊर्ध्वपाती तदारूढस्त्वेवं मन्त्रबलाच्छिशुः ।

इतः परं शिष्यस्य पञ्जरविमुक्तविहङ्गमसादृश्यमाह—विमुक्त इति । शिष्य-चैतन्यस्य मन्त्रबलात् क्ष्मातत्त्वविमुक्तत्वेऽपि तदारूढत्वाद् विहङ्गमस्यापि पञ्जरोर्ध्वा-रूढत्वमुक्तम् ॥ ९९-१०० ॥

जिस प्रकार पञ्जर विमुक्त विहङ्गम सुख पूर्वक रहता है, उसी प्रकार मुझे भी इस पार्थिव तत्त्व से विमुक्त होकर सुखी होना चाहिये । किन्तु आश्चर्य है? जो मैं पार्थिव पञ्जर से विमुक्त होकर भी अभी उस विहङ्गम के समान इसी पार्थिव शरीर पर आरूढ़ हूँ, जो पञ्जर से विमुक्त होकर भी उसी पर आरूढ़ रहता है ॥ ९९-१०० ॥

मन्त्रसमूहविज्ञापनं तत्प्रकारकथनम्

समूहमथ विज्ञाप्य तत्प्रभुत्वेन यः स्थितः ॥ १०० ॥
सन्निरुद्धो भवत्वस्य सर्वतः सर्वदैव हि ।
युष्मत्प्रसादसामर्थ्याद् यथावत् पार्थिवो गुणः ॥ १०१ ॥

क्ष्मातत्त्वस्थितपातालशयनादिमन्त्रसमूहविज्ञापनं तत्प्रकारं चाह—समूहमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १००-१०२ ॥

इस प्रकार चिन्तित शिष्य को देख कर आचार्य क्ष्मातत्त्व स्थित पाताल शयनादि मन्त्र समूहों से तथा उनके प्रभुत्व रूप से जो देवता स्थित हैं उनसे विज्ञापन करे । हे मन्त्रसमूहों ! आप लोगों के प्रसाद के सामर्थ्य से इस शिष्य में सर्वत्र सर्वदा पार्थिव गुण यथावत् रूप से सन्निरुद्ध रहें ॥ १०१ ॥

देहान्तं गन्धतन्मात्रं भवेदासीनमस्य वै ।

सम्यक् सम्प्रतिपन्नस्य शासने पारमेश्वरे ॥ १०२ ॥

पारमेश्वर शासन में सम्प्रतिपन्न तथा आसीन इस शिष्य में देह त्याग पर्यन्त गन्ध तन्मात्रा विद्यमान रहे ॥ १०२ ॥

हे धराधिपते नाथ अस्याद्य प्रभृति त्वया ।
ध्वंसिना मोक्षविघ्नानां भवितव्यं च कर्मिणः ॥ १०३ ॥

तदधीनवराहविज्ञापनप्रकारमाह—हे धराधिपते इति ॥ १०३ ॥

अब मन्त्राधीन वराह से विज्ञापन करते हैं—हे धराधिपते ! हे नाथ ! आप आज से लेकर सर्वदा इस मेरे शिष्य के मोक्ष में होने वाले समस्त विघ्नों का विनाश करते रहें ॥ १०३ ॥

इति विज्ञाप्य चाज्ञाप्य आपाद्याहुतयः क्रमात् ।
सह शक्त्या समाकृष्य भूयात् तत्पूरकेण तु ॥ १०४ ॥

इति विज्ञापनानन्तरं पूर्वोक्तक्ष्मातत्त्वतदधीशमन्त्रैर्होमं शिष्यदेहात् पूरकेण शक्तिमच्चैतन्यस्य शक्त्या सहाकर्षणं चाह—इतीति । आज्ञाप्येत्यत्र गन्धमिति शेषः, "रसमाज्ञाप्य गन्धवत्" (१९।१०९) इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १०४ ॥

इस प्रकार विज्ञापन करने के पश्चात् आचार्य पूर्वोक्त क्ष्मातत्त्व तथा तदधीश मन्त्रों से होम करे । फिर शिष्य के देह से पूरक प्राणायाम् के द्वारा शक्तिमत् चैतन्य का शक्ति के साथ आकर्षण करे ॥ १०४ ॥

अप्तत्त्वसंस्कारकथनम्

तद्देहे चाम्मयं बीजं साधारं पूर्ववद् न्यसेत् ।
कुण्डमध्येऽनुसन्धाय जीवशक्तिं च पूर्ववत् ॥ १०५ ॥
विरेच्य शक्तिमांस्तत्र नियोज्यस्तदनन्तरम् ।
तत्समाधौ यथापूर्वं कुम्भकेन महामते ॥ १०६ ॥
अथाप्यं देहमापाद्य होमध्यानादिना परम् ।
तत्राधिकारपूर्वं तु सर्वं निर्वर्त्य तस्य वै ॥ १०७ ॥
आप्येन सूत्रस्कन्धेन सह पूर्वान्निपात्य च ।
अप्तत्त्वं पदसंयुक्तं तेनाक्रान्तं स्मरेत् तथा ॥ १०८ ॥
तत्स्थं मन्त्रसमूहं तु सह तत्पतिना तु वै ।
पूर्ववच्छ्रावयित्वा च रसमाज्ञाप्य गन्धवत् ॥ १०९ ॥

अथाप्तत्त्वसंस्कारमाह—तद्देह इति पञ्चभिः । तद्देहे शिष्यदेह इत्यर्थः । अम्मयं बीजं अप्तत्त्वं बीजमित्यर्थः । ॐअं नम इति यावत्, "नीत्वा स्वनाम्न आद्यर्णं

क्ष्मान्तानां बीजतां गतम्'' (१८।१३५) इति पूर्वोक्तेः । साधारं प्रणवासनविश्रान्तमित्यर्थः । शक्तिमान् शक्तिमत्त्वेन ध्यातं शिष्यचैतन्यमित्यर्थः । तत्र शिष्यविग्रह इत्यर्थः । तत्समाधौ पूर्वोक्तजपध्यानैकलक्षणे समाधावित्यर्थः । आप्यं देहमापाद्य सूक्ष्मदेहं सम्पाद्येत्यर्थः । होमध्यानादिना हृन्मन्त्रहोमादिनेत्यर्थः । अधिकारपूर्वम् अधिकारभोगाधिकमित्यर्थः । पदसंयुक्तं पदाध्वसंयुक्तमित्यर्थः । तेनाक्रान्तं शक्तिसहितशक्तिमताक्रान्तमित्यर्थः । तत्स्थं मन्त्रसमूहं नारायणादिसप्तमन्त्रसमूहमित्यर्थः । तत्पतिना सह सरश्शायिना सार्धमित्यर्थः । पूर्ववत् श्रावयित्वा पूर्वोक्तप्रार्थनाश्लोकान् श्रावयित्वेत्यर्थः । किन्तु तत्र यथावत् पार्थिवो गुण इत्यत्र यथावच्चाम्मयो गुण इति, गन्धतन्मात्रमित्यत्र रसतन्मात्रमिति, हे धराधिपते इत्यत्र हे जलाधिपते इति च योज्यम् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ॥ १०५-१०९ ॥

अब **जल तत्त्व का संस्कार** कहते हैं—इसके बाद शिष्य के देह में आचार्य आधार सहित अम्मय बीज 'ॐ अं नमः' का न्यास करे । फिर कुण्ड के मध्य में पूर्ववत् जीव शक्ति का अनुसंधान करे । उसके शक्तिमान् का नियोजन करे उसके अनुसंधान में कुम्भक का प्रयोग करे । इस प्रकार होम ध्यान द्वारा उसके सूक्ष्म देह का सम्पादन करे । फिर हे नारायण! हे नाथ! आज से लेकर आप इस कर्मी, मेरे शिष्य के मोक्ष में आने वाले विघ्न का विनाश करे । हे जलाधिप ! इसके शरीर में अम्मय गुण देह पात पर्यन्त बना रहे । रस तन्मात्रा विद्यमान रहे । इस प्रकार की प्रार्थना करे ॥ १०५-१०९ ॥

मनोऽवसानं नीत्वैवं तं वर्णाध्वोर्ध्वगोचरम् ।
निष्ठाङ्गेन महाबुद्धे तेजसाऽस्त्रेण चेच्छया ॥ ११० ॥
समुद्धृत्याथ वै प्राग्वद् योक्तव्यं बुद्धिगोचरे ।
षडध्वमुक्तमूलेन प्राप्तसंज्ञं च तं शिशुम् ॥ १११ ॥
तत्त्वकञ्चुकनिर्मुक्तं शान्तात्मन्येकतां गतम् ।
स्मृत्वा शक्त्यात्मनाऽग्नौ तु लब्धलक्षं परे पदे ॥ ११२ ॥
ऐश्वरेण तु बीजेन प्रोक्तसत्त्वान्वितेन च ।
ततः संवेद्यनिर्मुक्ते समाधौ विनियोज्य च ॥ ११३ ॥
न वेत्ति यत्र संलीनं सानन्दं द्वैतमात्रकम् ।

एवं तेजस्तत्त्वप्रभृतिमनस्तत्त्वान्तानां मन्त्राध्वादिवर्णाध्वान्तसहितानां चतुर्णां क्रमेण संस्काराः कार्या इत्याह—मनोऽवसानमित्यर्धेन ।

अथ नेत्रमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण वा शक्तिमतः शिष्यचैतन्यस्य बुद्धिमयेऽध्वनि योजनं तच्छक्त्याः पूर्ववदग्नौ योजनम् ऐश्वरेण बीजेन जपध्यानैकलक्षणे समाधौ नियोजनं चाह—निष्ठाङ्गेनेति चतुर्भिः । निष्ठाङ्गेन = चरमाङ्गेनेत्यर्थः । इदं तेजोऽस्त्रमन्त्रयोरुभयोरपि विशेषणं बोध्यम् । यतः—

प्राधान्येन त्वथैश्वर्यं मोक्षो यत्रानुषङ्गतः ॥

तत्र तद्विघ्नशान्त्यर्थमस्त्रान्तं विद्धि मन्त्रपम् ।
विपर्यये तु नेत्रान्तो मन्त्रो यस्मान्महामते ॥ (२।३९-४०)

इति फलाभिसन्धिभेदेनोभयोरपि चरमाङ्गत्वं द्वितीयपरिच्छेदे प्रतिपादितम् ॥ ११०-११४ ॥

इसी प्रकार तेजस्तत्त्व से लेकर मनस्तत्त्वान्त का तथा मन्त्राध्वा से लेकर वर्णाध्वा पर्यन्त इन चारों का संस्कार करे । इसके बाद नेत्रमन्त्र से अथवा अस्त्रमन्त्र से शक्ति युक्त शिष्य चैतन्य को बुद्धिमय अध्वा में संयुक्त करे । फिर उस शक्ति को पूर्व की भाँति अग्नि में संयुक्त करे, फिर उसे ऐश्वर बीज के द्वारा जप एवं ध्यान लक्षण वाले समाधि में संयुक्त करे । समाधि में सानन्द लीन हो जाने पर साधक द्वैत मात्र का अनुभव नहीं करता ॥ ११०-११४ ॥

होमविधिः

आहुतीनां शतं हुत्वा तदापादनकर्मणि ॥ ११४ ॥
नीत्वा समानतां सर्वं तेनैव स्वधियाऽखिलम् ।
सह संवेद्यजालेन वाक्प्रबन्धं यथास्थितम् ॥ ११५ ॥
निस्तरङ्गमयो भूत्वा दद्यात् पूर्णाहुतिं पराम् ।

होमविधिमाह—आहुतीनामिति द्वाभ्याम् ॥ ११४-११६ ॥

उस समाधि में सिद्धि के लिये आचार्य सौ आहुतियाँ प्रदान करे । जिज्ञासा वाली अपने उस बुद्धि से यथास्थित सभी वाक् प्रबन्धों को एक ही साथ समान रूप से समझे । तदनन्तर निःशङ्क होकर परा पूर्णाहुति प्रदान करे ॥ ११४-११६॥

अथास्मितां प्राप्य गुरुः प्रदद्यादाहुतीः पुनः ॥ ११६ ॥
बीजनाथेन शिष्यस्य त्वपमोक्षनिवृत्तये ।
पदैरोङ्कारसंरुद्धैः पदावस्थितमानसः ॥ ११७ ॥
सर्वज्ञो भव चोक्त्वैवं जुहुयाद् द्वादशाहुतीः ।
भवैवमेव भगवन् निरवद्यो निराश्रयः ॥ ११८ ॥
सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः सुसम्पूर्णोऽच्युतो वशी ।
व्यापी निरुद्धषाड्गुण्यो निर्विकारो निरञ्जनः ॥ ११९ ॥
नित्यो नित्योदितज्ञानो नित्यानन्दः सुनिष्कलः ।
अनाद्यनन्तोऽनिधनो वासुदेवो विभूतिमान् ॥ १२० ॥
भूत्वैवं च ततः कुर्यात् पूर्णया पुनरेव हि ।

पुनरपमोक्षनिवृत्त्यर्थं होममाह—अथेति पञ्चभिः । बीजनाथेन = ऐश्वर्यबीजेनेत्यर्थः । विशाखयूपबीजेनेति यावत् ॥ ११६-२२१ ॥

अब **अपमोक्ष निवृत्ति के लिये होम** कहते हैं—तदनन्तर गुरु अस्मिता प्राप्त कर पुनः आहुति प्रदान करे । तदनन्तर गुरु अपने शिष्य के अपमोक्ष निवृत्ति के लिये ॐकार युक्त ऐश्वर्य बीज (विशाखयूप) बीज पूर्वक 'सर्वज्ञो भव' मन्त्र पढ़कर द्वादश आहुति देवे । फिर गुरु आशीर्वाद देवे 'हे भगवन् एवमेव भव' । फिर आचार्य अपने में 'निरवद्य, निराश्रय, सर्वेश्वर, सर्वशक्ति, सुसम्पूर्ण अच्युत, वशी, व्यापी, षाड्गुण्ययुक्त, निर्विकार, निरञ्जन, नित्य, नित्योदितज्ञान, नित्यानन्द, सुनिष्फल, अनादि, अनन्त, अनिधन, वासुदेव, विभूतिमान् मैं हूँ' इस प्रकार का संकल्प कर पुनः पूर्णाहुति करे ॥ ११६-१२१ ॥

स्थितं वैभवदीक्षायां मुमुक्षोरैश्वरे पदे ॥ १२१ ॥
यत्रस्थो धाम चाभ्येति ह्यचिरात् पारमेश्वरम् ।
ईश्वरेच्छावशेनैव देहपातान्महामते ॥ १२२ ॥

अथ बुद्धिपदाद् वैशाखयूपपदे पद्मनाभाभिधपदे वा शक्तिमच्छक्तिभेदेनोभयत्र वा तत्फलाभिसन्ध्यनुसारेण शिष्यचैतन्यस्थापनं पुनस्तस्मात् पदादुद्धृत्य देहपातान्तं कालं बुद्धिमयेऽध्वन्येव स्थापनं तथा बुद्धिपदे स्थापितस्यापि चैतन्यस्य काष्ठवह्निदृष्टान्तेन तन्मयाभावत्वं चाह—स्थितमिति सार्धैश्चतुर्भिः ॥ १२१-१२५ ॥

इस प्रकार वैभव दीक्षा में स्थित शिष्य मुमुक्षु हो कर ईश्वर पद में प्रतिष्ठित हो जाता है । जहाँ स्थित होकर ईश्वरेच्छावश देहपात के अनन्तर वह शीघ्र ही परमेश्वर के धाम में पहुँच जाता है ॥ १२१-१२२ ॥

भोगेच्छोः पद्मनाभीय उभयेच्छोः पदद्वये ।
शक्तिमच्छक्तियोगेन त्वथ बुद्धिमयेऽध्वनि ॥ १२३ ॥
निवेश्यो देहपातान्तं कालमुद्धृत्य तत्पदात् ।
अन्तरूढो यथा काष्ठात् पावकश्च पृथक् कृतः ॥ १२४ ॥
न भूयः सह काष्ठेन साम्यमेति तथा पुमान् ।
योजितोऽध्वान्तरे भूयो नैति तन्मयतां ततः ॥ १२५ ॥

इसके बाद आचार्य भोग की इच्छा रखने वाले शिष्य को वैशाखयूप पद पर स्थापित करे, अथवा पद्मनाभादि पद पर भोग और मोक्ष दोनों की इच्छा रखने वाले शिष्य को शक्ति और शक्तिमान् में भेद के सिद्धान्तानुसार दोनों पद पर उसके चैतन्य को स्थापित करे । फिर उसे उस पद से हटाकर देहपातान्त काल पर्यन्त बुद्धिमय अध्वा में स्थापित करे । इस प्रकार बुद्धि पद पर स्थापित उसका चैतन्य पुनः अन्य अध्वा में प्रवेश नहीं कर सकता । जिस प्रकार काष्ठ के भीतर रहने वाली अग्नि काष्ठ से पृथक् हो जाने पर पुनः काष्ठ का रूप धारण नहीं करती ॥ १२३-१२५ ॥

समाधिप्रच्युतिं कृत्वा विनिवेश्यात्मनोऽग्रतः ।
यथावदुपदेष्टव्यस्तस्याध्वा च सितासितः ॥ १२६ ॥
संस्थितो यस्त्वभेदेन भिन्नरूपः परात्मनि ।

अथ शिष्यं पूर्वोक्तसमाधिविमुखं कृत्वाऽऽत्मनोऽग्रे निवेश्य तस्य वक्ष्यमाण-प्रकारेण षडध्वोपदेशं कुर्यादित्याह—समाधीति सार्धेन ॥ १२६-१२७ ॥

वेद्यवेदकनिर्मुक्तमच्युतं ब्रह्म यत्परम् ॥ १२७ ॥
तच्छब्दब्रह्मभावेन स्वशक्त्या स्वयमेव हि ।
मुक्तयेऽखिलजीवानामुदेति परमेश्वरः ॥ १२८ ॥

परंब्रह्मैव निखिलचेतनसंरक्षणार्थं शब्दब्रह्मभावं भजतीत्याह—
वेद्येति सार्धेन ॥ १२७-१२८ ॥

इसके बाद आचार्य शिष्य को समाधि से हटाकर अपने आगे बैठावे, तदनन्तर उसे षडध्वा का उपदेश इस प्रकार करे । जो भिन्न रूप होते हुए भी परमात्मा में अभेद रूप से संस्थित है जो वेद्य वेदक से निर्मुक्त अच्युत तथा पर ब्रह्म है । वही परमेश्वर समस्त जीवों की मुक्ति के लिये अपनी शक्ति से स्वयं 'शब्द ब्रह्म' के रूप में प्रगट होता है ॥ १२६-१२८ ॥

तदव्यक्ताक्षरं विद्धि तन्त्रीशब्दो यथा कलः ।
पृथग्वर्णात्मना याति स्थितयेऽनेकधा स्वयम्॥ १२९ ॥

तन्त्रीशब्दवदव्यक्ताक्षरं तच्छब्दब्रह्म अकारादिक्षकारान्तवर्णरूपेण पुनर्व्यक्ततां भजतीत्याह—तदिति । एतद्व्यक्तरूपं सर्वैरपि ज्ञायते ॥ १२९ ॥

तन्त्री (वीणा) शब्द के समान मधुर वह शब्द पहले अव्यक्त रूप में रहता है फिर वही अपनी स्थिति के लिये पृथक्-पृथक् अनेक वर्णों के रूप में वैखरी रूप में स्वयं व्यक्त होता है ॥ १२९ ॥

नो यान्ति निश्चयं यत्र चातुरात्म्यादनुग्रहात् ।
ऋते वेदविदो विप्रास्त्वेतस्मिन् प्रथमेऽक्षरे ॥ १३० ॥

अव्यक्ताक्षरे शब्दब्रह्मणः प्रथमरूपे तु भगवदनुग्रहं विना वेदविदामपि निर्णयो न संभवतीत्याह—नो यान्तीति ॥ १३० ॥

वह शब्द ब्रह्म प्रथम जब अव्यक्त रूप में रहता है तब उसका निर्णय भगवदनुग्रह के बिना बड़े-बड़े वैदिक भी करने में असमर्थ रहते हैं ॥ १३० ॥

स शब्दमूर्तिर्भगवानभ्येति च कलात्मना ।
तद्ग्रहो युज्यते येन तन्निष्ठानां हि कर्मिणाम् ॥ १३१ ॥

एष वर्णाध्वैव कलाध्वरूपेण परिणमतीत्याह—स इति । कलात्मना ज्ञानादि-षड्गुणेनेत्यर्थः । तन्निष्ठानां भगवज्ज्ञानादिषाड्गुण्यानुभवनिष्ठानां कर्मिणां तदाराधनादिकर्मवतां चेतनानां तद्ग्रहो ज्ञानादिगुणग्रहणं येन युज्यते कलाध्वरूपपरिणामेन संभवतीति पूर्वेणान्वयः ॥ १३१ ॥

वह वर्णाध्वा ही कलाध्व रूप से परिणमित होता है । जब वह वर्णाध्वा कलाध्वा के रूप में परिणमित होता है तभी उसका ज्ञान भगवान् के ज्ञानादि-षड्गुणों के उपासक चेतनात्माओं को होता है ॥ १३१ ॥

न षाड्गुण्यकलोत्था च यावन्मूर्तिर्निरञ्जना ।
वद केनाऽन्यथाऽमूर्तं तद्ग्रहीतुं नियुज्यते ॥ १३२ ॥

एवं शब्दमूर्तेः षाड्गुण्यात्मना परिणामाभावे तन्मयभगवन्मूर्तिज्ञानं कथं भवतीत्याह—नेति ॥ १३२ ॥

यदि उस शब्द मूर्त्ति का ज्ञानादिषाड्गुण्य के रूप में परिणाम न हो तो तन्मय भगवन्मूर्त्ति का ज्ञान भला किस प्रकार संभव हो सकता है ॥ १३२ ॥

तत्त्वाः कलामयाः सर्वे प्रभवाप्ययलक्षणाः ।
पूर्वोक्ता वासुदेवाद्या अध्यक्षान्ता यथोदिताः ॥ १३३ ॥

अस्मात् कलाध्वनो वासुदेवमूर्त्यादितत्त्वोत्पत्तिमाह—तत्त्वा इति ॥ १३३ ॥

उत्पत्ति एवं संहार लक्षण वाले सभी तत्त्व कलामय ही हैं जैसा कि पूर्व में वासुदेव से लेकर अध्यक्षान्त तत्त्वों को कह आये हैं । वर्णाध्वा, कालध्वा, तत्त्वाध्वा, मन्त्राध्वा, पदाध्वा, भुवनाध्वा ये ६ अध्वा हैं—वर्णाध्वा से कलाध्वा, कलाध्वा से तत्त्वाध्वा, तत्त्वाध्वा से मन्त्राध्वा, मन्त्राध्वा से पदाध्वा, पदाध्वा से भुवनाध्वा की उत्पत्ति होती है ॥ १३३ ॥

तत्त्वेभ्यो निर्गता मन्त्रास्त्वणिमादिगुणैर्युताः ।
षट्कलाङ्गलवैर्युक्ता येषु संख्या न विद्यते ॥ १३४ ॥
व्यञ्जितं तैः सनिर्माणं तुर्याद्यं पदसंज्ञकम् ।
कर्मिणामात्मलाभार्थं मोहार्थं तत् क्षयाय च ॥ १३५ ॥
द्विसप्तभुवनं विश्वं गुणत्रयमयं हि यत् ।
तदशुद्धं जगन्नित्यं भोग्यं प्राप्यं पृथक् स्थितम् ॥ १३६ ॥

तत्त्वाध्वनो मन्त्राध्वसमुत्पत्तिं तस्मात् पदाध्वसमुत्पत्तिं ततो भुवनाध्वोत्पत्तिं चाह—तत्त्वेभ्य इति त्रिभिः । षट्कलाङ्गलवैर्युक्ता ज्ञानैश्वर्यादिषड्गुणात्महृदयाद्यङ्गमन्त्रैरन्विता इत्यर्थः । तुर्याद्यमित्यत्र आद्यपदेन सुषुप्तिस्वप्नजाग्रत्पदत्रयमुच्यते ॥ १३४-१३६ ॥

इन तत्त्वों से अणिमादिगुण युक्त सभी मन्त्रों की उत्पत्ति हुई है । ये सभी मन्त्र ज्ञानैश्वर्यादि षड्गुणों से तथा हृदयादि अङ्गमन्त्रों से युक्त हैं । इनकी संख्या का अन्त नहीं है ॥ १३४ ॥

भगवान् की आराधना करने वाले जनों के आत्मलाभ के लिये और अन्य जनों के मोह के लिये तथा उसके क्षय के लिये उन्हीं से निर्माण सहित सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत् ये तीन पद व्यञ्जित हैं ॥ १३५ ॥

यह सारा जगत् तथा १४ भुवन जो त्रिगुणात्मक है, वह अशुद्ध है और भोग्य प्राप्त कर पृथक् रूप से स्थित है ॥ १३६ ॥

इत्यध्वषट्कमुद्दिष्टं हेयोपादेयलक्षणम् ।
भुवनाध्वा पदाध्वा च विना तुर्यपदेन तु ॥ १३७ ॥
हेयः शेषमुपादेयं कर्मिणां तदपेक्षया ।

उक्तार्थं निगमनपूर्वकं तस्मिन्नध्वषटके भुवनाध्वनः पदाध्व(नि?नः) सुषुप्त्यादि-पदत्रिकस्य च हेयत्वं तुर्यपदस्य मन्त्राध्वादीनां चोपादेयत्वं चाह—इत्यध्वषट्कमिति सार्धेन । एवमेवोपबृंहितं लक्ष्मीतन्त्रेऽपि—

तुर्यवर्जं सुषुप्त्यादिरशुद्धां भजते गतिम् ।
मायादिक्षितिपर्यन्ता योक्ता भुवनपद्धतिः ॥
भुवनाध्वा स विज्ञेयो ह्यशुद्धो मलपङ्किलः । (२२।२७-२८)

इति ॥ १३७-१३८ ॥

यहाँ तक छः अध्वा का वर्णन किया गया है । इनमें कुछ हेय हैं और कुछ उपादेय हैं (जैसे—भुवनाध्वा पदाध्वा हेय है, मन्त्राध्वा, तत्त्वाध्वा एवं कलाध्वा तथा वर्णाध्वा ग्राह्य हैं) ये चार ही भक्तों के लिय ग्राह्य हैं किन्तु ये चार भी विशुद्ध अन्तःकरण वाले मुमुक्षु के लिये कभी हेय कोटि में हो जाते हैं ॥ १३७-१३८ ॥

व्यपेक्षयाऽप्युपेयश्च हेयपक्षे प्रयाति च ॥ १३८ ॥
किन्तु तत्प्राप्त्युपायं वै निस्तरङ्गे परे पदे ।
विवेकपदसंस्थस्य दीक्षया संस्कृतस्य च ॥ १३९ ॥
विचार्यमाण एवं हि विश्रामो यत्र वै स्फुटम् ।
जायते तत्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ॥ १४० ॥

मुमुक्षोः शुद्धाः सन्तोऽप्यनपेक्षया तस्य तेऽपि हेयपक्षान्तर्गता भवन्तीत्याह—व्यपेक्षयेत्यर्धेन । तर्हि मुमुक्षुप्राप्यं किमिति चेत्, तदाह—किन्त्विति द्वाभ्याम् । विश्राम इत्यत्र षडध्वनामिति शेषः ॥ १३९-१४० ॥

किन्तु विवेकपद में स्थित रहने वाले ज्ञानी तथा दीक्षा सम्पन्न दीक्षित के लिये उसकी प्राप्ति उपाय निस्तरङ्ग पर पद में ही है ॥ १३९ ॥

इस प्रकार विचार करने पर जहाँ स्पष्ट रूप से छः अध्वा को विश्राम मिलता है वही वासुदेव नामक अव्यय 'तत्' पद वाच्य ब्रह्म है ॥ १४० ॥

अम्बरं परमाणूनां बहूनामास्पदं यथा ।
तथाऽनाद्यबुद्धानां जीवानां हि निकेतनम् ॥ १४१ ॥
विज्ञेयं भुवनानां च पदानामन्तरं हि यत् ।

भुवनपदाध्वद्वयमप्यसंख्यातचेतनास्पदमित्याह—अम्बरमिति सार्धेन ॥ १४१-१४२ ॥

जिस प्रकार यह बृहदाकाश बहुत परमाणुओं का आस्पद है उसी प्रकार अनादि काल से अज्ञानी जीवों का यह भुवनाध्वा तथा पदाध्वा निकेतन है । उसी के आकाश में अपूर्ण इच्छा वाले अज्ञानी जीवों से सुख-दुःख का अनुभव कराते हुए उनसे ये मन्त्र क्रीडा करते हैं ॥ १४१-१४२ ॥

विनेश्वरेच्छया तेषां मन्त्रा वै क्रीडयन्ति च ॥ १४२ ॥
मायीयेऽध्वद्वये तस्मिन् सुखदुःखमयैः फलैः ।
ईश्वरेच्छानुविद्धानां भक्तानां परमेश्वरे ॥ १४३ ॥

तत्राम्बरे इच्छाविधुरान् जीवान् सुखदुःखफलानुभवैर्मन्त्राः क्रीडयन्तीत्याह—विनेति । मायीये प्राकृत इत्यर्थः ॥ १४२-१४३ ॥

गुरूणां दीक्षितानां चाप्यारधनरतात्मनाम् ।
भवन्त्यध्वद्वयोर्ध्वस्था मन्त्राश्चाज्ञाप्रतीक्षकाः ॥ १४४ ॥

ईश्वरेच्छानुविद्धानां तु स्वयं वश्या भूत्वा तान् भोगार्थं स्वस्थाने नयन्तीत्याह—ईश्वरेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १४३-१४५ ॥

ये दोनों अध्वा मायिक हैं जो सुख दुःख रूप दो फलों से संयुक्त हैं । ईश्वर की इच्छा करने वाले परमेश्वर में भक्ति रखने वाले गुरुओं तथा दीक्षित जनों की आराधना में तत्पर रहने वालों की भुवनाध्वा तथा पदाध्वा इन दो अध्वों से ऊपर रहने वाले मन्त्र आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते हैं ॥ १४३-१४४ ॥

नयन्ति कर्मिणः सम्यग् मायीयाध्वद्वयाद् बलात् ।
स्वस्थानमणिमादीनां भोगानां प्राप्तये तु वै ॥ १४५ ॥

ये मन्त्र ईश्वरेच्छानुविद्ध भक्तों के वशीभूत हो कर उन्हें अणिमादि के भोग के लिये भुवनाध्वा तथा पदाध्वा से ऊपर स्वयं अपने स्थान में ले जाते हैं ॥ १४५ ॥

विरक्तस्य च तद्भोगात् स्वशक्त्या प्रेरयन्ति च ।
स्वव्यापारवशेनापि तत्त्वाध्वन्यमृतोपमे ॥ १४६ ॥
यत्राणिमादि मन्येत तृणानीव च संस्थितः ।

तत्र भोगविरक्तं चेतनं तु मन्त्राः स्वशक्त्यैव वासुदेवादितत्त्वाध्वानं प्रापयन्तीत्याह—विरक्तस्येति सार्धेन । यत्र तत्त्वाध्वनि संस्थितः पुरुषोऽणिमादि मन्त्राध्वन्यनुभावभोगान् तृणानीव मन्येत तृणसदृशान् भावयेदित्यर्थः ॥ १४६-१४७ ॥

अनुग्रहपरास्तस्य तत्त्वाध्यक्षादयोऽमलाः ॥ १४७ ॥
नयन्त्यप्ययतां सम्यक् सकलाध्वनि शाश्वते ।

तत्रापि विरक्तं पुरुषमनिरुद्धादयः कलाध्वनि योजयन्तीत्याह—अनुग्रहेति । ततो विकलाध्वमूर्तिर्वासुदेवो वर्णाध्वानं प्रापयति ॥ १४७-१४८ ॥

यदि वह चेतन भोग से विरक्त है तब मन्त्र स्वयं अपनी शक्ति से उसे अमृत के समान वासुदेवादि 'तत्त्वाध्वा' प्राप्त कराते हैं । उस तत्त्वाध्वा में स्थित हुआ पुरुष जब मन्त्राध्वा में विद्यमान समस्त अणिमादि भोगों को तृणवत् समझता है । तब अत्यन्त शुद्ध तत्त्व के अध्यक्ष अनिरुद्धादि उस पर अनुग्रह कर उसे शाश्वत 'कलाध्वा' में ले जाते हैं ॥ १४६-१४८ ॥

स षाड्गुण्यमयो ब्रह्म वासुदेवोऽध्वमूर्तिभृत् ॥ १४८ ॥
नित्ये स्वात्मनि सम्बन्धे शब्दब्रह्माभिधेऽध्वनि ।
करोति योजनां तस्य यत्रस्थः स्वयमेव हि ॥ १४९ ॥
प्राप्नोति तत्परिज्ञानात् सुशान्तं भगवत्पदम् ।

तत्र स्थितः पुरुषः स्वयमेव वर्णाध्वपरिज्ञानाद् भगवत्पदं प्राप्नोतीत्याह—स इति द्वाभ्याम् ॥ १४८-१५० ॥

फिर विकलाध्व मूर्त्ति षाडगुण्यमय भगवान् वासुदेव उसे स्वयं वर्णाध्वा में ले जाते हैं । वह वर्णाध्वा नित्य है । आत्म सम्बन्धी है । शब्द ब्रह्म उसका नाम है । उसमें स्थित हुआ पुरुष वर्णाध्वा का ज्ञान कर स्वयं सुशान्त भगवत् पद प्राप्त करता है ॥ १४८-१५० ॥

सङ्कर्षण उवाच

देव वर्णाध्वविज्ञानं वद किंलक्षणं मम ॥ १५० ॥
प्राप्नोति यत्परिज्ञानादध्वी सद्वासुदेवताम् ।

सङ्कर्षणः प्रसक्तं वर्णाध्वज्ञानं पृच्छति—देवेति ॥ १५०-१५१ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे देव! अब आप मुझे वर्णाध्वा का ज्ञान कराइये । उसका लक्षण क्या है? जिसके परिज्ञान से अध्ववेत्ता साधक वासुदेवता को प्राप्त कर लेता है ॥ १५०-१५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य लब्धसत्तस्य चात्मनः ॥ १५१ ॥

योऽनुभूतिपदं यापि धारासन्तानरूपधृक् ।
भिन्नवर्णमयः शब्दः पूर्वलक्षणलक्षितः ॥ १५२ ॥
स चातुरात्म्यनिचयो विज्ञेयो हि तदात्मना ।
प्रभवाप्ययोगेन शब्दभास्वरलक्षणः ॥ १५३ ॥
सकारान्तस्त्वकाराच्च हकारादन्त एव हि ।

एवं पृष्टो वासुदेवः पूर्वोक्तं वर्णाध्वानं प्रभवक्रमेऽकारादिसकारान्तम्, अप्ययक्रमे हकाराद् आकारान्तं च चातुरात्म्यसमूहरूपेण भावयेदित्याह—पञ्चेति त्रिभिः । पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य भुवनादिपञ्चाध्वनः समतिक्रान्तस्येत्यर्थः । शब्दभास्वरलक्षणो भास्वरध्वनिलक्षण इत्यर्थः । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

मच्चातुरात्म्यनिचयो विज्ञेयो हि तदात्मना ॥
प्रभवाप्ययोगेन भारूपध्वनिलक्षणः । (२०।१०-११)

इति ॥ १५१-१५४ ॥

प्रभवे द्वादशान्तस्तु हकारश्चतुरात्मनाम् ॥ १५४ ॥
अकारस्त्वप्यये चैव तुल्याऽतोनयोः स्मृता ।

अकारहकारयोर्द्वादशान्तत्वेन साम्यमाह—प्रभव इति । चतुरात्मनां द्वादशान्त इत्यन्वयः । द्वादशान्तो धारणाद्विषट्कान्त इत्यर्थः । अत्राकारादिहकारादिष्वेकोनपञ्चाशिंशद्वर्णेष्वकारादिसकारान्तं वर्णचतुष्टयक्रमेण द्वादश व्यूहा भवन्ति । तदुपर्यवशिष्टस्य हकारस्य द्वादशान्तत्वम्, एवमप्ययक्रमे हकारमारभ्याऽऽकारान्तं व्यूहद्विषट्कानन्तरमवशिष्टस्याऽकारस्य द्वादशान्तत्वमिति भावः ॥ १५४-१५५ ॥

श्री भगवान् से कहा—पूर्वलक्षण से लक्षित यह वर्णाध्वा भिन्न-भिन्न वर्णों वाला शब्द है । वह वर्णाध्वा सृष्टिक्रम से अकारादि सकारान्त है तथा संहार क्रम से हकार से लेकर अकारान्त है, उसका चातुरात्म्य समूह रूप में भावना करे । वह भुवनादि पाँच अध्वा से अलग है और भास्वरध्वनि लक्षण वाला है । इसमें आकार और हकार दोनों द्वादशान्त होने के कारण समान हैं । इसमें आकारादि तथा हकारादि में ४९ वर्ण आते हैं । जिसमें सृष्टिक्रम से अकारादि से लेकर सकारान्त वर्णों में वर्ण चतुष्टय के क्रम से द्वादश व्यूह होते हैं । उसके बाद अवशिष्ट हकार की द्वादशान्त संज्ञा है, इसी प्रकार संहार क्रम में हकार से लेकर आकार पर्यन्त ४, ४ वर्णों के क्रम से १२ व्यूह होते हैं । अवशिष्ट अकार की द्वादशान्त संज्ञा होती है । इस प्रकार दोनों की तुल्यता है ॥ १५१-१५५ ॥

वर्णव्यूहसमूहेऽस्मिन् ज्ञेयं ज्ञानसमाधिना ॥ १५५ ॥
विश्राम उदयो व्याप्तिर्व्यक्तिरा वासुदेवतः ।
अत्रैकैका परिज्ञेया मूर्तिर्वै त्वेवमेव हि ॥ १५६ ॥

युक्तां विश्रामपूर्वेण चतुष्केण समासतः ।
दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थिता ह्येवमेव हि ॥ १५७ ॥
द्विषट्कं धारणानां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम् ।
सोपानभूतं यत् क्रान्त्वा द्वादशान्तं विशेत् परम् ॥ १५८ ॥

तस्मिन् वर्णाध्वन्यकारादिक्रमेण विश्रामादिचतुष्टयेनास्य ज्ञेयत्वं वासुदेवाद्येकैककमूर्तेरपि विश्रामादिचतुष्केण युक्तत्वं दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थितिं तस्यां द्वादशधारणानां द्वादशान्तारोहणे सोपानभूतत्वं चाह—वर्णव्यूहेति सार्धैस्त्रिभिः । आ वासुदेवतो = वासुदेवमारभ्येत्यर्थः । अस्यैकैका मूर्तिरित्यत्रान्वयः । विश्रामो वर्णानां सूक्ष्मावस्थेत्यर्थः । उदयः = पश्यन्त्यवस्था । व्याप्तिर्मध्यमावस्था । व्यक्तिर्वैखर्यवस्था । तथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

शान्तरूपाऽथ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी तथा ।
चतूरूपा चतूरूपं वच्मि वाच्यं स्वनिर्मितम् ॥
वासुदेवादयः सूक्ष्मा वाच्याः शान्तादयः क्रमात् । (१८।२९-३०)

एवं वासुदेवाद्येकैकमूर्तिरपि विश्रामादिचतुष्टयेन युक्ता ज्ञेया । तत्र विश्रामस्तुरीव्यूहावस्था । उदयः = सुषुप्तिव्यूहावस्था । एवं विश्रामादिशब्दवाच्यतुरीयव्यूहावस्थादिचतुष्टयविशिष्टा वासुदेवादिमूर्तिर्विश्रामादिशब्दवाच्यसूक्ष्मावस्थादिचतुष्टयशिष्टेष्वकारादिवर्णेषु दण्डवत्सन्निवेशेन संस्थितेति फलितोऽर्थः । अथवा वर्णानां सूक्ष्माद्यवस्था इदानीं न विवक्षिताः, किन्तु विश्रामादिशब्दैर्वासुदेवामूर्तेस्तुरीयव्यूहावस्थादय एव विवक्षिताः । तासामवस्थानामेकैकस्मिन् वर्णे एकैकावस्थाक्रमेण प्रत्येकं वर्णचतुष्टयेऽवस्थाचतुष्टयं बोध्यम् ।

एवमवस्थाचतुष्टयात्मके वर्णचतुष्टये वासुदेवाद्येकैका मूर्तिर्ज्ञेया । एवं चाकारादिषोडशवर्णानां चतुष्टयचतुष्के जाग्रद्व्यूहवासुदेवादयश्चतस्रो मूर्तयः, (अ?क) कारादिचतुष्टयवर्णानां चतुष्टयचतुष्के स्वप्नव्यूहवासुदेवादयश्चतस्रो मूर्तयः, थकारादिसकारान्तषोडशवर्णानां चतुष्टयचतुष्के सुषुप्तिव्यूहमूर्तयः, एतद्द्वादशान्ते हकारे—

अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत् ।
सर्वक्रियाविनिर्मुक्तममूर्तं परमार्थतः ॥
चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धसंविन्मयं महत् । (५।८१-८२)

इत्युक्तलक्षणा तुरीयव्यूहमूर्तिरित्यर्थो ज्ञेयः । एवं हकाराद्यकारान्तं प्रातिलोम्येनापि ज्ञेयम् । यद्वाऽकारादिवर्णषोडशके व्यक्तिशब्दवाच्या जाग्रदवस्था, ककारादिवर्णषोडशके व्याप्तिशब्दवाच्या स्वप्नावस्था, थकारादिसकारान्तवर्णषोडशके उदयशब्दवाच्या सुषुप्त्यवस्था, द्वादशान्ते हकारे विश्रामशब्दवाच्या तुरीयावस्था । तत्र तत्र तत्तद्व्यूहमूर्तयः पूर्वोक्तक्रमेणैव बोध्याः ।

नन्वत्र भवदुक्तं त्रिविधं व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, जगज्जननीकृतव्याख्याविरोधात् । लक्ष्मीतन्त्रे हि—

वार्णे व्यूहसमूहेऽस्मिन् ज्ञेयं ज्ञानसमाधिना ।
विश्राम उदयो व्याप्तिर्व्यक्तिरा वासुदेवतः ॥
अत्रैकैका परिज्ञेया मूर्तिर्वै त्वेवमेव हि ।
युक्ता विश्रामपूर्वेण चातुष्केण समासतः ॥
विश्रामं चिन्तयेद् देवं वासुदेवं सनातनम् ।
अकारं पुण्डरीकाक्षं पूर्वदेवं सनातनम् ॥
सङ्कर्षणादितत्त्वानि विश्रामन्ति लयेऽत्र हि ।
ततः सङ्कर्षणं देवमाकारामुदयं स्मरेत् ॥
उदितो हि स सर्वात्मा प्रथमं सर्वकृत् स्वयम् ।
व्याप्तिं प्रद्युम्नदेवं तमिकारं परिचिन्तयेत् ॥
त्रिविधं प्राप्यते तेन त्रयीकर्मात्मना जगत् ।
अनिरुद्धं व्यक्तिरूपमीकारान्तमनुस्मरेत् ॥
व्यज्यन्ते शक्तयो ह्यत्र जगत्सृष्ट्यादयोऽखिलाः ।
दण्डवत् सन्निवेशेन संस्थिता ह्येवमेव हि ॥
आ सकाराच्चतूरूपयुक्ता मे चतुरात्मता ।
स्मरेत् प्रभवचिन्तायां हकारं द्वादशान्तकम् ॥
हकारं वासुदेवं तु विश्रामं परिचिन्तयेत् ।
सङ्कर्षणं सकारान्तमुदयं त्वप्यये स्मरेत् ॥
एवमाकारतो दिव्यं चिन्तयेच्चतुरात्मनाम् ।
द्विषट्कं धारणानां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम् ॥
सोपानभूतं यत्क्रान्त्वा द्वादशान्तं विशेत् परम् ।
एषा सा प्रथमा रीतिर्वर्णमार्गस्य दर्शिता ॥ (२०।१३-२३)

इति विश्रामोदयव्याप्तिव्यक्तिशब्दानां वासुदेवादिचतुर्मूर्तिपरत्वं सुस्पष्टं व्याख्यातमिति चेत्, अस्मदुक्तप्राथमिकव्याख्यानस्य लक्ष्मीवचनानुसारित्वमजानन्नेवमात्थ । तत्राकरदिवर्णेषु चतुर्षु वासुदेवादीना चतुर्णां चतुर्णामवस्थानं किमस्माभिर्निरुद्धम्, अपि तु विश्रामादिशब्दानां सूक्ष्मावस्थादिवाचकत्वमस्माभिरुक्तम् । लक्ष्मीतन्त्रे तु तदर्थस्य सुप्रसिद्धत्वात् तद्विवरणं विना वासुदेवादिवाचकत्वं दुर्ज्ञेयं सुस्पष्टं व्याख्यातम् । तावता तेषां शब्दानां वासुदेवादिवाचकत्वमेव, सूक्ष्माद्यवस्थावाचकत्वं न संभवतीति न नियमोऽस्ति, उत्तरत्र ''युक्ता विश्रामपूर्वेण चतुष्केण समासतः'' (लक्ष्मी० २०।१४) इत्यत्र विश्रामादिशब्दानामवस्थावाचकत्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १५५-१५८ ॥

यही वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक एक-एक के क्रम से चार मूर्त्तियाँ हैं । जो विश्राम, उदय, व्याप्ति तथा व्यक्ति इन चारों से क्रमशः युक्त हैं । वर्णों की सूक्ष्म अवस्था विश्राम है, वही वासुदेव हैं । पश्यन्ती अवस्था उदय है, जो सङ्कर्षण हैं । मध्यमावस्था व्याप्ति है, जो प्रद्युम्न हैं । वैखरी अवस्था व्यक्ति है, जो अनिरुद्ध हैं ॥ १५५-१५६ ॥

इस वर्णाध्वा में आकारादि क्रम से विश्रामादि चतुष्टय द्वारा वासुदेवादि व्यूह

ज्ञेय हैं । इनकी संस्थिति दण्ड के समान है । उसमें द्वादश धारणा द्वादशान्त के आरोहण में सोपान के समान है ॥ १५७-१५८ ॥

नीत्वैवं व्यक्तिभावेन हृत्पद्मोदरसंस्थितम् ।
वर्णाध्वानं दीक्षितस्य शब्दब्रह्मेति या स्थितिः ॥ १५९ ॥

एवंभूतस्य वर्णाध्वनः प्रकारः शिष्याय सुव्यक्तमुपदेश्य इत्याह—नीत्वेति । हृत्पद्मोदरसंस्थितम्,

तत्राब्जं चार्कमालम्ब्य परा वाग् भ्रमरी स्थिता ।
या सर्वमन्त्रजननी शक्तिः शान्तात्मनो विभोः ॥
नदन्ती वर्णजं नादं शब्दब्रह्मेति यत् स्मृतम् ।
अकारपूर्वो हान्तश्च धारासन्तानरूपधृक् ॥ (२।६७-६८)

इत्युक्तप्रकारेण हृदयकमलान्तः स्थितमित्यर्थः । अत्र दीक्षितस्येत्येन षडध्वमोचनपर्यन्तस्यैव कर्मणो दीक्षाशब्दाभिधेयत्वं ज्ञायते । एवमेवोक्तं जयाख्यलक्ष्मीतन्त्रादिष्वपि । एतेन सिद्धान्तचन्द्रिकायां दीक्षाशब्दस्य नियमपरिग्रहणवाचित्वमुक्तं निरस्तं भवति, नियमानामुत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १५९ ॥

हृदय रूपी कमलोदर में स्थित इस वर्णाध्वा का गुरु दीक्षित पुरुष को उपदेश करे । जिसकी शब्द ब्रह्म रूप से प्रतिष्ठा है ॥ १५९ ॥

संसेच्य हुतभुग्भूमिं प्राणीतेनोदकेन तु ।
सह शिष्येण चात्मानं तेनैवाच्छिद्रसिद्धये ॥ १६० ॥
पूर्ववद् भूतिना कृत्वा लक्ष्म चाग्निं प्रणम्य च ।
समुत्थाय ततो यायात् तं गृहीत्वाऽच्युतालयम् ॥ १६१ ॥

अथ प्रणीतोदकेन कुण्डादिसेचनं भस्मना तिलकधारणम् अग्निप्र(माणा?-णामा)दिकं मण्डलस्थस्य बिम्बस्थस्य वा भगवतोऽभ्यर्चनपूर्वकं तत्सन्निधौ शिष्याय नियमोपदेशं मानसाराधनक्रममुद्रान्यासध्यानसमन्वितमन्त्रोपदेशम् आराधनादीनामितिकर्तव्यताक्रमोपदेशं स्वसमक्षमेव शिष्येण भगवदाराधनाद्यनुष्ठापनं गुर्वर्चनं शिष्यस्य मस्तके मन्त्रोदकसेचनम् आशीर्वचनपूर्वकं तन्मस्तके मन्त्रहस्तदानमाशीर्वचनप्रकारं चाह—संसेच्य हुतभुग्भुतमित्यारभ्य मोक्षलक्ष्मीसमन्वितेत्यन्तम् । तवास्तु वैभवी सिद्धिरित्यत्र व्यूहदीक्षायां तवास्तु व्यूहसंसिद्धिरिति, ब्रह्मदीक्षायां तवास्तु ब्रह्मसंसिद्धिरिति योज्यम् । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते व्यापकमन्त्रदीक्षाप्रकारणात्—''तवास्तु विभवादीनां सिद्धिर्मोक्षश्रियान्विता'' इति प्रतिपादितम् ।

ननु केवलं परव्यूहविभवदीक्षात्रयमत्र प्रतिपादितम्, व्यापकमन्त्रदीक्षानुष्ठाने किं मूलम्, तावतैकमन्त्रेण विभवादिसर्वदेवीया सिद्धिः कथं जायत इति चेत्, अस्ति तत्र च सात्वतोपबृंहणमीश्वरतन्त्रं पाद्मादिकं च मूलम्, एकमन्त्रस्यापि व्यापकत्वेन विभवादिसर्वदेवाविष्कृतत्वात् । तेन सर्वदेवीया सिद्धिर्निरङ्कुशां सिद्ध्यतीति बोध्यम् ।

ननु सिद्ध्यतुनाम तादृशी सिद्धिः, तदानीं व्यापकमन्त्र एव तद्दीक्षितस्याधिकारः। नहि विभवादिदीक्षां विना तत्तन्मन्त्रेष्वधिकारः सिद्ध्यतीति वाच्यम्, तेनैव सर्वदीक्षाणां चारितार्थ्यात् । तथा चैश्वरे तन्त्रे—

एवं दीक्षात्रयं चापि दद्यादेकस्य वा क्रमात् ।
सर्वाराधनयोग्यत्वसिद्धये मुनिपुङ्गवाः ॥
यद्वाऽष्टाक्षरमन्त्रादौ व्यापकत्रितये द्विजाः ।
शक्तिभूषणवाहास्त्रमन्त्रांश्चोपदिशेद् गुरुः ॥ इति ।

—(२१।४६०-४६१, ४६३)

पाद्मेऽपि—

ध्यात्वा च दक्षिणे कर्णे शिष्यस्य प्रणवान्वितम् ।
मन्त्रं दद्यादृषिच्छन्दोदैवतं चाङ्गमेव च ॥
द्वादशाक्षरमादौ तु पश्चादष्टाक्षरात्मकम् ।
मूर्तिमन्त्रांश्च तदनु समध्याप्य यथाविधि ॥

इति व्यापकमन्त्रदीक्षाप्रकरण एव समस्तमूर्तिमन्त्राणामप्युपदेशः प्रतिपादितः । एवं च यथा प्रधानमन्त्रदीक्षायाः शक्तिभूषणवाहनास्त्रमन्त्रेष्वप्यधिकारः सिद्ध्यति, तथा व्यापकमन्त्रदीक्षयैव विभवादिमन्त्रेष्वधिकारः सिद्ध्यतीति ज्ञेयम् ॥ १६०-१६८ ॥

फिर गुरु निर्विघ्नता सिद्धि के लिये शिष्य के साथ प्रणीता के जल से अग्निकुण्ड का सेचन कर अपने को भी संसिक्त करे । भस्म का तिलक धारण करे और अग्नि को प्रणाम करे । मण्डलस्थ अथवा विम्बस्थ भगवान् का अभ्यर्चन करे ॥ १६०-१६१ ॥

पूजयित्वा जगन्नाथं निवेद्य नियमान् शिशोः ।
सविशेषान् समासेन सान्तरान् योग्यतावशात् ॥ १६२ ॥

फिर वहीं अग्निकुण्ड के समीप सविशेष अथवा संक्षेप में योग्यता के अनुसार शिष्य को नियमोपदेश करे ॥ १६२ ॥

यथावदुपदेष्टव्यं ततस्तस्यार्चनं हृदि ।
मुद्रासमन्वितो मन्त्री न्यासध्यानपुरस्सरः ॥ १६३ ॥
इतिकर्तव्यताशास्त्रसंक्षिप्ता च सविस्तरा ।
तत्समक्षं ततस्तेन सर्वं कार्यं यथास्थितम् ॥ १६४ ॥
गुर्वर्चनं ततः कुर्यादात्मना च धनादिना ।
पूरयित्वाऽम्भसा पाणिमर्घ्यपात्रात् तु दक्षिणम् ॥ १६५ ॥
षडङ्गमन्त्रसंजप्तं क्षेप्तव्यं तस्य मस्तके ।
मण्डलं प्रणवेनाथ पाणौ सूर्यप्रभं स्मरेत् ॥ १६६ ॥

फिर मनसाराधन क्रम, मुद्रा, न्यास, ध्यान समन्वित मन्त्रोपदेश, आराधनादि की इतिकर्त्तव्यता के क्रम का उपदेश करे। फिर अपने ही सामने शिष्य से भगवदाराधनादि अनुष्ठान, अपने को स्वयं अर्पण तथा धनादि द्वारा गुर्वर्चन करावे। तदनन्तर गुरु स्वयं अर्घ्यपात्र का जल अपने दाहिने हाथ में लेकर षडङ्गमन्त्र का जप करते हुए शिष्य के मस्तक पर प्रक्षिप्त करे। फिर अपने हाथ में सूर्य की किरणों के समान देदीप्यमान मण्डल का स्मरण करे ॥ १६३-१६६ ॥

तत्राभिन्नं न्यसेत् प्राग्वद् वैभवं देवतागणम्।
कृत्वा धियार्चितं दद्यात् साशिषं तस्य मूर्धनि ॥ १६७ ॥
यथोक्ता च यथाभीष्टा त्वचिरादेव पुत्रक।
तवास्तु वैभवी सिद्धिर्मोक्षलक्ष्मीसमन्विता ॥ १६८ ॥

फिर उससे अभिन्न वैभवीय देवतागणों का शिष्य के शरीर में न्यास करे। मानस अर्चन कराकर उसके शिर पर इस प्रकार आशीर्वाद देवे। हे पुत्र! जैसा कि कहा गया है और जैसा आपको अभीष्ट भी है वैसी मोक्ष लक्ष्मी-समन्वित 'वैभवी सिद्धि' आपको प्राप्त हो ॥ १६७-१६८ ॥

इति वैभवदीक्षाया लक्षणं समुदाहृतम्।
तत्प्रयुक्तस्य सामान्यं सर्वमन्त्रगणस्य च ॥ १६९ ॥

अथोक्तमर्थं निगमयति—इतीति।
तत्प्रयुक्तस्य वैभवार्चनासक्तस्य शिष्यस्येत्यर्थः। सर्वमन्त्रगणस्य पद्मनाभादि-पातालशाय्यन्तविभवदेवमन्त्रसमूहस्येत्यर्थः ॥ १६९ ॥

हे सङ्कर्षण! यहाँ तक हमने वैभवदीक्षा का लक्षण आपसे कहा। उनमें सामान्य रूप से प्रयुक्त होने वाले सभी मन्त्रों को भी कहा गया है ॥ १६९ ॥

येन येन हि मन्त्रेण दीक्षा कार्या हि कस्यचित्।
तस्य तस्य तदीयानां पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥ १७० ॥
कार्योऽत्रावयवानां तु विनियोगो यथोदितः।
समूहवद् हृदादीनां मूलान्तानां समाचरेत् ॥ १७१ ॥
सह तत्त्वगणेनैव सर्वदाऽध्यात्मरूपताम्।
समभ्यूह्य ततः कुर्यात् प्राग्वदभ्यर्चनं तु वै ॥ १७२ ॥

एतेषु विभवमन्त्रेष्वेकैकेनैव मन्त्रेण यस्य दीक्षाऽभिमता तस्य तादृशदीक्षायां विशेषानाह—येनेति त्रिभिः। अवयवानामङ्गमन्त्राणामित्यर्थः। समूहवत् पातालशयनादिपद्मनाभान्तसमूहवदित्यर्थः। एकमन्त्रदीक्षाप्रकरणात् पृथिव्यादिसप्तके पूर्वोक्त-विभवदेवसमूहं विना तत्स्थाने हृन्मन्त्रादिमूलमन्त्रान्तानां सप्तानां विनियोगः कार्य इति फलितोऽर्थः ॥ १७०-१७२ ॥

जिस-जिस मन्त्र से जिस-किसी को दीक्षा देनी हो उस-उस मन्त्र, छन्द, देवता, ऋषि तथा कार्यों का उद्देश कर उसके अवयवभूत हृदादि छः अङ्गों का तथा मूलमन्त्र का विनियोग अवश्य करे ॥ १७०-१७२ ॥

नेत्रकर्मणि हृद्बीजं पञ्चाङ्गानां विधीयते ।
निरङ्गानां तु मन्त्राणामङ्गमन्त्रोक्तकर्मणाम् ॥ १७३ ॥
प्रणवो विनियोक्तव्यः सह कर्मपदेन तु ।

पञ्चाङ्गमन्त्रदीक्षायां निरङ्गमन्त्रदीक्षायां च गतिमाह—
नेत्रेति सार्धेन ॥ १७३-१७४ ॥

पञ्चाङ्ग मन्त्र की दीक्षा नेत्रकर्म में हृद्बीज का प्रयोग करे । निरङ्गमन्त्र दीक्षा में कर्म के साथ केवल प्रणव (ॐ) का प्रयोग करे । इस प्रकार व्यूह दीक्षा चाहने वालों के लिये इस प्रकार की विधि सम्पादन करनी चाहिये ॥ १७३-१७४ ॥

व्यूहदीक्षायां विशेषकथनम्

सम्पाद्या विधिनानेन व्यूहदीक्षाऽर्थिनां सदा ॥ १७४ ॥
किन्तु वै तत्र योक्तव्यं प्रत्येकस्मिन् हि कर्मणि ।
चतुष्कं वासुदेवाद्यं बीजानां यत् पुरोदितम् ॥ १७५ ॥

व्यूहदीक्षायां विशेषमाह—सम्पाद्येति सार्धेन । पुरोदितम् अष्टमे परिच्छेदे "सान्तं षष्ठस्वरारूढम्" (८।१०) इत्यादिभिः प्रतिपादितमित्यर्थः ॥ १७४-१७५ ॥

अब **व्यूह दीक्षा में विशेष** कहते हैं—व्यूह दीक्षा के प्रत्येक कर्म में वासुदेवादि के चारों बीजों का प्रयोग करे । (द्र. ८.१०) ॥ १७५ ॥

ब्रह्मदीक्षायां विशेषकथनम्

एवमेवाद्यमन्त्रस्तु निःशेषः कर्मसंग्रहे ।
योक्तव्यो ब्रह्मदीक्षायां षोढा भक्त्वा च पूर्ववत् ॥ १७६ ॥
स्वरूपेण यथावस्थमुक्तेष्ववसरेषु च ।
किन्त्वेकवचनेनात्र देवानां प्रार्थना मता ॥ १७७ ॥
योजना त्वधिवासोक्ता विज्ञातव्या समासतः ।

ब्रह्मदीक्षायां विशेषानाह—एवमेवेति सार्धद्वाभ्याम् । आद्यमन्त्रस्य षोढा विभजनप्रकारस्तु द्वितीयपरिच्छेद (२।३२-३५) एव प्रदर्शितः । एकवचनेन प्रार्थना "युष्मत्प्रसादसामर्थ्यात्" (१९।१०१) इत्यादिस्थलेषु ज्ञेया ।

नन्वत्र देवानामिति बहुवचनमस्ति, कथं तेषामेकवचनेन प्रार्थनेति चेत्, सत्यम् । तत्रापि चातुरात्म्यसत्त्वाद् बहुवचनमुक्तम् । तथापि—

अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत् ।

सर्वक्रियाविनिर्मुक्तममूर्तं परमार्थतः ॥
चातुरात्म्यं तदाद्यं वै शुद्धं संविन्मयं महत् । (५।८१-८२)

इत्यादिमूर्तेरेव प्राधान्यादेक एव मन्त्र उक्तः, एकवचनेनैव प्रार्थनेति बोध्यम् । अधिवासोक्ता योजना नाम,

ओमादिश जगन्नाथ सर्वज्ञ हृदयेशय ।
तत्राहं योजयाम्येनं यत्कर्म त्वत्परायणम् ॥ (१८।२३२)

इत्येवंरूपेत्यर्थः । इयं योजना ज्ञातव्या एतद्दीक्षाविषयत्वेन बोध्याऽनेनेत्यर्थः, एकवचनप्रयोगात् । एतेन व्यूहदीक्षायां विभवदीक्षायां च तस्मिन् योजनाश्लोके बहुवचनं योज्यमित्यर्थात् सिद्धम् । तत्राप्येकैकमन्त्रेणैव दीक्षायामेकवचनेनैव प्रार्थना-योजनादिकं कार्यम् । अत एवास्मत्तातपादैः सात्वतामृते युष्मत्प्रसादसामर्थ्यादिति प्रार्थनाश्लोके त्वत्प्रसादस्य सामर्थ्यदित्येकवचनं प्रयुक्तम् ।

ननु सात्वतामृते व्यापकमन्त्रदीक्षा प्रतिपादिता । व्यापकमन्त्रस्य परव्यूह-विभवाख्यसर्वदेवविषयत्वं भवतैवोक्तम् । तादृशमन्त्रदीक्षायां सर्वे देवा अपि प्रार्थ्याः । तथा सति कथमेकवचनं समञ्जसं भवतीति चेत्, ब्रूमः—यथैक एव मन्त्रः सर्वान् विषयीकरोति, तथैकवचनमपीति बोध्यम् । अत एव हि पाद्मेऽष्टाक्षरकल्पे द्वादशा-क्षरकल्पे चैकवचनेनैव ध्यानमुक्तम्—"चतुर्बाहुमुदाराङ्गम्" इत्यादिभिः ।

ननु तर्ह्यष्टाक्षरेण परव्यूहविभवार्चनप्रकरणे सर्वत्र पाद्मोक्तध्यानमेवानुसरणीयं किमिति चेतुच्यते, अष्टाक्षरेण तेषामर्चनप्रकारेण सामान्यतः पाद्माद्युक्तप्रकारेण वा विशेषाकारेण वा ध्येयम् । तत्र न विवादः । अत एव हीश्वरपारमेश्वरयोर्व्यापकमन्त्रे-णैवार्चने उक्तेऽपि तत्तद्दिव्यदेशस्थितमूर्तिध्यानमेव प्रतिपादितम् ॥ १७६-१७८ ॥

अब **ब्रह्म दीक्षा की विशेषता** कहते हैं—ब्रह्म दीक्षा में कर्म संग्रह में आद्य मन्त्र का छः विभाग कर पूर्ववत् योजना करे । (आद्य मन्त्र के षोढा विभाजन का प्रकार द्र. २.३२-३५) ॥ १७६ ॥

उक्त अवसरों पर देवताओं के स्वरूप पर होने के कारण एक वचन से ही प्रार्थना करे । (यथा युष्मत्प्रसादसामर्थ्यादित्यादि द्र.१९.१०१) ॥ १७७ ॥

अधिवास प्रकरण में संक्षेप में योजना कह दी गयी है । उसे वहीं से समझ लेना चाहिये । यथा—

ओमादिश जगन्नाथ सर्वज्ञ हृदयेशय ।
तत्राहं योजयाम्येन यत्कर्म त्वत्परायणम् ॥ (द्र. १८.२३२)

यह योजना दीक्षा विषयक है ऐसा समझना चाहिये । 'व्यूह दीक्षा' तथा 'ब्रह्म दीक्षा' इन दोनों का केवल मोक्ष के अतिरिक्त और कोई फल नहीं है ॥ १७८ ॥

नित्यदीक्षाद्वयस्यास्य नान्यन्मोक्षादृते फलम् ॥ १७८ ॥
तत्रापि चातुरात्मीया दीक्षा प्राक् कमलेक्षण ।

बलाद् ददाति षाड्गुण्यभोगाप्तिं भावितात्मनाम् ॥ १७९ ॥
फलं स्रक्चन्दनादीनां होमद्रव्यस्य चापि यत् ।
प्रकृत्या सह चाभ्येति विलयं ब्रह्मदीक्षया ॥ १८० ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां दीक्षाविधिर्नाम
एकोनविंशः परिच्छेदः ॥ १९ ॥

— ❀ —
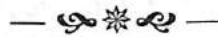
किं बहुना व्यूहब्रह्मदीक्षयोः केवलमोक्षप्रदत्वेऽपि तत्रैहिकफलानामप्यानुषङ्गिकत्वमस्तीत्याह—नित्येति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १७८-१८० ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये एकोनविंशः परिच्छेदः ॥ १९ ॥

— ❀ —

फिर भी हे कमलेक्षण ! चतुरात्मीया दीक्षा परमेश्वर की आराधना करने वालों को हठात् षाड्गुण्य और भोगों की प्राप्ति कराती है । इसी प्रकार ब्रह्म दीक्षा से फल, माला, चन्दन तथा होम द्रव्य की प्रकृतिवशात् ईश्वराराधक को प्राप्त होते रहते हैं और पुनः ब्रह्मदीक्षा से विलीन हो जाते हैं ॥ १७९-१८० ॥

**॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के दीक्षाविधि
नामक उन्नीसवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ १९ ॥**

— ❀ —

विंशः परिच्छेदः

अभिषेकविधिः

नारद उवाच

दीक्षालक्षणमुक्त्वैवं सीरिणं चाथ चक्रभृत् ।
यथावच्च मुनिश्रेष्ठाः पुनरेवाऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

अथ विंशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । भगवानेवं दीक्षालक्षणमुक्त्वा पुनरभिषेकमुपदिशतीत्याह—दीक्षेति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे श्रेष्ठ मुनियो ! चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण ने हलधर भगवान् सङ्कर्षण से इस प्रकार यथावत् दीक्षा के लक्षणों को कहने के बाद पुनः कहा ॥ १ ॥

अभिषेककालकथनम्

अथ मण्डलदृष्टस्य शास्त्रज्ञस्य यथार्थतः ।
समाराधनसक्तस्य पुत्रकत्वं गतस्य च ॥ २ ॥

अभिषेकेऽधिकारिणं तत्प्रयोजनं कालं चाह—अथेति द्वाभ्याम् । मण्डलदृष्टस्य दृष्टमण्डलस्येत्यर्थः, समयनिष्ठस्येति यावत् । "लब्धदर्शनमात्रो वै मन्त्रमूर्तेस्तु मण्डले" (२२।१४) इति समयनिष्ठस्य लक्षणं वक्ष्यति । शास्त्रज्ञस्य तदनन्तरं शास्त्रव्यवसायपरस्येत्यर्थः,

ततः प्रभृति कालाच्च सुप्रश्नाच्च सुदेशिकात् ॥
पाठपूर्वं हि शास्त्रार्थमभ्यर्थयति योऽनिशम् । (२२।१५-१६)

इति वक्ष्यमाणत्वात् । पुत्रकत्वं गतस्य "विज्ञाता गुरुणा यस्य" (२२।२९) इत्यारभ्य, "स शिष्यः पुत्रको नाम स्वपुत्रादधिकः सदा" (२२।३८) इत्यन्तं वक्ष्यमाणलक्षणविशिष्टस्येत्यर्थः । समाराधनसक्तस्य "पूर्ववल्लब्धदीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः" (२२।३९) इत्यादिक्रमेण वक्ष्यमाणलक्षणविशिष्टस्येत्यर्थः । एवं मण्डलदृष्टस्येत्यादिविशेषणचतुष्टयविशिष्टस्य शिष्यस्य तत्कालं दीक्षानन्तरमेवाभिषेचनं कार्यमिति फलितार्थः ।

नन्वेतदभिषेचनं विशेषणविशिष्टस्येति किं नियामकम्, समयिनः = पुत्रकस्य साधकस्य वाऽभिषेकः कार्य इत्यर्थः सरसः । यतः श्रीजयाख्ये—

सेनापतिक्रमेणैव समयज्ञस्य सर्वदा ।
महामन्त्रित्वविधिना पुत्रकस्याभिषेचनम् ॥
युवराजविधानेन दातव्यः साधकस्य तु ।
राजोपचारविधिना अभिषेको गुरोः स्मृतः ॥ (१८।३४-३५)

इति सामयिकादीनां चतुर्णामप्यभिषेकः प्रतिपादित इति चेत्, ब्रूमः—जयाख्ये तेषां प्रत्येकमभिषेकप्रयोगभेदाश्च प्रतिपादिताः । अत्र तु केवलमाचार्याभिषेकविधानमुक्तम् । अतोऽस्मदुक्तार्थ एव सरसः । न च तर्हि विशेषणानां वैय्यर्थापत्तिः, समाराधनसक्तस्येत्येतावन्मात्रेणैव चारितार्थ्यादिति वाच्यम्, तत्तत्सर्वगुणविशिष्टस्यैवाभिषेकार्हत्वोक्त्या सामर्थ्यात् । किञ्च, अत्र वक्ष्यमाणेषु समयिपुत्रकसाधकलक्षणेषु जयाख्यवदभिषिक्तत्वं कुत्रापि न वक्ष्यति । आचार्यलक्षणेष्वेव—"लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तस्त्वभिषिक्तो विशेषतः" (२२।४४) इत्यभिषिक्तत्वं वक्ष्यति । अत एवैतदुपबृंहणेश्वरतन्त्रे—

इत्येवमभिषेकस्तु भवेन्मुख्याधिकारिणाम् ॥
अन्ये तु दीक्षामात्रेण संस्कार्या मुनिपुङ्गवाः । (२१।५०३-५०४)

इति सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । पाद्मोऽपि—

शिष्यं सुतं वा सर्वज्ञमनसूयुं जितेन्द्रियम् ।
आचार्यवंशजन्मानं निग्रहानुग्रहक्षमम् ॥
शान्तिके पौष्टिके चैव कर्मणि क्षममर्थिनाम् ।
वेदवेदान्ततत्त्वज्ञमाचार्यपदकाङ्क्षिणम् ॥
देशिकेन्द्रो विधानेन वक्ष्यमाणेन तत्त्ववित् ।
कर्षणादिषु सर्वेषु विधानेष्वधिकारिणम् ॥
कुर्यान्मण्डलपूजादि कुम्भयागावसानिकम् ॥

इत्याचार्यवंशजानामेवाभिषेकः प्रतिपादितः, तेषामेव कर्षणादिष्वधिकारश्च ॥२॥

सिद्ध्यर्थं सर्वमन्त्राणामधिकाराप्तये तु वा ।
तत्कालं गुरुणा कार्यं सच्छिष्यस्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥

ननु तर्हि जयाख्ये चतुर्वर्णानां चतुराश्रमिणां चतुर्विधशिष्याणां चाभिषेकः प्रतिपादितः । तत्र का गतिरिति चेत्, दत्तोत्तरमेतत् । जयाख्यनिष्ठानां सर्वेषामपि तारतम्येनाभिषेकः स्यात् । एतस्मिन्नाचार्याभिषेकमात्रस्योक्तत्वात् साधकाद्यभिषेकविधानानामनुक्तत्वाच्चैतन्निष्ठैराचार्याभिषेकमात्रमनुष्ठेयम् । यद्वा—अनुक्तमन्यतो ग्राह्यमिति न्यायेन साधकाभिषेकाद्यनुष्ठानेऽपि न प्रत्यवायः ॥ ३ ॥

अब समय निष्ठ तदनन्तर (द्र. २२.१४) शास्त्र के व्यवसाय में निरस पुत्रता को प्राप्त होने वाले (पुत्रक लक्षण २२.३८ द्र.) समाराधन में आसक्त (द्र.

२२.३९), अथवा चारों से विशिष्ट शिष्य का, सभी मन्त्रों की सिद्धि के लिये, अथवा सभी मन्त्रों पर अधिकार प्राप्ति के लिये, दीक्षा के अनन्तर तत्काल उनका अभिषेक कर देना चाहिये ॥ २-३ ॥

अथाभिषेकविधानम्

भगवत्तत्त्ववेत्तॄणां पञ्चकालरतात्मनाम् ।
संहितापारगाणां च आचार्याणां च सन्निधौ ॥ ४ ॥
यतीनां बद्धलक्ष्याणां साधकानां महात्मनाम् ।
देवस्य पुरतः कुर्याच्चतुरश्रं तु मण्डपम् ॥ ५ ॥
सर्वोपकरणोपेतं मध्ये भद्रासनान्वितम् ।
तस्मिन् कुर्यादनन्ताद्यं सन्धानं त्वासनोदितम् ॥ ६ ॥

अथाभिषेकविधानमाह—भगवत्तत्त्ववेत्तॄणामित्यारभ्य पूर्णान्तं चाग्निमध्यगमित्यन्तम् । देवस्य पुरत इत्यत्र मण्डलस्थस्य बिम्बस्थस्य वा देवस्येत्यर्थः । अनन्ताद्यमित्यत्राद्यपदेन धर्मज्ञानादयः संग्राह्याः । अष्टाङ्गेन अष्टोपचारैरित्यर्थः । वैष्णवं कुम्भं दीक्षार्थं स्थापितं महाकुम्भमित्यर्थः ।

ननु दीक्षार्थं स्थापितं महाकुम्भमिति कोऽयं नियमः । यतो जयाख्यपाद्मयोरभिषेकार्थं पृथक् कुम्भस्थापनमुच्यत इति चेन्न, अत्र पृथगनुक्तत्वात्, महाकुम्भस्य विनियुक्तात्वादेवोत्तरत्र—'क्षान्त्वा यथोक्तविधिना सकुण्डान्मण्डलान्तरात्' (२०।१९) इति केवलकुण्डमण्डलाभ्यामेव भगवद्विसर्जनस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च ।

ननु साधकस्य खल्वाचार्याभिषेकः कार्यः । साधकलक्षणं तु—"पूर्ववल्लब्धदीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः" (२२।३९) इत्यादि वक्ष्यति । जयाख्येऽपि—

मन्त्रसिद्धिस्तु वै यस्य विज्ञाता गुरुणा यदा ।
गुरुणा वै सोऽभिषिक्तस्ततः शिष्यः प्रसादतः ॥ (१७।४६)

इति प्रतिपाद्यते । एवं दीक्षानन्तरं मन्त्रसिद्ध्यर्थं बहुकालमनुष्ठितव्रतस्य साधकस्य दीक्षार्थं स्थापितमहाकुम्भेनैवाभिषेकः कथं संघटते । अतोऽभिषेककालेऽपि कुम्भमण्डलाग्निष्वर्चनं कार्यम् । तदातनमहाकुम्भेनैवाभिषेकः सरस इति चेत्, स्थूलमनीषोऽसि । किमेकं शिष्यमुद्दिश्यैव दीक्षाप्रारम्भः क्रियते? बहूनुद्दिश्य क्रियमाणे दीक्षाक्रमे कांश्चित् समये नियोजयति, समयिनः पुत्रकपदे नियोजयति, पुत्रकान् साधकपदे नियोजयति, साधकानाचार्यपदेऽभिषेचयतीति सूक्ष्मदृष्ट्या द्रष्टव्यम् । नृसिंहदीक्षाप्रकरणे—

ततः शुचीन् सोपवासान् शोधितान् बद्धलोचनान् ॥
भक्तान् प्रवेशयेत् तत्र गृहीतकुसुमांस्तु वै । (१७।११५-११६)

इति बहूनां युगपद्दीक्षाक्रममुक्तं किं न श्रुतवानसि । अन्यथा—"तत्कालं गुरुणा कार्यं सच्छिष्यस्याभिषेचनम्" (२०।३) इत्युक्तः कालः संभवेत् । एकमेवो-

दि्दश्य क्रियमाणदीक्षाक्रमेऽपि भगवदनुग्रहवशात् सद्यस्तन्मन्त्रसिद्धिलिङ्गदर्शनादौ तत्काल एवाभिषेकोऽपि संभवत्येव ।

> प्रक्षेपयेन्मण्डलान्तर्नेत्रबन्धं विमुच्य च ॥
> अष्टाङ्गप्रणिपातैस्तु प्रदक्षिणयुतैस्ततः ।
> देवश्चाग्निर्गुरुः कुम्भः पूजनीयः पुनः पुनः ॥
> तत्कालं भक्तिभावेन विज्ञाता योग्यता यदा ।
> तीव्रमन्दधियां तेषां तदा दीक्षां समाचरेत् ॥ (१७।११६-११८)

इति समयिपुत्रकाणां भक्त्यतिशये तीव्रबुद्धित्वे च तदानीमेव दीक्षाचरणं सुस्पष्टं प्रतिपादितं हि ।

ननु पुत्रकाणां दीक्षाचरणकथनं तत्र किं साधकामिति चेत्, जरकुड्य-दुःशङ्कापरिहरणं चतुर्मुखस्याप्यशक्यम् ।

> कृत्वा निरीक्षणाद्यं च देवधाम्नि तु क्षेपयेत् ।
> तुष्टो मन्त्रमयं सम्यक् सार्घ्यपुष्पाहिताञ्जलिः ॥ (२२।३१)

इति वक्ष्यमाणलक्षणानुसारेण पुष्पाञ्जलिप्रक्षेपाद्यनन्तरं हि पुत्रकत्वं सिद्ध्यति । तदा पुत्रकपदारूढस्यापि तदानीमेव दीक्षाचरणकथनं तत्र साधकं (कथं) न भवेत्, "सिद्धये द्रुतहेमाभम्" (२०।११) इत्युक्तत्वात् । "ध्यात्वा तं स्फटिकामलम्" (२०।१२) इत्यत्र मुक्तय इति ज्ञेयम् । "स्वाहान्तं भोगसिद्ध्यर्थं नमोऽन्तं मोक्ष-सिद्धये" (१९।८५) इति पूर्वमेवोक्तं हि । यथार्हदण्डसहितं तत्तद्वर्णाश्रमविहितदण्ड-मित्यर्थः । एतेन "काषाये क्षौमवाससी" (२०।१७) इत्यपि व्याख्याते ॥ ४-१८ ॥

साधक को भगवत्तत्त्व वेत्ताओं के एवं पञ्चकाल भगवान् में निरतात्मा लोगों के तथा संहिता का मर्म जानने वालों के सन्निधान में यह अभिषेक क्रिया करनी चाहिये ॥ ४ ॥

इसी प्रकार अपने लक्ष्य का ध्यान करने वाले यतियों तथा साधकों के सन्निधान में भी यह अभिषेक क्रिया की जानी चाहिये । देवाधिदेव के सामने चौकोर मण्डप का निर्माण करना चाहिये । उस मण्डप को अभिषेक के लिये उपयुक्त समस्त उपकरणों से युक्त करना चाहिये । उसके मध्य में भद्रासन का निर्माण करे । उसमें अनन्तादि धर्मादि के लिये आसनादि निर्माण करे ॥ ५-६ ॥

> **पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पाद्यैस्ततो देवस्य सम्मुखम् ।**
> **बद्धपद्मासनं शिष्यं तत्रारोप्य कृताञ्जलिम् ॥ ७ ॥**
> **कान्ताभिर्गीयमानं तु स्तूयमानं च वन्दिभिः ।**
> **शङ्खाद्यैर्ध्मायमानं तु पाठ्यमानं तु मङ्गलैः ॥ ८ ॥**
> **जपमानं परं मन्त्रं ध्यायमानमिवाच्युतम् ।**
> **अष्टाङ्गेनार्चयित्वा तु कुम्भमादाय वैष्णवम् ॥ ९ ॥**

स तत्रस्थेन मन्त्रेण सम्यक् सिद्धिव्यपेक्षया ।
सहस्रावर्तितं कृत्वा शतावर्तितमेव वा ॥ १० ॥

तदनन्तर देवाधिदेव के सामने अर्घ्य पुष्पादि से पद्मासन पर बैठे हुए शिष्य की पूजा कर हाथ जोड़े हुए शिष्य को उस मण्डप में आरोपित करे । उस समय सौभाग्यवती सुन्दर स्त्रियाँ गान करें, बन्दी लोग स्तुति करें, अन्य लोग शङ्ख बजावें, मङ्गल पाठ करें, कोई पर-मन्त्र का जप करे और कोई अच्युत का ध्यान करे । तदनन्तर वैष्णव कुम्भ के द्वारा अष्टाङ्ग से उसकी अर्चना करनी चाहिये । तदनन्तर वह आचार्य शिष्य सिद्धि की अपेक्षा रखते हुए तत्रस्थ मन्त्र का एक सहस्र संख्या में अथवा शत संख्या में जप करे ॥ ७-१० ॥

सिद्धये द्रुतहेमाभं स्मृत्वा तमभिषिच्य च ।
स्वाहान्तमन्त्रमुच्चार्य प्लुतं हृत्कमलोदरात् ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा नमोऽन्तं तु ध्यात्वा तं स्फटिकामलम् ।
समुत्कीर्य खरन्ध्रेण तस्य हृत्पद्मगं स्मरेत् ॥ १२ ॥

सिद्धि के लिये तपाये हुए काञ्चन वर्ण के समान मन्त्र का स्मरण करना चाहिए । तदनन्तर साधक हृत्कमलोदर से निकले हुए स्वाहान्त मन्त्र का उच्चारण कर अभिषेक करे । फिर स्फटिक के समान अमल मोक्ष का नमोऽन्त उच्चारण कर, उसे आकाश मण्डल से, शिष्य के हृदय रूपी पद्म में स्थापित कर, स्मरण करे ॥ ११-१२ ॥

चिच्छक्तिविग्रहं ब्रह्म त्वाह्लानन्दलक्षणम् ।
समारोप्य धिया सम्यक् स्वाधिकारं तु चाखिलम् ॥ १३ ॥
प्रतिपाद्यार्चितं शुद्धं दिव्यमागमसञ्चयम् ।
शुभमाराधनाधारमक्षसूत्रं च किङ्किणीम् ॥ १४ ॥
स्रुक्स्रुवौ योगपट्टं च शङ्खचक्रे कमण्डलुम् ।
चमसं सार्घ्यपात्रं च दर्भान् कृष्णाजिनं ततम् ॥ १५ ॥
पादुके पादपीठं च च्छत्रमासनदर्पणम् ।
मायूरं व्यजनं शुक्लं चामरं भगवद्ध्वजम् ॥ १६ ॥
यथार्हदण्डसहितं काषाये क्षौमवाससी ।
समुत्थाप्यासनात् सर्वमाहृत्य स्नानजं जलम् ॥ १७ ॥
विनिक्षिप्य शुचौ स्थाने देवमभ्यर्च्य वै ततः ।
तादर्थ्येन तु सन्तर्प्य पूर्णान्तं चाग्निमध्यगम् ॥ १८ ॥

अपनी बुद्धि से आह्लाद, आनन्द लक्षण वाले, चित् शक्ति विग्रह से युक्त परब्रह्म को उसके हृदय में स्थापित करे । अपना समस्त अधिकार प्रदान करे । अपने में सञ्चित शुभ, शुद्ध, दिव्यागम तथा आराधना का आधारभूत अक्षसूत्र, किङ्किणी, स्रुक् स्रुवा, योगपट्ट, शङ्ख, चक्र, कमण्डल, अर्घ्यपात्र सहित चमस, कुश समूह, विस्तृत कृष्णाजिन, दो पादुका, पादपीठ, छत्र, आसन, दर्पण, मयूर पिच्छ का व्यजन, शुक्लवर्ण का चामर, भगवद् ध्वज, आश्रमानुसार दण्ड, दो काषायवर्ण के दो क्षौमवस्त्रादि एकत्र कर अपने आसन से उठकर शिष्य को प्रदान करे । फिर स्नानार्थ जल स्थापित करे । तदनन्तर शुचि स्थान में देवाधिदेव की पूजा करे । उन देवाधिदेव की तृप्ति के लिये तर्पण करे तथा अग्नि के मध्य में पूर्णाहुति करे ॥ १३-१८ ॥

क्षान्त्वा पूर्वोक्तविधिना सकुण्डान्मण्डलान्तरात् ।
अर्घ्यपात्रसमूहाच्च बलिदानं समाचरेत् ॥ १९ ॥
सोदकेन च भूतानामोदनेनास्त्रमुच्चरन् ।
बलिमण्डलकं कृत्वा यागागाराच्च बाह्यतः ॥ २० ॥

अथ कुण्डान्मण्डलादर्घ्यादिपात्रसमूहाच्च मन्त्रोपसंहारं बलिदानक्रमं चाह— क्षान्त्वेति चतुर्भिः । भूतानां = कुमुदादीनामित्यर्थः । बलिमण्डलकं = बलिदानार्थं गोमयोपलिप्तं स्थानमित्यर्थः ॥ १९-२० ॥

फिर कुण्ड से, मण्डल से, अर्घ्यपात्र समूह से मन्त्रोपसंहार कर साधक को इस प्रकार बलिदान करना चाहिए । यज्ञगृह से बाहर अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए उदक सहित ओदन से भूतों के लिये बलिमण्डल (गोमयोपलिप्त स्थान) का निर्माण करे ॥ १९-२० ॥

कृत्वान्तर्बलिदानं तु प्रादक्षिण्येन वै पुरा ।
अथ ऊर्ध्व इदं चोक्त्वा शेषं तन्मण्डले बहिः ॥ २१ ॥
नमोऽस्त्वच्युतभूतेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वदैव हि ।
सदिक्पतिभ्यः सास्त्रेभ्यः शान्तिर्नोऽस्त्वस्य वै शिशोः ॥ २२ ॥

अथ विष्वक्सेनार्चनं तत्सन्तर्पणं तद्विसर्जनं तन्निवेदितपरित्यागं चाह— पूजाद्यमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ २१-२५ ॥

तदनन्तर उस मण्डल के भीतर बलिदान करे एवं प्रदक्षिणा करे । इसके बाद मण्डल के बाहर 'नमोऽस्त्वच्युत...' आदि श्लोक से बलि प्रदान करे । बलिमन्त्र का अर्थ—सभी दिक्पतियों के साथ अस्त्र धारण किये हुए अच्युतभूतों को सर्वदा हमारा नमस्कार हो, हमारी शान्ति हो तथा हमारे इस शिष्य को शान्ति प्राप्त हो ॥ २१-२२ ॥

विष्वक्सेनार्चन विधानम्

पूजाद्यमुपसंहृत्य दत्तशिष्टेन पूर्ववत् ।
वृत्तमण्डलमध्ये तु सितपद्मोदरे ततः ॥ २३ ॥
दत्तशिष्टैर्यजेद् देवं सर्वदेवगुरुं प्रभुम् ।
तर्पयित्वाऽग्निमध्ये तु कुर्यात् तस्य विसर्जनम् ॥ २४ ॥
तदीयमथ निक्षिप्य क्ष्मावटे वा जलान्तरे ।

इसके बाद **विष्वक्सेन की अर्चना** करे और उनका सन्तर्पण, विसर्जन तथा तन्निवेदित अन्न का परित्याग इस प्रकार करे—सामग्री द्वारा वृत्तमण्डल के मध्य में श्वेत कमल पर पूजावशिष्ट सामग्री द्वारा प्रभु सर्वदेव गुरु विष्वक्सेन का पूजन करे । अग्नि के मध्य में सन्तर्पण करे । उनका विसर्जन करे । उनकी पूजा की समस्त सामग्री पृथ्वी में गढ्डा खोद कर डाल देवे अथवा जल में प्रक्षिप्त करे ॥ २३-२५ ॥

सुधापानप्रदानप्रकारकथनम्

यागावनौ च तच्चक्रं द्वादशारं विचिन्त्य च ॥ २५ ॥
न्यस्यात्मन्यर्घ्यपुष्पाद्यैः समभ्यर्च्य तदन्तरे ।
करकं वारिसम्पूर्णमादाय विनिवेश्य च ॥ २६ ॥

सुधापानप्रदानप्रकारमाह—यागावनौ च तच्चक्रमित्यारभ्य कृत्वा फलसमन्वित-मित्यन्तम् ॥ २५-३३ ॥

फिर यज्ञ भूमि में द्वादशार चक्र का निर्माण करे । अपने देह में अङ्गन्यास करे । अर्घ्यपुष्पादि से उस चक्र की पूजा करे और वारिपूर्ण करके कमण्डल वहाँ स्थापित करे ॥ २५-२६ ॥

तत्रेष्ट्वा वीर्यमन्त्रेण मध्ये मन्त्रास्त्रमुत्तमम् ।
मध्वम्बुपयसा पूर्णमपरं शुभलक्षणम् ॥ २७ ॥
तदग्रतोऽर्घ्यकलशं तन्मध्येऽस्त्रं च चक्रगम् ।
तमभ्यर्च्य यथान्यायं कृत्वाऽष्टशतमन्त्रितम् ॥ २८ ॥
वषट्पदनिरुद्धेन मूलमन्त्रेण तं पुनः ।
दद्यात् तदन्तः सार्णेन प्राग्वत् पीयूषधारिणा ॥ २९ ॥

वहाँ वीर्यमन्त्र से पूजा करे । तदनन्तर मन्त्रास्त्र से युक्त दो कलश स्थापित करे । प्रथम कलश में मधु, जल और दूध स्थापित करे । दूसरा कलश शुभ लक्षणं युक्त कर स्थापित करे । उसके आगे अर्घ्य कलश जिसमें चक्र स्थित है, उसमें अस्त्र मन्त्र स्थापित करे । फिर उसे १०८ बार मन्त्र से अभिमन्त्रित कर

विधिवत् पूजा करे । तदनन्तर मूल मन्त्र में वषट् लगा कर उसके भीतर पीयूष की धारा देवे ॥ २७-२९ ॥

निर्निद्रीकरणं कुर्यात् सर्वेषां मन्त्रवारिणा ।
तदम्बुधारादानेन ध्यानोच्चारयुतेन च ॥ ३० ॥
संविभज्याथ वैतेषां मन्त्रपानं सुधामयम् ।
सुधाद्यस्त्रवरं पश्चात् समन्त्रं चक्रगं न्यसेत् ॥ ३१ ॥

फिर मन्त्र से जल छिड़क कर वहाँ के समस्त लोगों को विनिद्रित करे, फिर ध्यान एवं मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसके चारों ओर जलधारा देवे । तदनन्तर सभी को वह सुधामय मन्त्रपान करावे । पश्चात् चक्र में रहने वाले समन्त्र सुधादि अस्त्र वर का न्यास करे ॥ ३०-३१ ॥

आदाय तं तोयकुम्भमस्त्रमन्त्रमुदीरयन् ।
भ्रामयेत् पूर्ववद्धारामथ मध्ये निधाय तम् ॥ ३२ ॥
सम्पूर्णमुदकेनैव कृत्वा फलसमन्वितम् ।

इसके बाद अस्त्र मन्त्र पढ़ते हुए उस जल कलश को लेकर चक्र के चारों ओर उसके जल से धारा देवे । फिर उसे मध्य में स्थापित कर फल समन्वित उदक धारा देकर उसे सम्पूर्ण करे ॥ ३२-३३ ॥

गुरुयागकथनम्

गुरुयागमतः कुर्याच्छिष्यः प्रयतमानसः ॥ ३३ ॥
भगवद्यागवद् भक्त्या कर्मणा मनसा गिरा ।
यागोपयुक्तं सम्भारं तस्मै सर्वं निवेद्य च ॥ ३४ ॥
सशिरः पाणियुग्मं तु कृत्वा वै च तदङ्घ्रिगम् ।
क्षान्तव्यः सुप्रयत्नेन श्रद्धापूतेन चेतसा ॥ ३५ ॥

गुरुपूजनमाह—गुरुयागमिति सार्धद्वाभ्याम् । गुर्वर्चनमन्त्रस्तु लक्ष्मीतन्त्रोक्तो ग्राह्यः—

अज्ञानगहनालोकसूर्यसोमाग्निमूर्तये ।
दुःखत्रयाग्निसन्तापशान्तये गुरवे नमः ॥ (४१।६४) इति ।

अस्मिन्नवसरे पादतीर्थपरिग्रहश्चोक्तो जयाख्ये—

प्रक्षाल्य सलिलेनाथ गुरोश्चरणपङ्कजे ॥
तेनात्मानं तु संसिच्य पिबेदञ्जलिना ततः । (१८।८४-८५)

इति ॥ ३३-३५ ॥

इसके बाद शिष्य समाहित चित्त होकर विधिवत् गुरुयाग करे । यह गुरु याग कर्म, मन और वाणी से भगवद् याग की तरह सम्पादन करे । सर्वप्रथम यागोपयुक्त समस्त पूजन सामग्री पूजा के द्वारा निवेदित करे । फिर गुरु के चरणों पर शिर सहित दोनों हाथ रखकर श्रद्धा से पवित्र चित्त द्वारा उनसे क्षमा माँगे ॥ ३३-३५ ॥

पञ्चरात्रविदस्तद्वद् यतींश्च स्नातकादिकान् ।
सम्पूज्य विधिवद् दद्यात् तेषां शक्त्या च दक्षिणाम् ॥ ३६ ॥

सर्वेषां भागवतानां दक्षिणादानादिकमाह—पञ्चरात्रेति ॥ ३६ ॥

तदनन्तर पञ्चरात्र के विद्वानों, यतियों, स्नातकादिकों की विधिवत् पूजा कर उन्हें शक्ति के अनुसार दक्षिणा प्रदान करे ॥ १३६ ॥

संवाहनपरात् कालाद् लब्ध्वाऽनुज्ञां तु गौरवीम् ।
भ्रातृभिः सह चाश्नीयाद् बहुभिः पूर्वदीक्षितैः ॥ ३७ ॥
तथान्यैर्भगवद्भक्तैः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवैः ।

तदनन्तरं गुर्वनुज्ञया भ्रातृभिः सह भोजनमाह—संवाहनेति सार्धेन ॥ ३७-३८ ॥

फिर गुरु के पादसंवाहन के पश्चात् उनकी आज्ञा प्राप्त कर अपने भातृगणों तथा पूर्व में बहुत से दीक्षित सज्जनों के साथ, अन्य भगवद् भक्तों के साथ तथा सुहृत् सम्बन्धी बन्धुओं के साथ भोजन करे । तत्पश्चात् उस काल में अथवा अन्य काल में जहाँ-तहाँ शिष्यों के साथ जाने वाले उन लोगों के साथ अनु-व्रजन करे ॥ ३७-३८ ॥

व्रजन्तं सह शिष्यैस्तु काले ह्यन्यत्र तत्र वा ॥ ३८ ॥
तदिच्छया ह्यनुव्रज्य निवर्तेताथ वै यदा ।
कृत्वा तु पादपतनं बहुधा सम्प्रदक्षिणम् ॥ ३९ ॥
आ मोक्षात् सर्वसिद्धीनां भक्तानां भावितात्मनाम् ।
परा गतिर्गुरुर्यस्मात् प्रसाद्यः स्मृत एव सः ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायामभिषेकविधिर्नाम विंशः परिच्छेदः ॥ २० ॥

— ❀ —

तस्मिन् कालेऽन्यत्र वाव्रज्या गुरुणा सहानुव्रजनं पुनस्तदनुज्ञया निवर्तनकाले प्रणिपतनप्रदक्षिणादिभिर्गुरोः प्रसादीकरणं चाह—

व्रजन्तमिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ३८-४० ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये विंशः परिच्छेदः ॥ २० ॥

तदनन्तर उनकी इच्छा से लौट आवे । फिर गुरु के चरणों पर गिर कर नमस्कार करे एवं प्रदक्षिणा करे ॥ ३८-३९ ॥

मोक्ष पर्यन्त समस्त सिद्धि प्रदान करने वाले तथा भगवदाराधन परायण भक्तों के लिये एकमात्र सर्वश्रेष्ठ गुरु ही परागति हैं, अतः वही प्रसाद्य हैं और संस्मरणीय भी हैं ॥ ४० ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के अभिषेकविधि नामक बीसवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ २० ॥

— ❀ —

एकविंशः परिच्छेदः

समयविधिः

नारद उवाच

भगवानथ विश्वात्मा चोदितस्तालकेतुना।
द्विजप्रधाना यत् तन्मे आकर्णयत साम्प्रतम्॥ १॥

अथैकविंश परिच्छेदो व्याख्यास्यते । अत्र पुनर्भगवान् वासुदेवः सङ्कर्षणेन यत्पृष्टस्तच्छृण्वित्याह—भगवानिति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! तदनन्तर सङ्कर्षण के द्वारा पूछे जाने पर विश्वात्मा भगवान् ने जो कहा उसे मुझसे सुनिए ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

नियमाः किंस्वरूपास्तु दातव्या दीक्षितस्य च।
गुरुणा प्रतिपन्नस्य शासनेऽस्मिन् जगत्प्रभो॥ २॥

प्रश्नप्रकारमाह—नियमा इति ॥ २ ॥

सङ्कर्षण ने पूछा—हे जगत्प्रभो ! गुरु के शरण में प्रतिपन्न हुए दीक्षितों के लिये जो नियम गुरु द्वारा दातव्य है उनका स्वरूप क्या है? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रत्येकस्मिन् हि नियमे निर्गते तु गुरोर्मुखात्।
प्रब्रूयाद् बाढमित्येवं शिष्यः शोकाग्निशान्तये॥ ३॥

एवं पृष्टो वासुदेव आचार्येणैकैकस्मिन् नियमे उपदिष्टे शिष्यो बाढं बाढमिति ब्रूयादित्याह—प्रत्येकस्मिन्निति ॥ ३ ॥

श्री भगवान् के कहा—गुरु के मुख से उपदिष्ट एक-एक नियम पर शिष्य 'बाढं बाढम्' ऐसा कहे ॥ ३ ॥

नाक्रम्या गौरवी च्छाया दैवी यानगता त्वपि।
गुरुवद् गुरुवर्गश्च द्रष्टव्यो नित्यमेव हि॥ ४॥

शयनासनयानाद्यं तदीयमभिवादयेत् ।
अतन्द्रितः सदा कुर्याद् व्यापारं तद्गृहेऽखिलम् ॥ ५ ॥
नासने तत्समक्षं च वस्तव्यं न च दक्षिणे ।
सुयन्त्रितः संयतवाक् तदाज्ञासम्प्रतीक्षकः ॥ ६ ॥
तत्सन्निधौ तु नान्येषां प्रत्युत्थानं समाचरेत् ।
कुर्यात् संशयविच्छित्तिं न तदादेशतो विना ॥ ७ ॥

गुरोर्देवस्य तत्तद्वाहनस्य च छायोल्लङ्घनं न कार्यमित्याह—नेत्यर्धेन । आचार्यपुत्रकलत्रादिषु चाचार्यदृष्टिः कार्येत्याह—गुरुवदित्यर्धेन । गुरोः शयनासनादीनामपि नमस्कारः कार्य इत्याह—शयनेत्यर्धेन । आचार्यगृहकृत्येषु जागरुकेण भवितव्यमित्याह—अतन्द्रित इत्यर्धेन । गुरोः समक्षमासनोपरि वा तद्दक्षिणभागे वा न वर्तितव्यमित्याह—नेत्यर्धेन । गुरुसन्निधववहितो मितभाषी तदाज्ञाप्रतीक्षकश्च भूयादित्याह—सुयन्त्रित इत्यर्धेन । गुरुसन्निधावन्येषां प्रत्युत्थानादिकं न कुर्यादित्याह—तदित्यर्धेन । गुर्वाज्ञां विना पृच्छकाणां संशयविच्छेदनं न कुर्यादित्याह—कुर्यादित्यर्धेन न ॥ ४-७ ॥

शिष्य गुरु देवता तथा उनके वाहन की छाया का उल्लङ्घन न करे । गुरु के समान गुरुवर्ग में भी श्रद्धा बुद्धि रखे ॥ ४ ॥

गुरु के शयन आसनादि को नमस्कार करे । उनके घर का समस्त व्यापार सावधानी से करे ॥ ५ ॥

उनके सामने आसन पर न बैठे । उनके दाहिनी ओर न रहे । गुरु के सन्निधान में सर्वदा अवहित (मितभाषी तथा उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करे ॥ ६ ॥

गुरु के सन्निधान में अन्य को प्रत्युत्थानादि न करे तथा गुरु की आज्ञा के बिना अन्य किसी पृच्छक के संशय का समाधान न करे ॥ ७ ॥

व्याख्यानमागमानां च योगाभ्यासश्च धारणा ।
अवश्यकार्याण्येतानि स्वगृहे न गुरोर्गृहे ॥ ८ ॥

आगमव्याख्यादीनां स्वगृह एव कर्तव्यत्वमाचार्यगृहे तन्निषेधं चाह—व्याख्यानमिति ॥ ८ ॥

आगमों का व्याख्यान, योगाभ्यास एवं धारणा आदि सभी आवश्यक कार्य अपने घर पर ही करे । गुरु के गृह में कदापि न करे ॥ ८ ॥

भोजननियमविधानम्

न शङ्खचक्रपद्माङ्के भोक्तव्यं भाजने तु वै ।
तल्लक्ष्म चोपलं काष्ठं लोष्टं वा फलकादिकम् ॥ ९ ॥

क्रमणीयं न पादेन कल्प्यं नैवासनार्थतः ।
भगवच्छासनज्ञानामाराधनरतात्मनाम् ॥ १० ॥
यथोचितं यथाशक्ति पूजा कार्या सदैव हि ।

शङ्खचक्राद्यङ्कितपात्रे न भोक्तव्यमित्याह—नेत्यर्धेन शङ्खचक्राङ्कितं शिलाकाष्ठ-लोष्टफलकादिकं च पादेन नाक्रमणीयम्, आसनार्थं न कल्पनीयमिति चाह—तल्लक्ष्मेति । भगवच्छास्त्राभिज्ञानां तदुक्तभगवदाराधननिष्ठानां च निरन्तरं यथा-शक्त्यर्चनं कार्यमित्याह—भगवच्छासनेति ॥ ९-११ ॥

जिस पात्र में शङ्ख एवं चक्र का चिह्न अङ्कित हो, उस पात्र में भोजन न करे। जिस उपल, काष्ठ, लौह तथा फलकादिक में शङ्ख एवं चक्र का चिह्न हो उसे पैर से लङ्घन न करे तथा उनका आसन न बनावे। भगवत् शास्त्रों के विज्ञाता तथा भगवच्छास्त्रोक्त विधि से आराधना करने वाले भक्तों का यथाशक्ति सर्वदा अर्चन करना चाहिए ॥ ९-११ ॥

प्रासादं देवदेवीयमाचार्यं पाञ्चरात्रिकम् ॥ ११ ॥
अश्वत्थं च वटं धेनुं सत्समूहं गुरोर्गृहम् ।
दूरात् प्रदक्षिणीकुर्यान्निकटात् प्रतिमां विभोः ॥ १२ ॥
दण्डवत्प्रणिपातैस्तु नमस्कुर्याच्चतुर्दिशम् ।

भगवद्विमानादीनां प्रदक्षिणनमस्कारप्रकारावाह—प्रासादमिति द्वाभ्याम् । छायाक्रमणभिया दूरादित्युक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ११-१३ ॥

देवता, देवों का प्रासाद, आचार्य, पाञ्चरात्रिक, अश्वत्थ, वट, धेनु, सत्समूह एवं गुरु का घर दूर से ही देखकर इनकी प्रदक्षिणा करे, सन्निकट से प्रदक्षिणा करने में छायोल्लङ्घन का भय है ॥ ११-१३ ॥

न यानपादुकारूढो न सोपानत्कपादभृत् ॥ १३ ॥
न विक्षिप्तमना भूत्वा संविशेद् भगवद्गृहम् ।
न व्याख्यावसरे कुर्यात् प्रत्युत्थानाभिवादने ॥ १४ ॥

भगवन्मन्दिरप्रवेशकाले पादुकामुपानहं वा पद्भ्यां न स्पृशेदन्यत्र मनोवृत्तिं च न वर्तयेदित्याह—नेति ॥ १३-१४ ॥

भगवन्मन्दिर में सवारी से, पादुका धारण कर, जूता पहन कर तथा विक्षिप्त मन से प्रवेश न करे। गुरु यदि शास्त्र की व्याख्या करते हों, तो उस समय प्रत्युत्थान अभिवादन न करे ॥ १३-१४ ॥

नाभक्तानां न मूर्खाणां नास्तिकानां विशेषतः ।
दातव्यः सम्प्रवेशश्च नोपहासरतात्मनाम् ॥ १५ ॥

आगमव्याख्यानकाले प्रत्युत्थानप्रणामनिषेधमभक्तादीनां तत्र प्रवेशनिषेधं चाह—नेति सार्धेन । नास्तिकानामित्यत्रापि नेत्यनुषङ्गः कार्यः ॥ १५ ॥

आगम व्याख्यान के अवसर में जो भक्त न हों, मूर्ख हो, नास्तिक हो, तथा शास्त्र का उपहास करने वाले हों, उन्हें विशेष रूप से प्रवेश न देवे ॥ १५ ॥

नापूजितं समुद्घाट्यं शासनं पारमेश्वरम् ।
समक्षं नान्यभक्तानां न तत्सन्देहशान्तये ॥ १६ ॥
प्रकाशनीयं तल्लोभान्न चाऽन्यायेन नो भयात् ।

अयोग्यं प्रति वाऽन्यदेवताभक्तानां समक्षं वा लोभाद् भयादन्यायाद्वा भगवच्छास्त्रं न प्रकाश्यमित्याह—नेति ॥ १६-१७ ॥

अयोग्यों तथा अन्य देवताओं के भक्तों के सामने लोभ से या भय से, अन्याय से भगवच्छास्त्रों का प्रकाश न करे और न उनसे सुगन्ध, फल, पुष्पादि और भी अपूर्व उचित वस्तु न लेवे और संदेह की शान्ति करे ॥ १६-१७ ॥

सुगन्धफलपुष्पाद्यमपूर्वमुचितं च यत् ॥ १७ ॥
अभोज्यं गुरुदेवाग्निनिवेदनविवर्जितम् ।

अपूर्वं योग्यं फलपुष्पादिकं वस्तु गुरुदेवाग्निसमर्पणमन्तरा न भोज्यमित्याह—सुगन्धेति ॥ १७-१८ ॥

तस्करात् पतिताच्चण्डाद् दम्भलोभमदान्वितात् ॥ १८ ॥
मात्रावित्तं न गृह्णीयादभक्तादुपचारतः ।

तस्करादिभ्यो मात्राद्रव्यप्रतिग्रहनिषेधमाह—तस्कारादिति । तथा च स्मरति शाण्डिल्यः—

कुलटाषण्ढपतितस्वैरिभ्यः काकिणीमपि ।
उद्यतामपि गृहणीयान्नापद्यपि कदाचन ॥ (६।१८)

इति ॥ १८-१९ ॥

गृहीत्वा भगवद्बिम्बं वृत्त्यर्थमटतीह यः ॥ १९ ॥
नगरापणवीथीषु तस्य देवलकस्य च ।
दर्शनं स्पर्शनं नैव कुर्यात् सम्भाषणं तथा ॥ २० ॥

स्वगृहे समाराध्यं भगवद्बिम्बमादाय द्रव्यार्जनार्थं नगरादिषु सञ्चरमाणस्य देवलकस्य दर्शनादिकमपि न कार्यमित्याह—गृहीत्वेति सार्धेन । नन्वेतन्मन्दिरस्थभगवद्बिम्बविषयमपि स्यादिति चेन्न, तस्य राजाधीनतया बहिर्द्रव्यार्जनार्थमानेतुमशक्यत्वात्, तत्र तादृशशङ्काया एवानवकाशात् ॥ १९-२० ॥

गुरु देवता तथा अग्नि को जिस अन्न का अर्पण न हुआ हो, उस अन्न का

कदापि भोजन न करे । पतित, तस्कर, चाण्डाल, दम्भी, लोभी, मद्यपी तथा अभक्त से आपत्ति काल में भी मात्रावित्त तथा द्रव्य का प्रतिग्रह न लेवे । जो वृत्ति के लिये भगवान् की प्रतिमा लेकर जहाँ-तहाँ पर्यटन करता हो उसका दर्शन, स्पर्शन तथा संभाषण वर्जित करे ॥ १८-२० ॥

गायेत् तु भगवद्गाथां यो ग्रामे नगरान्तरे ।
तं प्रभुस्तावकं चैव पूजयेच्चैव सर्वदा ॥ २१ ॥

श्रीमद्वैकुण्ठाभरणादिविरचितदिव्यप्रबन्धगाथागायकानां निरन्तरपूज्यत्वमाह—गायेदिति ॥ २१ ॥

ग्राम एवं नगर में श्रीमद् वैकुण्ठाभरणादि विरचित दिव्य प्रबन्ध की गाथा गाने वाले तथा प्रभु का स्तवन करने वाले भगवद् भक्तों की सर्वदा पूजा करनी चाहिए ॥ २१ ॥

विष्णुपरायणानां विष्णुवत् पूज्यत्वविधानम्

विष्णुव्रतपरं चैव विष्ण्वायतनवासिनम् ।
विष्ण्वालापकथासक्तं विष्ण्वायतनमार्जकम् ॥ २२ ॥
स्तावकं वैष्णवानां च विष्णुधर्मपरायणम् ।
पर्येष्टिकृद् वैष्णवानां मान्यो वै विष्णुवत् सदा ॥ २३ ॥

भगवत्कैङ्कर्यपराणां विष्णुवत् पूज्यत्वमाह—विष्ण्विति द्वाभ्याम् । वैष्णवानां पर्येष्टिकृद् वैष्णवधर्मान्वेषणपरः, पूजनार्थं भागवतान्वेषणपर इति वाऽर्थः । 'पर्येषणा परीष्टिश्चान्वेषणा च गवेषणा' (२।७।३२) इत्यमरः । गायेदिति वचनं शठकोपाद्यर्चनपरम्, विष्णुव्रतपरमित्यादिकं शाण्डिल्याद्यर्चनपरमित्यपि सरसम् ॥ २२-२३ ॥

विष्णु का व्रत करने वाले, विष्णु के आयतन में निवास करने वाले, विष्णु की चर्चा, विष्णु की कथा में आसक्ति रखने वाले, विष्णु मन्दिर का मार्जन करने वाले, वैष्णवों की प्रशंसा करने वाले, वैष्णव धर्म का अन्वेषण करने वाले, विष्णु धर्म परायण लोगों का विष्णु के समान सम्मान प्रदान करे ॥ २२-२३ ॥

पुष्पादीनामाहरणप्रकार कथनम्

प्रातरुत्थाय चिन्वीयात् स्वारामात् स्वयमेव हि ।
पूजार्थमस्त्रमन्त्रेण पुष्पादीन् प्रयतः सदा ॥ २४ ॥
यायादरण्यमथवा निर्बाधं हि तदार्जने ।

भगवदाराधनार्थं पुष्पादीनामाहरणप्रकारमाह—प्रातरिति सार्धेन । "अत्र वैशेषिकार्चनादिषु कदाचित् प्रातःशब्दस्य मुख्यार्थता, अन्यथाऽभिगमनविधिना प्रातः-कालोपरोधात्, अन्येषु च सर्वेषु शास्त्रेषु द्वितीयकाल एव द्रव्यार्जनविधानात् । प्रातः-

शब्देन सन्निकर्षवशात् त्वरातिशयसिद्ध्यर्थं तदुचितकालो लक्ष्यते, ''सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं विधिचोदितम्'' इतिवत् । अत एवात्रत्यमुत्थानं च न स्वापानन्तरभावि, अपि तु—''ततः पुष्पकुशादीनामुत्थायार्जनमाचरेत्'' (२२।६९) इति जयाख्यसंहितोक्तमभिगमनानन्तरं देवसन्निधेरुत्थानम्'' (पृ० १२९) इति श्रीपाञ्चरात्ररक्षायां व्याख्यातम्। एवं व्याख्यानं गृहार्चनप्रकरणे समञ्जसं भवति । मन्दिरे तु प्राभातिकार्चनादीनां कर्तव्यत्वात् तत्र प्रत्यहं प्रातःशब्दस्य मुख्यार्थतैव संभवतीति बोध्यम् ।

ननु प्रातरुत्थाय चिन्वीयादित्यादित्यादिनियमः स्वगृहार्चनपर एव, मन्दिरार्चने तु पुष्पाद्याहरणं परिचारकैः क्रियत इति चेन्न, यत उभयत्रापि स्वार्जितं मुख्यम्, अन्यार्जितं गौणमिति सिद्धम् । ननु तर्हि स्वयमेवोपादानप्रवृत्तः कथं मन्दिरे प्राभातिकाद्यर्चनादि निर्वहेदिति चेत्, शक्तः सर्वं निर्वहत्येव । अशक्तस्य गौणानुष्ठानम् । अन्यथा मन्दिरार्चनपरस्याभिगमनादिपाञ्चकालिकानुष्ठानं कथं सिद्ध्येत् । अत एव हि पारमेश्वरादिषु द्वादशकालार्चनप्रवृत्तस्यापि पाञ्चकालिकधर्मानुष्ठापनावकाशः प्रदर्शितः। परिचारकाश्चेदपि प्रातःकालं विना पुष्पाद्याहरणं पुनः कदा कुर्युः । गृहार्चनार्थमिव तैः संभवकाले संगृहीतं पुष्पादिकं कथं प्राभातिकार्चने उपयुज्यते ॥ २४-२५ ॥

प्रातःकाल उठकर अपनी वाटिका से स्वयं विष्णु पूजा के लिये सावधान होकर अस्त्रमन्त्र से पुष्पादि का सञ्चय करे अथवा उनके चयन के लिये खतरे से रहित जङ्गल में स्वयं जावे ॥ २४ ॥

पूजाद्रव्याणां ग्राह्याग्राह्यत्वकथनम्

अकण्टकद्रुमोत्थाश्च कण्टकद्रुमजा अपि॥ २५ ॥
हृद्याः सुगन्धाः कर्मण्या ग्राह्याः सर्वे सितादयः ।
उग्रगन्धा ह्यकर्मण्यास्त्वप्रसिद्धास्तथैव च॥ २६ ॥
चतुष्पथशिवावासश्मशानावनिमध्यगाः ।
क्षता अशनिपाताद्यैः क्रिमिकीटसमावृताः ॥ २७ ॥
वर्जनीयाः प्रयत्नेन पत्रपुष्पफलादयः ।
अम्बुजानि सुगन्धीनि सितरक्तादिकानि च॥ २८ ॥

अथ पुष्पफलपत्राङ्कुराणां मधुपर्कधूपदीपद्रव्याणां हविःपाकोपयुक्तद्रव्याणां च ग्राह्याग्राह्यत्वनियममाह—अकण्टकद्रुमोत्थाश्चेत्यारभ्य नारनालविभावितमित्यन्तम् । एवं पुष्पादीनां हविःपाकद्रव्याणां च वर्ज्यावर्ज्यविभागः संहितान्तरेषु श्रीपञ्चरात्ररक्षायां (पृ० १२७-१३४) च विस्तरेण विचारितो द्रष्टव्यः ॥ २५-३८ ॥

कण्टक रहित वृक्षों में फूले हुए अथवा कण्टक युक्त वृक्ष में भी जो मनोहर सुगन्ध कर्म के योग्य श्वेतादि वर्ण के पुष्पों का चयन करे, किन्तु उग्र गन्ध वाले, पूजा में वर्जित, अप्रसिद्ध (अज्ञात) पुष्पों का चयन न करे । चतुष्पथ में उत्पन्न, अपवित्र स्थान में उत्पन्न एवं श्मशान भूमि में उत्पन्न वृक्षों के पुष्प ग्रहण न करे ।

वज्रपात से आहत, कृमि, कीट संयुक्त सभी पत्र, पुष्प, फलादि प्रयत्नपूर्वक वर्जित करे ॥ २४-२८ ॥

योक्तव्यानि पवित्राणि नित्यमाराधने तु वै।
साङ्कुराणि च पत्राणि भूगतान्येवमेव हि॥ २९ ॥
विहितान्यर्चने नित्यं यथर्तुप्रभवाणि च।
न गृहे करवीरोत्थैः कुसुमैरर्चनं हितम्॥ ३० ॥

सित रक्त एवं नील वर्णों वाले सुगन्धित पवित्र कमल नित्य आराधन में अवश्य ग्राह्य हैं, इसी प्रकार अङ्कुरयुक्त पृथ्वी से संयुक्त पत्र जो ऋतुकाल के अनुसार उत्पन्न होते हैं। वे भी अर्चन में विहित है, अत: ग्राह्य है, घर पर कनैल (करवीर) के पुष्पों से अर्चन न करे ॥ २९-३० ॥

विशेषतः सकामस्य सिद्धिभूतयुतस्य च।
अतोऽन्यथा न दोषोऽस्ति दोष उन्मत्तकादिभिः ॥ ३१ ॥
सद्योहृतानां विहितस्त्वम्लानानां यथा क्रयः।
प्रदानमम्बुसिक्तानां तेषां कार्यं न चान्यथा॥ ३२ ॥

विशेष कर सकाम अर्चन करने वालों तथा सिद्धि से युक्त लोगों के लिये यह निषेध है। इससे अतिरिक्त लोगों के लिये करवीरार्चन निषिद्ध नही है। धतूरादि द्वारा अर्चन अवश्य निषिद्ध है। तुरन्त चुने गये म्लानता रहित (विकसित) पुष्पों को खरीद कर भी पूजा का विधान हैं, किन्तु खरीदने के बाद उन्हें जल से संसिक्त कर ही पूजा करे, अन्यथा नहीं ॥ ३१-३२ ॥

निर्दोषतां प्रयान्त्याशु मन्त्रिणामवलोकनात्।
भवन्ति भक्तिपूतानि हृन्मन्त्रनिरतात्मनाम्॥ ३३ ॥

हृदय मन्त्र में निरत मन्त्रज्ञ पुरुषों के अवलोकन से भी पुष्प निर्दोष हो जाते हैं। किं बहुना, भक्ति से भी वे पूत हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

न कांस्यपात्रे भोक्तव्यं न तत्र विनिवेदयेत्।
देवाय मधुपर्काद्यं तथा वै सति सम्भवे॥ ३४ ॥
मृण्मयायसपात्रेषु न धूपमपि निर्दहेत्।
धूपार्थं गुग्गुलुः साज्यो देयश्चाभवतोऽपरः॥ ३५ ॥

कांस्य पात्र में भोजन न करे। उसमें भोजन रख कर नैवेद्य अर्पित न करे। इसी प्रकार संभव होने पर देवताओं के लिये कांस्य पात्र में अर्घ्य प्रदान भी न करे। मिट्टी के पात्र तथा लोहे के पात्र धूप भी न जलावे अभाव में धूप के लिये साज्य गुग्गुल घण्टा शब्द के साथ दिया जा सकता है ॥ ३४-३५ ॥

सह घण्टारवेणैव दीपार्थं परिवर्जयेत् ।
मेदो मज्जाऽतसीतैलं घृतं तैलविमिश्रितम् ॥ ३६ ॥

दीप के लिये मेद, मज्जा, अतसी का तेल तथा तैल विमिश्रित द्रव्य का प्रयोग वर्जित है ॥ ३६ ॥

नाविकं मधुपर्कार्थे दधिक्षीरादिकं शुभम् ।
कौलत्थः कौद्रवः कृष्णशाल्युत्थो नौदनो हितः ॥ ३७ ॥
नापक्वान्नं न मांसश्च नारनालविभावितम् ।

मधुपर्क के लिये भेंड का दधि एवं क्षीर शुभावह नहीं है । इसी प्रकार नैवेद्य के लिये कुलत्थ, कोदो एवं कृष्णशाली का भात शुभावह नहीं है । इसी प्रकार नैवेद्य में अपक्वान्न, मांस तथा आरनाल (काँजी) मिश्रित अन्न वर्जित है । पूजा करते समय जल्दीबाजी से न उठे ॥ ३७-३८ ॥

न चाराधनकाले तु समुत्तिष्ठेत् त्वरान्वितः ॥ ३८ ॥
आ समाप्तिक्रियां चैव उपरोधेन केनचित् ।

आराधनकाले केनचित् कारणेन त्वरया नोत्थातव्यमित्याह—नेति ॥ ३८-३९॥

किसी उपरोध से अपने को बन्द कर विष्णु पूजा करे और जब तक वह समाप्त न हो जावे तब तक न उठे ॥ ३८-३९ ॥

आधाराद् भगवद्बिम्बाद् भद्रपीठान्मलच्युतिः ॥ ३९ ॥
न कार्या कण्टकैर्लोहैर्मृदुकूर्चादिना विना ।
न स्नायान्न स्वपेन्नग्नो न मौनं चाचरेद् गुरोः ॥ ४० ॥

बिम्बादिशोधनं शिखिपक्षादिमृदुकूर्चैर्विना कण्टकादिभिर्न कार्यमित्याह— आधारादिति ॥ ३९-४० ॥

भगवदाधार भगवद्चित्त भद्रपीठ से मलिनता-निवारण कोमल कूर्च के अतिरिक्त काँटे अथवा लौह जैसे कड़े पदार्थों से न करे । निर्वस्त्र हो कर स्नान तथा शयन न करे । गुरु को चुप न करे ॥ ३९-४० ॥

नोच्छिष्टं संस्पृशेत् किञ्चिन्नाश्नीयाद् भगवद्गृहे ।
सन्निकर्षे न चाग्नेस्तु न गृहे मद्यसंकरे ॥ ४१ ॥

स्नानकाले स्वापकाले च विवस्त्रो न भवेत्, गुरुषु मौनं न कुर्यात्, उच्छिष्टं न स्पृशेत्, भगवन्मन्दिरादिषु न भुञ्जीतेति चाह—नेति सार्धेन । अत्र भोजननिषेधमात्रतात्पर्येण निकृष्टोत्कृष्टानां सह पाठः कृत इति बोध्यम् । यथा "श्वयुवमघोनाम्" (६।४।१३३) इति सहपठिताः पाणिनिना ॥ ४१ ॥

उच्छिष्ट रूप में उनका स्पर्श न करे । भगवान् के मन्दिर में भोजन न करे । इसी प्रकार अग्नि के समीप तथा मद्य स्थापित घर में भी साधक को पूजा नहीं करनी चाहिए ॥ ४१ ॥

भक्तानां कृतदीक्षाणां व्यङ्ग्यः शास्त्रार्थ एव हि ।
अन्येषां धर्मशास्त्रं च लोभनिर्मुक्तया धिया ॥ ४२ ॥
शिष्याणां विष्णुभक्तानां नित्यं कुर्याच्च संग्रहम् ।

कृतदीक्षाणामेव भगवच्छास्त्रो वाच्यः, तदन्येषां तु केवलधर्मशास्त्रमेव वाच्यमिति, द्रव्यसंग्रहणबुद्धिं विना केवलमुपकारार्थं वैष्णवानां शिष्याणां संग्रहणं कुर्यादिति चाह—भक्तानामिति सार्धेन ॥ ४२-४३ ॥

शास्त्रार्थ की व्याख्या दीक्षा-प्राप्त भगवद् भक्तों को ही करे । अन्यों से लोभरहित बुद्धि से मात्र धर्मशास्त्र का व्याख्यान करे । जहाँ तक हो सके शिष्यों एवं विष्णु भक्तों का संग्रह करे ॥ ४२-४३ ॥

मानमात्सर्यकार्पण्यलोभमोहादयोऽगुणाः ॥ ४३ ॥
नेतव्यास्तानवं सर्वे यावज्जीवावधि क्रमात् ।

स्वनिष्ठाः शिष्यनिष्ठाश्च मानादिदुर्गुणाः कार्श्यं नेतव्या इत्याह—मानेति । तानवं तनुत्वम्, कार्श्यमित्यर्थः ॥ ४३-४४ ॥

मान, मात्सर्य, कार्पण्य, लोभ एवं मोह आदि अवगुणों को यावज्जीवन कम करने का प्रयास करता रहे ॥ ४३-४४ ॥

अकस्मादुपसन्नानां देशान्तरनिवासिनाम् ॥ ४४ ॥
इष्टोपदेशः कर्तव्यो नारायणरतात्मनाम् ।

देशान्तरादागतानां वैष्णवानामिष्टोपदेशः कार्य इत्याह—
अकस्मादिति ॥ ४४-४५ ॥

अकस्माद् देशान्तर से अपने समीप में आये हुए नारायण परायण भक्तों को कल्याणकारी उपदेश करे ॥ ४४-४५ ॥

यो न वेत्त्याच्युतं तत्त्वं पञ्चरात्रार्थमेव च ॥ ४५ ॥
तथा सद्वैष्णवीं दीक्षां नानाशास्त्रोक्तलक्षणाम् ।
न तेन सह सम्बन्धः कार्यो भिन्नक्रमेण तु ॥ ४६ ॥

अवैष्णवेन सह सम्बन्धो न कार्य इत्याह—य इति सार्धेन ॥ ४५-४६ ॥

जो अच्युत तत्त्व नही जानता, जिसे पाञ्चरात्र का ज्ञान नहीं है और नाना शास्त्रों में प्रतिपादित वैष्णवी दीक्षा का ज्ञान जिसे नहीं है, इस प्रकार के अवैष्णवों को विरुद्ध क्रम से उपदेश न करे ॥ ४५-४६ ॥

न शास्त्रार्थस्य शास्त्राणां बुद्धिपूर्व उपप्लवः ।
आचर्तव्य इहाज्ञानात् पारम्पर्यक्रमं विना ॥ ४७ ॥

शास्त्रशास्त्रार्थयोः साङ्कर्यं न कार्यमित्याह—नेति । एतद्वचनतात्पर्यमेवमुक्तं श्रीपञ्चरात्ररक्षायाम्—"अस्खलितपारम्पर्यप्रत्यभिज्ञानेषु स्थानेषु परिदृश्यमानप्रमाणमूलान्याचारपरम्परागृहीतानि च कर्माणि न मात्रयापि परिहाप्यानि, न च तद्विरुद्धान्युपादेयानीत्युक्तं भवति" (पृ० ५) इति ॥ ४७ ॥

प्रष्टव्यो भगवद्भक्त आप्तो लक्षणकोविदः ।
प्रसिद्ध आर्जवे वृद्धो नष्टं शास्त्रार्थलक्षणम् ॥ ४८ ॥

चिरकालराष्ट्रक्षोभादिना प्रस्खलितपारम्पर्यप्रत्यभिज्ञानेषु स्थानेषु वृद्धमुखात् तज्ज्ञातव्यमित्याह—प्रष्टव्य इति ॥ ४८ ॥

जिस स्थान पर परम्परापूर्वक शास्त्रार्थ प्रस्खलित नहीं है, वहाँ परिदृश्यमान प्रमाण के साथ मूलाधार शास्त्र को स्थापित न करे । वहाँ रञ्चमात्र भी कर्म व्याख्यान परिस्खलित न करे और न लोक विरुद्ध उपदेश ही करे । जहाँ राष्ट्र क्षोभ के कारण वैष्णव ज्ञान की परम्परा प्रस्खलित हो गई है, उसके परिज्ञान परम्परा को वृद्ध वैष्णवों द्वारा जानना चाहिये ॥ ४७-४८ ॥

मुद्रामण्डलमन्त्राणां निस्सन्देहपरेण च ।
भवितव्यं गुरूणां च सकाशात् सर्वदैव हि ॥ ४९ ॥

मुद्रामण्डलमन्त्राश्च गुरोः सकाशान्निःसन्देहं ज्ञातव्या इत्याह—मुद्रेति ॥ ४९ ॥

भगवन्मन्त्रों में गुरु के द्वारा मुद्रा, मण्डल और मन्त्र का ज्ञान संदेह रहित होकर करे ॥ ४९ ॥

न च सर्वज्ञमन्त्राणां विना भावांशकेन तु ।
आनुकूल्यं गवेष्टव्यं मुक्त्वा मण्डलदर्शनम् ॥ ५० ॥

भगवन्मन्त्राणां सिद्धारिवीक्षणादिनाऽऽनुकूल्यान्वेषणं न कार्यमित्याह—न चेति ॥ ५० ॥

भगवन्मन्त्रों में सिद्ध अरिमन्त्र का विचार न करे । सर्वदा उनके अनुकूल होकर ही अन्वेषण या अनुसंधान करे ॥ ५० ॥

नाभिचक्रे तु हृत्पद्मे कन्दमूले गलावटे ।
भ्रूमध्ये ब्रह्मरन्ध्रे च स्थानेष्वेतेषु मन्त्रराट् ॥ ५१ ॥
स्मर्तव्यः सूर्यसंकाशः प्रवासे शयनेऽध्वनि ।

स्वशरीरे मन्त्रनाथस्मरणस्थानानि तत्कालांश्चाह—नाभीति सार्धेन ॥५१-५२॥

अब अपने शरीर में मन्त्रनाथ के स्मरण का स्थान तथा उसके लिये उचित काल कहते हैं—नाभिचक्र, हृत्कमल, कुण्डलिनी का मूल, गलारूप गर्त्त में, भ्रूमध्य में और ब्रह्मरन्ध्र में—इन स्थानों में मन्त्रराट् का स्मरण करे ॥ ५१ ॥

प्रवास, शयन तथा रास्ते में सूर्य के समान प्रकाशित इष्टदेव के मन्त्र का स्मरण सर्वदा करे ॥ ५२ ॥

मृगसूकरमांसानि नाद्यान्मीनोत्थितानि च ॥ ५२ ॥
न हंसकच्छपीयानि न शृङ्गाटपलानि च ।
न तथा पद्मबीजानि न वटाग्रं समारुहेत् ॥ ५३ ॥

सिंहसूकरादिरूपैर्भगवतोऽवतीर्णत्वात् तत्तन्मांसानि न भक्षयेत् । तथा चतुष्पथ-विक्रीतमांसानि च न भक्षयेदिति चाह—मृगेति । मृगसूकरादिषु भगवदबुद्धिरेव कार्येति भावः । उक्तः खलु नृसिंहकल्पे समयोपदेशप्रकरणे—

दूरादेव नमस्कार्यो मृगराड् व्याघ्र एव वा ।
तदाकृतिर्मृगो वान्यो तच्चर्मापि च नारुहेत् ॥ (१७।१२९) इति ।

एवं मांसनिषेधश्च कृतयुगविषयः, कलौ सामान्यतो निषेधात् ॥ ५२-५३ ॥

मृग, सूकर तथा मछली के मांस का भोजन न करे । इसी प्रकार हंस, कच्छप तथा सींग वाले जीवों का मांस न खावे । भगवदाश्रित होने के कारण कमलगट्टा न खावे तथा वट पर भगवान् के शयन करने के कारण वट पर आरोहण न करे ॥ ५२-५३ ॥

छेद्यमानं न तत्पश्येत् तद्दलं नाङ्घ्रिणा स्पृशेत् ।

एवं पद्मस्य भगवदाश्रितत्वात् तद्बीजानामभक्ष्यत्वम्, भगवतो वटपत्रशायित्वात् तदारोहणादिनिषेधं चाह—न तथेति ॥ ५३-५४ ॥

वट के दल को तोड़ते हुए न देखे और उसके पत्ते को पैर से स्पर्श भी न करे ॥ ५४ ॥

चातुर्मास्यव्रतानुष्ठानस्थानकथनम्

पुण्यक्षेत्रं महातीर्थं सिद्धाश्रममनुत्तमम् ॥ ५४ ॥
वैष्णवीं पर्षदं वापि व्यक्तिस्थानं तथाच्युतम् ।
आसाद्य मण्डलं कृत्वा चक्रं वा द्वादशारकम् ॥ ५५ ॥
निर्वाहणीयं विधिवत् चातुर्मास्यं महामते ।
गृहे संयमपूर्वं वा चक्रं कृत्वा तु कुड्यगम् ॥ ५६ ॥
चतुर्विधेन रजसा प्रतिमाया अथाग्रतः ।

चातुर्मास्यव्रतानुष्ठानस्थानान्याह—पुण्यक्षेत्रमिति त्रिभिः ॥ ५४-५७ ॥

संयुक्तानपि पूर्वोक्तैरेताश्च समयान् सदा ॥ ५७ ॥
निर्वाहकाणां भक्तानां प्रयच्छेत् सततं गुरुः ।

एतान् समयान् निर्वाहकाणां शिष्याणामुपदिशेदित्याह—संयुक्तानिति । पूर्वोक्तैः श्रीनृसिंहकल्पोक्तैः समयैरित्यर्थः ॥ ५७-५८ ॥

अब **चातुर्मास्य व्रत के अनुष्ठान का स्थान और समय** कहते हैं— पुण्यक्षेत्र, महातीर्थ, श्रेष्ठ सिद्धाश्रम, विष्णु के पार्षद के स्थान, भगवान् के अवतार के स्थान, इन स्थानों को प्राप्त कर वहाँ मण्डल निर्माण करे, अथवा द्वादशार चक्र का निर्माण करे । हे महामते ! वहाँ विधिवत् चातुर्मास्य व्रत का अनुष्ठान करे, अथवा घर पर ही नियमपूर्वक रहते हुए भीत पर नीलपीतादि चारों रङ्ग से चक्र का निर्माण करे, अथवा प्रतिमा के आगे चक्र निर्माण कर चातुर्मास्य व्रत का अनुष्ठान करे । गुरु इस प्रकार वैष्णव धम निर्वाहक नियम समयज्ञों के लिये तथा नृसिंह कल्पोक्तादि में कथित समय-धर्म के पालन करने वाले भक्तों के लिये उपदेश करे । इस प्रकार समय-धर्म के निर्वाह करने वाले शिष्यों की योग्यता देखकर उन्हें उन-उन धर्मों का उपदेश गुरु करे ॥ ५४-५८ ॥

ज्ञात्वा निर्वाहकं भक्तं तस्यादौ देशिकेन तु ॥ ५८ ॥
समुद्दिश्यास्तु ते सर्वे निर्वहत्यथ येषु वै ।
तेषु तेषु नियोक्तव्यो तथा न च्यवते पुनः ॥ ५९ ॥

पूर्वं शिष्यस्य निर्वाहकतां ज्ञात्वा तस्य समया उपदेष्टव्याः । ततस्तस्य येषु येषु निर्वाहः संभवति, स तेषु तेषु समयेषु पुनर्यथा समयच्युतो न भवेत्, तथा नियोजनीय इत्याह—ज्ञात्वेति सार्धेन ॥ ५८-५९ ॥

वे जिस प्रकार इन-इन समय-धर्मों का ठीक से पालन करें, प्रच्युत न हों, ऐसा समझ कर ही उन्हें उन-उन धर्मों में नियुक्त करे ॥ ५८-५९ ॥

धावन्ति समयघ्नस्य सविघ्नास्तु विनायकाः ।
विमुखाः सिद्धयो यान्ति ह्यापदो हि भवन्ति च ॥ ६० ॥
ज्ञात्वैवं सावधानेन निर्वक्तव्यं हि तान् प्रति ।

समयभ्रष्टस्यानिष्टपरम्परा संभवति, अतः सावधानं समयाः पालनीया इत्याह—धावन्तीति सार्धेन । विनायका = दुष्टग्रहविशेषा इत्यर्थः । ''भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः'' (१०।६।२७) इति श्रीभागवते । समयघ्नस्य धावन्ति = समयघ्नं प्रति धावन्तीत्यर्थः ॥ ६०-६१ ॥

जो शिष्य समय-धर्म का ठीक-ठीक तरह से पालन नहीं करते, उनके पीछे-पीछे विघ्न सहित विनायकगण दौड़ते रहते हैं । उनको सिद्धि की बात तो दूर उल्टे आपत्तियाँ ही घेर लेती हैं । उस समय धर्म से परिभ्रष्ट शिष्य के अनिष्ट

परम्परा का वारापार नही होता । अतः समय-धर्म के परिपालन में प्रमाद न करे । ऐसा विचार कर गुरु बड़ी सावधानी से शिष्यों को समय-धर्म का उपदेश करे ॥ ६०-६१ ॥

सारमादाय वै बुद्ध्या निर्मथ्य नियमो दधिम् ॥ ६१ ॥
कृपया गुरुणा देयं समयानां तु पञ्चकम् ।
भक्तिरग्नौ गुरौ मन्त्रे शास्त्रे तदधिकारिणि ॥ ६२ ॥

एतेषु समयेषु सारभूतमग्निभक्तिगुरुभक्त्यादिपञ्चकं विशेषेणोपदेष्टव्यमित्याह —सारमिति सार्धेन ॥ ६१-६२ ॥

इन समयों में गुरु स्वयं नियमरूप दधि का निर्मन्थन करे । फिर अपनी बुद्धि से कृपापूर्वक उसका सारभूत अग्निभक्ति, गुरुभक्ति मन्त्र एवं शास्त्र आदि पाँचों का विशेष रूप से अधिकारी को उपदेश करे ॥ ६१-६२ ॥

नियतं पञ्चकस्यास्य यथावत् परिपालनात् ।
अनुष्ठानात् तु नान्येषां स्वातन्त्र्येण यथेच्छया ॥ ६३ ॥
भव्यानां मनसोऽभीष्टाः प्रवर्तन्ते हि सिद्धयः ।

एतत्समयपञ्चकस्य परिपालनादन्येषां समयानामननुष्ठानेऽपि मनोऽभीष्टसिद्धिमान् भवतीत्याह—नियतमिति सार्धेन । अथवा गुर्वादिचोदनां विनाऽन्येषां कर्मणां स्वच्छन्दस्वातन्त्र्येणानुष्ठानाभावाच्चेत्यर्थः । यद्वा (आनन्दः?) क्रियापदेनान्वये परिपालनादिति 'ल्यब्लोपे पञ्चमी' ॥ ६३-६४ ॥

इस समयपञ्चक के यथावत् परिपालन से अन्य समयों के अनुष्ठान में भी मन अभीष्ट सिद्धि युक्त हो जाता है । इतना ही नहीं ऐसा साधक गुरु आदि के उपदेश के बिना किसी अन्य अनुष्ठान में स्वेच्छा से स्वतन्त्र नहीं रहता ॥ ६३-६४ ॥

येऽनिर्मलेन मनसा उपरोधात् तु कुर्वते ॥ ६४ ॥
पालनं समयानां च ते मज्जन्त्यसितेऽध्वनि ।
सुप्रसन्नेन मनसा यथैतत् परिपाल्यते ।
तथा प्रसादमभ्येति स्व आत्मा तु हितैषिणाम् ॥ ६५ ॥

एवं समयपरिपालनं कुर्वतामपि मनःकालुष्ये सति नैष्फल्यं तदभावे साफल्यं चाह—य इति द्वाभ्याम् । अनिर्मलेनेति पदच्छेदः ॥ ६४-६५ ॥

समय धर्म के परिपालन करने वाले जिस साधक का मन कालुष्य से परिपूर्ण रहता है उस साधक का अनुष्ठान निष्फल रहता है । अनुष्ठान में सिद्धि तो तब होती है जब उसका मन कालुष्य रहित होता है ॥ ६४-६५ ॥

जो शिष्य सुप्रसन्न मन से यथावत् कालुष्यरहित होकर नियमों का पालन करते हैं वे सुख के समुद्र में स्नान करते हैं । ऐसे हितैषी साधक की आत्मा सर्वथा प्रसन्न रहती है ॥ ६५ ॥

नूनं कालुष्यमुक्तानां स्थितानामिह सत्पथे ।
समयिसाधकाचार्यपुत्रकाणां भवेच्छुभम् ॥ ६६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां समयविधिर्नाम एकविंशः परिच्छेदः ॥ २१ ॥

— ❀ —

अतश्चतुर्विधशिष्याणामपि मनःकालुष्यरहितानामेव शुभं भवेदित्याह— नूनमिति ॥ ६६ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये एकविंशः परिच्छेदः ॥ २१ ॥

— ❀ —
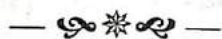
ऐसा करने से कालुष्यरहित एवं सत्पथ में स्थित चारों प्रकार (साधक, सामयिक, पुत्रक और आचार्य) के साधकों का शुभ होता है ॥ ६६ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के समयविधि नामक इक्कीसवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ २१ ॥

— ❀ —

द्वाविंशः परिच्छेदः

अधिकारिमुद्राभेदविधिः

सङ्कर्षण उवाच

लक्षणं ज्ञातुमिच्छामि चतुर्णां देव साम्प्रतम् ।
विज्ञातव्यास्तु कैर्लिङ्गैर्भेदस्तेषां तु किंकृतः ॥ १ ॥

अथ द्वाविंशः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह पूर्वपरिच्छेदान्ते सूचितानां सामयिकादीनां चतुर्णां लक्षणं पृच्छति सङ्कर्षणः—लक्षणमिति ॥ १ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे देव ! अब मै सामयिक, साधक, पुत्रक और आचार्य चारों प्रकार के शिष्यों का लक्षण जानना चाहता हूँ । किन-किन लक्षणों से उनका ज्ञान किया जा सकता है और उनका भेद किस प्रकार का है? ॥ १ ॥

१. सामयिकानां लक्षणकथनम्

श्रीभगवानुवाच

यः श्रीमान् श्रद्दधानस्तु मतिमान् सुदृढव्रतः ।
सत्यवाग् भगवद्भक्तो मिताशी सङ्गवर्जितः ॥ २ ॥
गुर्वाराधननिष्ठस्तु स्थिरबुद्धिरतन्द्रितः ।
सद्वैष्णवकुले जातः सुसंस्कारैः सुसंस्कृतः ॥ ३ ॥
पुरा मातापितृभ्यां तु नीतः सद्योग्यतापदम् ।
विमुक्तसङ्करो दान्तः परत्र भयशङ्कितः ॥ ४ ॥
साधुसङ्गसमाकाङ्क्षी शास्त्रार्थास्वादलम्पटः ।
तत्सञ्चयव्यसनवान् धार्मिकाणां पथि स्थितः ॥ ५ ॥
शुभकर्मरतो नित्यमदीनः सत्त्ववान् क्षमी ।
धीरो दयापरश्चैव साधूनामुपकारकृत् ॥ ६ ॥
निर्मलाम्बरधारी च विमलाङ्गः सदैव हि ।
प्रियभाषी प्रसन्नास्यः परद्रव्येष्वलोलुपः ॥ ७ ॥

परदारस्पृहामुक्तः सद्विवेकपदाश्रितः ।
क्षत्रविट्शूद्रजातीयो मद्यमांसेष्वलम्पटः ॥ ८ ॥
शौचस्वाध्यायनिरतः सन्तुष्टः सततोद्यतः ।
उच्छिष्टवर्जनपरश्चक्रतप्ततनुः सदा ॥ ९ ॥
मानमात्सर्यकार्पण्यपरित्यागपरो महान् ।
दैवे पित्र्ये सदोद्युक्तो दम्भाचारविवर्जितः ॥ १० ॥
निःशेषाणामकर्मण्यद्रव्याणां परिहारकृत् ।
मातुर्जनकनिष्ठानां सद्बन्धूनां च वत्सलः ॥ ११ ॥
उक्तनिर्वाहकश्चाभीर्नित्यं नीचासनप्रियः ।
सर्वेषामूर्ध्वतो नित्यं स्थितिकामपरायणः ॥ १२ ॥
वंशोद्धारैकरतया सुधियाऽलङ्कृतः सदा ।
गुरुप्रसादादन्यत्र स्वगृहे वा गुरोर्गृहे ॥ १३ ॥
लब्धदर्शनमात्रो वै मन्त्रमूर्तेस्तु मण्डले ।
गुरुदृग्वीक्षणेनैव प्रोक्षणेनेव संस्कृतः ॥ १४ ॥
बुद्ध्यते तावता चैव कृतार्थोऽस्मीति साम्प्रतम् ।
ततः प्रभृतिकालाच्च सुप्रसन्नाच्च देशिकात् ॥ १५ ॥
पाठपूर्वं हि शास्त्रार्थमभ्यर्थयति योऽनिशम् ।
श्रुत्वा विचारयत्यर्थनिकान्ते विजने स्थितः ॥ १६ ॥
नाभिमानपदं याति सुसम्पूर्णोऽपि चोदितः ।
शिक्षयत्यथ नान्येषां लुब्धः स्वार्थस्य सिद्धये ॥ १७ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः पूर्वं समयिलक्षणमाह—'यः श्रीमन्' इत्यारभ्य शिष्यो जात्या चतुर्विध इत्यन्तम् । एवं च यथोक्तलक्षणविशिष्टो दीक्षोक्तरीत्या नेत्रबन्धविमोचनपूर्वकं लब्धमण्डलदर्शनमात्रः शास्त्रार्थग्रहणशीलोऽयनादिविशेषेष्वेव भगवदर्चनपरो यः स समयीति ज्ञेयः ॥ २-३१ ॥

श्री भगवान् से कहा—सर्वप्रथम समयी शिष्य का लक्षण कहते हैं—जो श्री सम्पन्न, श्रद्धावान्, मतिमान्, दृढ़वत, सत्यवक्ता, भगवद्भक्त, मिताशी, सङ्गरहित, गुरु की आज्ञा में तत्पर, स्थिरबुद्धि, आलस्यरहित, उत्तम वैष्णवकुल में उत्पन्न, संस्कारों से संस्कृत, माता-पिता के द्वारा पहले से उत्तम सुयोग्य बनाये गये, साङ्कर्य-दोष से रहित, इन्द्रियों का दमन करने वाले, विश्वास के साथ परलोक का भयकर शङ्कित रहने वाले, साधओं के सत्सङ्ग की इच्छा रखने वाले, शास्त्रार्थ के आस्वाद में लम्पढ, शास्त्रार्थ के सञ्चय में व्यसनी, धार्मिकों के रास्ते पर स्थित

रहने वाले, निरन्तर सत्कर्म में लगे हुए, नित्य दैन्य रहित, सत्त्ववान, क्षमाशील, धैर्यशाली, दयालु, साधुओं का उपकार करने वाले, स्वच्छ वस्त्र सदैव धारण करने वाले, शुक्लवर्ण युक्त, प्रियवक्ता, प्रसन्नचित्त, दूसरे के द्रव्य से घृणा करने वाले, दूसर की स्त्री की स्पृहा से सर्वथा मुक्त, सद्विवेक का आश्रय लेने वाले, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जाती में उत्पन्न, मद्य, मांस में लम्पटता रहित, शौच स्वाध्याय में निरत, सन्तुष्ट, सतत उद्योग शील, उच्छिष्ट वर्जन करने वाले, सर्वदा चक्र से अङ्कित शरीर वाले, मान, सात्सर्य एवं कार्पण्य का परित्याग करने वाले, महान दैव पित्र्य कार्य में सदा तत्पर, दम्भ से रहित सभी अकर्मण्य द्रव्यों का परिहार करने वाले, माता-पिता के तथा सद् बन्धुओं के वत्सल कही हुई बातों का पालन करने वाले, नित्य निर्भय, विनम्र, सभी से ऊपर रहकर स्थिति तथा काम में परायण, वंशोद्धारक, रूप सुन्दर बुद्धि से अलङ्कृत, अथवा गुरु के प्रसाद से अन्यत्र गुरु गृह में अथवा अपने गृह में दर्शन मात्र से सन्तुष्ट, मन्त्र मूर्त्ति के दर्शन से सन्तुष्ट, मण्डल दर्शन से सन्तुष्ट, गुरु के नेत्र द्वारा देखे जाने पर, अथवा उनके प्रोक्षण मात्र से संस्कृत, मात्र इतने से ही अपने को कृतार्थ समझने वाले, शिष्यता को प्राप्त काल से सन्तुष्ट रहने वाले, आचार्य से पढ़कर अथवा पाठ सुन कर जो एकान्त में निर्जन में निरन्तर पाठ का अनुशीलन करे, जो सम्पूर्ण पाठ याद कर कभी अभिमान न करे, जो क्षुब्ध होकर स्वार्थ सिद्धि के लिये किसी दूसरे को पाठ न पढ़ावे। (क्षोभरहित होकर दूसरे को पाठ पढ़ावे) ॥ २-१७ ॥

नोद्ग्राहयति शास्त्रार्थमभ्यर्थयति योऽनिशम्।
न विक्रियामवाप्नोति ह्याक्षिप्तोऽप्यथ संसदि॥ १८ ॥
न मन्यते तदा सम्यग् विजेष्यामीति वादिनः।
कुण्डमण्डलमुद्रास्त्रपीठबिम्बालयेषु च॥ १९ ॥
समन्त्रेषु च बुद्धिस्थं नित्यं कुर्याच्च संग्रहम्।
अयनादिषु कालेषु प्रत्यहं त्वस्य सम्भवात्॥ २० ॥
देवमर्चापयेत् कुर्यात् स्वयं वा मान्त्रमर्चनम्।

जो निरन्तर शास्त्रार्थ का स्वयं अभ्यास करे और वैष्णवातिरिक्त को शास्त्रार्थ न बतावे। सभा में आक्षिप्त होकर भी विक्रिया (मलीनता, असन्तोष) प्राप्त न करे। 'मैं वादी पर विजय प्राप्त करूँगा' जो इस विचार को अच्छा नहीं समझता, समन्त्रक, कुण्ड, मण्डल, मुद्रा, अस्त्र, पीठ, बिम्ब तथा देवालय बुद्धि में जानकारी रखे। उत्तरायणादि काल उपस्थित होने पर देवाधिदेव की अर्चा करावे और स्वयं मन्त्र द्वारा अर्चन करे ॥ १८-२१ ॥

गुर्वादिष्टो गुरूणां च कुर्यात् पादाभिवन्दनम्॥ २१ ॥
कार्या तेषां न जिज्ञासा यया यान्त्यप्रसन्नताम्।

प्रसाद्य विधिवत् पृच्छेदबुद्धमथ विस्मृतम् ॥ २२ ॥
विज्ञातमथवा ज्ञातमाचार्यैः परिचोदितः ।
क्लृप्तां तेषां स्वकां मुद्रां गुप्तां कृत्वा प्रकाशयेत् ॥ २३ ॥
संस्कृतश्रुतपाठाभ्यां स्वगुरुं प्रार्थयेत् ततः ।
भगवद्यागपूर्वं तु पुत्रकाख्यं परं पदम् ॥ २४ ॥
असन्निधानात् स्वगुरोः प्रार्थयेत् तत्प्रतिष्ठितम् ।
तदभावात् तु वै चान्यं क्रमात् सद्वैष्णवो हि यः ॥ २५ ॥
नान्यदर्शनसंस्थं तु गुरोर्यस्मादवैष्णवात् ।

गुरु के द्वारा आदेश प्राप्त कर अन्य गुरु सदृशों का पादाभिवन्दन करे। उनसे ऐसी कोई जिज्ञासा न करे जिससे वे अप्रसन्न हों । जिस विषय का अपने को ज्ञान न हो, अथवा जिसका विस्मरण हो गया हो, उस पदार्थ की जिज्ञासा करके उन्हें प्रसन्न कर करे । आचार्य के द्वारा आज्ञा प्राप्त कर उनसे ज्ञात अथवा अज्ञात पदार्थ पूछे । गुरुओं द्वारा बताई गई मुद्रा गुप्त रूप से भी प्रकाशित न करे। संस्कृत के विषय में तथा श्रुतपाठ के विषय में (ज्ञान के लिये) गुरु से प्रार्थना करे । गुरु के सन्निधान में न रहने पर उनके स्थान पर भगवद् यागपूर्वक प्रतिष्ठित 'पुत्रक' नामक शिष्य से प्रार्थना करे । पुत्रक के अभाव में अन्य से और इसी प्रकार क्रमशः जो सद् वैष्णव हो उससे प्रार्थना पूर्वक पूछे ॥ २१-२६ ॥

कर्मतन्त्रं समन्त्रं च द्रव्यसामान्यजं फलम् ॥ २६ ॥
नूनं वैफल्यमायाति तस्मात् तं परिवर्जयेत् ।
द्रव्यमन्त्रक्रियाभावभेदात् फलमनश्वरम् ॥ २७ ॥
जायते कर्मिणां शश्वदभेदाद् वै ह्यकर्मिणाम् ।
सर्वत्र समबुद्धीनामात्मन्यभिरतात्मनाम् ॥ २८ ॥
लोकाचारवियुक्तानां यज्ञविग्रहिणां तु वै ।
ज्ञात्वैवं सह वै यस्य सम्बन्धः सफलो भवेत् ॥ २९ ॥

अवैष्णाव गुरु से अथवा अन्य दर्शन से समन्त्रक कर्मतन्त्र तथा द्रव्य-सामान्यज फल नहीं होता । निश्चय ही ऐसे लोगों द्वारा कराये गये समन्त्रक कर्मतन्त्र निष्फल हो जाते हैं । इसलिये उनका परिवर्जन करे । भगवान् की आराधना में निरत भक्तों को द्रव्य मन्त्र क्रिया तथा भाव भेद से उसका अनश्वर फल होता है इसी प्रकार सर्वत्र समबुद्धी रखने वाले, अपनी आत्मा में निरत, लोकाचार रहित, यज्ञ विग्रह वाले महात्माओं को उनमें अभेद बुद्धि से उनका अनश्वर फल होता है । इस प्रकार जान कर जिसका जिस प्रकार उनमें सम्बन्ध होता है वही सफल होता है ॥ २६-२९ ॥

सर्वदा स उपास्तव्य इहामुष्मिकसिद्धये ।
लिङ्गैरेतैः परिज्ञेयः सहजोत्थैरकृत्रिमैः ॥ ३० ॥
आचार्यैः समयी नाम शिष्यो जात्या चतुर्विधः ।

इस लोक तथा परलोक में सिद्धि प्राप्त करने के लिये मात्र परमात्मा ही उपासना के योग्य है । इस प्रकार स्वभाव में रहने वाले अकृत्रिम लिङ्गों से आचार्य समयी शिष्य का ज्ञान करे । ऐसे शिष्य चार प्रकार के होते हैं ॥ ३०-३१ ॥

एवं पुत्रकपूर्वा ये परिज्ञेयास्तु ते त्रयः ॥ ३१ ॥
किन्तु तस्य विशेषो यस्तमिदानीं निबोधतु ।

पूर्वोक्तानि समयिलक्षणानि पुत्रकादिषु त्रिष्वपि समानानि । तद्विशेषांस्तूपरि वक्ष्यामीत्याह—एवमिति ॥ ३१-३२ ॥

जिनमें समयी शिष्य का लक्षण (२२.२.३०) कह दिया गया । इसी प्रकार पुत्रक आदि तीन शिष्यों में भी पूर्वोक्त लक्षणों को जानना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

२. पुत्रकशिष्यस्य विशेषलक्षणकथनम्

विज्ञाता गुरुणा यस्य विनियोगात् कृतार्थता ॥ ३२ ॥
स्वल्पमध्योत्तमाद्येन शिक्षितेनागमेन च ।
तस्यानुग्रहबुद्ध्या तु आहूतस्याच्युतालये ॥ ३३ ॥
कृत्वा निरीक्षणाद्यं च देवधाम्नि तु क्षेपयेत् ।
तुष्टो मन्त्रमयं सम्यक् सार्घ्यपुष्पाक्षताञ्जलिः ॥ ३४ ॥
ततः प्रभृति कालाच्च ध्यानं न्यासादिकं विना ।
पूजनं मन्त्रमात्रेण वह्नितर्पणवर्जितम् ॥ ३५ ॥
योग्यतापदसिद्ध्यर्थं दत्तं बिम्बेऽप्सु वा स्थले ।
सामान्यविधिना चोक्तो गुरुणा चार्चयाऽच्युतम् ॥ ३६ ॥
स तथेति तदुक्तं च मत्वाऽऽस्ते मुदितः सदा ।
आलोचयंस्तु शास्त्रार्थं स्वमुद्रामुद्रितं तु वै ॥ ३७ ॥
शक्त्या निरीक्षमाणं च योगक्षेमादिकं गुरोः ।
तदाराधननिष्ठस्तु तच्चित्तस्तत्परायणः ॥ ३८ ॥

पुत्रकस्य विशेषलक्षणान्याह—विज्ञाता गुरुणा यस्येत्यारभ्य स्वपुत्रादधिकः सदेत्यन्तम् । एवं च सम्यग् गृहीतशास्त्रार्थः पुत्रपदार्होऽयमिति गुरुणा ज्ञातः । मण्डलोपरि प्रक्षेपितपुष्पाञ्जलिकस्तदा प्रभृत्यत्राच्युतमर्चयेति गुरुणानुज्ञातो बिम्बे मण्डलेऽप्सु वा प्रत्यहं ध्यानन्यासवह्नितर्पणानि विना मन्त्रमात्रार्चनपरः शास्त्रार्थ-पर्यालोचनादिशीलो यः स पुत्रक इति ज्ञेयः ॥ ३२-४१ ॥

अब हे सङ्कर्षण ! पुत्रक शिष्य में जो विशेषता है, उसे सुनिये । जिसके विनियोग (क्रिया संकल्प) से स्वल्प, मध्य, उत्तम प्रकार के द्वारा शिक्षित आगम से गुरु जिसकी कृतार्थता जान लेता है उस पर अनुग्रहदृष्टि रख कर उसे विष्णु-मन्दिर में बुलावे और पुनः उसका अवलोकन करे । फिर उसे देवधाम (मण्डल) में रखे। उस पर सन्तुष्ट होकर उसकी अञ्जलि में अर्घ्य, पुष्प एवं अक्षत से पूर्णकर मण्डल में पुष्प प्रक्षेप कराकर मन्त्र प्रदान करे । किन्तु ध्यान एवं न्यास का उपदेश न करे । अग्नि के तर्पण (होम मन्त्र) के बिना मन्त्र मात्र के पूजन का उपदेश करे । उसकी योग्यता की सिद्धि के लिये गुरु सामान्य विधि से उपदेश करे कि आप बिम्ब के जल में अथवा स्थल में अच्युत का अर्चन कीजिये । फिर गुरु द्वारा उपदिष्ट होने पर प्रसन्नचित्त हो शिष्य 'तथास्तु' कहे । फिर स्वमुद्रा से मुद्रित शास्त्रार्थ का परिशीलन करे । अपनी शक्ति के अनुसार गुरु के योग-क्षेमादि का निरीक्षण करता रहे । उनकी आराधना में तत्पर रहकर तच्चित्त एवं तत्परायण रहे ॥ ३२-३८ ॥

समाक्षिप्तस्तदादेशान्मन्त्रमुद्राद्वयं विना ।
कीर्त्यर्थं स्वगुरोर्ब्रूयात् ज्ञातं शास्त्रार्थमुत्तमम् ॥ ३९ ॥

उनकी आज्ञा होने पर मन्त्र एवं मुद्रा दोनों के बिना अपनी कीर्त्ति के लिये गुरु के द्वारा उपदिष्ट उत्तम शास्त्रार्थ उन्हें सुना देवे ॥ ३९ ॥

विचार्य स्वधिया सम्यग् वैष्णवानां हि संसदि ।
यथा नैति जनानां च मध्ये मात्सर्यभूमिताम् ॥ ४० ॥

वैष्णवों की सभा में तथा सामान्य जनों की सभा में जिस प्रकार वह मात्सर्य की भूमि (ईर्ष्या का स्थान) न बने, वैसा अपनी बुद्धि से विचार करता रहे ॥४०॥

स शिष्यः पुत्रको नाम स्वपुत्रादधिकः सदा ।

ऐसा शिष्य 'पुत्रक' कहा जाता है । वह अपने पुत्र से भी अधिक प्रिय होता है ॥ ४१ ॥

३. साधकलक्षणकथनम्

साधकाख्ये विशेषो यस्तमिदानीं निबोध मे ॥ ४१ ॥
पूर्ववल्लब्धदीक्षस्तु मन्त्राराधनतत्परः ।
स्नानादिनाऽखिलेनैव देवभूतेन कर्मणा ॥ ४२ ॥
सिद्धये स्वात्मनश्चैव न लोकाराधनाय च ।
वने वायतनोद्देशे स्वगृहे वा मनोरमे ॥ ४३ ॥
मन्त्रसेवार्घ्यदानं च कुर्यान्मन्त्रव्रतं महत् ।

परमः पालनीयश्च तेनैष समयः सदा ॥ ४४ ॥

अथ साधकलक्षणमाह—साधकाख्ये विशेषो य इत्यारभ्य साधको भगवन्मय इत्यन्तम् । एवं च यावन्तं पूर्वोक्तदीक्षया संस्कृत आयतने वने भवने वा यथाविधि ध्यानन्यासादिभिः सह मन्त्रार्चनं कुर्वन् जपादिभिस्तत्साधनपरो यः स साधक इति बोध्यः ॥ ४१-४६ ॥

अब हे सङ्कर्षण ! साधक शिष्य में जो विशेषता है उसे मुझसे सुनिये—साधक शिष्य पूर्व की भाँति दीक्षा प्राप्त कर समस्त स्नानादि तथा दैवी कर्म से युक्त होकर लोकाराधन के लिये नहीं, अपनी सिद्धि के लिये मन्त्राराधन में तत्पर रहे । वन में, अथवा किसी देवतायतन में, अथवा अपने गृह में, अथवा किसी मनोरम स्थान में निवास करते हुए मन्त्र, सेवा एवं अर्घ्यदानपूर्वक महान् मन्त्र-व्रत का पालन करे । सब प्रकार से यही पालनीय है इसीलिये इसे समय कहा जाता है ॥ ४१-४४ ॥

यदतीव च संलब्धं यच्छक्त्यानन्दमात्मनि ।
तदाश्चर्यं न वक्तव्यं पूजापूर्वं गुरोर्विना ॥ ४५ ॥
आत्मीयमुद्रासंयुक्तो नित्योद्युक्तः स्वकर्मणि ।
श्रद्धया यः स बोद्धव्यः साधको भगवन्मयः ॥ ४६ ॥

जो अत्यन्त रूप से प्राप्त हो तथा जिसकी शक्ति से अपूर्व आनन्द हो, उसे बहुत आश्चर्य न समझे, वह अपूर्व गुरु की पूजा का फल है । इस प्रकार जो श्रद्धापूर्वक आत्मीय मुद्रा से संयुक्त हो, अपने कर्म में सर्वदा सावधानी रखने वाला हो, उस भगवन्मय को साधक शिष्य समझना चाहिये ॥ ४५-४६ ॥

४. आचार्यलक्षणकथनम्

लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तस्त्वभियुक्तो विशेषतः ।
अनुग्रहार्थं गुरुणा भक्तानां विनियोजितः ॥ ४७ ॥
पदानि पदमन्त्राणां सार्थकानि च वेत्ति यः ।
वाच्यवाचकभावेन साङ्गानङ्गवशेन वा ॥ ४८ ॥
करविग्रहकह्लारचक्रन्यासार्थमेव च ।
समेन विषमेणैव सकृच्चित्रादिकेन च ॥ ४९ ॥
तेषामर्थवशाच्चैव विनियोगं हि वस्तुषु ।
ध्यानदैवतविज्ञानाद् व्यापकत्वं तु चाध्वनि ॥ ५० ॥
निर्लिङ्गं देवतानां च शब्दब्रह्मत्वमेव हि ।
यथावदनुजानाति स्ववर्णैः प्रागुदीरितम् ॥ ५१ ॥

साङ्कर्यमागमानां च वेत्ति वाक्यवशात् तु यः ।

अथाचार्यलक्षणमाह—लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्त इत्यारभ्य सर्वैः सामयिकैर्गुणैरित्यन्तम् । अथ प्रसङ्गात् शास्त्रसङ्करभेदं दिव्यादिभेदैरागमत्रैविध्यमपि दर्शितम् । तत्र मुनिभाषितस्यापि सात्त्विकादिभेदैस्त्रैविध्यमैश्वर (१।५७-६३)परमेश्वरा(१०।३४७-३७४)दिषूपबृंहितं ग्राह्यम् । एतत्साङ्कर्यविचारः श्रीपाञ्चरात्ररक्षायां बहुशः प्रतिपादितो द्रष्टव्यः । ''अनिर्वाहकमाद्योक्तेरिति दिव्यमुनिभाषितयोर्विरुद्धार्थत्वमुच्यते । असम्बद्धमिति पूर्वापरविरुद्धत्वम्'' (पृ० २९) इति पौरुषवाक्यलक्षणप्रकरणोक्तं पदद्वयमपि तत्रैव व्याख्यातम् । एवं च पूर्वोक्तलक्षणैर्युक्तो व्रतादिभिः सिद्धमन्त्र आचार्याभिषेकेनाभिषिक्तः पदमन्त्राद्यर्थज्ञानसम्पन्नो यः स आचार्य इति बोध्यः ।

ननु ''पूर्ववल्लब्धदीक्षः'' (२२।४२) इति साधकस्य, 'लिङ्गैः पूर्वोदितैर्युक्तः' (२२।४७) इत्याचार्यस्य च प्राप्तदीक्षत्वमुक्तं भवति, समयिपुत्रकयोस्तु तन्नास्ति, तथापि तयोर्मन्त्रमात्रार्चने कथमधिकारः सिद्ध्यति? दीक्षाकालमन्तरा तयोर्मन्त्रः कदा प्राप्त इति चेत्, मध्ये (कमनीया?किमनया) शङ्कया? वचनात् प्रवृत्तिः, वचनान्निवृत्तिः। अदीक्षितानामर्चना(न)धिकारप्रतिपादकानि वचनानि तु मुद्रान्याससहितार्चनाधिकारनिषेधपराणि बोध्यानि । मन्त्रस्तु मण्डलदर्शनानन्तरं शास्त्राभ्याससमय एव संगृह्यते ॥ ४७-६१ ॥

पूर्वोक्त चिह्नों से विशेष रूप से युक्त ऐसा अभियुक्त जिसे गुरु ने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये विनियोजित किया हो । जो साङ्ग अथवा बिना अङ्ग के अर्थ सहित पदों को तथा पदमन्त्रों को वाच्यवाचकभावरूप से जानने वाला हो, करविग्रह कह्लार तथा चक्रन्यास के लिये सम, विषम, सकृत् चित्रादिक के द्वारा जो पदों के अर्थ के अनुसार वस्तुओं में विनियोग, ध्यान एवं देवता का ज्ञान रखते हुए, अध्व में व्यापकता ज्ञान रखने वाला हो, जो अपने-अपने वर्णों के अनुसार पहले कहे गये देवताओं की निर्लिङ्गता तथा शब्द ब्रह्मितत्त्व को ठीक-ठीक जानने वाला हो, जो वाक्यों के अनुसार वाक्य-वश आगमों के साङ्कर्य को जानने वाला हो वह आचार्य के योग्य है ॥ ४७-५२ ॥

तत्र वै त्रिविधं वाक्यं दिव्यं च मुनिभाषितम् ॥ ५२ ॥
पौरुषं चारविन्दाक्ष तद्भेदमवधारय ।
यदर्थाढ्यमसन्दिग्धं स्वच्छमल्पाक्षरं स्थिरम् ॥ ५३ ॥
तत्पारमेश्वरं वाक्यमाज्ञासिद्धं च मोक्षदम् ।
प्रशंसकं वै सिद्धीनां सम्प्रवर्तकमप्यथ ॥ ५४ ॥
सर्वेषां रञ्जकं गूढं निश्चयीकरणक्षमम् ।
मुनिवाक्यं तु तद्विद्धि चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥ ५५ ॥

यह आगमों का साङ्कर्य भेद दिव्यादिभेद तीन प्रकार का कहा गया है । हे

अरविन्दाक्ष ! हे सङ्कर्षण ! ये आगमों के भेद दिव्य, मुनि तथा पौरुष रूप से तीन प्रकार के कहे गये हैं । जो विशिष्ट अर्थों से युक्त होने के कारण (दृढ़) अकाट्य हो, स्वल्प एवं अल्पाक्षर हो, स्थित हो, ऐसा आज्ञासिद्ध मोक्षप्रद ईश्वर का वाक्य 'दिव्य' कहा जाता है । जो सिद्धियों का प्रशंसक हो, संसार में अथवा स्वर्ग में प्रवृत्त कराने वाला हो, सभी का रञ्जन करने वाला हो, गूढ (गुप्त रूप से कहा गया हो) जिससे निश्चय करने की क्षमता हो, ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्षपरक वाक्यों को 'मुनि वाक्य' कहा जाता है ॥ ५२-५५ ॥

अनर्थकमसम्बद्धमल्पार्थं शब्दडम्बरम् ।
अनिर्वाहकमाद्योक्तेर्वाक्यं तत्पौरुषं स्मृतम् ॥ ५६ ॥

अर्थहीन, पूर्वापर विरुद्ध, अल्पार्थ, शब्दाडम्बर से परिपूर्ण दिव्यवाक्य का निर्वाह करने में अशक्य, ऐसे वाक्य को 'पौरुष वाक्य' कहा जाता है ॥ ५६ ॥

हेयं चानर्थसिद्धीनामाकरं नरकावहम् ।
प्रसिद्धार्थानुवादं यत् संगतार्थं विलक्षणम् ॥ ५७ ॥
अपि चेत् पौरुषं वाक्यं ग्राह्यं तन्मुनिवाक्यवत् ।

यह पौरुषवाक्य अनर्थ सिद्धियों का समूह नरक प्रदान करने वाला है । किन्तु जो प्रसिद्ध अर्थों का अनुवाद करने वाला है, जिसका अर्थ संगत तथा विलक्षणता से परिपूर्ण है, ऐसा पौरुषवाक्य मुनिवाक्य के समान ग्राह्य है ॥ ५७-५८ ॥

एवमादेयवाक्योत्थ आगमो यो महामते ॥ ५८ ॥
सन्मार्गदर्शनं कृत्स्नं विधिवादं च विद्धि तम् ।
तत्प्रामाण्यात् तु यत्किञ्चित् समभ्यूह्य यथार्थतः ॥ ५९ ॥
पूर्वापराविरोधेन निर्वाहयति सर्वदा ।
भक्तानां चोदितस्त्वेवं पदवाक्यप्रमाणवित् ॥ ६० ॥
स्वमुद्रालङ्कृतश्चापि यः सदा चक्रधृक् चरेत् ।
स देशिको निबोद्धव्यः सर्वैः सामयिकैर्गुणैः ॥ ६१ ॥

इसी प्रकार हे महामते ! जो आगम उपादेय वाक्य वाला है, ऐसे सम्पूर्ण सन्मार्ग दर्शक वाक्य को विधिवाद जानो । भक्तों की प्रेरणा से विधिवाद से यथार्थता का ठीक-ठीक ज्ञान कर पूर्वापर का विरोध न करते हुए ऐसे वाक्यों का सर्वदा निर्वाह करे । आचार्य पद (व्याकरण), वाक्य (मीमांसा), प्रमाण (न्याय), शास्त्र का वेत्ता हो, जो मुद्रा से अलङ्कृत होकर चक्रधारण करते हुए, सञ्चरण करे । इस प्रकार जो सभी सामायिक गुणों से संयुक्त हो, उसे आचार्य समझना चाहिये ॥ ५८-६१ ॥

वेदयत्यन्यथात्मानं योऽन्यस्मिन् योजितं पदे ।
कृत्वापेक्षां तु हृदये स याति नरकेऽधमः ॥ ६२ ॥
नो भाजनं स्यात् सिद्धीनां क्रमत्यागे कृते सति ।
स्वमाचारं स्वकां जातिं स्वगोत्रं स्वगुरोर्गृहम् ॥ ६३ ॥

समयिपुत्रकाद्यवरपदस्थोऽपि प्रतिष्ठापेक्षया साधकाचार्यपदारूढत्वेनात्मानं वेदयति, तस्य महत्तरं दोषमाह—वेदयतीति सार्धेन ॥ ६२-६३ ॥

स्वपदं च स्वसंस्कारं प्राङ्निषिद्धेन वै विना ।
गोपायत्यचिराद् यो वै पातित्यमुपयाति सः ॥ ६४ ॥

एवं स्वाचारजातिगोत्रादिगोपनेऽपि पातित्यं संभवतीत्याह—एवमिति सार्धेन । प्राङ्निषिद्धेन मन्त्रमुद्रादिनेत्यर्थः,

समाक्षिप्तस्तदादेशान्मन्त्रमुद्राद्वयं विना ।
कीर्त्यर्थं स्वगुरोर्ब्रूयाद् ज्ञातं शास्त्रार्थमुत्तमम् ॥ (२२।३९)

इत्यादिभिस्तेषां प्रकाशन(स्य) निषिद्धत्वात् । अतस्त्वहङ्कारादुत्कृष्टत्वकथनं च न कार्यम् ॥ ६३-६४ ॥

क्रमत्याग करने के कारण उसे सिद्धियाँ नही प्राप्त होती । जो अपना आचार, अपनी जाति, अपना गोत्र, अपने गुरु का गृह, अपना पद, अपना संस्कार, अपनी मुद्रा, अपना मन्त्र, नहीं छिपाता वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है किन्तु जो उसे छिपाता है वह अवश्य पतित होता है ॥ ६३-६४ ॥

तस्माच्छ्रेयोऽर्थिना नित्यं नाभिमानं न तत्क्षयात् ।
अधरोत्तरता सम्यग् आचर्तव्या च कुत्रचित् ॥ ६५ ॥

वास्तविकार्थकथनं श्रेयस्करमित्याह—तस्मादिति ॥ ६५ ॥

इसलिये साधक को चाहिये कि वह अहङ्कार वश अपने को अपनी अवस्था से उत्कृष्ट की अभिव्यक्ति न करे । ऐसा करने से उसका क्षय निश्चित है ॥ ६५ ॥

सङ्कर्षण उवाच

मुद्राचतुष्टयं देव कीदृग्लक्षणलक्षितम् ।
ज्ञायते यत्परिज्ञानाद् देशिकान्तं चतुष्टयम् ॥ ६६ ॥

पूर्वोक्तसमयिपुत्रकादिज्ञापकतत्तन्मुद्राचतुष्टयलक्षणं पृच्छति सङ्कर्षणः—मुद्रेति ॥ ६६ ॥

भगवान् सङ्कर्षण ने कहा—हे भगवन् ! अब मैं पूर्व में कहे गये समयी साधकादि के मुद्रा का लक्षण जानना चाहता हूँ । वह किस लक्षण से लक्षित होता है ॥ ६६ ॥

श्रीभगवानुवाच

यत्पूर्वं नृहरेः प्रोक्तं शिरोमुद्रादिपञ्चकम् ।
तदङ्गुष्ठविनिर्मुक्तं विद्धि न्यूनाङ्गुलैः क्रमात् ।
चतुष्टयं चतुर्णां तु गुर्वन्तानां यथास्थितम् ॥ ६७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां अधिकारिमुद्राभेदविधिर्नाम द्वाविंशः परिच्छेदः ॥ २२ ॥

— ❧ —

एवं पृष्टो वासुदेवः पूर्वं नृसिंहकल्पोक्त(१७।१०२)शिखामुद्रादिचतुष्टयमेव समयिपुत्रका(णां?दीनां) मुद्राचतुष्टयमित्याह—यदिति सार्धेन ॥ ६७ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये द्वाविंशः परिच्छेदः ॥ २२ ॥

— ❧ —

श्री भगवान् के कहा—हे सङ्कर्षण हमने पूर्व में नृसिंह कल्प (सत्रहवें अध्याय) में शिखामुद्रादि चतुष्टय तथा सामयिकादि चतुष्टय का मुद्रा लक्षण वह जिस प्रकार होता है उसे कह दिया है ॥ ६७ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के अधिकारिमुद्राभेदविधि नामक बाइसवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ २२ ॥

— ❧ —

त्रयोविंशः परिच्छेदः

अधिवासदीक्षाविधिः

नारद उवाच

कामपालेन देवेशस्त्वथ ब्राह्मणसत्तमाः ।
चोदितो यत् तदधुना कथयामि समासतः ॥ १ ॥

अथ त्रयोविंश परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह सङ्कर्षणेन वासुदेवो यत्पृष्टस्तत् कथयामीत्याह—कामपालेनेति ॥ १ ॥

नारद जी ने कहा—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इतना सुन लेने के अनन्तर सङ्कर्षण द्वारा पूछे जाने पर देवाधिदेव श्रीकृष्ण ने जो कहा उसे संक्षेप में कहता हूँ ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

ज्ञातो विभवदेवानां देव बीजगणो मया ।
अधुना ज्ञातुमिच्छामि तत्पिण्डनिचयो हि यः ॥ २ ॥

प्रश्नप्रकारमाह—ज्ञात इति ॥ २ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—हे देव! मैंने विभव देवताओं का बीजगण जान लिया है। अब जो उनके पिण्डमन्त्र हैं, उन्हें जानना चाहता हूँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

यथाक्रमोदितानां च देवानां विनिबोधतु ।
पिण्डमन्त्रगणं मत्तः सावधानेन चेतसा ॥ ३ ॥

एवं पृष्टो वासुदेवः पिण्डमन्त्रान् शृण्वित्याह—यथेति । यथाक्रमोदितानां देवानां पद्मनाभध्रुवाणामित्यर्थः ॥ ३ ॥

श्री भगवान् ने कहा—पूर्व में यथाक्रम कहे गये पद्मनाभ एवं ध्रुवादि विभव देवताओं के पिण्डमन्त्रगणों को सावधान चित्त होकर सुनिये ॥ ३ ॥

नाभेरष्टमबीजं यत् स्थितं तत् सप्तमोपरि ।
तदधश्चोत्तरं चाक्षादरान्तेन विभूषयेत् ॥ ४ ॥

अथोत्तरं चाक्षदेशादादाय तदधो न्यसेत् ।
बीजं नेमेर्द्वितीयं यन्मध्यान्मध्यं तदासने ॥ ५ ॥
आधारषष्ठसंरूढं कुर्याद् वै नाभिसप्तकम् ।
अष्टमं च तदूर्ध्वे तु एतद् विद्धि तृतीयकम् ॥ ६ ॥
नाभ्यष्टममथादाय अरात् षष्ठासनस्थितम् ।
ततो नाभिद्वितीयस्य क्रमेणाधो निवेश्य च ॥ ७ ॥
तदुद्देशात् तृतीयं च सप्तमं तुर्यमेव च ।
अथादाय च नेमेः प्राक् तदधो नाभिसप्तमम् ॥ ८ ॥
तस्याप्यधस्तदुद्देशात् तृतीयं विनिवेश्य च ।
ततस्तु नवमं नाभेस्तस्योर्ध्वाधोगतं न्यसेत् ॥ ९ ॥
तत्रैव यद् द्वितीयं तु तत्पिण्डं विद्धि सप्तमम् ।
अरात् षष्ठस्य चोर्ध्वे तु नाभिपूर्वं तु विन्यसेत् ॥ १० ॥
सप्तमं चाष्टमं चापि ह्युपर्युपरि वै क्रमात् ।
अथाष्टमं नाभिदेशादारूढं सप्तमोपरि ॥ ११ ॥
तदधो मध्यगं चाक्षान्नवमं परिकीर्तितम् ।
भूयोऽरात् पञ्चमस्योर्ध्वे दद्यान्नाभितृतीयकम् ॥ १२ ॥
बाह्यात् तृतीयं तन्मूर्ध्ना पिण्डोऽयं दशमः स्मृतः ।
द्वितीयं नाभिदेशाच्च तत्तृतीयं तदूर्ध्वगम् ॥ १३ ॥
नेमेराद्यन्तमूर्ध्वे तु स्मृतमेकादशं त्विदम् ।
अथो नाभिचतुर्थस्य सप्तमं विनिवेश्य च ॥ १४ ॥
तदधो नेमिपूर्वं तु एतद् द्वादशमं स्मृतम् ।
नेमेस्त्रिदशमादाय तदधो योजयेत् क्रमात् ॥ १५ ॥
सप्तमं च चतुर्थं च पूर्वं नाभेर्महामते ।
अरषष्ठासनाः सर्वे पिण्डमेतत् त्रयोदशम् ॥ १६ ॥
नाभेश्चतुर्थमादाय तदूर्ध्वे सप्तमं न्यसेत् ।
नवमं चापि तन्मूर्ध्नि एतद्विद्धि चतुर्दशम् ॥ १७ ॥
नेमेश्चतुर्थसंख्यस्य ऊर्ध्वाधोभ्यां निवेश्य च ।
वर्णं नाभिद्वितीयं यत् तत्पञ्चदशमं स्मृतम् ॥ १८ ॥
यद्विंशसंख्यकं बाह्यादादायाराख्यमण्डलात् ।
सान्तिमेन च षष्ठेन युक्तं कुर्यादनन्तरम् ॥ १९ ॥
नेमेः सप्तमवर्णस्य ऊर्ध्वाधोभ्यां निवेश्य च ।

नाभिदेशाद् द्वितीयं यद् विद्धि सप्तदशं तु तत् ॥ २० ॥
नवमं नाभिदेशाच्च सप्तमस्योपरि न्यसेत् ।
अथाष्टमं नाभिदेशात् कुर्यात् सप्तममूर्ध्वगम् ॥ २१ ॥
द्वितीयमपि तस्याधस्तस्माद् वै नाभिमण्डलात् ।
अरात् त्रयोदशादूर्ध्वे न्यूनविंशतिमं तु तत् ॥ २२ ॥
नाभेश्चतुर्थं तस्योर्ध्वे तत्तृतीयं तदूर्ध्वगम् ।
तत्रैव सप्तमं यद् वै विद्धि विंशतिमं त्विदम् ॥ २३ ॥
द्वितीयस्याष्टमं नाभेर्वर्णस्योर्ध्वे नियोज्य च ।
अरात् षष्ठं च तस्याधः कुर्यात् तदनु लाङ्गलिन् ॥ २४ ॥
नवमं नाभिदेशाच्च तृतीयस्योपरि न्यसेत् ।
द्वितीयं तदधः कुर्यात् त्रयोविंशतिमं शृणु ॥ २५ ॥
अष्टमं सप्तमं नाभेर्द्वितीयं प्रथमं ततः ।
क्रमेण योजयेच्चैव अरात् षष्ठस्य मूर्धनि ॥ २६ ॥
नेमेः सप्तममादाय तदधो नाभिसप्तमम् ।
तत्तृतीयं च तस्याधश्चतुर्विंशतिमं स्मृतम् ॥ २७ ॥
नाभेस्तृतीयं तस्योर्ध्वे द्वितीयं तस्य चोपरि ।
निवेश्य नेमिपूर्वं तु षड्विंशमधुनोच्यते ॥ २८ ॥
अरात् षष्ठासनं कुर्याद् वर्णं नाभितृतीयकम् ।
तदूर्ध्वे सप्तमं चैव अतोऽन्यमवधारय ॥ २९ ॥
न्यूनं षड्विंशतिं नेमेस्तस्योर्ध्वाधोगतं न्यसेत् ।
सप्तमं नाभिवर्णेभ्यस्त्वरवर्गाच्च पञ्चमम् ॥ ३० ॥
नेमेराद्यद्वितीयं च आदाय तदधो न्यसेत् ।
मध्यमक्षान्महाबुद्धेरष्टाविंशतिमं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
नवमं सप्तमं नाभेस्तृतीयं च तृतीयकम् ।
अथोत्तरस्थमक्षाच्च आदाय तदधो न्यसेत् ॥ ३२ ॥
तृतीयं च द्वितीयं च नाभिदेशादनन्तरम् ।
नाभिद्वितीयमादाय सप्तमं तुर्यमेव च ॥ ३३ ॥
तृतीयस्याथ वै नाभेर्बाह्यादाद्यं तु मूर्धगम् ।
ततस्तु नवमं नाभेरक्षमध्यस्थमूर्ध्वगम् ॥ ३४ ॥
अष्टमस्याथ वै नाभेरथ ऊर्ध्वे द्वितीयकम् ।

दद्यात् तदन्वरात् षष्ठं तस्यैवाधोगतं तु वै ॥ ३५ ॥
अरात् षष्ठस्य चोर्ध्वे तु नाभिपूर्वं च तत्परम् ।
विनिवेश्याष्टमं चापि षट्त्रिंशमवधारय ॥ ३६ ॥
सप्तमं च तृतीयं च चतुर्थं नाभिमण्डलात् ।
योजयित्वा तदूर्ध्वे चाप्यराणां त्रिदशं न्यसेत् ॥ ३७ ॥
अथवा नवमं नाभेस्तृतीयं च द्वितीयकम् ।
तत्सप्तत्रिंशकं विद्धि नाभिदेशादथाहरेत् ॥ ३८ ॥
अरात् षष्ठासनं पूर्वं द्वितीयं च तदूर्ध्वतः ।
नवमं चापि तस्योर्ध्वे पिण्डास्त्वद्यादिमं विना ॥ ३९ ॥
आरान्ताद्येन वै मूर्ध्ना सर्वे कार्या ह्यलङ्कृताः ।
नमोऽन्ताः प्रणवाद्याश्च युक्ताः संज्ञापदैः स्वकैः ॥ ४० ॥

तेषामुद्धारक्रममाह—नाभेरष्टमबीजं यदित्यारभ्य नमोऽन्ताः प्रणवाद्याश्च युक्ताः संज्ञापदैः स्वकैरित्यन्तम् । नाभेरष्टमबीजं यद् हकारं तत्सप्तमोपरि सकारोपरि स्थितं कृत्वा तदधः सकारस्याधस्ताद् अक्षरादुत्तरं नकारं संयोज्य अरान्तेन विसर्गेण भूषयेत् । पद्मनाभस्य पिण्डाक्षरमिदम् । उत्तरत्राप्येवं रीत्या बोध्यम् । तथा चैषां प्रयोगः—ह्स्न्ः, न्खमं, ह्स्यूं, हूं, ल्स्वं, क्स्लं, क्षं, ह्स्यूं, ह्स्मं, ग्लुं, क्स्त्रं, ख्स्कं, क्स्व्यं, क्ष्स्वं, क्ष्वं, घ्रं, भ्रुं, द्भ्रं, क्ष्सं, स्त्रों, स्ल्वं, ह्वं, क्ष्लुं, ह्स्यूं, ज्स्वं, क्यं, स्त्र्यूं, स्वूं, क्ख्मं, ह्र्लं, न्य्रं, स्वं, क्षं, क्ष्मं, ह्वं, ह्यूं, स्ल्वों, क्ष्रुं, क्ष्रूं ।

इत्यष्टत्रिंशत् पिण्डमन्त्राः । अत्राद्यं पिण्डं विनाऽन्ये सर्वेऽप्यनुस्वारेण योज्याः, प्रणवादिनमोन्ताश्च चतुर्थ्यन्तपद्मनाभादिसंज्ञायुक्ताश्च कार्याः ॥ ४-४० ॥

पद्मनाभादि अड़तीस विभवदेवताओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. पद्मनाभ, २. ध्रुव, ३. शक्त्यात्मा, ४. मधुसूदन, ५. विधाधिदेव, ६. कपिल, ७. विश्वरूप, ८. विहङ्गम, ९. क्रोडात्मा, १०. वड़वावक्त्र, ११. धर्म, १२. वगीश्वर, १३. देव एकावर्णवशय, १४. पातालधारककूर्म, १५. वाराह, १६. नरसिंह, १७. अमृताहरण, १८. दिव्यदेह श्रीपति, १९. अमृतधारक कान्तात्मा, २०. राहुजित्, २१. कालनेमिघ्न, २२. महान् परिजातहर, २३. शान्तात्मा लोकनाथ, २४. महाप्रभु दत्तात्रेय, २५. भगवान् न्यग्रोधशायी, २६. एक श‍ृङ्ग, २७. दिव्य वामनै, २८. सर्वव्यापी त्रिविक्रम, २९. नर, ३०. नारायण, ३१. हरि, ३२. कृष्ण, ३३. ज्वलत्परशुधकृराम, ३४. धनुर्धर राम, ३५. वेदवित भगवान्, ३६. कल्की, ३७. पातालशयन, ३८. प्रभु ।

नाभि का अष्टमबीज हकार उसको उससे सप्तम सकार पर स्थापित करे । उस सकार से उत्तर नकार को संयुक्त करे । उसके बाद उसे अरान्त (विसर्ग) से भूषित करे । उसके आदि में ॐ लगावे और अन्त में नमः लगावे । फिर उसकी

संज्ञा से संयुक्त करे—यथा 'ॐ ह्स्नः नमः पद्मनाभाय' इसी प्रकार अन्य पिण्ड मन्त्रों को समझे ।

३८ विभवदेवताओं के पिण्ड-मन्त्र इस प्रकार हैं—ह्स्नः, न्खमं, ह्स्यूं, हूं, ल्स्वं, क्स्लं, क्ष्नं, ह्स्मं, ग्लुं, क्स्त्रं, ख्स्कं, क्स्व्यं, क्ष्स्वं, क्ष्वं, घ्रं, भ्रुं, द्भ्रं, क्ष्सं, स्त्रों, स्ल्वं, ह्वं, क्ष्लुं, ह्स्यूं, ज्स्वं, क्यं, स्त्र्यूं, स्वूं, क्ख्मं, ह्र्लं, न्त्रं, स्वं, क्षं, क्ष्मं, ह्रुं, ह्यूं, स्ल्वों, क्ष्रुं, क्ष्रूं ।

यहाँ प्रथम पिण्ड को विसर्ग से संयुक्त करे और शेष ३७ पिण्ड मन्त्रों को अनुस्वार से युक्त करे ॥ ४-४० ॥

अरान्ताद्यं विना यस्य य ऊर्ध्वे वर्तते स्वरः ।
अधो वा नाभिपूर्वेण सह वा केवलं हि तम् ॥ ४१ ॥
अपास्य च ततः कुर्यात् सर्वेषां पूजनाय च ।
स्वेन स्वेन तु पिण्डेन सिंहवच्चाङ्गकल्पनम् ॥ ४२ ॥
नमः प्रणवसंज्ञाऽस्या जातिः कर्मवशात् पुनः ।
आ तदुक्तात् तु यजनाद् मोक्षनिष्ठः समाचरेत् ॥ ४३ ॥
बीजपिण्डपदोत्थानां विनियोगं तु चाखिलम् ।
किन्त्वेषां वैभवी मुद्रा देयाऽऽराधनकर्मणि ॥ ४४ ॥
तदङ्गमुद्राश्चाङ्गानां योज्या मन्त्रैः स्वकैः सह ।

अथ तत्तत्पिण्डं विहायाकारादिस्वरैः पूर्वोक्तविश्वत्रातृनृसिंहमन्त्रवद् हृदयाद्यङ्ग-कल्पनां सर्वेषां मन्त्राणामप्यविशेषेण दशमपरिच्छेदोक्त(१०।४८) वैभवमुद्राप्रदर्शनं हृदयादीनां नृसिंहकल्पोक्त(१७।९७-१०६)तत्तन्मुद्राप्रदर्शनं नृसिंहमन्त्रवदेव तेषामपि दीक्षापूर्वमर्चनादिभिश्चतुर्विधपुरुषार्थसाधनं चाह—अरान्ताद्यं विना यस्येत्यारभ्य चतुर्वर्गं हि साधनमित्यन्तम् ॥ ४१-४६ ॥

तत्तत् पिण्ड को छोड़कर केवल अकारादि स्वर से पूर्वोक्त विश्वमान् नृसिंह मन्त्र के समान उसी से हृदयादि अङ्ग की कल्पना कर सभी मन्त्रों कीं सामान्यतः वैभवमुद्रा, जैसा कि दशम परिच्छेद (१०.४८) में कही गयी है, उसी प्रकार करे। हृदयादि मुद्रा नृसिंह कल्पोक्त (द्र. १७.९७-१०६) की भाँति करे ॥ ४१-४५ ॥

सर्वं साधारमुद्दिष्टं सैंहमन्त्रोदितं मया ॥ ४५ ॥
दीक्षापूर्वं हि मन्त्राणां चतुर्वर्गं हि साधनम् ।

भगवान् कहते हैं—यहाँ तक हमने साधार सभी बातें नृसिंह मन्त्र में कह दी हैं । दीक्षापूर्वक अर्चनादि से चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि होती है ।

लक्षणं पदमन्त्राणामथेदानीं निबोधतु ॥ ४६ ॥

यैर्विना लब्धसत्तानामर्चनं हि न जायते।
विश्वातीताय विमलं पदं विद्याविधायिने॥ ४७ ॥
पद्मनाभाय वै विश्वव्यापिने तदनन्तरम्।
चतुर्विंशाक्षरं विद्धि एतत्संख्यं परं शृणु॥ ४८ ॥

अथ पदमन्त्रानाह—लक्षणं पदमन्त्राणामित्यारभ्य भक्त्या सत्कर्मणां भुवीत्यन्तम्। तथा चैषां प्रयोगः—

ॐविश्वातीताय विमलविद्याविधायिने पद्मनाभाय विश्वव्यापिने नमः। ॐज्योतीरूपाय गगनमूर्तये ध्रुवाय परमपदप्राप्तिहेतवे नमः। ॐअनन्तायाऽपरिमिताय सर्वाश्रयाय धृतशक्तये नमः। ॐनमो भगवते वासुदेवाय सर्वशक्त्यात्मनेऽनन्तमूर्तये नमः। ॐवीर्यात्मने महापुरुषाय मोहमायाविध्वंसिने सदोदिताय सर्वशक्तये नमः। ॐवेदविदे विश्वरञ्जकाय विश्वपतये परमात्मने नमः। ॐज्ञानात्मने संवित्प्रकाशाशयाय शान्तरूपाय नमः। ॐअनन्तशक्तये सर्वव्यापिने जगन्मयाय विश्वरूपाय नमः। ॐसत्सत्त्वगुहा(शया)य परहंसाय मानसचारिणे नमः। ॐयज्ञमूर्तये विश्वान्तर्वर्तिने भुवनवराहाय विभूतिस्वामिने नमः। ॐनमो भगवते वडवाग्नये जगज्जलेन्धनप्रदीप्तवीर्याय फट् नमः। ॐसर्वान्तश्चारिणे प्रसन्नमूर्तये धर्मात्मने नमः। ॐसर्वविद्येश्वराय वाक्पतये वद वद वाग्विभवं नमः। ॐयोगैश्वर्यप्रदाय योगनिद्रारसाय नीरदाय भगवज्जलशायिने नमः। ॐभगवदनन्तबलशक्तये तेजोमयाय भुवनधृते कच्छपात्मने नमः। ॐयज्ञाङ्गदेहाय महावराहाय पुराणपुरुषाय प्रजापतये नमः। ॐनमो भगवते नारसिंहाय तेजोनिधये हन हन विकर्मजात्यं दुष्कृतं नमः। ॐअमृतमूर्ते ज्ञानबलात्मने सर्वेश्वराय भगवन्नमः। ॐपुण्डरीकाक्ष परमेश्वर सकलसुखसौभाग्यनिधे वाञ्छितसिद्धिप्रदाखिलदुःखशमनाग्नये आनन्दसुन्दरलक्ष्मीपतये नमः। ॐसदसन्मूर्तये विश्वोत्तमायामृतनिधये नमः। ॐपुरुषोत्तमायाप्रतिहतशक्तये सर्वेश्वराय समग्रोग्रभयनिवारणाय नमः। ॐनियन्त्रे विश्वहेतवे परब्रह्मसेतवे ॐ नमः। ॐअप्रतिमप्रभावमहाविभूते महामायादर्शकतालकेतवे नमः। ॐशान्तात्मने यमनियमाश्रयाय परमर्धिप्रदाय नारायणाय नमः। ॐभवभङ्गकारिणे भगवते दत्तात्रेयाय वर्णाश्रमधर्मपरिग्रहाय ॐ नमः। ॐसर्वज्ञाय विश्वात्मने विमलसर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय नमः। ॐभूतभावनाय विश्वात्मने विमलनिकेतनाय कन्धराय नमः। ॐविष्णवे निरस्तास्त्राय ब्रह्ममयाय जटिने दण्डिने विदितविभवाय नमः। ॐसर्वव्यापिने सहस्रार्चिषे त्रिविक्रमायाऽपरिमितप्रभावाय नमः। ॐनरनाथाय पुरुषप्रवराय आत्मध्यानपरायणाय नमः। ॐनारायणाय निरतिशयानन्दमयाय निरभिमानपदासक्ताय नमः। ॐपराय परमात्मने योगेश्वराय हरये नमः। ॐनमः परमात्मने कृष्णाय कमलदलविततनेत्राय ब्रह्मिष्ठाय ब्रह्मणे नमः। ॐभगवन् युगान्तदहनदीप्तये संसारबन्धविच्छेदकर्त्रे नमः। ॐचतुर्मूर्तये चतुर्गतिमयाय शरशार्ङ्गभृते शरदिन्दीवरत्विषे भगवतेऽभिरामशरीराय नमः। ॐविशदपरमार्थवेदविदे विदुषे व्यापकाय स्वामिन् नमः। ॐगरुडवाहन सर्वशस्त्रास्त्रोद्यत शमयाऽशुभं धुन धुन कर्मबन्धान् धर्मं पाहि जह्यधर्मं नमः। ॐसंहारमूर्तये कालवैश्वानरार्चिषे पातालशयनाय अज्ञाननिगडनिचयं हन हन ॐनमः। इत्यष्टत्रिंशत्पदमन्त्राः॥ ४६-११३ ॥

अब हे सङ्कर्षण! पद मन्त्रों के लक्षण सुनिये । जिसके बिना सत्ता (अधिकार) प्राप्त होने पर भी अर्चन संभव नहीं होता ॥ ४६-४७ ॥

१. ॐ विश्वातीताय विमलविद्याविधायिने पद्मनाभाय विश्वव्यापिने नमः ॥ ४७-४८ ॥

ज्योतीरूपाय पञ्चार्णं पदं गगनमूर्तये ।
ध्रुवाय दद्यात् तदनु परमं त्र्यक्षरं ततः ॥ ४९ ॥
पदप्राप्तिचतुर्वर्णं हेतवे त्र्यक्षरं त्विति ।
अनन्ताय पदं दद्यात् ततोऽपरिमिताय च ॥ ५० ॥

२. ॐ ज्योतीरूपाय गगनमूर्त्तये ध्रुवाय परमपदप्राप्तिहेतवे नमः ॥ ४९-५० ॥

सर्वाश्रयाय तदनु तदन्ते धृतशक्तये ।
एतद्विंशतिसंख्यं च द्वाविंशार्णमतः शृणु ॥ ५१ ॥

३. ॐ अनन्तायाऽपरिमिताय सर्वाश्रयाय धृतशक्तये नमः ॥ ५१ ॥

नमो भगवते कृत्वा वासुदेवाय वै ततः ।
सर्वशक्त्यात्मनेऽनन्तमूर्तये तु पदं त्विति ॥ ५२ ॥

४. ॐ नमो भगवते वासुदेवाय सर्वशक्त्यात्मनेऽनन्तमूर्तये नमः ॥ ५२ ॥

वीर्यात्मने महाशब्दं पुरुषाय पदं ततः ।
मोहमायापदं चैव ततो विध्वंसिने तु वै ॥ ५३ ॥
सदोदिताय शब्दं तु सर्वशक्तिपदं ततः ।
नियोक्तव्यं चतुर्वर्णं सप्तविंशाक्षरं स्मृतम् ॥ ५४ ॥

५. ॐ वीर्यात्मने महापुरुषाय मोहमायाविध्वंसिने सदोदिताय सर्वशक्तये नमः ॥ ५३-५४ ॥

पदं वेदविदे विश्वरञ्जकाय ततो भवेत् ।
तदन्ते विश्वपतये ततो वै परमात्मने ॥ ५५ ॥

६. ॐ वेदविदे विश्वरञ्जकाय विश्वपतये परमात्मने नमः ॥ ५५ ॥

एष विंशतिभिर्वर्णैः शृणु सप्तदशाक्षरम् ।
ज्ञानात्मने पदं कुर्यात् संविच्छब्दमतः परम् ॥ ५६ ॥
पदं प्रकाशाशयाय शान्तरूपाय वै ततः ।
अनन्तशक्तये सर्वव्यापिने तदनन्तरम् ॥ ५७ ॥
जगन्मयाय तदनु विश्वरूपाय वै पदम् ।
एकविंशतिभिर्वर्णैरयमुक्तोऽपरं शृणु ॥ ५८ ॥

७. ॐ ज्ञानात्मने संवित्प्रकाशाशयाय शान्तरूपाय नमः ।

८. ॐ अनन्तशक्तये सर्वव्यापिने जगन्मयाय विश्वरूपाय नमः ॥ ५७-५८ ॥

सत्सत्त्वपदमादाय गुहाशयपदं ततः ।
ततः परमहंसाय ततो मानसचारिणे ॥ ५९ ॥

९. ॐ सत्सत्त्वगुहाशयाय परमहंसाय मानसचारिणे नमः ॥ ५९ ॥

न्यूनविंशत्यक्षरश्चैवाथातो यज्ञमूर्तये ।
पदमादाय तदनु विश्वान्तर्वर्तिने तु वै ॥ ६० ॥
ततो भुवनशब्दं तु वराहाय पदं त्वथ ।
विभूतिस्वामिने चेति चतुर्विंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ६१ ॥

१०. ॐ यज्ञमूर्तये विश्वान्तर्वर्त्तिने भुवनवराहाय विभूतिस्वामिने नमः ॥ ६०-६१ ॥

नमो भगवते दद्यात् ततो वै वाडवाग्नये ।
जगज्जलेन्धनपदं प्रदीप्तपदमेव तु ॥ ६२ ॥
वीर्याय फट् तदन्ते तु एतत्संख्यस्त्वयंस्मृतः ।

११. ॐ नमो भगवते वडवाग्नये जगज्जलेन्धनप्रदीप्तवीर्याय फट् नमः ॥६२॥

सर्वान्तश्चारिणे दद्यात् प्रसन्नपदमेव च ॥ ६३ ॥
मूर्तयेऽथ तदन्ते वै दद्याद् धर्मात्मने पदम् ।
षोडशाक्षरमेतद् वै अतो गुह्यतमं शृणु ॥ ६४ ॥

१२. ॐ सर्वान्तश्चारिणे प्रसन्नमूर्तये धर्मात्मने नमः ॥ ६३ ॥

सर्वविद्येश्वरायाथ दद्यात् वाक्पतये ततः ।
पदं वद वदादाय ततो वाग्विभवं त्विति ॥ ६५ ॥
न्यूनविंशाक्षरो ह्येष त्वपरं कथयामि ते ।

१३. ॐ सर्वविद्येश्वराय वाक्पतये वद वद वाग्विभवं नमः ॥ ६४-६५ ॥

योगैश्वर्यप्रदायाथ योगनिद्रारसाय वै ॥ ६६ ॥
निरताय पदं दद्याद् भगवज्जलशायिने ।
त्रिरष्टवर्णसंख्यश्च अयमेकाधिकस्तु वै ॥ ६७ ॥

१४. ॐ योगैश्वर्यप्रदाय योगनिद्रारसाय नीरदाय भगवज्जलशायिने नमः ॥ ६७ ॥

भगवत्पदमादाय अनन्तबलशक्तये ।
तेजोमयाय भुवनभृतेऽथ द्व्यक्षरं पदम् ॥ ६८ ॥

तदन्ते विनियोक्तव्यं पदं वै कच्छपात्मने ।
षड्विंशार्णमिमं विद्धि मन्त्रं मन्त्रविदांवर ॥ ६९ ॥

१५. ॐ भगवदनन्तबलशक्तये तेजोमयाय भुवनधृते कच्छपात्मने नमः ॥ ६८-६९ ॥

यज्ञाङ्गदेहायाद्याय महापदमतः परम् ।
वराहाय ततो दद्यात् पुराणपुरुषाय वै ॥ ७० ॥
दद्यात् ततः प्रजाशब्दं तदन्ते पतये पदम् ।
चतुर्विंशाक्षरं मन्त्रमेतन्मन्त्रविदांवर ॥ ७१ ॥

१६. ॐ यज्ञाङ्गदेहाय महावराहाय पुराणपुरुषाय प्रजापतये नमः ॥ ७०-७१ ॥

नमो भगवते कृत्वा नारसिंहाय वै ततः ।
तेजोनिधे पदं दद्यात् पदं हन हनेति च ॥ ७२ ॥
ततो विकर्मजाद्यं वै शब्दं पञ्चाक्षरं भवेत् ।
दुष्कृतं हि तदन्ते वै सप्तविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ७३ ॥
आदायामृतमूर्ते वै ततो ज्ञानबलात्मने ।
सर्वेश्वराय भगवन्न्यूनविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ७४ ॥

१७. ॐ नमो भगवते नारसिंहाय तेजोनिधये हन हन विकर्मजात्यं दुष्कृतं नमः ॥ ७२-७३ ॥

१८. ॐ अमृतमूर्ते ज्ञानबलात्मने सर्वेश्वराय भगवन्नमः ॥ ७३-७४ ॥

आदाय पुण्डरीकाक्षपदं वै परमेश्वर ।
ततः सकलशब्दं तु सुखसौभाग्य वै पदम् ॥ ७५ ॥
निधे वाञ्छितशब्दं तु ततः सिद्धिप्रदेति वै ।
पदं चाखिलदुःखेति ततस्तु शमनाग्नये ॥ ७६ ॥
आनन्दसुन्दरपदं ततो लक्ष्मीपदं न्यसेत् ।
पतये शब्दमुच्चार्य पञ्चाशार्णस्त्रिरुज्झितः ॥ ७७ ॥

१९. ॐ पुण्डरीकाक्ष परमेश्वर सकलसुख सौभाग्यनिधे वाञ्छित सिद्धि-प्रदाखिलदुःखशमनाग्नये आनन्दसुन्दरलक्ष्मीपतये नमः ॥ ७५-७७ ॥

सदसत्पदमादाय मूर्तये तदनन्तरम् ।
विश्वोत्तमाय तदनु ततोऽमृतनिधे तु वै ॥ ७८ ॥
षोडशार्णस्त्वयं मन्त्र उक्तः कान्तात्मनोविभोः ।

२०. ॐ सदसन्मूर्तये विश्वोत्तमायामृतनिधये नमः ॥ ७८-७९ ॥

पुरुषोत्तमाय शब्दं तु ततोऽप्रतिहतेति च ॥ ७९ ॥
शक्तयेऽथ पदं दद्यात् सर्वेश्वरपदं ततः ।
समग्रोग्रभयेत्यत्र निवारणपदं ततः ॥ ८० ॥
सप्तविंशाक्षरो मन्त्र उक्तश्चातः परं शृणु ।
नियन्त्रे पदमुद्धृत्य तदन्ते विश्वहेतवे ॥ ८१ ॥
परब्रह्मसमेतं च सेतवे ओमनन्तरम् ।
मन्त्रो द्विरष्टवर्णश्च कथितो वच्म्यतः परम् ॥ ८२ ॥

२१. ॐ पुरुषोत्तमायाप्रतिहतशक्तये सर्वेश्वराय समग्रोग्रभयनिवारणाय नमः ॥ ७९-८१ ॥

२२. ॐ नियन्त्रे विश्वहेतवे परब्रह्मसेतवे ॐ नमः ॥ ८१-८२ ॥

पदमप्रतिमेत्यादौ प्रभावं तदनन्तरम् ।
महाविभूते तदनु महामायापदं ततः ॥ ८३ ॥
अथ दर्शकशब्दं तु तदन्ते तालकेतवे ।
चतुर्विंशाक्षरो मन्त्रस्त्वयमुक्तः समासतः ॥ ८४ ॥

२३. ॐ अप्रतिमप्रभाव महाविभूते महामायादर्शकतालकेतवे नमः ॥८३-८४॥

शान्तात्मने पदं दद्यात् तदन्ते यम विन्यसेत् ।
नियमाश्रयाय दद्यात् परमर्धिप्रदाय च ॥ ८५ ॥
नारायणाय शब्दं तु पूर्वसंख्यासमं स्मृतम् ।
भवभङ्गपदं चैव कारिणे तदनन्तरम् ॥ ८६ ॥

२४. ॐ शान्तात्मने यमनियमाश्रयाय परमर्धिप्रदाय नारायणाय नमः ॥ ८५-८६ ॥

ततो भगवते शब्दं दत्तात्रेयाय वै ततः ।
वर्णाश्रमपदं चाथ धर्मशब्दमतः परम् ॥ ८७ ॥
परिग्रहाय प्रणवमष्टाविंशाक्षरः स्मृतः ।
सर्वलोकमयायेति सर्वज्ञाय पदं ततः ॥ ८८ ॥
सर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय पदं त्वथ ।
त्रयोविंशत्यक्षरश्च त्वयमन्यं निबोधतु ॥ ८९ ॥

२५. ॐ भवभङ्गकारिणे भगवते दत्तात्रेयाय वर्णाश्रमधर्म परिग्रहाय ॐ नमः ॥ ८७-८८ ॥

२६. ॐ सर्वज्ञाय विश्वात्मने विमलसर्वेश्वराय न्यग्रोधशयनाय नमः ॥८८-८९॥

भूतशब्दमथादाय भावनाय पदं ततः ।
शब्दं विश्वात्मने चाथ विमलेतिपदं ततः ॥ ९० ॥
निकेतनाय तदनु कन्धराय पदं ततः ।
अयं विंशतिभिर्वर्णैर्द्व्यधिकैर्मन्त्रराट् स्मृतः ॥ ९१ ॥
विष्णवे पदमादाय निरस्तास्त्राय वै ततः ।
पदं ब्रह्ममयायाऽथ जटिने दण्डिने ततः ॥ ९२ ॥

२७. ॐ भूतभावनाय विश्वात्मने विमलनिकेतनाय कन्धराय नमः ॥९०-९२॥

दद्याद् विदितशब्दं वै तदन्ते विभवाय च ।
षड्विंशार्णस्त्वयं मन्त्रः परमस्मान्निबोधतु ॥ ९३ ॥

२८. ॐ विष्णवे निरस्तास्त्राय ब्रह्ममयाय जटिने दण्डिने विदितविभवाय नमः ॥ ९३ ॥

सर्वशब्दमथादाय व्यापिने तदनन्तरम् ।
पदं सहस्त्रार्चिषे तु दद्यात् पञ्चाक्षरं शुभम् ॥ ९४ ॥
त्रिविक्रमायाथ पदं ततोऽपरिमितेति च ।
प्रभावाय पदं दद्यात् त्रयोविंशाक्षरः स्मृतः ॥ ९५ ॥

२९. ॐ सर्वव्यापिने सहस्त्रार्चिषे त्रिविक्रमाया परिमितप्रभावाय नमः ॥९४-९५॥

नरनाथाय शब्दं तु पुरुषप्रवराय वै ।
आत्मध्यानपरायेति णाय वै द्व्यक्षरं ततः ॥ ९६ ॥

३०. ॐ नरनाथाय पुरुषप्रवराय आत्मध्यानपरायणाय नमः ॥ ९६ ॥

एकविंशाक्षरो मन्त्रस्त्वतोऽन्यमवधारय ।
नारायणाय शब्दं तु दद्यान्निरति वै पदम् ॥ ९७ ॥
शयानन्दमयायेति पदं निरभिमान वै ।
पदासक्ताय तदनु पञ्चविंशाक्षरस्त्वयम् ॥ ९८ ॥

३१. ॐ नारायणाय निरतिशयानन्दमयाय निरभिमानपदासक्ताय नमः ॥९७-९८॥

पराय पदमादाय ततो वै परमात्मने ।
योगेश्वराय हरये मन्त्रोऽयं षोडशाक्षरः ॥ ९९ ॥

३२. ॐ पराय परमात्मने योगेश्वराय हरये नमः ॥ ९९ ॥

सप्तार्णं पदमादाय प्राङ्नमः परमात्मने।
कृष्णाय शब्दं तदनु कमलं त्र्यक्षरं ततः॥ १०० ॥
दलशब्दं तु विततनेत्राय तदनन्तरम्।
ब्रह्मिष्ठाय ब्रह्मणे वै अष्टाविंशाक्षरस्ततः॥ १०१ ॥

३३. ॐ नमः परमात्मने कृष्णाय कमलदलविततनेत्राय ब्रह्मिष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १००-१०१ ॥

भगवन् पदमादाय युगान्तदहनेति च।
दीप्तयेऽथ पदं दद्यात् संसारपदमेव हि॥ १०२ ॥
बन्धविच्छेदकर्त्रे वै द्वाविंशार्णस्त्वयं स्मृतः।

३४. ॐ भगवन् युगान्तदहनदीप्तये संसारबन्धविच्छेदकर्त्रे नमः ॥ १०२ ॥

पदं चतुर्मूर्तये वै चतुर्गतिमयाय च॥ १०३ ॥
शरशार्ङ्गभृते दद्याच्छरदिन्दीवरत्विषे।
ततो भगवते दद्यादभिरामपदं ततः॥ १०४ ॥
शरीराय पदं चैव त्वष्टत्रिंशाक्षरः स्मृतः।

३५. ॐ चतुर्मूर्त्तये चतुर्गतिमयाय शरशार्ङ्गभृते शरदिन्दीवरत्विषे भगवतेऽभिरामशरीराय नमः ॥ १०३-१०४ ॥

दद्याद् विशदशब्दं वै परमार्थपदं ततः॥ १०५ ॥
ततो वेदविदे शब्दं विदुषे व्यापकाय च।
स्वामिंस्तदनु वै दद्याद् द्व्यक्षरं चापरं पदम्॥ १०६ ॥
अयं विंशतिभिर्वर्णैरुक्तस्त्वन्यमतः शृणु।

३६. ॐ विशदपरमार्थवेदविदे विदुषे व्यापकाय स्वामिन् नमः ॥ १०६ ॥

दद्याद् गरुडशब्दं तु तदन्ते वाहनेति च॥ १०७ ॥
सर्वशस्त्रास्त्रोद्यतेति शमयाऽशुभमेव च।
ततो धुन धुनादाय कर्मबन्धांस्ततो वदेत्॥ १०८ ॥
धर्मं पाहि ततो दद्याद् जह्यधर्मं ततो वदेत्।
चतुस्त्रिंशाक्षरो मन्त्र एष वक्ष्याम्यतः परम्॥ १०९ ॥

३७. ॐ गरुडवाहन सर्वशस्त्रास्त्रोद्यत शमयाऽशुभं धुन धुन कर्मबन्धान् धर्मं पाहि जह्यधर्मं नमः ॥ १०७-१०९ ॥

संहारमूर्तये शब्दं कालवैश्वानरार्चिषे।

पातालशयनायेति त्वज्ञाननिगडेति वै ॥ ११० ॥
निचयं हन वीप्साऽतः प्रणवं तदनन्तरम् ।
पञ्चत्रिंशाक्षरो ह्येष सर्वसिद्धिकरः स्मृतः ॥ १११ ॥

३८. ॐ संहारमूर्तये कालवैश्वानरार्चिषे पातालशयनाय अज्ञान निगड निचयं हन हन ॐ नमः ॥ ११०-१११ ॥

प्रणवालङ्कृताः सर्वे नमस्कारविभूषिताः ।
संस्मृताः पूजिताश्चैव ध्याता जप्ता विशेषतः ॥ ११२ ॥
तन्नास्ति यन्न यच्छन्ति भक्त्या सत्कर्मणां भुवि ।

ये सभी मन्त्र प्रणव (ॐ) से अलङ्कृत हैं । सभी अन्त में नमस्कार से विभूषित हैं । इन मन्त्रों का स्मरण करने से, पूजा करने से, ध्यान करने से तथा जप करने से इस भूलोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सत्कर्म परायण भक्तों को ये मन्त्र न दे सकें ॥ ११२-११३ ॥

किरीटादिलाञ्छनमन्त्रोद्धारः

अथ लाञ्छनमन्त्राणां सास्त्राणां लक्षणं शृणु॥ ११३ ॥
सहस्रदीधितिपदं दद्याच्छुरित वै ततः ।
विग्रहाय दशार्णं च त्र्यधिकं मकुटस्य च ॥ ११४ ॥
आदाय वाञ्छितपदं ततः सिद्धिप्रदाय वै ।
महाचिन्तापदं दद्यान्मणये तदनन्तरम् ॥ ११५ ॥
विद्धि पञ्चदशार्णं च दशार्णमपरं शृणु ।
सर्वलक्षणशब्दं तु ततः सम्पत्प्रदाय वै ॥ ११६ ॥

अथ तेषां किरीटादिलाञ्छनमन्त्रान् (वराहमन्त्रं?) चक्राद्यायुधमन्त्रांश्चाह—अथ लाञ्छनमन्त्राणामित्यारभ्य यावत् परिच्छेदपरिसमाप्ति । तथा चैषां प्रयोगः—ॐ-सहस्रदीधितिच्छुरितविग्रहाय किरीटाय नमः । ॐवाञ्छितसिद्धिप्रदाय महाचिन्तामणये कौस्तुभाय नमः । ॐसर्वलक्षणसम्पत्प्रदाय श्रीवत्साय नमः । ॐसौभाग्यजननि सर्व-प्रदे वनमालायै नमः । ॐप्राणात्मने सत्याय नमः । ॐकालकर्त्रे चक्राय फट् । ॐविश्वात्मने विश्वप्रदाय पद्माय फट् । ॐविद्ये विद्येश्वरार्चिते गदायै फट् । ॐशब्दमूर्तये शङ्खाय फट् । ॐरसनिधे भीमभीषणाय लाङ्गलाय फट् । ॐभुवना-धिपतये स्तम्भभूताय मुसलाय फट् । ॐइन्द्रियकोशाय इष्वस्त्राय फट् । ॐकल्पान्तानिलघोषाय विद्युल्लसितप्रभाय शार्ङ्गाय फट् । ॐमहामायाबन्धध्वंसिने खड्गाय फट् । ॐसर्वास्त्रग्रसनपराय खेटकाय फट् । ॐसन्तापकाय दर्पविध्वंसिने दण्डाय फट् । ॐअज्ञानखण्डनपराय परशवे फट् । ॐत्रैलोक्यमोहनमूर्तये पाशाय फट् । ॐसर्वाकर्षकरमहामायामयाय अङ्कुशाय फट् । ॐअखण्डितपराक्रमाय मुद्ग-

राय फट् । ॐदर्पप्रशमकर्त्रे वज्राय फट् । ॐतेजोमालिनि शक्त्यै फट् । इति च द्वाविंशतिमन्त्राः ॥ ११३-१३२ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये त्रयोविंशः परिच्छेदः ॥ २३ ॥

— ❀ —

अब उनके किरीटादि चिह्न वाले मन्त्रों को तथा चक्रायुधादि मन्त्रों को कहते हैं—१. ॐ सहस्रदीधितिच्छुरितविग्रहाय(१३) किरीटाय नमः ॥ ११४ ॥

२. ॐ वाञ्छितसिद्धिप्रदाय महाचिन्तामणये(१५) कौस्तुभाय नमः ॥११५॥

३. ॐ सर्वलक्षणसम्पत्प्रदाय(१०) श्रीवत्साय नमः ॥ ११६ ॥

सौभाग्यशब्दमादाय जननि त्र्यक्षरं ततः ।
सर्वप्रदे तु तदनु अयमेव दशाक्षरः ॥ ११७ ॥
प्राणात्मनेऽथ सत्याय विद्धि सप्ताक्षरं त्विदम् ।
कालकर्त्रेऽथ चक्राय फडष्टार्णः प्रकीर्तितः ॥ ११८ ॥

४. ॐ सौभाग्यजननि सर्वप्रदे वनमालायै नमः ॥ ११७ ॥

५. ॐ प्राणात्मने सत्याय नमः ॥ ११८ ॥ यहाँ तक लाञ्छन (भूषण) मन्त्र कहे गये, अब अस्त्र मन्त्रों को कहते हैं—

१. ॐ कालकर्त्रे चक्राय फट् ॥ ११८ ॥

विश्वात्मने पदं दद्यात् ततो विश्वप्रदाय च ।
नवाक्षरमिदं विद्धि परमष्टाक्षरं शृणु ॥ ११९ ॥

२. ॐ विश्वात्मने विश्वप्रदाय पद्माय फट् ॥ ११९ ॥

समादायपदं विद्ये ततो विद्येश्वरार्चिते ।
प्राक् शब्दमूर्तये कुर्याच्छङ्खायाष्टाक्षरः स्मृतः ॥ १२० ॥

३. ॐ विद्ये विद्येश्वरार्चिते गदायै फट् ॥ १२० ॥

४. ॐ शब्दमूर्तये शङ्खाय फट् ॥ १२० ॥

पदं रसनिधे कुर्यात् भीमशब्दमतः परम् ।
भीषणाय तदन्ते वै दशाक्षरमिदं स्मृतम् ॥ १२१ ॥

५. ॐ रसनिधे भीमभीषणाय लाङ्गलाय फट् ॥ १२१ ॥

प्राग् भुवनाधिपतये स्तम्भभूताय वै पदम् ।
त्रयोदशाक्षरं विद्धि ततोऽन्यमवधारय ॥ १२२ ॥

६. ॐ भुवनाधिपतये स्तम्भभूताय मुसलाय फट् ॥ १२२ ॥

पदमिन्द्रियकोशाय इष्वस्त्राय दशाक्षरम् ।
कल्पान्तानिलघोषाय विद्युल्लसित वै पदम् ॥ १२३ ॥
प्रभाय षोडशार्णं तु नवाक्षरमतः शृणु ।

७. ॐ इन्द्रियकोशाय इष्वस्त्राय फट् ॥ १२३ ॥

८. ॐ कल्पान्तानिलघोषाय विद्युल्लसितप्रभाय शार्ङ्गाय फट् ॥ १२३ ॥

महामायापदं दद्याद् बन्धवर्णद्वयं ततः ॥ १२४ ॥
ध्वंसिने पदमादाय एतत्संख्यं पदं शृणु ।

९. ॐ महामायाबन्धध्वंसिने खड्गाय फट् ॥ १२४ ॥

सर्वास्त्रग्रसनादाय पराय तदनन्तरम् ॥ १२५ ॥

१०. ॐ सर्वास्त्रग्रसनपराय खेटकाय फट् ॥ १२५ ॥

सन्तापकाय शब्दं तु दर्पविध्वंसिने ततः ।
एकादशाक्षरं विद्धि नवाक्षरमथोच्यते ॥ १२६ ॥

११. ॐ सन्तापकाय दर्पविध्वंसिने दण्डाय फट् ॥ १२६ ॥

अज्ञानखण्डनपदं पराय तदनन्तरम् ।
त्रैलोक्यमोहनपदं मूर्तये तु नवाक्षरम् ॥ १२७ ॥

१२. ॐ अज्ञानखण्डनपराय परशवे फट् ॥ १२७ ॥

१३. ॐ त्रैलोक्यमोहनमूर्तये पाशाय फट् ॥ १२७ ॥

सर्वाकर्षकरपदं महामायामयेति वै ।
द्वादशाक्षरसंख्यस्तु नवाक्षरमथोद्धरेत् ॥ १२८ ॥

१४. ॐ सर्वाकर्षकरमहामायामयाय अङ्कुशाय फट् ॥ १२८ ॥

प्रागखण्डितशब्दं तु तदन्ते विनियोज्य च ।
पराक्रमाय शब्दं तु सप्ताक्षरमतः शृणु ॥ १२९ ॥

१५. ॐ अखण्डितपराक्रमाय मुद्गराय फट् ॥ १२९ ॥

दर्पप्रशमकर्त्रे तु पञ्चार्णं विनिबोध वै ।
तेजोमालिनि चेत्येतद् द्वाविंशत्यनुकीर्तिता: ॥ १३० ॥

१६. ॐ दर्पप्रशमकर्त्रे वज्राय फट् ॥ १३० ॥

१७. ॐ तेजोमालिनि शक्त्यै फट् ॥ १३० ॥

प्राग्वदाद्यन्तसंरुद्धा: स्वनामपदभूषिता: ।
संख्यानिष्ठाक्षरस्यान्ते दद्यात् संज्ञापदं सदा ॥ १३१ ॥
चक्रवच्चास्त्रमन्त्राणां कुर्यान्नामावसानकम् ।
क्रमाच्चतुर्दशानां तु शक्त्यन्तानां च फट्पदम् ॥ १३२ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां अधिवासदीक्षाविधिर्नाम त्रयोविंश: परिच्छेद: ॥ २३ ॥

— ❧ —

यहाँ तक कुल २२ मन्त्र कहे गये । इन मन्त्रों में पूर्व की भाँति पहले 'ॐ', अन्त में नम: पद, मध्य में चतुर्थ्यन्त नाम लगाकर चक्र से लेकर शक्ति पर्यन्त १७ अस्त्र मन्त्रों के अन्त में फट् लगावे ॥ १३१-१३२ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के अधिवासदीक्षाविधि नामक तेइसवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ २३ ॥

— ❧ —

चतुर्विंशः परिच्छेदः

प्रतिमापीठप्रासादलक्षणम्

श्रीनारद उवाच

विप्रप्रधानाः श्रुत्वैवं मन्त्राणां लक्षणं स्फुटम्।
चोदयामास भगवान् पुनः स तालकेतुना॥ १ ॥

अथ चतुर्विंशतिपरिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह पुनः सङ्कर्षणेन वासुदेवश्चोदित इत्याह—विप्रेति । अत्र दिव्यत्वादात्मनेपदस्थाने परस्मैपदं प्रयुक्तम् । यद्वा स तालकेतुनेति प्रथमैकवचनम् । स तालकेतुर्ना पुरुषः सङ्कर्षण इति यावत् ॥ १ ॥

श्री नारद जी ने कहा—हे ब्राह्मणो ! श्री सङ्कर्षण जी ने मन्त्रों के इस प्रकार के लक्षण को सुनकर पुनः श्री भगवान् से कहा ॥ १ ॥

सङ्कर्षण उवाच

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा भगवन्मयः ।
नित्याराधनकामस्तु यदि मन्त्रमयं वपुः ॥ २ ॥
कर्तुमिच्छति लक्ष्यार्थं तत्र किंलक्षणो विधिः ।

चोदनाप्रकारमाह—ब्राह्मण इति सार्धेन ॥ २-३ ॥

सङ्कर्षण ने कहा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा भगवान् का भक्त यदि नित्य आराधना की कामना से मन्त्रमय शरीर बनाना चाहे, तो उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसे किस विधान का पालन करना चाहिये ॥ २-३ ॥

श्रीभगवानुवाच

चित्रमृत्काष्ठशैलोत्थं सल्लोहमयमेव वा॥ ३ ॥
भेदभिन्न द्विजातीनां हितं बिम्बं फलार्थिनाम् ।
तदभिन्नमकामानां प्राप्तं चाप्यविरोधकृत्॥ ४ ॥
अत्र चित्रमयं विद्धि भित्तिकाष्ठाम्बराश्रितम् ।
पुनः वर्णक्रमेणैव चतुर्धा चाम्बरोत्थितम्॥ ५ ॥
तच्च कार्पासकौशेयक्षौमशाणमयं तु वै ।

एवं चोदितो वासुदेवः प्रथमं चित्रमृत्काष्ठशिलालोहमयत्वेन पञ्चविधानां बिम्बानां प्रत्येकं ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण चातुर्विध्यम्, एवं तत्तद्वर्णानुसारेण तत्तद्-द्रव्यमयबिम्बग्रहणस्य सकामविषयत्वं बिम्बसामान्यग्रहणस्य निष्कामविषयत्वं चाह— चित्रमृत्काष्ठशैलोत्थमित्यारभ्य लाभालाभवशात् पुनरित्यन्तम् ॥ ३-११ ॥

इस प्रकार पूछे जाने पर श्री भगवान् के कहा—१. चित्र, २. मिट्टी, ३. काष्ठ, ४. शिला और ५. लोहे के भेद से पाँच प्रकार के बिम्ब होते हैं । उसके ब्राह्मणादि वर्ण क्रम से प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं । तत्तद् वर्णानुसार तत्तद् द्रव्य का बना हुआ बिम्ब ग्रहण सकाम विषय कहा गया है । बिम्ब का सामान्य ग्रहण बिम्ब का निष्काम विषय कहा गया है । भीत, काष्ठ और कपड़े पर निर्माण किया गया बिम्ब चित्तमय-बिम्ब कहा जाता है । इसके बाद वर्णक्रम के अनुसार कपड़े का बिम्ब कार्पास, कौशेय, क्षौम और सन के भेद से बनाया गया बिम्ब अम्बरोत्थित बिम्ब कहा जाता है ॥ ३-६ ॥

मृज्जमेवं सिताद्युत्थं वार्क्षं विविधमेव च ॥ ६ ॥
आश्वत्थं ब्रह्मवृक्षोत्थं श्रीपर्णीसुरदारुजम् ।
सालतालमयं चैव शाशवन्तीन्दुसारजम् ॥ ७ ॥
एवं द्वयं द्वयं विद्धि द्विजादीनां यथाक्रमम् ।
अतोऽन्ये दृढमूलाश्च सारवन्तो हि याज्ञिकाः ॥ ८ ॥
साधारणाश्चतुर्णां तु प्रतिमाद्ये च कर्मणि ।
सामान्यं भुक्तिमुक्त्यर्थमश्ममृण्मयवत् स्मृतम् ॥ ९ ॥
तारहाटकताम्रोत्थम् आरकूटमयं तथा ।
एवं हि भूमयो वस्त्रपाषाणा धातवो द्रुमाः ॥ १० ॥
वज्रादयोऽखिला रत्नाः सितरक्तादिलक्षणाः ।
असामान्याः फलेप्सूनां लाभालाभवशात् पुनः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार श्वेत, नील, पीत और श्याम वर्ण की मिट्टी से निर्मित बिम्ब मृज्ज बिम्ब कहा जाता है । वृक्षों से बना हुआ बिम्ब अनेक प्रकार का होता है— अश्वत्थ बिम्ब, ब्रह्मवृक्ष (पलाश) बिम्ब, श्रीपर्णी बिम्ब, सुरदारुज बिम्ब, सालत्य बिम्ब, ताल बिम्ब, शशवन्ती बिम्ब, इन्द्रसारन बिम्ब । ये ८ बिम्ब वार्क्षज कहते हैं । इन्हें दो-दो के भेद से द्विजातियों का बिम्ब कहा गया है । इसके अतिरिक्त दृढ़मूल वाले मजबूत एवं याज्ञिक वृक्षों से बनी हुई जो प्रतिमायें हैं, वे प्रतिमादि, कर्म के विचार से चारों वर्णों के लिये साधारण हैं । इस प्रकार की सामान्य प्रतिमायें भोग और मोक्ष के लिये पत्थर और मिट्टी के समान कही गई हैं । तार, हाटक (सुवर्ण) और ताँबे की बनी हुई एवं पीतल की बनी हुई इसी प्रकार श्वेत, लाल वर्ण वाले भूमि, वस्त्र, पाषाण, धातु, वृक्ष, वज्रादि एवं समस्त रत्न भी

सकाम लोगों के लिये लाभालाभवशात् असामान्य (असाधारण) हैं ॥ ६-११ ॥

सम्यक् स्वमूर्तिमन्त्रैस्तु जपहोमार्चनादिना ।
नयेत् सामान्यभासित्वं तथा तत्कारणार्चनात्॥ १२ ॥
यजेत् सेन्द्रां धरां शैलं मृदापादनकर्मणि ।
एवं पटद्रुमार्थं तु वरुणं सवनस्पतिम्॥ १३ ॥
सरत्नानां च धातूनां सम्बन्धेऽर्केन्दुपावकान् ।

अथ तत्तद्बिम्बनिर्माणार्थं तत्तदुपादानद्रव्यग्रहणकाले सामान्यतः करिष्यमाणतत्तन्मूर्तिमन्त्रैरर्चनजपहोमादिकं विशेषतः सेन्द्रधरादितत्तत्कारणार्चनं च कार्यमित्याह—सम्यगिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १२-१४ ॥

आराधक इन मूर्त्तियों को अपने मूर्त्ति मन्त्रों से जप, होम तथा अर्चन से सामान्य मांस की तरह बना लेवे । तत्पश्चात् उन-उन बिम्बों के निर्माण के लिये उनके उपादान भूतद्रव्य ग्रहणकाल में उन-उन मूर्त्ति मन्त्रों से जप एवं होमादि तो करे ही साथ ही विशेष रूप से मिट्टी द्वारा बिम्ब निर्माण के लिये श्रेष्ठ पृथ्वी का पूजन भी करे । पट या द्रुम के द्वारा बिम्ब निर्माण के लिये सवनस्पति वरुण का पूजन करे । सरत्न धातु के द्वारा बिम्ब निर्माण के लिये सूर्य चन्द्रमा तथा अग्नि की पूजा करे ॥ १२-१४ ॥

रत्नाश्रयेण धात्वर्थेनार्चादिशेन वै विना॥ १४ ॥
तथार्चनासनेनैव चक्रपद्ममयादिना ।
न रात्नी प्रतिमा शस्ता ध्यायिनां ध्यानसिद्धये ॥ १५ ॥
केवला लघुमाना च प्रमाणावयवोज्झिता ।

रत्नमयीं सुवर्णरजताख्योत्तमधातुमयीं वा प्रतिमां विनाऽन्यद्रव्यमयी प्रतिमा लघुमाना प्रमाणावयवरहिता चेत्, न प्रशस्ता, तथैव भद्रपीठमपीत्याह—रत्नाश्रयेणेति द्वाभ्याम् । अर्चादिशेन भगवदर्चनास्पदेन, बिम्बेनेति यावत् । अर्चनासनेन केवलभद्रपीठेनेत्यर्थः । रत्नसुवर्णरजतबिम्बं चेद् वस्तुगौरवाल्लघुमानं प्रमाणरहितमपि ग्राह्यमिति फलितोऽर्थः ॥ १४-१६ ॥

सुवर्ण, रजतादि, उत्तम धातुओं से बनी हुई प्रतिमा के बिना अन्य द्रव्यों से बनाई गई प्रतिमा लघुमान में बनाई जाने पर उसकी प्रशंसा नहीं होती । इसी प्रकार लघुमान का बनाया गया भद्रपीठ भी प्रशस्त नहीं होता । किन्तु भगवान् की अर्चा के लिये रत्न, सुवर्णादि, उत्तम धातुओं द्वारा निर्मित बिम्ब तथा भगवदर्चा के लिये बनाया गया उन उत्तम धातुओं का भद्रपीठ वस्तु के गौरव से मान में लघु (प्रमाण रहित) होने पर भी ग्राह्य है ॥ १४-१६ ॥

वर्णाश्रमगुरुत्वाच्च स्वामित्वादखिलस्य च ॥१६ ॥

भूतादिदेवरूपत्वाद् उत्तमाद्येषु वस्तुषु ।
नृपश्चार्हति वै नित्यं सविशेषपदे स्थितः ॥ १७ ॥
किं पुनर्योऽफलाकाङ्क्षी भक्तिश्रद्धापरः सदा ।

मुमुक्षुत्वमात्रेण निकृष्टवर्णोद्भव उत्कृष्टवर्णार्हेषु वस्तुषु कथमर्हतीत्याशङ्कां किंपुनर्न्यायेन परिहरति—वर्णाश्रमेति द्वाभ्याम् ।

अफलाकाङ्क्षी = मुमुक्षुरित्यर्थः ॥ १६-१८ ॥

वर्णाश्रम धर्म में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण, सबका स्वामी होने के कारण, सभी उत्तम वस्तुओं में ऐश्वर्यादि से सम्पन्न होने के कारण तथा देवस्वरूप होने से जिस प्रकार सविशेष पद पर राजा को नियुक्त किया जाता है, उसी प्रकार, जिस किसी प्रकार के फल की आकांक्षा जिसे नहीं है, मुमुक्षु है, भक्ति एवं श्रद्धा युक्त है, वह निकृष्ट वर्ण में उत्पन्न होने पर भी उत्कृष्ट वर्ण के योग्य आसन का अधिकारी है ॥ १६-१८ ॥

बुद्ध्वैवं चित्रबिम्बार्थी यत्नेनेदं समाचरेत् ॥ १८ ॥
गुह्यकान् गृहदेवांस्तु हृदाऽर्च्याऽर्घ्यादिना पुरा ।

प्रथमं चित्रबिम्बनिर्माणार्थं गुह्यकगृहदेवार्चनपूर्वकं भित्तिकाष्ठफलकपटानां संशोधनप्रकारानाह—बुद्ध्वेति सार्धैः पञ्चभिः ॥ १८-२३ ॥

इसी प्रकार अपने मन में विचार कर चित्र बिम्ब का निर्माणकर्त्ता प्रयत्नपूर्वक चित्र बिम्ब के निर्माण में गुह्यकों एवं गृहदेवों की अर्घ्यादि द्वारा हृदय से अर्चना करे ॥ १८-१९ ॥

मलभस्मतुषाङ्गारकेशकीटनखास्तृणम् ॥ १९ ॥
मूलकण्टकचर्मास्थिसामान्येऽश्माह्विभित्तिकाः ।
भवत्यनर्थदाऽवश्यमतः प्राक् चतुरङ्गुलम् ॥ २० ॥

मल, भस्म, तुष, अङ्गार केश कीट, नख, तृण, मूल, कण्टक, चर्म और अस्थि सामान्य में पत्थर की भित्ति पर चित्र निर्माण अनर्थकारक हो जाता है । वहाँ चित्र निर्माण न करे ॥ १९-२० ॥

विहाय मृद्दलं भित्तेरीषद् बिम्बात् तु चाधिकम् ।
उक्तदोषविमुक्ताऽथ पञ्चगव्येन साम्भसा ॥ २१ ॥
मर्दितया मृदा भूयस्तद्भित्त्यंशं प्रपूर्य च ।
शस्त्रेण काष्ठफलकां मृगचर्मसमां पुरा ॥ २२ ॥
छविं विहाय शुद्ध्यर्थं तुरीमुक्तं तु वै पटम् ।
प्रक्षाल्य सलिलेनैव त्वस्त्रजप्तेन सप्तधा ॥ २३ ॥

अब चित्र के लिये मिट्टी, काष्ठ, फलक और पटों के संशोधन का प्रकार कहते हैं । **भित्ति संशोधन का प्रकार कहते हैं**—चित्रकर्त्ता भीत के पहले का चार अङ्गुल स्थान छोड़ देवे । तदनन्तर उक्त दोषों की निवृत्ति के लिये बिम्ब के प्रमाण से कुछ अधिक स्थान जल से प्रक्षालित कर पञ्चगव्य से उसे शुद्ध करे । फिर भीत के खाली अंश को सानी हुई मिट्टी से पूर्ण करे । यदि काष्ठफलक पर चित्र बनाना हो तो शस्त्र से छील कर मृगचर्म के समान उसे कोमल बनावे । यदि पट पर चित्र बनाना हो तो उसे तुरी पर से उतार देवे । उसके रङ्ग को सात बार अस्त्र मन्त्र का जप कर जल से धोकर शुद्ध करे ॥ २१-२३ ॥

मृत्संग्रहणादि प्रकारकथनम्

हृन्मन्त्रेण तु सास्त्रेण मूर्तिमन्त्राञ्चितेन च ।
तीर्थोद्दिशान्नदीतीरात् पुण्यक्षेत्राच्च पर्वतात् ॥ २४ ॥
अपास्य दोषसङ्कीर्णामूर्ध्वादादाय मृत्तिकाम् ।
साऽवचूर्ण्याऽथ संशोष्या सूपलिप्ते धरातले ॥ २५ ॥

अथ मृद्बिम्बनिर्माणार्थं मृत्संग्रहणादिप्रकारानाह—हृन्मन्त्रेणेत्यारभ्य शुभकाष्ठान्तरीकृतमित्यन्तम् ॥ २४-२९ ॥

अब चित्र निर्माण के लिय **मृत्तिका संशोधन का प्रकार** कहते हैं—चित्र के लिये अस्त्र मन्त्र सहित हृदय मन्त्र से, अथवा मूर्त्ति मन्त्र से, तीर्थ स्थान से, नदी तट से, पुण्य क्षेत्र से, पर्वत से, ऊपर की दोष संकीर्ण मिट्टी हटाकर उसके बाद की मिट्टी ग्रहण करे । फिर उसे उपलिप्त धरातल पर स्थापित कर शुष्क बनावे फिर चूर-चूर करे ॥ २४-२५ ॥

शाणमौर्णं च कार्पासं सूत्रं चालसिजं तथा ।
कृत्वा पाषाणभिन्नं प्राग् योज्यं तत्र सवालुकम् ॥ २६ ॥
ईषद्गोमययुक्तेन भूरिक्षीरघृतादिना ।
भावयेत् पञ्चगव्येन खादिरेण कषेण च ॥ २७ ॥
सिद्धार्थकालसिस्नेहतिलोत्थेन च वै सह ।
क्लेदयेच्च त्रिसप्ताहं भाण्डे कृत्वाऽऽयसादिके ॥ २८ ॥
मारुतानलसूर्येन्दुदर्शनेन विनैव हि ।
तया समाप्यं तद्बिम्बं शुभकाष्ठान्तरीकृतम् ॥ २९ ॥

सन का, अन का, कपास का, तथा तीसी का सूत लेकर पत्थर से चूर करे, उसमें बालू मिलावे, फिर थोड़ा गोबर से तथा पर्याप्त दूध और घृत मिलावे । पञ्चगव्य से पवित्र करे तथा खैर डाल कर उसे कषाय वर्ण का बनावे । फिर पीली सरसों, तीसी और तिल का तेल मिलाकर उसे आर्द्र बनावे । तदनन्तर लोहादि के

बर्तन में तीन सप्ताह तक इस प्रकार स्थापित करे जिससे उसमें हवा न लगे। अग्नि, सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणें उसे स्पर्श न करें। इस प्रकार की मिट्टी को अच्छे काष्ठ पर स्थापित कर उसका बिम्ब निर्माण करे ॥ २६-२९ ॥

वस्त्रवच्चैव लोहानां कृत्वा प्रक्षालनं ततः।
मार्जनं भूतिना भूयस्तथा तन्मन्त्रितेन च ॥ ३० ॥

लोहबिम्बनिर्माणार्थं लोहसंशोधनप्रकारमाह—वस्त्रवदिति। तन्मन्त्रितेन अस्त्राभिमन्त्रितेनेत्यर्थः ॥ ३० ॥

भक्त्या प्रवर्तमानस्तु बिम्बसाधनकर्मणि।
सर्वत्र चास्त्रमन्त्रस्य कुर्यान्निर्विघ्नशान्तये ॥ ३१ ॥
पूजनं हवनं भूतबलिदानं सदक्षिणम्।
सम्यग् ग्रहणकाले तु एतत् सामान्यमेव हि ॥ ३२ ॥

बिम्बनिर्माणप्रारम्भकाले सामान्यतस्तत्तन्मूर्तिमन्त्रार्चनादिकं कार्यमित्याह—भक्त्येति द्वाभ्याम् ॥ ३१-३२ ॥

अब लौह बिम्ब के निर्माण के लिये लौह संशोधन का प्रकार कहते हैं। लौह का वस्त्र के समान ही जल से प्रक्षालन करे फिर भस्म मन्त्र से अभिमन्त्रित भूति से उसका मार्जन करे। बिम्ब साधन के काम में भक्तिपूर्वक लगा हुआ साधक बिम्ब निर्माण की निर्विघ्न शान्ति के लिये सर्वत्र अस्त्र मन्त्र का जप करे। फिर पूजन करे, होम करे, बलिदान करे, दक्षिणा देवे, फिर लौह बिम्ब का निर्माण करे। सम्यग् लौह बिम्ब के निर्माण में यही सामान्य विधि है ॥ ३०-३२ ॥

सच्छैलदारुग्रहणे विशेषस्त्वधुनोच्यते।
सर्वत्रारम्भकाले तु निमित्तमुपलक्ष्य च ॥ ३३ ॥
विशेषाद् वनयात्रायां तच्छुभेन शुभोदयः।
अशुभेन निमित्तेन यात्रा विघ्नवती भवेत् ॥ ३४ ॥

विशेषेण शिलादारुसंग्रहणविधानमाह—सच्छैलदारुग्रहण इत्यारभ्य सर्वं चार्णमयं तत इत्यन्तम्। एतत्प्रयोगस्तु श्रीसात्वतामृते सुविशदं प्रतिपादितो द्रष्टव्यः ॥ ३३-९० ॥

अब बिम्ब के लिये शैलदारु ग्रहण के प्रकार में विशेष कहते हैं—सर्वत्र बिम्ब के आरम्भ काल में निमित्त देखे। विशेष कर वन में जाने के लिये शुभ निमित्त दर्शन से शुभ का उदय होता है। साकाम अशुभ निमित्त के दर्शन से यात्रा विघ्नवती होती है ॥ ३३-३४ ॥

विरामेण तु जप्येन शान्तिस्वस्त्ययनादिना।

निवर्तनेन तद्वन्याद् दहते शुभकृद् यतः ॥ ३५ ॥

यात्रा में अशुभ निमित्त का दर्शन होने पर यात्रा का विराम करे और जप करे । शान्ति-पाठ एवं स्वस्त्ययन पाठ करे । इस प्रकार करने वाला शुभकृत् अमङ्गल का दहन कर देता है ॥ ३५ ॥

मन्त्रमभ्यर्च्य यात्रायामभ्यर्थ्याज्ञां विनिन्द्य च ।
नैवेद्यशेषभुग् वामचारस्थः संयतेन्द्रियः ॥ ३६ ॥

यात्रा में मन्त्र की अर्चना करे, भगवान् से आज्ञा माँगे, प्रसन्न रहे, भगवान् के नैवेद्य शेष का भोजन करे, श्रेष्ठ आचरण करे, इन्द्रियों का संयम रखे ॥३६॥

प्राङ्मुखः संस्मरेन्मन्त्रं समुत्थायामृतोदये ।
परिज्ञाय पुरा मूर्तिं तन्मूर्त्यन्तरमेव वा ॥ ३७ ॥

अमृत बेला में शय्या से उठकर पूर्वाभिमुख हो मन्त्र का स्मरण करे । मूर्त्ति का अथवा अन्य मूर्त्ति का पता लगा कर उसी दिशा में यात्रा करे । यदि मूर्त्ति का पता न लगे तो अन्य जिस किसी दिशा में यात्रा करे । यात्रा में सावधान (होशियार) सहायकों को तथा शिल्पियों को साथ रखे ॥ ३७ ॥

यायात् तदीयं दिग्भागं तदभावात् तु चान्यदिक् ।
सहायैरप्रमत्तैस्तु शिल्पिभिः सह संवृतः ॥ ३८ ॥
लाजदध्यक्षतैः कुम्भैर्यायात् पुष्पपुरस्सरैः ।
सौमनस्यं महोत्साहस्त्वङ्गस्पन्दश्च दक्षिणः ॥ ३९ ॥

यात्रा में आगे लावा, दही, अक्षत, पूर्ण कुम्भ एवं पुष्प का दर्शन करे । मन को प्रसन्न रखे और महान् उत्साह से युक्त रहे । यात्रा में दाहिने अङ्ग का फड़कना शुभावह है ॥ ३८-३९ ॥

शुभा वाणी ध्वनिः शाङ्खस्तन्त्री वाद्यं फलादयः ।
गोगजाश्वद्विजाः कन्या नवभाण्डं च मृद् दधि ॥ ४० ॥
आर्द्रमांसान्यलङ्कारो मदिराग्नी घृतं पयः ।
सिद्धान्नं शालिबीजादि दर्भाः सद्रुममञ्जरी ॥ ४१ ॥
छत्रवस्त्रध्वजा यानं रोचना कुङ्कुमं मधु ।
दर्पणं चामरश्चैव धातवः शस्त्रवर्जिताः ॥ ४२ ॥
रत्नानि वैबुधं बिम्बं मधुमत्तो ह्यकातरः ।
जीवन्मत्स्या निमित्तं च मनसो यदखेददम् ॥ ४३ ॥
तत्सर्वं दर्शने श्रेष्ठं यत् खेददमशोभनम् ।

स्वगृहद्वारदेशाच्च पथि सप्तपदावधि ॥ ४४ ॥
क्रममाणे निमित्तं च फलं यच्छत्यनेन हि ।
निर्गत्य नगराद् ग्रामात् क्रोशार्धं क्रोशमेव वा ॥ ४५ ॥
गृह्णीयाच्छाकुनं चिह्नं नकुलादिमयं त्वतः ।
पूर्णात् सार्धाधिकात् क्रोशाद् हितकृन्मृगदर्शनम् ॥ ४६ ॥

शुभ वाणी, शङ्ख की ध्वनि, वीणा का वादन, फलादि, गाय, गज, घोड़ा, कन्या, नवीन भाण्ड (मिट्टी का बर्तन), मिट्टी, दही, आर्द्र, मांस, अलङ्कार, मदिरा, आग, घृत, दूध, सिद्धान्त शाली का बीज, कुशा, वृक्ष पर चढ़ी हुई लता, छत्र, वस्त्र, ध्वज, यान, हरदी, कुङ्कुम, मधु, दर्पण, चामर, शस्त्र रहित धातु, रत्न, देवता का बिम्ब आकार, मद्य में मस्त जीवित मछली तथा मन को प्रसन्न करने वाले समस्त निमित्त ये सभी निमित्त दर्शन मात्र से शुभावह होते हैं । जो मन को खिन्न करने वाले निमित्त हैं, वे अशुभ हैं । अपने घर के द्वार देश से सात पग पर्यन्त चलने पर देखे हुए निमित्त फल प्रदान करते हैं । नगर से अथवा गाँव से एक कोश अथवा आधा कोश चलने पर नकुलादिभय शकुन चिह्न शुभावह होते हैं । एक कोस पूरा होने पर अथवा डेढ़ कोश पूरा होने पर मृग दर्शन हितकारी होता है ॥ ४०-४६ ॥

दिङ्मुखे निर्मले सिद्धिर्व्रजेद् यत्र विशेषतः ।
सिद्धिकृच्चाम्बरं स्वच्छं सुदीप्ता भास्करादयः ॥ ४७ ॥
मरुत् सुखावहः स्निग्धः प्रदक्षिणगतिः स्थिरः ।
दिव्याद्युत्पातनिर्मुक्तः स कालः सिद्धिसूचकः ॥ ४८ ॥

जिस दिशा में जाना हो वह दिशा यदि सर्वथा निर्मल हो तो सिद्धि प्राप्त होती है । स्वच्छ आकाश सिद्धिकारक होता है और सुन्दर प्रकाश युक्त सूर्यादि सुखावह है । शीतल, मन्द, सुगन्ध से युक्त एवं दाहिनी ओर से बहने वाली वायु भी सुखावह होती है । इसी प्रकार दिव्य उत्पात रहित काल भी सिद्धि का सूचक कहा गया है ॥ ४७-४८ ॥

हंसः शुको भरद्वाजः कोकिलः खञ्जरीटकः ।
मयूरो भ्रमरश्चक्रवाकाद्याः खेचराः शुभाः ॥ ४९ ॥

हंस, शुक, भरद्वाज, कोकिल, खञ्जन, मोर, भ्रमर, चक्रवाकादि पक्षी यात्रा में शुभावह है ॥ ४९ ॥

भूचरा नकुलाः सौम्याः सिताहिर्गृहगोधिका ।
गन्धाखुर्जम्बुकश्चैव सर्वेषां दर्शनं शुभम् ॥ ५० ॥

पृथ्वी पर चलने वालों में नकुल, श्वेत सर्प, गृह गोधिका, विस्तुया, छुछुन्दर, जम्बुक इन सभी का दर्शन शुभावह है ॥ ५० ॥

मृगाणां हरिणः सिंहो व्याघ्रः शशकचित्रका ।
सिद्धिसंसूचकाः सर्वे सर्वेषां विहितं तु वै ॥ ५१ ॥

जङ्गली जन्तुओं में हरिन, सिंह, बाघ, खरगोश, चिता ये सभी सबके लिये सिद्धि प्रदान करने वाले हैं ॥ ५१ ॥

प्रदक्षिणं विशेषेण व्यत्यये जम्बुकः शुभः ।
द्विजादिकं रुतं स्निग्धं सिद्धिकृत् तच्च सौख्यदम् ॥ ५२ ॥

ये दक्षिण की ओर होने पर विशेष शुभकारक है । किन्तु जम्बुक बायें दिखाई पड़े तो शुभकारक है । दाहिने पक्षी आदि का मधुर शब्द सिद्धि करने वाला तथा सौख्य प्रदान करने वाला है ॥ ५२ ॥

समुत्पन्ने निमित्ते तु धातुसंक्षेपकर्मणि ।
प्रतीक्षितुं न युज्येत यदा शान्तिं तदाचरेत् ॥ ५३ ॥

धातु संक्षेप कर्म में शुभ निमित्त दिखाई पड़ने पर प्रतीक्षा न करे । जिससे शान्ति हो वैसा करे ॥ ५३ ॥

पूर्वोक्तां चित्तशुद्ध्यर्थं सविशेषां सदक्षिणाम् ।
प्रविश्य विधिवत् क्षेत्रं निरीक्षेत स्वतेजसा ॥ ५४ ॥

चित्त शुद्धि के लिये विशेषता के साथ तथा दक्षिणा के साथ क्षेत्र में जाकर अपने तेज से स्वयं क्षेत्र का निरीक्षण करे ॥ ५४ ॥

पश्येच्छिलां गुणवतीं तरुं वा कर्मणि क्षमम् ।
वर्जयेदतिवृद्धां च परिक्षीणत्वचं तथा ॥ ५५ ॥

क्षेत्र में गुणयुक्त शिला देखे, अथवा बिम्ब कर्म में समक्ष वृक्ष देखे । अत्यन्त बड़ी शिला का वर्जन करे एवं जिस वृक्ष पर त्वचा न हो ऐसे वृक्ष को भी वर्जित करे ॥ ५५ ॥

सभङ्गां दावदग्धां च निश्शब्दां रूक्षविग्रहाम् ।
सवालुकां च सच्छिद्रां बिन्दुयुक्तां पुटोद्वहाम् ॥ ५६ ॥

जो शिला टूटी हो, दावाग्नि से दग्ध हो, शब्द रहित हो, सर्वथा रुक्ष (शुष्क) हो, बालुका युक्त हो, छिद्र वाली हो, बिन्दु से युक्त हो और जो पुट (पात्र) से वहन करने योग्य हो उसे वर्जित करे ॥ ५६ ॥

आखुदर्दुरमीनाहिमार्जारशशकोपमाम् ।

सुवर्णपरवर्णोत्थशिराजालेन सन्तताम् ॥ ५७ ॥
प्रागुक्तरूपस्याभावादमीषां ग्रहणं हितम् ।
पारावतशुकाब्जाभा मधुमाञ्जिष्ठमाषभा ॥ ५८ ॥
गुर्वी हृद्या शुभा स्निग्धा अतो वान्याभिशस्यते ।
सुहृद्ये भूतले मग्ना जलाशयतलस्थिता ॥ ५९ ॥
छन्ना तरुवरेणैव वनराजिष्ववस्थिता ।
वेष्टिता वल्लिवृन्देन तथैवौषधिभिर्वृता ॥ ६० ॥

चूहा, मेघा, मछली, सर्प, बिल्ली और खरगोश के तुल्य हो, सुवर्ण जाल अथवा अन्य वर्णोत्थ शिरा जाल से सन्तत हो, ऐसी शिला वर्जित करे । यदि गुणवती शिला अप्राप्त हो तब उसके अभाव में इस प्रकार की भी शिला ग्राह्य की जा सकती है । जिसकी आभा कबूतर एवं शुक की आभा के समान हो, अथवा मजीठी, मधु, माष के समान हो, जो गुर्वी हो, मनोहर हो, शुभा हो, चिकनी हो, इस प्रकार की अन्य शिला भी बिम्ब ग्रहण कार्य में प्रशस्त है । अच्छे भूतल से दबी हो, जलाशय के तल में गड़ी हो, उत्तम मङ्गलकारी वृक्षों से ढकी हो, वनराजी में स्थित हो, लताओं से परिवेष्टित हो और जो औषधियों से घिरी हो उसे ग्रहण करे ॥ ५७-६० ॥

ऊर्ध्वगा जानुदेशाच्च एकपिण्डीकृता भृगोः ।
मोक्षदा च खवक्त्रा वै भोगदा सुतलानना ॥ ६१ ॥
दिङ्मुखी चोभयकरी प्राङ्मूर्धा भूतिरायुषे ।
अतोऽन्यमस्तका कीर्तिर्यशोवृद्धिकरी मता ॥ ६२ ॥
वंशवृद्धिदमारोग्यशान्तिकृत्कं यदाप्यदिक् ।
पुष्टिमुन्नतिसन्मेधां यच्छत्युत्तरमस्तका ॥ ६३ ॥

जो जानुदेश से ऊपर स्थित हो, ऊँची शिलाओं से एक पिण्डी के रूप में हो, जिसका मुख ऊपर की ओर हो, ऐसी शिला मोक्षदा होती है । जिसका मुख सुन्दर तला वाला है ऐसी शिला भोग प्रदान करती है । किसी दिशा की ओर जिसका मुख है ऐसी शिला भोग, मोक्ष दोनों देती है । जिसका मुख पूर्व की ओर है ऐसी शिला वैभव और आयुष्य दोनों प्रदान करती है । इसके अतिरिक्त अन्यत्र मस्तक वाली शिला कीर्त्ति और यश की वृद्धि करने वाली होती है । जिसका शिर पश्चिम दिशा की ओर हो, ऐसी शिला वंश की वृद्धि करती है, आरोग्य एवं शान्ति प्रदान करती है । जिस शिला का मस्तक उत्तर दिशा में हो ऐसी शिला पुष्टि उन्नति तथा सन्मेधा प्रदान करती है ॥ ६१-६३ ॥

एवं पुरा परिज्ञाय पृष्ठोरुचरणं शिरः ।

बलात्मना सवीर्येण प्रोद्धृत्य सह शिल्पिभिः ॥ ६४ ॥
प्राङ्मुखं चोत्तरस्या दिक् प्राग्भागे चोत्तराननम् ।
स्थलेऽवतार्य मन्त्रेशमिष्ट्वा स्रक्चन्दनादिना ॥ ६५ ॥
ध्यात्वा शिलान्तःसंरुद्धं सम्पूज्य जुहुयात् ततः ।
उक्तदिग्द्वितयस्यैकदेशे कुण्डेऽथवा स्थले ॥ ६६ ॥
दत्वा पूर्णाहुतिं ध्यानजपयुक्तः क्षपेदहः ।
निशागमेऽर्चनं कुर्याद् बलिभिर्भूततर्पणम् ॥ ६७ ॥

इसी प्रकार शिला का पृष्ठ, ऊरु, अरण और शिर का ज्ञान करे । तदनन्तर शिल्पियों के साथ बलवीर्य लगाकर शिला को उखाड़े । यदि शिला का मुख उत्तर दिशा की ओर हो तो स्वयं पूर्व दिशा में और यदि शिला पूर्व में हो तब अपना मुख उत्तर दिशा की ओर करके शिला को उखाड़े । फिर उसे स्थल पर स्थापित करे । तदनन्तर मन्त्रेश की स्रक्, चन्दन आदि के द्वारा पूजा कर शिला के मध्य में मन्त्र के ईश का पूजन करे । हवन करे, फिर ऊपर कहे गये दिग् द्वितय के एक भाग में, अथवा कुण्ड में, अथवा स्थल में पूर्णाहुति देवे । फिर ध्यान, जप में परायण रहकर दिन बितावे। सन्ध्या होने पर अर्चन करे और बलि देकर भूतसन्तर्पण करे ॥ ६४-६७ ॥

नैवेद्यशेषमश्नीयान्मन्त्रविन्न्यस्तविग्रहः ।
तद्दक्षिणेन दर्भेषु प्राक्छिराः प्रस्वपेज्जपन् ॥ ६८ ॥

फिर मन्त्रवेत्ता अपने शरीर में मन्त्र द्वारा न्यास कर नैवेद्य शेष का भोजन करे । तदनन्तर उस शिला के दक्षिण में कुशा स्थापित कर मन्त्र का जप करते हुए पूर्व में कहे गये शुभ स्वप्न की प्राप्ति के लिये पूर्व की ओर शिर कर सो जावे ॥ ६८ ॥

पूर्ववत् स्वप्नलाभार्थमुत्थाय रजनीक्षये ।
कुर्यात् स्वकृत्यं जुहुयादशुभस्वप्नशान्तये ॥ ६९ ॥

रात बीत जाने पर स्वयं उठकर अपना कृत्य करे । यदि अशुभ स्वप्न दिखाई पड़ा हो तो उसकी शान्ति के लिये होम करे ॥ ६९ ॥

अभिनन्द्य शुभं स्वप्नं हृदयावर्जकं स्फुटम् ।

यदि स्पष्ट रूप से हृदयाकर्षक शुभ स्वप्न दिखाई पड़ा हो तब उसका अभिनन्दन करे ॥ ७० ॥

पर्वतं च स्वमात्मानं स्थानं तदुपलं स्थलम् ॥ ७० ॥
स्फटिकामलसंकाशं पश्येद् वा तप्तहेमवत् ।

निर्धूमाङ्गारकूटाभं तदाशु लभते शुभम् ॥ ७१ ॥

यदि स्फटिक के समान अत्यन्त स्वच्छ अथवा तपाये हुए सुवर्ण की भाँति चमकीला, अथवा धूमरहित अङ्गारे के समान जाज्वल्यमान पर्वत अपना स्थान, अथवा प्रस्तर खण्ड दिखाई पड़े तो उसका फल शीघ्र होता है ॥ ७०-७१ ॥

सशस्त्रमथ चादाय मुद्गरं चास्त्रमन्त्रितम् ।
प्राङ्मुखश्चतुरो वारांस्ताडयेन्मस्तकावधेः ॥ ७२ ॥
पाददेशाच्च वा मध्यादवेक्ष्य च फलं पुरा ।

तदनन्तर आराधक अस्त्राभिमन्त्रित सशस्त्र मुद्गर लेकर पूर्वाभिमुख हो फल देखते हुए चार बार शिला का मस्तक पर्यन्त ताडन करे । अथवा पैर पर्यन्त अथवा मध्य पर्यन्त फल का विचार करते हुए ताडन करे ॥ ७२-७३ ॥

चतुरश्रायतां कृत्वां भिन्नां पीठेन यन्त्रगाम् ॥ ७३ ॥
आनाय्य वा पृथक्पीठां छन्नां कर्मालयं शुभम् ।
आनुगुण्यपुराणेन विधिना चोद्धरेच्छिलाम् ॥ ७४ ॥

उसके टुकडे को चौकोर बनाकर पीठ से अलग किसी यन्त्र में स्थापित करे । पीठ से अलग उसे ढककर कर्मालय में ले आकर पुराण होने के कारण उसके अनुगुण विधि के अनुसार इस प्रकार शिला का उद्धार करे ॥ ७३-७४ ॥

पीठार्थं भिन्नवर्णां च तद्रूपां वा यथेच्छया ।
अङ्गाङ्गिभावगुणवद् दृषदां तु महामते ॥ ७५ ॥

पीठ के लिये भिन्न वर्ण की शिला अथवा उसी के समान रूप वाली अपनी इच्छा के अनुरूप अङ्गाङ्गीभाव के अनुसार गुणयुक्त अन्य शिला ग्रहण करे ॥७५॥

काष्ठलोहमणीनां चाप्यलाभे सति वै शुभम् ।
सति लाभे न वै कुर्याद्वैषम्यं व्यत्ययं च वा ॥ ७६ ॥

काष्ठ, लौह, मणि के अभाव में शिला का बिम्ब ही शुभदायक होता है । यदि काष्ठ, लौह, मणि आदि बिम्ब के लिये प्राप्त हो जावे तो आराधक विषमता या अदला-बदली न करे ॥ ७६ ॥

तत्काममेव चाहृत्य रत्नाधारशिलां शुभाम् ।
पुंस्त्रीनपुंसकोत्थाभिः शिलाभिस्त्रितयं हितम् ॥ ७७ ॥
बिम्बाख्यं विद्धि चाभावात् सर्वबिम्बोपलात् तु वै ।
निषिद्धं भगवद्बिम्बं रत्नपीठमयोपलात् ॥ ७८ ॥

उसी काष्ठ, लौह, मणि का ही बिम्ब निर्माण करे । यदि रत्नाधार शिला

मिल जावे तो बिना विलम्ब किये उसी को इच्छानुसार ग्रहण करे । पुरुष, स्त्री अथवा नपुंसक इन तीनों प्रकार से बनाया गया बिम्ब सभी प्रकार के बिम्ब के अभाव में हितकारी होता है । रत्न निर्मित पीठ पर अन्य बिम्ब का स्थापन निषिद्ध होता है ॥ ७७-७८ ॥

शिलालक्षणकथनम्

लक्ष्म्याद्या देवताकाराः स्वोपलाः सर्वसिद्धिदाः ।
याऽऽहताऽनलबिन्दून् वै सनादमभिमुञ्चति ॥ ७९ ॥
पुमानिति शिला सा वै निस्तेजा सस्वनाऽबला ।
आदिमध्यावसानेषु नाग्निर्यस्या न च ध्वनिः ॥ ८० ॥

अब **शिला के लक्षण** कहते हैं—लक्ष्मी के आदि देवता के समान शिला सर्व सिद्धिदायिनी होती है । जो शिला आहत करने पर शब्द के साथ चिनगारी उत्पन्न करे वह शिला पुरुष है । जिसमें तेज नहीं है, मजबूती भी नही है, वह स्त्री शिला है । जिस शिला के आदि एवं मध्य में तथा अन्त में अग्नि न हो, शब्द न हो, वह शिला नपुंसक है ॥ ७९-८० ॥

नपुंसकेति सा ज्ञेया स्वपदस्था फलप्रदा ।
शिलाग्रहणमित्युक्तं दारुग्रहणमुच्यते ॥ ८१ ॥

ऐसी शिला अपने स्थान पर रहकर ही फल देती है । यहाँ तक बिम्ब के लिये शिला ग्रहण कहा गया । अब काष्ठ ग्रहण का विधान कहते हैं ॥ ८१ ॥

दारुग्रहणकथनम्

आपर्वतान्तःसञ्चारो निर्व्रणं सरलं बृहत् ।
रोगमुक्तं न सिंहाद्यैः प्राङ्नखैः सक्षतीकृतम् ॥ ८२ ॥
नानिलाशनिदावाग्निहतवीर्यं न बाह्यगम् ।
सलक्षणे तु सुस्निग्धे भूभागे चोन्नते स्थितम् ॥ ८३ ॥
प्राग्वत् तमधिवास्यादौ परेऽहन्यर्चयेत् ततः ।
तदाश्रितामविज्ञातस्वरूपां देवतां पठन् ॥ ८४ ॥
इहाश्रितात्मने तुभ्यं नमः सर्वेश्वराय च ।
क्षमस्वावतरान्यत्र सन्तिष्ठात्र चिदात्मना ॥ ८५ ॥

जो पर्वत के अन्त तक (भीतरी भाग) पहुँचा हुआ है और प्राण रहित है, सीधा है, महान् है, उसके किसी भाग में रोग नहीं है, जिस पर सिंहादि द्वारा नखक्षत नहीं किया गया है, दावाग्नि, बिजली, अग्नि द्वारा जिसकी शक्ति क्षीण

नहीं हुई है, जो बाहर तक फैला है, जो लक्षण युक्त अत्यन्त चिकने भूभाग पर ऊँचे रूप में अवस्थित है । ऐसे दारु वाले वृक्ष को प्रथम अधिवासन करे । फिर दूसरे दिन उसका 'तदाश्रितामवज्ञातां ... सन्तिष्ठात्र चिदात्मना' पर्यन्त मन्त्र का पाठ करते हुए अर्चन करे ॥ ८२-८५ ॥

अथास्त्रोदकशुद्धेन विलिप्तेन घृतादिना ।
जपन् मन्त्रवरं वौषट् छिन्द्याद् वै क्रकचादिना ॥ ८६ ॥

तदनन्तर 'वौषट्' इस श्रेष्ठ मन्त्र का पाठ करते हुए अस्त्रोदक से शुद्ध घृतादि से अनुलिप्त क्रकच (आरा) से उस वृक्ष का छेदन करे ॥ ८६ ॥

प्राच्यामुदीच्यामैशान्यां पतत्यभिमुखं यदि ।
परिज्ञेयं शुभं कुर्यादन्यपातेऽर्चनादिकम् ॥ ८७ ॥

यदि वह वृक्ष पूर्व उत्तर अथवा ईशान दिशा में गिरे तब शुभ समझे । यदि अन्य दिशा में गिरे तब उसका अर्चन करे ॥ ८७ ॥

अनार्या देवभागं चाप्यनादेयेन वै विना ।
बिम्बमिच्छति वै कर्तुं वार्क्षं चैवातिविस्तृतम् ॥ ८८ ॥
अनेकभुजवक्त्रास्त्रभूषितं तत् तरूत्थितैः ।
भिन्नैरवयवैर्मानयुक्तैः शिष्टैर्न दुष्यति ॥ ८९ ॥

उस वृक्ष के अनार्य भाग का त्याग कर देवभाग को ग्रहण करे । उसके भिन्न-भिन्न अवयवों (टुकड़ों) से मान (नाप) युक्त अनेक भुज, अनेक वक्त्र, अनेक अस्त्रों से युक्त जो बिम्ब निर्माण करता है ऐसे बिम्ब की शिष्ट लोग प्रशंसा करते हैं ॥ ८८-८९ ॥

बिम्बस्य मानोन्मानादिलक्षणकथनम्

भक्तिश्रद्धावशाच्चैव सर्वं चार्णमयं यतः ।
एवमेकतमस्यापि भक्तिपूर्वस्य वस्तुनः ॥ ९० ॥
संग्रहं च पुरा कृत्वा कुर्यादाकारमीप्सितम् ।
तादर्थ्येन तु सामान्यं सौम्यमानं पुरा शृणु ॥ ९१ ॥

अथ बिम्बस्य सामान्यतो मानोन्मानादिलक्षणमाह—एवमेकतमस्यापीत्यारभ्य अयुग्जन्मोत्थितं शुभमित्यन्तम् ॥ ९१-१६० ॥

यतः भक्ति और श्रद्धा के कारण सभी वृक्ष शिलादि मन्त्रमय हैं । यहाँ तक 'सच्छैलदारुग्रहणम्' यहाँ से लेकर 'सर्व चार्णमयं ततः पर्यन्त 'शिला दारु संग्रहण' का विधान कहा (द्र २४.३३-९०) गया है । अब बिम्ब का सामान्य प्रकार से

मान एवं उन्मान कहते हैं—इस प्रकार किसी एक वस्तु का भक्तिपूर्वक संग्रह कर अपने अभीष्ट आकार का बिम्ब निर्माण करे । अब हे सङ्कर्षण ! बिम्ब के आकार का मान सुनिये ॥ ९१ ॥

ऋज्वाख्यमविकारं च व्यापकं त्वेकमूर्तिमत् ।
भूभागे सुसमे श्लक्ष्णे मानमुत्कीर्य तेन वै ॥ ९२ ॥
निरूप्यावयवानां च लक्ष्म विस्तृतिपूर्वकम् ।

जो ऋजु हो, व्यापक हो, एक मूर्त्ति में रहने वाला हो, ऐसे मान समतल चिकने वाले भूभाग पर खोद कर लिख लेवे । फिर विस्तारपूर्वक तत्तद् अङ्गावयवों के समस्त लक्षणों को अच्छी तरह देख कर बिम्ब निर्माण करे ॥ ९२-९३ ॥

मानपरिभाषाविधानम्

अष्टाधिकशतांशो यः स्वोन्नतेरङ्गुलं च तत् ॥ ९३ ॥
द्वे अङ्गुले कलानेत्रं गोलकं भाव एव च ।
अङ्गुलादष्टभागो यः स यवः परिकीर्तितः ॥ ९४ ॥
षट्कलं च परिज्ञेयं तालं बिम्बादिकर्मणि ।
मुखाङ्गनाभिमेढ्रक्ष्मास्तालमानास्त्वथोरुयुक् ॥ ९५ ॥
द्विकले च तथा जङ्घे गुल्फं जानुर्गलाञ्चकम् ।
त्र्यङ्गुलं त्र्यङ्गुलं ज्ञेयमित्युन्मानमुदाहृतम् ॥ ९६ ॥

अब **मान** कहते हैं—मनुष्य की अपनी-अपनी ऊँचाई का मान एक सौ अङ्गुल कहा गया है । उसका १०८ वाँ भाग एक अङ्गुल होता है । दो अङ्गुल कला, नेत्र गोलक अथवा भाव कहा जाता है । एक अङ्गुल का आठवाँ भाग 'यव' कहा जाता है । छः कला का एक ताल होता है, जिसका उपयोग बिम्बादि कर्म में किया जाता है । मुखाङ्ग, नाभि, मेढ्र, क्ष्मा का मान एक ताल होता है तथा दोनों ऊरु दो-दो कला के होते हैं । जङ्घा, गुल्फ, जानु और गलाञ्चक तीन-तीन अङ्गुल के होने चाहिये । इस प्रकार उन्मान का निरूपण किया गया ॥ ९३-९६ ॥

जटाधराणां बिम्बानां दीर्घह्रस्ववशेन तु ।
चतुष्कलं च त्रिकलं मानं मानाद् बहिः क्षिपेत् ॥ ९७ ॥

जटाधारी बिम्बों के बड़े और छोटे होने के कारण चार कला का और तीन कला का मान कहा गया है । वह मान से बाहर भी हो सकता है ॥ ९७ ॥

त्रिपञ्चसप्तशिखरो मौलिरष्टकलोन्नतः ।

निर्जटानां ललाटोर्ध्वे मकुटं वा सुशोभनम् ॥ ९८ ॥
तालेन ह्रासवृद्धी तु कार्ये त्वत्र व्यपेक्षया।
यथोदितेषु भागेषु एकैकेनाङ्गुलेन तु ॥ ९९ ॥

तीन, पाँच, सात शिखर का मौलि (मुकुट) आठ कला ऊँचा होना चाहिये। जटा रहित बिम्ब का ललाट के ऊपर सुन्दर मुकुट बनाना चाहिये। इसमें अपेक्षा के अनुसार यथोदित भाग में एक अङ्गुल से ताल पर्यन्त माप में घटा बढ़ी की जा सकती है ॥ ९८-९९ ॥

आस्यनासाललाटार्थं वदनांशं भजेत् त्रिधा।
ततोऽग्रतः कलामानं घ्राणं स्यात् तिलपुष्पवत् ॥ १०० ॥
कलार्धेन तु विस्तारः सोन्नतिस्तत्पुटद्वये।
नासाग्रग्रासनिर्मुक्तं गोजीमानं चतुर्यवम् ॥ १०१ ॥
तच्चतुर्यवमानेन घ्राणाग्रेणान्तरीकृतम्।
अर्धाङ्गुलं चोत्तरोष्ठमधरोष्ठं तु चाङ्गुलम् ॥ १०२ ॥

मुख नासिका तथा ललाट के लिये मुख को तीन भागों में विभक्त कर बनाना चाहिये। उसमें सबसे आगे कला मान का घ्राण तिल पुष्प के समान बनाना चाहिये। नासिका के दोनो पुटों को ऊँचाई के साथ आधे कला के विस्तार (२ को) से युक्त बनावे। नासाग्र और ग्रास से बाहर गोजीमान चार यव का होना चाहिये। वह चार यव मान वाले घ्राण के अग्रभाग से अन्तरीकृत होना चाहिये। ऊपर का ओठ आधा अङ्गुल मोटा तथा अधरोष्ठ एक अङ्गुल मोटा होना चाहिये ॥ १००-१०२ ॥

गोलकं चिबुकं विद्धि सृक्किण्यौ चतुरङ्गुले।
आद्यस्य नासिकांशस्य मध्यभागसमाश्रिते ॥ १०३ ॥
कुर्यान्नेत्रश्रुतिच्छिद्रे तत्र नेत्रे कलान्तरे।
कलायामसमं दैर्घ्यात् कलार्धेन तु विस्तृतम् ॥ १०४ ॥

चिबुक गोलक प्रमाण का तथा दोनों सृक्किणी चार अङ्गुल प्रमाण में होनी चाहिये। पहली नासिका के मध्य भाग का आश्रय लेकर नेत्र और कान का छिद्र निर्माण करे। दोनों नेत्रों में एक कला का अन्तर होना चाहिये। उसकी लम्बाई एक कला और चौड़ाई आधी कला बनानी चाहिये ॥ १०३-१०४ ॥

यदुत्पलदलाकारं द्वियवेनाधिकं तु तत्।
कुर्यात् पद्मदलाकारं नेत्रार्धं वृत्ततारकम् ॥ १०५ ॥

तारादैर्घ्यत्रिभागेन त्वाद्यस्यान्यस्य वाधिका।
यवेनैकेन सार्धेन ज्योतिस्तत्पञ्चभागिकम्॥ १०६॥

जिसके नेत्र और कान कमल के समान बड़े हों, उन्हें दो यव से अधिक निर्माण करना चाहिए। गोलाकार तारे से युक्त नेत्र का अर्ध भाग कमल पत्र के आकार का बनावे। नेत्र का तारा चौड़ाई के तीन भाग में अथवा अन्य की अपेक्षा अधिक मान में निर्माण करे। उसके पाँचवे भाग में डेढ़ ($१\frac{१}{२}$) यव ज्योति निर्माण करे॥ १०५-१०६॥

त्रिभागेनापि विहितं तत्पद्मदललोचन।
द्विषड्यवं नेत्रकोशं विस्तरेण यवाधिकम्॥ १०७॥

हे पद्मलोचन! उस ज्योति का निर्माण तीसरे अंश से भी किया जा सकता है। नेत्र कोश बारह यव का तथा चौडाई में एक यव से अधिक निर्माण करना चाहिए॥ १०७॥

सार्धाङ्गुलद्वयं दैर्घ्याद् भ्रूलते द्विकले स्मृते।
मध्यतो द्वियवे बालचन्द्रतुल्ये क्रमक्षते॥ १०८॥

भ्रूलता (भौहें) ढाई अङ्गुल चौड़ी तथा दो कला की होनी चाहिये। दोनों मध्य बाल चन्द्रमा के समान टेढ़ी और क्रम क्षत दो यव की बनावे॥ १०८॥

तदन्तरं कलार्धं च तत्कोटी समसूत्रके।
श्रोत्रे द्व्यङ्गुलविस्तीर्णे आयामेन द्विगोलके॥ १०९॥

उस भ्रू के दोनों किनारे समसूत्र तथा कलार्ध होने चाहिये। कान दो अङ्गुल चौड़े तथा लम्बाई में दो गोलक निर्माण करे॥ १०९॥

द्वियवः कण्ठपरिधिः पर्वणी द्वे चतुर्यवे।
मध्यं ताभ्यां तथा विद्धि द्रोणी सार्धाऽङ्गुलाऽत्र वै॥ ११०॥

कण्ठ की गोलाई दो यव तथा दोनो पर्व चार यव का बनाना चाहिये। उन दोनों का मध्य तथा द्रोणी डेढ़ $१\frac{१}{२}$ अङ्गुल का बनाना चाहिये॥ ११०॥

कलार्धेन तु तच्छिद्रं पाशमानं यथारुचि।
अङ्गुलाद् द्विकलान्तं तु वैषम्यमपि तत्र यत्॥ १११॥

उसके छिद्र का मान आधा कला तथा पाश का मान इच्छानुसार करे। उसमें विषमता एक अङ्गुल से लेकर दो कला पर्यन्त होनी चाहिये॥ १११॥

अन्तश्छिद्रविनिर्मुक्तं तद्विज्ञेयं चतुर्यवम्।
सदलं करणोपेतमेवं श्रोत्रद्वयं स्मृतम्॥ ११२॥

भीतरी भाग में छिद्र से विनिर्मुक्त चार यव के मान का सदल करणोपेत दोनो श्रोत्र होना चाहिये ॥ ११२ ॥

चतुष्कलं ललाटं तु शिखरे द्विगोलके।
उच्छ्रायात् त्र्यङ्गुले चैव अग्रतोऽङ्गुलविस्तृते॥ ११३ ॥

ललाट का विस्तार चार कला का तथा दोनों शिखर दो गोलक का होना चाहिये। उसकी ऊँचाई तीन अङ्गुल तथा उसका अग्रभाग एक अङ्गुल विस्तृत होना चाहिये ॥ ११३ ॥

केशभूमेः समुद्भूतं ललाटोपरि संस्थितम्।
कुर्यात् कलार्धमानं तु वक्त्रं चालकसञ्चयम्॥ ११४ ॥

केश भूमि में उत्पन्न होने वाला ललाट के ऊपरी भाग में स्थित होने वाला मुख तथा अलक समूह (केश) कला के अर्धमान का होना चाहिये ॥ ११४ ॥

कपोलपरिधिं कुर्यात् कर्णात् कण्ठगतं समम्।
तन्मध्ये वर्तुलौ गण्डौ परिच्छिन्नौ पुरोदितैः॥ ११५ ॥

कान से आरम्भ कर कण्ठ पर्यन्त परिधि (गोला) का निर्माण करे उसके बीच में परिच्छिन्न और गोलाकार दो गण्डस्थल निर्माण करे ॥ ११५ ॥

शिरसः परिणाहं तु विद्धि षट्त्रिंशदङ्गुलम्।
श्रोत्रकोटिद्वयाच्चैव मस्तकस्य यदन्तरम्॥ ११६ ॥
तत्षोडशाङ्गुलं विद्धि वर्तिभ्यां पृष्ठतस्तथा।
सार्धतालं परिज्ञेयं ललाटात् कगुहान्तरम्॥ ११७ ॥

शिर का परिणाह (गोलाई) ३६ अङ्गुल में निर्माण करे, दोनों कान से लेकर मस्तक पर्यन्त १६ अङ्गुल होना चाहिये। ललाट से नासिका के छिद्र का अन्तर डेढ़ ताल ($१\frac{१}{२}$) समझना चाहिये ॥ ११६-११७ ॥

सत्कम्बुसदृशी ग्रीवा मूलमध्याग्रतो हि सा।
परिधेर्द्वादशकला एकविंशाङ्गुलाग्रतः॥ ११८ ॥

बिम्ब की ग्रीवा मूल, मध्य तथा अग्रभाग में उत्तम प्रकार के शङ्ख के समान होनी चाहिये। परिधि से उसका मान द्वादश कला तथा आगे से २१ अङ्गुल होना चाहिये ॥ ११८ ॥

अष्टादशाङ्गुला चैव स्वांशात् त्र्यंशेन विस्तृता।
तन्मूलं विस्तृतौ स्कन्धौ तुङ्गौ वृत्तायतौ समौ॥ ११९ ॥

अथवा १८ अङ्गुल का होना चाहिये, उसका विस्तार अपने अंश से तीसरे

अंश तक होना चाहिये । ग्रीवा का मूल एवं दोनों कन्धा विस्तृत, ऊँचा, गोल तथा आयताकार एवं सम होना चाहिये । उसका बाहुल्य छः अङ्गुल का होना चाहिये ॥ ११९ ॥

षडङ्गुलं तद्बाहुल्यं बाहुमानमथोच्यते ।
स्कन्धोत्तमाङ्गं त्रिकलं सन्ध्यन्तं षट्कलं स्मृतम् ॥ १२० ॥

अब **बाहु का मान** कहते हैं—कन्धे से लेकर शिर का मान तीन कला का और सन्ध्यन्त छः कला का कहा गया है ॥ १२० ॥

सन्धेर्वै मणिबन्धान्तं मानं नवकलं स्मृतम् ।
मणेर्मध्यमशाखान्तो हस्तः सप्ताङ्गुलो मतः ॥ १२१ ॥

सन्धि से लेकर मणिबन्ध तक का मान नव कला कहा गया है । मणि बन्ध से लेकर मध्यमाङ्गुलि पर्यन्त हाथ का मान सात अङ्गुल कहा गया है ॥ १२१ ॥

परिज्ञेयं कलाहीनं तन्मानं मध्यमाङ्गुलेः ।
तच्चतुर्यवहीना च साऽनामा तु प्रदेशिनी ॥ १२२ ॥
द्विकला च परिज्ञेया साङ्गुष्ठा तु कनीयसी ।
द्विपर्वा च स्मृतोऽङ्गुष्ठः सर्वाश्चाङ्गुलिविस्तृताः ॥ १२३ ॥

मणिबन्ध का मान मध्यमाङ्गुलि से एक कला कम समझना चाहिये और उससे चार यव कम अनामिका का तथा प्रादेशिनी का मान कहा गया है । कनिष्ठिका अङ्गुली तथा अङ्गुष्ठ का मान दो कला कहा गया है । अङ्गुष्ठ में दो पर्व होते हैं, उसकी अपेक्षा सभी अङ्गुलियाँ लम्बी कही गई हैं ॥ १२२-१२३ ॥

सर्वासां मूलपर्यन्ताद् ह्रासयेच्च यवं यवम् ।
अग्रपर्वार्धमानेन कार्या लिङ्गोपमा नखाः ॥ १२४ ॥

सभी अङ्गुलियाँ मूल पर्यन्त परस्पर एक दूसरे से एक-एक यव कम हैं आगे के पर्व के आधे के मान में अङ्गुली की आकृति के समान नख का निर्माण करना चाहिए ॥ १२४ ॥

मानमङ्गुष्ठमूलस्य परिधेश्चतुरङ्गुलम् ।
तच्चतुर्यवहीनं च ज्ञेयं त्रिष्वङ्गुलीषु च ॥ १२५ ॥

अङ्गुष्ठ के मूल का मान परिधि की अपेक्षा चौगुना कहा गया है । शेष तीन अङ्गुलियों में वह मान चार यव कम होता है ॥ १२५ ॥

न्यूनाङ्गुलेः कला सार्धा प्राग्वद् ह्रासश्च वेष्टनात् ।
अङ्गुष्ठमङ्गुलं चाग्रात् त्रिस्रोऽन्याः षड्यवाः स्मृताः ॥ १२६ ॥

अर्धाङ्गुलाग्रतो न्यूना विद्धि मध्यं क्रमक्षतम् ।
निजलक्ष्मोपलं चाग्रात् साङ्गुलं द्विकलं करम् ॥ १२७ ॥

कनिष्ठा अङ्गुली सार्ध कला ($१\frac{१}{२}$) तथा अङ्गुष्ठ मूल वेष्टन से कम होनी चाहिये । अन्य तीन अङ्गुलियाँ छः यव की कही गई हैं । मध्य अङ्गुलि आगे से आधा अङ्गुल कम तथा क्रमशः हीन निर्माण करे ॥ १२६-१२७ ॥

ईशन्निम्नतलं चैव लक्ष्मरेखाविभूषितम् ।
शाखामूलावधेः पाणी बाहुल्यं द्वे यवेऽङ्गुलम् ॥ १२८ ॥
चतुर्यवाधिकं चैव मणिबन्धावधेः स्मृतम् ।
मध्ये कलार्धहीनं तु तद्बाहुल्यमुदाहृतम् ॥ १२९ ॥

ईषन्निम्नतल तथा लक्ष्मरेखा से विभूषित अङ्गुली पर्यन्त हाथ का निर्माण करे और उसका बाहुल्य दो यव युक्त एक अङ्गुल बनावे तथा मणिबन्धावधि पर्यन्त चार यव से अधिक निर्माण करे । उसका बाहुल्य मध्य में आधा कला से कम रखे ॥ १२८-१२९ ॥

मणिबन्धावधेर्बाहुवेष्टनं षट्कलं स्मृतम् ।
सन्धेः सप्तकलं विद्धि साङ्गुलं त्रियवच्युतम् ॥ १३० ॥
हीनमर्धाङ्गुलेनैव मूलाद् वै नवगोलकम् ।
तथैव सन्धेरूर्ध्वात् तु विस्तारः प्राग्वदत्र च ॥ १३१ ॥

मणिबन्ध पर्यन्त बाहु का वेष्टन छः कला का निर्माण करे । सन्धि सात कला की तथा तीन यव कम एक अङ्गुल युक्त होनी चाहिए । वह मूल से आधा अङ्गुल कम नव गोलक की होनी चाहिये । उसी प्रकार सन्धि की लम्बाई भी बनावे ॥ १३०-१३१ ॥

अत्रापि पूर्ववद् दृष्ट्या कार्याऽन्तःस्था क्षितिः स्वयम् ।
तालं गलावधेस्त्यक्त्वा तन्मानेनान्तरीकृतम् ॥ १३२ ॥

यहाँ भी पहले की तरह गले की अवधि से एक ताल स्थान त्याग देवे और उतने ही मान के अन्तर में दृष्टि पर्यन्त भीतरी स्थान खाली रहने दे ॥ १३२ ॥

स्तनद्वयं समं कुर्यात् तद्धारा च समांसला ।
निम्नं हृद्गोलकार्धेन ऊर्ध्वतो रत्नराड्युतम् ॥ १३३ ॥

दोनों स्तन समान आकृति में निर्माण करे । उसकी धार मांसल (मोटा) युक्त बनावे । उसका निचला भाग हृद्गोलक के आधे भाग से तथा ऊपरी भाग रत्नराज से युक्त बनावे ॥ १३३ ॥

स्तनाभ्यां त्रिकलौ पार्श्वौ त्रियवं स्तनमण्डलम् ।
यवोन्नतं तथा चाग्राद् विस्तृतं तेन चूचुकम् ॥ १३४ ॥

पार्श्व भाग स्तन से दूर दो कला का बनावे । स्तनमण्डल तीन यव का बनावे । स्तन का चुचुक आगे की ओर बढाते हुए एक-एक यव ऊँचा बनावे ॥ १३४ ॥

लोचनं त्रियवं सार्धं कक्षमानमुदाहृतम् ।
स्कन्धमानविनिर्मुक्तं पृष्टमंसावधेः समम् ॥ १३५ ॥

कक्ष (काँख) का मान साढे तीन यव युक्त लोचन निर्माण करे । उसे स्कन्ध के मान से अलग रखे । पीठ एवं कन्धे तक उसे समान रूप में निर्माण करना चाहिए ॥ १३५ ॥

द्रोणीनिकाशसदृशं मध्यराशेः समांसलम् ।
कक्षान्तर्वेष्टनं विद्धि पञ्चतालं सुलोचनम् ॥ १३६ ॥

वह द्रोणी (दोना) के समान हो । मध्यराशि से मांसल युक्त हो । कक्षान्तर का वेष्टन पञ्चताल मान का होना चाहिए ॥ १३६ ॥

विनाङ्गुलद्वयेनैव द्वे ताले द्विगुणीकृते ।
यवत्रयसमायुक्ते विद्धि तत्कुक्षिवेष्टनम् ॥ १३७ ॥
त्रियवोनं कलामानं विज्ञेयं नाभिमण्डलम् ।
तन्मानं त्रियवोनं तु तन्निम्नत्वं विधीयते ॥ १३८ ॥

उस कुक्षि का वेष्टन दो अङ्गुल कम दो ताल का दुगुना करे । उसमें तीन यव और मिला देवे तब कुक्षि का वेष्टन बन जाता है । तीन यव से कम कला मान का नाभिमण्डल निर्माण करे । उसकी गहराई तीन यव से कुछ कम करे ॥ १३७-१३८ ॥

परिधिर्नाभिमध्ये तु त्रितालः सत्रिलोचनः ।
षड्गोलकं च तन्मानपरिध्यर्थं कटेः स्मृतम् ॥ १३९ ॥

नाभि के मध्य की परिधि सन्निलोचन तीन ताल की बनावे । कटि पर्यन्त परिधि के लिये उसका मान छः गोलक करे ॥ १३९ ॥

करिकुम्भोपमौ पीनौ परितः पञ्चगोलकौ ।
स्फिजौ कौपीनराजी च द्व्यङ्गुला मूलतः स्मृता ॥ १४० ॥

हाथी के कुम्भ के समान मोटा, चारों ओर पाँच गोलक का परिमाण वाला स्फिक् (नितम्ब) करे कौपीन राजी मूल से दो अङ्गुल की बनावे ॥ १४० ॥

परितोऽङ्गुलमाना सा मेढ्रं तु त्रिकलं स्मृतम् ।

चतुर्यवं च तत्कोशं वेष्टनं तु षडङ्गुलम् ॥ १४१ ॥
द्व्यङ्गुलौ वृषणौ दैर्घ्यान्मूलान्तसमविस्तृतौ ।
परितो द्व्यङ्गुलं विद्धि वायुरन्ध्रं सुवर्तुलम् ॥ १४२ ॥

वह चारों ओर एक अङ्गुल प्रमाण में होनी चाहिये । मेढ्र (लिंग) तीन कला का होना चाहिये और उसका कोश चार यव का होना चाहिये । उसकी गोलाई छः अङ्गुल होनी चाहिये । अण्डकोश लम्बाई चौड़ाई में समान दो अङ्गुल का तथा वायु का रन्ध्र (गुदा) चारों ओर से गोला दो अङ्गुल का बनावे ॥ १४१-१४२ ॥

ऊरुमानं परिज्ञेयं मध्यभूमेर्नवाङ्गुलम् ।
षट्कलं मूलदेशाच्च अग्रान्तं त्रिकलं स्मृतम् ॥ १४३ ॥

मध्य भूमि से नव अङ्गुल के मान का ऊरु होना चाहिये । मूल देश से छः कला का तथा अग्रान्त तीन कला का होना चाहिये ॥ १४३ ॥

हीनमेकाङ्गुलेनैव द्विकलं जानुमण्डलम् ।
विस्तारेणोन्नतत्वेन चतुर्यवसमं तु तत् ॥ १४४ ॥

एक अङ्गुल से कम दो कला मान का जानु मण्डल होना चाहिये । विस्तार और उन्नति में उसे ४ यव का बनाना चाहिये ॥ १४४ ॥

जङ्घामूले परिज्ञेयं वेष्टनं नवगोलकम् ।
द्विसप्ताङ्गुलकं मध्ये सार्धपञ्चाङ्गुलं ततः ॥ १४५ ॥

जङ्घा, मूल में वेष्टन का मान नव गोलक होना चाहिये । मध्य में चौदह अङ्गुल और उसके बाद साढ़े पाँच अङ्गुल होना चाहिये ॥ १४५ ॥

अत्रापि वेष्टनाद् विद्धि तृतीयांशेन विस्तृतम् ।
मध्यमूलावसानेभ्यो विस्तारमनुगुण्य तु ॥ १४६ ॥

यहाँ पर भी वेष्टन से मध्य, मूल तथा अन्त तक का विस्तार तृतीयांश से विस्तृत करे ॥ १४६ ॥

भुजाभ्यां मध्यदेशस्य तथाङ्गुलिगणस्य च ।
ऊरुयुग्मस्य जङ्घाभ्यामापाद्या द्विपहस्तता ॥ १४७ ॥

दोनों भुजाओं के मध्य देश अङ्गुलिगणों को, दोनों ऊरुओं को, दोनों जाङ्घों को हाथी के हाथ के समान उतार चढ़ाव युक्त निर्माण करे ॥ १४७ ॥

सतालभागमानं च दैर्घ्यं वै चारणं स्मृतम् ।
पार्ष्णी द्विगोलकतते तन्मध्ये साङ्गुले कले ॥ १४८ ॥

चरण की दीर्घता ताल के भाग के मान के अनुसार होनी चाहिये । पार्ष्णी दो गोलक विस्तृत होना चाहिये । उन दोनों का मध्य एक अङ्गुलि सहित दो कला होना चाहिये ॥ १४८ ॥

त्रिकलं चाग्रतश्चैव बाहुल्येन कलासमम् ।
पादमङ्गुष्ठनिकटात् त्रियवोनं प्रकीर्तितम् ॥ १४९ ॥
बाहुल्यं च कलामानं गुल्फदेशाच्च साङ्गुलम् ।
कनीयोऽङ्गुलिमूलाच्च गुल्फान्तं पिण्डिकाङ्गुलम् ॥ १५० ॥

आगे से तीन कला बाहुल्य होना चाहिए और एक कला के समान अङ्गुष्ठ के निकट से पाद का मान तीन यव कम कहा गया है । गुल्फ प्रदेश से कला मान अङ्गुलि सहित एक कला रखे । कनिष्ठ अङ्गुलि के मूल से लेकर गुल्फ पर्यन्त पिण्डिका एक अङ्गुल निर्माण करनी चाहिए ॥ १४९-१५० ॥

जङ्घावसानदेशाच्च वेष्टनं सप्तलोचनम् ।
कलाहीनं तदैवाग्रात् परिणाहो विधीयते ॥ १५१ ॥

जङ्घा के अन्त तक वेष्टन (= गोलाई १) सात लोचन रखे । उसके आगे से परिणाह कलाहीन निर्माण करे ॥ १५१ ॥

चरणं विधिनानेन कूर्मपृष्ठं समाप्य च ।
त्र्यङ्गुलेन च तद्दैर्घ्यादङ्गुष्ठस्य च दीर्घता ॥ १५२ ॥

इस प्रकार कूर्मपृष्ठ के समान चरण का निर्माण समाप्त कर उसकी लम्बाई से तीन अङ्गुल के परिमाण में अङ्गुष्ठ का लम्ब निर्माण करे ॥ १५२ ॥

पञ्चाङ्गुलः परिज्ञेयः परिधिस्तस्य लाङ्गलिन् ।
यवद्वयाधिका कार्या तद्दैर्घ्यात् तु प्रदेशिनी ॥ १५३ ॥

हे लाङ्गलिन् ! उसकी परिधि पाँच अङ्गुल निर्माण करे और प्रदेशिनी अङ्गुलि अङ्गुष्ठ की लम्बाई की अपेक्षा दो यव अधिक निर्माण करे ॥ १५३ ॥

अङ्गुष्ठायामतुल्याऽथ कार्या वै पादमध्यमा ।
मध्याङ्गुलेर्द्विरष्टांशहीना तदनु या स्थिता ॥ १५४ ॥

अङ्गुष्ठ के आयाम के तुल्य पैर की मध्यमा अङ्गुलि का निर्माण करे । मध्यमा अङ्गुलि के बाद जो (अनामिका) अङ्गुलि स्थित है उसका निर्माण मध्यमा की अपेक्षा १६ अंश कम में करे ॥ १५४ ॥

तद्वत् तदनुगा या च त्रिपर्वास्तास्तु पूर्ववत् ।
संयुक्ता नखजालेन कूर्मपृष्ठोपमेन च ॥ १५५ ॥

उसी प्रकार उसके बाद वाली अङ्गुली जिसमें तीन ही पर्व (गाँठ) है वह उस कनिष्ठा का निर्माण करे । सभी अङ्गुलियाँ नखजाल से संयुक्त तथा कूर्मपृष्ठ के समान निर्माण करे ॥ १५५ ॥

द्विकलं तु कलार्धोनं पादतर्जनिवेष्टनम् ।
चतुश्चतुर्यवोनं च तच्छेषाणां प्रकीर्तितम् ॥ १५६ ॥

पैर की तर्जनी का वेष्टन आधा कला कम कर दो कला का निर्माण करे । शेष अङ्गुलियों का वेष्टन क्रमशः ४-४ यव निर्माण करे ॥ १५६ ॥

त्र्यंशेन वेष्टनाद् विद्धि सर्वासां चैव विस्तृतिम् ।
सर्वा समांसलाः सौम्याः समास्त्ववयवाः शुभाः ॥ १५७ ॥

सभी अङ्गुलियों का विस्तार वेष्टन (गोलाई) की अपेक्षा तृतीयांश कम रखे । वे सभी अङ्गुलियाँ मांसल युक्त सौम्य तथा समान अवयव वाली हों तो शुभकारक कही गई हैं ॥ १५७ ॥

दशनावलिबाह्यस्थे दंष्ट्रे सप्तयवोन्नते ।
यवद्वयोन्नतं मानं मध्यदन्तचतुष्टये ॥ १५८ ॥

दर्शनावलि के बाहर वाले दो दाँत सात यव ऊँचे बनावे । शेष मध्य का चार दाँत दो यव उन्नत बनावे ॥ १५८ ॥

तत्पक्षगाणां सर्वेषां मानं विद्धि चतुर्यवम् ।
त्रियवं द्विजविस्तारमग्रान्मूलाद् यवद्वयम् ॥ १५९ ॥

उसके पक्ष में रहने वाले सभी दाँतों का मान चार यव बनाना चाहिये । उनका विस्तार दो यव और उसके आगे का तथा मूल का विस्तार भी दो यव निर्माण करे ॥ १५९ ॥

तत्सार्धं मध्यदेशाच्च सर्वे दन्ता निरन्तराः ।
लोम प्रदक्षिणावर्तमयुग्जन्मोत्थितं शुभम् ॥ १६० ॥

मध्यदेश के साथ-साथ सभी दाँत अन्तररहित निर्माण करे । लोम प्रदक्षिणावर्त्त करे तथा उसमें विषय लोभ उत्पन्न हों तो वे शुभावह कहे गये हैं ॥ १६० ॥

सुनिश्चितं हितं चैतन्मानमव्यभिचारि यत् ।
मनोहारित्वमेकत्र रूपलावण्यभूषितम् ॥ १६१ ॥
सर्वदा चानयोर्विद्धि अन्योन्यत्वेन संस्थितिम् ।

एवमुक्तस्य मानादेः किञ्चिद्वैषम्येऽपि सौन्दर्यातिशयविशिष्टं चेद् बिम्बमुपादेयम्, सौन्दर्याभावेऽपि मानयुक्तं चेत् तदपि ग्राह्यम् । ताभ्यां द्वाभ्यामप्युज्झितं चेत्, तत्

त्याज्यमिति सलौकिकदृष्टान्तमाह—सुनिश्चितमिति सार्धैश्चतुर्भिः ॥ १६१-१६५ ॥

इस प्रकार पूर्व में कहे गये मान की अपेक्षा बिम्ब में मान की विषमता होने पर भी यदि वह सौन्दर्यातिशय से विशिष्ट है तो वह उपादेय (संग्राह्य) है । यदि सौन्दर्यादि गुण से रहित है किन्तु मान से प्रमाणित है तो उपादेय है । किन्तु सौन्दर्य एवं मान दोनों से रहित है तो वह त्याज्य है ॥ १६०-१६२ ॥

सुसौन्दर्यं तु मानस्य क्वचिदाक्रम्य वर्तते ॥ १६२ ॥
लावण्यस्य क्वचिन्मानं समाच्छाद्यावतिष्ठते ।

कहीं सुसौन्दर्य मान का अतिक्रमण कर विराजमान हो जाता है कहीं मान सुसौन्दर्य का अतिक्रमण कर विराजमान हो जाता है ॥ १६२-१६३ ॥

यथातिरूपावान् लोके दरिद्रोऽप्येति मान्यताम् ॥ १६३ ॥
विरूपोऽप्यतिवित्ताढ्यो नारूपो नैव निर्धनः ।
एवं द्वयोज्झितं बिम्बमनादेयत्वमेति च ॥ १६४ ॥
आदेयमेकयुक्तं च नित्यं यस्मान्महामते ।

जिस प्रकार दरिद्र होने पर भी अतिरूपवान् लोक में प्रतिष्ठित होता है अथवा अत्यन्त धनवान् होने से रूप रहित विरूप भी लोक में प्रतिष्ठित होता है । किन्तु जो अरूप है, निर्धन है, अर्थात् रूप और धन दोनों से रहित है, वह लोक में अप्रतिष्ठित रहता है । इसी प्रकार सौन्दर्य और मान रहित बिम्ब लोक में अनुपयोगी होता है ॥ १६३-१६५ ॥

सम्यङ्माने च सौन्दर्ये भक्तानुग्रहकाम्यया ॥ १६५ ॥
मान्त्रसन्निधिशक्तिर्वै सफला ह्यवतिष्ठते ।
सा सम्यक् प्रतिपन्नस्य बिम्बे दृग्गोचरस्थिते ॥ १६६ ॥
आमूर्ताह्लादयत्याशु ज्ञात्वैवं यत्नमाचरेत् ।
मानोन्मानप्रमाणानामथ सौन्दर्यसिद्धये ॥ १६७ ॥

एवं बिम्बस्य प्रमाणवत्त्वे सौन्दर्यवत्त्वे च "आभिरूप्याच्च बिम्बस्य" इत्युक्तरीत्या निरतिशयाह्लादजननी भगवत्सान्निध्यशक्ति(बि?र्बि)म्बे स्वत एवाविर्भूता सफलाऽवतिष्ठते, अतस्तदर्थं सुतरां यत्नः कार्य इत्याह—सम्यङ्माने चेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १६५-१६७ ॥

हे महामते सङ्कर्षण ! सौन्दर्य और मान इन दोनों में किसी एक से युक्त होने से बिम्ब निरतिशयाह्लाद जननी भगवत्सान्निध्य विष्णु शक्ति स्वतः आविर्भूत होकर सफला होकर प्रतिष्ठित हो जाती है । इसलिये साधक को वैसा ही प्रयत्न करना चाहिए ॥ १६५-१६७ ॥

ऋजोः सुसमपादस्य त्र्यङ्गुलं चरणान्तरम् ।

तद् वै विषमपादस्य अग्रात् तालसमं स्मृतम् ॥ १६८ ॥

समपादविषमपादबिम्बानां सूत्रेणावयवसाम्यपरीक्षामाह—ऋजोः सुसमपादस्ये-त्यारभ्य बिम्बोत्थाऽवयवी स्थितिरित्यन्तम् ॥ १६८-१७४ ॥

समपाद एवं विषमपाद वाले बिम्बों का सूत्र से अवयव साम्य की परीक्षा—जिसका पैर सीधा हो, समतल हो, उसके चरणों का अन्तर तीन अङ्गुल होता है। विषमपाद के आगे का अन्तर एक ताल के बराबर होता है ॥ १६७-१६८ ॥

तत्पार्ष्णिद्वयमध्यात् तु परिज्ञेयं द्विगोलकम् ।
स्थित्यर्थं ब्रह्मनाड्या वै तथा मार्गद्वयस्य च ॥ १६९ ॥
सूत्रेण सुसमे कुर्याद् देहोत्थे दक्षिणोत्तरे ।
समपादस्य बिम्बस्य ललाटान्मेढ्रमस्तकम् ॥ १७० ॥
प्रसार्य सूत्रमाच्छाद्य तेन नाभिहृदन्तरम् ।
घ्राणाग्रमलकानां च सन्धिर्यस्तिलकोर्ध्वगः ॥ १७१ ॥
एवं विषमपादस्य दक्षाङ्गुष्ठाग्रगं नयेत् ।
गात्रसाम्यं समापाद्यं क्षेत्रात् क्षेत्रगतेन च ॥ १७२ ॥
सूत्रेण सर्वबिम्बानां वैषम्यविनिवृत्तये ।
चतुस्त्रिद्व्यश्रिपरितः परिशुद्धा यतः शुभाः ॥ १७३ ॥
अशुभाऽपरिशुद्धा तु बिम्बोत्थाऽवयवी स्थितिः ।

वही अन्तर उसके दोनों पार्ष्णि के मध्य से दो गोलक समझना चाहिये। ब्रह्मनाडी और उसके दोनों मार्ग की स्थिति के लिये देह के दक्षिण और उत्तर भाग को सूत्र के समान बनावे। समपाद वाले बिम्ब के ललाट से मेढ्र मस्तक तक नाभिहृदय को, प्राणाग्र अलक की सन्धि, जो तिलक के ऊपर रहती है उसको, सूत को लम्बा कर उससे आच्छादित करे। इसी प्रकार समपाद एवं विषमपाद के सूत्र को भी दाहिने हाथ के अङ्गुष्ठ के अग्रभाग तक ले जावे। इस प्रकार क्षेत्र से क्षेत्रगत तक गात्रसाम्य की समता करे। उस सूत्र से सभी बिम्बों की विषमता की निवृत्ति के लिये चार, तीन एवं दो आवे तो वह चारों ओर से शुद्ध समझना चाहिये। वही शुभ है किन्तु बिम्ब से होने वाले अवयवी स्थिति अपरिशुद्ध एवं अशुभ है ॥ १६९-१७४ ॥

हयग्रीवबिम्बस्य मुखलक्षणकथनम्

ललाटमश्ववक्त्रस्य विस्ताराद् द्वादशाङ्गुलम् ॥ १७४ ॥

अथ हयग्रीवबिम्बस्य मुखलक्षणमाह—
ललाटमश्ववक्त्रस्येत्यादिभिः ॥ १७४-१८० ॥

अब **हयग्रीव के मुख का लक्षण** कहते हैं—हयग्रीव का ललाट विस्तार की दृष्टि से बारह अङ्गुल कहा गया है ॥ १७४ ॥

अष्टलोचनमायामाद् अग्रतश्चतुरङ्गुलम् ।
कलार्धसुषिरे घ्राणरन्ध्रे भागान्तरीकृते ॥ १७५ ॥

आयाम ( ) आठ लोचन कहा गया है, उसका अगला भाग चार अङ्गुल का तथा दो भागों में प्रविभक्त छिद्र घ्राणरन्ध्र कला का आधा कहा गया है ॥ १७५ ॥

अष्टाङ्गुले तु हनुके सृक्किण्यौ द्वेऽथ तत्समे ।
मध्यतः श्रोत्रशुक्ती द्वे द्व्यङ्गुले द्विकलोन्नते ॥ १७६ ॥

हनु आठ अङ्गुल का तथा दोनों सृक्किणी उसी के बराबर हो । श्रोत्र की दोनों शुक्ती मध्य से दो-दो अङ्गुल तथा दो कला ऊँची होनी चाहिये ॥ १७६ ॥

द्व्यङ्गुलं घ्राणवंशं तु तदूर्ध्वं द्विकलं स्मृतम् ।
विद्धि वक्त्रविकासं च द्वियवं चाग्रतः क्रमात् ॥ १७७ ॥

घ्राणवंश दो अङ्गुल का तथा उसकी ऊँचाई दो कला की होनी चाहिये । आगे की ओर किया जाने वाला मुख का विकास दो यव कहा गया है ॥ १७७ ॥

तमेव हि यवांसेन हन्वन्तं तनुतां नयेत् ।
घ्राणवंशस्य पक्षौ द्वौ मध्यनिम्नौ च संहतौ ॥ १७८ ॥

उसी मुख विकास को हनु पर्यन्त यवांस परिमाण में सूक्ष्म निर्माण करे । घ्राणवंश के दोनों पक्ष मध्य में निम्न बनावे और शेष को समान बनावे ॥ १७८॥

यवद्वयेन सार्धेन दृग्घ्राणाभ्यां तु चान्तरे ।
अथो दलं तु दृग्द्रोणेर्यवमानेन सञ्चितम् ॥ १७९ ॥
ललाटं सालकं प्राग्वद् दृङ्मध्यं साङ्गुला कला ।

नेत्र और दोनों घ्राण का अन्तर सार्ध यव द्वय (२½ यव) रखे । अलक (केश) युक्त ललाट पूर्व की भाँति द्वादश अङ्गुल रखे । दोनों दृष्टियों का मध्य भाग एक अङ्गुल से युक्त कला परिमाण में निर्माण करे ॥ १७९-१८० ॥

श्रीनृसिंहवक्त्रलक्षणकथनम्

नृसिंहस्य मुखे विद्धि परितश्चाष्टलोचनम् ॥ १८० ॥
ततोऽष्टकण्ठदेशाच्च कुर्यात् कर्णद्वयोज्झितम् ।
तत्कर्णद्वयमानेन ललाटान्तं नयेत् पुनः ॥ १८१ ॥
प्रमाणात् प्राक् प्रणीताच्च संरम्भाघ्रातलक्षणम् ।
प्रफुल्लविकसच्छिद्रं घ्राणवंशान्वितं भवेत् ॥ १८२ ॥

श्रीनृसिंहवक्त्रलक्षणमाह—श्रीनृसिंहस्येत्यादिभिः ॥ १८०-१८८ ॥

अब **नृसिंह के मुख का परिमाण** कहते हैं—नृसिंह का मुख चारों ओर आठ लोचन करे, दोनों कानों को छोड़कर कण्ठ देश से भी आठ लोचन बनावे। पुनः दोनों कानों के मान से भी ललाट पर्यन्त उतनी ही दूरी रखे। घ्राणवंश की दोनों नासिकाओं का छिद्र प्रफुल्ल और विकसित निर्माण करे ॥ १८१-१८२ ॥

तच्छिद्रे पूर्वमानाच्चाप्यस्य वै त्रियवाधिकम्।
सगोलमुत्तराङ्गेषु सकलांशं च लोचनम्॥ १८३ ॥

वे छिद्र पूर्वमान की अपेक्षा आप्य से तीन यव अधिक होने चाहिये। उत्तर अङ्ग में लोचन गोल एवं कलांश युक्त होना चाहिये ॥ १८३ ॥

अधरोष्ठं परिज्ञेयं सचतुर्यवमङ्गुलम्।
सार्धचतुष्कलं वक्त्रं शेषायामो हनोः स्मृतः॥ १८४ ॥

अधरोष्ठ चार यव सहित एक अङ्गुल का समझना चाहिये। साढे चार कला का मुख होना चाहिये, शेष आयाम हनु का होता है ॥ १८४ ॥

तद्विकासः परिज्ञेयो नेत्रमानं यवाधिकम्।
अग्रतो ह्रासमायाति सृक्किण्यन्तं हि चाङ्गुलम्॥ १८५ ॥
सर्ववृत्तं तदर्धेन नेत्रयुग्मं सविस्मयम्।
पूर्ववद् विस्तृतं श्रोत्रं कलार्धोनं तदुन्नतेः॥ १८६ ॥

वक्त्र का विकास एक तथा यव से अधिक नेत्र का मान होना चाहिये। आगे से सृक्किणी पर्यन्त वह एक अङ्गुल ह्रास हो जाता है। उसका आधा सर्ववृत्त कहा जाता है। वही विस्मय सहित होने पर नेत्र युग्म कहा जाता है। श्रोत्र पूर्ववत् विस्तृत बनाना चाहिये जो उसकी ऊँचाई से आधा कला कम होवे ॥ १८५-१८६ ॥

तुल्या चेन्दुकला युग्मयोगस्य भ्रूस्त्रिगोलका।
तन्मध्यं तु कलामानं शङ्खावर्तोपमं महत्॥ १८७ ॥
भागमानं सटावृत्तं कार्यं तच्छिरसि स्फुटम्।

इन्द्रकला तुल्य बनानी चाहिये। भ्रू तीन गोलक होना चाहिये, भ्रू उसका मध्य कला मान का तथा महान शङ्खावर्त्त के समान होना चाहिये ॥ १८७-१८८ ॥

वराहवक्त्रलक्षणकथनम्

दैर्घ्येण सार्धतालं च क्ष्माधरस्याननं स्मृतम्॥ १८८ ॥
विस्तारेण ललाटाच्च तन्मानं द्व्यङ्गुलोज्झितम्।
सौम्यरूपस्य च विभोः प्रोद्यतस्य कलोज्झितम्॥ १८९ ॥

अथ वराहवक्त्रलक्षणमाह—दैर्घ्येण सार्धतालं चेत्यादिभिः ॥ १८८-१९४ ॥

अब **वराह के मुख का लक्षण** कहते हैं—वराह का मुख लम्बाई में १½ डेढ़ ताल होना चाहिये । विस्तार में ललाट तक उसका मान दो अङ्गुल कम होना चाहिये । सौम्य रूप पृथ्वी उद्धार के लिये उद्यत उन विभु का मुख एक कला रहित होना चाहिये ॥ १८८-१८९ ॥

तच्चतुर्थांशमानेन पोत्रदेशस्य विस्तृति ।
तस्योपरिष्टाद् बाहुल्यं तत्समं चाङ्गुलं त्वधः ॥ १९० ॥

उनके पौत्र देश का विस्तार मान में चतुर्थांश होना चाहिये । उसके ऊपर का बाहुल्य उसके समान होना चाहिये और नीचे का मान एक अङ्गुल होना चाहिये ॥ १९० ॥

हनुद्वयस्य वै मानं सार्धं सप्ताङ्गुलं स्मृतम् ।
शेषमाननरन्ध्रं तु सृक्किणीभ्यां यदन्तरम् ॥ १९१ ॥

वाराह के दोनों हनु का मान सात अङ्गुल कहा गया है । शेष मुख का छिद्र दोनों सृक्किणी में जितना अन्तर है उतना होता है ॥ १९१ ॥

तद्विकासश्च सार्धेन कलार्धेनाग्रदेशतः ।
स एवाङ्गुलमानेन विज्ञेयः सृक्किणीद्वयात् ॥ १९२ ॥

उसका विकास अग्रदेश से सार्ध कलार्ध मान का होता है, दोनों सृक्किणियों से वह विकास एक अङ्गुल मान का होता है ॥ १९२ ॥

घ्राणरन्ध्रं च वक्त्रोक्ते दंष्ट्रे द्व्यर्धकलोन्नते ।
नासावंशं यथापूर्वं कदलीनाडिपृष्ठवत् ॥ १९३ ॥

नाक का छिद्र मुख के दो दाँत द्व्यार्ध कला उन्नत होना चाहिये । नासावंश (प्रशस्त नासिका) यथापूर्व केला की नाड़ी के पृष्ठभाग के समान करे ॥ १९३ ॥

श्रोत्रे वाजिमुखोक्ते तु कोटेः सप्तकलान्तरे ।
तत्तुल्ये लोचने किन्तु प्रान्ततीक्ष्णे यवोज्झिते ॥ १९४ ॥

दोनों श्रोत्र हयग्रीव के मुख के समान एवं दोनों किनारों का अन्तर सात कला का होना चाहिए । लोचन भी उतने ही बराबर जो दोनों प्रान्त में तीक्ष्ण और यव से कम होने चाहिये ॥ १९४ ॥

एतेषां विहिता ग्रीवा ह्यङ्गुलद्वितयेन तु ।
प्रत्येकदेशात् संयुक्ता सौम्यमूर्त्युदिता च या ॥ १९५ ॥

अथ हयग्रीवादीनां ग्रीवाद्यवयवलक्षणानि त्रिचतुःपञ्चवक्त्रादिबिम्बस्य मुखाद्यवयवलक्षणानि चाह—

एतेषां विहिता ग्रीवेत्यारभ्य कृता भवति सिद्धिदेत्यन्तम् ॥ १९५-२१४ ॥

अब **हयग्रीव के ग्रीवादि का लक्षण** जो तीन, चार और पाँच संख्यक मुख वाला है, उस मुख बिम्ब के अवयवादि लक्षण कहते हैं—तीन, चार, पाँच मुख वाले हयग्रीव की ग्रीवा दो अङ्गुल होनी चाहिये । वह ग्रीवा सभी मुखों से संयुक्त है, उसकी मूर्त्ति सौम्य है ॥ १९५ ॥

विनोच्छ्रायेण नृहरेर्यस्य गात्रस्य या प्रमा ।
सा सा सवेष्टनाद् व्यासात् कलार्धेनाधिका भवेत्॥ १९६ ॥

उन हयग्रीव की ऊँचाई के बिना जिस गात्र की जितनी प्रमा है, वह गोलाई व्यास से आधे कला से अधिक कही गई है ॥ १९६ ॥

वक्षःकट्युदरांसस्फिक्कलामानाधिकानि च ।
तथैव नखपत्राणि देहश्चास्य समांसलः ॥ १९७ ॥

हयग्रीव का वक्षःस्थल, कटिभाग, उदर और नितम्ब कलामान से अधिक है उसी प्रकार नख पत्र भी समझना चाहिये । इनका शरीर मांसल युक्त बनाना चाहिये ॥ १९७ ॥

सम्पूर्णो दक्षिणावर्तैर्लोमभिश्चातिकुञ्चितैः ।
त्रिचतुःपञ्चवक्त्रस्य विनैवोर्ध्वमुखेन तु ॥ १९८ ॥

इनका शरीर चिक्कन और अत्यन्त कुञ्चित दक्षिणावर्त्त लोम से युक्त होना चाहिये । ये तीन, चार, पाँच मुख वाले हयग्रीव ऊर्ध्वमुख से रहित हैं ॥ १९८ ॥

दक्षिणोत्तरवक्त्राभ्यां ह्रासं कुर्याद् द्विगोलकम् ।
विकासः सिंहवक्त्रोक्त उदग्वक्त्रस्य तत्र च ॥ १९९ ॥

दक्षिण और उत्तर वाले मुख को परस्पर दो गोलक कम करके निर्माण करे । उसमें उत्तर मुख का विकास सिंह के मुख के समान बनाना चाहिये ॥ १९९ ॥

समो दृक्सन्निवेशस्तु चतुर्णां मोक्षसिद्धये ।
अरोग्यभोगकैवल्यप्राप्तयेऽर्धाङ्गुलेन तु ॥ २०० ॥

चारो प्रकार की मोक्ष सिद्धि के लिये हयग्रीव के नेत्र का सन्निवेश समान रूप से करे । आरोग्य, भोग तथा कैवल्य प्राप्ति के लिये आधा अङ्गुल सन्निवेश करे ॥ २०० ॥

कुर्यात् सव्यापसव्याभ्यामधो दृक्सन्निवेशनम् ।

सह पूर्वाननेनैव साम्यं प्रत्यङ्मुखस्य च ॥ २०१ ॥

हयग्रीव के मुख का सन्निवेश बायें, दाहिने और नीचे की ओर करे । पूर्व के मुख के समान पश्चिम का मुख निर्माण करे ॥ २०१ ॥

निष्कासायामविस्तारघ्राणदृग्भ्रूश्रुतिष्वथ ।
ईषत्तिर्यक्क्षितिन्यस्तदृङ्मुखं दक्षिणं शुभम् ॥ २०२ ॥

निष्कास तथा आयाम, विस्तार, घ्राण, दृष्टि, भ्रू तथा कानों में करे । कुछ तिरछापन लिये हुए पृथ्वी पर स्थित दक्षिण की ओर का नेत्र और मुख कल्याणकारी कहा गया है ॥ २०२ ॥

तद्वच्च पोत्रदृग्वक्त्रमुत्तरं सर्वसिद्धिकृत् ।
स्वकार्यसूचनान्न्यूनं तन्मन्त्रस्य च सन्निधिः ॥ २०३ ॥

उसी प्रकार पोत्र, दृक् (नेत्र) और मुख उत्तर की दिशा में सभी सिद्धियों को देने वाले कहे गए हैं । अश्वग्रीव के मन्त्र की सिद्धि तब समझनी चाहिये जब वह आराधक के कार्य होने की सूचना प्रदान करे ॥ २०३ ॥

अतोऽन्यथा समाश्रित्य शान्तिमास्ते च मन्त्रराट् ।
नित्यं तत्सन्निधानाच्च भूतवेतालराक्षसाः ॥ २०४ ॥
आ दर्शनात् पलायन्ते आविशन्ति च दर्शनात् ।
आदाय शिरसा मन्त्रिसमाज्ञां सम्प्रयान्ति ते ॥ २०५ ॥

यदि सिद्धि नहीं होती तो ये मन्त्रराट् शान्त (चुपचाप) रहते हैं । इनके सन्निधान से, अथवा दर्शन से भूत, बेताल और राक्षस दूर भाग जाते हैं, अथवा दर्शन मात्र से स्थिर होकर खड़े रहते हैं और मन्त्रज्ञ की आज्ञा शिर से वहन करते हुए तदनन्तर जाते हैं ॥ २०४-२०५ ॥

अतः समाचरेद् यत्नाद् येन स्याद् बिम्बसन्निधिः ।
नहि तत्सन्निधानाद् वै कश्चिदारभते शुभम् ॥ २०६ ॥

इसलिये आराधक ऐसा करे जिससे बिम्ब का सन्निधान बना रहे । उसके सन्निधान के बिना कोई भी शुभ कार्य का आरम्भ नहीं हो सकता ॥ २०६ ॥

वराहदंष्ट्रं सिंहाक्षं तथा चिपिटनासिकम् ।
विधेयं पञ्चमं वक्त्रं पञ्चवक्त्रस्य वै विभोः ॥ २०७ ॥

इन विभु पञ्चवक्त्र का पाँचवाँ मुख वराह के समान दाँतों वाले हैं । सिंह के समान इनकी आँखें और नासिका चिपटी बनाना चाहिये ॥ २०७ ॥

अस्याधरोत्तराभ्यां त्वप्योष्ठाभ्यां समता भवेत् ।

विभिन्नताऽङ्गुलार्धेन ताभ्यां तन्मध्यगा स्फुटा ॥ २०८ ॥

इनके ऊपर और नीचे के दोनों ओष्ठ सम बनाना चाहिये, अथवा आधा अङ्गुल कम वेशी के मान से विभिन्न निर्माण करे । इनका मध्य भाग अधिक स्पष्ट होना चाहिये ॥ २०८ ॥

कार्या दशनपाली वै मूलमध्याग्रतः समा ।
कलार्धेनोल्बणं वृत्तं तद्गण्डद्वितयं ततः ॥ २०९ ॥

दर्शनपाली (मसूढों) का निर्माण मूल, मध्य तथा अग्र भाग में समान रूप से करना चाहिए । उनका दोनों गण्डस्थल आधे कला का उल्बण (उग्र) एवं वृत्ताकार बनावे ॥ २०९ ॥

द्विकलं चाग्रतः श्मश्रु कला चार्धकला क्रमात् ।
सम्बद्धवेणिः पूर्वोक्तमानेन शुभकृद् भवेत् ॥ २१० ॥

आगे का श्मश्रु दो कला का, अथवा एक कला का, अथवा आधे कला का होना चाहिये । शिर से सम्बद्ध वेणी पूर्व में कहे गये मान से बनाने पर शुभकारक होती है ॥ २१० ॥

सिंहसूकरवाज्याख्यवक्त्राणां सौम्यतां नयेत् ।
प्रमाणं दृग्गताल्लक्ष्याद् व्यवहारमयात् तु वै ॥ २११ ॥

हयग्रीव के सिंह, सूकर तथा अश्व के समान मुख की सौम्यता निर्माण करे । उस बिम्ब का प्रकाश दृष्टि से देखे जाने वाले लक्ष के अनुसार तथा व्यवहार के अनुसार बनाना चाहिये ॥ २११ ॥

विकासश्चाश्ववक्त्रोक्तः सौम्यरूपस्य भूभृतः ।
तदाद्योक्तस्तु नृहरेः प्रागुक्तो यः स चोदितः ॥ २१२ ॥

यहाँ तक हयग्रीव के मुख का विकास कहा गया है । सौम्य रूप धारण करने वाले वराह के मुख का विकास पहले कह आये हैं । उसके भी पहले नृसिंह के मुख का विकास कह आये हैं ॥ २१२ ॥

तथा वक्त्राङ्गभावित्वे विभोः शक्तीश्वरस्य च ।
हारनूपुरवस्त्रस्त्रक्कटकाङ्गदभूषिता ॥ २१३ ॥
माल्योपवीतकेयूरमकुटाद्युपशोभिता ।
प्रतिमा मन्त्रमूर्तीनां कृता भवति सिद्धिदा ॥ २१४ ॥

ये सभी विभु शक्तीश्वर के मुख के अङ्ग है । इनकी प्रतिमा हार, नूपुर, वस्त्र, माला, कटक, अंगद से भूषित करनी चाहिये तथा माल्य, उपवीत, केयूर

एवं मुकुट से शोभित करना चाहिये । इस प्रकार भूषित तथा शोभित की गई मन्त्र मूर्ति की प्रतिमा सिद्धि प्रदान करने वाली होती है ॥ २१३-२१४ ॥

विमर्श—सलक्षण, बिम्ब मान, हयग्रीव मुख लक्षण, नृसिंह मुख लक्षण, वराह मुख लक्षण, हयग्रीवादि के तीन, चार और पञ्चमुख लक्षणों को विष्णु-धर्मोत्तर पुराण तथा चतुर्वर्ग चिन्तामणि (हेमाद्रि) व्रतभाग के प्रथमखण्ड में देखिये । बिम्ब के अङ्गावयवों के लक्षण एवं पर्याय अमरकोशादि ग्रन्थों में द्रष्टव्य है ।

सत्यसुपर्णादिगरुडव्यूहादिलक्षण कथनम्

यत्पुरा पञ्चधा प्रोक्तं वाहनं प्राणदैवतम् ।
तस्य बिम्बसमुत्थेन तालेन मुखमण्डलम् ॥ २१५ ॥
द्व्यङ्गुलं तु ललाटोक्तं जटाबन्धो द्विलोचनः ।
द्व्यङ्गुलेनोन्नतः कण्ठ उरः पञ्चकलं स्मृतम् ॥ २१६ ॥
अष्टाङ्गुलं तदुदरं कटिः पञ्चाङ्गुलोन्नता ।
नवाङ्गुलोन्नतावूरू जानुनी द्व्यङ्गुले स्मृते ॥ २१७ ॥

संत्यसुपर्णादिगरुडव्यूहलक्षणमाह—यत्पुरा पञ्चधा प्रोक्तमित्यारभ्य स्थितानाम-र्धलक्षणेत्यन्तम् ॥ २१५-२३४ ॥

अब **सत्य सुपर्णादि गरुड़ व्यूह का लक्षण** कहते हैं—पहले प्राण देवता वाले वाहन रूप गरुड़ को पाँच प्रकार का कहा गया है । उनके मुख मण्डल का मान बिम्ब के अनुसार एक ताल का होना चाहिए । ललाट दो अङ्गुल का होना चाहिये। जटाबन्ध दो लोचन का, कण्ठ दो अङ्गुल ऊँचा तथा वक्षःस्थल पाँच कला का होना चाहिये । उदर आठ अङ्गुल का और कटि पाँच अङ्गुल ऊँची होनी चाहिये । दोनों ऊरु नव अङ्गुल उन्नत तथा जानु दो अङ्गुल का निर्मित होना चाहिये ॥ २१५-२१७ ॥

अष्टाङ्गुलोच्छ्रिते जङ्घे द्व्यङ्गुले पादपिण्डके ।
शममेककलाहीनं तद्ग्रीवायाश्च वेष्टनम् ॥ २१८ ॥

दोनों जङ्घा आठ अङ्गुल ऊँची, पैर की पिण्डिका दो अङ्गुल, उस बिम्ब की ग्रीवा का वेष्टन (= गोलाई) एक कलाहीन कम परिमाण में निर्माण करे ॥२१८॥

बिम्बतुल्या परिज्ञेया सर्वदाऽस्याङ्गविस्तृतिः ।
तद्विभागाधिकं विद्धि वेष्टनं ह्युदरस्य च ॥ २१९ ॥

इसके अंग का विस्तार सर्वदा बिम्ब के तुल्य समझना चाहिये । उदर का वेष्टन उसके विभाग से अधिक समझे ॥ २१९ ॥

परिधिः कटिदेशस्य चतुर्नेत्राधिकस्तु वै ।

बिम्बोक्तसदृशं विद्धि तदूर्वोर्मूलवेष्टनम् ॥ २२० ॥

कटि देश की परिधि का मान चार नेत्र से अधिक मान में निर्माण करे । उस बिम्ब के ऊरु का वेष्टन (= गोलाई) पूर्व में कहे गये बिम्ब के सदृश समझना चाहिये ॥ २२० ॥

तदेव जङ्घामध्यस्य जङ्घान्तस्य तदेव हि ।
पादं पञ्चकलायामं चतुरङ्गुलविस्तृतम् ॥ २२१ ॥

वही परिमाण जङ्घा के मध्य का तथा वही परिमाण जङ्घा के अन्त का भी होना चाहिए । पैर पाँच कला लम्बा और चार अङ्गुल चौड़ा बनावे ॥ २२१ ॥

त्र्यङ्गुलं पाणिदेशाच्च अङ्गुष्ठोऽर्धकलासमः ।
विज्ञेया अङ्घ्रिदैर्घ्याच्च यवोनाङ्गुलयः क्रमात् ॥ २२२ ॥

पाणिदेश से तीन अङ्गुल दूर अङ्गुष्ठ का मान आधी कला का बनावे । अङ्गुलियाँ पैर की चौड़ाई से एक यव कम करे ॥ २२२ ॥

नाभिरन्ध्रं सुविस्तीर्णं ह्यर्धलोचनविस्तृतम् ।
मध्यमाङ्गुलिपर्यन्तं मणिबन्धान्नवाङ्गुलम् ॥ २२३ ॥

नाभि का छिद्र विस्तार युक्त तथा अर्धलोचन विस्तृत निर्माण करे । मणिबन्ध से मध्यमाङ्गुलि पर्यन्त दूरी नव अङ्गुल कही गई है ॥ २२३ ॥

त्रिकलः पाणिविस्तारस्तन्नखा निशितोन्नताः ।
तद्बाहुमस्तकं विद्धि उच्छ्रायेण द्विलोचनम् ॥ २२४ ॥

हाथ का विस्तार तीन कला का तथा नख अत्यन्त निशित (तीक्ष्ण) एवं समुन्नत होने चाहिये । बिम्ब का बाहु और मस्तक ऊँचाई में दो लोचन का बनाना चाहिये ॥ २२४ ॥

भुजोपभुजयुग्मं यत् तद् द्वितालसमं स्मृतम् ।
कलार्धेनाधिकं बिम्बं बाहोस्तद्बाहुवेष्टनम् ॥ २२५ ॥

दोनों भुजायें एवं दोनों उपभुज दो ताल के समान बनाना चाहिये । बिम्ब का एवं बाहु का बाहु-वेष्टन एक कला से अधिक निर्माण करे ॥ २२५ ॥

बिम्बोक्तां सद्विधिं ह्येवं स्तनभ्रूर्लोचनोल्बणा ।
वृत्तवैपुल्यमानेन लोचने पद्मपत्रवत् ॥ २२६ ॥

इस प्रकार बिम्ब की सुन्दर विधि कही गई । स्तन, भ्रू और लोचन उल्बण बनावे । दोनों नेत्रों को गोलाई तथा वैपुल्य के अनुसार कमल पत्र के समान विशाल बनावे ॥ २२६ ॥

भ्रूयुगं नरसिंहोत्थं घ्राणाग्रं शुकचञ्चुवत् ।
कलार्धमानं दीर्घं च तद्वंशं गजपृष्ठवत् ॥ २२७ ॥

गरुड़ के दोनों भ्रू नरसिंह के समान और प्राण का अग्रभाग सुग्गे के चञ्चु के समान होना चाहिए । घ्राणवंश कला को अर्धमान का दीर्घ तथा गज पृष्ठवत् निर्माण करना चाहिए ॥ २२७ ॥

स्वायामदीर्घं तत्पक्षयुगलं कुक्षिदेशगम् ।
तदेव दैर्घ्यादर्धेन विस्तृतं हंसपक्षवत् ॥ २२८ ॥

उनके कुक्षि में रहने वाला दोनों पक्ष लम्बाई के अनुसार चौड़ा बनावे । वह उसकी चौड़ाई, लम्बाई का आधा तथा हंस-पक्ष के समान विस्तृत बनावे ॥२२८॥

स्वपक्षमानाद् द्विगुणं तत्पुच्छं शतशाखकम् ।
सपक्षमिममायामं सात्यं त्ववयवान्वितम् ॥ २२९ ॥

उसका पुच्छ उसके पङ्ख के मान से द्विगुणित तथा हजारों शाखा से युक्त बनावे । इस प्रकार यहाँ अवयव युक्त पक्ष सहित यह आयाम सत्य नाम सुपर्ण का कहा गया है ॥ २२९ ॥

सर्वेषां विद्धि सामान्यं विशेषाख्यमथोच्यते ।
ऊरुद्वयात्नयेद् ह्रासमङ्गुलानां त्रयं तथा ॥ २३० ॥
जङ्घाकाण्डोच्छ्रितेः कुर्याज्जङ्घाभ्यां चात्र वेष्टनम् ।
बिम्बाख्यं मणिबन्धस्य सममूलान्महामते ॥ २३१ ॥
जानुदेशात् तदर्धेन सह चार्धाङ्गुलेन तु ।
पादे जालं परिज्ञेयं विस्तारेण षडङ्गुलम् ॥ २३२ ॥

यहाँ तक जङ्घा काण्ड का सामान्य लक्षण कहा गया है । अब जो विशेष है उसे कहा जा रहा है । दोनों जङ्घाओं का वेष्टन दोनों ऊरु से तीन अङ्गुल कम रखे । उसकी ऊँचाई जङ्घा काण्ड की ऊँचाई के समान रखे । हे महामते ! उसका बिम्ब मणिबन्ध के मूल के समान रखे । जानुदेश से उसके आधे के समान अथवा आधा अङ्गुल के समान पैर का जाल निर्माण करे, जिसका विस्तार छः अङ्गुल होना चाहिये ॥ २३०-२३२ ॥

शेषं सत्योदितं सर्वं सर्वेषां विद्धि सर्वदा ।
किन्तु पादोज्झितौ पक्षौ दैर्घ्यात् तद्दलविस्तृतौ ॥ २३३ ॥

शेष सब कुछ सत्य गरुड़ के लक्षण में कह दिया गया है किन्तु पैर रहित दोनों पक्ष लम्बाई से चार गुना विस्तृत बनावे ॥ २३३ ॥

एषां चोड्डीयमानानां स्वायामा पक्षविस्तृतिः ।
पञ्चानां च परिज्ञेया स्थितानामर्धलक्षणा ॥ २३४ ॥

ये व्यूह जब उड़ने लगते हैं तब इनके आयाम के अनुसार इनके पक्ष भी बढ़ जाते हैं, इस प्रकार से स्थित पाँचों गरुड़ों की अर्धलक्षणा समझनी चाहिये ॥ २३४ ॥

वामनलक्षणकथनम्

एतदादाय मानं तु पुच्छभ्रूपक्षवर्जितम् ।
विद्धि वामनरूपस्य लक्षणं किन्तु लाङ्गलिन् ॥ २३५ ॥
ललाटनासावक्त्रेभ्यः समादायाङ्गुलत्रयम् ।
मस्तकस्योपरिष्टात् तु जटाबन्धं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

वामनलक्षणमाह—एतदिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ २३५-२३७ ॥

यही गरुड़ पञ्चव्यूहों का पुच्छ, भ्रू एवं पक्ष वर्जित मान वाला लक्षण वामन का भी समझना चाहिये । किन्तु हे सङ्कर्षण ! ललाट, नासिका और वक्त्र (मुख) से तीन अङ्गुल लेकर वामन के मस्तक के ऊपर जटाबन्ध का निर्माण करना चाहिए ॥ २३५-२३६ ॥

जटावसानमायामं यथा स्यात् पञ्चतालकम् ।
इत्युक्तं लेशतो बिम्बलक्ष्म पीठमथोच्यते ॥ २३७ ॥

वामन के जटा की लम्बाई पाँच ताल बनानी चाहिये । यहाँ तक लेश मात्र बिम्ब का लक्षण कहा गया, अब पीठ का लक्षण कहता हूँ ॥ २३७ ॥

पीठलक्षणकथनम्

बिम्बानामुपविष्टानां चतुरश्रं तु तद् भवेत् ।
चतुरश्रायतं चैव प्रोत्थितानां सदैव हि ॥ २३८ ॥
वृत्तवृत्तायतत्वेन ह्यनयो रूपमन्यथा ।
याऽङ्गुलैः परमाणूत्थैराराधकमयैस्तु वा ॥ २३९ ॥
धत्तेऽर्चां तु सामायामं द्वाराद् वा मन्दिरोत्थितात् ।
तन्मानेन तु पीठस्य दैर्घ्यमर्धेन विस्तृतिः ॥ २४० ॥
द्वारोर्ध्वाच्च त्रिरन्तानि एकपूर्वाणि वै पुरा ।

उक्तनि(र्ग?ग)मनपूर्वकं पीठलक्षणमाह—इत्युक्तं लेशतो बिम्बमित्यारभ्य विलोमाद् विपरीतदम्' इत्यन्तम् ॥ २३७-२८१ ॥

बैठे हुए बिम्ब के लिये पीठ चौकोर बनानी चाहिये तथा खड़े रहने वाले बिम्ब के लिये चतुरस्र और आयत बनाना चाहिये । इन दोनों रूपों के अतिरिक्त

अन्य रूप वाले बिम्ब के लिये वृत्त, अवृत्त अथवा आयत पीठ का निर्माण करे। जो अङ्गुलियों से परमाणुओं के सहारे अथवा आराधकमय होकर अर्चा ग्रहण करे, उसे मन्दिर के द्वार के समान आयाम में निर्माण कर उसके मान के अनुसार पीठ को दीर्घ बनावे। उसके आधे मान से उसका विस्तार बनावे ॥ २३८-२४१ ॥

सन्त्यज्य द्वादशांशाद् वै अधः पीठोन्नतिस्त्रिभिः ॥ २४१ ॥
शेषेणास्त्रांशसङ्घेन प्रतिमा चोत्थिता भवेत्।
अथवा वाहनारूढा न्यूना वा मध्यमोत्तमा ॥ २४२ ॥

नीचे से द्वादशांश त्याग कर तीन अंशों से पीठ की ऊँचाई निर्मित करे। शेष अस्त्रांश समूह से प्रतिमा खड़ी बनानी चाहिये, अथवा यदि वाहनारुढ़ प्रतिमा बनावे तो उसे न्यून, मध्यम एवं उत्तम रूप में निर्माण करे ॥ २४२ ॥

चतुर्भिर्द्वादशांशैस्तदुपविष्टस्य चोन्नतिः।
विहिता चास्य सर्वत्र प्रतिमार्धेन विस्तृतिः ॥ २४३ ॥

चार द्वादशांश से उपविष्ट प्रतिमा की ऊँचाई निर्माण करे। इसका विस्तार प्रतिमा के आधे भाग में सर्वत्र निर्माण करे ॥ २४३ ॥

तत् त्र्यंशपरिलुप्ता च चतुर्थांशोज्झिताऽथवा।
परिवारवशेनैव चातुरात्म्यस्य वै पुनः ॥ २४४ ॥

पुनः चातुरात्म्य के परिवार वश से वह प्रतिमा तीन अंशों से पूर्ण बनाई जाय अथवा चतुर्थांश छोड़कर बनाई जावे ॥ २४४ ॥

अलुप्तांशं च विहितं पीठायामं च सर्वदिक्।
चतुर्दिग्दृग्गतस्यैवम् एकदिग्दृग्गतस्य च ॥ २४५ ॥

सभी दिशाओं में पीठ का आयाम अंश लोप के बिना निर्माण विहित है। चारों दिशाओं में दिखाई पड़ने वाले पीठ को अथवा एक दिशा में दिखाई पड़ने वाले पीठ के लिये यही नियम है ॥ २४५ ॥

तदेव दैर्घ्यद्विगुणं लाञ्छनैरावृतस्य च।
सार्धं चानावृतस्यैव तद्बाहुल्यं पुरोदितम् ॥ २४६ ॥

यदि वह लाञ्छन से आवृत है, तो उसे दीर्घ का दुगना निर्माण करे, यदि वह लाञ्छन से अनावृत है तो अढ़ाई गुना कर निर्माण करे। इसका बाहुल्य पहले कह आये हैं ॥ २४६ ॥

(चतुष्कमेकपीठानां केवलं लक्ष्मवर्जितम्।)
एकैकं लक्ष्मभेदेन तत्संख्यं विद्धि वै पुनः।

पीठसंख्याकथनम्

अनन्तासनमाद्यं च द्वितीयं पक्षमन्दिरम् ॥ २४७ ॥
कमलाङ्कं तृतीयं तु चतुर्थं चक्रभूषणम् ।
एवं हि सर्वसामान्यं पीठानां हि द्विरष्टकम् ॥ २४८ ॥

एक पीठ के ही चार भेद होते हैं जो केवल लक्ष्म (चिह्न) से वर्जित होते हैं। फिर लक्ष्म (= चिन्ह) के भेद से एक-एक क्रम से वे भिन्न हो जाते हैं ।

हे सङ्कर्षण ! अब पुनः उनकी संख्या सुनिये । पहले आसन (पीठ) का नाम अनन्त है, द्वितीय पीठ का नाम 'पक्ष मन्दिर' है । तृतीय आसन (पीठ) का नाम कमलाङ्क है । चतुर्थ का नाम चक्रभूषण है । इस प्रकार सर्व सामान्य पीठों की संख्या सोलह कही गई है ॥ २४७-२४८ ॥

भेदभिन्नं समासेन पुनरेव निबोध तु ।
दिक्षु लक्ष्माणि पीठानां विद्धि कण्ठगतानि च ॥ २४९ ॥

अब पुनः भेद से भिन्न होने के कारण उन पीठों के विषय में सुनिये । आठो दिशाओं में पीठों के लक्ष्म (चिह्न) कण्ठगत होते हैं ॥ २४९ ॥

अन्योन्यसन्निवेशाच्च तेषां बाह्यात्मना पुनः ।
चक्राम्बुजाभ्यां तत्स्थाभ्यां लुप्ताभ्यामपि तत्क्षितेः ॥ २५० ॥
ताभ्यामन्योन्ययोगाच्च दिक्ष्वनन्तखगाश्रयात् ।
द्विद्व्यात्मना द्व्यात्मना वा बहुत्वमवधारय ॥ २५१ ॥
पद्मेनोर्ध्वगतेनैव द्वयं चक्रेण तद्बहिः ।
एवं ह्यधोगतेनैव परिज्ञेयं द्वयं द्वयम् ॥ २५२ ॥
उपरिष्टात् तु पद्माभ्यामधश्चक्रं द्वयं द्वयम् ।
द्वितयव्यत्ययाच्चान्यत् परिज्ञेयं महामते ॥ २५३ ॥

पुनः अन्योन्य के सन्निवेश से वे पीठ अधिक संख्या में हो जाते हैं । पीठ में स्थित चक्र और कमल के भेद से, उन दोनों के स्थापित करने के भेद से, दोनों को एक में मिलाकर स्थापित करने के भेद से, दिशाओं में अनन्त और गरुड़ के स्थापन करने से, इस प्रकार दो-दो को अलग-अलग स्थापित करने से, अथवा दोनों को एकत्र स्थापित करने से वे पीठ अनेक हो जाते हैं । हे सङ्कर्षण ! इसे समझिए । इस प्रकार पीठ के ऊपर पद्म स्थापन से, उसके बाहर चक्र स्थापन से और इसी प्रकार के नीचे स्थापन करने से उसके दो भेद हो जाते हैं । ऊपर दो-दो पद्मों के स्थापन से, इसी प्रकार नीचे दो-दो चक्र के स्थापन से दो-दो भेद होते हैं और दोनों के व्यत्यय से भी दो-दो भेद हो जाते हैं । हे महामते ! इस प्रकार पीठ के अनेक भेद हो जाते हैं ॥ २५०-२५३ ॥

अन्तर्बहिःस्थितिवशाच्चक्रपद्मद्वयस्य च ।
व्यत्ययादनयोर्विद्धि ऊर्ध्वभागाच्चतुष्टयम् ॥ २५४ ॥

भीतर बाहर चक्र और पद्म के आठ ऊर्ध्व भाग के व्यत्यय होने से इनके चार भेद हो जाते हैं ॥ २५४ ॥

अधोभागादेवमेव चतुष्कमपरं तु वै ।
पीठानामष्टकमिदमधस्तादूर्ध्वतस्तु वा ॥ २५५ ॥
युक्तमेकेन वै कुर्याच्चक्रेण कमलेन वा ।
चक्राकारास्तु विहिता ह्येकभ्रमसमाश्रिताः ॥ २५६ ॥

इसी प्रकार अधोभाग में भी व्यत्यय होने से एक और चार भेद हो जाता है। ये पीठ के आठ भेद नीचे और ऊपर होने के कारण हो जाते हैं । इस पीठ का निर्माण केवल चक्र से अथवा केवल कमल से अर्थात् दो में से एक ही से करना चाहिये ॥ २५५-२५६ ॥

बहवो हि दलास्तद्वदीषद् वै कर्णिकान्विताः ।
इति लाञ्छनसञ्चारो बहुधा ते मयोदितः ॥ २५७ ॥
यस्मिन् प्रकृतिभूते तु पीठे तदधुना शृणु ।
कृत्वा द्विर्दशधा पीठं पुरायामात् समैः पदैः ॥ २५८ ॥

केवल एक गोले में ही चक्राकार पीठ निर्माण करना चाहिये । इसी प्रकार बहुत दलों से युक्त थोड़े कर्णिकाओं से कमल द्वारा पीठ निर्माण करे । इस प्रकार पीठ के अनेक लाञ्छन युक्त सञ्चार का वर्णन मैंने किया । अब जिस प्रकृतिभूत पीठ में (जो करना है) उसे सुनिये । पीठ का आयाम (लम्बाई) के अनुसार बराबर-बराबर भागों में बारह भाग करे ॥ २५७-२५८ ॥

एकेन चरणं जङ्घा-कलशौ च त्रिभिस्त्रिभिः ।
कण्ठवीथिमथैकेन षड्भिः कण्ठं तदूर्ध्वतः ॥ २५९ ॥

एक भाग में चरण, तदनन्तर जङ्घा और कलश तीन-तीन भागों में निर्माण करे । एक भाग से कण्ठ एवं वीथी बनावे और उसके ऊपर छः भागों में कण्ठ निर्माण करे ॥ २५९ ॥

भागेन कण्ठसूत्रं तु शक्तिकांशत्रयेण तु ।
उष्णीषं च तदूर्ध्वे तु कुर्यादंशद्वयेन वै ॥ २६० ॥

शुक्ति के अंशत्रय भाग से कण्ठ सूत्र निर्माण करे और उसके ऊपर दो अंश से उष्णीश निर्माण करे ॥ २६० ॥

निर्गमः स्वदलेनैव विहितश्चरणस्य तु ।
चतुर्दिक्षु महाबुद्धे क्षेत्रतोऽभ्यधिकः स्मृतः ॥ २६१ ॥

विहित चरण का निर्गम उसके भाग से ही करे । हे महाबुद्धे ! इस प्रकार चारों दिशाओं में निर्गम क्षेत्र से अधिक बनावे ॥ २६१ ॥

सर्ववृत्तं घटं कुर्यात् पल्लवैर्वारकैर्युतम् ।
परितोंऽशद्वयेनैव कण्ठपीठं प्रवेशयेत् ॥ २६२ ॥

पत्तों तथा अस्त्रों से युक्त चारों ओर से गोला घट का निर्माण करे । दो अंश से कण्ठ पीठ बनाकर उस घट में प्रवेश करावे ॥ २६२ ॥

अन्तःप्रवेशमेकेन विध्यंशेन गलस्य च ।
कुर्याद् गलप्रवेशस्य समां सूत्रस्य निःसृतिम् ॥ २६३ ॥

एक अंश से निर्मित गला का अन्तःप्रवेश करावे । गल-प्रवेश के समान सूत्र को उसमें से निकाल लेवे ॥ २६३ ॥

शुक्तेरधः कण्ठसूत्रभागात् पादेन निर्गतम् ।
वदनान्तं समासेन शुक्तेः संकोचमाचरेत् ॥ २६४ ॥

शुक्ति के नीचे कण्ठसूत्र के भाग से एक पाद निकला हुआ मुख का भाग संक्षेप में शुक्ति से संकुचित करे ॥ २६४ ॥

उष्णीषघटजङ्घानामश्रिसाम्यं यथा स्थितम् ।
घटवद् भूषयेच्छुक्तिमरकैर्वाब्जपल्लवैः ॥ २६५ ॥
तत्रोपरिष्टात् परिधिं चतुरंशकसम्मितम् ।
सन्त्यज्य निखनेद् द्रोणीमंशनिम्नां समन्ततः ॥ २६६ ॥

ऐसा करने से उष्णीष, घट और जङ्घा के कोण एक साम्य में स्थित हो जाएँगे । तदनन्तर शुक्ति को अरक तथा कमल पत्र से घट के समान भूषित करे । उसके ऊपर चार अंश की परिधि का भाग छोड़कर एक अंश गहरी द्रोणी चारों ओर (गढ्डा) खननी चाहिए ॥ २६५-२६६ ॥

विस्तृतेर्मध्यभागेऽथ स्वत्र्यंशेन च निर्गमम् ।
तन्मानं चतुरश्रं तु पीठक्षेत्राद् विनिर्गतम् ॥ २६७ ॥

मध्य भाग को विस्तृत कर उसके तीन अंश से निर्गम का पानी निकलने का स्थान खने । पीठ क्षेत्र से निकले हुए उस निर्गम (जल निकासी) का मान चतुरस्र (चौकोर) बनावे ॥ २६७ ॥

तच्चाग्रतस्त्रिधा कृत्वा पक्षभागौ क्षयं नयेत् ।

अनुपादेन चामूलात् सम्यग् लाङ्गलवक्त्रवत् ॥ २६८ ॥

फिर उसे आगे के भाग से तीन भागों में बाँट कर उसका किनारा नष्ट कर देवे । इस प्रकार मूल से लेकर पाद के अनुसार उसे हल के मुख के समान निर्माण करना चाहिए ॥ २६८ ॥

अग्रतो मूलदेशाच्च कृत्वादौ वै त्रिधा त्रिधा ।
भूयस्तन्निखनेन्मध्याज्जलं याति यथा द्रुतम् ॥ २६९ ॥

मूल देश से आगे, उसे तीन-तीन भागों में विभक्त कर, फिर मध्य में उसे इस प्रकार खने जिससे पीठ का जल उसमें से शीघ्रता से बह जावे ॥ २६९ ॥

सूकराननतुल्यं तु भवत्येवं महामते ।
कुर्याद् वै शङ्खसदृशं मकरास्योपमं तु वा ॥ २७० ॥

हे महामते ! उस नाली को इस प्रकार खने जिससे वह सूकर के मुख के समान हो जावे । अथवा शङ्ख के सदृश या मकर के समान हो जावे ॥ २७० ॥

जलनिर्गममेतद् वै पीठेषूदितलक्षणम् ।
न कुर्यात् कर्मबिम्बानामाशमादिमितात्मनाम् ॥ २७१ ॥
चित्रमृत्काष्ठजानां तु चलानां तु विशेषतः ।
तथैव चतुरश्रस्य चतुर्मूर्तिगतस्य च ॥ २७२ ॥

इस प्रकार पीठों पर से निकलने वाले जल के निकास का रास्ता कहा गया है । जहाँ शम (दो अङ्गुल) प्रमाण से छोटा कर्म बिम्ब हो, वहाँ प्रणाली का निर्माण न करे । विशेष कर जहाँ चित्र, मिट्टी और काष्ठ निर्मित बिम्ब हो, अथवा चल बिम्ब हों और जहाँ चौकोर चतुर्मूर्त्ति हो, वहाँ प्रणाली का निर्माण न करे ॥ २७१-२७२ ॥

प्रणालमग्रगं मूर्तेर्यतः संसिद्धिहानिकृत् ।
प्रयोजनं विना काचिन्न क्षतिस्तस्य तद्विना ॥ २७३ ॥

यतः मूर्त्ति के आगे निकाले जाने वाला प्रणाल साधक की सिद्धि की हानि करता है । अतः उसका निर्माण नहीं करना चाहिये । प्रयोजन के बिना यदि प्रणाल का निर्माण न किया जाय तो उसके बिना कोई क्षति नहीं होती ॥ २७३ ॥

सामान्यस्य तु वै यस्मादाधारस्य विशेषतः ।
सप्रणालं भवेत् पीठमासनं च प्रणालकम् ॥ २७४ ॥

जहाँ सामान्य आधार हो वहाँ विशेष रूप से प्रणाल युक्त पीठ का निर्माण करे और आसन भी प्रणाल युक्त बनावे ॥ २७४ ॥

भूरिनीरादिना स्नानं यत्र यच्छति साधकः ।
प्रत्यहं तद्विना तत्र प्रत्यवायो भवेत् स्फुटम् ॥ २७५ ॥

साधक जहाँ भगवान् को पर्याप्त जल से प्रतिदिन स्नान कराता है । वहाँ यदि स्नान न करावे तो उसे प्रत्यवाय लगता है ॥ २७५ ॥

एवमेव बृहद्बिम्बभूषितानां विधीयते ।
धातुशैलोत्थितानां च निमित्तस्नपनार्थतः ॥ २७६ ॥

यह विधान बृहद् बिम्ब से भूषित मूर्त्तियों के लिये विहित हैं । धातु शैल से निर्मित बिम्ब का स्नपन ही निमित्त है ॥ २७६ ॥

भद्रासनगते कर्मबिम्बे तस्य समाचरेत् ।
सततं च यथालाभं दधिक्षीरघृतादिना ॥ २७७ ॥

कर्म-बिम्ब के भद्रासन पर अधिष्ठित होने पर जिस प्रकार दधि, क्षीर, घृत प्राप्त हो उससे सतत स्नान करावे ॥ २७७ ॥

भूप्रतिग्रहकथनम्

तोयेन तन्नयेद् यत्नाद् भूभागं वा प्रतिग्रहम् ।
यथा नाक्रम्यते पादैर्जन्तुभिस्तन्महर्धिदम् ॥ २७८ ॥

अब भूपरिग्रह कहते हैं—बिम्ब के लिये ग्रहण किये जाने वाले भू-भाग का जल से प्रतिग्रह लेवे । जहाँ जन्तु अपने पद से भूमि पर आक्रमण न करे । ऐसी भूमि महान् सिद्धि देने वाली होती है ॥ २७८ ॥

अतः प्रणालं विहितं निषिद्धमत एव हि ।
तत्संस्थापनकाले तु देवानां दिग्विधे हितम् ॥ २७९ ॥
प्राक्प्रत्यगाननानां च तदुदग्दिग्गतं शुभम् ।
उदग्दक्षिणवक्त्राणां प्राग्भागे विहितं सदा ॥ २८० ॥
तत्पुनर्भद्रपीठीयदेवाद् वामेऽर्थसिद्धिकृत् ।
सदैवाराधकानां तु विलोमाद् विपरीतदम् ॥ २८१ ॥

इसी कारण प्रणाल विहित है और निषिद्ध भी है । पीठ पर देवताओं के स्थापन काल में हितकारी दिशायें इस प्रकार हैं—पूर्व एवं पश्चिम दिशा में मुख वाले देवताओं के स्थापन में साधक को उत्तर दिशा हितकारी कही गई है (साधक उत्तराभिमुख हो स्थापन करे) । उत्तर और दक्षिण में मुख वाले देवताओं के स्थापन में सदैव साधक को पूर्व दिशा हितकारी कही गई है (साधक पूर्व दिशा में मुख कर स्थापन करे) । भद्र पीठ पर स्थापन किये जाने वाले देवता के बायें

होकर स्थापित करने से अर्थ सिद्धि होती है । इससे विलोम दिशा में होकर स्थापन करने से आराधक को विपरीत फल होता है ॥ २७९-२८१ ॥

प्रासादनिर्माणविधानम्

पीठवच्च परिज्ञेयं प्रासादस्य च उच्यते ।
शुभे दिनेऽनुकूले तु नक्षत्रे पूजिते ग्रहे ॥ २८२ ॥
लग्ने स्थिरे स्थिरांशे च दृक्शुद्धे चोत्तरायणे ।
दिव्याद्युत्पातसंशुद्धे सितपक्षेऽमलेऽम्बरे ॥ २८३ ॥
आ जलान्तं कृते खाते पूर्ववत् सम्प्रपूरिते ।
विमुक्तदोषे भूभागे सर्वलक्षणलक्षिते ॥ २८४ ॥
पूरणादंशशेषे तु सूपलिप्ते धरातले ।
चतुष्षष्टिपदीभूते प्राग्वत् सूत्रेण सर्वदिक् ॥ २८५ ॥
स्नातः शुक्लाम्बरः स्रग्वी कृतन्यासः सुशान्तधीः ।
सर्वसाधनसंयुक्तश्चार्घ्यपात्रसमन्वितः ॥ २८६ ॥
मङ्गल्यकुम्भमादाय ध्यायमानोऽच्युतं हृदि ।
सह चैकायनैर्विप्रैः सदागमपरायणैः ॥ २८७ ॥
तथा ऋङ्मयपूर्वैस्तु आ मूलाद् भगवन्मयैः ।
विशेत् प्रासादभूभागं मध्ये कुम्भं निधाय तम् ॥ २८८ ॥
कुर्यान्निरीक्षणं भूमेस्ताडनं प्रोक्षणं ततः ।
सेचनं पञ्चगव्येन सह चास्त्रोदकेन तु ॥ २८९ ॥

अथ प्रासादनिर्माणविधिं दर्शयन् तत्र वास्तुपुरुषार्चनपूर्वकं तन्मध्ये महाकुम्भ-स्थापनविधिमाह—पीठवच्च परिज्ञेयमित्यारभ्य वर्णाध्वा च तदूर्ध्वत इत्यन्तम् । 'आ जलान्तं कृते खाते पूर्ववत्सम्प्रपूरित' इत्यत्र पूर्ववदित्यनेनाष्टादशपरिच्छेदोक्तः क्षमा-परिग्रहो गृह्यते । एवं क्षमापरिग्रहादिकं पौष्करे विस्तरेणोक्तमत्रापेक्षितम् । अत एवेश्वरतन्त्रे तत्संगृहीतं द्रष्टव्यम् ।

एवं क्षमापरिग्रहप्रयोगः कुम्भस्थापनादिप्रयोगश्च श्रीसात्वतामृते सुस्पष्टं प्रति-पादितः । एवं प्रासादभूमध्ये स्थापितकुम्भाधिदेवता बिम्बप्रतिष्ठान्तं प्रत्यहं पूजनीयाः । तदनन्तरमपि प्रतिदिनं विमानार्चनप्रकरणे तदर्चनविधानमीश्वरपारमेश्वरयोरेव सुस्पष्टं प्रतिपादितम् । किन्तु पारमेश्वरे विमानार्चनप्रकरणे पौष्करोक्तरीत्या ''तेषां विदिक्-स्थितानां च'' (१०।२३) इत्यादिभिर्विदिक्स्थितकुम्भचतुष्के स्वमन्त्रेण लक्ष्मीम्, पूर्वादिदिक्स्थितकुम्भचतुष्के स्वमन्त्रेण कौस्तुभम्, मध्यकुम्भे षडक्षरेण निष्कलं शब्दविग्रहं शक्त्यात्मानं भगवन्तं न्यसेदित्युक्तम् । ''तत्र मध्यमकुम्भस्य'' (१०।२६) इत्यादिभिर्मध्यमकुम्भपिधाने पराशक्तिः प्रभाशक्तिश्च, दिक्षु स्थितकुम्भपिधानचतुष्के ज्ञानशक्तिः, विदिक्कुम्भपिधानचतुष्टये क्रियाशक्तिर्न्यस्तव्येति चोक्तम् । पुनः

सात्वतोक्तरीत्या "पिधाननवके" (१०।२८) इत्यादिभिर्नवशक्तिन्यासपक्षोऽप्युक्तः । पारमेश्वरव्याख्यातृभिस्तु "मध्यकुम्भस्य पिधाने मध्यतो निष्कलः शब्दविग्रहः षडक्षरः" इत्युक्तम् । तदज्ञानमूलकम्, "षडक्षरेण मन्त्रेण निष्कलं शब्दविग्रहम्" (१०।२५) इति वाक्यस्य पूर्ववाक्य एव योजनीयत्वात्, एवमुत्तरत्र योजिते विरोधबाहुल्याच्च । पारमेश्वरमूलभूतपौष्करसंहितायां द्विचत्वारिंशेऽध्याये "षडक्षरेण" (४२।१६६) इति वाक्यानन्तरं सार्धश्लोकषट्कमतिलङ्घ्यैव "शक्तिर्वा या परा देवी" (४२।१७३) इत्यादिकमुक्तम्, तदबुद्ध्वा पारमेश्वरसंहितादर्शनमात्रेणैव सर्वज्ञम्मन्यमानैर्व्याख्यातृभिरेवमुक्तम् । किञ्च, "मध्यकुम्भपिधानस्य चतुर्दिक्षु विश्वसन्धारणक्षमा ज्ञानशक्तिः, तद्विदिक्ष्वानन्दलक्षणा क्रियाशक्तिः" इत्युक्तम् । अत्र पराशक्तिः प्रभाशक्तिश्च ज्ञानक्रियाशक्त्योरिवात्मनोऽपि यथोक्तस्थानव्यत्ययः संभवेदिति भिया व्याख्यातृदृष्टिगोचरतामेव न प्रापतुः । अत्र चतुःशक्त्यर्चनं पौष्करे कण्ठरवेणोक्तम्—

पिधाननवकं दद्यात् ताम्रं वा शैलजं समम् ।
सुवृत्तं चतुरश्रं वा सुघनं द्वादशाङ्गुलम् ॥
चतुःशक्तिनिरुद्धं च (४२।१७२-१७३) इति ।

शक्तिचतुष्टयमपि तत्रैव विवृतम् "शक्तिर्वा या परा देवी" (४२।१७३) इत्यादिभिः । प्रागादिचतुष्टये ज्ञानशक्तिः, आग्नेयादिपिधानचतुष्टये क्रियाशक्तिरित्यर्थोऽपि पारमेश्वरे "विदिग्व्यक्तिसमूहे तु" (१०।२७) इत्यत्र व्यक्तिपदेनैव ज्ञायते । तदपि स्पष्टमुक्तं पौष्करे "विदिग्घटसमूहे तु" (४२।१७४) इत्यत्र । अत्र घटशब्दस्य तत्पिधाने लक्षणा । अपि च, "पिधाननवके त्वस्मिन्" (पा०सं० १०।२८) इत्याद्युक्तज्ञानभासादिशक्तिन्यासस्य पक्षान्तरत्वमपि न ज्ञातम् ।

ननु तत्र यद्वाऽथवेत्यादिपक्षान्तरत्वगमकशब्दो न दृश्यते, ज्ञानक्रियाशक्त्योः प्रागादिपिधानाष्टके न्यासाङ्गीकारे "पिधाने मध्यतो न्यसेत्" (पा०सं०१०।२६) इत्यत्र मध्यशब्दस्य वैयर्थ्यं च स्यादिति चेत्, ब्रूमः—पक्षान्तरत्वगमकशब्दाभावेऽप्यर्थपर्यालोचनया तस्य पक्षान्तरत्वं सिद्धमेव । मध्यशब्दप्रयोजनं तु "मन्त्रराट् कर्णिकामध्ये" (पा०सं ५।१३०) इत्यत्र यथाङ्गीक्रियते, तथैवात्रापीति बोद्धव्यमायुष्मता । पारमेश्वरव्याख्यातृभिरत्र "नवकुम्भवत्त्वं वृत्तायतविमानभेदविषयम् । "यत्र प्रासादभेदेषु" (१०।६८) इति वक्ष्यमाणत्वात्" इत्युक्तम् । तदतीव मन्दम्, प्रासादनिर्माणार्थं खातदेशे नवकुम्भस्थापनं सर्वविमानसाधारणम्, "अनेकभेदभिन्नेषु प्रासादेषु महामते" (पा०सं० १०।३) इत्यारभ्य लोकव्याप्त्यादीनां सर्वसाधारण्येनोक्तत्वात्, अत्र पौष्करे चैवं नवकुम्भस्थापनस्य सर्वविमानसाधारणत्वेनोक्तत्वाच्च । पारमेश्वरव्याख्यातृभिरेतन्नवकुम्भेषु शिखाकुम्भत्वभ्रान्त्या व्याख्यानमेवं कृतमिति मन्यामहे । अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । प्रकृतमनुसरामः ॥ २८२-३५९ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य
योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते
सात्वततन्त्रभाष्ये चतुर्विंशः परिच्छेदः ॥ २४ ॥

— ❧※☙ —
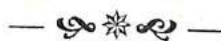
यहाँ तक पीठ का निर्माण कहा । अब प्रासाद निर्माण का विधान कहा जा रहा है । शुभ दिन में, अनुकूल नक्षत्र में, प्रशस्त ग्रह होने पर, स्थिर लग्न, स्थिर लग्न के स्थिरांश में, उत्तरायण में, दिव्यादि उत्पात से रहित काल में, शुक्ल पक्ष में, निर्मल आकाश होने पर पृथ्वी में किये गये खात को जल से पूर्ण कर लेने पर, शल्यादि अपनयन से, भू-पूजन से, भू-भाग के शुद्ध कर लेने पर उसको सर्वलक्षण लक्षित होने पर ऐसे सुन्दर उपलिप्त धरातल में सूत्र के द्वारा चारों दिशाओं में उसके ६४ बराबर-बराबर भाग कर लेने पर यजमान स्नान कर, शुक्ल वस्त्र धारण कर, माला पहन कर न्यास करे । बुद्धि स्थिर रखे, सर्व साधन से संयुक्त हो, अर्घ्य पात्र से समन्वित माङ्गलिक घड़ा लेकर हृदय में अच्युत का ध्यान करते हुए सदागम परायण, एकायन विप्रों के साथ तथा मूल से ही भगवद् भक्तिमय ऋग्वेदी ब्राह्मणों के साथ प्रासाद के भूभाग में प्रवेश करे । मध्य में कुम्भ स्थापित कर भूमि का निरीक्षण करे । भूमि का सन्ताडन करे, तदनन्तर प्रोक्षण करे । अस्त्रोदक के साथ पञ्चगव्य से सेचन करे ॥ २८२-२८९ ॥

ओङ्काराद्यं पवित्रान्तं मन्त्राणां प्राक् चतुष्टयम् ।
पाठयेच्च सपुण्याहं ब्राह्मणान् कृतमण्डनान् ॥ २९० ॥
बाह्वृचं शाकुनं सूक्तं ततो भद्रं यजुर्मयान् ।
इडा मायेति सामज्ञान् शान्ता द्यौरित्यथर्वणान् ॥ २९१ ॥

सर्वप्रथम ॐकारादि से लेकर पवित्रान्त चार मन्त्र का पाठ करावे । फिर भूषित ब्राह्मणों से पुण्याहवाचन करवाए । यजुर्वेदी ब्राह्मणों से बह्वृच शाकुन सूक्त, तदनन्तर 'भद्रं कर्णेभिः' इत्यादि मन्त्र का पाठ करावे । 'इडा माया' इस मन्त्र का सामवेदियों से तथा 'शान्ता द्यौः' इस मन्त्र का अथर्ववेदियों से पाठ करवाए ॥ २९०-२९१ ॥

ईशकोणात् समारभ्य प्रागादौ प्रतिपङ्क्तिषु ।
द्वादशाक्षरमन्त्रेण स्वनाम्ना तु पदे पदे ॥ २९२ ॥
नतिप्रणवगर्भेण दैवतं देहलक्षणम् ।
यष्टव्यो वास्तुपुरुषो दधिस्त्रक्चन्दनादिना ॥ २९३ ॥

पूर्व से प्रारम्भ कर ईशानकोण पर्यन्त प्रत्येक पङ्क्ति में द्वादशाक्षर मन्त्र से, जिसके प्रत्येक पद में अपने नाम के साथ नमस्कार युक्त प्रणव मध्य में हो, ऐसे मन्त्र से देहधारी देवता वास्तुपुरुष का दधि, माला तथा चन्दनादि द्वारा साधक को पूजन करना चाहिए ॥ २९२-२९३ ॥

सात्त्विकेनोपहारेण अग्नौ सन्तर्पयेत् ततः ।
कुर्यात् कुम्भप्रतिष्ठानं यथा तदवधारय ॥ २९४ ॥

तदनन्तर सात्त्विक उपहार से अग्नि में उनका सन्तर्पण करे । अब जिस प्रकार वहाँ कुम्भ स्थापित करना चाहिये उस विधि को सुनिये ॥ २९४ ॥

पूर्ववत् तोरणाद्यैस्तु भूभागमुपशोभयेत् ।
कर्णिकालयवक्त्रस्य अग्रतस्तत्क्षितर्बहिः ॥ २९५ ॥
सर्वोपकरणोपेतं कुर्यान्मण्टपमुत्तमम् ।
कुण्डाष्टकान्तरस्थं च स्थलं तत्राष्टहस्तकम् ॥ २९६ ॥

सर्वप्रथम प्रासाद के भूमिभाग को तोरणादि द्वारा सजावे । इसके बाद कर्णिका वलय वक्त्र के आगे, उस पृथ्वी से बाहर सभी उपकरणों से युक्त मण्डप निर्माण करे । वहाँ आठ कुण्डों का निर्माण करे जिसके मध्य का अन्तर आठ हाथ का हो ॥ २९५-२९६ ॥

सपिण्डिका द्विहस्तास्तु कुण्डाः पूर्वोक्तलक्षणाः ।
त्रिहस्तापचिता वीथी स्यादेवं द्विनवः शमः ॥ २९७ ॥

वहाँ दो हाथ की पिण्डिका तथा पूर्वोक्त लक्षण युक्त कुण्ड का निर्माण करे । वीथी तीन हाथ की इस प्रकार अट्ठारह शम बनावे ॥ २९७ ॥

पूर्ववत् प्रतिकुण्डे तु विनिवेश्यं च साधनम् ।
आत्मनश्चोत्तरे कुर्यात् कुण्डं चाथ समस्थले ॥ २९८ ॥

प्रत्येक कुण्ड पर साधन सामग्री स्थापित करे । अपने उत्तर दिशा में समतल भूमि पर कुण्ड निर्माण करे ॥ २९८ ॥

दक्षिणे पूर्ववद् देवमवतार्य यजेत् क्रमात् ।
स्थलायां स्थण्डिलस्योर्ध्वे उन्नतायां च पूर्ववत् ॥ २९९ ॥

अपने से दक्षिण, पूर्व की भाँति स्थण्डिल के ऊपर उन्नत स्थल में देव को पीठ से उतार कर क्रमशः यजन करे ॥ २९९ ॥

तर्पयित्वा यथाकाममुद्धृत्याग्निगणं ततः ।
दिक्कुण्डेषु विनिक्षिप्य संस्कृतेषु च पूर्ववत् ॥ ३०० ॥

इस प्रकार यथेष्ट सन्तृप्त करने के अनन्तर स्थण्डिल स्थल में से अग्निगणों को उठाकर सुसंस्कृत दिक्कुण्डों में स्थापित करे ॥ ३०० ॥

तथैव च विदिक्स्थेषु उद्धृत्याभ्यर्च्य वै क्रमात् ।
ततः प्रभवयोगेन चतुर्दिक्षु निवेशयेत् ॥ ३०१ ॥
चतुरो वासुदेवादीन् नाम्ना एकायनान् द्विजान् ।
स्वाभिः स्वाभिरसंख्यं तु तैः कार्यमभिधाय च ॥ ३०२ ॥

इसी प्रकार वहाँ से उठाकर सुसंस्कृत विदिक् कुण्डों में स्थापित कर उनका क्रम से अभ्यर्चन करे। इसके बाद सृष्टि-क्रम से चारों दिशाओं में वासुदेवादि चार नामों वाले एकायन द्विजों को सन्निविष्ट करे। उनको दिये गये अपनी-अपनी सामग्रियों से असंख्य कार्य निवेदन करे ॥ ३०१-३०२ ॥

कर्मावसानं हवनं साज्यैस्तु तिलतुण्डुलैः।
एवमप्ययययोगेन वाय्वादीशानगोचरम् ॥ ३०३ ॥
ऋग्वेदाद्यांस्तु चतुरः संस्कृत्यादौ तथा न्यसेत्।
तैरप्यच्युतलिङ्गैस्तु स्वशाखोक्तैश्च पावनैः ॥ ३०४ ॥
हवनं विधिवत् कार्यं भक्तियुक्तेन चेतसा।
अथेशकोणमासाद्य ब्राह्मणैरपरैः सह ॥ ३०५ ॥
प्राङ्निर्दिष्टं न्यसेत् तत्र स्नानोपकरणं तु यत्।
दशार्धगव्यपूर्वं तु कलशेषु पृथक् पृथक् ॥ ३०६ ॥
तानर्च्यार्घ्यादिना पश्चाद् द्विषट्केनाभिमन्त्र्य च।
समानीय शिलोपेतान् कलशान् पूर्वसम्भृतान् ॥ ३०७ ॥

कर्मावसान में घृतसहित तिल-तण्डुलों से होम करावे। इसी प्रकार संहार क्रम से वाय्वादि कोण से ईशानकोण पर्यन्त संस्कार कर ऋग्वेद के चार ब्राह्मणों को स्थापित करे। वे भी अपने-अपने चिह्नों को धारण किये हुए, अपने पवित्र शाखाओं से भक्ति युक्त चित्त से विधिवत् हवन करें। इसके बाद ईशानकोण में जाकर अन्य ब्राह्मणों के साथ पूर्वनिर्दिष्ट समस्त स्नानोपकरण स्थापित करे। फिर कलशों में पृथक्-पृथक् पञ्चगव्य डाले। अर्घ्यादि से अर्चन करे, द्वादशाक्षर मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करे। पूर्व में स्थापित शिला सहित उन कलशों को ले आवे ॥ ३०३-३०७ ॥

कलशलक्षणकथनम्

उत्कृष्टधातुसम्भूतान् नवशैलमयांस्तु वा।
समान् सुपक्वान् सुघनान् मृण्मयांस्तदभावतः ॥ ३०८ ॥

अब **कलशों का लक्षण** कहते हैं—वे कलश उत्कृष्ट धातुओं के बने होने चाहिये अथवा नवीन शिलामय से बने होने चाहिये। उनके अभाव में सभी मिट्टी के कलश समान सुपरिपक्व एवं परिपुष्ट होने चाहिये ॥ ३०८ ॥

द्वादशाङ्गुलिविस्तीर्णांस्तन्मानेन तु चोन्नतान्।
द्विगुणान् सति सामर्थ्ये नृपाणां हेमजान् हितान् ॥ ३०९ ॥

उनकी लम्बाई का मान द्वादश अङ्गुल तथा उतने ही मान में ऊँचाई होनी

चाहिये। यदि राजा सामर्थ्यवान हो तब मिट्टी के कलश से दूने मान में सोना और चाँदी का कलश निर्माण करावे, जो उसके लिये हितकारी है ॥ ३०९ ॥

तत्संख्यं चतुरश्रं तु द्वादशाङ्गुलविस्तृतम् ।
तत्त्र्यंशतुल्यं बाहुल्यात् शिलावृन्दं समाहरेत् ॥ ३१० ॥
संस्थाप्य विधिवत् कुम्भान् पूर्वोक्तेन क्रमेण तु ।
कम्बुतुल्यमथैकं वा तत्कण्ठं त्र्यङ्गुलोन्नतम् ॥ ३११ ॥
तद्गुणैरपि विस्तीर्णं तत्खातोऽष्टाङ्गुलः स्मृतः ।
परितः कर्णवर्जं तु शङ्खो वा सुसितो महान् ॥ ३१२ ॥
विहितो जननाथस्तु अन्तःशुद्धस्तु साक्षतः ।
एवं हि सान्तराद् बाह्यात् समालभ्याधिवास्य च ॥ ३१३ ॥

इन कलशों की संख्या भी उतनी ही होनी चाहिये और उनका विस्तार भी द्वादशाङ्गुल होना चाहिये। शिला भी द्वादश अङ्गुल विस्तार की चौड़ाई, तृतीय अंश की कलश की संख्या में निर्माण करावे। तदनन्तर उस शिला पर विधिवत् कुम्भों को स्थापित करे। उसमें एक कलश का कण्ठ शङ्ख के समान उसकी ऊँचाई तीन अङ्गुल, उसके गुण के अनुसार लम्बाई और उसके भीतरी भाग की गहराई आठ अङ्गुल बनावे। उसमें कान न बनावे और चारों ओर श्वेत शङ्ख स्थापित करे। इस प्रकार अन्तःशुद्ध कलश में अक्षत सहित भगवान् को स्थापित करे। इस प्रकार भीतर से एवं बाहर से स्पर्श कर अधिवासन करे ॥ ३१०-३१३ ॥

फलैर्हेमादिकै रत्नैः सर्वौषधिमयैस्ततः ।
गन्धैर्बीजैस्तथा धान्यैर्विद्रुमाद्यैस्तु मौक्तिकैः ॥ ३१४ ॥
नेत्रवस्त्रैरलङ्कारैर्भूषयेत् स्रग्वरैः शुभैः ।
द्वादशाक्षरमन्त्रेण एकैकस्य समाचरेत् ॥ ३१५ ॥
मूर्तिसंसिद्धये न्यासं प्रणवैस्तच्चिदात्मना ।
ततश्चार्घ्यादिकैर्भोगैर्बल्यन्तैर्विविधैर्यजेत् ॥ ३१६ ॥

फिर एक-एक के लिये फल, होम, रत्न, सर्वौषधि, गन्ध, बीज, धान्य, विद्रुम, मोती, वेत्र वस्त्र, उत्तमोत्तम माला तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों से उनको शोभित करे। मूर्त्ति की संसिद्धि के लिये प्रणव द्वारा तथा चिदात्मना (चिच्छक्ति) द्वारा न्यास करे। फिर उनका अर्घ्यादिकों से एवं नाना प्रकार के भोगों से अन्त में बलिदान से इस प्रकार अनेक प्रकार से पूजन करे ॥ ३१४-३१६ ॥

शिलास्वेवं कृते पश्चान्निनयेत् कुण्डसन्निधिम् ।
सशिलं कुम्भवृन्दं तु आधारेषु परिन्यसेत् ॥ ३१७ ॥

तदाधारशिलां पश्चात् तत्र वा मण्टपाद् बहिः ।
एवमेव च संस्कृत्य भावयेत् प्रणवेन तु॥ ३१८ ॥

शिला पर इस प्रकार पूजन करने के पश्चात् उन कलशों को कुण्ड के सन्निधि में ले जावे । फिर शिला सहित समस्त कुम्भ वृन्द को आधार पर स्थापित करे । तत्पश्चात् उस आधार शिला को वहीं अथवा मण्डप से बाहर सुसंस्कृत करे और प्रणव मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करे ॥ ३१७-३१८ ॥

ज्वलन्तीं गोसहस्रेण खचितां सूर्यबिम्बवत् ।
ततश्चाराध्य मन्त्रं तु सन्तर्प्य शतसंख्यया॥ ३१९ ॥
मध्ये तत्कलशं न्यस्य साङ्गं सपरिवारकम् ।
निःशेषशक्तिगर्भं तु व्यापकं ब्रह्मतत्त्ववित्॥ ३२० ॥
अत ऊर्ध्वे तिर्यगाभिर्वागाद्याभिश्च शक्तिभिः ।
व्रतमूर्तिसमेताभिरभिन्नाभिस्तु तत्त्वतः ॥ ३२१ ॥
पाठयेद् ब्राह्मणांस्तत्र आत्मव्यूहं तु मन्त्रराट् ।
तथैवात्मानुभावाय प्रणवाद्यन्तगं तु वै॥ ३२२ ॥

उसमें सूर्य बिम्ब के समान हजारों किरणों से देदीप्यमान होने की भावना करे और तदनन्तर सौ संख्या में सन्तर्पण करे । इस प्रकार मन्त्राराधन करे । मध्य के कलश में साङ्ग सपरिवार एवं हृदय में समस्त शक्तियों को धारण किये व्यापक ब्रह्मतत्त्व का न्यास करे । उस कलश के ऊपर तिरछे व्रत मूर्त्ति समेत अभिन्न रूप से स्थित वागादि शक्तियों से तत्त्वतः न्यास करे । वहाँ ब्राह्मणों से आत्मव्यूह मन्त्रराट् का पाठ करावे । इसी प्रकार अपने ज्ञान के लिये अन्त में तथा आदि में प्रणव का पाठ करावे ॥ ३१८-३२२ ॥

तमर्चयित्वा विधिवत् तर्पयित्वा त्वनन्तरम् ।
दिक्स्थितानां च कुम्भानां वासुदेवादिकान् न्यसेत्॥ ३२३ ॥

इस प्रकार विधिवत् उनकी अर्चना कर, तदनन्तर तर्पण कर, दिशाओं में स्थापित कुम्भों पर वासुदेवादि का न्यास करे ॥ ३२३ ॥

पूर्ववच्चानिरुद्धाद्यान् विदिक्संस्थापितेषु च ।
पाठयेच्चातुरात्मीयं संज्ञामन्त्रचतुष्टयम्॥ ३२४ ॥

विदिक् (कोणों) पर स्थापित कुम्भों पर अनिरुद्धादि का न्यास करे । फिर चातुरात्मीय चार संज्ञा मन्त्रों का पाठ करावे ॥ ३२४ ॥

प्रभवाप्यययोगेन ततः सूक्तं तु पौरुषम् ।
ऋग्वेदान् पाठयेद् भक्त्या युञ्जतेत्यपरान् यजुः ॥ ३२५ ॥

रथन्तराख्यं यत्साम सामज्ञान् भगवन्मयान् ।
सहस्रशिरसं चेति मन्त्रांश्चाथर्वणांस्ततः ॥ ३२६ ॥

फिर सृष्टि एवं संहार क्रम से ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का पाठ करावे । तदनन्तर भक्तिपूर्वक 'युञ्जते' इस यजुर्वेद का यजुर्वेदी ब्राह्मणों से पाठ करावे । फिर 'रथन्तराख्यं यत्साम' इस सामवेद का सामवेदी भगवन्मय ब्राह्मण से गान कराए । फिर 'संहस्रशिरसं च' इस अथर्ववेद के मन्त्र का अथर्ववेदी ब्राह्मण से पाठ करावे ॥ ३२५-३२६ ॥

एकस्मिन् वा महाबुद्धे सर्वोक्तं कलशे हितम् ।
तथैव हवनं कुण्डे मध्यमे विहितं स्वयम् ॥ ३२७ ॥
किन्तु क्रमेण वै मन्त्रान् पाठयेच्च यथास्थितान् ।
एवं सम्पातहोमं तु कृत्वा पूर्णान्तिकं ततः ॥ ३२८ ॥

अथवा हे महाबुद्धे यह सर्वोक्त एक कलश पर भी पाठ कराना हितकारक होता है । इसी प्रकार स्वयं द्वारा हवन भी एक मध्यम कुण्ड पर विहित है । किन्तु इन मन्त्रों का जिस प्रकार वे स्थित हैं उसी प्रकार से पाठ करावे । इसी प्रकार 'सम्पात होम' भी पूर्णाहुति पर्यन्त करावे ॥ ३२७-३२८ ॥

महाशक्तिसमूहस्तु परः सामर्थ्यलक्षणः ।
अभेदेन च मन्त्रादिमूर्तीनां यः स्थितः स्फुटम् ॥ ३२९ ॥
स सन्धेयः शिलानां च स्वनाम्ना प्रणवेन तु ।
ज्ञानभासा निवसति तथाऽनन्तबला प्रभा ॥ ३३० ॥
सर्वगा ब्रह्मवदना द्योतकी सत्यविक्रमा ।
सम्पूर्णा चेति कथिताः शक्तयो विश्वधारिकाः ॥ ३३१ ॥

महाशक्ति समूह जो सबसे अधिक शक्तिशाली लक्षण वाला है और जो मन्त्र मूर्त्तियों से भेद रहित होकर स्पष्ट रूप से स्थित है, उसे प्रणव के साथ अपने नाम से शिला में स्थापित करे । उस शिला में ज्ञानमासा, अनन्तवला, प्रभा, सर्वगा, ब्रह्मवदना, द्योतकी, सत्यविक्रमा, सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली विश्व-धारिका । इतनी शक्तियाँ निवास करती है ॥ ३२९-३३१ ॥

या शिला कलशाधारसंज्ञा तां विद्धि सर्वगाम् ।
सामर्थ्यशक्तिसामान्यां निष्कलां पारमेश्वरीम् ॥ ३३२ ॥

जिस शिला का नाम कलशाधार है साधक को उसे सर्वगा समझना चाहिये तथा जो शिला सामान्य सामर्थ्य शक्ति वाली है, उसे निष्कला पारमेश्वरी शक्ति जानना चाहिये ॥ ३३२ ॥

सन्तर्प्य मूलमन्त्राच्च शिखामन्त्रेण लाङ्गलिन्।
अजस्य नाभावध्येकमन्त्रेणैकायनैस्ततः ॥ ३३३ ॥
तादर्थ्येन तु होतव्यमृङ्मयैस्तु तथैव हि।
होतव्यमस्यवामीयं गायत्रीभिरतोऽपरैः ॥ ३३४ ॥

हे सङ्कर्षण ! उन शिलाओं का मूल मन्त्र से तथा शिखा मन्त्र से सन्तर्पण करे । इसके बाद 'अजस्य नमः' पर्यन्त इसी एक मन्त्र से एकायन लोग घृताति से होम करें । ऋग्वेदी भी उसी प्रकार 'अस्य वामीयम' इस मन्त्र से, इसके अतिरिक्त अन्य लोग गायत्री मन्त्र से होम करे ॥ ३३३-३३४ ॥

होतव्यं ब्राह्मणैः सम्यक् तद्व्याप्तेरुपलक्षकैः ।
दत्वा पूर्णां स्वयं कृत्वा स्थलस्थस्यार्चनं पुनः ॥ ३३५ ॥

ब्राह्मण लोग ब्रह्मव्याप्ति के उपलक्षक मन्त्रों से होम करें । तदनन्तर स्वयं पूर्णाहुति कर स्थल का अर्चन करे ॥ ३३५ ॥

बलिदानं च भूतानां समाचम्य ततो व्रजेत्।
प्रासादब्रह्मभूभागं न्यसेत् तत्र महाशिलाम्॥ ३३६ ॥
संस्मरंश्चक्रमन्त्रं तु सानन्तं प्रणवेन वै।
बीजभूतं तदन्तःस्थमध्वषट्कं स्मरन् यजेत्॥ ३३७ ॥

इसके बाद भूतों को बलिदान देकर, आचमन कर, जहाँ प्रासाद ब्रह्म का भूभाग है वहाँ स्वयं जावे और प्रणव के साथ अनन्त के सहित चक्र मन्त्र का स्मरण करते हुए उस स्थान पर महाशिला स्थापित करे । उसके भीतर रहने वाले बीज भूत षडध्वा का स्मरण करते हुए उस महाशिला का पूजन करे ॥ ३३६-३३७ ॥

निश्शेषमन्त्रवृन्देन तामर्घ्याद्यैरनन्तरम्।
द्वारदिग्वीक्षमाणं तु मध्ये मन्त्रघटं न्यसेत्॥ ३३८ ॥

विशेष मन्त्र समूह से उस शिला पर अर्घ्यदान के अनन्तर द्वार की दिशा की ओर देखते हुए शिला के मध्य भाग में मन्त्रघट स्थापित करे ॥ ३३८ ॥

स्वदिक्ष्वन्यान् यथावस्थान् स्वैः स्वैर्मन्त्रैर्निवेशयेत्।
ततः स्वशक्तिपाषाणैरेकैकं स्थगयेद् घटम्॥ ३३९ ॥
पूरयेदस्त्रमन्त्रेण घटानामन्तरं ततः।
मृदुमृद्बालुकाभिस्तु सुधयाऽचलसिद्धये॥ ३४० ॥

अन्य घटों को अपने-अपने मन्त्रों से अपनी-अपनी दिशाओं में यथावत् स्थित करे । फिर स्वशक्ति वाले पाषाण के साथ एक-एक घट स्थापित करे ।

तदनन्तर घटों के बीच की दूरी घट की स्थिरता के लिये मिट्टी से, बालुका से और चूना से पूर्ण करे ॥ ३३९-३४० ॥

संवेष्ट्य नेत्रवस्त्रैस्तु ऋग्वेदान् पाठयेत् ततः ।
आ त्वा हार्षेति सूक्तं तु प्रतिष्ठा साम सामगान् ॥ ३४१ ॥

फिर उन घटों को नेत्र वस्त्र से वेष्टित करे । ऋग्वेदियों से 'आत्वा हर्षेति' इस ऋग्वेद के मन्त्र का और 'प्रतिष्ठा साम' इस सामवेद के मन्त्र का सामवेदियों से पाठ करावे ॥ ३४१ ॥

द्वादशाक्षरसंयुक्तं बलमन्त्रं पुनः पुनः ।
वक्तव्यं ब्रह्मनिष्ठैस्तु प्रणवान्तं सुभावितैः ॥ ३४२ ॥

द्वादशाक्षर संयुक्त बल मन्त्र का पुनः पुनः पाठ करावे । ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् अन्त में प्रणव का उच्चारण करे ॥ ३४२ ॥

तदेकतनुतां यातं संस्मरेत् प्रणवेन तु ।
मूर्त्यादिशक्तिनिष्ठं यन्नामरूपक्रियात्मकम् ॥ ३४३ ॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण भूयः सहृदयङ्गमैः ।
तत्राराध्यं स्वमूर्तिं तु संयजेत् तेजसां निधिम् ॥ ३४४ ॥

फिर प्रणव के साथ मूर्त्यादिशक्ति निष्ठ जो नाम, रूप, क्रिया उसे एक शरीर में मिला हुआ समझे । फिर सहृदयङ्गम विद्वान् द्वादशाक्षर मन्त्र से आराध्य तेजस की निधि उस स्वमूर्ति का यजन एवं पूजन करे ॥ ३४३-३४४ ॥

ततस्त्वों भगवन् भोगैः पाठयेत् पाञ्चरात्रिकान् ।
अर्चामि तेति ऋग्वेदानर्चा साम च तद्विदः ॥ ३४५ ॥

फिर पाञ्चरात्रिकों से 'ॐ भगवन् भोगैः' मन्त्र का पाठ करावे, ऋग्वेदियों से ऋग्वेद के 'अर्चामि' इस मन्त्र का और सामवेदियों से 'अर्चा साम' इस मन्त्र का पाठ करावे ॥ ३४५ ॥

ततः परिगृहीते तु क्षेत्रे देवगृहीयके ।
द्वादशाङ्गुलमानं तु दिग्विदिक्ष्वष्टकं न्यसेत् ॥ ३४६ ॥
स्नापितं पूजितं सम्यक् शिलानां शुभलक्षणम् ।
तदन्तः सन्निरोद्धव्या बुद्धिधर्मगुणाः क्रमात् ॥ ३४७ ॥

तदनन्तर आराधक द्वारा देवगृह सम्बन्धी उस क्षेत्र को परिगृहीत कर लेने पर दिशाओं और कोणों में बारह अङ्गुल मान वाली सम्यक् स्नापित एवं पूजित तथा शुभ लक्षण युक्त आठ शिलायें स्थापित करे । उसके भीतर बुद्धि तथा धर्म के गुणों को सन्निरोधित करे ॥ ३४६-३४७ ॥

धर्माद्याश्चाग्निकोणात् तु यावदीशपदं पुनः ।
प्रागादावुत्तरान्तं च अधर्माद्यं चतुष्टयम् ॥ ३४८ ॥
शिलानामन्तरे भूमौ षट्कं षट्कं क्रमेण तु ।
न्यस्तव्यं पूर्ववर्णाच्च वर्णानां सावसानकम् ॥ ३४९ ॥

अग्निकोण से लेकर ईशानकोण पर्यन्त धर्मादि की तथा पूर्व दिशा से लेकर उत्तर दिशा पर्यन्त अधर्मादि चार की स्थापना करे । शिलाओं के अन्तर में भूमि पर छः-छः के क्रम से (अकारादि पूर्व वर्ण से 'स' पर्यन्त ४८ वर्णों की) स्थापना करे ॥ ३४८-३४९ ॥

शब्दब्रह्मानुविद्धां च कृत्वैवं बुद्धिवागुराम् ।
सूत्रभूतां न्यसेत् सम्यक् प्रासादतलसंस्थिताम् ॥ ३५० ॥

इस प्रकार शब्द ब्रह्म से अनुविद्ध को बुद्धि वागुर बना कर उसे सूत्र रूप बना कर प्रासाद तल में स्थापित करे ॥ ३५० ॥

न्यसेत् प्राङ्गणभित्त्यर्थं तथैव हि शिलाष्टकम् ।
तासु संरोधयेत् सम्यक् प्रागुक्तांस्तु दिगीश्वरान् ॥ ३५१ ॥

वहाँ प्राङ्गणभित्ति के लिये आठ शिला स्थापित करे । उसमें पहले कहे गये इन्द्रादि आठ दिगीश्वरों का सन्निरोध करे ॥ ३५१ ॥

चक्रं तदन्तर्भूमीनां भ्रमद्वह्निस्फुलिङ्गवत् ।
क्षार्णेन चिन्तयेद् व्याप्तं भूभागं चाङ्गणीयकम् ॥ ३५२ ॥

उसके भीतर की भूमि में जहाँ आंगन वाला भूभाग है वहाँ चक्कर काटते हुए अग्नि स्फुलिङ्ग के समान चक्र का 'क्ष' वर्ण से ध्यान करे ॥ ३५२ ॥

आभोगं तदधः शेषं तदूर्ध्वे गगनेश्वरम् ।
बहिः प्राङ्गणभित्तीनां सास्त्रं सपरिवारकम् ॥ ३५३ ॥

प्राङ्गण भित्ति का जहाँ आभोग है वहाँ शेष का, उसके ऊपर गगनेश्वर का और उसके बाहर सपरिवार अस्त्र मन्त्र का स्मरण करे ॥ ३५३ ॥

प्रागादावीशकोणान्तमिन्द्राद्यं चाष्टकं न्यसेत् ।
तथाविधेषूपलेषु अन्तर्भूमिगतेषु च ॥ ३५४ ॥
तत् स्वनाम्नाऽर्चयित्वा तु ऋग्वेदान् पाठयेत् ततः ।
क्लीबो न विद्वानिति वै ये देवास्तु यजुर्मयान् ॥ ३५५ ॥

पूर्व से प्रारम्भ कर ईशानकोण पर्यन्त भूभाग में इन्द्रादि आठ दिगीश्वरों का न्यास करे । तदनन्तर उस प्रकार की शिला, जो भीतर की भूमि में स्थित है,

उसका अपने नाम से अर्चन करे। तदनन्तर वहाँ 'क्लीबो न विद्वान्' इस ऋग्वेद का और 'ये देवास्तु' इस यजुर्वेद के मन्त्र का पाठ करावे ॥ ३५४-३५५ ॥

देवव्रतं च सामज्ञान् प्रविश्याभ्यन्तरं ततः।
स्थित्वाऽग्रतो मन्त्रमूर्तेरध्वव्याप्तिमनुस्मरेत्॥ ३५६ ॥

'देवव्रतम्' इस मन्त्र का पाठ सामवेदी से करावे, इसके बाद भीतर प्रवेश कर मन्त्र मूर्त्ति के आगे खड़े होकर अध्वव्याप्ति का स्मरण करे ॥ ३५६ ॥

बीजतश्चाङ्कुरीभूता पुरस्ताद् व्यक्तिमेति या।
प्रासादपीठपर्यन्तं कुम्भाधारोपलात् तु वै॥ ३५७ ॥
भुवनाध्वा यथावस्थो भावनीयः पुरोदितः।
गर्भोच्छ्रायावधिं यावत् पदाध्वानं विलोकयेत्॥ ३५८ ॥

यह अध्व व्याप्ति जिस प्रकार बीज अङ्कुर रूप से बढ़ते-बढ़ते स्पष्ट रूप से प्रगट दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार कुम्भाधार शिला से प्रासाद पीठ पर्यन्त बढ़ते-बढ़ते 'भुवनाध्वा' दिखाई पड़ता है। उसका ध्यान करे। इसे पहले कहा जा चुका है। गर्भ की ऊँचाई पर्यन्त 'पदाध्वा' का ध्यान करे ॥ ३५७-३५८ ॥

मन्त्राध्वा शुकनासान्तस्तत्त्वाध्वा वेदिकावधिः।
कलाध्वाऽनुगलान्तश्च वर्णाध्वा च तदूर्ध्वतः॥ ३५९ ॥

भुवनासान्त तक 'मन्त्राध्वा' का, वेदिका तक 'तत्त्वाध्वा' का, गले के अन्त तक 'कलाध्वा' का और उसके ऊपर 'वर्णाध्वा' का ध्यान करे ॥ ३५९ ॥

प्रासादलक्षणकथनम्

समीकृत्य पुरा सर्वं प्रासादं प्रारभेत् ततः।
तलादूनाधिकाच्चैव साङ्गुलैरुचितैः करैः॥ ३६० ॥

अथ प्रासादलक्षणमाह—समीकृत्य पुरा सर्वं प्रासादं प्रारभेत् तत इत्यारभ्य यावत् परिच्छेदपरिसमाप्ति।

अत्र विधिवत् स्थापनं तस्येत्यारभ्य स्थित्यपेक्षावशेनैव ह्यालयस्य तु वै विभो (४०२-४१०)रित्यन्तं द्वारप्रतिष्ठाविधानमुक्तं ज्ञेयम्। एतत्प्रासादप्रतिष्ठां तु बिम्ब-प्रतिष्ठानन्तरं वक्ष्यति ॥ ३६०-४३३ ॥

प्रासाद का लक्षण—तदनन्तर सबको समतल बनाकर तले से कम अथवा अधिक अङ्गुलि सहित हाथ से नाप कर प्रासाद का प्रारम्भ करे ॥ ३६० ॥

द्विर्द्वादशकरं यावत् तालेनोनाधिकेन तु।
शुभाय सिद्धये विद्धि गर्भे देवगृहस्य च॥ ३६१ ॥

वह प्रासाद देवगृह के गर्भ में १ ताल से अधिक अथवा न्यून मान में द्वादश हाथ का होना चाहिये । ऐसा प्रासाद कल्याण के लिये अथवा सिद्धि के योग्य समझना चाहिये ॥ ३६१ ॥

कृत्वा क्षेत्राङ्गुलानां च कराणां वा घनं पुरा ।
त्यजेत् तदष्टभिः सम्यग् यच्छेषं तद्विचार्य च ॥ ३६२ ॥

क्षेत्राङ्गुल को अथवा हाथ को घना बनाकर आठ भाग का त्याग कर जो शेष हो उसमें विचार कर प्रासाद निर्माण करे ॥ ३६२ ॥

एकाद्यष्टमपर्यन्ता ध्वजधूममृगेश्वराः ।
श्वा च गोखरमातङ्गवायसास्तु ततः शुभाः ॥ ३६३ ॥

एक से लेकर आठ हाथ तक ध्वज, धूम, मृगेश्वर, श्वा, गौ, खर, मातङ्ग और वायस नामक प्रासाद होते हैं, इसके बाद के प्रासाद शुभ होते हैं ॥ ३६३ ॥

एकत्रिपञ्चसप्ताख्याः सर्वत्रैव विधीयते ।
गर्भषड्भागमानेन तद्बहिर्भित्तिविस्तृतिः ॥ ३६४ ॥
तन्मानं परितस्त्यक्त्वा भित्तिरन्या विधीयते ।
एवमत्र क्रमेणैव सह भित्तिगणेन तु ॥ ३६५ ॥
गर्भद्विगुणविस्तीर्णं क्षेत्रं देवगृहस्य च ।
मन्दिरे त्वेकभित्तीये क्षेत्रमानं विधीयते ॥ ३६६ ॥

सर्वत्र एक, तीन, पाँच और सात संख्या में गर्भ का विधान है । गर्भ के छठे भाग के मान के अनुसार उसके बाहर भित्ति का विस्तार करे । चारों ओर उतने ही मान को छोड़कर अन्य भित्ति का निर्माण करे । इसी प्रकार यहाँ क्रम से भित्तिगण के साथ गर्भ के दुगुने विधान में देवगृह के क्षेत्र का निर्माण करे । इस प्रकार एक भित्ति वाले मन्दिर में क्षेत्र का मान होना चाहिये ॥ ३६४-३६६ ॥

गर्भोक्तं तत्त्रिभागेन युक्तं युक्तेन वर्त्मना ।
तत्रापि ह्रासवृद्ध्या तु आयशुद्धिं विचारयेत् ॥ ३६७ ॥

गर्भ में जितना परिमाण कहा गया है उसके तीसरे भाग की वीथी बनानी चाहिये । उस प्रासाद के लम्बाई चौड़ाई के ह्रास वृद्धि के अनुसार आयशुद्धि का विचार करे ॥ ३६७ ॥

एवं निर्जगतीकं च भागं पीठविवर्जितम् ।
प्रासादक्षेत्रमानं च तद्युक्तमवधारय ॥ ३६८ ॥

इस प्रकार पीठ विवर्जित निर्जगती का भाग होता है । हे सङ्कर्षण ! अब

प्रासाद और क्षेत्र का जो उचित मान है, उसे समझिए ॥ ३६८ ॥

षड्भागेनाथ पादेन त्रिभागेनोभयात्मिका ।
विहिता जगती गर्भा तत्क्रियाविस्तृतिर्भवेत् ॥ ३६९ ॥

छः भाग से अथवा पाद भाग से अथवा तीन भाग से अथवा उभयात्मिका जगती गर्भ विहित है उसी की क्रिया से विस्तार होता है ॥ ३६९ ॥

अधिकार्धं चतुर्दिक्षु तत्पञ्चांशैस्तु वै त्रिभिः ।
तृतीयांशेन वै मध्ये निर्गमस्तु विधीयते ॥ ३७० ॥

उसके चारों ओर अधिक आधा अथवा उसका पञ्चम अंश अथवा तीन अंश का मध्य में निर्गम (निकलने के द्वार) का विधान है ॥ ३७० ॥

कोणात् कोणात् तु वै शेषं भागं भागं प्रवेशयेत् ।
उच्चं गर्भसमं पीठं तत्पीठेन दलेन वा ॥ ३७१ ॥
पीठोक्तालयपीठस्य लक्ष्मस्थित्यंशकल्पना ।
चतुर्दिक्षु विधेया वै बहुधाऽनन्तपूर्विका ॥ ३७२ ॥

कोण कोण से शेष का भाग भाग कर प्रवेश करावे । पीठ को ऊँचाई में गर्भ के समान बनावे, अथवा पीठ के समान, अथवा दल के समान बनावे । पीठ में जो आलय पीठ है उसके चारों दिशाओं में बहुधा अनन्त पूर्विका उसमें लक्ष्मी स्थित्यंश की कल्पना करे ॥ ३७१-३७२ ॥

अथोच्छ्रायं तु वै क्षेत्रात् त्रिगुणं मन्दिरस्य च ।
कुर्यात् त्र्यर्धगुणं चैव द्विगुणं वा यथेच्छया ॥ ३७३ ॥

इसके बाद मन्दिर की ऊँचाई क्षेत्र का तिगुना निर्माण कर अथवा डेढ़ गुना रखे अथवा दुगुना रखे । उसमें अपनी इच्छा है ॥ ३७३ ॥

द्विरेकादशधा कुर्यात् तं च भागैः समं पुरा ।
विधेयं पीठवत् पश्चादेकांशने मसूरकम् ॥ ३७४ ॥

उसे समान भाग से बाइस भाग में प्रविभक्त करे । पीठ के समान उसका निर्माण करे । पश्चात् एक अंश से मसूरक निर्माण करे ॥ ३७४ ॥

तदूर्ध्वं विहिता जङ्घा गर्भमानेन चोन्नता ।
भवोपकरणीयाभिर्देवताभिरलङ्कृता ॥ ३७५ ॥

उसके ऊपर गर्भमान की ऊँचाई में जङ्घा निर्माण करे और उसे भवो-पकरणीय देवताओं से अलङ्कृत करे ॥ ३७५ ॥

जङ्घायामंशयुग्मेन उपर्यूनाधिकेन च।
कार्यं शिखरपीठं तु पूर्वलक्षणलक्षितम्॥ ३७६ ॥
किन्तु प्रवेशनिर्यासौ तत्र चार्धांशसम्मितौ।
शिखरं चात्र विहितं भूमिकानवकान्वितम्॥ ३७७ ॥

जङ्घा में दो अंश से ऊपर कम अथवा अधिक परिमाण का पूर्वलक्षण लक्षित शिखर पीठ निर्माण करे। किन्तु उसमें प्रवेश और निर्यास (निकलने का मार्ग) शिखर का अर्धांश के समान बनावे। किन्तु यहाँ जो शिखर बनावे वह भूमि के नवांश से युक्त निर्माण करे ॥ ३७६-३७७ ॥

संकोच्य तत्पुरासूत्रमादायोन्नतिसम्मितम्।
एकस्मादेकवर्णात् तु जङ्घोर्ध्वीयात् प्रसार्य च॥ ३७८ ॥
संस्पृशेत् शिखरं पीठमञ्जसा तं निरोध्य च।
प्रासादाद् बहिराद्यन्त भूभागे त्वमलेक्षण॥ ३७९ ॥
कर्णादूर्ध्वं नयेत् सूत्रं लाञ्छ्यमानं क्रमेण तु।
शिखरोन्नतिपर्यन्तं चतुर्दिक्ष्वेवमेव हि॥ ३८० ॥

फिर पूर्व के सूत्र को संकुचित कर उसे ऊँचाई के समान नाप कर एक वर्ण वाले एक जङ्घा के ऊर्ध्व भाग से फैला कर शिखर पीठ पर्यन्त ले जावे। फिर उसे अकस्मात् रोक कर प्रासाद के बाहर आदि अन्त वाले भू भाग में, हे महामते! क्रमशः चिह्न युक्त सूत्र को कर्ण से ऊपर शिखर की ऊँचाई पर्यन्त चारों दिशाओं में घुमावे ॥ ३७८-३८० ॥

पर्यटेल्लाञ्छ्यमानं तु कर्णात् कर्णं महामते।
यावत् कुमुदपत्राभा सा स्याच्छिखरमञ्जरी॥ ३८१ ॥

इस प्रकार कर्ण से कर्ण पर्यन्त घुमाई गई वह शिखर मञ्जरी कुमुद पत्र की आभा के समान बन जायेगी ॥ ३८१ ॥

एवमालेख्य दृष्ट्या तु सम्पाद्या तन्तुपाततः।
भूमिकाण्डप्रसिद्ध्यर्थं कार्या सा दशधा पुनः॥ ३८२ ॥
उपरिष्टात् तु भागेन भवेदामलसारकम्।
भूमयो भागमानास्तु ततस्तासां समाचरेत्॥ ३८३ ॥

इस प्रकार दृष्टि द्वारा चित्र बनाकर पुनः सूत्र पात से उसे सम्पादित करे। तदनन्तर भूमि काण्ड की प्रसिद्धि के लिये उस मञ्जरी का दश भाग करे। ऊपर के भाग से वह अमल सार के समान हो जायेगी। फिर उस मञ्जरी की भूमि को मान के अनुसार प्रविभक्त कर देवे ॥ ३८२-३८३ ॥

क्षयवृद्ध्या विधानं तु त्यक्त्वा स्थानं च भूमिकाम् ।
चतुस्त्रिद्वयेकसंख्यानि सममानाङ्गुलानि च ॥ ३८४ ॥
निजभूमेः समारभ्य तानि योज्यान्यधः क्रमात् ।
पूर्वभूमेः समारभ्य ह्यधःस्थे भूमिकागणे ॥ ३८५ ॥

फिर उस स्थान तथा भूमिका की क्षय वृद्धि का त्याग कर चार, तीन, एक, अथवा सम मान के अङ्गुलियों से निजभूमि से आरम्भ कर नीचे तक एक भूमि में मिला देवे ॥ ३८३-३८५ ॥

सर्वासां व्यवधानं तु तद् द्विरष्टांशसम्मितम् ।
विभिन्ना पीठरचना तासु कार्या यथास्थिता ॥ ३८६ ॥
सचक्रैर्विविधैः पद्मैः प्रादुर्भावैस्तु चाखिलैः ।
सर्वैर्वा लाञ्छनैर्मूर्तैर्नृत्तगीतरसस्थितैः ॥ ३८७ ॥
नवांशेनोर्ध्वभागात् तु स्वपादेन विनिर्गतम् ।
उष्णीषमूर्ध्वभूमेस्तु कार्यं वै रचनोज्झितम् ॥ ३८८ ॥

सभी भूमि में १६ वे अंश का व्यवधान रखे । उस भूमि पर यथा स्थित विभिन्न पीठ रचना करे । चक्र सहित पद्म का निर्माण करे, अनेक का प्रादुर्भाव करे । सभी प्रकार के लाञ्छन, मूर्त्ति, नृत्य, गीत और रस की स्थिति करे । ऊर्ध्व भूमि के ऊर्ध्व भाग से नवांश में स्वपाद पर्यन्त उष्णीष निर्माण करे ॥ ३८६-३८८ ॥

शिष्टं कृत्वा त्रिधा पीठमण्डस्यैकेन पूर्ववत् ।
द्वितीयेन ततः कण्ठं तृतीयेनोर्ध्वगेन तु ॥ ३८९ ॥
सुसमं श्रीयुतं कुर्यादण्डं धात्रीफलाण्डवत् ।
नवधोष्णीषकं कृत्वा चतुर्भिर्वेदिकाभ्रमम् ॥ ३९० ॥

उस पीठ के तीन भाग को शेष रखे । एक से अण्ड निर्माण करे । तदनन्तर द्वितीय एवं तृतीय भाग से कण्ठ निर्माण करे । ऊपर के शेष धात्री फल के अण्डे के समान, शोभा सम्पन्न अण्ड का निर्माण करे । नव भाग से उष्णीष निर्माण करे और चार भाग से गोलाकार वेदी निर्माण करे ॥ ३८९-३९० ॥

त्रिभागपृथुलं कण्ठमण्डं पञ्चाङ्गसम्मितम् ।
पञ्चधा सप्तधा कृत्वा गर्भं वा नवधा पुरा ॥ ३९१ ॥
विहाय पक्षगौ भागौ मध्यभागगणेन तु ।
प्रासादनाडिका कार्या गर्भार्धेन विनिर्गता ॥ ३९२ ॥

तीन भाग से मोटा कण्ड निर्माण करे । अण्ड पञ्चाङ्ग सम्मित निर्माण करे । फिर गर्भ को पाँच, सात अथवा नव भागों में विभक्त कर पक्ष के दो भागों को

छोड़कर गर्भ के आधे वाले मध्य भाग से निकली हुई प्रासाद की नाड़िका का निर्माण करे ॥ ३९१-३९२ ॥

पादेन वा त्रिभागेन सस्तम्भाऽप्यथ केवला ।
उन्नता शिखरार्धेन साऽप्युत्पलदलोपमा ॥ ३९३ ॥

दोनों पक्ष में रहने वाले दो भागों को छोड़कर मध्य भाग गण से गर्भ के आधे भाग से निकली हुई प्रासाद नाड़िका निर्माण करे । वह एक पाद से अथवा तीन भाग से स्तम्भ के साथ अथवा केवल निर्माण करे । शिखर के आधे भाग के समान ऊँची कमल दल के आकार की बनावे ॥ ३९२-३९३ ॥

कार्या शिखरपीठोर्ध्वे दिव्यकर्मविभूषिता ।
ततः शुभतरं कुर्यान्मण्टपं स्तम्भसंयुतम् ॥ ३९४ ॥

शिखर पीठ के ऊर्ध्व भाग में दिव्यकर्म से विभूषित बनावे । तदनन्तर स्तम्भ से युक्त शुभ मण्डप निर्माण करे ॥ ३९४ ॥

भूषितं विहगेन्द्रेण बलिमण्डलगेन च ।
चतुर्द्वारि तथा दिक्षु विधेयं मण्टपत्रयम् ॥ ३९५ ॥

उसको गरुड़ से तथा बलि मण्डल में रहने वाले देवताओं से युक्त बनावे । चारों द्वार में तथा दिशाओं में तीन मण्डप बनवाना चाहिये ॥ ३९५ ॥

प्रवेशत्रितयोपेतं मण्टपे मण्टपं भवेत् ।
कुर्यान्मण्टपमुक्तं वा यथाभिमतनिर्गमम् ॥ ३९६ ॥

उसमें तीन प्रवेश द्वार बनावे, मण्डप में मण्डप बनवाये, उसमें से निकलने के लिये द्वार मण्डप को छोड़कर बनावे, अथवा यथाभिमत बनावे ॥ ३९६ ॥

रथोपरथकाद्यं तु तेषां गर्भाद् विधीयते ।
निर्यासो दशमांशेन द्वादशांशेन लाङ्गलिन् ॥ ३९७ ॥
अथवा षोडशांशेन ते कार्या नेमिवत् पुनः ।
चतुर्दिक्पक्षसंलिप्ताः पीठकर्मविभूषिताः ॥ ३९८ ॥

रथ उपरथकादि उनके गर्भ से निर्माण करे । हे लाङ्गलिन ! उसके निर्यास (निकलने के लिये स्थान?) दशमांश अथवा द्वादशांश से निर्माण करावे । अथवा षोडशांस से अथवा नेमिवत् करावे उसके चारों दिशाओं में पक्ष निर्माण करावे और उसे पीठ कर्म से विभूषित करे ॥ ३९७-३९८ ॥

शिखरस्य चतुर्दिक्षु पीठोपरि समापयेत् ।
समं रथकयुक्त्या तु नासिकामञ्जरीगणम् ॥ ३९९ ॥

उसे शिखर के चारों ओर पीठ के ऊपर समाप्त करे, रथक युक्ति के समान नासिका मञ्जरीगण का निर्माण करे ॥ ३९९ ॥

मध्यदेशचतुर्दिक्षु कुर्याद् द्वारगणं समम्।
त्रिचतुःपञ्चषट्भागे ततो गर्भाद् विधीयते॥ ४०० ॥

प्रासाद के मध्य देश के चारों ओर बराबर-बराबर मान वाले द्वार समूह का निर्माण करे । ये द्वार गर्भ के तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठें भाग में निर्माण करना चाहिये ॥ ४०० ॥

द्विगुणं चोन्नतत्वेन त्रिपञ्चनवशाखिकम्।
युक्तं द्वास्थद्वयेनैव कुम्भेभदशनैस्तु वा॥ ४०१ ॥

द्वारों की ऊँचाई गर्भ से दूनी बनावे, जिसमें तीन, पाँच, नव शाखा होनी चाहिये । इन द्वारों पर कलश तथा दशनयुक्त हाथी का निर्माण करावे ॥ ४०१ ॥

विधिवत् स्थापनं तस्य मन्त्रपूर्वं समाचरेत्।
संस्नाप्य मूलमन्त्रेण सम्पूज्यार्घ्यादिना हृदा॥ ४०२ ॥

इन द्वारों पर कलश तथा दशनयुक्त हाथी का स्थापन शास्त्र की दृष्टि से मन्त्रपूर्वक करावे । मूल मन्त्र से इनको स्नान करावे और अर्घ्यादि से नमस्कार-पूर्वक इनका पूजन करे ॥ ४०२ ॥

शाखामूलगतां कुर्याद् धातुरत्नमयीं स्थितिम्।
सर्वाधारमयं मन्त्रं सन्निरोध्य हि तत्र च॥ ४०३ ॥
ज्ञानक्रियात्मकं ध्यात्वा शिखामन्त्रेण शाश्वतम् ।
दक्षिणोत्तरभागाभ्यां शाखायुग्मं तु विन्यसेत् ॥ ४०४ ॥

शाखा के मूल में धातु तथा रत्न स्थापित करे । उसमें सर्वाधारमय मन्त्र का निरोध कर शिखा मन्त्र से शाश्वत् ज्ञान एवं क्रियात्मक शक्तियों का ध्यान करे तथा दक्षिण और उत्तर भागों में दो शाखायें स्थापित करे ॥ ४०३-४०४ ॥

हृन्मन्त्रेण तदूर्ध्वे तु रुद्ध्वाद्यं परमेश्वरम्।
सन्निधीकृत्य सम्पूज्य गगनस्थे हृदम्बरे॥ ४०५ ॥

उन शाखाओं के ऊपर हृन्मन्त्र (नमः) से आद्य परमेश्वर को अवरुद्ध कर गगनस्थ हृदम्बर में सन्निधान कर पूजन करे ॥ ४०५ ॥

द्विविधं धातुजालं तु रत्नं सिद्धार्थकांस्तिलान्।
चन्दनाद्या हि गन्धा ये क्षीरं दधि घृतं मधु॥ ४०६ ॥
शालयः सर्वबीजानि सर्वौषध्यः सविद्रुमाः ।

कृत्वा नेत्रेण नेत्रस्थान् द्वारोर्ध्वे विनिवेश्य तान् ॥ ४०७ ॥

दो प्रकार के धातुजाल, रत्न, पीली सरसों, तिल, चन्दनादि, गन्ध, क्षीर, दधि, घृत, मधु, शालि, सर्व बीज, सर्वौषधि, सविद्रुम इनको नेत्र से नेत्र में स्थापित कर द्वार के ऊपरी भाग में इन्हें सन्निविष्ट करे ॥ ४०६-४०७ ॥

दृश्यं भोगाप्तये चैव त्वदृश्यं मोक्षसिद्धये ।
चतुष्पात् सकलो धर्मस्तत्रोर्ध्वे सन्निरोध्य च ॥ ४०८ ॥
चत्वारि शृङ्गा इति यत् पाठयेदृङ्मयांस्ततः ।
कर्म होमचयं कृत्वा पूर्णां मूलेन पातयेत् ॥ ४०९ ॥

ये दृश्य भोग की प्राप्ति कराते हैं और अदृश्य मोक्ष प्रदान करते हैं । उसके ऊपर चतुष्पात् धर्म को सन्निरुद्ध करे । तदनन्तर 'चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा' इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्रों को पाठ करावे । फिर उसी मन्त्र से होम कर मूल मन्त्र से पूर्णाहुति करे ॥ ४०८-४०९ ॥

एतद्बिम्बप्रतिष्ठानात् प्राग्वत् पश्चात् समाचरेत् ।
स्थित्यपेक्षावशेनैव ह्यालयस्य तु वै विभोः ॥ ४१० ॥

यह क्रिया बिम्ब स्थापन से पहले की तरह पश्चात् भी भगवान् के आलय (प्रासाद) की स्थिति की अपेक्षा से करे ॥ ४१० ॥

अनन्तभुवनं नाम सर्वकामापवर्गदम् ।
चतुष्प्रकारमेवं हि प्रासादं विद्धि पीठवत् ॥ ४११ ॥

इस प्रकार के प्रासाद का नाम अनन्तभुवन है, जो सभी कामनाओं तथा मोक्ष को भी प्रदान करने वाला है । इस प्रकार पीठ के समान यह प्रासाद चार प्रकार का जानना चाहिये ॥ ४११ ॥

रचनासन्निवेशोत्थभेदेनानेकधा तथा ।
पतत्रीशमृगेन्द्रैस्तु निधिभूतोपमैर्घटैः ॥ ४१२ ॥
शङ्खपद्माङ्किताभिस्तु सोपानपदपङ्क्तिभिः ।
युक्तं द्वारवशेनैव तथा पीठवशात् तु वै ॥ ४१३ ॥
विस्तारः प्रतिदिक्संस्थस्त्वरुणस्य विधायते ।
गर्भोत्थक्षेत्रसंज्ञा च जगतीकस्य लाङ्गलिन् ॥ ४१४ ॥

ये प्रासाद रचना सन्निवेश से उत्पन्न भेदों के कारण अनेक प्रकार के होते हैं । गरुड़ के चिह्न से, मृगेन्द्र के चिह्न से, खजाना स्थापित किये जाने वाले घटों के समान घटों के चिह्न से, शङ्ख, पद्म के चिह्न से, सोपान पद पङ्क्ति के निर्माण

भेद से, द्वार के निर्माण से, पीठ के निर्माण से और प्रत्येक दिशाओं में विस्तार से जो प्रासाद निर्माण किया जाता है। वह 'अरुण' नामक प्रासाद कहा जाता है। हे लाङ्गलिन्! 'जगतीक' प्रासाद की 'गर्भोत्थ क्षेत्र' संज्ञा है ॥ ४१२-४१४ ॥

ज्ञेयः सजगतीकस्य तन्मानेनापि सर्वदिक्।
एभ्यः पादाधिकं कुर्यात् पादाद्यंशोज्झितं तु वै ॥ ४१५ ॥
बुद्ध्वा चायतनानां च संस्थितिश्चाङ्गणे पुरा।
चतुरायतनं विद्धि प्रासादैर्दिक्त्रयस्थितैः ॥ ४१६ ॥
आद्येन सह कोणस्थैस्तत्पञ्चायतनं स्मृतम्।
विज्ञेयमष्टायतनं त्रिभिरन्यैस्तु दिग्गतैः ॥ ४१७ ॥

क्योंकि सजगतीक प्रासाद का भी वही मान होता है। इनसे एक पाद अधिक अथवा पादाद्यंश से रहित इस प्रकार अङ्गण में आयतनों को समझ कर प्रासाद निर्माण करे। तीन दिशाओं में स्थित प्रासाद की 'चतुरायतन' संज्ञा कही गई है और आदि के साथ कोण में स्थित प्रासाद को 'पञ्चायतन' कहा जाता है। अन्य तीन दिशाओं में होने वाले प्रासाद 'अष्टायतन' कहे जाते हैं ॥ ४१५-४१७ ॥

विना मध्यस्थितेनैव दिग्गतैस्तु द्विभिर्द्विभिः।
तद्दशायतनं तेन युक्तमेकाधिकं भवेत् ॥ ४१८ ॥

मध्य स्थिति के बिना दो-दो दिशाओं में दो-दो प्रासाद 'दशायतन' कहे जाते हैं। उसकी अपेक्षा एक प्रासाद अधिक हो, तब उसे 'एकादशायतन' कहा जाता है ॥ ४१८ ॥

प्रतोलीपक्षगेणैव प्रासादद्वितयेन तु।
द्वादशायतनं विद्धि सह मध्यस्थितेन तु ॥ ४१९ ॥
तदेवाधिकसंज्ञं तु अतोऽन्योऽनन्तसंज्ञकः।
परस्परमुखौ कुर्यात् प्रासादौ द्वारदेशगौ ॥ ४२० ॥
प्रासादाभिमुखाच्चैव दिक्त्रयेऽवस्थितास्तु ये।
कोणस्थाभ्यां च साम्मुख्यं द्वाभ्यां द्वाभ्यां विधीयते ॥ ४२१ ॥

प्रतोली (वीथी) तथा पक्षगण से युक्त दो प्रासाद को 'द्वादशायतन' कहा जाता है। वही यदि उसी के मध्य में एक प्रासाद और हो तो उसकी अधिक संज्ञा कही गई है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रासादों की अनन्त संज्ञा है। द्वार देश पर आमने-सामने मुख वाले दो प्रासाद, प्रासाद के सामने तीन दिशाओं में तीन प्रासाद और दो कोणों के आमने-सामने दो-दो प्रासाद का निर्माण विहित है ॥ ४१९-४२१ ॥

द्वाभ्यामभिमताभ्यां तु कुर्यादुचितदिङ्मुखम्।

द्वौ परस्परवक्त्रौ तु कोणदेशसमाश्रितौ ॥ ४२२ ॥

अपनी इच्छा के अनुसार निर्माण किये जाने वाले दो प्रासादों को उचित दिशा में निर्माण करावे । परस्पर सटे हुए दो मुख वाले दो प्रासादों को कोण देश के समाश्रित निर्माण करावे ॥ ४२२ ॥

द्वाराण्यनन्तायतने प्रासादानां महामते ।
यथाभिमतदिक्स्थानि कर्तव्यान्यविशङ्कया ॥ ४२३ ॥

हे महामते ! अनन्तायतन नामक प्रासाद में यथाभिमत दिशा में द्वार निर्माण करावे, इनमें संदेह किञ्चिन्मात्र भी न करे ॥ ४२३ ॥

न तत्र तेषां भवति वेधदोषः परस्परम् ।
अङ्गभावगतत्वाच्च प्रधानायतनस्य वै ॥ ४२४ ॥

इस प्रकार के प्रासाद निर्माण में कभी भी परस्पर वेध दोष नहीं लगता । क्योंकि वे प्रधानायतन के अङ्गभाव बन जाते हैं ॥ ४२४ ॥

अर्धेन च त्रिभागेन हितः पादेन चाङ्गणात् ।
परण्डकस्य चोच्छ्रायस्तद्विस्तारस्तथोच्छ्रितेः ॥ ४२५ ॥

अङ्गण के आधे अथवा तीन भाग अथवा एक पाद के मान में परण्डक को ऊँचा निर्माण करे तथा उसका विस्तार उसकी ऊँचाई के अनुसार करे ॥ ४२५ ॥

तच्च पीठोपमं कुर्यात् श्लक्ष्णं सोष्णीषमेव वा ।
युक्तं कोटिगणेनाथ नानादेवान् गणेन तु ॥ ४२६ ॥

उसे पीठ के समान चिकना तथा उष्णीश युक्त बनावे उसे करोड़ों गणों से युक्त करे ॥ ४२६ ॥

यदेकायतनं चैव त्वङ्गणं तन्महामते ।
युक्तं लघुपरण्डेन केवलं वा परण्डकम् ॥ ४२७ ॥

हे महामते ! जो एक आयतन वाला अङ्गण है उसे लघु परण्डक से युक्त करे अथवा केवल परण्डक ही निर्माण करे ॥ ४२७ ॥

यदा द्व्यायतनाद्यं च द्वादशायतनान्तिकम् ।
एकदिग्वीक्षमाणं च चतुरश्रायतेऽङ्गणे ॥ ४२८ ॥

जब चौकोर अथवा आयत अङ्गण में द्वायतन से लेकर द्वादशायतन हो, तब उसे एक दिशा की ओर देखते हुए निर्माण करावे ॥ ४२८ ॥

वृत्तायते वा वितते प्रासादे चोक्तलक्षणे ।

यस्माद् देवालयानां च अङ्गणानां विशेषतः ॥ ४२९ ॥
चतुरश्रादिपीठानां नित्यमेव महामते ।
अन्योन्यानुगतत्वं तु हितं सापेक्षकं तु वै ॥ ४३० ॥
भूमिभागवशेनैव तथैवार्चावशेन तु ।
नानाफलवशेनापि तथा शोभावशेन च ॥ ४३१ ॥

वृत्त, आयत, वितत अथवा उक्त लक्षण प्रासाद में जिस कारण से देवालयों का या अङ्गणों का विशेष कर चौकोर पीठों का, हे महामते ! नित्य ही भूमिभाग वश से, उसी प्रकार अर्चावश से तथा नाना फल वश से एवं शोभावश से सापेक्षक अन्योन्यानुगतत्व रहता है । अतः वे हितकारी होते हैं ॥ ४२९-४३१ ॥

भूलाभश्चतुरश्रात् तु चतुरश्रायताद् धनम् ।
वर्तुलात् सर्वकामाप्तिर्निर्वृतिस्तु तदायतात् ॥ ४३२ ॥
दृष्टादृष्टफलेप्सूनां लोकास्तु महदादयः ।
यच्छन्ति वैष्णवं स्थानमारोग्यं भूमिमुत्तमाम् ॥
वैष्णवानामकामानां च्युतेरन्ते परं पदम् ॥ ४३३ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां प्रतिमापीठप्रासादलक्षणं नाम चतुर्विंशः परिच्छेदः ॥ २४ ॥

— ❀ —

चौकोर प्रासाद से भू-लाभ, चतुरश्र और आयत प्रासाद से धन-लाभ, वर्त्तुल प्रासाद से सर्व कामाप्ति, आयत से निर्वृत्ति प्राप्त होती है । दृष्टादृष्ट फल चाहने वाले प्रासाद निर्माण कर्त्ताओं को महदादि लोक वैष्णव स्थान देते हैं । आरोग्य एवं उत्तम भूमि देते हैं । इतना ही नहीं निष्काम वैष्णवों को मरने के बाद परम पद देते हैं ॥ ४२९-४३३ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के प्रतिमापीठप्रासादलक्षण नामक चौबीसवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ २४ ॥

— ❀ —

पञ्चविंशः परिच्छेदः

प्रतिष्ठादिविधिः

नारद उवाच

सर्वलोकगुरुर्विप्रा यदुक्तो विश्वधारिणा ।
तदिदानीं प्रवक्ष्यामि मन्त्रबिम्बनिवेशनम् ॥ १ ॥
भोगेप्सूनां च वर्णानां साम्प्रतं यदभीष्टदम् ।
कैवल्यदं शमाच्चैव चातुराश्रम्यसेविनाम् ॥ २ ॥

अथ पञ्चविंशतिः परिच्छेदो व्याख्यास्यते । इह वासुदेवेन सङ्कर्षणायोपदिष्टां भोगापवर्गादिफलप्रदां मन्त्रबिम्बप्रतिष्ठां वक्ष्यामीत्याह—सर्वेति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १ - ३ ॥

नारद जी ने कहा—हे ब्राह्मणो ! सभी लोकों के गुरु भगवान् श्री कृष्ण ने भगवान् सङ्कर्षण से जो मन्त्र-बिम्ब का सन्निवेश कहा था । वह मै आप लोगों से कह रहा हूँ ॥ १ ॥

यह मन्त्र-बिम्बनिवेश भोगेच्छु वर्ण वालों के लिये अभीष्टप्रद है । शम के कारण चातुराश्रम सेवियों के लिये यह अपवर्ग (मोक्ष) प्रदान करने वाला है ॥ २ ॥

यज्ञधर्मरतानां च सहायं च फलैस्तु तत् ।

इतना ही नहीं जो इस प्रकार के यज्ञ करने वालों की सहायता करता है उसे भी उत्तम फल की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

यागमण्डपलक्षणम्

प्राग्वद् देवगृहस्याग्रे दिग्भागे सति मण्टपम् ॥ ३ ॥
चतुरश्रं चतुर्द्वारं दर्भमालान्तरीकृतम् ।
अन्यत्र तदलाभे तु यथाभिमतदिङ्मुखम् ॥ ४ ॥
चतुर्दशकराच्चैव यावत् त्रिंशत्करावधि ।
षट्करान्तं पुनस्तस्माद् बिम्बमानव्यपेक्षया ॥ ५ ॥

यागशालालक्षणमाह—प्राग्वदिति सार्धद्वाभ्याम् । प्राग्वत् कुम्भस्थापन-प्रकरणोक्तवदित्यर्थः । देवगृहस्याग्रे पुरतः, दिग्भागे सति अवकाशे सति, तत्र चतु-

द्वारं यागमण्टपं कुर्यात् । तदलाभे अग्रालाभे, अन्यत्र दक्षिणादिदिक्षु विदिक्षु वा यथाभिमतदिङ्मुखं यागमण्टपं कुर्यात् । चतुर्दशकराच्चैव यावत् त्रिंशत्करावधि चतुर्दशहस्तमारभ्य त्रिंशद्धस्तपर्यन्तं बिम्बमानव्यपेक्षया बिम्बबृहत्वानुगुण्येन वर्धितविस्तारायामं पुनस्तस्माच्चतुर्दशकरादारभ्य षट्करान्तं बिम्बाल्पत्वानुसारेण ह्रासितविस्तारायामं वा यागमण्टपं कुर्यादिति पूर्वेणान्वय: ॥ ३-५ ॥

पूर्ववत् कुम्भ स्थापन प्रकरण में कही गई विधि के अनुसार देवगृह के अग्रभाग में यदि अवकाश हो, तो किसी दिशा में चतुर्द्वार याग मण्डप स्थापित करे । यदि आगे अथवा दिशाओं में अवकाश न हो, तब यथाभिमत जिस-किसी दिक्-विदिक् स्थान में चौकोर मण्डप स्थापित करे । उस मण्डप को स्थान-स्थान में जहाँ-तहाँ कुशा और पुष्पमाला से सुसज्जित करे । वह मण्डप १४ हाथ से लेकर ३० हाथ पर्यन्त बिम्ब के मान की अपेक्षा करते हुए, उसके अनुसार महान् लम्बा चौड़ा बनावे, अथवा चौदह हाथ से लेकर ६ हाथ पर्यन्त आयाम वाला (लघु भी बिम्ब की अल्पता के अनुसार) ह्रस्व मण्डप भी बनाया जा सकता है ॥ ३-५ ॥

वेदिकालक्षणम्

कार्या मध्ये स्थला तेषां द्विसप्तांशैस्ततोऽष्टभि: ।
समन्तभद्रा सुश्लक्ष्णा चिता पक्वेष्टकादिकै: ॥ ६ ॥
तालोन्नते: समारभ्य सामान्येऽस्मिन् हि कर्मणि ।
उन्नताङ्गुलवृद्ध्या तु नीता तद् ह्रासतां क्रमात् ॥ ७ ॥

तत्र वेदिकालक्षणमाह—कार्येति द्वाभ्याम् । तेषां चतुर्दशादिहस्तमाभेदैर्बहुविधानां मण्टपानां मध्ये द्विसप्तांशैश्चतुर्दशभागै: स्थला कार्या वेदि: कर्तव्या । सा चाष्टभिरष्टभिर्भागै: समन्तभद्रा परितो वीथीयुक्तेत्यर्थ: । एवं च मण्टपविस्तारायामौ त्रिंशद्भागान् कृत्वा तेषु चतुर्दशभागैर्वेदिकाकल्पनं शिष्टेषु षोडश भागेषूभयतोऽष्टभिरष्टवीथीकल्पनमिति ज्ञेयम् । तदौन्नत्यं तु तालोन्नते: समारभ्याङ्गुलवृद्ध्योन्नता, तदह्रासतोऽङ्गुलह्रासतो नीचा वा वेदिका कल्पनीयेत्यर्थ: । चतुर्दशकरविस्तारायामयागगृहस्थवेदिकायास्तालमानमौन्नत्यम् । तस्मादारभ्य त्रिंशत्करपर्यन्तं यागगेहस्यायामविस्तारयोर्वृद्ध्यां षट्करान्तं ह्रासे वा तद्धस्तसंख्यानुरोधेन वेदिकौन्नत्यस्याप्येकैकाङ्गुलिवृद्धिह्रासौ कार्याविति भाव: । एवं च त्रिंशद्धस्तविस्तारायामयागगेहस्थवेदिकायाश्चतुरङ्गुलाधिकहस्तमानमौन्नत्यं भवति ॥ ६-७ ॥

इस प्रकार मण्डप का विस्तार आयाम अर्थात् लम्बाई चौड़ाई का तीस भाग करके करे । उस (तीस) में से चतुर्दश भाग में पके हुए ईटों की अत्यन्त सुन्दर चिकनी वेदी बनावे । शेष सोलह के दो भाग करे जिसमें आठ-आठ भाग की दो वीथी बनानी चाहिये । उस वेदी की ऊँचाई ताल के परिमाण से आरम्भ कर क्रमश: एक-एक अङ्गुल ऊँची होनी चाहिये और निचाई एक अङ्गुल तक की होनी चाहिये ॥ ६-७ ॥

वेदिकायां मण्डलादिस्थलविभागक्रमकथनम्

द्वित्रिरष्टांशकैर्मध्ये सर्वासां मण्डलं भवेत् ।
चतुरश्रं चतुर्द्वारं चक्राम्बुरुहभूषितम् ॥ ८ ॥
दक्षिणे शयनं सौम्ये कुण्डमग्नेस्तु पूर्ववत् ।
समेखलं द्विहस्तं तु चक्रपद्माङ्कितं शुभम् ॥ ९ ॥

अथ वेदिकायां मण्डलादिस्थलविभागक्रममाह—द्वित्रिरिति द्वाभ्याम् । सर्वासां मानभेदैर्बहुविधानां वेदिकानां मध्ये चतुरश्रत्वादिविशिष्टमण्डलम्, तद्दक्षिणे शयनम्, सौम्ये समेखलत्वादिविशिष्टमग्नेः कुण्डं च क्रमात् क्रमालङ्कारेण द्वित्रिरष्टांशकैः कुर्यादिति योजना । एवं च द्वाभ्यामंशाभ्यां मण्डलं त्रिभिरंशैः शयनमष्टांशैः कुण्ड-स्थानं च कार्यमित्यर्थः । पारमेश्वरव्याख्याने तु "द्वित्रिरष्टांशकैः क्रमेण नीचा नालोन्न-तेर्न्यूनता न कर्तव्येत्यर्थः" इति लिखितम् । तदुपहासास्पदम् ॥ ८-९ ॥

अब **वेदिका में मण्डलादि स्थल का विभाग क्रम** कहते हैं—उस वेदिका के मध्य में दो अंशों से मण्डल निर्माण करे । तीन अंशों से शयन तथा आठ अंशों से कुण्ड स्थान का निर्माण करे । वह मण्डल मध्य में चौकोर, चतुर्द्वार और चक्र तथा कमल से अलङ्कृत होना चाहिये । उसके दक्षिण में शयन तथा उत्तर में मेखला युक्त दो हाथ का चक्र बनाकर पद्माङ्कित अग्निकुण्ड का निर्माण कराना चाहिये ॥ ८-९ ॥

कुण्डाष्टकनिर्माणकथनम्

तदधश्चतुरश्रं प्राग् दाममेखलिकान्वितम् ।
अथ दक्षिणदिग्भागे कुर्याद् वै चक्रचिह्नितम् ॥ १० ॥
वर्तुलं पश्चिमे सौम्ये कमलाङ्गं मनोहरम् ।
शङ्खाङ्कं सर्वकोणेषु मानमेषां यथोर्ध्वगे ॥ ११ ॥

अथ वेदिकाया अधस्तात् प्रागाद्यष्टदिक्षु कुण्डाष्टकमाह—तदध इति द्वाभ्याम् । ऊर्ध्वगे कुण्डे यथा मानं = द्विहस्तत्वादिरूपं मानम्, एषां प्रागादिकुण्डानामपि तथैवेत्यर्थः ॥ १०-११ ॥

अब वेदिका के नीचे पूर्वादि क्रम से आठो दिशाओं में **आठ कुण्डों के निर्माण का प्रकार** कहते हैं—ऊपर के कुण्ड का जितना मान हो उतना ही मान पूर्वादि कुण्डों का भी बनाना चाहिये । पूर्व का कुण्ड चौकोर, दाम एवं मेखला से युक्त बनावे । दक्षिण का कुण्ड चक्र के चिह्न से युक्त हो । पश्चिम का कुण्ड गोला, उत्तर का कुण्ड मनोहर कमलाकार और सभी कोणों का कुण्ड शङ्ख के चिह्न से युक्त होना चाहिये । उसका मान ऊपर के कुण्ड के समान होना चाहिये जो पहले कहा जा चुका है ॥ १०-११ ॥

त्रयोदशहस्तपरिमितमण्डपादिषु कुण्डप्रकारकथनम्

सर्वे दशान्तहस्तानां चतुर्णामिकमेखलाः ।
मण्टपानां तु किन्त्वत्र ऊर्ध्वगं सर्वमेखलम् ॥ १२ ॥

त्रयोदशहस्तपरिमितमण्डपादिषु कुण्डप्रकारमाह—सर्व इति । दशान्तहस्तानां = दशहस्तपरिमितमण्डपानामित्यर्थः । चतुर्णां मण्डपानां त्रयोदशहस्तपरिमितद्वादशहस्तपरिमितैकादशहस्तपरिमितदशहस्तपरिमितचतुर्मण्टपानां सर्वे प्रागाद्यष्टकुण्डा अपि, एकमेखलाः स्थलसंकटादेकधैव मेखलयाऽन्विताः कार्याः । किन्तूर्ध्वगं वेदिकोपरिस्थं कुण्डं सर्वमेखलं सर्वाभिर्मेखलाभिरन्वितं कार्यमित्यर्थः ॥ १२ ॥

चौदह, तेरह, बारह एवं ग्यारह से लेकर दश हाथ तक के चार मण्डपों में बनाये जाने वाले सभी आठ कुण्डों की एक मेखला होनी चाहिये । किन्तु ऊपरी वेदिका के ऊपर बनाया जाने वाला कुण्ड सभी मेखलाओं से युक्त बनावे ॥ १२ ॥

अतोऽधः संस्थिताः सर्वे एककुण्डास्तु मण्टपाः ।
तेषां समेखलं चाद्यं द्वाविंशत्यङ्गुलैर्भवेत् ॥ १३ ॥
ह्रासादङ्गुलयुग्मस्य यावद् वै षोडशाङ्गुलम् ।
स्यात् षट्करे गृहे कुण्डं कार्या वा मेखलाधिका ॥ १४ ॥

नवहस्तपरिमितमण्डपादिषु प्रागादिकुण्डाभावमाह—अत इत्यर्धेन । अतोऽधः-संस्थिताः सर्वे मण्डपा नवहस्तमिता अष्टहस्तमिताः सप्तहस्तमिताः षड्ढस्तमिताश्चत्वारो मण्डपाः, एककुण्डाः = वेदिकोर्ध्वकुण्डमात्रसहिता इत्यर्थः ।

तत्रापि मध्यकुण्डस्य मानभेदमाह—तेषामिति सार्धेन । तेषां षट्करान्तानां चतुर्णां मण्डपानामाद्ये नवहस्तपरिमिते मण्टपे द्वाविंशत्यङ्गुलैः समेखलं कुण्डं भवेत् ।

एवं षट्करगृहे क्रमेणाङ्गुलयुग्मस्य ह्रासात् षोडशाङ्गुलं कुण्डं यावत् स्यात् । अष्टकरे गृहे विंशत्यङ्गुलमितं कुण्डम्, सप्तकरे गृहेऽष्टादशाङ्गुलमितं कुण्डमित्युक्तं भवति । एवं चेदमप्यूह्यते, चतुर्दशकरमिते गृहेऽष्टाङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, त्रयोदशकरमिते गृहे षडङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, द्वादशकरे गृहे चतुरङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, एकादशकरमिते गृहे द्व्यङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, दशकरमिते गृहे हस्तमितं कुण्डमिति । किञ्च, पञ्चदशकरगृहादित्रिंशत्करगृहपर्यन्तमेकाङ्गुलिवृद्धिश्चोच्यते । अतः पञ्चदशकरे गृहे नवाङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, षोडशकरे गृहे दशाङ्गुलाधिकहस्तमितं कुण्डम्, एवं क्रमेण त्रिंशत्करे गृहे द्विहस्तमितं कुण्डमिति ज्ञेयम् । कार्या वा मेखलाधिका षोडशाङ्गुलादिकुण्डानामेकैव मेखला, अधिका वा द्व्यादिका मेखला वा कार्येत्यर्थः ॥ १३-१४ ॥

इसके नीचे नव हस्त चार मण्डप में एक कुण्ड बनाना चाहिये जो ऊपर की वेदी में बनाये गये एक कुण्ड के सहित हो । उसमें आदि (नव हस्त परिमित) मण्डप का कुण्ड मेखला सहित बाइस अङ्गुल का होना चाहिये ॥ १३ ॥

यहाँ तीस हाथ तक के मण्डपों में बनाये जाने वाले कुण्डों का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—छः हाथ के मण्डप में दो-दो अङ्गुल की कमी होने से वहाँ सोलह अङ्गुल का कुण्ड होता है और आठ हाथ के मण्डप में बीस अङ्गुल का कुण्ड तथा सात हाथ के मण्डप में अठारह अङ्गुल का कुण्ड होना चाहिये ।

विमर्श—चौदह हाथ के मण्डप में आठ अङ्गुल का कुण्ड, तेरह हाथ के मण्डप में छः अङ्गुल अधिक का कुण्ड, बारह हाथ के मण्डप में चार अङ्गुल अधिक का कुण्ड, ग्यारह हाथ के मण्डप में दो अङ्गुल अधिक का कुण्ड और दश हाथ के मण्डप में एक हाथ का कुण्ड बनाना चाहिये । इसी प्रकार पन्द्रह हाथ से लेकर तीस हाथ तक के मण्डप में एक-एक अङ्गुली की वृद्धि के क्रम से कुण्ड समझना चाहिये । इस प्रकार पन्द्रह हाथ के मण्डप में नव अधिक अङ्गुल का कुण्ड, सोलह हाथ के मण्डप में दश अङ्गुल अधिक और इसी प्रकार तीस हाथ के मण्डप में दो हाथ का कुण्ड निर्माण करना चाहिये । इस प्रकार सोलह अङ्गुलादि क्रम से निर्मित कुण्ड में एक ही मेखला अथवा उससे अधिक दो या तीन मेखलाओं का निर्माण करना चाहिये ॥ १४ ॥

मण्डपोच्छ्रायकथनम्

अष्टहस्तोच्छ्रितं पूर्वमतोऽर्धकरवर्धिता ।
न ह्रासः षट्करान्तानां न्यूनानामुच्छ्रितेर्भवेत् ॥ १५ ॥
त्रयोदशकरादीनां चतुर्णां पातयेत् ततः ।
अष्टकं चाङ्गुलानां तु सप्तपञ्चचतुः क्रमात् ॥ १६ ॥

अथ मण्टपोच्छ्रायमाह—अष्टहस्तोच्छ्रितमिति द्वाभ्याम् । पूर्वमाद्यं चतुर्दशकरमितं गृहमष्टहस्तोच्छ्रितम् । अतः परं पञ्चदशकरादयो मण्टपाः क्रमेणार्धकरवर्धिताः । यथा त्रिंशत्करविस्तृतो मण्टपः षोडशहस्तोच्छ्रितः स्यादिति भावः । त्रयोदशकरादीनां चतुर्णां मण्टपानां पूर्वोक्तहस्तोच्छ्राये क्रमादङ्गुलानामष्टकं सप्तकं पञ्चकं चतुष्कं पातयेत्, ह्रासयेदित्यर्थः । षट्करान्तानां = नवकरादिषट्करान्तानां चतुर्णां तु न्यूनानां = न्यूनहस्तसंख्यानां मण्डपानामुच्छ्रितेरुच्छ्रायस्य ह्रासो न भवेत्, दशहस्तमण्टपोच्छ्रायन्यूनो न भवेदित्यर्थः । अत्र मूलभूतसात्वतानुसारेण ह्रास इत्यादिवाक्यस्य पूर्वं विद्यमानत्वेऽपि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वादित्थं व्याख्यातम् । पारमेश्वरे (१५।११९-१२०) त्वर्थक्रमेणैव पाठोऽप्युपबृंहितः ॥ १५-१६ ॥

पूर्व में कहा गया चौदह हाथ का मण्डप आठ हाथ ऊँचा होना चाहिये। किन्तु नव हाथ से लेकर छः हाथ तक न्यून हाथ वाले मण्डपों की ऊँचाई में ह्रास (कम) करने का नियम नहीं है । इसके बाद पन्द्रह से लेकर तीस हाथ तक के सभी मण्डप क्रमशः आधे हाथ ऊँचे बनाने चाहिये । इसका तात्पर्य यह है कि तीस हाथ का मण्डप सोलह हाथ ऊँचा बनाना चाहिये । तेरह हाथ से लेकर

सोलह हाथ पर्यन्त मण्डपों की ऊँचाई क्रमशः आठ, सात, पाँच और चार हाथ कम करना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

एवं स्नानगृहाणां तु विस्तारश्चोन्नतैः सह ।
किन्तु वै वालुकापीठैर्मध्यतश्चोपशोभिताः ॥ १७ ॥

बालुकापीठमानकथनम्

द्विचतुर्भिर्द्विसप्तांशैर्विस्तृताः प्राग्वदुन्नताः ।

एवं यागमण्टपोक्तं लक्षणं स्नानगेहेऽप्यतिदिशति—एवमिति । उन्नतैः सह औन्नत्यैः सह इत्यर्थः । भावप्रधानो निर्देशः । तत्र विशेषमाह—किन्त्विति । वालुकापीठैर्मध्यतो वालुकापूरितवेदिकामध्यत उपशोभिताः, स्नानगृहा इति शेषः ।

बालुकापीठमानमाह—द्विचतुर्भिरिति । द्विसप्तांशैश्चतुर्दशभागैर्द्विचतुर्भिरष्टभिरंशैश्च विस्तृताः प्राग्वदुन्नताश्च, बालुकापीठा इति शेषः । यागगेहे परितः कुण्डनिर्माणार्थमुभयतोऽप्यष्टभिरष्टभिरंशैर्वीथीकल्पनमुक्तम् । अत्र कुण्डाभावाच्चतुर्भिश्चतुर्भिरंशैरेव वीथीकल्पनम्, द्वाविंशत्यंशैर्वालुकापीठकल्पनमिति बोध्यम् ।

इसी प्रकार स्नानगृह का विस्तार भी उसकी ऊँचाई के साथ विस्तृत करना चाहिये । किन्तु स्नानगृह की वेदी को मध्य में बालुका से परिपूर्ण कर शोभायुक्त बनानी चाहिये । यागगृह में दोनों ओर से कुण्ड निर्माण के लिये आठ-आठ और चौदह अंशों से पहले कही गई ऊँचाई के अनुसार विस्तृत वीथी का निर्माण करना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

स्नानशालादिनिर्माणकथनम्

स्नानीयादग्रगेहाद् वा दिक्त्रयेऽभिमते शुभम् ॥ १८ ॥

स्नानशालादिनिर्माणस्थाने नियममाह—स्नानीया इति । स्नानीयाः, गृहा इति शेषः । अग्रगेहाद् = अग्रभागस्थितयागगेहं विहाय, दिक्त्रये दक्षिणादिदिक्षु अभिमते शुभे मनोहरे स्थाने कार्या इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अब **स्नानशालादि निर्माण स्थान के लिये नियम** कहते हैं—अग्रभाग में स्थित यागगृह को छोड़कर शेष दक्षिण आदि तीन दिशायें कल्याणकारी कही गयीं हैं ॥ १८ ॥

नयनोन्मीलनगेहलक्षणकथनम्

अर्धमानसमं मुख्यात् सुपीठशयनान्वितम् ।
दृग्दानभवनं कुर्यान्माङ्गल्यकलशैः सह ॥ १९ ॥

नयनोन्मीलनगेहलक्षणमाह—अर्धेति । मुख्याद् यागगेहाद् अर्धमानसमं तदर्धविस्तारायामं माङ्गल्यकलशैः सह वक्ष्यमाणकलशैः सह सुपीठशयनान्वितं दृग्दान-

भवनं दृशोर्दानमुन्मीलनम्, 'दो अवखण्डने' (११४८ दि०) इति धातोः, तदर्थं भवनं गृहं कुर्यात् ॥ १९ ॥

अब **नेत्रोन्मीलन के लिये गृह का लक्षण** कहते हैं—मुख्य यागगृह का आधा लम्बा चौड़ा मङ्गलकलशों के साथ (वक्ष्यमाण कलश के साथ) सुपीठ शयनान्वित नेत्रोन्मीलन के लिये गृह निर्माण करना चाहिये ॥ १९ ॥

यागमण्टपादिसाधारणमलङ्कारकथनम्

सर्वेषां कर्मभूभागं कोणस्तम्भैर्विभूषितम् ।
सुनेत्रैर्वेष्टितं कुर्याच्चक्राद्यैः पूर्ववद् युतम् ॥ २० ॥

यागमण्टपादिसाधारणमलङ्कारमाह—सर्वेषामिति । सुनेत्रैः शोभनवस्त्रैः, वितानैरिति यावत् । चक्राद्यैः चक्रध्वजादि-भिरित्यर्थः ॥ २० ॥

इसके अनन्तर सभी के नेत्रों के लिए सुखदायी वितान जो सुन्दर वस्त्रों एवं चक्र ध्वाजादि से सुशोभित हो उसका निर्माण करना चाहिये ॥ २० ॥

स्नानपीठलक्षणकथनम्

सुस्थिरं दृढपादं च स्नानाम्भोग्रहणक्षमम् ।
अर्धेन वालुकापीठाद् दीर्घमाद्यक्रमेण तु ॥ २१ ॥
वर्धितं चार्धहस्तेन ह्रासितं चतुरङ्गुलैः ।
स्वदैर्घ्यादर्धविस्तीर्णं कृत्वैवं सप्रणालकम् ॥ २२ ॥
तेन तद्वालुकापीठं भूषयेन्मध्यगेन तु ।

अथ स्नानपीठलक्षणमाह—सुस्थितमिति सार्धद्वाभ्याम् । स्नानाम्भोग्रहणक्षमं = स्नानजलग्रहणार्थं पीठोपरि परितश्चतुरङ्गुलोत्सेधावरणयुक्तमित्यर्थः । वालुकापीठादर्धेन दीर्घं चतुर्दशहस्तविस्तारायामस्नानगेहस्थितावालुकापीठार्धमानेन दीर्घम्, आद्यक्रमेण तदादित्रिंशत्करगृहपर्यन्तं क्रमेणार्धहस्तेन वर्धितं तदादिषट्करगृहपर्यन्तं क्रमेण चतुरङ्गुलैर्ह्रासितं स्वदैर्घ्यादर्धविस्तीर्णं सप्रणालकं स्नानपीठं कृत्वा तेन तद्वालुकापीठं भूषयेत् ॥ २१-२३ ॥

अब **स्नानपीठ का लक्षण** कहते हैं—स्नान जल ग्रहण करने के लिये पीठ के ऊपर चारों ओर चार अङ्गुल ऊँचा आवरण बनाना चाहिये । फिर वालुका पीठ के अर्ध मान तक दधि तथा तीस हाथ पर्यन्त लम्बे स्नानगृह के मान तक आधा-आधा हाथ बढ़ाते हुए, प्रणाली (= नाली) से युक्त स्नान पीठ का निर्माण करे । फिर मध्य में बालुका पीठ को भूषित करे ॥ २१-२३ ॥

द्वारतोरणलक्षणकथनम्

यागागारस्य वै दिक्षु द्वारार्थं तत्र चान्तरे ॥ २३ ॥

(शा?श)मार्धवृद्धियोगेन ह्रासोऽन्यत्र कलादिकः ।
तोरणानि बहिः कुर्याद् दृढैः काष्ठैः सुपूजितैः ॥ २४ ॥

अथ द्वारतोरणलक्षणमाह—यागागारस्येत्यदिभिः ॥ २३-२८ ॥

इसके बाद स्नानागार से बाहर चारों दिशाओं में द्वारों पर दृढ़ काष्ठ का बना हुआ कल्याण हेतु छोटा बड़ा कलापूर्ण प्रशस्त तोरण निर्माण करे ॥ २३-२४ ॥

पञ्चहस्तानि चार्धेन वर्धितानि करेण तु ।
न ह्रासमाचरेत् तेषामन्यत्र करणे सति ॥ २५ ॥
न शमात् पञ्च हस्तानामृते भूमौ प्रवेशयेत् ।
शमार्धं वर्धितानां च द्वे द्वे संवर्धयेत् कले ॥ २६ ॥
दैर्घ्यात् प्रवेशशिष्टात् तु त्रिभागेन तदन्तरम् ।
सर्वे चक्रध्वजाः कार्या वस्त्रस्त्रङ्मञ्जरीयुताः ॥ २७ ॥
सुधाद्यैर्वर्णकैः पीतैश्चन्दनाद्यैस्तु लेपिताः ।

वह तोरण पाँच हाथ का होना चाहिये । यागगृह के लम्बे होने पर एक-एक हाथ उसे बढ़ाते रहना चाहिये । यदि तोरण अन्यत्र भी बनाना हो, तो उसे पाँच हाथ से कम में निर्माण न करे । यदि तोरण केवल पाँच हाथ का ही हो, तो उसे शम प्रमाण से अधिक भूमि में न गाड़े । यदि पृथ्वी में गाड़ना ही हो, तो उसे दो-दो कला बढ़ा कर पृथ्वी में गाड़े । इस प्रकार तोरण स्थापित कर उसका पूजन करे । फिर तोरणध्वज तथा ध्वजाष्टक स्थापित करे । ये सभी चक्र, ध्वज, वस्त्र, माला और मञ्जरी से भूषित होने चाहिये और सुधा (चूना) आदि से अनुलिप्त अथवा पीत वर्णानुलिप्त तथा चन्दनादि लेपों से विभूषित होना चाहिये ॥ २५-२८ ॥

विभवाद्यभावे पक्षान्तरकथनम्

भिन्नाङ्गमेतदखिलं यथैकस्मिन् हि युज्यते ॥ २८ ॥
कर्म यागगृहे शश्वद् विभूतेर्वाऽवनेर्विना ।
पञ्चत्रिंशत्करं क्षेत्रं स्वतुर्यांशेन विस्तृतम् ॥ २९ ॥

विभवाद्यभावे पक्षान्तरमाह—भिन्नाङ्गमित्यादिभिः । भिन्नाङ्गं विभिन्नपृथक्-शालाद्यङ्गसहितमेतदखिलं कर्म नयनोन्मीलनस्नपनार्चनहवनाधिवासादिकं समस्तं कार्यम्, विभूतेर्वाऽवनेर्विना विभवाभावात् प्रदेशाभावाद्वा, एकस्मिन यागगृहे यथा युज्यते, स्नानशालां नयनोन्मीलनशालां च विना यागगेह एव यथा कर्तुं शक्यते, तथा सन्निवेशार्थं पञ्चत्रिंशकरं स्वतुर्यांशेन विस्तृतं क्षेत्रं यागमण्टपं कुर्यादिति शेषः । पार-मेश्वरव्याख्याने तु—''भिन्नाङ्गं वेदिकुण्डतोरणादिभिर्भिन्नलक्षणम् । एकस्मिन्नेकत्र शालास्थले यथा युज्यते तथा कुर्यादित्यर्थः'' इति लिखितम् । तन्मन्दम् । तन्मध्ये चतुर्हस्तविस्तारायामं स्थलसप्तकं = वेदिकासप्तकमापाद्यं कल्पनीयमित्यर्थः ।

स्थलानां वेदिकानां व्यवधानमन्तरालं तलसंमितं द्वादशाङ्गुलमितं कुर्यात् । तथा सति सप्तवेदिकानामन्तरालानि षट्तालमितानि भवन्ति । तथा व्यवधानानवकाशे द्व्यङ्गुलं द्व्यङ्गुलं विना एकापायेन एकतालह्रासेन वा व्यवधानं कुर्यात् । क्रमेणाष्टङ्गुलान्मानात् = प्रत्येकमष्टाङ्गुलव्यवधानात्, स्थलागणं = स्थलसप्तकं, द्विहस्तान्तं = द्विहस्त-परिमितान्तरालं वा कुर्यात् । संकटानां तथा व्यवधानेऽप्यपेक्षमा(णां?णानां) स्थलानां = द्विगोलकं चतुरङ्गुलं व्यवधानं कुर्यात् । ''द्वे अङ्गुले कलानेत्रं गोलकं भाव एव च'' (२४।९४) इति पूर्वमेवोक्तम् । सर्वेषां स्थलानामुच्छ्राय एवमेव परिकीर्तितः । वेदिकानामुच्छ्रायमपि द्वादशाङ्गुलमष्टाङ्गुलं चतुरङ्गुलं वा कुर्यादित्यर्थः । परितो वीथेर्मानं स्वपीठजं विहितं चतुर्हस्तमित्यर्थः ॥ २८-३३ ॥

यहाँ तक विभव सम्पन्न लोगों के लिये विधान कहा गया । अब जिनके पास वैभव नहीं है ऐसे वैभवहीन लोगों के लिये विधान कहते हैं—यदि विभूति के अभाव से, या प्रदेश के अभाव से, एक ही गृह में उपरोक्त नयनोन्मीलन, स्नपन, अर्चन, आवाहन, अधिवासादिक समस्त कार्य पृथक्-पृथक् शालाओं में करना संभव न हो, तो वह सारा कर्म एक ही याग गृह में करे । यह जिस प्रकार किया जा सकता है उसके लिये विधि कहते हैं—पैंतीस हाथ लम्बा उसका चतुर्थ भाग चौड़ा याग मण्डप निर्माण करे ॥ २८-२९ ॥

तन्मध्ये तु चतुर्हस्तं त्वापाद्यं स्थलसप्तकम् ।
स्थलानां व्यवधानं तु कुर्याद् वै तालसम्मितम् ॥ ३० ॥
एकापायेन वै कुर्याद् द्विहस्तान्तं स्थलागणम् ।
क्रमेणाष्टाङ्गुलान्मानाद् द्व्यङ्गुलं द्व्यङ्गुलं विना ॥ ३१ ॥
स्थलानां संकटानां च व्यवधानं द्विगोलकम् ।
एवमेव समुच्छ्रायः सर्वासां परिकीर्तितः ॥ ३२ ॥
परितो विहितं वीथेर्मानमत्र स्वपीठजम् ।

उसके मध्य में चार हाथ लम्बी, चार हाथ चौड़ी सात वेदी निर्माण करे । प्रत्येक वेदियों के निर्माण में ताल प्रमाण (बारह अङ्गुल) का अन्तर रखना चाहिये । ऐसा करने से सात वेदिकाओं के कुल अन्तराल छह ताल (बहत्तर अङ्गुल) होता है । यदि उतना व्यवधान न कर सके, तो दो-दो अङ्गुल के व्यवधान से अथवा एक ताल के व्यवधान से ही वेदी निर्माण करे, अथवा क्रमशः आठ अङ्गुल का व्यवधान देकर सात वेदी बनावे, अथवा दो-दो हाथ का व्यवधान कर सात वेदी निर्माण करे, अथवा संकट (कठिनाई) उपस्थित होने पर द्विगोलक (चार अङ्गुल) का व्यवधान देकर सात वेदी निर्माण करे । इन सभी सातों वेदियों की ऊँचाई क्रमशः एक ही समान बारह अङ्गुल की करे, अथवा अष्टाङ्गुल, अथवा चतुरङ्गुल ऊँचाई करे । उसके चारों ओर की वीथी का मान चार हाथ होना चाहिये ॥ ३०-३३ ॥

पञ्चवेदिकापक्षकथनम्

एवं वा संकटे कुर्यादाद्योक्तान्मण्टपद्वयात्॥ ३३ ॥
मध्ये मण्डलपीठं तु तस्य दक्षिणदिग् भवेत्।
समीपे शयनस्थानं कुम्भानां स्थापनायनम्॥ ३४ ॥
एवं हि वामनिकटे भोगानां मन्त्रतर्पणम्।
ऋग्यजुःसामपूर्वाणां श्रुतीनां हवनं परे॥ ३५ ॥
दृग्दानं शयनस्थाने ह्यन्यस्मिन् शयने हितम्।
प्रासादस्याष्टदिङ्मूर्तिशक्तिपानां यथोदितम्॥ ३६ ॥
स्थण्डिलेष्वथ कुण्डेषु तादर्थ्येनाथवा स्वयम्।
स्वकुण्डे हवनं कुर्याच्चतुर्वेदमये वरे॥ ३७ ॥

एवं सप्तवेदिकानिर्माणस्याप्यनवकाशे पञ्चवेदिकापक्षमाह—एवं वेति त्रिभिः । संकटे स्थलसंकोचे सति, आद्योक्तान् मण्टपद्वयात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । स्नाननयनोन्मीलनमण्टपद्वयं विहाय, एवं वा कुर्याद् वक्ष्यमाणरीत्या पञ्चवेदिकाकल्पनं वा कुर्यात् । तासां विनियोगस्तु मध्ये मण्डलपीठं तस्य दक्षिणदिक् दक्षिणदिशि समीपेऽव्यवहितं धनस्थानम्, कुम्भानां स्थापना धनम् । तदनन्तरवेदिकायां स्नानकुम्भानां स्थापनम् । एवमेव वामनिकटे मण्डलपीठवामभागस्थसमीपवेदिकायाम्, भोगानां मन्त्रतर्पणं भोगानां समिदादीनां मन्त्रतर्पणं हवनमित्यर्थः । तत्र प्रधानकुण्डस्थानं यावत् । पारमेश्वरव्याख्याने तु—''भोगानां मन्त्रतर्पणं कुम्भस्थार्चनमित्यर्थः, जलस्य समस्तभोगत्वात्'' इति लिखितम् । तन्मन्दम, प्रधानकुण्डस्यागतिकत्वात् ।

ननु तर्हि कुम्भार्चनमगतिकं भवतीति चेन्न, कुण्डदक्षिणभाग एव तदर्चनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

ननु तर्ह्यस्मदुक्तार्थोऽपि संगत एवेति चेन्न, तर्पणशब्दस्य भवनपरत्वेनैवात्र बहुशः प्रयोगात् । ऋग्यजुःसामपूर्वाणां श्रुतीनां भवनं विदिक्कु(ण्डं?ण्ड)चतुष्टयोक्तं भवनं परे तदनन्तरवेदिकायामिति ज्ञेयम् । दृग्दानं नयनोन्मीलनं शयनस्थाने पूर्वोक्तशयनवेदिकायामेव, अन्यस्मिन् शयने पृथक्शय्यायां हितमभिहितमित्यर्थः । पारमेश्वरव्याख्याने तु पूर्वमेव ''समीपे शयनस्थानाम्'' (पा० १५।१३८) इत्यत्र समीपे नयनमित्यबद्धपाठमङ्गीकृत्य नयनं नयनोन्मीलनमित्यर्थ इति लिखितम् । इहापि तथैव ''दृग्दानं शयनस्थाने ह्यन्यस्मिन् शयने हि तत्'' (पा० १५।१४०) इति पाठं परिकल्प्यैकस्मिन् नयनोन्मीलनार्थं शयनकल्पनम्, अन्यस्मिन् तत्प्रसिद्धशयनमिति लिखितम् । सप्तवेदिकापक्षेऽप्येवमेव मण्डलादिस्थाननियमः । किन्तु तत्र दक्षिणान्तिमवेदिकायां स्नानपीठस्थापनम्, उत्तरान्तिमवेदिकायां नयनोन्मीलनार्थं शयनकल्पनमिति ज्ञायते ॥ ३३-३७ ॥

यदि सात वेदी के निर्माण के लिये स्थान न हो, तब पाँच वेदी का पक्ष प्रस्तुत करते हैं । स्थल संकोच होने पर स्नान एवं नयनोन्मीलन दो मण्डपों का

परि-त्याग कर देवे । केवल पाँच वेदी ही निर्माण करे । उसका प्रकार यह है— मध्य में मण्डल पीठ निर्माण करे । उसके दक्षिण दिशा में अव्यवहित धन स्थान (कुम्भानां स्थापनं धनम्' इस कोश के अनुसार धन का अर्थ कुम्भ है) उसके अनन्तर वाली वेदिका में स्नान कुम्भ स्थापन करे । इसी प्रकार मण्डल पीठ के वाम भागस्थ वेदिका में 'भोगानां मन्त्र तर्पणम्' (समिदादि हवन सामग्री) प्रधान कुण्ड स्थान पर्यन्त स्थापित करे । ऋग्यजुः-सामपूर्वक समस्त श्रुतियों को हवन के चारों कोणों पर स्थापित करे । नयनोन्मीलन शयन स्थान में स्थापित करे । किन्तु पृथक् शय्या बनाकर स्थापित करना हितकारी होता है । प्रासाद के आठों दिशाओं में स्थण्डिल में, अथवा चतुर्वेदमय श्रेष्ठ अपने कुण्ड में हवन करे ॥ ३३-३७ ॥

मूर्तिपकर्तव्यहोमस्य गतिकथनम्

समस्तमूर्तिपीयं वा स्वयमेव समाचरेत् ।
सामग्रीविरहाद् योग्यमूर्तिपानामभावतः ॥ ३८ ॥

एवं स्थलसंकोचादिनाऽष्टदिक्कुण्डानि विना यागगेहे निर्मिते सति तदानीं मूर्तिपकर्तव्यहोमस्य गतिमाह—समस्तेति । सामग्रीविरहाद् अनेकस्रुक्स्रुवाद्यभावात्, योग्यमूर्तिपानामभावत ऋत्विजामभावाद्वा हेतोः, समस्तमूर्तिपीयं मूर्तिपकर्तव्यं होमं स्वयमेव समाचरेत् । तत्तत्कुण्डसमीपं गत्वा स्वयमेव तत्तद्धोमं कुर्यादिति भावः ॥ ३८ ॥

तत्तद् ज्ञाताओं के द्वारा अथवा स्वयं मूर्त्तिप एवं शक्तियों के मन्त्र से हवन करे । इस प्रकार स्थल संकोच से आठों दिशाओं में कुण्ड निर्माण के बिना यागगृह निर्माण करने पर 'मूर्त्तिपकर्त्तव्य होम' की गति कहते हैं । अनेक स्रुक्-स्रुवादि के अभाव में योग्य मूर्त्तिप (होता, ऋत्विक्, उद्गाता और ब्रह्मा आचार्य) के अभाव में समस्त मूर्त्तिप कर्त्तव्य होम स्वयमेव करे ॥ ३८ ॥

सर्वोपकरणानां संप्रवेशकथनम्

यश्च यत्रोपयोज्यस्तु तत्र तं सम्प्रवेशयेत् ।
मन्त्राणामुपदेष्टा तु आत्मतुल्यो महामतिः ॥ ३९ ॥
योक्तव्यः कर्मदक्षस्तु सर्वेष्ववसरेषु च ।

अथ प्रासादमध्ये कुम्भस्थापनप्रकारोक्तरीत्या सकलमङ्गलवैभवैः सहाचार्यस्य योगगेहप्रवेशं तत्र सर्वोपकरणानां सम्प्रवेशनं चाह—यश्चेत्यर्धेन । मन्त्रतन्त्रस्खालित्य-भिया तदुपदेष्टुरन्यस्याचार्यस्य नियोजनमाह—मन्त्राणामिति ॥ ३९-४० ॥

अब इसके बाद प्रासाद के मध्य में कुम्भ-स्थापन की तरह समस्त मङ्गल वैभव के साथ आचार्य का यागगृह में प्रवेश तथा सभी प्रकार के उपकरणों का प्रवेश कहते हैं—यागगृह में जहाँ जिसका उपयोग संभव हो, उसे उसी स्थान पर

प्रवेश करावे । मन्त्र तन्त्र में किसी प्रकार का स्खलन न हो, इस भय से अपने ही समान अन्य आचार्य का वरण करे ।। ३९-४० ।।

स्वयं वस्त्वनुसन्धाय हवनार्चनकर्मणाम् ।। ४० ।।
आस्ते ह्युत्पत्तिपूर्वाणां न्यासान्तानामनन्यधीः ।

स्वस्य तु भूतशुद्ध्यादिन्यासान्तकर्मसु हवनार्चनकर्मवस्त्वनुसन्धानपूर्वकमेकायतचित्तत्वेन वर्तमान(ता)माह—स्वयमिति ॥ ४०-४१ ॥

स्वयं भूत शुद्ध्यादि न्यासान्त कर्म में तथा हवन एवं अर्चन कर्म के वस्तुओं का अनुसंधान कर सभी अवसरों में हवनार्चन कर्म में दक्ष पुरुष को नियुक्त करना चाहिए ।। ४०-४१ ।।

कृत्वा दीक्षाविधानोक्तं सहोमं कलशार्चनम् ।। ४१ ।।
कुर्यात् सतोरणानां तु ध्वजानां स्थापनं ततः ।

पूर्वं दीक्षाप्रकरणोक्तरीत्या महाकुम्भार्चनहोमादिकं तोरणध्वजस्थापनार्चनं चाह—कृत्वेति ॥ ४१-४२ ॥

दीक्षा विधानोक्त रीति से होम सहित कलशार्चन करे । फिर तोरण सहित ध्वजों का स्थापन करे ।। ४१-४२ ।।

सितरक्तादिभेदेन प्रागादौ तु ध्वजाष्टकम् ।। ४२ ।।
निवेश्य मध्यवेद्यां तु पुनरप्ययवत् तथा ।
यजेत् सत्यादिकं तत्र चतुष्कं ह्येवमेव हि ।। ४३ ।।
उत देवा अवहितमृङ्मयान् पाठयेत् ततः ।
बहिर्वै सर्ववर्णेन चक्रं तोरणगं यजेत् ।। ४४ ।।
पाठयेद् द्वारपालीयं साम सामविदस्ततः ।

मध्यवेद्याः परितो ध्वजाष्ट(क)स्थापनम्, तत्र प्रभवाप्ययक्रमेण सत्यसुपर्णाद्यर्चनम्, उत देवा इत्यादिमन्त्रपाठनम्, बहिस्तोरणगतनानावर्णचक्रध्वजेषु चक्रराजार्चनम्, लोकद्वारमपावृण्वित्यादिद्वारपालीयसामपाठनं चाह—सितेति त्रिभिः । एवं महाकुम्भाद्यर्चनानन्तरं ध्वजार्चनादिकस्योक्तावपि तत्पूर्वमेव वा तत्कार्यमिति ज्ञेयम् । तथा चेश्वरपारमेश्वरयोः—"एतेषामथवा पूर्वं भवेद् द्वास्थैः सहार्चनम्" (ई०सं० १८।५८, पा०सं० १५।१७८) इति ॥ ४२-४५ ॥

मध्य वेदी के चारों ओर आठो दिशाओं में सित, रक्त, पीतादि वर्णों की आठ ध्वजायें स्थापित करे । फिर प्रभव एवं अप्यय क्रम से सत्य सुपर्णादि की अर्चना करे । फिर 'उत देवा' इत्यादि मन्त्र का पाठ करे । बाहर तोरण पर रहने वाले नाना वर्ण के ध्वजाओं पर चक्रराज का अर्चन करे । फिर 'लोकद्वारमपावृणु' इत्यादि द्वारपालीय साम का पाठ करे ।। ४१-४५ ।।

अथार्घ्यपुष्पमृण्मूर्तिधरैर्यायात् समावृतः ॥ ४५ ॥
यत्र तिष्ठति विश्वेशः पीठब्रह्मशिलान्वितः ।
तत्रावलोकनं तेषां कुर्यात् सन्ताडनादिकम् ॥ ४६ ॥

अथ मूर्तिपैः सह बिम्बसमीपगमनम्, नेत्रमन्त्रेण तदवलोकनादिकम्, सिद्धार्थोद-कादिषट्कलशस्थापनादिकमर्चनम्, देवस्य दक्षिणहस्ते सिद्धार्थैः सह प्रतिसरबन्धनम्, ऋग्वेदिभिराथर्वणिकैश्च रक्षोहणपाठनम्, वेदघोषैर्नृत्तगेयादिभिः सह रथादिना बिम्बा-द्यानयनम्, तदानीं स्वर्णादिदानयागगेहप्रवेशनं चाह—अथार्घ्यपुष्पभृदित्यारभ्य स्व-स्थानं यज्ञभूमेर्वै इत्यन्तम् । चक्राङ्कौषधी = कटुकरोहिणी, "कटुः कटुम्भराऽशोका रोहिणी कटुरोहिणी । मत्स्यपित्ता कृष्णभेदी चक्राङ्गी शकुलादिनी" ॥ (३।८।८६) इति वैजयन्ती । कर्मारम्भं भगवतो बलेनेत्यादिकं मन्त्रम्, ॐभगवानेव स्वशेषभूतं मामिति मन्त्रं वा ॥ ४५-५५ ॥

इसके बाद अर्घ्य पुष्प मृण्मयमूर्त्ति धारण किये हुए मूर्त्तियों से समावृत होकर पीठ पर ब्रह्मशिला से युक्त विश्वेश (बिम्ब स्वरूप) जहाँ पर स्थित हैं वहाँ जावे । नेत्र मन्त्र से उनका अवलोकन करे तथा सन्ताडनादि करे ॥ ४५-४६ ॥

चक्रास्त्रमन्त्रितैः स्नानकलशैः स्नापयेत् ततः ।
सिद्धार्थकैस्तथा पञ्चगव्यमृद्भूतिवारिणा ॥ ४७ ॥
वल्मीकमृज्जलेनाथ चक्राङ्कौषधिवारिणा ।
संक्षाल्याभ्यर्च्य चोद्वर्त्य क्षालयेदस्त्रवारिणा ॥ ४८ ॥

तदनन्तर चक्रास्त्र से अभिमन्त्रित स्नान कलश से स्नान करावे । फिर सिद्धार्थक (श्वेत सर्षप) वारि से, फिर पञ्चगव्य के जल, फिर मिट्टी के जल से, फिर भस्म के जल से, फिर वल्मीकस्थ मिट्टी के जल से, फिर चक्राङ्क औषधि (= कटुकरोहिणी) के जल से प्रक्षालित कर अर्चन करे, फिर उद्वर्त्तन करे । अस्त्र के जल से बिम्ब का प्रक्षालन करे ॥ ४७-४८ ॥

तमर्घ्येणार्चयित्वा च ततस्तन्मन्त्रितान् करे ।
सिद्धार्थकान् दक्षिणे तु बद्ध्वाग्रे पाठयेदृचम् ॥ ४९ ॥
रक्षोहणं तथा सर्वान् नयेत् प्रतिसरे मणीन् ।
सद्वस्त्रवेष्टितं कृत्वा समारोप्य रथोत्तमे ॥ ५० ॥
कर्मारम्भं च पठतस्तस्य दक्षिणदिङ् न्यसेत् ।
ऋक्सामपूर्वान् वामे तु ब्राह्मणांस्तु चतुश्चतुः ॥ ५१ ॥
पुरतोऽस्त्रं स्मरन् यायात् स्वयं विघ्नांस्तु सूदयन् ।

तदनन्तर उस बिम्ब का अर्घ्य से अर्चन कर प्रथम अस्त्रमन्त्रित सिद्धार्थक दाहिने हाथ में बाँधे । फिर 'रक्षोहणम्' इस ऋचा का पाठ करते हुए सभी प्रकार की

मणियुक्त 'प्रतिसरा' उसी हाथ में बाँधे। फिर उस बिम्ब को वस्त्र से वेष्टित कर उत्तम रथ पर समारोपित कर कर्मारम्भ (भगवतो बलेनेत्यादि मन्त्र) का पाठ करते हुए उसके दक्षिण दिशा में न्यास करावे। फिर ऋक् सामपूर्वक मन्त्र का पाठ करते हुए बाई ओर न्यास करावे। दाहिनी ओर और बायीं ओर मन्त्रों का पाठ करने वाले ब्राह्मणों की संख्या क्रमशः चार-चार होनी चाहिये। इसके बाद स्वयं अस्त्र मन्त्र के द्वारा विघ्नों का नाश करते हुए रथ के आगे-आगे चले ॥ ४९-५२ ॥

सनृत्तगेयवादित्रस्तुतिमङ्गलपाठकैः ॥ ५२ ॥
इदं विष्णुर्विचक्रम ऋङ्मयैः सह पाठयेत्।
एकायनांस्तदन्ते तु ॐ नमो ब्रह्मणे तु यत्॥ ५३ ॥
तथैव शाकुनं सूक्तं श्रीसूक्तेन समन्वितम्।
स्वर्णादिनार्थिनः शक्त्या तर्पयंस्तान् प्रवेशयेत्॥ ५४ ॥

उसके साथ-साथ नृत्य करने वाले, गान करने वाले, बाजा बजाने वाले, स्तुति और मङ्गल पाठ करने वाले चलें। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इन ऋचाओं को पढ़ते हुए वैदिक लोग भी साथ में चलें। सबसे अन्त में शाकुन सूक्त एवं श्रीसूक्त के सहित 'ॐ नमो ब्रह्मणे तु यत्' इस एकायन का पाठ करने वालों से समन्वित रहे। इस प्रकार स्वर्णादि की कामना करने वाले उन-उन अर्थी जनों को अपनी शक्ति के अनुसार तृप्त करते हुए यागगृह में प्रवेश करावे ॥ ५३-५४ ॥

स्वस्थानं यज्ञभूमेर्वै प्रासादाभ्यन्तरं तु वा।
वक्ष्यमाणविधानेन युक्तं रत्नशिलादिना॥ ५५ ॥
कृत्वा द्रव्याधिवासं प्राक् कर्मभूमौ पुरोदितम्।
स्नानकर्मशिलादीनामीषत् कृत्वा तु सार्चनम्॥ ५६ ॥
यथावद् रत्नविन्यासं पीठपूर्वं निवेश्य च।
बृहद्बिम्बे ततः कुर्यात् कर्मबिम्बेऽखिलं तु वै ॥ ५७ ॥
सन्निरोधस्तु मन्त्राणां तत्र लग्नोदये स्मृतः।
आबृहत्स्नपनात् सर्व यत्किञ्चिदथ तत्र तत्॥ ५८ ॥
निर्वर्तनीयं पूर्णान्तं बुद्ध्वैवं प्राङ् महामते।
तथा कार्यं शुभो येन मुहूर्तो नावसीदति॥ ५९ ॥

बिम्बे बृहति सति तस्य केवलं प्रासादाभ्यन्तरप्रवेशम्, तत्र रत्नन्यासपूर्वकं पीठे स्थापनम्, यागशालाद्यखिलकर्मणां कर्मबिम्बे कर्तव्यत्वम्, लग्नोदये मूलबिम्ब एव मन्त्रावाहनसन्निरोधम्, मुहूर्तातिक्रमो यथा न संभवेत् तथा बृहत्स्नपनात् पूर्वं कर्तव्यानां पूर्णाहुत्यन्तानां कर्मणां झटित्यनुष्ठानं चाह—प्रासादाभ्यन्तरं तु वेत्यारभ्य मुहूर्तो नावसीदतीत्यन्तम्। आ बृहत्स्नपनात् पूर्वमित्यनेन बृहत्स्नपनस्य मूलबिम्ब एव

कर्तव्यत्वमुक्तं भवति । तथा चोक्तमीश्वरपारमेश्वरायो:—

स्थाप्यमाने बृहद्बिम्बे विशेष: कथ्यते द्विजा:।
पूर्ववत् कर्मशालायां संस्थाप्याकारशुद्धये॥
संस्नाप्य विधिना कृत्वा नयनोन्मीलनं तत: ।
स्नपनं बृहदापाद्य केवलं वा बहूदकै: ॥
स्नानकर्म शिलादीनामीषत् कृत्वा तु सार्चनम् ।
उत्थाप्य मूर्तिपाद्यैस्तु बहुभिस्तु रथस्थितम् ॥
समानीय ततो यत्नात् प्रासादाभ्यन्तरं तु वै ।
यथावद् रत्नविन्यासपूर्वं पीठे निवेश्य च ॥ इति ।

—(ई०सं० १८।७१-७५, पा०सं० १५।१९२-१९५)

शिल्पिशालायां केवलं बहूदकैरेव स्नपने कृते बृहत्स्नपनं प्रासादाभ्यन्तर एव कार्यमिति च ज्ञेयम् ॥ ५५-५९ ॥

यदि बिम्ब बहुत बड़ा हो, तब केवल प्रासाद के भीतर उसका प्रवेश करावे। वहाँ रत्नन्यासपूर्वक पीठ पर स्थापित करे । यज्ञशालादि समस्त कर्म 'कर्म-बिम्ब' पर करे । लग्नोदय होने पर मन्त्रावाहन एवं सन्निरोध मूल बिम्ब पर ही करे । इसका तात्पर्य यह है कि कर्म बिम्ब पर समस्त यज्ञ शालादिकर्म शीघ्रता से कर ले । लग्नोदय (मुहूर्त्त उपस्थित होने पर) शिल्पिशाला में शीघ्रता से बहूदक स्नान कराकर बृहत्स्नपन एवं मन्त्र सन्निरोध प्रासाद के भीतर मूल-बिम्ब पर ही करे । अत: जिस प्रकार मुहूर्त्त का अतिक्रमण न हो, वैसा करे । ऐसा करने से साधक का कल्याण होता है ॥ ५५-५९ ॥

एवं हि चित्रपूर्वाणामन्येषां कमलेक्षण ।
सरत्नब्रह्मपाषाणवर्जितानां समाचरेत् ॥ ६० ॥
स्नानाद्यं कर्मबिम्बे तु तत्समीपेऽथ दर्पणे ।
कर्मबिम्बं विना तेषां प्रस्वापाद्यं हि विष्टरे ॥ ६१ ॥
कुर्यात् प्रवेशपूर्वं तु सर्वमुत्सवपश्चिमम् ।

चित्रबिम्बविषयेऽप्येवमेव कर्मबिम्बे स्नपनाद्यखिलकर्मणामनुष्ठानम्, तस्याभावे दर्पणे छायास्नपनम्, कूर्चद्वारा यागगेहप्रवेशशय्याधिवासोत्सवान्तानां कर्तव्यत्वं चाह— एवं हीति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ६०-६२ ॥

हे कमलेक्षण ! चित्र बिम्ब के विषय में भी यही विधान कहा गया है । कर्म बिम्ब पर स्नपनादि अखिल कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए । यदि उस स्नानादि का अभाव हो तो दर्पण में छाया स्नपन करे । इसके बाद कूर्च द्वारा यागगेह प्रवेश एवं शय्याधिवास और उत्सव करे । कर्मबिम्ब के बिना ही उस विष्टर पर उन्हें पहले सुलावे इस प्रकार प्रवेश से पूर्व समस्त उत्सव सम्पादन करे ॥ ६०-६२ ॥

एवं प्रवेश्य तद्बिम्बं साम्प्रतं विनिवेश्य च ॥ ६२ ॥
निषण्णदृढकाष्ठोत्थतोरणेऽस्त्राहुतीस्ततः ।

एवं यागगेहानयनानन्तरं तत्र दृढकाष्ठोत्थतोरणे सन्निवेशमस्त्रमन्त्रेण होमं चाह—एवमिति । पीठब्रह्मशिलयोः पूर्वमेव तत्रानयनं तदुपरि ब्रह्मस्थापनं कार्यमित्युक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

यागभूमिं ततो बिम्बमवरोप्य रथादिकात् ।
निषण्णदृढकाष्ठोत्थतोरणे सन्निवेश्य च ॥
स्नानभूमौ ततः कुर्यादस्त्रेणाज्यतिलाहुतीः ।
यद्वा पूर्वं समानीय पीठं ब्रह्मशिलान्वितम् ॥
भूमिष्ठे भद्रपीठे तु वेदिकायां निवेश्य च ।
ततो बिम्बं समानीय स्थापयेत् पिण्डिकोपरि ॥ इति ।

—(ई०सं० १८।६८-७१, पार०सं० १५।१८९-१९१) ॥ ६२-६३॥

इसके पश्चात् बिम्ब का प्रवेश कराकर दृढ़ काष्ठ से बने हुए तोरण पर उसे स्थापित करे । फिर अस्त्र मन्त्र से आहुति देवे ॥ ६२-६३ ॥

स्नपनार्थं कलशस्थापनविधिकथनम्

निवेश्य स्नानकलशान् हेमाद्युत्थांस्तु निर्व्रणान् ॥ ६३ ॥
पूर्ववद् वदनोपेतान् सुसमांस्त्रासवर्जितान् ।
निरीक्षणादिसंशुद्धान् कृत्वा सहृदयेन तु ॥ ६४ ॥
द्वादशाक्षरमन्त्रेण मन्त्रयेत् तान् सकृत् सकृत् ।
तेनैव पूजयेत् पश्चादर्घ्यस्त्रक्चन्दनादिना ॥ ६५ ॥
तदाहरणहोमं तु यथाशक्ति समाचरेत् ।
पूर्णान्तमथ सम्पूर्य क्रमाद् द्रव्यैर्नियोजयेत् ॥ ६६ ॥

अथ स्नपनार्थं कलशस्थापनविधिमाह—निवेश्य स्नानकलशानित्यारभ्य वस्त्रेणाच्छाद्य वै तत इत्यन्तम् । पूर्वोदितैर्दीक्षाप्रकरणोक्तैरित्यर्थः । अस्य स्नपनस्य पारमेश्वरेऽप्युक्तत्वात् तद्व्याख्याने पाद्यार्घ्याचमनीयद्रव्याण्युपरि स्पष्टीकरिष्यतीत्युक्तम् । तद्विरुद्धम्, पूर्वोदितैरिति विशेषणस्य वैयर्थ्यात्, तत्रोपरि स्पष्टीकरिष्यमाणपाद्यादिद्रव्याणां वैजात्याच्च । चमसी = मलनिर्हरणार्थकसुगन्धद्रव्यविशेषः । त्रिफलं (नेल्लिक्कायि अरलेकायि तारेकायि । वचा बजे) 'वचोग्रगन्धा' (२।४।१०२) इत्यमरः। शतावरी = आषाढी । कन्या लोलिसरकन्या, कुमारीति निघण्टुः । व्याघ्री गुल्ली सिंही आढुसोगे । कृताञ्जलिः सट्टदकरिकै कृताञ्जलिर्नागबालेति निघण्टुः । गोलोमी पिल्लगरिकै, 'गोलोमी शतवीर्या च' (२।४।१५९) इत्यमरः । ''गोलोमी शतपर्विका'' (२।४।१०२) इति गोलोमीशब्दस्य वचापरत्वमप्यस्ति, वचायाः पूर्वमेवोक्तत्वादत्र श्वेतदूर्वैव प्रकृता । सिंहलोमी नरियाल्दहुल्लु, क्रोष्ठुविन्ना सिंहपुच्छी''

(२।४।९३) इत्यमरः । कुष्ठं चगलकोष्ठ, ''व्याधि कुष्ठं पारिभाव्यम्'' (२।४।१२६) इत्यमरः । भूम्यञ्जनम् । महागरुडवेगा गरुडनगरिगिड्डा । महानीला करिगुरुग, गलूची अमृतवल्ली, गल्लूच्यमृतवल्ली चेति निघण्टुः । सहदेवी प्रसिद्धा । विष्णुक्रान्ता च प्रसिद्धा । शतावरी पूर्वोक्ता । कार्कोटा तोट्टिगिड्डा, हिंस्रा कार्कोटकी चेति निघण्टुः । सिंहा बिल्वः शैलूषश्रीफलसिंहा इति वैद्यनिघण्टुः । वह्निशिखा गिणिमृभिनगड्डे, ''स्याल्लाङ्गलिक्यग्निशिखा'' (२।४।११८) इत्यमरः । यष्टि अतिमधुरम् । वाराहकर्णी, ''अनेलदालु । बला बेण्णेगरुड, ''बला वाट्यालकी घण्टा'' (२।४।१०७) इत्यमरः । मोटा अगलशुण्ठी । पद्मकं प्रसिद्धम् । सप्त ग्राम्यौषधयः शालिमुद्गादयः, सप्तारण्यका वेणुश्यामाकादयश्चेश्वरपारमेश्वरयोर्हविःपाकप्रकरणोक्ता ग्राह्याः । एवं वामभागे स्थापितचत्वारिंशत्कलशस्नपनस्य स्थूलपरसंज्ञत्वम्, पृष्ठभागे स्थापितचत्वारिंशत्संख्याककेवलशीतोदककलशस्नपनस्य स्थूलसूक्ष्मसंज्ञत्वम्, दक्षिणभागे स्थापितगन्धोदकपूरितचत्वारिंशत्कलशस्य स्थूलस्थूलसंज्ञत्वं चेश्वरपारमेश्वरयोः प्रतिपादितम् । एवं देवस्य वामभागादिषु स्नपनत्रयकलशस्थापनं पृथक् स्नपनमण्टपे सति कार्यम्, तदभावे यागगेहस्थतदर्थपीठ एव पूर्वादिपश्चिमान्तं तत्तद्दिने तत्तत्स्नपनकलशस्थापनं कार्यमिति च तत्रैव प्रतिपादितं ज्ञेयम् । तत्तत्स्नपनकालश्च तत्रैवोक्तः—

अधिवासदिने कुर्यात् स्नानं स्थूलपराभिधम् ॥
प्रतिष्ठादिवसे कुर्यात् स्नपनं स्थूलसूक्ष्मकम् ।
चतुर्थे दिवसे स्नानं स्थूलस्थूलाभिधं भवेत् ॥ इति ।

—(ई०सं० १८।१६४-१६५, पा०सं० १५।२८८-२८९)

एषां स्नपनानां सति विभवे विस्तारस्तदभावे संकोचश्च तत्रैव स्नपनाध्याये प्रतिपादितः—

भक्तिश्रद्धावशाच्चापि विभवानुगुणं तु वा ॥
त्रिविधं स्थूलभेदं तु द्विगुणं तु समाचरेत् ।
अनुकल्पे तदर्धं वा पादमष्टांशमेव वा ॥
चतुष्टयं वा कुम्भानां प्रत्येकं वा द्वयं द्वयम् ।
एकैकं वापि विप्रेन्द्राः सर्वद्रव्यमयं घटम् ॥

—(ई०सं० १५।१३८-१४०, पा०सं० १४।१४०-१४२)

इति ॥ ६३-९० ॥

इसके बाद स्वर्णादि विनिर्मित व्रण रहित दीक्षा प्रकरण में कहे गये मुखों से युक्त सर्वत्र एक समान, फूटने-टूटने के भय से वर्जित, अच्छी तरह देखभाल कर, शुद्ध किये गये, सौहार्दपूर्वक बनाये गये कलशों को स्थापित करे । फिर एक-एक कलश को द्वादशाक्षर मन्त्र से अभिमन्त्रित करे । पुनः उसी मन्त्र से अर्घ, माला एवं चन्दन से उनकी पूजा करे । उसके स्थापित करने के मन्त्र से यथाशक्ति होम करे । पूर्णाहुती करे । तदनन्तर उसमें तत्तद् द्रव्य स्थापित करे ॥ ६३-६६ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थद्रव्यैः पूर्वोदितैस्त्रयम् ।
नागाद्याद्यन्तमध्येभ्यो नदीमृत्तीर्थसम्भवा ॥ ६७ ॥
ह्रदाद् वल्मीकशिखराद् गजदन्तक्षतीकृतात् ।
हलोत्था वृषशृङ्गोत्था शालिक्षेत्रेषु सम्भवा ॥ ६८ ॥
तथैव पद्मषण्डोत्था त्वेकस्मिन् गोमयं परे ।
वनदाहसमुद्भूतं तथैव च महानसात् ॥ ६९ ॥
त्रेताग्निभस्म त्वपरे विनिवेश्यं घटान्तरे ।
अन्यस्मिन् पञ्चगव्यं तु कुशोदकसमन्वितम् ॥ ७० ॥

पूर्व में कहे गये पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय द्रव्यों को तीन कलश में स्थापित करे । पहाड़ के आदि, मध्य और अन्त में होने वाली मृत्तिका, नदी की मिट्टी, तीर्थ की मिट्टी, ह्रद (तालाब) की मिट्टी, वल्मीक के शिखर (ऊपरी भाग की मिट्टी), हाथी के दाँत से उखाड़ी गई मिट्टी, हल की मिट्टी, बैल के सींग से उखाड़ी गई मिट्टी, धान के खेत की मिट्टी, कमल की मिट्टी, इतनी मिट्टी एक कलश में स्थापित करे । अन्य कलश में केवल गोमय स्थापित करे । वनदाह का भस्म, रसोई का भस्म और त्रेताग्नि भस्म अन्य घट में स्थापित करे । अन्य कलश में कुशोदक युक्त पञ्चगव्य स्थापित करे ॥ ६७-७० ॥

सघृतं तैलकुम्भं तु चमसीवारिपूरितम् ।
पलाशखदिराश्वत्थशमीलोहितचन्दनम् ॥ ७१ ॥
कषायोदकमन्यस्मिन् परस्मिंस्त्रिफलोदकम् ।
वचा शतावरी कन्या व्याघ्री सिंही कृताञ्जलिः ॥ ७२ ॥
गोलोमी सिंहलोमी च कुष्ठं भूतजटा तथा ।
महागरुडवेगा च कलशेऽन्यत्र लाङ्गलिन् ॥ ७३ ॥

चमसी (मल निकालने वाला सुगन्धित द्रव्य विशेष) के जल से पूर्ण सघृत तैल अन्य कलश में और पलाश, खदिर, अश्वत्थ, शमी, लालचन्दन एवं कषायोदक किसी अन्य कलश में स्थापित करे । इसके बाद त्रिफलोदक युक्त कलश, वचा, शतावरी कन्या, व्याघ्री, सिंही, कृताञ्जलि, गोलोमी, सिंहलोमी, कुष्ठ, भूतजटा तथा महागरुडवेगा, हे लाङ्गलिन् (सङ्कर्षण) किसी अन्य कलश में स्थापित करे ॥ ७१-७३ ॥

महानीला गलूची च सहदेवी शतावरी ।
विष्णुक्रान्ता च कार्कोटा साह्वा वह्निशिखाऽपरे ॥ ७४ ॥

महानीला, गलूची, सहदेवी, शतावरी, विष्णुक्रान्ता, कार्कोटा, साह्वा तथा वह्निशिखा अन्य घट में स्थापित करे ॥ ७४ ॥

यष्टी वाराहकर्णी चाप्यन्यस्मिन् गजपिप्पली ।
श्रीफलाद्यानि चान्यस्मिन् पावनानि फलानि च ॥ ७५ ॥

यष्टी और वाराहकर्णी अन्य कलश में तथा गजपिप्पली, श्रीफलादि एवं पावन फलों को किसी अन्य घट में स्थापित करे ॥ ७५ ॥

दधिक्षीराज्यकुम्भाश्च द्वौ मध्विक्षुरसान्वितौ ।
मूलान्यम्भोरुहाणां च नान्यन्यस्मिन् द्वये न्यसेत् ॥ ७६ ॥
द्रुमाणां पावनानां तु सक्षीराणां विशेषतः ।
पुष्पपत्रफलोपेतमेकस्मिन् मञ्जरीगणम् ॥ ७७ ॥

दधि, दूध तथा घी स्थापित किये जाने वाले तीन कुम्भ, मधु का कुम्भ, इक्षुरस का कुम्भ, कमल का मूल (कवलगट्टा), इन्हें पृथक्-पृथक् दो घड़ों में स्थापित न करे । क्षीर युक्त परम पवित्र वृक्षों का पुष्प, पत्र, फल और उनकी मञ्जरी अन्य कलशों में स्थापित करे ॥ ७६-७७ ॥

जात्यादिकमथैकस्मिन् कौसुमीयं लताचयम् ।
रोचनारजनीयुग्मं बला मोटा च पद्मकम् ॥ ७८ ॥
इति पञ्चकमेकस्मिन् दर्भान् दूर्वाङ्कुराणि च ।
सास्यं शाल्यङ्कुरचयं कलशेऽन्यत्र वै न्यसेत् ॥ ७९ ॥
सिद्धार्थकान् सिताद्यांस्तु प्रियङ्गुं गन्धसंज्ञकम् ।
अपरस्मिन् न्यसेत् कुम्भे सह वै नागकेसरैः ॥ ८० ॥

एक घड़े में फूलने वाले जात्यादि लताओं का समूह स्थापित करे । रोचना, रजनी, बला, मोटा और पद्मक इन पाँचों को किसी एक घड़े में स्थापित करे । कुशा, दूर्वाङ्कुर, सास्य, शालिधान्य का अङ्कुर समूह किसी अन्य कलश में स्थापित करे और सिद्धार्थक, सितादि, प्रियङ्गु, गन्ध इन्हें नागकेसर के साथ किसी अन्य कुम्भ में स्थापित करे ॥ ७८-८० ॥

ग्राम्याश्चौषधयः सप्त सप्तारण्या घटद्वये ।
बाह्लीकं चन्दनं चैव रसं कर्पूरसंयुतम् ॥ ८१ ॥
चतुष्कमेतदपरे त्वन्यस्मिन् धातवः शुभाः ।
ताम्रजाम्बूनदाद्यास्तु परे रत्नचयं महत् ॥ ८२ ॥

सात ग्राम्य औषधियाँ तथा सात अरण्य औषधियाँ दो कलशों में स्थापित करे । वाह्लीक, चन्दन, कपूर, संयुक्त रस इन चारों को किसी अन्य कलश में स्थापित करे । इसी प्रकार ताम्र, सुवर्णादि धातु किसी अन्य कलश में एवं रत्न समूह किसी अन्य घट में स्थापित करे ॥ ८१-८२ ॥

न्यसेद् विद्रुमजालं च द्वयोर्मुक्ताफलानि च।
अर्घ्योदकमथैकस्मिन् नदीतीर्थोदकं द्वये॥ ८३॥

इसी प्रकार एक कलश में विद्रुम जाल तथा दूसरे में मुक्ता फल स्थापित करे। एक कलश में अर्घ्योदक, तथा नदी का जल एवं तीर्थ का जल, दो कलशों में अलग-अलग रखे ॥ ८३ ॥

सर्वौषधिघटं चैव सुशीताम्भोघटं ततः।
सुगन्धपुष्पकलशं चत्वारिंशत् त्वमी स्मृताः ॥ ८४ ॥

एक कलश में सर्वौषधि, एक में सुशीत जल तथा एक कलश में सुगन्ध पुष्प स्थापित करे। यहाँ तक चालीस घटों में स्थापित किये जाने वाले द्रव्यों का विवरण कहा गया ॥ ८४ ॥

वामभागे तु देवस्य अग्निकोणादितो न्यसेत्।
यातुधानपदं यावत् क्रमाद् द्विद्विकसंख्यया॥ ८५ ॥
दशपङ्क्तिनियोगेन एवमन्ये तु पृष्ठतः।
ईशकोणात् समारभ्य यावदाग्नेयगोचरम्॥ ८६ ॥
शीताम्बुपूरितानां च घटानां केवलं न्यसेत्।
पुनरीशानकोणात् तु शयने सप्तधा न्यसेत्॥ ८७ ॥
गन्धोदकेन सम्पूर्णास्तथा वायुपदावधि।
सर्वाण्याधाररूढानि पूरितान्यमलाम्भसा॥ ८८ ॥
मूलमन्त्रेण तदनु पूजयेद् द्वादशात्मना।
संवेष्ट्य च पुरा सूत्रैश्छादयेत् तदनन्तरम्॥ ८९ ॥
विधानैः सूत्रसम्बन्धैर्वस्त्रेणाच्छाद्य वै ततः।

इसी प्रकार देवता के वामभाग में अग्निकोण से लेकर नैर्ऋत्यकोण पर्यन्त क्रमशः दो-दो की संख्या के अनुसार दश पङ्क्ति में कलश स्थापित करे। इसी प्रकार पीछे ईशानकोण से आरम्भ कर आग्नेयकोण तक केवल शीत जल पूरित कलश स्थापित करे। इसी प्रकार शयन स्थान में भी ईशानकोण से लेकर वायव्य कोण तक गन्धोदक से पूर्ण सात कलश स्थापित करे। तदनन्तर स्वच्छ जल से परिपूर्ण आधार पर स्थापित सभी कुम्भों की द्वादशाक्षर मन्त्र से पूजा करे। उन्हें प्रथमतः सूत्र से संवेष्टित करे। फिर वस्त्र से आच्छादित करे ॥ ८५-९० ॥

तदर्पणावसानेऽथ शयनं कल्पयेद् द्विधा॥ ९० ॥
सर्वोपकरणोपेतमनन्तं तदधो यजेत्।
प्रभावाप्ययोगेन तदूर्ध्वे सर्वगं प्रभुम्॥ ९१ ॥

पाठयेत् सर्पसामाथ संज्ञां ज्ञानबलात्मिकाम् ।

अथ नयनोन्मीलनार्थमधिवासार्थं च शयनद्वयकल्पनं तत्रानन्तार्चनादिकं चाह— तदिति द्वाभ्याम् । तदर्पणावसाने कलशपूजानन्तरमित्यर्थः । सर्वोपकरणोपेतमित्यत्र शयनोपकरणानीश्वरपारमेश्वरोक्तानि ग्राह्याणि । प्रभवाप्ययोगेन प्रागादिषु वासुदेव-रूपेणाग्नेयादिषु पुरुषादिरूपेणेत्यर्थः । सर्पसाम = चर्षणीधृतमित्यादि । ज्ञानबला-त्मिकां = सङ्कर्षणो भगवानित्यादिकं मन्त्रम् ॥ ९०-९२ ॥

इस प्रकार पूजा के पश्चात् सर्वोपकरण युक्त दो शयन का निर्माण करे । उसकी सब प्रकार से पूजा करे । तदनन्तर उसके नीचे अनन्त की प्रभव एवं अव्यय क्रम से पूजा करे । उनके ऊपर सर्वत्र गमन करने वाले प्रभु की पूजा करे। ब्राह्मणों से 'चर्षणी धृतमित्यादि सर्पसाम' की तथा 'सङ्कर्षणो भगवान्' इत्यादि ज्ञानबलात्मिका ऋचा का पाठ करावे ॥ ९०-९२ ॥

हुत्वा शताष्टसंख्यं तु मूलं तदनु कल्पयेत् ॥ ९२ ॥
मण्डलं पावनै रागैः सिताद्यैर्माङ्गलीयकैः ।
तदूनाधिकशान्त्यर्थं हुत्वा कुण्डगणं ततः ॥ ९३ ॥
संस्कुर्यात् प्रतिकुण्डस्य निकटे कुम्भमध्यगम् ।
प्रभवाप्ययोगेन चातुरात्म्यं तु संयजेत् ॥ ९४ ॥
हृदादि यद्वा दिक्स्थेषु विदिक्स्थेषु तदस्त्रराट् ।
कृत्वा तदर्थं पूर्णां तु पूर्णात् पूर्णं च पाठयेत् ॥ ९५ ॥
एकायनान् यजुर्मयानाश्रावितमनन्तरम् ।

अथ मूलमन्त्रेणाष्टोत्तरशताहुतिपूर्वकं मण्डललेखनम्, तन्न्यूनातिरिक्तशान्त्यर्थं प्रायश्चित्तहोमम्, प्रागाद्यष्टकुण्डसंस्कारम्, प्रतिकुण्डसमीपं कुम्भस्थापनम्, तेषु प्रभ-वाप्ययक्रमेण वासुदेवाद्यर्चनं यद्वा हृन्मन्त्राद्यर्चनम्, मध्यकुण्डे तदर्थं पूर्णाहुतिम्, एकायनादिभिः पूर्णात्पूर्णपठनं चाह—हुत्वेति चतुर्भिः । आश्रावितमथर्ववेद इति पारमेश्वरव्याख्याने ॥ ९२-९६ ॥

तदनन्तर मूल मन्त्र से १०८ आहुति देकर मण्डल निर्माण करे । उसे पवित्र श्वेत, लाल, पीत आदि रंगों से रञ्जित करे । उसमें होने वाले न्यूनातिरिक्त दोष की शान्ति के लिये प्रायश्चित होम करे । इसके पश्चात् आठ कुण्डों का संस्कार करे । प्रत्येक कुण्ड के समीप कलश स्थापित करे । उन कुम्भों पर सृष्टि एवं संहार क्रम से वासुदेवादि का अर्चन करे, अथवा हृन्मन्त्रादि का अर्चन करे । मध्य कुण्ड में अर्चना पूर्ति के लिये पूर्णाहुति करे । तदनन्तर 'पूर्णमदं पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' का पाठ करावे । इसके बाद 'एकायनान यजुर्मयानाश्रावितम्' का पाठ करावे ॥ ९३-९६ ॥

अथास्त्रमन्त्रेण पुरा माङ्गल्यकलशाम्भसा ॥ ९६ ॥

संसेच्य बिम्बं तदनु स्नापयेत् तन्मृदम्भसा ।
पाठयेत् तत्र कूष्माण्डान् बलमन्त्राननन्तरम् ॥ ९७ ॥

अथ पूर्वं स्थापितस्थूलपराभिधानस्नपनकलशेषु पाद्यादिकतिपयकलशाभिषेकालङ्करणार्चनपूर्वकं नयनोन्मीलनार्थं शयने बिम्बस्य सन्निवेशनमाह—अथेति चतुर्भिः। माङ्गल्यकलशाम्भसा पाद्यार्घ्याचमनाख्यकलशत्रयोदकेनेत्यर्थः । चमसाम्बुना । चमसो नाम तैलनिर्हरणार्थकद्रव्यविशेषः पूर्वमाराधनप्रकरणेऽप्युक्तः—

रजनीचूर्णसंमिश्रमीषत्पद्मकभावितम् ॥
देयमुद्वर्तनार्थं तु चमसं तदनन्तरम् । (६।३३-३४) इति ।

चमषी सुगन्धद्रव्यविशेष इति पारमेश्वरव्याख्याने ॥ ९६-१०० ॥

फिर माङ्गल्य कलश (पाद्यार्घ्याचमनीय कलश) के जल से अस्त्र मन्त्र पढ़ते हुए बिम्ब का सेचन करे । पश्चात् मिट्टी के जल से स्नान करावे । अनन्तर कूष्माण्ड मन्त्र, फिर बल मन्त्र का पाठ करावे ॥ ९६-९७ ॥

ततो गोमयकुम्भेन इह गावः प्रपाठयेत् ।
भूतिस्त्वमिति मन्त्रेण पठ्यमानेन भूतिना ॥ ९८ ॥

फिर गोमय युक्त कलश के जल से गोमय द्वारा स्नान करावे और 'इह गावः' इत्यादि मन्त्र का पाठ करावे । फिर 'भूतिस्त्वम्' इत्यादि मन्त्र से भस्म कलश के जल से स्नान करावे ॥ ९८ ॥

पञ्चगव्येन तदनु पाठयेच्चतुरस्ततः ।
पूर्ववच्च ततोऽभ्यर्च्य विधिवच्चमसाम्बुना ॥ ९९ ॥
क्षालयित्वाऽर्चयित्वा च निवेश्य शयनान्तरे ।
नेत्राभिमन्त्रितां कृत्वा शलाकां तैजसीं स्वयम् ॥ १०० ॥

फिर पञ्चगव्य से स्नान कराकर 'चतुरस्तत' इत्यादि मन्त्र का पाठ करावे । तदनन्तर चमस के जल से (तैलादि द्रव्यों को निकालने वाला द्रव्य विशेष) पूर्ववत् अर्चना करे । फिर प्रक्षालन कर अर्चना के अनन्तर बिम्ब को दूसरे शयन पर स्थापित करे ॥ ९९-१०० ॥

नयनोन्मीलनविधानम्

संस्मरन् परमं ज्योतिरीषन्नेत्रे तु चोल्लिखेत् ।
तन्मन्त्रितेन शस्त्रेण शिल्पी स्नातोऽवलोकितः ॥ १०१ ॥
यथावत् प्रकटीकुर्याद् विधिदृष्टेन कर्मणा ।
वारुणं पाठयेत् साम सह चान्द्रेण सामगान् ॥ १०२ ॥
ततः पात्रद्वये कृत्वा तैजसे मधुसर्पिषी ।

वौषडन्तेन मूलेन सम्पूर्य जुहुयात् ततः ॥ १०३ ॥

अथ नयनोन्मीलनविधानमाह—नेत्राभिमन्त्रितां कृत्वेत्यारभ्य मूर्तिपानां च दक्षिणा इत्यन्तम् । तैजसीं तैजसद्रव्यसंभवामित्यर्थः, सौवर्णीं राजतीं वेति यावत् । अत्रैकयैव शलाकया नेत्रद्वयोल्लेखनमिति ज्ञेयम् । संहितान्तरेषु सुवर्णरजतशलाकाद्वयेन नेत्रद्वयोल्लेखनमुच्यते । अत एवेश्वरपारमेश्वरयोः पक्षद्वयमप्युक्तम्—"आज्याक्तया तया वापि राजत्या वाममुल्लिखेत्" (ई०सं० १८।२०७, पा०सं० १५।३३०) इति । तन्मन्त्रितेन नेत्राभिमन्त्रितेनेत्यर्थः । अवलोकितो नेत्रमन्त्रेण निरीक्षित इत्यर्थः । वारुणं साम 'प्रमित्राय प्रार्यम्ण' इत्यादि । 'चान्द्रं साम चान्द्रं चान्द्रं चान्द्रं चान्द्रम्' इत्यादि । सम्पूर्येत्यत्र नेत्रयुग्ममिति शेषः । तथा चोपबृंहितमीश्वरपारमेश्वरयोः—

पूरयेन्मधुसर्पिर्भ्यां नेत्रयुग्मं क्रमेण तु ॥
वौषडन्तेन मूलेन तेनैव जुहुयात् ततः । इति ।

—(ई०सं० १८।२०९-२१०, पा०सं० १५।३३२-३३३)

अन्ये च बहवो विशेषास्तत्र तत्र प्रतिपादिता ग्राह्याः ॥ १०१-१०६ ॥

तदनन्तर स्वयं तैजसी (सुवर्णमयी) शलाका को नेत्रमन्त्र से अभिमन्त्रित करे। फिर शिल्पी स्नान कर नेत्रमन्त्र से नेत्र अवलोकन करते हुए, नेत्र मन्त्र से अभिमन्त्रित शस्त्र के द्वारा परम ज्योति का स्मरण करते हुए बिम्ब के दोनों नेत्रों पर रेखाकरण करे। इस प्रकार की विधि से दोनों नेत्रों का प्रकटीकरण करे । उस समय सामगान करने वाले ब्राह्मणों से वरुण मन्त्र एवं चान्द्र मन्त्र का पाठ करावे । फिर दो पात्रों में अलग-अलग मधु और घृत पूर्ण कर मूल मन्त्र से हवन करे ॥ १०१-१०३ ॥

मुञ्चन्तममृतौघं तु हृदाद्यन्तेन सेचयेत् ।
तन्मूर्ध्नि शशिबिम्बं तु ध्यायेत् ताडनशान्तये ॥ १०४ ॥
सदक्षिणं शलाकाद्यं दद्याच्छिल्पिजनाय च ।
गोदानमाचरेत् पश्चाद् गुरोराराधकस्ततः ॥ १०५ ॥
यथाशक्ति तथान्येषां मूर्तिपानां च दक्षिणाः ।

फिर नेत्रों से अमृत की वर्षा करने वाले उस बिम्ब को हृदाद्यन्त (नमः) से सिञ्चित करे और ताडन की शान्ति के लिये बिम्ब के शिर पर चन्द्र बिम्ब का ध्यान करे । आराधक भक्त दक्षिणा के सहित शलाका आदि शिल्पी जनों को दे देवे और गुरु को गोदान करे । फिर यथाशक्ति मूर्त्तियों (मूर्त्ति के रक्षकों) को दक्षिणा देवे ॥ १०४-१०६ ॥

दत्त्वा समाचरेत् पश्चाद् दाहं साप्यायनं तु वै ॥ १०६ ॥
आमूर्ध्नो द्वादशार्णं तु मूर्त्यर्थं पूर्ववन्न्यसेत् ।
व्याप्तिसप्तसमायुक्ते संस्कृते प्रोक्षणादिना ॥ १०७ ॥

पीठेऽवतार्य संवेष्ट्य वासोभ्यां चाप्यधोर्ध्वतः।

ततो बिम्बस्य दहनाप्यायनपूर्वकं मूलमन्त्रन्यासमनन्तादिव्याप्तिसप्तान्विते स्नानपीठे संस्थापनं वस्त्राभ्यां संवेष्टनं चाह—दत्वेति द्वाभ्याम् ॥ १०७-१०८ ॥

फिर बिम्ब का दहन एवं आप्यायन करे। फिर मूल मन्त्र से पूर्ववत् मूर्त्यर्थ मूर्धा पर्यन्त न्यास करे और अनन्तादि सप्त व्याप्ति समन्वित कर और स्नानपीठ पर स्थापित कर नीचे से लेकर ऊपर तक दो वस्त्रों से वेष्टित करे ॥१०६-१०८॥

अथ क्रमोदितैः कुम्भैर्द्विषोढावर्तितैर्हृदा ॥ १०८ ॥
स्नापयेत् पाठयेद् विप्रान् ओषधीनामिति श्रुतिम्।
या ओषधय इत्यादि ऋग्वेदांस्तदनन्तरम् ॥ १०९ ॥

अथावशिष्टैः कलशैरभिषेचनक्रमं तच्छिद्रपूरकं होमं चाह—अथ क्रमोदितैः कुम्भैरित्यारभ्य जुहुयात् साधिकं शतमित्यन्तम् ॥ १०८-११६ ॥

फिर अवशिष्ट बारह कुम्भों से स्नपन करावे। ब्राह्मणों से 'ओषधीनाम्' इस श्रुति का पाठ करावे। उसके बाद ऋग्वेदियों से 'या ओषध्यः' इस ऋचा का पाठ करावे ॥ १०८-१०९ ॥

एवं दशावशिष्टान्तैः सेचिते कलशैः सति।
ततः कुम्भचतुष्केण चतुर्भिर्मूर्तिधारकैः ॥ ११० ॥
ऋक्सामपूर्वैर्विधिवत् स्नापनीयं च पाठयेत्।
उदुत्तमं हि ऋग्वेदान् पाठयेद् द्रविणं यजुः ॥ १११ ॥
ततस्तु वारुणं साम सामज्ञोऽथर्वणस्ततः।
अयं ते वरुणश्चेति पवित्रं ते ततो ऋचम् ॥ ११२ ॥
वसोः पवित्रं हि यजुः पाठयेत् सामगांस्ततः।
पवित्रं ते हि यत्साम सञ्चोद्यैकायनांस्ततः ॥ ११३ ॥

फिर शेष दश कलशों से स्नान करावे। तदनन्तर चार मूर्त्ति धारकों से चार कलशों द्वारा स्नान करावे और उनसे ऋक् एवं साम में आये हुए स्नान मन्त्रों का पाठ करावे। ऋग्वेदी से ऋग्वेद के 'उदुत्तमं' मन्त्र का, यजुर्वेदी से यजुर्वेद के 'द्रविणम्' मन्त्र का, फिर सामवेदी से सामवेद के 'वारुणं' मन्त्र का, अथर्ववेदी से 'अयं ते वरुणश्चेति पवित्रं ते' इत्यादि ऋचाओं का पाठ करावे। फिर 'वसो पवित्रं हि' इस यजुर्वेद मन्त्र का, 'सामग पवित्रं ते हि यत्साम' इस साम मन्त्र का, पाठ करावे ॥ ११०-११३ ॥

मूर्तिपान् समुदायेन पावमानीचतुष्टयम्।
तदन्ते तु परं मन्त्रं व्यूहीयं भगवानिति ॥ ११४ ॥

पवित्रमन्त्रं तदनु इदं विष्णुर्विचक्रमे ।
ततो विभवमन्त्रैस्तु सर्वैः संमन्त्रितेन च ॥ ११५ ॥

समस्त मूर्त्तियों के द्वारा पावमानी चतुष्टय का पाठ करावे । इन सबके अन्त में श्रेष्ठ पवित्र 'व्यूहीय मन्त्र' 'भगवानिति' का पाठ करावे । इसके बाद पवित्र मन्त्र 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' का तथा इसके बाद सभी एक में मिलकर विभव मन्त्र का पाठ करे ॥ ११४-११५ ॥

कुम्भेन सेचयित्वा तु व्यूहमन्त्रैः परेण तु ।
स्नापयित्वाऽर्चयित्वा तु जुहुयात् साधिकं शतम् ॥ ११६ ॥

तदनन्तर अन्य कलश से व्यूह मन्त्र द्वारा स्नान कराकर अर्चन करे । फिर एक सौ आठ आहुति प्रदान करे ॥ ११६ ॥

यथावत् प्रणवेनाथ व्याप्तिं कृत्वा च पाठयेत् ।
मा प्रकामेति ऋग्वेदानाग्नेनायुर्यजुर्मयान् ॥ ११७ ॥
प्राणापानं हि यत्साम ततः प्राणाय वै नमः ।
यातव्येति परं मन्त्रं विप्रानेकायनांस्ततः ॥ ११८ ॥

अथ प्रणवेन बिम्बे भगवद्व्याप्तिस्मरणपूर्वकमृगादिचतुर्वेदेष्वेकायने च प्राण-प्रतिष्ठामन्त्रपाठनमाह—यथावदिति द्वाभ्याम् ॥ ११७-११८ ॥

तदनन्तर प्रणव (ॐ) मन्त्र से भगवान् की व्याप्ति का स्मरणपूर्वक 'मा प्रकाम' ऋगादि और 'अग्नेनायुः' आदि यजुः तथा 'प्राणापानं हि यत्' आदि साम एवं 'यातव्य' आदि चारो वेदों में तथा एकायन में आये हुए मन्त्रों द्वारा बिम्ब में प्राण-प्रतिष्ठा करे ॥ ११७-११८ ॥

ध्यानयुक्तो धिया सम्यक् पठेदाराधकस्ततः ।
ॐ आवाहयाम्यमरवृन्दनताङ्घ्रियुग्मं
लक्ष्मीपतिं भुवनकारणमप्रमेयम् ।
आद्यं सनातनतनुं प्रणवासनस्थं
पूर्णेन्दुभास्करहुताशसहस्ररूपम् ॥ ११९ ॥

ततस्त्वावाहनश्लोकचतुष्टयं स्वयं पठेदिति । तच्चाह—
ध्यानेत्यादिभिः ॥ ११९-१२२ ॥

फिर आराधना करने वाला यजमान आवाहन के इन चार श्लोकों का (ॐ आवाहयामि............मदनुग्रहकाम्ययाद्य पर्यन्त) स्वयं पाठ करे ।

अर्थ इस प्रकार है—जो लक्ष्मीपति समस्त भुवनों के कारण अप्रमेय आद्य

सनातन शरीर वाले हैं, जो प्रणवासन पर संस्थित है, सहस्त्रों चन्द्रमा, सहस्त्रों सूर्य तथा सहस्त्रों अग्नियों के समान जाज्वल्यमान स्वरूप वाले हैं, जिनके चरणों में समस्त अमर वृन्द नमस्कार करते हैं, हम उन परमात्मा का इस मूर्त्ति में आवाहन करते हैं ॥ ११९ ॥

ध्येयं परं सकलवेदविदां च वेद्यं
वाराहकापिलनृकेसरिसौम्यमूर्तिम् ।
श्रीवत्सकौस्तुभमहामणिभूषिताङ्गं
कौमोदकीकमलशङ्खरथाङ्गहस्तम् ॥ १२० ॥

समस्त वेदविदों से वेद्य, वाराह, कपिल तथा नृसिंह के समान सौम्य मूर्त्ति धारण करने वाले, श्रीवत्स, कौस्तुभादि महामणियों से विभूषित अङ्ग वाले तथा कौमोदकी (गदा), कमल, शङ्ख और चक्र हाथ में लिये हुये उन परमाराधनीय देवाधिदेव का मैं इस बिम्ब में आवाहन करता हूँ ॥ १२० ॥

सर्वत्रगोऽसि भगवन् किल यद्यपित्वा-
मावाहयामि हि यथा व्यजनेन वायुम् ।
गूढो यथैव दहनो मथनादुपैति
आवाहितोऽपि हि तथा त्वमुपैषि चाऽर्चाम् ॥ १२१ ॥

हे भगवन् ! यद्यपि आप सर्वज्ञ हैं, आपको आवाहन की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी जैसे व्यजन (पङ्खा) से वायु का आवाहन किया जाता है उसी प्रकार मैं आप का आवाहन करता हूँ । जिस प्रकार काष्ठ में रहने वाली अग्नि मन्थन से उत्पन्न होती है उसी प्रकार आप आवाहन से प्रकट होकर अर्चा ग्रहण करते हैं ॥ १२१ ॥

मालाधराच्युत विभो परमात्ममूर्ते
सर्वत्र नाथ परमेश्वर सर्वशक्ते ।
आगच्छ मे कुरु दयां प्रतिमां भजस्व
पूजां गृहाण मदनुग्रहकाम्ययाऽद्य ॥ १२२ ॥

हे मालाधर !, अच्युत !, विभो !, परमात्ममूर्त्ते !, हे सर्वत्र !, हे नाथ !, हे परमेश्वर !, हे सर्वशक्ते ! आप आइये और मेरे ऊपर दया कीजिये । इस प्रतिमा में निवास कीजिये और मुझ पर अनुग्रह करने की कामना से मेरी पूजा ग्रहण कीजिये ॥ १२२ ॥

ततो विमृज्य वस्त्रेण भोगैः पूर्वोदितैर्यजेत् ।
अर्घ्याद्यैर्दक्षिणान्तैस्तु पाठयेद् ऋङ्मयांस्ततः ॥ १२३ ॥

एवमावाहनानन्तरं बिम्बसंमार्जनमर्घ्याद्यभ्यर्चनम्, अर्चामि त इत्यादिमन्त्रपठनम्, मध्यकुण्डे दिक्कुण्डेषु च हवनम्, जितन्तास्तोत्रपूर्वकं गायत्ररथन्तरसामपठनम्, जपमुद्राप्रणामविज्ञापनानि ब्रह्मरथोपरि भगवदुत्सवं शय्याधिवासं लाञ्छनन्यासं दामोदरादीनां महिमादितच्छक्तीनां विशाखयूपबीजस्य तत्तन्मूर्तिबीजस्य प्रणवस्य वा मूलमन्त्रस्य च पादादिमूर्धान्तं संहारक्रमेण न्यासम्, निस्तरङ्गार्णववत् सुशान्तत्वेन भगवद्ध्यानमुपसंहारप्रतिपादकानां विद्यां गदामित्यादिमन्त्राणां पाठनम्, बिम्बविन्यस्तैर्मन्त्रैः प्रत्येकं शतसंख्यया होमं पूर्णाहुतिं पुनः सर्वशक्तिमयेन स्वभावेन भगवतोऽभ्युदितत्वचिन्तनम्, बिम्बहृत्पद्मे षट्शक्तिकरणोपेतमूलमन्त्रस्मरणम्, नृसिंहकल्पोक्तरीत्या पाञ्चभौतिकतनूपसंहारचिन्तनम्, अमलमन्त्रमयमूर्त्युत्पत्तिचिन्तनम्, तद्वाचकानां सहस्रशीर्षं देवमित्यादिमन्त्राणां पाठनम्, औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकैर्भोगैर्यथाविधि शयनस्थभगवदर्चनम्, मध्यकुण्डे दिक्कुण्डेषु च समित्सप्तकादिभिर्भगवत्सन्तर्पणम्, स्वस्वमूर्तिकुम्भोदकैर्बिम्बसेचनम्, पुनराज्यादिभिः सपरिवारमन्त्रनाथसन्तर्पणम्, पूर्णाहुतिम्, घृतादिचतुर्द्रव्येष्वेकैकेन तत्तदङ्गस्पर्शपूर्वकं हृन्मन्त्रेणाहुतिद्विषट्कात्मकं होमं चाह—ततो विमृज्य वस्त्रेणेत्यारभ्य स्पृष्ट्वा देहं तु चाखिलमित्यन्तम् ॥ १२३-१६७ ॥

फिर वस्त्र से बिम्ब को पोंछ कर सब प्रकार के भोगों से अर्चना करे । ऋग्वेद के अर्घ्यादि से आरम्भ कर दक्षिणान्त मन्त्रों का पाठ करावे ॥ १२३ ॥

अर्चामि तेति वै मन्त्रं साम यच्चार्चितस्त्विति ।
भगवानिति तज्ज्ञांस्तु ततः सन्तर्पितेऽनले ॥ १२४ ॥
स्तुत्वा जितन्तमन्त्रेण सामज्ञान् पाठयेत् पुनः ।
सह गायत्रसाम्ना तु तद्रथन्तरसंज्ञितम् ॥ १२५ ॥

'अर्चामि ते' इस मन्त्र का तथा 'याच्चार्चितास्त्विति' और 'भगवानिति' इत्यादि मन्त्र का पाठ करावे । फिर मध्य कुण्ड में तथा दिक् कुण्ड में होम करे । फिर 'जितन्तास्तोत्रपूर्वक गायत्ररथन्तर' साम का पठन करे ॥ १२४-१२५ ॥

प्रजप्य द्वादशार्णं तु मुद्रां बद्ध्वा प्रणम्य च ।
अष्टाङ्गेनाथ विज्ञाप्यो भगवान् भूतभावनः ॥ १२६ ॥
मूर्तिभूतेन रूपेण अनेनैव हि साम्प्रतम् ।
लोकानज्ञाततत्त्वांस्तु समाह्लादय नागरान् ॥ १२७ ॥
येनान्तःसम्प्रविष्टेन ईषत्कालवशात् तु वै ।
जन्मान्तरसहस्रोत्थान्मोक्षमायान्ति किल्बिषात् ॥ १२८ ॥
एवमर्थ्यो हि भगवांल्लोकानुग्रहकृत् प्रभुः ।
करावङ्घ्रिगतौ कृत्वा पाठयेद् ऋङ्मयांस्ततः ॥ १२९ ॥
उत्तिष्ठेति ऋचो मन्त्रं कृत्वा ब्रह्मरथे स्थिरे ।
सुयन्त्रिते च क्षीराज्ये दध्योदनसमन्विते ॥ १३० ॥

दुर्भिक्षक्षामशान्त्यर्थं परमान्नफलैर्युते ।
पाठयेदस्यवामीयम् ऋङ्मयांस्तदनन्तरम् ॥ १३१ ॥
तन्मयान् बलमन्त्रं तु दशार्धेति महामते ।
स्वयमाद्यन्तसंरुद्धं हृदा तु कवचं जपेत् ॥ १३२ ॥

द्वादशाक्षर मन्त्र का जप कर मुद्रा बनाकर प्रणाम करे । फिर समस्त प्राणियों में रहने वाले भगवान् से साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुये इस प्रकार प्रार्थना करे—हे भगवन्! आप यही मूर्त्ति धारण कर संप्रति अतत्त्वज्ञ नागर जनों को समाह्लादित कीजिये । जिस आप के स्वरूप के अन्तःकरण में प्रवेश मात्र से स्वल्प काल में ही मनुष्य अपने सहस्र जन्मों में किये गये पापों से मुक्त हो जाता है । लोक पर अनुग्रह करने वाले भगवान् से मात्र इतनी ही प्रार्थना करे । फिर अपना दोनों हाथ भगवान् के चरणों में स्थापित कर ऋङ्मय मन्त्रों का पाठ करावे । फिर सुयन्त्रित दूध, घी, दही और ओदन से युक्त स्थिर दुर्भिक्ष बुभुक्षादि की शान्ति के लिये खीर तथा फलों से संयुक्त स्थिर ब्रह्मरथ पर भगवान् को 'उत्तिष्ठ' इस मन्त्र से पधरावे । ऋङ्मय मन्त्रों का तथा पाँच बल मन्त्रों का पाठ करावे और स्वयं कवच का पाठ करे ॥ १२६-१३२ ॥

भ्रामयेद् बलिदानं तु क्रियमाणं तु सर्वदिक् ।
रत्नकाञ्चनवस्त्राणां पूर्ववत् क्षेपमाचरेत् ॥ १३३ ॥
दिव्याद्यायतनानां च कार्या पूजा यथोदिता ।
पञ्चरात्रविदां चैव यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥ १३४ ॥
षट्कर्मनिरतानां च दानं दीनजनेष्वपि ।
रथस्थे मन्त्रबिम्बे तु यावत् पदशतं व्रजेत् ॥ १३५ ॥
स रथस्तूर्यघोषेण तावत् क्रतुफलं बहु ।
आप्नोत्याराधकः शश्वत् सकामो नियतव्रतः ॥ १३६ ॥

तदनन्तर किये जाने वाले बलिदान को सभी दिशाओं में घुमावे । रत्न, काञ्चन और वस्त्रों को लुटावे । शास्त्र पद्धति के अनुसार दिव्यादि आयतनों की पूजा करे । पञ्चरात्र वेत्ताओं को, यतियों को, ब्रह्मचारियों को, षट्कर्म में निरत लोगों को एवं दीन जनों को दान देवे । रथ पर स्थित मन्त्र बिम्ब को स्थापित कर जब तक एक सौ पग चले, उसे उतने ही दूरी में, उस रथ के तुर्य घोष से नियत व्रतवाला सकामी आराधक अनेक यज्ञों का फल प्राप्त करता है ॥ १३३-१३६ ॥

ततस्तोरणदेशस्थं रथं कृत्वाऽर्चयेत् प्रभुम् ।
पाद्यार्घ्यपुष्पधूपैस्तु नमस्कृत्य च पाठयेत् ॥ १३७ ॥
उत्तिष्ठेति द्विषट्कार्णं सजितन्तं तु चाखिलम् ।

सम्पठन् पौरुषं सूक्तं यागवेश्म प्रवेशयेत्॥ १३८ ॥

फिर तोरण स्थान पर रथ स्थिर कर प्रभु की पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, धूप से अर्चना करे, नमस्कार करने के बाद 'उत्तिष्ठ' इस द्वादश अक्षर का मन्त्र तथा समस्त जितन्त स्तोत्र का एवं पुरुष सूक्त का पाठ करते हुये यागगृह में भगवान् का प्रवेश करावे ॥ १३७-१३८ ॥

हृदा शयनगं कृत्वा यात्राहोमं समापयेत्।
ततस्तच्छिरसो देशे चक्राधारस्थिते घटे॥ १३९ ॥
पूर्वोक्तलक्षणे नेत्रमस्त्रसम्पुटितं जपेत्।
पूजयित्वाऽर्घ्यपुष्पाद्यैः शयनस्थं च वै पुनः॥ १४० ॥
वर्मणाऽऽच्छाद्य वस्त्रेण ततोऽङ्घ्रिनिकटे विभोः।
स्थित्वा लाञ्छनमन्त्रांस्तु यथास्थानगतान् न्यसेत्॥ १४१ ॥

हृदय में शयन स्थित भगवान् का स्मरण करते हुये यात्रा होम समाप्त करे। फिर भगवान् के शिरःप्रदेश में चक्राधार पर स्थित घट की अस्त्र सम्पुटित नेत्र मन्त्र द्वारा पूजा करे। फिर दूसरी बार शयनस्थ भगवान् की अर्घ्य पुष्पादि द्वारा पूजन करे। वस्त्र से कवच मन्त्र द्वारा आच्छादन करे। पुनः रथोत्सव इस प्रकार शय्याधिवासन के बाद भगवान् के सन्निकट स्थित होकर उनके शरीर में यथा स्थान स्थित लाञ्छन मन्त्रों से न्यास करे ॥ १३९-१४१ ॥

पादाद् वै द्वादशाङ्गेषु ततो दामोदरादिकान्।
तच्छक्तिकांस्तथा मन्त्रान् भास्वद्व्यापकलक्षणान्॥ १४२ ॥
ऐश्वरेणाथ बीजेन यथावस्थेन भावयेत्।
पादादितन्मयेनैव तद्वन्मन्त्रवरेण तु॥ १४३ ॥

लाञ्छन मन्त्र के न्यास के बाद दामोदरादि का, महिमादि तच्छक्तियों का, विशाखयूप बीज का, तत्तन्मूर्त्ति बीजों का, प्रणव का तथा मूल मन्त्र का पादादि मूर्धान्त संहार क्रम से न्यास करे ॥ १४२-१४३ ॥

प्राग्वदप्ययययुक्तया तु अन्तर्ज्योतिर्मयात्मना।
विभुना वाक्स्वरूपेण तदेवाथ परं पदम्॥ १४४ ॥
सुशान्तं सर्वगं बुद्ध्वा निस्तरङ्गमिवोदधिम्।
विद्यां गदामित्याद्यं यत् पाठयेत् पाञ्चरात्रिकान्॥ १४५ ॥
देहसान्न्यासिकं मन्त्रं धारणाख्यमनन्तरम्।
जीमूतस्येति ऋग्वेदान्नासदासीच्च पाठयेत्॥ १४६ ॥
क्रमेणानेन हुत्वा तु पादार्धशतसंख्यया।

तिलानां तु तथाज्यस्य मन्त्रैरेभिर्महामते ॥ १४७ ॥
दत्वा पूर्णाहुतिं सम्यगुपसंहारलक्षणाम् ।
ततस्तत्परमं ब्रह्माऽभ्युदितं पूर्ववत् स्मरेत् ॥ १४८ ॥

भगवान् अन्तर्ज्योतिर्मय है, विभु है, वाक् स्वरूप है, वही परं पद है, वही सुशान्त और सर्वगामी हैं, वही निस्तरङ्ग समुद्र के समान सुशान्त हैं, ऐसा समझ कर उनका ध्यान करे । फिर उपसंहार प्रतिपादक, विद्या स्वरूपा गदा इत्यादि मन्त्रों का पाठ करावे । फिर बिम्ब पर विन्यस्त मन्त्रों द्वारा एक-एक मन्त्र से सौ-सौ की संख्या में होम, तदनन्तर पूर्णाहुती करे । पुनः सर्वशक्तिमान् स्वभाव होने के कारण भगवान् के अभ्युदितत्व का पूर्ववत् चिन्तन करे ॥ १४४-१४८ ॥

सर्वशक्तिमयेनैव स्वभावेन स्वकेन तु ।
ओजोबलात्मना यद्वद् गन्धद्रव्यात्मना तु वै ॥ १४९ ॥
बीजं तरुस्वरूपेण समुद्रो बुद्बुदात्मना ।
एवमव्यपदेश्यायाः शक्तेः स्वे शक्तिदर्पणे ॥ १५० ॥
स्थितिमादाय विश्वेशः स्वातन्त्र्याच्च महामते ।
मन्त्ररूपां तनुं धत्ते सम्यगाराधनाय च ॥ १५१ ॥

जिस प्रकार बीज सर्वशक्तिमय अपने स्वभाव के कारण, अपने ओज और बल के कारण एवं गन्धद्रव्यमय होने के कारण वृक्ष स्वरूप हो जाता है । जिस प्रकार बूँद-बूँद से समुद्र बन जाता है, उसी प्रकार भगवान् अपने शक्ति रूप दर्पण में अपनी अव्यपदेश्य शक्ति की स्थिति को लेकर स्वतन्त्र होने के कारण जीवों की आराधना के लिये मन्त्र स्वरूप शरीर धारण करते हैं ॥ १४९-१५१ ॥

नानात्वमुपयातस्य प्रसरं तस्य च स्वयम् ।
निष्प्रभत्वं प्रयातस्य चिद्बीजनिचयस्य च ॥ १५२ ॥
आविष्कृतस्य भेदेनाप्यमूर्तेन बलीयसा ।
अज्ञानगहनेनैव नित्यानित्यमयात्मना ॥ १५३ ॥
स्मृत्वैवं मूलमन्त्रं तु बिम्बहृत्पद्मगं स्मरेत् ।
षट्शक्तिकिरणोपेतैस्तैस्तद्द्रव्यमयीं तनुम् ॥ १५४ ॥
संस्मरेत् संहरन्तं च प्रागुक्तेनैव वर्त्मना ।
स्वरूपममलं भूयः स्मरेन्मूर्त्यात्मना ततः ॥ १५५ ॥
नयन्तं पूर्वविधिना एवं स परमेश्वरः ।
मन्त्रात्मना स्वतन्त्रत्वमुपयातो यदा तदा ॥ १५६ ॥
सहस्रशिरसं देवमित्यथर्वास्तु चोदयेत् ।

पाठयेद् ब्राह्मणान् धातर्यध्यक्षेति च मन्त्रराट् ॥ १५७ ॥
यो विश्वतश्चक्षुरिति ध्यातव्यो भवतीति च ।
द्वा सुपर्णेति तदनु अतो देवेति वै पुनः ॥ १५८ ॥
ऋङ्मयान् पौरुषं सूक्तं ततः परतमा त्विति ।
ततोऽर्चयित्वा मन्त्रेशं शयने बिम्बवृत्तिगम् ॥ १५९ ॥
नित्यसन्निधिसिद्ध्यर्थमा समाप्तिं तु मण्डले ।
संरोध्य सन्निधीकृत्य महता विभवेन तु ॥ १६० ॥

अनेकत्व होने के कारण उस मन्त्र का प्रसार अपने आप हो जाता है । वही चिद् बीज निचय नित्यानित्यमय होने के कारण, गहन अज्ञान के कारण, अमूर्त्त बलवान् भेद के कारण, कभी निष्प्रभ हो जाता है । इस प्रकार बिम्ब के हृत्पद्म में ज्ञानादि षट् शक्ति युक्त मूल मन्त्र का स्मरण करे । फिर नृसिंह कल्पोक्त रीति से पाञ्चभौतिक शरीर के उपसंहार का चिन्तन करे । अमल मन्त्रमय मूर्त्ति की उत्पत्ति का ध्यान करे । जब वह अमल मूर्त्ति भगवान् मन्त्र रूप से सर्वथा स्वतन्त्र है तब उनके वाचक मन्त्र 'सहस्र शिरसं देवम्' इस मन्त्र का पाठ करने के लिये अथर्ववेदी को प्रेरित करे । 'धातर्यध्यक्षेति' मन्त्र का पाठ करने के लिये ब्राह्मणों को प्रेरित करे । इसी प्रकार 'यो विश्व तश्चक्षुः' इस मन्त्र का स्वयं ध्यान करे । इसके बाद 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र का, पुनः 'अतो देवेति' मन्त्र का, पुनः ऋग्वेद के मन्त्रों का, फिर पुरुष सूक्त का पाठ करे । फिर शयन पर बिम्ब रूप धारण किये हुये मन्त्रेश का अर्चन करे । उनकी नित्य सन्निधि की सिद्धि के लिये समाप्ति पर्यन्त मण्डल में ही महान् विभव से उनका संरोधन करे, सन्निधान करे ॥ १४९-१६० ॥

साङ्गं सन्तर्प्य विधिवत् सह मूर्तिधरैस्ततः ।
स्वमूर्तिकुम्भान्मन्त्रेण जलमुद्धृत्य भाजने ॥ १६१ ॥
बिम्बमूर्ध्नि क्रमाद् देयं सर्वैरेकायनादिकैः ।
सन्तर्पयित्वा तदनु मन्त्रं सपरिवारकम् ॥ १६२ ॥
आज्यादिना प्रभूतेन दत्वा पूर्णाहुतिं ततः ।
बिम्बात्मना प्रयातानां क्ष्मादीनामङ्गरूपिणाम् ॥ १६३ ॥
आपादानेऽपि पूर्णत्वात् पिण्डीभावार्थमेव च ।
आरम्भादेव जातानां छिद्राणां शमने तु वै ॥ १६४ ॥
आप्यायनार्थं मन्त्राणां द्रव्यैर्होमं समाचरेत् ।
द्विषट्केणाहुतीनां तु एकैकेन चतुर्द्दश ॥ १६५ ॥
आ चाङ्घ्रेर्जानुपर्यन्तं स्पृष्ट्वाज्यं होमयेत् पुरा ।
आ नाभिजानुदेशाच्च तथैव जुहुयाद् दधि ॥ १६६ ॥

नाभेराकर्णतः क्षीरमा कर्णादा शिरो मधु।
संमेल्य जुहुयात् सर्वं स्पृष्ट्वा देहं तु चाखिलम्॥ १६७ ॥

मध्य कुण्ड में तथा दिक् कुण्ड में सात समिधाओं के द्वारा भगवान् का सन्तर्पण करे। अपनी-अपनी मूर्त्ति के समीप स्थापित कुम्भों से बिम्ब का सेचन करे। फिर आज्यादि से सपरिवार मन्त्रनाथ का सन्तर्पण करे। फिर प्रभूत घृतादि से पूर्णाहुति करे। बिम्ब रूप से प्रगट होने वाले क्ष्मादि अङ्ग रूप वाले भगवान् के पाद पर्यन्त पूर्ण होने पर भी पिण्डीभाव के लिये और आरम्भ से ही होने वाले छिद्रों की शान्ति के लिये तथा मन्त्रों के आप्यायन के लिये द्रव्य से होम करे। चार द्रव्यों में एक-एक द्रव्य से बारह आहुति इस प्रकार देवे। भगवान् के पैर से लेकर जानु पर्यन्त शरीर का भाग स्पर्श कर घी की बारह आहुति देवे। जानु से लेकर नाभि पर्यन्त शरीर का भाग स्पर्श कर बारह आहुति दधि से देवे। नाभि से लेकर कर्ण तक शरीर का भाग स्पर्श कर दूध की बारह आहुति देवे। फिर कर्ण से लेकर शिर पर्यन्त शरीर का स्पर्श कर बारह आहुति मधु से देवे तथा सभी चारो द्रव्यों को मिला कर सभी अङ्ग का स्पर्श कर बारह आहुति प्रदान करे॥ १६१-१६७ ॥

संस्कृत्य बिम्बवत् पीठं भिन्नं ब्रह्मशिला तथा।
प्राणाभिमानदेवं वा यस्य यो विहितस्तु वै॥ १६८ ॥

अथ पीठब्रह्मशिलयोः संस्कारानाह—संस्कृत्य बिम्बवत् पीठमित्यारभ्य प्रणवान्तेन लाङ्गलिन्नित्यन्तम्। पीठब्रह्मशिलयोरपि भवद्बिम्बत्वाकारेणैव स्मरणमेकः पक्षः, तत्तत्पीठाभिमानदेवत्वेन स्मरणमन्यः पक्षः। पीठाभिमानदेवश्चानन्तकूर्ममीनेष्वन्यतमः, तत्त्रयं वा। यस्य यो विहितः "अष्टलोहमयं चक्रम्" (२५।२०५) इत्यादिभिर्वक्ष्यमाण इत्यर्थः। पारमेश्वरव्याख्याने तु—"प्राणाभिमानदेवमनन्तम्" इति केवलमनन्तं प्रतिपादितम्। तन्मन्दम्, यस्य यो विहित इति वाक्यविरोधात्॥ १६८-१७२ ॥

अब **पीठ एवं ब्रह्म शिला का संस्कार** कहते हैं—पीठ तथा उससे भिन्न ब्रह्म शिला का बिम्ब के समान ही संस्कार करे। कोई-कोई पीठ और ब्रह्म शिला दोनों को भगवद् बिम्बाकार मानते हैं यह प्रथम पक्ष है। कोई-कोई तत्तपीठाभिमानी देवता मानते हैं यह दूसरा पक्ष है, ये पीठाभिमानी देवता अनन्त, कूर्म एवं मीन में से कोई एक है, अथवा तीनों है, अथवा कोई इन्हें प्राणाभिमानी देवता मानते हैं। इस विषय में जिसका जैसा विचार हो, वह उसी रूप में उनका स्मरण कर पूजन करे॥ १६८ ॥

वेष्टयित्वाऽम्बरैश्चित्रैश्चक्रमन्त्रेण वै ततः।
कार्यो ब्रह्मशिलाहोमः शताष्टाधिकसंख्यया॥ १६९ ॥

सर्वप्रथम चित्र वर्ण के वस्त्रों से चक्र मन्त्र द्वारा उनको वेष्टित करे तदनन्तर एक सौ आठ मन्त्रों से ब्रह्म शिला होम करे॥ १६९ ॥

गायत्रीभिस्तदर्थं च बह्वृचाद्यैः पृथक् पृथक् ।
अजस्य नाभावित्यादिमन्त्रैरेकायनैस्ततः ॥ १७० ॥
अध्वाऽधिभूतमूर्तं तु भोग्यं वापि पृथक् स्थितम् ।
देवतानां त्वधिष्ठानं पीठं कृत्वाऽथ बुद्धिगम् ॥ १७१ ॥

फिर साधक को गायत्री मन्त्र से तत्पश्चात् बह्वृचा आदि के मन्त्रों से पृथक्-पृथक् होम करना चाहिए ॥ १७०-१७१ ॥

होतव्यं प्रणवेनैव स्वयं व्याहृतिभिस्तु तैः ।
अपरैर्मूलमन्त्रेण प्रणवान्तेन लाङ्गलिन् ॥ १७२ ॥

इसके बाद 'अजस्य नाभौ' इत्यादि मन्त्रों से पृथक्-पृथक् होम करे । हे लाङ्गलिन् ! व्याहृति युक्त प्रणव से होम करे अथवा प्रणव लगाकर मूल मन्त्र से होम करे ॥ १७२ ॥

ततो वाहनमन्त्रेण तर्पणीयः सदैव हि ।
स्वनाम्ना प्रणवेनैव स्वाहान्तेनापरैस्ततः ॥ १७३ ॥

ततो गरुडमन्त्रेण परिवारमन्त्रैश्च होममाह—तत इति । पारमेश्वरपुस्तकेषु केषुचित् "ततो हवनमन्त्रेण" (१५।१५४) इत्यबद्धपाठो दृश्यते, तद्व्याख्यानेऽपि हवनमन्त्रेण स्वाहान्तमन्त्रेणेत्यबद्धपाठ एवं व्याख्यातः । अपरैः परिवारमन्त्रैरित्यर्थः ॥ १७३ ॥

अब गरुड़ मन्त्र से तथा परिवार मन्त्र से तर्पण कहते हैं—इसके बाद वाहन मन्त्र, गरुड़ मन्त्र से तर्पण करे । कोई कहते हैं प्रणव, फिर चतुर्थ्यन्त नाम, फिर अन्त में स्वाहा शब्द से तर्पण करे ॥ १७३ ॥

संरोधस्तर्पितानां तु कार्यः पूर्णान्त एव हि ।
साम्भसा विष्टरेणैव भावेन सजपेन च ॥ १७४ ॥
सर्वेश्वरस्य देवस्य स्वकीयासु च मूर्तिषु ।
शब्दात्मिकास्वमूर्तासु तद्वच्छ्रुतिमयस्य च ॥ १७५ ॥

एवमेतावदन्तं समर्पितानां सर्वेषामपि परिवारदेवानां सर्वेश्वरस्य भगवतश्च प्रतिष्ठानन्तरभाविपूर्णाहुत्यन्तसन्निरोधमाह—सन्निरोध इति द्वाभ्याम् । साम्भसा = विष्टरेण कूर्चगतार्घ्येणेत्यर्थः ।

आवाहने सन्निधाने सन्निरोधे तथार्चने ॥
विसर्जनेऽर्घ्यपात्रं तु प्राक् पात्रान्नित्यमाचरेत् । (१८।७१-७२)

इति सन्निरोधेऽप्यर्घ्यदानस्य पूर्वोक्तत्वात् । भावेन ध्यानेनेत्यर्थः । सर्वैः स्वकस्य देवस्येति पाठ एव सरसः । यतः सर्वैराचार्यऋत्विग्भिः स्वकस्य देवस्य प्रागादिस्व-

कुण्डस्थितदेवस्य स्वकीयासु मूर्तिषु वासुदेवसङ्कर्षणादिमूर्तिषु तद्वच्छ्रुतिमयस्य चतुर्वेद-स्वरूपस्य विदिक्कुण्डसन्तर्पितस्य भगवतश्च शब्दात्मिकासु ऋग्यजुःसामाथर्वरूपेण चतुर्धा स्थितासु अमूर्तासु शब्दमूर्तिषु च सन्निरोधः कार्य इत्यर्थः स्वरसः। सर्वेश्वरस्येति पाठेऽप्येवमेवार्थः । किन्तु तत्र आचार्यऋत्विग्भिरित्यध्याहार्यम् ॥ १७४-१७५ ॥

कृत्वैवं च तथा दिक्षु मूर्तिपान् विनिवेश्य च ।
पार्श्वदेशेषु कुण्डानां तर्पयेत् पायसेन तु ॥ १७६ ॥
गृहीत्वा दक्षिणां मन्त्रः प्रीणनीयस्तु तैस्ततः ।

अथ मूर्तिपपायसभोजनादिकमाह—कृत्वेति सार्धेन ॥ १७६-१७७ ॥

इस प्रकार यहाँ तक समर्पित सभी परिवार देवताओं का तथा सर्वेश्वर भगवान् के प्रतिष्ठा के अनन्तर भावि पूर्णाहुति के अन्त तक सन्निरोध क्रिया करे । इसका तात्पर्य यह है कि कूर्चगत अर्घ्य के जल से जपपूर्वक ध्यान करते हुये कुण्ड स्थित देवताओं की वासुदेव एवं सङ्कर्षणादि स्वकीय मूर्त्तियों में श्रुतिमय चतुर्वेद स्वरूप का विदिक् कुण्डों में सन्तर्पित भगवान् की शब्दात्मिका (अमूर्त्त शब्द) मूर्त्ति में सन्निरोध करे । इस प्रकार सन्निरोध कर कुण्डों के पार्श्व देश के प्रत्येक दिशाओं में मूर्त्तियों को स्थापित कर पायस का भोजन करावे । फिर वे मूर्त्तिप दक्षिणा लेकर मन्त्र का प्रीणन करें ॥ १७४-१७७ ॥

अथ निद्रायमाणं तु देवं स्मृत्वाऽवकुण्ठ्य च ॥ १७७ ॥
अर्चयित्वा नमस्कृत्य तत्र सर्वान् प्रवेशयेत् ।
स्तुतिपाठकपूर्वांस्तु नृत्तगेयपरायणान् ॥ १७८ ॥
विदिक्स्थान् प्रणवे जापे द्वादशार्णेन दिक्स्थितान् ।

अथ निद्रायमाणस्य भगवतो वस्त्रैरवकुण्ठनार्चननमस्कारान् आ प्रभातं मूल-मन्त्रजपे एकायनानां प्रणवजपे ब्रह्मवादिनां स्तुतिमङ्गलगाननर्तनादिषु तत्तज्जनानां नियोजनं चाह—अथेति द्वाभ्याम् ॥ १७७-१७९ ॥

इसके बाद आराधक साधक निद्रायमाण भगवान् का स्मरण कर उन्हें वस्त्र से घेर देवे । फिर उनका अर्चन और नमस्कार करे । फिर प्रभाग पर्यन्त मूल के जप के लिये एकायनों को, प्रणव जप के लिये ब्रह्मवादियों को तथा स्तुति, मङ्गलगान एवं नृत्यादि कार्यों के लिये तत्तत् लोगों को नियुक्त करे । फिर कोणों में प्रणव जप के लिये और दिशाओं में द्वादशाक्षर मन्त्र जप के लिये वैष्णवों को नियुक्त करे ॥ १७८-१७९ ॥

सार्घ्यपुष्पाक्षतकरः प्रासादं तं व्रजेत् ततः ॥ १७९ ॥
हन्यात् सिद्धार्थकैस्तस्माद् विघ्नानस्त्राभिमन्त्रितैः ।
प्राङ्मध्ये विधिनानेन श्वभ्रं वा साम्प्रतं खनेत् ॥ १८० ॥

अथ प्रासादान्तःप्रवेशे तत्रत्यविघ्नोत्सारणम्, तत्र ब्रह्मशिलाप्रतिष्ठार्थं श्वभ्रखननम्, तदर्थं गर्भगेहस्य सप्तधा विभागम्, तत्तत्पदानामधिदेवताविवरणम्, तेषु तेषु पदेषु चातुरात्म्यप्रतिष्ठादीनां वर्ज्यावर्ज्यविवेचनम्, तत्तत्फलभेदांश्चाह—सार्घ्यपुष्पाक्षतकर इत्यारभ्य अकामानामयं विधिरित्यन्तम् । गुणाष्टकम् अपहतपाप्मत्वादिकम् । (अपवर्गे) मोक्ष इति यावत् ॥ १७९-१९२ ॥

स्वयं हाथ में अर्घ्य पुष्प अक्षत लेकर उस प्रासाद में जावे । वहाँ अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित सिद्धार्थक से पूर्व और मध्य में विघ्नों का उत्सारण करे, फिर ब्रह्मशिला की प्रतिष्ठा के लिये श्वभ्र (गड्डा) खने ॥ १७९-१८० ॥

विनिश्चितं यथामानं गार्भं कुर्यात् तु सप्तधा ।
द्वारदेशात् समारभ्य समैः सूत्रैस्तु सर्वदिक् ॥ १८१ ॥

फिर गर्भगृह को एक निश्चित मान से द्वारदेश से लेकर सभी दिशाओं में समसूत्र से सात भाग में बराबर-बराबर प्रविभक्त करे ॥ १८१ ॥

द्वारमध्ये पदान्तं तु पादानामधिदेवताः ।
पिशाचा मानवा देवाः परमः पुरुषो हि यः ॥ १८२ ॥
चातुरात्म्यं विनान्येषां स्थापितानां महामते ।
आराधनं च स्वस्थानादचिरादेव सिद्धिकृत् ॥ १८३ ॥

द्वार मध्य से लेकर पदान्त पर्यन्त पदों के अधिदेवता इस प्रकार कहे गये हैं—पिशाच, मानव, देव जो परम पुरुष कहा जाता है वह चातुरात्म्य, हे महामते! इनकी ही स्थापना करे क्योंकि अन्यों की स्थापना के बिना भी इन्हीं को स्व स्व स्थान पर स्थापना करने से शीघ्र ही सिद्धि हो जाती है ॥ १८२-१८३ ॥

आक्रम्य देवभागं च देव आराध्यते यदि ।
भवन्ति बहवो विघ्ना वर्जनीयः स्वतस्तु सः ॥ १८४ ॥

देवता के भाग वाला स्थान छोड़कर अन्यत्र उनकी आराधना करने से अनेक विघ्न होते हैं । अतः अन्य स्थानों को स्वयं त्याग देवे ॥ १८४ ॥

शुभेन भद्रपीठेन दैवीयेनाथ लाङ्गलिन् ।
चातुरात्म्यप्रतिष्ठायां शिलाख्यं मध्यमं पदम् ॥ १८५ ॥
गर्भमध्यपदस्योर्ध्वे योजनीयं प्रयत्नतः ।
अतोऽन्वितांशमेकं तु त्यक्त्वा वै पृष्ठदेशतः ॥ १८६ ॥
शिलापदद्वयस्यान्ते योजनीया महामते ।
अग्रदेशेऽथ बिम्बस्य वेदिर्भागद्वयोपरि ॥ १८७ ॥

हे लाङ्गलिन्! शुभ भद्रपीठ अथवा दैवीय पीठ से आराधना करे । चातुरात्म्य

की प्रतिष्ठा में ब्रह्मशिला नामक मध्यम पद उपयुक्त है । उसे गर्भगत मध्यपद के ऊपर पृष्ठदेश से एक अंश छोड़कर दो शिला के अन्त में प्रयत्नपूर्वक योजित करे । बिम्ब के आगे दो भाग के ऊपर वेदी बनानी चाहिये ॥ १८५-१८७ ॥

चतुरश्रायतस्यैतत् पीठस्य स्थापने हितम् ।
एवं हि चतुरश्रस्य विधानं किन्तु लाङ्गलिन् ॥ १८८ ॥
सञ्चार्या त्वग्रतो वेदिर्नित्यमाराधनार्थतः ।
पीठोपर्यथवा देवं यस्त्वाराधयते सदा ॥ १८९ ॥
निवेशनीया वै तेन मध्यदेशेन सा शिला ।
एवमाराधनवशात् तथा फलवशात् तु वै ॥ १९० ॥
सपीठानां च बिम्बानां कार्यं सम्यङ् निवेशनम् ।
देवमानुषभागाच्च ऐहिकामुष्मिकं भवेत् ॥ १९१ ॥
विबुधब्रह्मभागाच्च ऐहिकं तु गुणाष्टकम् ।
अपवर्गे तु सामान्यमकामानामयं विधिः ॥ १९२ ॥

चौकोर पीठ पर बिम्ब को स्थापित करना हितकारी कहा गया है । यद्यपि स्थापना में चौकोर पीठ का विधान है । किन्तु हे लाङ्गलिन्! नित्य आराधना के लिये बिम्ब के आगे वेदी बनाना आवश्यक है । जो आराधक पीठ पर स्थित देवाधिदेव का नित्य आराधन करता है उसे वह शिला मध्य देश में ही स्थापित करनी चाहिये । अत: पीठ सहित बिम्ब का सन्निवेश ठीक तरह से करे । दैव और मानुष भाग पर स्थापित करने से इस लोक और उस लोक में भी फल होता है विबुध भाग तथा ब्रह्मभाग पर स्थापित करने से आठ गुना ऐहिक फल होता है । मोक्ष में बिम्ब के स्थापन का सामान्य नियम है । इस प्रकार कामना रहितों के लिये यही विधि है ॥ १८८-१९२ ॥

भिन्नेऽपेक्षावशान्मध्ये सति भूयः समाचरेत् ।
गालितेऽस्त्राम्बुना लिप्ते हृदा वै चन्दनादिना ॥ १९३ ॥
श्वभ्रेऽथ घटरुद्धानां मन्त्राणां च निरोधनम् ।
पूर्वोक्तेन विधानेन धिया स्वे स्वेऽयने तथा ॥ १९४ ॥
कृत्वाऽर्चनं यथोद्दिष्टं पूर्णान्तं तत्र विन्यसेत् ।
बाहुल्येन तु षट्पञ्चचतुर्गोलकसंमिताम् ॥ १९५ ॥
पीठाद् विनिर्गतां किञ्चिद् भूतये सुस्थिरां शिलाम् ।
ग्रस्तां पीठेन मुक्त्यर्थं नवरन्ध्रकृतां पुरा ॥ १९६ ॥
सुमन्त्रेण तु तत्रापि प्रतिष्ठाऽसीति पाठयेत् ।

अथ प्रक्षालनचन्दनोल्लेपनादिसंस्कृते तस्मिन् श्वभ्रे पूर्वं प्रासादनिर्माणकाले नवकुम्भेषु सन्निरुद्धानां देवानां बुद्ध्यादिनिश्चिते तत्तत्स्थाने पुनः सन्निरोधनम्, यथाविध्यग्निसन्तर्पणान्तमर्चनम्, तत्र यथोक्तलक्षणरत्नन्यासशिलाप्रतिष्ठाम्, प्रतिष्ठासीति मन्त्रपाठनं चाह—भिन्न इति सार्धैश्चतुर्भिः । बाहुल्येन तु षट्पञ्चचतुर्गोलकसंमितां द्वादशाङ्गुलं दशाङ्गुलमष्टाङ्गुलं वा घनामित्यर्थः ॥ १९३-१९७ ॥

यदि अपेक्षा के अनुसार कार्य भिन्न हो गया हो, तो उसे पुनः दूसरी बार करे। प्रक्षालन चन्दनोल्लेपनादि से संस्कृत उस श्वभ्र (गड्ढे) में पहले प्रासाद निर्माण काल में नव कुम्भों में सन्निरुद्ध देवताओं का बुद्ध्यादि से निश्चित उन-उन स्थानों में पुनः सन्निरोधन करे । पुनः यथाविधि अग्नि सन्तर्पण एवं अर्चन करे। वहाँ रत्नन्यास कर ऊपर कही गई शिला की प्रतिष्ठा करे । 'प्रतिष्ठासि' इस मन्त्र का पाठ करे । जहाँ तक हो सके वह शिला छह, पाँच, चार गोलक प्रमाण की हो और द्वादशाङ्गुल अथवा दशाङ्गुल अथवा आठ अङ्गुल मोटी हो ॥ १९३-१९७ ॥

प्रागादौ प्राभवेणाथ पञ्चकं पञ्चकं न्यसेत् ॥ १९७ ॥
शिलावटेषु द्रव्याणां तत्र वज्रं च हाटकम् ।
हरितालमुशीरं च व्रीहयो दक्षिणे त्वथ ॥ १९८ ॥
इन्द्रनीलमयश्चैव कासीसं चन्दनं तिलाः ।
मुक्ताफलं च रजतं पारदं चाप्यदिक् ततः ॥ १९९ ॥
सहोशीराश्च वै मुद्गाः पद्मरागमथोत्तरे ।
कांस्यं सराजपाषाणं राजेन्द्रं चणकैः सह ॥ २०० ॥
विशङ्कं विन्यसेन्मध्ये पूर्वमेव ततो बहिः ।

अथ तद्गर्तेषु रत्नादिन्यासप्रकारमाह—प्रागादौ प्राभवेणाथेत्यारभ्य चमषट्कांश्च पाठयेदित्यन्तम् ॥ १७९-२०६ ॥

अब शिला वाले गड्ढे में रत्नादि के न्यास का प्रकार कहते हैं—आदि के पूर्व दिशा के क्रम से शिला के गड्ढे में पाँच-पाँच द्रव्यों को स्थापित करे । वज्र, हाटक, हरिताल, उशीर, व्रीहि **पूर्व में**, इसके बाद **दक्षिण में** इन्द्रनील:, अय (लोहा), कासीस, चन्दन और तिल स्थापित करे । मुक्ताफल, रजत, पारद, **पश्चिम में**, सह, उशीर, मुद्ग और पद्मराग **उत्तर में** स्थापित करे । राजपाषाण के सहित कांस्य, चणक के साथ राजेन्द्र विशङ्क होकर मध्य में स्थापित करे ।

विदिक्ष्वप्यययोगेन एवमन्यत् पृथक् पृथक् ॥ २०१ ॥
लोहं वैडूर्यपूर्वं तु चक्राङ्कं चाभ्रकं त्वथ ।
षाष्टिकास्त्वीशदिगवाय्वोः पुष्परागो हरीतकी ॥ २०२ ॥
गैरिका शारिकाऽत्रैव मषूरान्यथ यातुदिक् ।

महानीलं च वङ्गं तु तथा पाषाणमाक्षिकम् ॥ २०३ ॥
यवाः सगरुकाश्चापि ह्याग्नेयाः स्फाटिकं तथा ।
ताम्रं मनःशिला चैव गोधूमाःशङ्खपुष्पिका ॥ २०४ ॥
मध्ये सर्वाणि तदनु ततो गर्तगणं तु तत् ।
लेपैराच्छादितं कृत्वा साङ्गं मन्त्रं पदे पदे ॥ २०५ ॥
पूजयित्वा यजुर्वेदान् चमषट्कांश्च पाठयेत् ।

इसके बाद बाहर पूर्व में विदिक् में अप्यय योग से पृथक्-पृथक् अन्य वस्तुयें इस प्रकार स्थापित करे । लौह, वैदूर्य, चक्राङ्क, अभ्रक और षाठी का धान्य ईशान वायव्य कोण में स्थापित करे । पुष्पराग, हरीतकी, गैरिका, शारिका और मसूर नैर्ऋत्य कोण में, महानील, वङ्ग, पाषाण, माक्षिक, करुक के सहित यव एवं स्फटिक अग्निकोण में स्थापित करे । ताँबा, मन, शिला, गोधूम, शङ्खपुष्पिका ये सभी वस्तुयें गड्ढे के मध्य में स्थापित करे । फिर उन वस्तुओं के सहित समस्त गड्ढों को लेप से आच्छादित कर साङ्ग मन्त्र का पद-पंद पर पाठ करावे । यजुर्वेदज्ञों का पूजन कर छह चमक मन्त्रों का पाठ करावे । फिर उस गड्ढे में पीठ को डालकर ऊपर पीठ स्थापित करे ॥ । १९७-२०६ ॥

तदूर्ध्वे विन्यसेत् पाठं तच्छ्वभ्रे विनिवेश्य च ॥ २०६ ॥
अष्टलोहमयं चक्रं तदूर्ध्वे तु महामते ।
द्वादशाख्याद् विशेषोत्थादाधारो यस्य यः स्वकः ॥ २०७ ॥
हैमं तदूर्ध्वे कमलं तज्जं वा ताम्रमेव वा ।
यथाक्रमस्थितं ह्येतत् पञ्चकं चतुरात्मनि ॥ २०८ ॥
न्यसेदनन्तं चक्रस्य मीनकूर्मौ कृतस्य च ।
कूर्मानन्तौ तु मीनस्य मीनानन्तौ तु तस्य च ॥ २०९ ॥
सर्वस्य विहितं पद्मं तस्यानन्तं तु विन्यसेत् ।
मण्टपे तु खगेशस्य चक्रं स्थापनकर्मणि ॥ २१० ॥
न्यस्य पूर्णान्तिकं कृत्वा कर्मण्यत्र च तर्पणम् ।
सह मूर्तिधरैः प्राग्वत् कार्या दर्भोदकक्रिया ॥ २११ ॥

तदूर्ध्वे पीठस्थापनं तद्गर्ते चक्रादिस्थापनं चाह—तदूर्ध्वे विन्यसेत्पीठमित्यारभ्य कार्या दर्भोदकक्रियेत्यन्तम् । द्वादशाख्याद् विशेषोत्थादाधारो यस्य यः स्वकः । विभवदेवेष्वनन्तादिद्विषट्कस्य कूर्मस्त्वाधारः । मीनादिद्विषट्कस्य मीनस्त्वाधार इत्यर्थः । चतुरात्मनि चातुरात्म्यप्रक्रियायामेतत् पञ्चकं चक्रा(न)न्तकूर्ममीनपद्मपञ्चक-मित्यर्थः । एवं चानन्तकूर्ममीनव्यतिरिक्तविभवदेवानां प्रतिष्ठायां पीठगर्ते प्रथमं चक्रम्, तदुपरि तत्तद्द्विषट्काधारमनन्तकूर्ममीनेष्वन्यतमम्, तदुपरि पद्ममेतत् त्रयमेव न्यसेदिति

फलितोऽर्थः । चक्रस्य प्रतिष्ठायां तदधः पीठगर्तेऽनन्तं तस्यानन्तस्याधस्तनमीनकूर्मौ मीनस्याधस्तात् कूर्मानन्तौ तस्य कूर्मस्याधस्तान्मीनानन्तौ च न्यसेत् । सर्वस्य चक्रादीनां सर्वेषामपि पद्मं च विहितम् । तस्य पद्मस्य प्रतिष्ठायां तु तदधोऽनन्तं न्यसेत् । मण्टपे तु खगेशस्य स्थापनकर्मणि चक्रं न्यसेदिति चोक्तं भवति । पूर्णान्तिकं तर्पणं कृत्वेत्यत्र चक्रादिमन्त्रैरिति ज्ञेयम् । दर्भोदकक्रिया चात्र गर्भगेहादिप्रोक्षणार्थमिति ज्ञायते ॥ २०६-२११ ॥

हे महामते! इसके बाद उस पीठ पर अष्टलोहमय चक्र स्थापित करे । इसके बाद अनन्तादि द्विषट्(१२) विभव देवों में जो जिसका आधार हो, उसे स्थापित करे । जैसे अनन्तादि द्वादश विभव देवों के कूर्म आधार हैं । मीनादि द्वादश के मीन आधार हैं । चातुरात्म्य स्थापन प्रक्रिया में चक्र, अनन्त, कूर्म, मीन और पद्म आधार हैं । इस प्रकार अनन्त, कूर्म एवं मीन से व्यतिरिक्त अन्य विभव देवताओं की प्रतिष्ठा में पीठ गर्त्त में प्रथम चक्र, उसके ऊपर तत्तद् द्विषटकाधार अनन्त, कूर्म एवं मीन में किसी एक की स्थापना कर उसके ऊपर पद्म प्रतिष्ठापित करे । इस प्रकार चक्र, उसके ऊपर अनन्त, कूर्म मीन में कोई एक, उसके ऊपर केवल पद्म, इन तीन को ही स्थापित करे । चक्र की प्रतिष्ठा में उसके नीचे वाले पीठ गर्त्त में अनन्त, उस अनन्त के नीचे मीन एवं कूर्म की, मीन के नीचे कूर्मानन्त की और कूर्म के नीचे मीन अनन्त की स्थापना करे । सभी चक्रादि की प्रतिष्ठा में पद्म विहित है । अतः पद्म की प्रतिष्ठा में उसके नीचे अनन्त को स्थापित करे । मण्डप में जहाँ खगेश (गरुड़) का स्थापन करना हो उसके नीचे चक्र स्थापित करे । फिर चक्रादि मन्त्रों से पूर्णाहुति प्रदान करे । तदनन्तर दर्भोदक से गर्भ गेहादि का प्रोक्षण करे । इसी प्रक्रिया को दर्भोदक क्रिया कहते हैं ॥ २०६-२११ ॥

ततः प्रबोधयेद् देवमर्चयित्वा इदं पठेत् ।
मन्त्रात्मन् रूपमात्मीयमाग्नेयमुपसंहर ॥ २१२ ॥
समाश्रयस्व सौम्यत्वं स्थित्यर्थं परमेश्वर ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश उत्तिष्ठ परमेश्वर ॥ २१३ ॥
मदनुग्रहहेत्वर्थं पीठभूमिं समाश्रय ।
उद्घाट्य हृदयेनाथ त्यक्तनिद्रं तु मन्त्रराट् ॥ २१४ ॥
उत्थाप्य मूर्तिमन्त्रेण सह मूर्तिधरैर्बलात् ।
तोरणेन च निष्क्रम्य प्रदक्षिणचतुष्टयम् ॥ २१५ ॥

ततः प्राप्ते लग्ने भगवत्प्रबोधनमर्चनम्, मन्त्रात्मन्नित्यादिविज्ञापनम्, त्यक्तनिद्रस्य भगवतः समुद्धरणम्, ऋत्विग्भिः सह समुत्थापनम्, तोरणद्वारेण बहिर्निष्क्रमणम्, मन्दिरप्रदक्षिणचतुष्टयम्, प्रासादद्वारे पाद्याद्यभ्यर्चनम्, अन्तःप्रवेशनम्, चतुश्चक्रेत्यादि-

मन्त्रपाठनम्, दुकूलेन पादाम्बुरुहनालवेष्टनम्, पीठमध्ये बिम्बस्थापनम्, प्रतिष्ठालिङ्ग-मन्त्रपाठनं चाह—ततः प्रबोधयेद् देवमित्यारभ्य द्वौ मन्त्रौ पाठयेत् क्रमादित्यन्तम् । अग्नीषोमौ समीकृत्य श्वासं (गु?कु)म्भीकृत्येत्यर्थः । एवमेव व्याख्यातं पारमेश्वर-व्याख्यानेऽपि । वामतो मारुतं त्येजेद् वामनासिकया श्वासं विसृजेदित्यर्थः । प्रतिष्ठालिङ्गशब्दौ द्वौ मन्त्रौ ऋग्वेदसामवेदोक्तौ प्रतिष्ठासीत्यादिमन्त्रावित्यर्थः । अथवा प्रतिष्ठासीति साम, ध्रुवा द्यौरिति यजुरिति पारमेश्वरव्याख्यानोक्तौ ॥ २१२-२२० ॥

फिर लग्नोदय उपस्थित होने पर देवाधिदेव का प्रबोधन करे, उनकी अर्चना करे, फिर इस प्रकार प्रार्थना करे—हे मन्त्रात्मन्! अपने इस आग्नेय स्वरूप का उपसंहार कीजिये । हे परमेश्वर! स्थिर रहने के लिये सौम्य रूप धारण कीजिये । हे हृषीकेश! आपको नमस्कार है । हे परमेश्वर! शय्या से उठिये । हे नाथ! मेरे ऊपर कृपा करने के लिये पीठ भूमि पर पदार्पण कीजिये । इस प्रकार निद्रा त्याग कराने के पश्चात् आराधक उनका हृदय उद्घाटित करे । मन्त्रराज को शय्या से उठावे । फिर मूर्त्तिधर लोग अपने बल से मूर्त्ति मन्त्र पढ़ते हुये तोरण से बाहर निकलकर मन्दिर की चार प्रदक्षिणा करें ॥ २१२-२१५ ॥

कुर्यात् प्रासादपीठस्य द्वाराग्रे सन्निरोध्य च ।
पाद्यार्घ्याचमनं दत्वा हृन्मन्त्रेण प्रवेशयेत् ॥ २१६ ॥
शाखाद्यमस्पृशन्तं च पाठयेत् तद्विदस्ततः ।
चतुश्चक्रेति तदनु पुरमेकादशेति यत् ॥ २१७ ॥
वर्माभिमन्त्रितेनाथ दुकूलेन सितेन च ।
पादाम्बुरुहनालं प्राक् शिखामन्त्रेण वेष्टयेत् ॥ २१८ ॥
अग्नीषोमौ समीकृत्य प्रणवाद्यन्तगेन तु ।
निवेश्य मूलमन्त्रेण वामतो मारुतं त्यजेत् ॥ २१९ ॥
प्रतिष्ठालिङ्गशब्दौ तु द्वौ मन्त्रौ पाठयेत् क्रमात् ।

फिर प्रासादपीठ के द्वार के अग्रभाग में भगवान् को रोक कर पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय देकर 'नमः' मन्त्र से प्रासाद में प्रवेश करावें । इसके बाद किसी विशेष शाखा का नाम न लेते हुये वेदवेत्ताओं से प्रथम 'चतुश्चक्र' इस मन्त्र का, फिर 'पुरमेकादशेति च' इस मन्त्र का पाठ करावे । फिर चक्राभिमन्त्रित श्वेत दुकूल से चरण कमल के नाल को शिखामन्त्र से वेष्टित करे । फिर प्रणवादि तथा प्रणवान्त से श्वास का कुम्भक करते हुये वामनासिका से उस श्वास को बाहर निकाल देवे । तदनन्तर प्रतिष्ठा मन्त्र एवं लिङ्ग मन्त्र इन दोनों का पाठ करावे ॥ २१६-२२० ॥

शान्तं ब्रह्ममयं रूपं स्वकं समवलम्ब्य च ॥ २२० ॥
यतो हितार्थं सर्वेषां निर्गतः षड्गुणात्मना ।
अतो ब्रह्मपदादीषद् देवभागे समानयेत् ॥ २२१ ॥

मोक्षादिफलसिद्धीनां प्राप्तये ह्यविचारतः ।

ब्रह्मपदस्थापितस्यापि देवस्य किञ्चिद् दिव्यभागानयने युक्तिमाह—शान्तमिति द्वाभ्याम् । दिव्यभागानयनं च वामभाग इति बोध्यम् । तथा च पारमेश्वरे—

यत्रापि केवले ब्राह्मे स्थापनं समुदीरितम् ।
तत्रापि वामतः किञ्चिद् द्रव्यभागं समाश्रयेत् ॥
—(१५।७९९) इति ।

अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—"शान्तं ब्रह्ममयं रूपमित्यनेन आवाहयामीत्युक्तार्थः स्मारितः, पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्, "अग्निहोत्रं जुहोति" (तै०सं० १।५।९।१), "यवागूं पचति" इतिवत्, सन्ध्यास्नानमितिवच्च" इति लिखितम् । अत्रावाहयामीत्यर्थस्मरणस्य न किञ्चिदपि प्रकृतत्वं दृश्यते । किञ्च, पूर्वं तदर्थविरोधे पाठक्रमादर्थक्रमोऽनुसरणीयः । विरोध एव न दृश्यते ।

ननु तदा बिम्बस्थापनात् पूर्वमेव स्नपनकाले आवाहनं विरुद्धमिति चेन्न, तदानीं भगवदावाहनं विना केवलबिम्बेऽभ्यर्चनोत्सवशयनाधिवासमन्त्रन्यासपरमान्ननिवेदनादिकस्यात्यन्तविरुद्धत्वात् । किञ्च, बिम्बस्थापनात् पूर्वमावाहनं विरुद्धं मन्वानेन भवता कथमष्टबन्धनात् पूर्वमावाहनविरुद्धं गृह्यते? अपि च, शान्तं ब्रह्ममयं रूपमित्यत्र शान्तं शान्तोदितावस्थापन्नं ब्रह्ममयं स्वकं रूपमवलम्ब्य आश्रित्य सर्वेषां हितार्थं षड्गुणात्मना यतो भगवान् निर्गतः, ततो ब्रह्मस्थानादीषद् देवं बहिर्निर्गमयेदित्यर्थोपदेशप्रकरणे आवाहनस्मरणं कर्तुं कथं शक्यते किं बहुना ॥ २२०-२२२ ॥

यतः भगवान् अपने शान्त ब्रह्ममय स्वरूप का अवलम्बन कर सभी हित के लिये षड्गुण स्वरूप से उत्पन्न होते हैं इसलिये उस ब्रह्म स्थान से किञ्चिन्मात्र दिव्य भाग को निकालकर देव भाग में मोक्षादि फल प्राप्ति के लिये बिना विचारे स्थापित करे ॥ २२०-२२२ ॥

करस्थमथ मोक्तव्यं कौतुकं हृदयेन तु ॥ २२२ ॥
सर्वाङ्गमर्घ्यमन्त्रेण दत्वा मूलमनुस्मरेत् ।
हृदास्त्रपरिजप्तेन वज्रलेपेन वै ततः ॥ २२३ ॥
बिम्बपीठशिलानां तु एकत्वेनाचरेत् स्थितिम् ।

अथ रक्षासूत्रविसर्जनकार्यसमर्पणपूर्वकमष्टबन्धनलेपनमाह—करस्थमिति द्वाभ्याम् । अत्र पारमेश्वरव्याख्याने—अत्र पाद्यादिष्विव प्रतिकर्म कौतुकबन्धनप्रसङ्गाभावात् कथं मोक्तव्यमित्युक्तमिति चेत्, प्रतिकर्म तदभावे जलाधिवाससमये पूर्ववत् कौतुकं बद्ध्वेति प्रसङ्गोत्सवेति शङ्का परिहृता । एवं शङ्का पारमेश्वरव्यख्यातुरेव जाता, न ह्यन्यस्य जायते,

तमर्घ्येणार्चयित्वा च ततस्तन्मन्त्रितान् करे ।
सिद्धार्थकान् दक्षिणे तु बद्ध्वाग्रे पाठयेदृचम् ॥
रक्षोहणं तथा सर्वान् नयेत् प्रतिसरे मणीन् । (२५।४९-५०)

इति पूर्वमेव कौतुकप्रसङ्गात् ।

नन्वस्य कौतुकत्वं न संभवति, जलाधिवाससमये ''पूर्ववत् कौतुकं बद्ध्वा'' (ई०सं० १८।९९, पा०सं० १५।२२५) इत्यत्रोक्तस्यैव कौतुकत्वमिति चेत्, तथा न भ्रमितव्यम् । ''करस्थमथ मोक्तव्यं कौतुकं हृदयेन तु'' (२५।२२) इति वाक्यं सात्वतोक्तम् । तत्र जलाधिवासस्यैवानुक्तत्वात् ''पूर्ववत् कौतुकं बद्ध्वा'' इति वाक्यमेव नास्ति । अत:—तमर्घ्येणार्चयित्वा'' (२५।४९) इत्यादिप्रतिपादितस्य प्रतिसरबन्धस्यैव विसर्जनं चेति पूर्वपर्यालोचनया स्वस्थो भव ॥ २२२-२२४ ॥

फिर हृदयमन्त्र से भगवान् के दक्षिण हाथ में बाँधे गये सिद्धार्थक को मुक्त करे । फिर अर्घ्यमन्त्र से सर्वाङ्ग में अर्चन कर मूल मन्त्र का स्मरण करे । तदनन्तर हृदास्त्र से जपे गये वज्रलेप से बिम्ब, पीठ और शिला में एकत्व स्थिति की भावना करे ॥ २२२-२२४ ॥

मूलमन्त्रं ततो ध्यात्वा संशान्तब्रह्मलक्षणम् ॥ २२४ ॥
आधारादिध्वजाग्रान्तं व्याप्तं तेनाखिलं स्मरेत् ।
इति सामान्यसन्धानं प्राक् कृत्वा तद्विशिष्यते ॥ २२५ ॥
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन स्थूलं षोढा शिलान्तगम् ।
पिण्डिकायां तथा सूक्ष्मं तत्परं बिम्बविग्रहे ॥ २२६ ॥

अथ मूलमन्त्रस्याधारादिप्रासादोर्ध्वस्थितध्वजाग्रान्तं व्यापिस्मरणरूपं सामान्यसन्धानं पुनस्तस्यैव मन्त्रस्य हृदादिभेदै: षोढा स्थूलरूपेण ब्रह्मशिलायाम्, सूक्ष्मरूपेण पीठे, पररूपेण बिम्बे च विशेषत: सन्धानं चाह—मूलमन्त्रमिति सार्धद्वाभ्याम् । प्रासादाग्रे ध्वजसंस्थितिं वक्ष्यति हि—

त्रिधांशने शिखाद्युच्चं खगराट्परिभूषितम् ।
संस्कृत्य ध्वजदण्डं च शिखामन्त्रेण विन्यसेत् ॥
—(२५।२८४) इति ।

अत एवेश्वरपारमेश्वरयोरप्युत्सवाध्याये—'प्रासादस्य शिखाग्रे तु स्थापित: खगराड्ध्वज:' (ई०सं०१०।११, पा०सं०१६।३७) इति प्रतिपादितम् ॥ २२४-२२६ ॥

फिर संशान्त ब्रह्म लक्षण वाले मूल मन्त्र का ध्यान करे और भावना करे कि यही मन्त्र प्रासाद के आधार से लेकर ध्वजाग्र पर्यन्त सर्वत्र स्थित है । इस सामान्य भावना के अनन्तर यह विशेष भावना करे कि यही मन्त्र हृदयादि भेद से छह स्थूल रूप में ब्रह्मशिला में एवं सूक्ष्म रूप से पीठ में और पररूप से बिम्ब में व्याप्त है ॥ २२४-२२६ ॥

विन्यासं पीठमूलेऽथ देवतानां समाचरेत् ।
भवोपकरणीयानां पीठोऽर्ध्वे त्वथ तद्विना ॥ २२७ ॥
न्यसेद् विभवदेवांस्तु उपर्युपरि पूर्ववत् ।

घटोद्देशात् समारभ्य परमर्चागतं ततः ॥ २२८ ॥

अथ देवतान्यासमाह—विन्यासमिति त्रिभिः । पीठमूले = पीठस्याधः पिण्डिकोपरीति यावत् । भवोपकरणीयानां देवतानां कालादिवसुधान्तानां पूर्वोक्तानामित्यर्थः । तद्विना विभवदेवान् न्यसेत् । पातालशयनादिपद्मनाभान्तविभवदेवेषु प्रतिष्ठेयम् । देवं विनाऽन्यान् सर्वान् न्यसेदित्यर्थः । तथा च व्यक्तमुक्तमीश्वरपारमेश्वरयोः—

पीठोर्ध्वे तु मुनिश्रेष्ठाः प्रतिष्ठेयं विनैव तु ।
न्यसेद् विभवदेवांस्तु ह्युपर्युपरि पूर्ववत् ॥ इति ।
—(ई०सं० १८।४१५, पा०सं० १५।८२६)

पारमेश्वरव्याख्याने एतदभिप्रायमबुद्ध्वा "प्रतिष्ठेयं प्रतिष्ठायोग्यं बिम्बं विना मन्त्रे न्यसेदित्यर्थः" इति लिखितम् । घटोद्देशात् समारभ्य पूर्वं प्रासादमध्ये स्थापितकुम्भादारभ्य, उपर्युपरि पीठोर्ध्वान्तं पातालशयनादिपद्मनाभान्तक्रमेण न्यास इति ज्ञेयम् ॥ २२७-२३० ॥

पीठ के नीचे पिण्डिका में कालादि वसुधान्त भवोपकरणीय देवताओं का न्यास करे । पीठ के ऊर्ध्व भाग में भवोपकरणीय देवता के बिना विभव देवताओं का न्यास करे । फिर घटोद्देश से आरम्भ कर, अर्चित पर देवता की, बिना देव के ऊपर-ऊपर ही न्यास करे ॥ २२७-२२८ ॥

एवं हि सर्वदेवानां सन्निवेशवशात् तु वै ।
चिन्तामणिमयो न्यासः कृतो भवति सिद्धिदः ॥ २२९ ॥

इस प्रकार बिम्ब में सभी देवताओं के सन्निवेश के कारण ऐसा समझना चाहिये कि यह सिद्धिप्रद चिन्तामणि न्यास किया गया है ॥ २२९ ॥

अथ मण्टपमध्ये तु देवदेवस्य सम्मुखम् ।
स्थितेऽपि तन्मुहूर्तांशे स्थापनीयश्च पक्षिराट् ॥ २३० ॥

अथाग्रमण्टपमध्ये विहगेशप्रतिष्ठाविधानमाह—अथ मण्टपमध्ये त्वित्यारभ्य सुपर्णोऽसीति मन्त्राडित्यन्तम् । स्नातो यथाविधि सिद्धार्थोदकादिभिर्बृहत्स्नपनेन च स्नापित इत्यर्थः । अनुलिप्तश्चन्दनाद्यलङ्कृत इत्यर्थः । यद्वा स्वेन मन्त्रेणानुलिप्तो मन्त्रन्यासादिभिः परिष्कृत इत्यर्थः । संस्कृतोऽन्यैश्च नयनोन्मीलनशयनाधिवासादिसंस्कारैः संस्कृत इत्यर्थः । बिम्बेन सह प्रधानभगवद्बिम्बेन सहेत्यर्थः । ज्ञशक्त्या ज्ञानशक्त्यात्मकत्वेन संस्कृत इत्यत्रैवान्वयः । उक्तं खल्वस्य ज्ञानशक्त्यात्मकत्वमीश्वरपारमेश्वरयोः—

विष्णोः सङ्कर्षणाख्यस्य विज्ञानबलशालिनः ॥
मूर्तिर्ज्ञानस्वरूपा या सर्वाधारस्वरूपिणी ।
महिमेति जगद्धातुर्विज्ञेयो विहगेश्वरः ॥ इति ।
—(ई०सं० ८।३-४, पा०सं० ८।३-४)

यस्यमादित्यादिना प्रधानबिम्बादिना सहैव गरुडादिसमस्तपरिवाराङ्ग-बिम्बादीनामपि सामान्यतस्तत्तदनुरूपस्नपनार्चनसन्तर्पणादिसंस्काराः कार्या इत्युक्तं भवति । आधारो य उदीरितः "मण्टपे तु खगेशस्य चक्रस्थापनकर्मणि" (२५।२१०) इति प्रतिपादितः । भौवनं भुवनाध्वानम् । शेषम् अवशिष्टपदाध्वादि-पञ्चकमित्यर्थः ॥ २३०-२३७ ॥

इसके बाद मण्डप के मध्य में देव, देव के सम्मुख गरुड़ के स्थित रहने पर भी उसी मुहूर्त्त में पक्षिराट् गरुड़ की भी प्रतिष्ठा करे ॥ २३० ॥

स्नातोऽनुलिप्तो मन्त्रेण स्वेन यः संस्कृतः पुरा ।
ज्ञशक्त्या सह बिम्बेन यस्माद् भिन्नेषु वस्तुषु ॥ २३१ ॥
बिम्बसन्निकटस्थेषु अथवाऽन्यत्र लाङ्गलिन् ।
तत्कालमङ्गभावत्वं व्रजमानेषु सर्वथा ॥ २३२ ॥
हवनान्तं च निःशेषं ध्यानार्चनपुरस्सरम् ।
स्वयमेवानुरूपेण कर्मसामान्यतां त्यजेत् ॥ २३३ ॥

उन्हें सिद्धार्थोदकादि से बृहत् स्नान करावे और चन्दनादि से अलङ्कृत करे । उन्हें अपने मन्त्र से न्यास द्वारा सुसंस्कृत करे अथवा नयनोन्मीलन, शयना-धिवासादि संस्कारों से सुसंस्कृत करे । इस प्रकार भिन्न वस्तु होते हुये बिम्ब के सन्निकट स्थित रहते हुये, अथवा अन्यत्र स्थित होने पर, अथवा प्रतिष्ठा काल में बिम्ब के अङ्ग भाव को प्राप्त होने वाले गरुड़ का प्रधान देवता के साथ-साथ संस्कार करे । हवनान्त ध्यानार्चन पुरःसर स्वयं बिम्ब के अनुरूप ही सारा कार्य संपादन करे । कर्म सामान्य का परित्याग करे ॥ २३१-२३३ ॥

तस्मात् तद्यागभवनादुत्थाप्यादाय बिम्बवत् ।
देवं प्रदक्षिणीकृत्य प्राग्वत् संस्थापनावनौ ॥ २३४ ॥
एकस्मिन् मध्यरन्ध्रे तु वज्राद्यं पञ्चकं न्यसेत् ।
एक एव तदूर्ध्वेअथ आधारो य उदीरितः ॥ २३५ ॥
प्राग्वन्निवेशनीयं च तत्पीठोर्ध्वे तु भौवनम् ।
भावनीयं शरीरे च शेषं विज्ञप्तिलक्षणम् ॥ २३६ ॥

इस कारण उस यागगृह से उन्हें बिम्ब के समान ही उठा कर संस्थापन भूमि में स्थापित कर गरुड़ देव की प्रदक्षिणा करे । किसी एक मध्य में रन्ध्र बनाकर उसमें वज्रादि को स्थापित करे, उस पर अकेले पहिले की तरह सन्निविष्ट करे जो 'आधार' कहे जाते हैं । उस पीठ के ऊपर भुवनाध्वा तथा शेष पदाध्वादि पाँच स्थापित करे ॥ २३४-२३६ ॥

पाठयेद् ब्राह्मणांस्तद्वत् सुपर्णोऽसीति मन्त्रराट् ।

तमेवास्त्रार्चितं कृत्वा यायाद् देवनिकेतनम् ॥ २३७ ॥
कलशैः पृष्ठभागस्थैःस्नापनीयस्ततो विभुः ।
सह मूर्तिधरैः सर्वैर्यथा चानुक्रमेण तु ॥ २३८ ॥

अथैवं प्रतिष्ठितस्य गरुडस्यार्चनं कृत्वा गर्भगेहान्तः प्रविश्य पूर्वं स्नपनमण्टपे पृष्ठभागे स्थापितैश्चत्वारिंशत्कलशैर्देवमभिषेचयेदित्याह—तमिति सार्धेन ।

तदनन्तर ब्राह्मणों से 'सुपर्णोऽसि' इस मन्त्रराट् का पाठ करावे । फिर उनकी अर्चना कर स्वयं देवगृह में जावे । वहाँ जाकर उन विभु के पृष्ठ भाग में संस्थापित कलशों से सभी मूर्त्तिधरों के साथ अनुक्रम के अनुसार इस प्रकार देवाधिदेव का अभिषेक करे ॥ २३७-२३८ ॥

सहाघमर्षणेनैव गायत्र्यावर्तितेन तु ।
प्रागृङ्मयस्तु तदनु चतुर्थावर्तितैः स्वयम् ॥ २३९ ॥
हृदाद्यावर्तितैः षड्भिर्यजुर्ज्ञस्तेन सेचयेत् ।
भूयः स्वयं तथा कुम्भैः सामवित् स्नापयेत् ततः॥२४०॥
षड्भिरन्यैः स्वयं पश्चात् तेनैवाथर्ववित्ततः ।
पवित्रावर्तितैरेवं कलशैरन्तरान्तरा ॥ २४१ ॥
सह चैकायनीयैस्तु स्नापनीयमनन्तरम् ।
चतुर्मूर्तिमयैर्मन्त्रैर्बहुशः परिभावितैः ॥ २४२ ॥
स्नापयेत् कलशेनाथ शेषमादाय वै घटम् ।
तच्छतावर्तितं कृत्वा समूलेनाद्य मूर्तिना ॥ २४३ ॥
सार्धं वै देवदेवस्य मूर्ध्नि चोत्कीर्य पाठयेत् ।

अभिषेकप्रकारमाह—सहाघमर्षणेनैवेत्यारभ्य जितन्त इति वै सर्वैरित्यन्तम् । यजुर्ज्ञस्तेन सेचयेदित्यत्र तेनाघमर्षणसूक्तगायत्रीभ्यामभिमन्त्रितेनैकेन कलशेनेत्यर्थः । भूयः स्वयं तथा कुम्भैरित्यत्रापि कुम्भैः पूर्ववद् हृदाद्यभिमन्त्रितैः षड्भिः कलशैरित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । पवित्रावर्तितैः कलशैश्चतुर्भिरित्यर्थः, ''ओङ्काराद्यं पवित्रान्तं मन्त्राणां प्राक् चतुष्टयम्'' (२४।२९०) इति पूर्वोक्तत्वात् । अन्तरान्तरा वासुदेवादिमूर्तिमन्त्रकलशाभिषेकस्य मध्ये मध्ये इत्यर्थः । स्नापयेत् कलशेनाथेत्यत्रापि पवित्रमन्त्र एव बोध्यः । समूलेन मूलमन्त्रसहितेन आद्यमूर्तिना परमन्त्रेणेत्यर्थः । तस्यादिमूर्तिविषयकत्वात् तथैव व्यवहृतः ॥ २३९-२४३ ॥

यजुर्वेदज्ञ अघमर्षण सूक्त तथा गायत्री से अभिमन्त्रित छह कलश से, फिर स्वयं हृदयाभिमन्त्रित छह कलशों से स्नान करावे, फिर सामवेदी छह कलशों से स्नान करावे फिर स्वयं छह कलशों से स्नान करावे फिर अथर्ववेदी पवित्रावर्तित चार, छह कलशों से स्नान करावे । इसी प्रकार मध्य मध्य में वासुदेवादिमूर्त्ति मन्त्र

से अभिमन्त्रित छह कलशों से स्वयं स्नान करावे । इस प्रकार एक सौ बार आवृत्ति कर मूल मन्त्र सहित परमन्त्र से स्नान करावे ॥ २३९-२४३ ॥

जितन्त इति वै सर्वास्ततश्चास्त्रोदकेन च ॥ २४४ ॥

तदनन्तर देवाधिदेव का शिर आभरणादि रहित कर 'जितन्ते' इस सभी मन्त्रों से तत्पश्चात् अस्त्रोदक से स्नान करावे ॥ २४४ ॥

प्रासादसंशोधनकथनम्

प्रासादं शोधयित्वा च स्नानवर्जं समाचरेत् ।
पूर्वोक्तमासनाद्यं यद् यागदानावसानिकम् ॥ २४५ ॥
सदक्षिणं विशेषेण गुरौ मूर्तिधरेषु च ।
देवं प्रणम्य विज्ञाप्य कर्मणा मनसा गिरा ॥ २४६ ॥
त्वमर्चान्तर्गतो देव मया यच्छयनादिषु ।
नीतोऽसि चाभिमुख्यं तु क्षन्तव्यं तन्ममाच्युत ॥ २४७ ॥

अथ प्रासादसंशोधनम्, स्नपनं विनाऽऽसनादिभिर्हविर्निवेदान्तैर्भोगैर्यथाविध्यभ्यर्चनम्, कारिप्रदानम्, आचार्यादीनां दक्षिणादानम्, प्रणामम्, विज्ञापनम्, पुनः प्रणामादिकम्, ''गुरुदेवाग्निविप्रेषु पृष्ठभागं न दर्शयेत्'' इत्युक्तप्रकारेण भगवदभिमुखमेव बहिर्निष्क्रमणम्, द्वारावरणदेवानां यथाविधि बलिदानम्, आचमनम्, पुनर्भगवन्मन्दिरप्रवेशनं चाह—ततश्चास्त्रोदकेन चेत्यारभ्य यायाद् देवगृहं तत इत्यन्तम् ॥ २४४-२४८ ॥

अब **प्रासाद संशोधन** कहते हैं—स्नान के बिना आसनादि से आरम्भ कर भोग, दक्षिणा पर्यन्त वस्तुओं से प्रासाद की अर्चना करे । कार्यकर्त्ताओं को दान दें। आचार्यादि को दक्षिणा देवे, फिर देवाधिदेव को प्रणाम करे । तदनन्तर कर्मणा मनसा एवं गिरा देवाधिदेव से इस प्रकार निवेदन करे—हे भगवन्! मैंने अपने अर्च्यादि कार्यों के लिये शयनादि पर आपको पधरवा कर जो आपने प्रत्यक्ष किया है, हे अच्युत! उसे क्षमा कीजिये ॥ २४५-२४७ ॥

एवं प्रणम्य विज्ञाप्य क्षान्त्वा निष्क्रम्य सम्मुखम् ।
आचम्य च बलिं दत्त्वा यायाद् देवगृहं ततः ॥ २४८ ॥

इस प्रकार प्रणाम करे, निवेदन करे, अपराध क्षमा करावे, फिर भगवान् की ओर पीठ न दिखा कर उनके सामने बाहर निकले । तदनन्तर द्वार के आवरण करने वाले देवताओं को बलिदान प्रदान करे एवं आचमन करे । फिर भगवान् के मन्दिर में प्रवेश करे ॥ २४८ ॥

तत्रासनादिकैर्यष्ट्वा स्नानान्तैः पूर्ववत् प्रभुम् ।

अपनीताम्बरैः कुम्भैर्धान्यपीठोपरि स्थितैः ॥ २४९ ॥
हृन्मन्त्रपूजितैर्भूयः सलिलेन सुपूरितैः ।
सह मूर्तिधरैः प्राग्वदन्तरान्तरयोगतः ॥ २५० ॥
कार्यं वै स्नानकर्माऽथ विधिदृष्टेन कर्मणा ।
निरोदकेऽथ प्रासादे पुनराराध्य पूर्ववत् ॥ २५१ ॥
भोगैरासनपूर्वैस्तु सम्प्रदानान्तमच्युतम् ।
मुद्रां बद्ध्वा जपेन्मन्त्रं स्तुत्वा क्षान्त्वा बहिर्व्रजेत् ॥ २५२ ॥

अथ चतुर्थेऽहनि कर्तव्याराधनस्नपनालङ्कारहविर्निवेदनाद्यग्निसन्तर्पणपूर्णाहुति-बलिदानमहाकुम्भादिविसर्जनान्याचार्यादीनां भूषणप्रदानानि चाह—तत्रासनादिकैर्यष्ट्वेत्यादिभिः । अत्र चतुर्थेऽहनीति कण्ठरवेणानुक्तावप्यर्थपर्यालोचनया तज्ज्ञायते, अन्यथा बल्यन्तमाराधनमुक्त्वा, पुनस्तदानीमेवार्चनस्नपनाद्युक्त्यसंभवात् । नन्वत्र—

आचम्य च बलिं दत्त्वा यायाद् देवगृहं ततः ॥
तत्रासनादिकैर्यष्ट्वा स्नानान्तैः पूर्ववत् प्रभुम् । (२५।२४८-२४९)

इत्यव्यवधानेन प्रतिपादितस्य चतुर्थेऽहनि कर्तव्यपरत्वं वक्तुं कथं शक्यते, अतो माध्याह्निकार्चनादिपरत्वं वक्तव्यमिति चेत्, किमावयोर्विवादेन । तस्य चतुर्थेऽहनि कर्तव्यपरत्वं तदुपबृंहणयोरीश्वरपारमेश्वरयोरेव निर्णीतं पश्यतु भवान् । अपनीताम्बरैः कुम्भैः पूर्वं स्नानमण्टपे दक्षिणभागे स्थापितैश्चत्वारिंशत्कलशैरित्यर्थः । भूयःसलिलेन सुपूरितैः पूर्वं पूरिते जले किञ्चित् शोषिते सति पुनः समग्रं पूरितैरित्यर्थः । प्राग्वत् प्रतिष्ठादिवसकृतस्थूलसूक्ष्माख्यस्नपनवदित्यर्थः । स्वकीयाभिरभिज्ञाभिर्वासुदेवादि-मन्त्रैरित्यर्थः ॥ २४९-२६० ॥

वहाँ आसन से प्रारम्भ कर स्नानान्त प्रभु की पूजा करे । फिर धान्य पीठ पर संस्थापित, आच्छादित वस्त्रों से रहित, नमः मन्त्र से पूजित जल के शोषण हो जाने के कारण पुनः जल से परिपूर्ण कलशों से मूर्त्तिधरों के साथ बीच-बीच में विधि के अनुसार स्नान कर्म करावे । इस प्रकार जलरहित उस प्रासाद में पुनः आसन से आरम्भ कर भोग पर्यन्त, तदनन्तर दक्षिण पर्यन्त भगवान् की पूजा करे । तत्पश्चात् साधक मुद्रा बाँध कर जप करे, स्तुति करे, क्षमा माँगे, फिर बाहर निकले ॥ २४९-२५२ ॥

शतं सहस्रं साष्टं वा जुहुयान्मन्त्रराट् स्वयम् ।
साङ्गं सपरिवारं च संहितोच्चारयुक्तितः ॥ २५३ ॥
मूर्तिपैः प्रणवाद्याभिर्गायत्रीभिः शतं शतम् ।

फिर संहिता (वेद) घोष की तरह उच्चारण करते हुये साङ्ग सपरिवार मूल मन्त्र से एक सौ आठ अथवा एक हजार आठ आहुति देवे । प्रणवादि मूर्त्तिप मन्त्रों

से तथा प्रणवादि गायत्री मन्त्रों से सौ-सौ आहुति देवे । इसी प्रकार वासुदेवादि मन्त्रों से भी उतनी ही आहुति प्रदान करे ॥ २५३-२५४ ॥

एकायनैरभिज्ञाभिः स्वकीयाभिस्तु तत्समम् ॥ २५४ ॥
प्रदापयेत् ततः पूर्णानृग्वेदाद्यांस्तु मूर्तिपान् ।
एकायनांस्तदन्ते तु क्रमात् तान् पाठयेत् ततः ॥ २५५ ॥
पूर्णात्पूर्णेति वै मन्त्रमाद्यात् पूर्णमसीति यत् ।
सनमस्केन मन्त्रेण स्वयं साङ्गेन निक्षिपेत् ॥ २५६ ॥
बलिभिस्तु ततः सर्वान् भूतपूर्वांस्तु तर्पयेत् ।
प्रविश्याचम्य तदनु क्षान्त्वा देवं तु कुम्भगम् ॥ २५७ ॥
पूर्ववन्मण्डलस्थं तु कुण्डस्थं तदनन्तरम् ।
भूषयेद् गुरुपूर्वांस्तु भूषणैः कटकादिकैः ॥ २५८ ॥
गुरोर्वा गुरुपुत्रस्य यागद्रव्यं निवेदयेत् ।
बिम्बमेकायनान्तं तु सर्वसाधनसंयुतम् ॥ २५९ ॥
दासीकर्मकरोपेतं शुद्धदेवलकान्वितम् ।

फिर मूर्त्तिप लोगों को सम्पूर्ण ऋग्वेदादि देवे तथा अन्त में एकायनों को देवे । फिर स्वयं 'पूर्णात् पूर्णेति' मन्त्र का पाठ करे और प्रथम 'पूर्णमसीति यन' इत्यादि नमस्कार युक्त साङ्ग मन्त्र का स्वयं पाठ करे । तदनन्तर भूतपूर्व सभी देवताओं को बलि प्रदान कर तृप्त करे । फिर प्रवेश कर आचमन करे । तदनन्तर कुम्भ पर स्थित, तदनन्तर मण्डल पर स्थित, तदनन्तर कुण्ड में स्थित, देवाधिदेव से क्षमा माँगे । तदनन्तर कटकादि भूषणों से पूर्व गुरु को और तदनन्तर अन्यों को भूषित करे । गुरु को अथवा गुरु पुत्र को यज्ञ का सभी द्रव्य प्रदान करे । तदनन्तर सभी साधनों से संयुक्त एकायन पर्यन्त बिम्ब दासी और कार्यकर्ताओं से तथा शुद्ध देवलक से युक्त कलश स्थापन करे ॥ २५४-२५९ ॥

कुम्भस्थापनविधानम्

शैलोत्थं पूर्ववत् कुम्भं कृत्वा धातुमयं तु वा ॥ २६० ॥
तद् द्विगोलकमानेन मन्त्रबिम्बेन वै सह ।
शुभेऽन्यस्मिन् दिने यागमण्टपे ह्युक्तलक्षणे ॥ २६१ ॥
अधिवास्य यथान्यायं सर्वोपकरणान्वितम् ।
स्नानाद्यमखिलं ताभ्यामापाद्य च यथाविधि ॥ २६२ ॥
तस्मिन् हृदादिसंयुक्ते बिम्बं कुम्भे निवेश्य च ।
वस्त्रैराभरणैः पुष्पैः स्वच्छं कृत्वार्घ्यपुष्पहृत् ॥ २६३ ॥

शनैः प्रासादपर्यन्तमारुहेद् मूर्तिपैः सह।
तत्र प्रागासनादींस्तु कृत्वा संक्षालनान्तिमान्॥ २६४ ॥
आचरेद् बीजविन्यासं सर्वं वाऽऽवाहनोदितम्।
निवेश्यानीय तं मध्ये बिम्बं कुम्भसमन्वितम्॥ २६५ ॥

अथ प्रासादोपरि कुम्भस्थापनविधानं प्रासादप्रतिष्ठाविधानं चाह—शैलोत्थं पूर्ववत् कुम्भमित्यारभ्य निवेश्य ध्वजदण्डाग्रे गन्धाद्यैरर्चयेत्तत इत्यन्तम्।

तत्राद्यमनुसन्धानमेकं कृत्वा परान्वितम्॥
सामान्यलक्षणं पश्चात् पूर्वोक्तं वै कलात्मकम्। (२५।२६६-२६७)

इत्यत्राद्यमनुसन्धानम्,

मूलमन्त्रं पुरा ध्यात्वा संशान्तब्रह्मलक्षणम्॥
आधारादिध्वजाग्रान्तं व्याप्तं तेनाखिलं स्मरेत्। (२५।२२४-२२५)

इति पूर्वोक्तं बोध्यम्। कलात्मकं ज्ञानैश्वर्यादिषट्कलात्मकमित्यर्थः। इदमपि पूर्वोक्तम्—"स्थूलं षोढा शिलान्तगम्" (२५।२२६) इति। अत्र प्रसङ्गात् "अमलं शान्तसंज्ञं वै" (२५।२७५) इत्यारभ्य "उदिताख्यं हि चक्रराट्" (२५।२८१) इत्यन्तममल-(शान्त)-शान्तोदित-उदितभेदैश्चक्रस्य चातुर्विध्यं तत्तल्लक्षणं च प्रतिपादितम्। अत्रेश्वरपारमेश्वरयोः—

चक्रसंस्थापने कश्चिद् विशेषः श्रूयतां द्विजाः॥
अमूर्तं द्वादशारं तु अष्टारं षडरं तु वा।
चक्रं संस्थापयेत् तत्र प्रासादशिखरोपरि॥
मूर्तमङ्गणदेशे तु षोडशाष्टभुजं तु वा।
तस्य स्थापनकाले तु तस्य संज्ञामनुं जपेत्॥
विद्यां गदामित्याद्यं यत् पाठयेत् तद्विदो जनान्।
—(ई०सं० १८।५०३-५०६, पा०सं० १५।९७५-९७९)

इत्यादिभिस्तन्मन्त्रपाठनाभिषेकादयः कतिचिद्विशेषाः प्रतिपादिता ग्राह्याः। एवं भगवत्प्रतिष्ठादिष्वपि तत्रैतदानुपूर्व्या एव कथनेऽपि मध्ये मध्ये बहवो विशेषाः प्रतिपादिता द्रष्टव्याः॥ २६०-२८७॥

अब **प्रासाद के ऊपर कुम्भ स्थापन का विधान** कहते हैं—पूर्व में शिला पर रखा हुआ कलश अथवा धातु निर्मित कुम्भ द्विगोलक मान में, इन सभी वस्तुओं को, मन्त्र बिम्ब के साथ शुभ मुहूर्त्त युक्त पाँचवे दिन उक्त लक्षण युक्त यागमण्डप में प्रवेश करे। सर्वोपकरणान्वित उक्त सभी वस्तुओं का विधान सहित अधिवासन करे। उन दोनों का कलश और बिम्ब यथाविधि स्नान करावे। उस ह्रदादि से संयुक्त कुम्भ में बिम्ब को सन्निविष्ट करे। स्वच्छ अर्घ्य पुष्प देकर वस्त्र आभरण एवं पुष्प से विभूषित करे। फिर मूर्त्तियों के साथ प्रासाद के ऊपरी भाग पर आरोहण करे। वहाँ उनको आसन देवे, प्रक्षालन करे, बीज विन्यास करे

और आवाहनादि समस्त कार्य करे । फिर प्रासाद मध्य में कुम्भ सहित बिम्ब सन्निविष्ट करे ॥ २५९-२६५ ॥

हृदाद्यन्तनिरुद्धेन मूलमन्त्रेण लाङ्गलिन् ।
तत्राद्यमनुसन्धानमेकं कृत्वा परान्वितम् ॥ २६६ ॥
सामान्यलक्षणं पश्चात् पूर्वोक्तं वै कलात्मकम् ।
सम्पूज्य वाससाच्छाद्य सुधया व्यक्ततां नयेत् ॥ २६७ ॥

हे सङ्कर्षण! हृदादि तथा हृदान्त मन्त्र से सम्पुटित मूल मन्त्र से परान्वित अनुसंधान एवं आद्य अनुसन्धान को एक कर पूर्वोक्त ज्ञानादि लक्षण कलात्मक को भी सामान्य लक्षण बनावे । उनकी पूजा करे, वस्त्र से आच्छादित करे और सुधालेप से उसे अभिव्यक्त करे ॥ २६६-२६७ ॥

ततः पिण्डे तदूर्ध्वे तु साङ्गं कुर्याद् यथोदितम् ।
प्रासादं स्थापयेत् पश्चात् पूर्वोद्दिष्टेन वर्त्मना ॥ २६८ ॥
समालभ्यार्चयित्वा च स्रगाद्यैर्मण्डयेत् ततः ।
पूर्ववत् पाठयेद् विप्रान् तत्प्रतिष्ठापने तु वै ॥ २६९ ॥

इसके बाद पिण्ड में फिर उस के ऊपर पूर्वोक्त की भाँति साङ्ग पूजा करे, उनका आलम्भन (स्पर्श) करे, अर्चन करे, मालादि से भूषित करे, तदनन्तर उनकी प्रतिष्ठा में ब्राह्मणों से पाठ करावे ॥ २६८-२६९ ॥

संरोध्य वर्ममन्त्रं तु तत्र ध्यानधिया स्वयम् ।
पूर्णान्तमखिलं कृत्वा विधिनानेन वै पुनः ॥ २७० ॥
आरोहेति तु वै साम पाठयेत् सामगांस्तु वै ।

उसमें ध्यान करते हुये कवच मन्त्र अवरुद्ध करे । फिर पूर्णाहुति करे तथा इसी विधि से सामगों से 'आरोह' इस साम मन्त्र का पाठ करावे ॥ २७०-२७१ ॥

चक्रमामलसारस्य मध्यतः सन्निवेशयेत् ॥ २७१ ॥
यथाभिमतरूपं तु दिग्वक्त्रं वाऽम्बराननम् ।
स्वशक्तिवर्णदण्डस्थं चण्डमार्तण्डभास्वरम् ॥ २७२ ॥
चक्रमन्त्रं न्यसेत् तस्मिन् वर्णाध्वानं पुरोदितम् ।
गत्यागतिप्रयोगेण प्राक् प्रमेयजलक्षणम् ॥ २७३ ॥

अब प्रसङ्गात् अमल शान्त शान्तोदित एवं उदित चार प्रकार के चक्रों का लक्षण विवरण कहते हैं—आराधक इसके बाद अमलसार का चक्र मध्य में सन्निविष्ट करे । वह चक्र अपनी इच्छानुसार वस्त्ररहित हो अथवा वस्त्रसहित हो । वह

अपनी शक्ति रूप वर्ण दण्ड में स्थित रहने वाला है । अत्यन्त चण्ड भास्कर के समान तेजस्वी है । उस चक्र में 'वर्णाध्वा' युक्त चक्र मन्त्र स्थापित करे । वही वर्णाध्वा गति आगति के प्रयोग से चक्र का प्रमेय जन्य लक्षण है ॥२७१-२७३॥

तान्यथावत् पुरा ज्ञात्वा द्रव्यमूर्तित्वमागतम् ।
कुर्यात् ततोर्ध्वसन्धानं नान्यथा तु महामते ॥ २७४ ॥

उन मन्त्रों को यथावत् द्रव्यमूर्त्ति रूप में जब जान लेवे, तभी प्रासाद शिखर के ऊपर चक्र का स्थापन करे, अन्यथा नहीं ॥ २७४ ॥

अमलं शान्तसंज्ञं वै तथा शान्तोदितोदितम् ।
एकमेव हि तन्मूर्तिं यश्चक्रं वेत्ति तत्त्वतः ॥ २७५ ॥
सोऽस्मिन् संसारचक्रे तु सर्वाश्रमनिवासिनाम् ।
सर्वधर्मरतानां च चक्रवर्तित्वमाप्नुयात् ॥ २७६ ॥

अमल, शान्त एवं शान्तोदित तथा उदित भेद से चक्र के चार भेद हैं । उन सभी को जो एक मूर्त्ति स्वरूप में देखता है, वही ठीक प्रकार से चक्र को जानता है । वह इस संसार चक्र में धर्मरत सर्वाश्रम निवासियों के मध्य में चक्रवर्त्तित्व प्राप्त करता है ॥ २७५-२७६ ॥

यच्छब्दब्रह्ममूर्त्यैव सिद्धमाक्षं निराश्रयम् ।
अन्तर्बहिस्थं सर्वेषां मोक्षदं चामलं स्मृतम् ॥ २७७ ॥

दोनों प्रकार के अनुसंधानों को एक कर सामान्य लक्षण बनावे—(१) जो शब्द-ब्रह्म मूर्त्ति होने से सिद्ध है, आक्ष (आश्रययुक्त) है, निराश्रय (आश्रयरहित) है, सबके भीतर और बाहर विद्यमान है, मोक्ष देने वाला है, वह 'अमल चक्र' कहा जाता है ॥ २७७ ॥

क्षीरोदार्णवतुल्यं यत् सहस्रादित्यसन्निभम् ।
निरङ्गं तीक्ष्णधारं वै तच्छान्ताख्यं हि योगदम् ॥ २७८ ॥

(२) जो क्षीर समुद्र के समान है और सहस्रों आदित्य के समान देदीप्यमान है, अङ्ग रहित तथा तीक्ष्ण धारा वाला है और योग देने वाला है उस चक्र का नाम 'शान्त' है ॥ २७८ ॥

यत्तु नानाङ्गभावेन स्वातन्त्र्यात् स्वयमेव हि ।
सर्वदिक्प्रसृतां कृत्वा स्वात्मवृत्तिं हि वर्तते ॥ २७९ ॥
ईषद्वलयवन्नाभेरराणामन्तरेखवत् ।
शान्तोदितं च तद्विद्धि चक्रमिच्छाप्रदं च यत् ॥ २८० ॥

(३) जो अपनी वृत्तियों को स्वयं अपनी स्वतन्त्रता से अनेक प्रकार के अङ्ग भाव से सारे दिशाओं में फैला कर वर्तमान रहता है। जो ईषद् वलय वाले नाभि के भीतर रेखा के समान अराओं से संयुक्त है उस चक्र को 'शान्तोदित' समझना चाहिये। वह इच्छा (कामना) प्रदान करने वाला है ॥ २७९-२८० ॥

यच्छान्तमूर्तौ सम्बुद्धः सर्वं कृत्वाऽवतिष्ठते।
प्रवृत्तं नाभिपूर्वं तु उदिताख्यं हि चक्रराट्॥ २८१ ॥

(४) जो शान्तमूर्त्ति में जागरूक होकर सब कुछ करके स्थित रहता है, नाभि से पूर्व प्रवृत्त रहता है, वह 'उदित' नामक चक्रराट् कहा जाता है ॥ २८१ ॥

तस्मिन्नाराधितो मन्त्रस्तद्वै सम्पूजितं स्मृतम्।
जप्तं सन्तर्पितं भक्त्या सर्वेषां सर्वमृच्छति॥ २८२ ॥

उसी में मन्त्रों की आराधना की जाती है, वही पूजित कहा जाता है और उसी का भक्तिपूर्वक किया गया जप सभी को सब प्रकार की कामना प्रदान करता है ॥ २८२ ॥

एवं चाभिमतं चक्रं सर्वविघ्नक्षयङ्करम्।
प्रतिष्ठाप्य समभ्यर्च्य तस्यैव समनन्तरम्॥ २८३ ॥
त्र्यंशेन शिखरादुच्चं खगराट्परिभूषितम्।
संस्कृत्य ध्वजदण्डं च शिखामन्त्रेण विन्यसेत्॥ २८४ ॥

इस प्रकार का अभिमत चक्र समस्त विघ्नों का क्षय करता है। इस प्रकार के चक्र की प्रतिष्ठापना कर वैष्णव अर्चना करे। पुनः उसी के साथ शिखर के उच्च भाग में तीसरे अंश में खगराट् (गरुड़) को सुशोभित करे। तदनन्तर ध्वजदण्ड का संस्कार करे और शिखा मन्त्र से न्यास करे ॥ २८३-२८४ ॥

ततो विविधवर्णं च किङ्किणीगणभूषितम्।
ध्वजाग्राच्छिखरार्धं च यावद् दीर्घमकृत्रिमम्॥ २८५ ॥
दैर्घ्याद् द्वादशमांशेन द्विनवांशेन वा ततम्।
कृत्वाऽस्त्रसन्निधिं तस्मिन् लाञ्छनाख्ये पुरा पटे॥ २८६ ॥
निवेश्य ध्वजदण्डाग्रे गन्धाद्यैरर्चयेत् ततः।

इसके बाद विविध वर्ण की किंकिणियों से युक्त ध्वजा के अग्रभाग से शिरारार्ध पर्यन्त चौड़ा, अकृत्रिम चौड़ाई का बारह गुना, अथवा अट्ठारह गुना लम्बा, उस लाञ्छन पट को ध्वजदण्ड के अग्रभाग मे सन्निविष्ट कर गन्धादि से अर्चित करे ॥ २८५-२८७ ॥

स्वयंकृतानां बिम्बानां मयेदं सम्प्रकाशितम् ॥ २८७ ॥
प्रतिष्ठापनमब्जाक्ष स्वतन्त्रेष्वयनेषु च ।
साङ्कर्येण विना त्वेवं कृतं भवति सिद्धिदम् ॥ २८८ ॥
अन्यथाऽसिद्धिदं विद्धि नृणां व्यामिश्रयाजिनाम् ।

स्वयं कल्पितबिम्बानामेवं प्रतिष्ठादिकमुक्तम् । स्वयं व्यक्तादिष्वप्येवमेव मन्त्र-तन्त्रबिम्बाद्यसाङ्कर्येणार्चनादिकं सिद्धिदम्, अन्यथा दोषावहमित्याह—स्वयंकृतानामिति द्वाभ्याम् ॥ २८७-२८९ ॥

यह क्रिया अपने द्वारा संस्थापित बिम्ब में प्रकाशित की गई है । स्वयं व्यक्त बिम्ब में इसी प्रकार मन्त्र, तन्त्र एवं बिम्बादि का साङ्कर्य रहित अर्चनादि सिद्धिप्रद होता है अन्यथा साङ्कर्य से किया गया अर्चनादि दोषावह होता है ॥ २८७-२८९॥

एकस्मिन्नासने स्थाने चतुस्त्रिद्व्यादिमूर्तिना ॥ २८९ ॥
व्यक्तीभूतं यथा लोके लोकानुग्रहकाम्यया ।
स्वयं नानास्वरूपेण स्वर्गादौ स्थापनं तथा ॥ २९० ॥
न कार्यं मनुजैर्वर्णधर्मज्ञैर्नैकभावनैः ।
तथा वै समबुद्धिस्थैः कृपया सम्प्रवर्तकैः ॥ २९१ ॥
क्रियाभेदरतैः शुद्धैर्नानाविबुधयाजकैः ।
प्रणवैकप्रलापस्थैः शान्तचित्तैरमत्सरैः ॥ २९२ ॥
मन्त्रमुद्राक्रमध्यानसम्भूतिलयलक्षकैः ।
तथा तत्संकरोत्पन्नदोषाणां ध्वंसनक्षमैः ॥ २९३ ॥
प्रस्थापितस्तु वै सम्यग् ज्ञानमूर्तिर्जगद्गुरुः ।

लोके एकस्मिन् स्थाने एकस्मिन्नेवासने चतुस्त्रिद्व्यादिरूपेण यथा भगवान् स्वयं व्यक्तीभूतस्तथा सामान्यैर्मनुजैः स्था(प)नं (न)कार्यम्, अपि तु सम-बुद्धिस्थत्वादिविशिष्टैर्विशेषाधिकारिभिस्तथा स्थापनं कार्यमित्याह—एकस्मिन्निति पञ्चभिः ॥ २८९-२९४ ॥

लोक में जिस प्रकार एक ही आसन पर चार, तीन तथा दो रूपों से भगवान् व्यक्त होते हैं । सामान्य मनुष्य वैसा एक ही आसन पर न करे । अपितु समदर्शी विशिष्ट-विशिष्ट अधिकारी क्रिया-भेदरत, शुद्ध, अनेक देवता का यज्ञ कराने वाले, केवल प्रणव का जप करने वाले, शान्त चित्त, मत्सरता रहित, मन्त्र मुद्रा क्रम स्थान सम्भूति एवं लय के लक्षणों को जानने वाले एवं साङ्कर्य से उत्पन्न दोषों के ध्वसन में सक्षम ऐसे महात्मा ही इस प्रकार के ज्ञानमूर्त्ति जगद्गुरु की स्थापना करे ॥ २९०-२९४ ॥

भिन्नमन्त्रक्रियारूपं न कुर्यात् तदपेक्षया ॥ २९४ ॥

साधारमालयं पीठं भवाख्यं विभवात्मनाम् ।
देवानां मर्त्यधर्मस्थैः प्रतिष्ठायज्ञकर्मणि ॥ २९५ ॥
संसारदेवतानां च स्थापितानां तु वै पुरा ।
कृत्वा तु भगवद्बिम्बमालये वा तदासने ॥ २९६ ॥
निवेशयति यो मोहाद् बिम्बेन सह तस्य वै ।
जायते च भयं घोरमिहामुष्मिकदोषदम् ॥ २९७ ॥
नाप्नोत्याराधकानां तु सकाशादर्चनं परम् ।
यथा बिम्बं तथा कर्ता नाप्नुयादुत्तमं फलम् ॥ २९८ ॥

विभवादेवानां प्रतिष्ठायज्ञे आधारालयपीठादिषूक्तक्रमं विना केवलमर्त्यधर्मस्थैः सह स्वेच्छया विभिन्नमन्त्रतन्त्रलक्षणानि न कुर्यादिति, पूर्वं प्रतिष्ठितानां देवानामालये तदासने वा तेन बिम्बेन सह पुनस्तत्समभगवद्बिम्बान्तरस्थापनं दोषावहमिति चाह— भिन्नमन्त्रक्रियारूपमित्यारभ्य नाप्नुयादुत्तमं फलमित्यन्तम् ॥ २९४-२९८ ॥

उनकी देखा-देखी अन्य लोग भिन्न मन्त्र एवं क्रिया रूप से प्रतिष्ठापना न करें । विभव देवताओं के प्रतिष्ठा यज्ञ में आधार, आलय एवं पीठ में उक्त क्रम को छोड़कर केवल मनुष्यों के साथ स्वेच्छापूर्वक विभिन्न मन्त्र-तन्त्रों वाला लक्षण न करें । पूर्व प्रतिष्ठित देवताओं के आलय में उनके आसन पर उस बिम्ब के साथ पुन: उनके समान अन्य भगवद्बिम्ब का स्थापन दोषावह होता है । जो मोहवश पूर्व में स्थापित देवालय में उनके आसन पर अन्य बिम्बों का मोहवश स्थापन करता है उसे इस लोक में तथा परलोक में दोष उत्पन्न करने वाला महामोह होता है । ऐसा प्रतिष्ठित बिम्ब आराधकों के द्वारा किया गया अर्चन नहीं प्राप्त करता और जिस प्रकार बिम्ब निष्फल होता है उसी प्रकार कर्त्ता को भी कोई फल नहीं होता ॥ २९५-२९८ ॥

अर्चायामधिके पीठे ह्यपेक्षालक्षणोज्झिते ।
सकृद् विभवदेवानां स्थापनं न विरोधकृत् ॥ २९९ ॥
नान्यकाले न चान्यस्य नान्यमूर्तिनिवेशनम् ।
विहितं भगवत्पीठे निविष्टव्यत्ययं विना ॥ ३०० ॥

एकस्मिन् पीठे विभवदेवानां सकृत् स्थापनमविरुद्धम्, पुनरन्यकाले स्थापनम् अन्यस्य स्थापनम्, अन्यमूर्तिस्थापनं च न विहितमित्याह—अर्चायामिति द्वाभ्याम् । व्यत्ययं विनेत्यनेन पूर्वं स्थापनकाले स्थानाद्यव्यत्यये पुनर्यथाक्रमस्थापनं विहितमित्युक्तं भवति ॥ २९९-३०० ॥

यदि अर्चा में अपेक्षित लक्षण से पीठ का मान अधिक हो, तो उस एक पीठ पर उसी काल में एक विभव देव के साथ अन्य विभव देव का स्थापन

विरुद्ध नहीं होता । किन्तु स्थापन से अतिरिक्त काल में पूर्व स्थापित देवता से अन्य देवता के स्थापन का विधान विरुद्ध है । अतः भगवत्पीठ पर व्यत्यय के बिना पूर्व स्थापन काल में यथाक्रम स्थापन का ही विधान है ॥ २९९-३०० ॥

यथा भवोपकरणदेवानां मण्डलेऽर्चनम् ।
विहितं न तथा पीठे ह्येकस्मिन् सन्निवेशनम् ॥ ३०१ ॥

पूर्वोक्तचतुर्विंशतिभवोपकरणदेवतानां तु सर्वासामप्येकस्मिन्नेव मण्डले पूर्वं यथा सन्निवेशनमुक्तम्, तथैवस्मिन्नेव पीठे सन्निवेशनं न विहितमित्याह—यथेति ॥ ३०१ ॥

जिस प्रकार एक मण्डल में अनेक विभव देवों के अर्चन का विधान है उसी प्रकार एक पीठ पर अनेक विभव देवों का सन्निवेश भी विहित नहीं है ॥ ३०१॥

भिन्नक्रमोऽपि यः कुर्यात् पृथग् वा पिण्डिकोपरि ।
वामदक्षिणयोरेवं देवानामप्रदक्षिणम् ॥ ३०२ ॥
सदक्षिणस्य वै तेन प्रतिष्ठाख्यमखस्य च ।
निहिता चोन्नता कीर्तिस्तेनाथ स्वयमेव हि ॥ ३०३ ॥

सर्वप्रकारैरपि बिम्बानां पृथङ् निवेशनमेव कार्यमित्याह—
भिन्नेत्यादिभिः ॥ ३०२-३०८ ॥

जो भिन्न क्रम से एक ही पिण्डिका (पीठों) पर (बायें को दाहिने और दायें को बायें) बिम्बों को स्थापित करता है, अथवा अलग-अलग पिण्डिका पर इस प्रकार स्थापित करता है, वह स्वयं ही प्रदक्षिण क्रम से स्थापित प्रतिष्ठामख की उन्नति तथा कीर्त्ति का विस्तार करता है ॥ ३०२-३०३ ॥

प्राक्स्थितस्याधिकं मानाद्दक्षिणेनोर्जहानिकृत् ।

जो पहले से प्रतिष्ठित है किन्तु मान से अधिक है उसकी प्रदक्षिणा करने से ऊर्जा की हानि होती है ॥ ३०४ ॥

शस्तमद्यतनस्यैव प्राक्स्थितं यत् ततोऽधिकम् ॥ ३०४ ॥
नेच्छत्यन्योन्यसाम्यं तु स्थानवृत्तिं धनैः सह ।
उन्नतासनसंस्थोऽपि मानहीनस्तु सर्वदा ॥ ३०५ ॥

उसकी अपेक्षा मान युक्त आज का स्थापित बिम्ब प्रशस्त है, अधिक भी है। जिस प्रकार एक ओर ऊँचे स्थान पर रहने वाला दूसरी ओर सर्वदा से मानहीन धन के कारण एक दूसरे से साम्य तथा स्थान परिवर्तन परस्पर मानहीन हो और ऊँचा हो यह सम्भव नहीं ॥ ३०४-३०५ ॥

मानहीनस्तु कर्तॄणां कुर्यात् सुतसुखक्षयम् ।

बिम्बस्य बिम्बकर्तुर्वै देहिनां स्थापकस्य च॥ ३०६ ॥
वामकृत्स्थापनं वामे सममूनं तु वाधिकम्।
एवं ज्ञात्वा यथाशक्ति पृथक् कुर्यान्निवेशनम्॥ ३०७ ॥
सिद्धये चापवर्गार्थमर्चना देवतालये।

मानहीन बिम्ब के स्थापित करने से बिम्ब कर्त्ता देही साधक तथा संस्थापक के सुत और सुख का क्षय होता है, इसी प्रकार बाईं ओर स्थापित की जाने वाली मूर्त्ति बाईं ओर स्थापित करने पर भी यदि मान में कम, अथवा अधिक हो, तो वह भी बिम्ब कर्त्ता स्थापक एवं देही साधक के सुत का एवं सुख का क्षय करती है। अतः बिम्ब को पृथक्-पृथक् सन्निवेश करे॥ ३०६-३०७॥

प्रतोली साङ्गना चैव जगती देवमन्दिरम्॥ ३०८ ॥
सपीठं भगवद्बिम्बं भक्तानां यत्र युज्यते।
सम्यक् प्रदक्षिणीकर्तुं बलिधूपपुरःसरम्॥ ३०९ ॥
श्वेतद्वीपसमं विद्धि देवतायतनं तु तत्।
सन्निवेशस्त्वयं मुख्यस्त्वमुख्यस्त्वपरो हि यः॥ ३१० ॥
मुख्यात् पूर्णफलप्राप्तिर्मुख्याभासात् तथाविधा।

प्रतोल्यादिभिः सहितं भगवन्मन्दिरं सपीठं भगवद्बिम्बं च यत्र प्रदक्षिणीकर्तुं योग्यं भवति, तत्स्थानस्य श्वेतद्वीपसदृशमुख्यत्वम्, तत्प्रदक्षिणानवकाशस्थानस्यामुख्यत्वं चाह—प्रतोलीति त्रिभिः॥ ३०८-३११॥

जहाँ भक्तों की सिद्धि के लिये और उनकी मोक्ष प्राप्ति के लिये देवालय में अर्चना, प्रतोली, आँगन, जगती तथा देवमन्दिर है, पीठ सहित भगवद् बिम्ब है, बलिदान, धूपदानादि, पुरःसर प्रदक्षिणा के लिये सम्यक् स्थान है, वह देवतायतन श्वेतद्वीप के समान है। इस प्रकार सन्निवेश (प्रतिष्ठा स्थान) मुख्य है। इसके अतिरिक्त ज़हाँ प्रदक्षिणा के लिये अनवकाश हो वह स्थान अमुख्य (गौण) है। मुख्य से फल प्राप्ति होती है और मुख्याभास फलाभास होता है॥३०८-३११॥

सम्यक्स्थास्त्वादिदेवीया मूर्तयो याः पुरोदिताः॥ ३११ ॥
स्थूलं विना न चैवार्च्या नित्यं विप्रैस्तु बिम्बगाः।
गृहे पीठगता बिम्बे पुनस्ताः पत्रगा बहिः॥ ३१२ ॥
सदैव तैः समाराध्या भूतयेऽपि हि मुक्तये।

ब्राह्मणैः पूर्वोक्तपरवासुदेवीयमूर्तीनां स्वगृहे मण्डलं विना बिम्बेष्वर्चनं कार्यमिति, मण्डले तदर्चनस्थानविभागादिकं चाह—सम्यक्स्था इति द्वाभ्याम्। एवं च ब्राह्मणैरालये तद्बिम्बार्चनं कार्यमित्युक्तं भवति॥ ३११-३१३॥

सवाहनाऽवाहना वा बहिर्वा स्वगृहान्तरे ॥ ३१३ ॥
नार्चनीया नृपाद्यैस्ता बिम्बे वे मण्डलादृते ।

क्षत्रियाद्यैस्तूभयत्रापि मण्डल एवार्चनं कार्यम्, न बिम्ब इत्याह—
सवाहनेति ॥ ३११-३१४ ॥

सुपर्णसंस्थिताः सर्वे बिम्बा वै ब्राह्मणैर्नृपैः ॥ ३१४ ॥
स्वगृहादौ च सर्वत्र पूजनीयाः सदैव हि ।

ब्राह्मणैः क्षत्रियैश्च सुपर्णारूढा मूर्तयः स्वगृहेऽन्यत्र वा बिम्बेष्वेवार्चनीया इत्याह—सुपर्णेति ॥ ३१४-३१५ ॥

पूर्व में आदिदेव सम्बन्धिनी पर-वासुदेवादि की मूर्त्तियाँ यदि स्थूल न हों, तब वे अर्चन के योग्य नहीं होती । किन्तु ब्राह्मण पूर्वोक्त वासुदेवादि मूर्त्तियों की पूजा अपने घर पर मण्डल के बिना बिम्ब पर भी नित्य कर सकते हैं । घर के बाहर पत्र (वाहन) पर स्थित का भी कर सकते है । इस प्रकार उन्हें भूति के लिये अथवा मुक्ति के लिये सवाहना एवं अवाहना मूर्त्ति की बाहर और घर पर सर्वत्र पूजा करनी चाहिये । क्षत्रियादि को बाहर या घर पर उभयत्र मण्डल में ही अर्चना करनी चाहिये, बिम्ब पर नहीं । सुपर्ण पर स्थित बिम्बों की ब्राह्मण एवं क्षत्रियों दोनों को अपने घर पर अथवा सर्वत्र पूजा करनी चाहिये । इसी प्रकार वैश्यान्त सभी को सर्वत्र सभी की पूजा करनी चाहिये ॥ ३११-३१५ ॥

एवमन्यास्तु वैश्यान्तैः सत्तमैरखिलास्तु याः ॥ ३१५ ॥
सह शक्तीशभेदैस्तु न शक्तीशस्त्ववाहनः ।
बिम्बगो ब्राह्मणाद्यैश्च नित्यमर्च्यः पृथग्विना ॥ ३१६ ॥

एवं गरुडताक्ष्यारूढमूर्तयो विभवमूर्तिभेदैः सह ब्रह्मक्षत्रियवैश्यैर्बिम्बेष्वेव सर्वत्रार्चनीयाः । किन्तु वाहनारूढं विना केवलशक्तीशबिम्बं गृहे ब्राह्मणादिभिर्नार्च्यमिति चाह—एवमिति सार्धेन ॥ ३१५-३१६ ॥

गरुड़ ताक्ष्यादि पर अधिरूढ़ मूर्त्तियाँ विभवादि मूर्त्ति भेद से बिम्ब में ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को अर्चना करनी चाहिये । किन्तु वाहन पर आरूढ़ के बिना केवल शक्तीश बिम्ब की गृह पर ब्राह्मणादि अर्चन न करे ॥ ३१६ ॥

स्वाश्रमे बन्धुवर्गस्य मध्यस्थो ह्यनिशं तु वै ।
अविनासौम्यरूपेण अव्युत्पन्नजनस्य च ॥ ३१७ ॥
दृग्गते भगवद्वक्त्रे कार्ये त्रैलोक्यभीतिदे ।
यच्छन्ति शुभमात्रार्थाश्चित्रस्थाश्चाशुभं गृहे ॥ ३१८ ॥
बहिष्कृता विशेषेण हर्म्यप्रासादभूमिषु ।

आढ्यैर्भोगपदस्थैस्तु साम्प्रतं सिद्धिलालसैः॥ ३१९ ॥
निष्प्रभत्वान्न मृच्छैली कार्या दारुमयी गृहे।
ऋते सांन्यासिकैः शान्तैः शश्वन्मोक्षपरायणैः ॥ ३२० ॥
तदुत्थाश्च बहिः सर्वैः कार्यास्तासु सदैव हि।
जनयन्ति महादीप्तिं चन्द्रसूर्यादयोऽनिशम्॥ ३२१ ॥

गृहे सौम्यरूपं विनोग्ररूपबिम्बस्यानर्च्यत्वम्, तथैव चित्रलोहमयबिम्बं विना शैलमृद्दारुमयबिम्बस्यापि गृहस्थैरनर्च्यत्वम्, तस्य हेतुं चाह—स्वाश्रम इत्यारभ्य चन्द्र-सूर्यादयोऽनिशमित्यन्तम्॥ ३१७-३२१ ॥

सौम्य रूप से बिना उग्र रूप वाला बिम्ब अर्चा के योग्य नहीं होता। इसी प्रकार चित्रमय एवं लौहमय बिम्ब के बिना शैल, मिट्टी और दारु का बनाया हुआ बिम्ब गृहस्थों द्वारा अर्चा के योग्य नहीं होता। समृद्धि एवं भोगपद पर स्थित सिद्धि की लालसा करने वालों गृहस्थों को सुवर्णमय प्रासाद भूमि में तथा गृह में निष्प्रभ होने के कारण शान्त प्रकृति वाले और निरन्तर मोक्ष की इच्छा रखने वाले सन्यासियों के अतिरिक्त मिट्टी की या शिला की तथा दारु की मूर्त्ति का निर्माण नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थों द्वारा निर्मित मूर्त्ति चन्द्र, सूर्य के समान निरन्तर महादीप्ति प्रदान करती है॥ ३१८-३२१ ॥

आ चैकमूर्तेः सर्वासां मूर्तीनां तु महामते।
तथा मूर्त्यन्तराणां च प्रादुर्भावगणस्य च॥ ३२२ ॥
प्रादुर्भावान्तराणां तु स्थितानां यत्र कुत्रचित्।
सर्वेषां सर्वदा तेषां हित आराधनाय च॥ ३२३ ॥
प्रणवः पीठपूजार्थं नमस्कारपदान्वितः।
प्रसिद्धं चातुरात्मीयसंज्ञामन्त्रचतुष्टयम्॥ ३२४ ॥
अर्चने सजितन्तं तु विना मन्त्रेण योऽन्यथा।
करोति पूजनं मूढश्चलबिम्बगणस्य च॥ ३२५ ॥
गृहे वाऽज्ञातमन्त्रस्य दोषस्तस्य प्रजायते।

अथ यत्र कुत्र वा पुण्यक्षेत्रादिषु स्वयंव्यक्तादिरूपेण स्थितानां परव्यूहविभव-बिम्बानां सामान्यतः प्रणवेन वासुदेवादिसंज्ञामन्त्रचतुष्टयेन वा जितन्ताख्यमन्त्रेण वाऽ-र्च्यत्वं मन्त्रं विनाऽर्चने प्रत्यवायं चाह—आ चेति सार्धैश्चतुर्भिः। एकमूर्तेः परवासु-देवस्य, सर्वासां मूर्तीनां व्यूहवासुदेवादिमूर्तीनाम्, मूर्त्यन्तराणां केशवादीनाम्, प्रादुर्भावगणस्य पद्मनाभादिविभवावतारगणस्य, प्रादुर्भावान्तराणां विभवान्तराणा-मित्यर्थः। तद्विवरणं तु नवमपरिच्छेदे विचारितं द्रष्टव्यम्॥ ३२२-३२६ ॥

एक मूर्त्ति (पर वासुदेव), सभी मूर्त्ति (व्यूह वासुदेवादि मूर्त्ति), मूर्त्यन्तर

(केशवादि मूर्त्ति), प्रादुर्भावगण (पद्मनाभादि मूर्त्ति, प्रादुर्भावान्तर विभवान्तर मूर्त्ति) अथवा जहाँ कहीं स्वयं व्यक्त मूर्त्तियों की पूजा, हित के लिये तथा आराधना के लिये, सामान्यतः प्रणव से युक्त वासुदेवादि संज्ञा मन्त्र चतुष्टय से अथवा जितन्ताख्य मन्त्र से ही करनी चाहिये ॥ ३२२-३२६ ॥

विना सामान्यमन्त्रैर्यश्चलबिम्बगतस्य च ॥ ३२६ ॥
कुर्याद् विशेषमन्त्रेण विशेषाख्यस्य चार्चनम्।
तदुत्थमचिरेणैव शबलं तस्य दोषकृत् ॥ ३२७ ॥
ज्ञात्वैवं सावधानेन क्रियासक्तेन सर्वदा।
भवितव्यं विशेषाद् वै गृहाश्रमपरेण तु ॥ ३२८ ॥

गृहे चलबिम्बानां प्रणवाष्टाक्षरादिम(न्त्राः?न्त्रैः) नानातत्तन्मूर्तिविशेषमन्त्रै-रर्चननिषेधमाह—विनेति सार्धद्वाभ्याम् । सामान्यमन्त्रैर्व्यापकमन्त्रैरित्यर्थः । प्रणवाष्टाक्षर-द्वादशाक्षर-षडक्षर-जितन्ताख्यमन्त्रैरिति यावत्, एषां सर्वमूर्ति-साधाराण्यात् ॥ ३२६-३२८ ॥

चल बिम्ब की प्रणव से और अष्टाक्षर से एवं नाना तत्तन्मूर्त्ति मन्त्र विशेष से अर्चना न करे, सामान्य मन्त्र से ही इनकी पूजा करे । विशेष मूर्त्तियों की विशेष मन्त्र से पूजा करे । जो इसके विपरीत पूजन करता है उसे प्रत्यवाय (हानि) होता है । ऐसा समझ कर क्रियासक्त गृहस्थाश्रमी को विशेष रूप से पूजा में सावधानी करनी चाहिये ॥ ३२६-३२८ ॥

जीर्णोद्धारविधानम्

क्ष्माभङ्गाद्येषु दोषेषु ध्वजान्तेष्वेवमेव हि।
उपोद्धारे प्रयोक्तव्यं प्रणवाद्यं च पञ्चकम् ॥ ३२९ ॥
होमार्चनविधानेषु सृष्टिसंहारकर्मणि।
ध्वजाद्यमुद्धरेत् सर्वमवनीचलने सति ॥ ३३० ॥
आधारोपलपर्यन्तं सन्निवेश्य तथा पुनः।

अथ क्ष्माभङ्गादिदोषसंभवे प्रासादपीठबिम्बादीनां जीर्णोद्धारविधानमाह—क्ष्मा-भङ्गाद्येषु दोषेष्वित्यारभ्य देवस्य चतुरात्मन इत्यन्तम् । प्रणवाद्यं पञ्चकं प्रणवाष्टा-क्षरादिव्यापकमन्त्रपञ्चकमित्यर्थः । अथवा पूर्वोक्तं वासुदेवादिसंज्ञामन्त्रजितन्ताख्य-पञ्चकमित्यर्थः । अत्र जालवदित्यनेन यथा वनमध्ये मृगग्रहणार्थं जालप्रसारेण कृते सर्वे मृगास्तत्र प्रविशन्ति, तद्वत् स्वहृदयाद् बिम्बादिषु मन्त्रप्रसारणे कृते तत्रत्या मन्त्राः सर्वेऽपि तत्र प्रविशन्तीति भावो बोद्ध्यते । अगाधेऽम्भसि निक्षिपेदिति मानुष-बिम्बविषयम्, स्वयंव्यक्तादिबिम्बानां सर्वथा संधेयत्वोक्त्या ह्यपरित्याज्यत्वात् । अत्र बहवो विचारा ईश्वपारमेश्वरादिषूपबृंहिता द्रष्टव्याः ॥ ३२९-३४६ ॥

अब भूचलादि के कारण प्रासाद पीठ और बिम्ब का जीर्णोद्धार कहते हैं— क्ष्माभङ्ग (भूडोल) आदि दोष में तथा ध्वजादि के फटने पर उसके उद्धार में प्रणवादि पञ्चक मन्त्र का प्रयोग करे। भूचाल आने पर होमार्चन विधान से सृष्टि के संहार कर्म में ध्वजादि का उद्धार करे ॥ ३२९-३३१ ॥

चक्रप्रासादभङ्गेषु सोर्ध्वे बिम्बं महामते ॥ ३३१ ॥
पीठभङ्गे तु वै बिम्बं बिम्बभङ्गे तदैव हि।
यद्यदिच्छति चोद्धर्तुं तत्तदादौ तु संयजेत् ॥ ३३२ ॥

हे महामते! चक्र प्रासाद के भङ्ग हो जाने पर आधार से लेकर उपल पर्यन्त पुनः बिम्ब का सन्निवेश करे। पीठ भङ्ग में और बिम्ब तथा बिम्बभङ्ग में भी वही कार्य करे। जिसका-जिसका उद्धार करना चाहता हो, आदि में उसी-उसी का संयजन करे ॥ ३३१-३३२ ॥

मध्वाज्यगुग्गुलुक्षीरदधिलाजादिभिः क्रमात्।
सन्तर्प्य तिलहोमैस्तु सहस्त्रशतसंख्यया ॥ ३३३ ॥

मधु, आज्य, गुग्गुलु, क्षीर, दधि, लावा तथा तिल आदि का ग्यारह सौ की संख्या में हवन कर सन्तर्पण करे ॥ ३३३ ॥

मन्त्रौघं हृदयात् तस्मिन् समुच्चार्य विनिक्षिपेत्।
जालवद् भासुराकारं तत्र चिच्छक्तयोऽखिलाः ॥ ३३४ ॥
विशन्ति पूर्वसंरुद्धा मन्त्रौघं पुनराहरेत्।
पाठयेदृङ्मयान् सर्वानुत्तिष्ठेत्यथ तद्विदः ॥ ३३५ ॥

जिस प्रकार वन के मध्य में मृग-ग्रहण के लिये जाल फैला देने पर सभी मृग उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने हृदय से बिम्बादि पर्यन्त मन्त्र फैला देने पर वहाँ रहने वाले सभी मन्त्र उसमें आकर प्रवेश कर जाते हैं। इसके बाद साधक को ऋग्वेदियों से 'उत्तिष्ठ' इत्यादि सभी ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करावाना चाहिए ॥ ३३४-३३५ ॥

कर्म्मारम्भे तदन्ते वै परमां प्रकृतिं त्विति।
चतुर्भिरनिरुद्धाद्यैः संज्ञामन्त्रैः पृथक् पृथक् ॥ ३३६ ॥
कृत्वा होमं च तदनु तत्संज्ञार्णैर्विलोमतः।
प्रणवाद्यन्तगैः सर्वैः प्राग्वदष्टासु दिक्षु च ॥ ३३७ ॥

कर्म के आरम्भ में अथवा उसके अन्त में 'परमां प्रकृतिं' आदि का पाठ करावे। फिर अनिरुद्धादि चार संज्ञा मन्त्रों से पृथक्-पृथक् होम कराकर पुनः उन संज्ञा मन्त्रों का विलोम कर उससे पाठ करावे। फिर पूर्व की भाँति प्रासाद के

आठों दिशाओं में प्रणवादि एवं प्रणवान्त सभी मन्त्रों से होम करे । उसी प्रकार गायत्री मन्त्र से होम करे ॥ ३३६-३३७ ॥

प्रासादस्य तु होतव्यं गायत्रीभिस्तथैव च ।
वासुदेवाद्यभिज्ञाभिर्होमान्ते त्वथ तैः सह ॥ ३३८ ॥
न्यासं वाहनमन्त्रेण साङ्गं कृत्वात्मना पुरा ।
वाहनानां तथा चैव ब्रह्मैव संस्पृशेदथ ॥ ३३९ ॥
सञ्चाल्य हृदयेनैवं जपन्नस्त्रमथोद्धरेत् ।
विमाने वा रथे कृत्वा ह्यगाधेऽम्भसि निक्षिपेत् ॥ ३४० ॥

फिर होम के अन्त में वासुदेवादि मन्त्रों के साथ वाहन मन्त्र से साङ्गन्यास करे । फिर 'वाहनानां तथा चैव' इस मन्त्र से ब्रह्म का संस्पर्श करे । फिर हृदय (नमः) मन्त्र से बिम्ब संचालन करे और अस्त्र मन्त्र पढ़ते हुये उसे उठाकर विमान अथवा रथ पर स्थापित कर अगाध जल में उसे छोड़ देवे ।

विमर्श—यह प्रक्षेप मानुष बिम्ब विषयक है, स्वयं व्यक्तादि बिम्ब का सर्वथा संधान ही उचित है । उसका परित्याग उचित नहीं है ॥ ३३८-३३९ ॥

जपेत् संज्ञामनुं पश्चात् प्रायश्चित्तार्थमेव हि ।
सहस्रमेकमर्धं तद्धोतव्यं सर्वशान्तये ॥ ३४१ ॥
पूर्ववत् तोषयेत् सर्वान् काञ्चनाद्यैः स्वशक्तितः ।
तर्पयेदन्नपानाद्यैः सर्वानाचार्यपूर्वकान् ॥ ३४२ ॥

फिर प्रक्षेप के पश्चात् संज्ञा मन्त्र का जप करे । तदनन्तर सर्वशान्ति के लिये एक सहस्र पाँच सौ (१५००) मन्त्रों से होम करे । अपनी शक्ति के अनुसार काञ्चनादि तथा अन्नपानादि से सभी आचार्यादि को सन्तुष्ट करे ॥ ३४१-३४२ ॥

वाच्यं तैर्द्वादशार्णेन ह्यच्छिद्रं हृष्टमानसैः ।
भूयः संस्थापनं कुर्यादद्भुतस्य कृतस्य च ॥ ३४३ ॥

फिर वे लोग प्रसन्न होकर द्वादशाक्षर मन्त्र पढते हुये 'अच्छिद्रमस्तु' ऐसा कहें । फिर नवीन निर्मित बिम्ब का, उस स्थान पर सामान्य लक्षण मन्त्रों से अथवा चतुमूर्त्ति मन्त्रों से पुनः संस्थापन करे ॥ ३४३ ॥

सामान्यलक्षणैर्मन्त्रैश्चतुर्मूर्तिमयैः सदा ।
गुरुः सप्रणवेनैव यः सम्यग् भगवन्मयः ॥ ३४४ ॥
यतः सप्रणवादन्यश्चातुरात्म्यं च विद्यते ।
मन्त्रो वा देवतारूपस्तत्त्वतो ब्रह्मवेदिनाम् ॥ ३४५ ॥
प्रपञ्चः प्रणवो मन्त्रो देवस्य चतुरात्मनः ।

यतः गुरु प्रणव के साथ सम्यग् भगवन्मय है। इतना ही नहीं सप्रणव भगवन्मय के अतिरिक्त कोई चातुरात्म्य नहीं है और ब्रह्मवेत्ताओं के लिये मन्त्र ही तत्त्वतः देवता का स्वरूप है और यह प्रणव मन्त्र ही चतुरात्मा देवता का प्रपञ्च है ॥ ३४४-३४६ ॥

एवं ज्ञात्वा पुरा कर्म स्थापनोत्थापनान्तिकम् ॥ ३४६ ॥
विधिवद् यागपूर्वं तु बिम्बसञ्चालनं विना।
यो दिव्यायतनादीनां भक्त्या भूयः करोति च ॥ ३४७ ॥
ध्वजं वा मन्दिरं शुभ्रं पीठं भासं च पिण्डिकाम्।
सल्लोहशैलकाष्ठोत्थैः पद्माद्यैरूर्ध्वतोऽङ्किताम् ॥ ३४८ ॥
एकानेकदलैश्चैव बद्धैरायसपूर्वकैः।
सुबद्धां सूर्यसोमाग्निप्रभाढ्यां सुमनोरमाम् ॥ ३४९ ॥
स लोके शाश्वतीं कीर्तिं स्थापयित्वा कुलैः सह।
स्थानं सायुज्यतापूर्वमन्ते नूनमवाप्नुयात् ॥ ३५० ॥

एवं शास्त्रज्ञानपूर्वकं प्रतिष्ठाजीर्णोद्धारादिकर्तुः फलमाह—एवमिति सार्धैश्चतुर्भिः ॥ ३४६-३५० ॥

ऐसा समझ कर जो जीर्णोद्धारकर्त्ता भक्तिपूर्वक, शास्त्रज्ञानपूर्वक, यागपूर्वक, दिव्यायतनादि का स्थापन से लेकर उत्थापनान्त कर्म बिम्ब संचालन के बिना पुनः संपन्न करता है वह दिव्यायतन का उद्धार करता है। ध्वज, मन्दिर, शुभ पीठ, भास तथा पिण्डिका को सल्लोह से, शिला से या काष्ठ से और कमलादि का चिह्न बनाता है उस पीठिका को लौहादि द्वारा सुबद्ध करता है। सूर्य, सोम और अग्नि की तरह उसे प्रदीप्त कर मनोरम बनाता है। ऐसा जीर्णोद्धारकर्त्ता आराधक इस लोक में शाश्वती कीर्ति स्थापित कर अपने कुल के साथ निश्चिय ही अन्त में सायुज्यता का स्थान प्राप्त करता है ॥ ३४४-३५० ॥

नानारत्नप्रभाढ्यानि लाञ्छनान्यङ्गदानि च।
निर्मितानि सुवर्णाद्यैर्विभोः संयोजयन्ति ये ॥ ३५१ ॥
ते धौतकल्मषाः सर्वे देहमासाद्य पावनम्।
सम्यग् ज्ञानेन युज्यन्ते भवं नायान्ति येन च ॥ ३५२ ॥

भगवते नानामणिभयभूषणरत्नकवचादिसमर्पणकर्तुः फलमाह—नानेत्यादिभिः ॥ ३५१-३५५ ॥

जो आराधक विभु विष्णु को सुवर्णादि निर्मित नाना रत्नजड़ित देदीप्यमान आभूषणों से सुसज्जित करते हैं, उनके समस्त कालुष्य धुल जाते हैं। तदनन्तर वे पवित्र देह प्राप्त कर सम्यग् ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उनका इस संसार में पुनः आना सम्भव नहीं होता ॥ ३५१-३५२ ॥

आत्मनश्चोपकाराय सर्वदुःखनिवृत्तये ।
अङ्गुष्ठाग्राच्च गुल्फान्तमाजान्वंसावधीह वा ॥ ३५३ ॥
मणिमुक्ताप्रवालाढ्यकवचं काञ्चनादिकम् ।
यः क्षिपत्यतिभक्त्या वै स्वशक्त्यार्चागतेऽच्युते ॥ ३५४ ॥
स याति परमं स्थानं सपुत्रपशुबान्धवः ।

अपने उपकार के लिये एवं सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति के लिये अङ्गुष्ठाग्र से गुल्फ पर्यन्त जानु से लेकर कन्धा पर्यन्त, मणि, मुक्ता एवं प्रवाल जड़ित कवच तथा काञ्चनादि से अथवा अपनी शक्ति के अनुसार जो भक्त भक्ति के अनुसार उन विष्णु की अर्चा करता है वह वैष्णव भक्त पुत्र, पशु, बान्धव सहित परम पद को प्राप्त करता है ॥ ३५३-३५४ ॥

लग्नं यद्भगवन्मूर्ताविङ्गदं नूपुरादिकम् ॥ ३५५ ॥
वियोजयति यो मोहात् तस्य वीचौ स्थिरा स्थितिः ।

भगवद्भूषणापहर्तुः फलमाह—लग्नमिति ॥ ३५५-३५६ ॥

जो भगवन्मूर्त्ति में पधराये गये अङ्गद एवं नूपुरादि आभूषणों की चोरी करता है वह वीची नामक नरक में निरन्तर निवास करता है ॥ ३५५ ॥

यः पञ्चकालसक्तानां विप्राणामधिकारिणाम् ॥ ३५६ ॥
पञ्चरात्रविदां चैव द्विजानां सिद्धिकाङ्क्षिणाम् ।
अथ योऽच्छिन्नशाखानां नारायणरतात्मनाम् ॥ ३५७ ॥
तपस्विनां वा व्रतिनां स्नातकब्रह्मचारिणाम् ।
भक्तानामथवाऽन्येषां मार्जनादौ रतात्मनाम् ॥ ३५८ ॥
प्रीतये परमेशाय कृत्वा सम्यक् प्रयच्छति ।
शालाद्यायतनोपेतमश्मपक्वेष्टकान्वितम् ॥ ३५९ ॥
ग्राम्यैर्धान्यैस्तथारण्यैः पूर्णं सद्वृत्तिसंयुतम् ।
वणिक्कुटुम्बभृतकरक्षापालैः समन्वितम् ॥ ३६० ॥
सोऽन्तं फलमाप्नोति कालमाचन्द्रतारकम् ।
संस्थितिं शाश्वतीं लोके प्राप्नुयादक्षयं यशः ॥ ३६१ ॥

भागवतानामग्रहारादिप्रदातुः फलमाह—य इत्यादिभिः ॥ ३५६-३६१ ॥

जो पाँचों काल पूजा में निरत अधिकारी ब्राह्मणों को, पञ्चरात्र वेत्ताओं को, सिद्धि चाहने वाले ब्राह्मणों को, जिनकी वेद शाखा उच्छिन्न नहीं हुई है ऐसे वैदिकों को, नारायण-परायणों को, तपस्वियों को, व्रत धारण करने वालों को, स्नातकों एवं ब्रह्मचारियों को. भक्तों को, अथवा भगवन्मन्दिरों के मार्जनादि कार्य में

लगे हुये अन्य लोगों को परमेश्वर की प्रीति के लिये, पत्थर या पके हुये ईटों से युक्त आयतनों को तथा शाला आदि का निर्माण कर उसे ग्रामधान्य और अरण्यधान से पूर्ण कर सद्वृत्ति, वणिक्, कुटुम्ब, सेवक, रक्षपाल आदि से संयुक्त कर देता है वह अन्त में जब तक चन्द्रमा और तारागण विद्यमान हैं तावत्काल पर्यन्त उत्तम लोक में शाश्वती संस्थिति प्राप्त करता है और अक्षय यश भी प्राप्त करता है ॥ ३५६-३६१ ॥

भोगोपभोगिनीं भद्रां रम्यां पूर्वोक्तलक्षणाम् ।
यागनिष्पत्तये कुर्याद् योऽग्रतः पीठसन्निधेः ॥ ३६२ ॥

पूजोपकरणानां समर्पणफल कथनम्

बहिराराधनार्थं वा कर्मिणां ब्रह्मयाजिनाम् ।
मनुष्यपितृदेवाख्यान्मुच्यते स ऋणत्रयात् ॥ ३६३ ॥

भद्रपीठबलिपीठग्रामारामक्षेत्रगोगजरथाश्वादीनां दीपस्थाल्यादिपूजोपकरणानां च समर्पणफलान्याह—भोगोपभोगिनीमित्यादिभिः ॥ ३६२-३७७ ॥

अब भद्रपीठ, बलिपीठ, ग्रमाराम क्षेत्र, गौ, गज, रथ, अश्व, दीप, स्थाल्यादि पूजोपकरणों का विष्णु के लिये समर्पण का फल कहते हैं—जो पीठ सन्निधान में, यागनिष्पत्ति के लिये, पीठ के आगे, भोगोपभोगिनी पूर्वोक्त लक्षणा भद्रा का निर्माण करता है, अथवा ब्रह्म याजी जीवों के लिये बाहर आराधना के लिये भद्रा का निर्माण करता है, वह मनुष्य, पितर और देव इन तीनों ऋणों से मुक्त हो जाता है ॥ ३६२-३६३ ॥

मध्यतो गरुडाक्रान्तं सचक्राम्बुरुहाङ्कितम् ।
तुर्याश्रमथवा वृत्तं कुण्डवत्पदवीयुतम् ॥ ३६४ ॥
बलिपीठं बहिः कुर्याद् भक्त्या यस्त्वच्युतालये ।
स याति चाच्युतं स्थानं विमानैरिन्दुवर्चसैः ॥ ३६५ ॥

जो भक्तिपूर्वक अच्युत के मन्दिर के मध्य में, अथवा बाहर, गरुडाक्रान्त चक्र और कमल के चिह्न से अति चौकोर, अथवा कुण्ड की तरह वृत्त (गोला) के आकार का 'बलिपीठ' निर्माण करता है वह चन्द्रमा के समान सुन्दर विमान से अच्युत के स्थान को प्राप्त करता है ॥ ३६४-३६५ ॥

यः सप्राकारमारामं सम्प्रयच्छति वै विभोः ।
नानापुष्पफलोपेतं वापीद्रुमसमाकुलम् ॥ ३६६ ॥
साब्जतोयाशयोपेतं मारखड्गसमन्वितम् ।
स नन्दनवने भोगान् भुक्त्वा यात्यच्युतालयम् ॥ ३६७ ॥

जो प्राकार (=चहारदीवारी) से युक्त है नाना पुष्प फलोपेत, वापी, वृक्ष समन्वित कमल और जलाशय से संयुक्त मारवङ्ग समन्वित उद्यान बनवाकर विष्णु को समर्पित कर देता है वह नन्दनवन में सभी प्रकार के भोगों को भोगकर विष्णु लोक को जाता है ॥ ३६६-३६७ ॥

क्षोणीं यः सस्यसम्पूर्णां युक्तां वा गन्धशालिना ।
केदारं जलपातैस्तु परिच्छन्नं समन्ततः ॥ ३६८ ॥
संयच्छति जगद्योनेः कालमासाद्य शाश्वतम् ।
स यायात् सुसितद्वीपं तत्रास्ते भगवानिव ॥ ३६९ ॥

जो हरे भरे जल से परिपूर्ण, सुगन्धशाली एवं धान्य से युक्त पृथ्वी को तथा नहर से चारो ओर सिञ्चित की जाने वाली क्यारियों को विष्णु के लिये समर्पित करता है । वह समय पाकर सदैव के लिये श्वेतद्वीप चला जाता है और वहाँ विष्णु के समान निवास करता है ॥ ३६८-३६९ ॥

स्नानोपभोगमन्त्रार्थं सवृषेन्द्रं तु गोगणम् ।
समर्चयित्वा योऽर्चां वै वैष्णवीं प्रतिपादयेत् ॥ ३७० ॥
सोऽचिरन्मुक्तदोषस्तु विष्णुलोकं प्रयाति च ।

जो स्नान उपभोग तथा मन्त्र के लिये महावृषभ सहित गो समूहों का अर्चन कर विष्णु की अर्चा के लिये दान में देता है, वह शीघ्र ही सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है और विष्णु लोक प्राप्त कर लेता है ॥ ३७०-३७१ ॥

गजं रथं वराश्वं च दीपस्थालीं सुलक्षणाम् ॥ ३७१ ॥
व्यजनं चामरं छत्रं वादित्रं गणिकागणम् ।
शुभवस्त्राणि नेत्राणि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ३७२ ॥
वितानं वैजयन्तीं च चित्रपत्रलतागणम् ।
सुस्वरामुपघण्टां च धूपस्थालीं सुलक्षणाम् ॥ ३७३ ॥
भृङ्गारं दर्पणं तोयकुम्भं गन्धोपलं महत् ।
पूर्वोद्दिष्टानि चान्यानि धान्यानि विविधानि च ॥ ३७४ ॥
यो ददाति हरेर्भक्त्या स तल्लोकमवाप्नुयात् ।
ईक्षमाणं विभोर्वक्त्रं वहन्तं दीपभाजनम् ॥ ३७५ ॥

हाथी, रथ, श्रेष्ठ घोड़ा, सुलक्षणा दीप, स्थाली, पङ्खा, चामर, छत्र, वाद्य, गणिकाओं का समूह, शुभ वस्त्र, नेत्र, दिव्य आभरण, वितान (चाँदनी), वैजयन्ती चित्र, पत्र, लतायें, सुन्दर स्वर करने वाली क्षुद्र घण्टिकायें, सुलक्षणा धूपस्थाली, भृङ्गार, दर्पण, जलकलश, गन्धोपल (कस्तूरी), पूर्वकथित अन्य अन्य विविध

धान्य इन सभी वस्तुओं को जो भक्तिपूर्वक विष्णु को प्रदान करता है वह विष्णु लोक प्राप्त करता है ॥ ३७२-३७५ ॥

महान्तमथवा दीपं यन्त्रं कूर्मादिरूपधृक्।
शरयज्ञासनस्थं च चित्रसम्पुटभूषितम्॥ ३७६ ॥
सच्छास्त्रपीठं विविधं श्रद्धया यो महामते।
ददाति देवदेवस्य स तत्स्थानं प्रयाति च॥ ३७७ ॥

भगवान् का मुख देखते हुये महान् दीप भाजन वहन करते हुये, ऐसे चित्र का, अथवा भगवान् का मुख देखते हुये केवल दीप वहन करते हुये चित्र को अथवा कूर्मादि रूप धारण करने वाले यन्त्र को, अथवा सरपत के आसन पर संस्थापित चित्र सम्पुट भूषित विविध सच्छास्त्र पीठ (रेहल) का दान जो वैष्णव साधक श्रद्धापूर्वक विष्णु को देता है। हे महामते! वह देव देव विष्णु के लोक को प्राप्त करता है ॥ ३७६-३७७ ॥

पुरस्कृत्य जगद्योनिं यद्यद् भक्त्या प्रदीयते।
तदाराधनसक्तानां तत्तदक्षय्यतामियात्॥ ३७८ ॥

भगवत्सन्निधौ भागवतेभ्यः प्रदानफलमाह—पुरस्कृत्येति ॥ ३७८ ॥

इस प्रकार आराधक वैष्णव भगवान् के सन्निधान में जो-जो वस्तु भक्तिपूर्वक प्रदान करता है उस-उस आराधन में आसक्त भक्त को वह-वह वस्तु अक्षय होकर प्राप्त होती है ॥ ३७८ ॥

इति सम्बोधितो विप्रा लोकधर्मव्यवस्थिताः।
लाङ्गली देवदेवेन सर्वानुग्रहकाम्यया॥ ३७९ ॥
मया प्राप्तं जगद्धातुः प्रसादान्मोक्षसिद्धये।
यथावदथ सर्वेषामग्रतः प्रकटीकृतम्॥ ३८० ॥

इदं शास्त्रं सर्वानुग्रहार्थं भगवता वासुदेवेन सङ्कर्षणायोपदिष्टं मया भगवत्प्रसादाल्लब्धं भवतामप्यग्रे यथावत् प्रकाशितम्। तदिदमास्तिकेभ्यः प्रकाशनीयं नास्तिकेभ्यो गोपनीयम्, तथा प्रकाशगोपने यः करोति स तु ममापि मान्यो भवति, भवतामैहिकामुष्मिकरूपं निरवधिकं स्वस्त्यस्तु, अहं व्रजामिति भगवान् नारदो मुनीन् प्रत्युपदिष्टवानित्याह—इतीति ॥ ३७९-३८४ ॥

॥ इति श्रीमौञ्ज्यायनकुलतिलकस्य यदुगिरीश्वरचरणकमलार्चकस्य योगानन्दभट्टाचार्यस्य तनयेन अलशिङ्गभट्टेन विरचिते सात्वततन्त्रभाष्ये पञ्चविंशः परिच्छेदः ॥ २५ ॥

— ❀ —

हे लोकधर्म में व्यवस्थित ब्राह्मणो! देवाधिदेव भगवान् ने सभी के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से सङ्कर्षण के लिये यह शास्त्र प्रकाशित किया। मैंने भी मोक्ष सिद्धि के लिये यह शास्त्र भगवान् की प्रसन्नता से प्राप्त किया और आप लोगों के सामने प्रकाशित किया है ॥ ३७९-३८० ॥

परं पापहरं पुण्यं पावनं सद्विभूतिदम्।
इदं भव्याशयानां च वक्तव्यं भावितात्मनाम् ॥ ३८१ ॥
भक्तानामप्रमत्तानां पुण्डरीकाक्षसेविनाम्।
धर्मापवर्गसत्कीर्तिसाधुसङ्गाभिलाषिणाम् ॥ ३८२ ॥
भोगेप्सूनाभक्तानां वाक्छलादिरतात्मनाम्।
अन्यायेनोपसन्नानां नास्तिकानां विशेषतः ॥ ३८३ ॥
यो गोपायत्ययोग्यानां योग्यानां सम्प्रयच्छति।
इममर्थं स मान्यो मे स्वस्ति वोऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥ ३८४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रे श्रीसात्वतसंहितायां प्रतिष्ठाविधिर्नाम पञ्चविंशः परिच्छेदः ॥ २५ ॥

— ❀ —
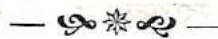
यह पापहर है, पुण्य प्रदान करने वाला है, पावन है और सद् विभूति प्रदान करने वाला है। यह शास्त्र भवितात्मा भव्याशयों से, अप्रमत्त भक्तों से, विष्णु की सेवा करने वालों से, धर्म एवं अपवर्ग, सत्कीर्त्ति साधु के सङ्ग की अभिलाषा करने वालों से ही प्रकाशित करना चाहिये। जो भोग की इच्छा करने वाले हैं, भगवद् भक्त नहीं हैं उनसे, जो वाक्छल में निरत है उनसे, अन्यायपूर्वक समीप आये हैं उनसे, विशेष कर नास्तिकों से, यह शास्त्र कदापि प्रकाशित न करे। इस प्रकार जो अयोग्यों से इस शास्त्र का संगोपन करता है और योग्यों को प्रकाशित करता है अर्थात् इस शास्त्र के प्रकाशन और संगोपन दोनों विधियों को जानता है, वह मेरा भी सम्मान्य होता है। आप लोगों का ऐहिक एवं आमुष्मिक रूप निरवधिक स्वास्ति हो। भगवान् नारद मुनियों को इस प्रकार उपदेश कर चले गये ॥ ३८१-३८४ ॥

॥ इस प्रकार डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सात्त्वत संहिता के प्रतिष्ठाविधि नामक पच्चीसवें परिच्छेद की हिन्दी समाप्त हुई ॥ २५ ॥

— ❀ —

भाष्यगतग्रन्थग्रन्थकारानुक्रमणिका

— ❧ ✻ ❧ —

श्लोकार्धानुक्रमणिका

— ❧ ❊ ☙ —

प्रतिष्ठा मण्डप

पीतवर्ण ध्वज
पीतवर्ण पताका
मेघवर्ण
मेघवर्ण
रक्तवर्ण
रक्तवर्ण
सुदृढतोरण
पूर्वद्वार
इन्द्र
ऋग्वेद
अनन्त
प्रशान्त
शिशिर
अग्नि
ग्रहपीठ
ईशान
योगिनी
मातृका
गणेश
वरुण कलश
आचार्य-कुण्ड
सुवर्णवर्ण
सुवर्णवर्ण
श्यामवर्ण
श्यामवर्ण
श्रीपद
सर्वतोभद्रवेदी
सुप्रभतोरण
उत्तरद्वार
सोम
अथर्ववेद
भद्रतोरण
दक्षिणद्वार
यम
यजुर्वेद
पूषा
मित्र
वरुण
प्रत्युष
धनद
अशोक
वायु
अनिल
नैर्ऋति

आगमरहस्यम्

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ. सुधाकर मालवीय

'आगमरहस्य' तन्त्र शैवागम के शास्त्रज्ञ एवं साधक शिरोमणि पण्डित श्रीसरयू प्रसाद द्विवेदी विरचित है। यह ग्रन्थ शारदातिलकतन्त्र के समान है और अनेक तन्त्र ग्रन्थों का सार रूप है। **श्रीसरयूप्रसाद द्विवेदी** ने विभिन्न शैव, शाक्त एवं वैष्णव ग्रन्थों से विषयों को संकलित करके शैवागम के साधकों के लिए यह संग्रह ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में प्रस्तुत है। पूर्वार्द्ध में 'तान्त्रिकसिद्धान्तों' का संकलन है और उत्तरार्द्ध में 'प्रयोग–पद्धति' का निरूपण है। प्रथम भाग (पूर्वार्द्ध) में अट्ठाइस अध्यायों में सृष्टिक्रम आदि वर्णित हैं और उत्तरार्द्ध भाग में चौबीस अध्यायों में पूजाक्रम एवं स्तोत्र आदि सङ्कलित हैं। दोनों भागों को मिलाकर प्राय: बारह हजार श्लोक इसमें हैं।

आगमरहस्य का पूर्वार्द्ध भाग इदं प्रथमतया हिन्दी व्याख्या के साथ विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ में आचार्य द्वारा मुख्य रूप से 'शारदातिलकतन्त्र' और उसकी टीका राघवभट्ट की सत्सम्प्रदायकृत् 'पदार्थादर्श' से सहायता ली गई है। अनेक सन्दर्भों में मुख्यरूप से 'कुलार्णवतन्त्र' एवं 'ज्ञानार्णवतन्त्र' तथा 'मन्त्रमहोदधि' से सहायता ली गयी है। इस प्रकार तन्त्रगत मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन अत्यन्त सरल रूप से प्रस्तुत किया गया है।

तन्त्रप्रयोग में प्रक्रिया का अत्यन्त महत्त्व है। मन्त्र एवं मातृका के साधक को पूजा पद्धति का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इसीलिए आगमरहस्य का उत्तरार्द्ध पद्धति से सम्बद्ध है। अनेक तन्त्र ग्रन्थों के **सम्पादक डॉ. सुधाकर मालवीय** काशी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, जो काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से सम्प्रति सेवानिवृत्त हैं। इनके द्वारा संशोधित एवं व्याख्यात यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है, और विद्वानों एवं उपासकों हेतु संग्रहणीय है।

Also can be had from **Chowkhamba Krishnadas Academy**, Varanasi.

ISBN : 978-81-7080-244-X

Price : Rs. 500.00